काव्यप्रकाशः

'मुद्राकरकराघातैः खिन्ना चेन्मम भारती ।
कृपाकराम्बुजस्पर्शैः सन्तः सञ्जीवयन्तु ताम् ॥'

ज्ञानमण्डल-ग्रन्थमालाका १३वाँ ग्रन्थ

काव्यप्रकाशः

[श्री मम्मटाचार्य-विरचित काव्यप्रकाशकी हिन्दी व्याख्या]

व्याख्याकार

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

अध्यक्ष 'श्रीधर अनुसन्धान-विभाग' एवं 'श्री रामदास दर्शनपीठ'
गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन तथा सम्मान्य
सदस्य 'हिन्दी अनुसन्धान-परिषद्'
दिल्ली-विश्वविद्यालय

सम्पादक

डॉ० नगेन्द्र, एम. ए., डी. लिट्.

वाराणसी

ज्ञानमण्डल लिमिटेड

विषयसूची

प्रथम उल्लास

[काव्य-प्रयोजन-कारण-स्वरूपनिर्णय]

द्वितीय उल्लास

[शब्दार्थ-स्वरूप-निर्णय]

तृतीय उल्लास

[अर्थव्यञ्जकता-निर्णय]

चतुर्थ उल्लास

[ध्वनि-निर्णय]

पञ्चम उल्लास

[ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्ण भेदनिर्णय]

षष्ठ उल्लास

[शब्दार्थचित्र-निरूपण]

सप्तम उल्लास

[दोषदर्शन]

अष्टम उल्लास

[गुणालङ्कारभेद-निर्णय]

नवम उल्लास

[शब्दालङ्कार-निर्णय]

दशम उल्लास

[अर्थालङ्कार-निर्णय]

भूमिका

नामकरण

काव्य-सौन्दर्यकी परख करनेवाले शास्त्रका नाम 'काव्य-शास्त्र' है। काव्यशास्त्रके प्रारम्भिक युगमें इसके लिए मुख्य रूपसे 'काव्यालङ्कार' शब्दका प्रयोग होता था। इसीलिए काव्यशास्त्रके आदि युगके सभी आचार्योंने अपने ग्रन्थोंका नाम 'काव्यालङ्कार' रक्खा है। भामहका कारिका-रूपमें लिखा हुआ काव्यशास्त्रका आदि ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' नामसे ही प्रसिद्ध है। उद्भटने भी अपने ग्रन्थका नाम 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' रक्खा है। रुद्रटके काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थका नाम भी 'काव्यालङ्कार' है। वामनने सूत्ररूपमें लिखे हुए अपने ग्रन्थका नाम भी 'काव्यालङ्कारसूत्र' रक्खा। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन कालमें 'काव्यशास्त्र'के लिए 'काव्यालङ्कार' नाम ही अधिक प्रचलित पाया जाता है। इस नाममें आया हुआ 'अलङ्कार' शब्द सौन्दर्य अर्थको बोधन करनेवाला है। वामनने "[1]सौन्दर्य अलङ्कारः" सूत्र लिखकर अलङ्कार शब्दको सौन्दर्यपरक प्रतिपादन किया है। अन्य सब आचार्योंने भी काव्यके सौन्दर्याधायक धर्मोंको ही 'अलङ्कार' नामसे व्यवहृत किया, "[2]काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते" आदि वचन भी इसी मतकी पुष्टि करते हैं। इस प्रकार 'काव्यालङ्कार' शब्दका अर्थ काव्य-सौन्दर्य होता है और उससे लक्षणा द्वारा काव्य-सौन्दर्यपरक शास्त्रका ग्रहण होता है। इसीलिए काव्य-सौन्दर्यकी परीक्षाके आधारभूत मौलिक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करनेवाले ये सब प्राचीन ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' नामसे कहे जाते हैं। इन ग्रन्थोंमें केवल अलङ्कारोंका ही वर्णन नहीं है अपितु काव्य-सौन्दर्यकी परीक्षाके लिए गुण, दोष, रीति, अलङ्कार आदि जिन-जिन तत्त्वोंके ज्ञानकी आवश्यकता है उन सभीका प्रतिपादन किया गया है। इसलिए इन नामोंमें आये हुए 'अलङ्कार' शब्दको सौन्दर्यपरक मानकर काव्य-सौन्दर्यके प्रतिपादक शास्त्रोंके लिए 'काव्यालङ्कार' नामका प्रयोग उचित प्रतीत होता है।

बादको अनेक स्थलोंपर इस शास्त्रके लिए 'काव्यालङ्कार'के बजाय केवल 'अलङ्कारशास्त्र' नामका प्रयोग ही पाया जाता है। 'प्रतापरुद्रीय'की टीकामें 'अलङ्कारशास्त्र' नामके प्रतिपादनके लिए 'छत्रिन्याय'का अवलम्बन किया गया है। उन्होंने लिखा है—'यद्यपि[3] रसालङ्काराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलङ्कारशास्त्रमुच्यते'। इसका अर्थ यह हुआ कि यद्यपि इस शास्त्रमें रस, गुण, दोष, अलङ्कार आदि अनेक विषयोंका विवेचन किया गया है परन्तु 'छत्रिन्याय' से उसे केवल अलङ्कारशास्त्र कहा जाता है। 'छत्रिन्याय' का अभिप्राय यह है कि कहीं बहुत-से व्यक्ति जा रहे हैं, उनमें दो-चार या एक-दो व्यक्ति छाता लगाये हुए, छत्रधारी हैं, उन दो-चार छत्रधारी व्यक्तियोंकी प्रधानता मानकर उनके साथ चलनेवाले छत्र-रहित अन्य अनेक व्यक्तियोंका भी 'छत्रिणो यान्ति' आदि पदोंसे ग्रहण हो जाता है। और व्यवहारमें उन दो-चार छातेवालोंके कारण उस समुदायके अनेक छत्र-रहित व्यक्तियोंको भी 'वे छातेवाले जा रहे हैं' इस प्रकार कहा जाता है। इसी तरह अलङ्कारशास्त्रमें अलङ्कारके अतिरिक्त रसादि अनेक विषयोंका प्रतिपादन होते हुए भी अलङ्कारको प्रधान मानकर 'अलङ्कारशास्त्र' नामसे उनका ग्रहण हो जाता है। यह

---

१. काव्यालङ्कारसूत्र १-१२। २. काव्यादर्श २-१। ३. प्रतापरुद्रीय टीका, पृ० ३।

'प्रतापरुद्रीय'के टीकाकारका अभिप्राय है। अलङ्कारशास्त्र नामकी व्याख्याके विषयमें अन्य विद्वानोंका भी प्रायः यही मत है।

परन्तु हमें यह व्याख्या अधिक रुचिकर प्रतीत नहीं होती। इसका कारण यह है कि काव्यमें अलंकारकी प्रधानता नहीं है, वह काव्यका आत्मा नहीं है, काव्यका आत्मा तो रस है। अलंकारकी स्थिति तो केवल कटक-कुण्डल आदिके समान गौण है। कटक-कुण्डल आदि मनुष्यके उत्कर्षाधायक धर्म तो हो सकते हैं, जीवनाधायक नहीं। कटक-कुण्डल आदि अलंकारोंको धारण करनेवाला व्यक्ति बड़ा आदमी माना जा सकता है, पर उनके हटा देनेपर या उनसे रहित व्यक्ति मनुष्य न रहे यह नहीं हो सकता है। शरीरका जीवनाधायक तत्त्व आत्मा है, इसी प्रकार काव्यका जीवनाधायक तत्त्व रस है। इसीलिए रसादिके रहते उनको गौण करके और गौण अलंकारोंको प्रधान मानकर उनके आधारपर इस शास्त्रका 'अलंकारशास्त्र' यह नामकरण उचित प्रतीत नहीं होता। इसीलिए हम इस व्याख्याके पक्षमें नहीं हैं। हमारे विचारमें वामनके मतानुसार अलंकार शब्दको सौन्दर्य-परक मानकर अलंकारशास्त्रको 'सौन्दर्यशास्त्र' या 'काव्यसौन्दर्यशास्त्र' मानना अधिक संगत और उचित प्रतीत होता है।

काव्यके साथ 'शास्त्र' शब्दका प्रयोग

प्रारम्भमें जैसा कि हम देख चुके हैं इस शास्त्रका नाम केवल 'काव्यालंकार' था। शास्त्र शब्दका प्रयोग उसके साथ नहीं होता था। आगे उसका और अधिक विकास होनेपर उसका महत्त्व बढ़ानेके लिए उसके साथ 'शास्त्र' शब्दका प्रयोग होने लगा। सामान्य रूपसे 'शास्त्र' शब्द 'शासनात् शास्त्रं' शासन करनेवाला होनेसे 'शास्त्र' कहलाता है। शासनका अर्थ मनुष्यको किसी कार्यमें प्रवृत्त करना या किसी कार्यसे निवृत्त करना होता है। वेद, स्मृति, धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थ मनुष्योंको सत्कर्ममें प्रवृत्त होने और असत्कार्योंसे निवृत्त होनेका आदेश देते हैं इसलिए वे 'शास्त्र' कहे जाते हैं। मुख्य रूपसे शासन करनेवाले अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्ति करानेवाले ग्रन्थ 'शास्त्र' कहलाते हैं। काव्यका मुख्य प्रयोजन प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं, रसास्वादन या 'सद्यः परनिर्वृति' है, 'कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे' अर्थात् कर्तव्याकर्तव्यका उपदेश काव्यका गौण प्रयोजन है। इसलिए काव्य 'प्रभुशब्दसम्मित' वेद, शास्त्र आदिसे भिन्न है। इसलिए 'काव्यशास्त्र' में प्रयुक्त 'शास्त्र' शब्द 'शासनात् शास्त्रं' इस व्युत्पत्तिको लेकर प्रयुक्त नहीं हुआ है।

वेदान्त-दर्शनमें 'शास्त्र' शब्दकी एक और व्युत्पत्ति की गयी है। 'शासनात् शास्त्रं' अर्थात् केवल शासन करनेवाले विधि-प्रतिषेधपरक ग्रन्थ ही 'शास्त्र' नहीं कहलाते अपितु किसी गूढ़ तत्त्वका 'शंसन्' प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ भी 'शास्त्र' कहलाते हैं। इस व्युत्पत्तिके करनेका कारण यह है कि वेदान्तका प्रतिपाद्य विषय—'ब्रह्म'—'प्रवृत्ति-निवृति' या विधि-प्रतिषेधका विषय नहीं माना गया है। तब उसका प्रतिपादन शास्त्रमें कैसे सम्भव होगा यह शङ्का 'ब्रह्म'के विषयमें उठायी गयी है। उस शंकाके निराकरणके लिए 'शंशनात् शास्त्रं' यह दूसरे प्रकारकी व्युत्पत्ति भाष्यकारने की है। इसके अनुसार 'ब्रह्म' जैसे गूढ़ तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले वेदान्त आदिके लिए 'शास्त्र' शब्दके प्रयोगका और विधि-प्रतिषेधरहित 'ब्रह्म'के शास्त्रप्रतिपाद्यत्वका समर्थन किया गया है। इसलिए शासनात्मक न होनेपर भी अर्थात् विधि-प्रतिषेधरहित होनेपर भी किसी गूढ़ तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ 'शास्त्र' नामसे कहे गये हैं। इसी व्युत्पत्तिको लेकर अलङ्कारशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि नामोंमें 'शास्त्र' शब्दका प्रयोग हुआ है। काव्यके साथ 'शास्त्र' शब्दका सम्बन्ध

जुड़ जानेसे उसका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया। प्राचीन नाम 'काव्यालङ्कार'में उतना महत्त्व प्रतीत नहीं होता है जितना 'काव्य-शास्त्र' या 'अलङ्कार-शास्त्र' नामोंमें प्रतीत होता है।

'काव्यशास्त्र' शब्दके प्रयोगका आधार

ग्यारहवीं शताब्दीमें 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के रचयिता भोजदेवने मुख्य रूपसे इस शास्त्रके लिए 'काव्य-शास्त्र' पदका प्रयोग किया गया है। परन्तु उन्होंने 'शास्त्र' शब्दकी विधि-प्रतिषेधपरक 'शासनात् शास्त्रं' इस पहली व्युत्पत्तिको लेकर ही 'शास्त्र' शब्दका प्रयोग माना है। उन्होंने लिखा है—

'यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणं।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥'[१]

इसका अर्थ यह है कि जो विधि या निषेधका ज्ञान करानेवाला अर्थात् शासन करनेवाला 'शास्त्र' है उसका अध्ययन करना चाहिये क्योंकि उसीसे लोकव्यवहारका संचालन होता है। इस विधि और प्रतिषेधका ज्ञान करानेवाले मुख्य तीन साधन हैं—(१) काव्य, (२) शास्त्र तथा (३) इतिहास। इन तीनोंके मिश्रणसे तीन और बन जाते हैं—(१) काव्य और शास्त्रको मिलाकर काव्यशास्त्र, (२) काव्य और इतिहासको मिलाकर काव्येतिहास, (३) शास्त्र और इतिहास को मिलाकर शास्त्रेतिहास। इस प्रकार भोजदेवके मतमें विधि और प्रतिषेधकी व्युत्पत्ति अर्थात् ज्ञानके कारण छ हो जाते हैं—(१) काव्य, (२) शास्त्र, (३) इतिहास, (४) काव्यशास्त्र, (५) काव्येतिहास, (६) शास्त्रेतिहास। इनका प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है—

'काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्॥'[२]

इस प्रकार भोजदेवने काव्य, काव्यशास्त्र और काव्येतिहास तीनोंको विधि-प्रतिषेधका ज्ञान करानेवाला माना है। इस प्रकार उन्होंने काव्यके सब प्रयोजनोंमेंसे 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' अर्थात् विधि-प्रतिषेधको ही काव्यका मुख्य प्रयोजन माना है। पर यह वस्तुतः बहुजन-समादृत पक्ष नहीं है। अधिकांश विद्वानोंकी दृष्टिमें उपदेश काव्यका मुख्य प्रयोजन नहीं, गौण प्रयोजन है। उसकी अपेक्षा 'सद्यः परनिर्वृति'—अलौकिकानन्दानुभूति या रसास्वादन ही काव्यका मुख्य प्रयोजन है। भोजदेवके ध्यानमें 'शास्त्र' शब्दकी कदाचित् 'शासनात् शास्त्रं' वाली एक ही व्युत्पत्ति थी इसीलिए उन्होंने काव्यशास्त्रमें भी शासनकी प्रधानता मान ली है। पर ऐसा करके उन्होंने कदाचित् काव्यके साथ न्याय नहीं किया है। काव्यका प्रधान उद्देश्य शासन नहीं है अन्यथा वेद, शास्त्रादिसे उसका भेद ही क्या रह जायगा। काव्यका प्रधान लक्ष्य 'सद्यः परनिर्वृति' अर्थात् अपूर्व आनन्दानुभूति या रसास्वादन ही है। यही उसका वेद, शास्त्र आदिसे विभेदक मुख्य धर्म है। भोजदेव इस तत्त्वकी रक्षा नहीं कर सके हैं। 'काव्य'के साथ 'शास्त्र' शब्द जोड़कर उन्होंने उसकी गौरववृद्धि करनेका यत्न तो किया है, पर उस यत्नमें काव्यके आत्माको भूल गये हैं। 'शासनात् शास्त्रं' के स्थानपर यदि 'शंसनात् शास्त्रं' इस व्युत्पत्तिके लेकर शास्त्र शब्दका प्रयोग मानते तो उससे काव्यका आत्मा भी सुरक्षित रहता और उसकी गौरववृद्धि भी होती।

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण २-१३८। २. सरस्वतीकण्ठाभरण २-१३९।

'साहित्य' शब्दका प्रयोग

ऊपर हम देख चुके हैं कि 'काव्य-शास्त्र'के लिए प्रारम्भमें 'काव्यालङ्कार' शब्दका प्रयोग होता था। उसमें 'अलङ्कार' शब्द सौन्दर्यपरक था अर्थात् काव्य-सौन्दर्यकी विवेचना करनेवाले शास्त्रके लिए 'काव्यालङ्कार' शब्दका प्रयोग होता था और प्राचीन सभी आचार्योंने इसी आधारपर अपने ग्रन्थोंके नाम 'काव्यालङ्कार' रक्खे थे। परन्तु इसके साथ ही एक और शब्द भी है जो इस शास्त्रके लिए प्रयुक्त पाया जाता है, वह है 'साहित्य' शब्द। इधर नवीन युगमें तो यह शब्द 'काव्यशास्त्र'के अन्य सब नामोंकी अपेक्षा अधिक प्रचलित है और इसका श्रेय कदाचित् चौदहवीं शताब्दीके विश्वनाथको है। उन्होंने अपने ग्रन्थका नाम 'साहित्य-दर्पण' रक्खा है। इधरके नवीन युगमें यह ग्रन्थ पठन-पाठनकी प्रणालीमें बहुत अधिक प्रचलित रहा इसलिए काव्य-सौन्दर्य-की विवेचना करनेवाले शास्त्रके लिए 'साहित्य' शब्द अधिक प्रचलित हो गया। और 'काव्यालङ्कार' या 'काव्यशास्त्र' जैसे शब्दोंका प्रयोग बहुत ही कम हो गया। विश्वनाथसे पूर्व ग्यारहवीं शताब्दीमें 'अलङ्कारसर्वस्वकार' रुय्यकने भी 'साहित्यमीमांसा' नामक अपने दूसरे ग्रन्थमें 'साहित्य' शब्दका प्रयोग किया था। परन्तु उनका वह ग्रन्थ अधिक प्रचलित नहीं हुआ इसीलिए काव्यशास्त्रके लिए 'साहित्य' शब्दके प्रचारका श्रेय विश्वनाथको ही दिया जा सकता है।

परन्तु विश्वनाथ इस शब्दके प्रयोगके आदिप्रवर्तक नहीं हैं। इसका आदि मूल तो काव्यशास्त्रके आदि आचार्य भामहके 'काव्यालङ्कार'में ही पाया जाता है। भामहने अपने ग्रन्थके प्रारम्भमें ही 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' इस प्रकार काव्यका लक्षण किया अर्थात् शब्द और अर्थके 'साहित्य'का नाम ही काव्य है। शब्दार्थके 'साहित्य'का अभिप्राय खोलते हुए दशम शताब्दीमें वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तकने लिखा है—

'साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काव्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥'[१]

इसके अनुसार काव्यमें सौन्दर्याधानके लिए शब्द और अर्थ दोनोंकी एक-सी मनोहारिणी स्थितिका नाम 'साहित्य' है। अर्थात् काव्यमें जितने सुन्दर अर्थका वर्णन किया जा रहा हो उतने ही सुन्दर शब्दोंका सन्निवेश होना चाहिये। अथवा जैसे सुन्दर शब्दोंका प्रयोग किया जा रहा हो उसीके अनुरूप सुन्दर अर्थका समन्वय होना चाहिये। शब्द, अर्थके गौरवके अनुरूप हो, न कम न अधिक, और अर्थ, शब्दके सौन्दर्यके अनुरूप हो, न कम न अधिक; यही शब्द और अर्थकी 'अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः' हुई। इसीका नाम शब्द और अर्थका 'साहित्य' है। इस प्रकारके 'साहित्य'से युक्त शब्द और अर्थका नाम ही काव्य है यह भामहके 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' इस काव्यलक्षणका अभिप्राय है। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तकने भी शब्द और अर्थके इस 'साहित्य'को अपने काव्यलक्षणमें समाविष्ट किया है। उन्होंने काव्यलक्षण करते हुए लिखा है—

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥'[२]

अर्थात् सहृदयोंको आह्लादित करनेवाले सुन्दर कविव्यापारसे युक्त रचनामें समुचित रीतिसे स्थित साहित्ययुक्त शब्दार्थका नाम ही काव्य है। इस प्रकार भामह तथा कुन्तक दोनोंने शब्द

१. वक्रोक्तिजीवित १-१७। २. वक्रोक्तिजीवित १-७।

और अर्थके 'साहित्य' के आधारपर ही अपने काव्यलक्षण किये हैं और इस आधारपर ही 'काव्य-शास्त्र' के लिए 'साहित्य' शब्दका प्रयोग होता है। यह प्रयोग यों तो आदिकालसे होता आया है और उसीके आधारपर नवम शताब्दीमें काव्यमीमांसाकार राजशेखरने "पंचमीसाहित्यविद्या इति यायावर्यः"[1] लिखकर इस शास्त्रके लिए 'साहित्यविद्या' या साहित्यशास्त्र नामका निर्देश किया है और उसी आधारपर ग्यारहवीं शताब्दीमें रुय्यकने अपने ग्रन्थका नाम 'साहित्य-मीमांसा' तथा चौदहवीं शताब्दीमें विश्वनाथने अपने ग्रन्थका नाम 'साहित्यदर्पण' रक्खा।

'क्रिया-कल्प' शब्दका प्रयोग

इस प्रकार हमने देखा कि काव्य-सौन्दर्यकी परख करनेवाले इस शास्त्रके लिए (१) 'काव्यालङ्कार', (२) 'काव्यशास्त्र', (३) 'अलङ्कारशास्त्र', (४) 'साहित्यशास्त्र', (५) 'साहित्यविद्या' आदि अनेक नामोंका प्रयोग करते आये हैं। परन्तु इन सब नामोंसे भिन्न इस शास्त्रके लिए एक और भी नाम प्रयुक्त है और वह है 'क्रिया-कल्प'। यह नाम कदाचित् इन सब नामोंसे अधिक प्राचीन है। इसका निर्देश वात्स्यायनके 'काम-शास्त्र'में गिनायी गयी ६४ कलाओंमें आता है। 'क्रिया-कल्प' 'काव्य-क्रियाकल्प'का संक्षिप्त रूप जान पड़ता है। इसका पूरा नाम 'काव्य-क्रियाकल्प' अर्थात् 'काव्यशास्त्र' है। केवल 'कामशास्त्र'में ही नहीं अपितु 'ललितविस्तर' नामक बौद्ध ग्रन्थमें भी 'क्रिया-कल्प' शब्दका प्रयोग किया गया है। टीकाकार जयमंगलाकारने उसका अर्थ 'क्रिया-कल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालङ्कार इत्यर्थः' इस प्रकार किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कलाओंके अन्तर्गत प्रयुक्त हुआ 'क्रिया-कल्प' शब्द काव्यालङ्कार अथवा अलङ्कार-शास्त्रके अर्थमें भी प्रयुक्त हुआ है। वाल्मीकिरामायणके उत्तरकाण्ड (अध्याय ९४, श्लोक ४—१० तक) में लव-कुशके गानको सुननेके लिए रामकी सभामें वैयाकरण, नैगम, स्वरज्ञ, गान्धर्व आदि विद्याओंके विशेषज्ञोंकी उपस्थितिका वर्णन किया गया है, उसीके साथ 'क्रिया-कल्प' तथा 'काव्यविद्' का वर्णन भी पाया जाता है। उसमें 'काव्यविद्' का अर्थ केवल काव्य रसको ग्रहण करनेमें समर्थ व्यक्ति है तथा 'क्रिया-कल्पविद्'का अभिप्राय काव्य-सौन्दर्यकी परीक्षामें समर्थ व्यक्ति है। रामायणके श्लोकका सम्बद्ध भाग निम्नलिखित प्रकार है—

'क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्।'[2]

इस प्रकार 'काव्यशास्त्र'के लिए (१) काव्यालङ्कार, (२) काव्यशास्त्र, (३) अलङ्कारशास्त्र, (४) साहित्यशास्त्र, (५) क्रियाकल्प; इन पाँच नामोंका प्रयोग प्रायः होता रहा है। भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन और कुन्तकने इनमेंसे 'काव्यालङ्कार' शब्दको अधिक पसन्द किया है इसलिए अपने ग्रन्थोंके नाम 'काव्यालङ्कार' रक्खे हैं। कुन्तकका ग्रन्थ यद्यपि 'वक्रोक्तिजीवित' नामसे प्रसिद्ध है परन्तु इसके दो भाग हैं—एक मूल कारिकाभाग और दूसरा वृत्तिभाग। दोनों भागोंके रचयिता स्वयं कुन्तक ही हैं। उन्होंने अपने वृत्तिभागका नाम 'वक्रोक्तिजीवित' रक्खा है और इसी नामसे यह ग्रन्थ प्रसिद्ध है, परन्तु उसके मूलकारिकाभागका नाम 'काव्यालङ्कार' ही है। इसीलिए कुन्तकने प्रारम्भमें ही लिखा है कि—

'लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते॥'[3]

१. काव्यमीमांसा, पृ० ४। २. वाल्मीकिरामायण, उत्तरकाण्ड, ९४·७। ३. वक्रोक्तिजीवित १-२।

इससे प्रतीत होता है कि वक्रोक्तिजीवितकारने भी अपने मूल ग्रन्थका नाम 'काव्यालङ्कार' ही रक्खा था। इस प्रकार बहुत समयतक इस शास्त्रके लिए 'काव्यालङ्कार' शब्दका प्रयोग होता रहा, परन्तु पीछे ऐसा अनुभव हुआ कि भिन्न-भिन्न आचार्योंके सभी ग्रन्थोंके लिए एक ही 'काव्यालङ्कार' नाम उचित नहीं है इसलिए दण्डीने सातवीं शताब्दीमें अपने ग्रन्थका नाम 'काव्यादर्श' रक्खा और नवम शताब्दीमें राजशेखरने अपने ग्रन्थका नाम 'काव्यमीमांसा' तथा ग्यारहवीं शताब्दीमें मम्मटने अपने ग्रन्थका नाम 'काव्यप्रकाश' रक्खा और तेरहवीं शताब्दीमें विश्वनाथने 'साहित्य-दर्पण' नामसे इस विषयपर अपने ग्रन्थकी रचना की।

उद्गम

'साहित्यशास्त्र'के उद्गमके विषयमें राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा'के प्रारम्भमें एक आख्यायिका दी है। आख्यायिका पौराणिक शैलीकी जान पड़ती है। इसमें प्रामाणिक तत्त्व कम हैं, फिर भी उससे 'साहित्यशास्त्र'के उद्गमके विषयमें एक विचारधाराका विषय मिलता है इसलिए उसे यहाँ दे देना उपयुक्त ही होगा। राजशेखरने लिखा है—

"अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुष्षष्टये शिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान् स्वयंभूरिच्छजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्यः 'काव्यपुरुषः' आसीत् तञ्च सर्व समयमिदं दिव्येन-चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शिनं भूर्भुवस्स्वस्त्रितयवर्तिनीषु प्रजासु हितकाम्यया प्रजापतिः काव्यविद्याप्रवर्तनार्थं प्रायुंक्त। सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्च प्रोवाच।

"तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमो यमकानि, चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपपायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकम् कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः इति। ततस्ते पृथक् पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयाञ्चक्रुः।

"इत्थं कारञ्च प्रकीर्णत्वात् सा किञ्चिदुच्चिच्छिरे। इतीयं प्रयोजकाङ्क्षवती संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पग्रन्थेन अष्टादशाधिकरणी प्रणीता।"—काव्यमीमांसा, पृष्ठ ३-४

इसका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

"अब काव्यकी विवेचना आरम्भ करते हैं। भगवान् श्रीकण्ठ शिवने इस काव्यविद्याका उपदेश परमेष्ठी वैकुण्ठादि चौंसठ शिष्योंको किया था। उनमेंसे प्रथम शिष्य स्वयंभू—ब्रह्मदेवने इस विद्याका द्वितीय बार उपदेश अपनी इच्छासे उत्पन्न (अयोनिज) शिष्यों—ऋषियों—को किया। इन शिष्योंमें सरस्वतीका पुत्र 'काव्यपुरुष' भी एक था, जगद्वन्द्य देवता भी जिसकी वन्दना करते थे। ब्रह्मदेवने त्रिकालज्ञ और दिव्य दृष्टि द्वारा भविष्यकी बातोंको जाननेवाले उस 'काव्यपुरुष'को भू, भुवः और स्वर्ग तीनों लोकोंमें रहनेवाली प्रजामें काव्यविद्याका प्रचार करनेकी आज्ञा दी। काव्यपुरुषने अठारह भागोंमें विभक्त काव्यविद्याका उपदेश सबसे प्रथम सहस्राक्षादि दिव्य काव्यविद्या स्नातकोंको किया। उनमेंसे एक-एक शिष्यने अठारह भागोंमें विभक्त उस काव्यविद्याके एक-एक भागमें विशेषता प्राप्त करके अपने-अपने विषयपर पृथक्-पृथक् ग्रन्थोंकी रचना की।

"सहस्राक्ष इन्द्रने कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण (भाग) का निर्माण किया। इसी प्रकार 'उक्तिगर्भ'ने उक्तिविषयक ग्रन्थका निर्माण किया। 'सुवर्णनाभ'ने रीतिविषयक, 'प्रचेता'ने

अनुप्रासविषयक, 'यम'ने यमकसम्बन्धी, 'चित्राङ्गद'ने चित्रकाव्यविषयक, 'शेष'ने शब्दश्लेषपर, 'पुलस्त्य'ने वास्तव अर्थात् स्वभावोक्तिपर, 'औपकायन'ने उपमा अलङ्कारके सम्बन्धमें, 'पाराशर'ने अतिशयोक्तिके सम्बन्धमें, 'उतथ्य'ने अर्थश्लेषपर, 'कुबेर'ने शब्द और अर्थ उभयालङ्कारोंके सम्बन्धमें, 'कामदेव'ने विनोद सम्बन्धी, 'भरत'ने नाट्यविषयपर, 'नन्दिकेश्वर'ने रसविषयपर, धिषण—बृहस्पति—ने दोषपर, 'उपमन्यु'ने गुणोंके सम्बन्धमें और 'कुचमार'ने औपनिषदिक विषयोंपर स्वतन्त्र रूपसे अपने-अपने ग्रन्थोंकी रचना की।

"इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयोंकी ग्रन्थरचनाओंसे काव्यविद्या अनेक भागोंमें विभक्त होकर छिन्न-भिन्न-सी हो गयी। इसलिए अत्यावश्यक काव्यविद्याके सभी विषयोंको संक्षिप्त करके हमने अठारह अधिकरणोंमें 'काव्यमीमांसा' नामक इस ग्रन्थकी रचना की है।"

इस प्रकार राजशेखरने काव्य-शास्त्रके उद्गमके ऊपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया है। परन्तु इस प्रकारका उल्लेख अन्य किसी ग्रन्थमें नहीं मिलता है।

वेदोंमें काव्यशास्त्रके बीज

प्राचीन भारतीय दृष्टिकोणके अनुसार वेद सब सत्य विद्याओंके प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। सब सत्य विद्याओंकी उत्पत्ति और विकास वेदोंसे ही हुआ है इसलिए सभी विद्याओंके मूल तत्त्वोंका अनुसन्धान वेदोंमें किया जाता है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी ऋग्वेदको विश्व-साहित्यका सबसे प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं। इसलिए अपनी अनुसन्धान-प्रक्रियामें वे भी प्रत्येक विषयका बीज ऋग्वेदमें खोजनेका प्रयत्न करते हैं। इसी दृष्टिसे साहित्यशास्त्रके मूल सिद्धान्तोंका वेदोंमें अन्वेषण करनेका यत्न किया गया है। यों साक्षात् साहित्यशास्त्रका वेदोंसे कोई सम्बन्ध नहीं। वेदाङ्गोंमें भी शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छ विद्याओंकी गणना की गयी है, पर उनमें साहित्यका नाम नहीं आता। इसलिए वेद और वेदाङ्गोंसे साहित्यशास्त्रका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है फिर भी वेदको 'देवका अमर काव्य' कहा गया है—"देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति"[1]के वैदिक वचनमें 'देवके काव्य'के रूपमें वेदका ही निर्देश किया गया है और वेदके निर्माता परमात्माके लिए वेदोंमें अनेक जगह 'कवि' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसलिए वेद स्वयं काव्यरूप है और उसमें काव्यका सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता है। इसलिए काव्यसौन्दर्यके निरूपक साहित्यशास्त्रमें काव्यसौन्दर्यके आधायक जिन गुण, रीति, अलङ्कार, ध्वनि आदि तत्त्वोंका विवेचन किया गया है वे सभी तत्त्व मूल रूपमें वेदमें पाये जाते हैं। वेदोंमें रचनाके माधुर्य, ओज और प्रसादादि गुणोंके उदाहरण अनेक स्थानोंपर पाये जाते हैं। गुणोंके आधारपर ही रीतियोंका निर्धारण होता है। इसलिए रीतियोंके उदाहरण भी वेदमें खोजे जा सकते हैं। उपमा और रूपक आदि अलङ्कारोंकी तो वेदोंमें भरमार है। एक-एक मन्त्रमें अनेक जगह रूपक और उपमा आदिका प्रयोग देखा जा सकता है—

> 'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
> उतो त्व स्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासा॥'[2]

की उपमा कैसी सुन्दर उपमा है। अनेक लोग विद्या पढ़ते हैं पर उसका रहस्य खुलता नहीं, अनेक लोग महत्त्वकी बातें सुनते हैं पर उनका भाव समझमें नहीं आता। ऐसे ही लोगोंको

१. अथर्ववेद १०-८ ३२। २. ऋग्वेद १०-७१-४।

लक्ष्यमें रखकर मन्त्रमें कहा गया है, 'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं'। 'त्व' अर्थात् 'एके' कुछ लोग ऐसे हैं जो देखते हुए भी वाणीके स्वरूपको नहीं देख पाते हैं और 'शृण्वन् अपि न शृणोत्येनां', सुनकर भी उसको सुन नहीं पाते हैं। ये दोनों विरोधाभासके कितने सुन्दर और प्रासादिक, प्रसाद-गुणयुक्त मनोहर उदाहरण हैं। तीसरे वे लोग हैं जिनके सामने वाणी अपना सारा सौन्दर्य इस प्रकार खोलकर रख देती है जैसे सुन्दरतम वेश-भूषामें अलंकृत होकर पत्नी अपने पतिके सामने अपने सौन्दर्यको पूर्ण रूपमें प्रदर्शित करती है। 'उतो त्वं स्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासा' इस उपमाका यही भाव है। यह कितनी सुन्दर उपमा है। दूसरी जगह—'उषा हस्नेव निर्णीते अप्सः' में उषा हँसती हुई-सी अपने 'अप्सः' रूपाणि अर्थात् सौन्दर्यको प्रकाशित करती है में 'हँसती हुई-सी सौन्दर्यको प्रकाशित करती है,' कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा है।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥'[1]

इस मन्त्रमें यों तो दर्शनशास्त्रके मौलिक तत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है, परन्तु काव्य या साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे भी वह एक बड़ा सुन्दर उदाहरण है। वेदके दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार सृष्टिमें ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन अनादि, अनन्त मौलिक तत्त्व हैं। ईश्वर प्रकृतिके द्वारा सृष्टिकी रचना करता है और जीव उस सृष्टिमें अपने कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखरूप फलोंका भोग करता है। इस एक मन्त्रमें सारे दर्शनोंका रहस्य समाविष्ट कर दिया गया है। पर इस जटिल दार्शनिक तत्त्वका निरूपण 'दिव्य काव्य' वेदमें हुआ है इसलिए वह काव्यके समान सुन्दर प्रतीत होता है। मन्त्रमें ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों तत्त्वोंको अपने नामोंसे न कहकर 'रूपकालङ्कार'में दो पक्षियों और एक वृक्षके रूपमें प्रदर्शित किया है। प्रकृति एक विशाल पिप्पल-वृक्षके रूपमें है। ईश्वर और जीव दोनों 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' दो 'सुपर्णा' सुन्दर पंखोंवाले, 'सयुजा' साथ रहनेवाले और मित्ररूप पक्षी हैं। वे दोनों पक्षी 'समानं वृक्षं परिषस्वजाते' एक-समान वृक्ष अर्थात् प्रकृतिपर स्थित हैं। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' उन दोनोंमेंसे एक—जीव—उस वृक्षके फलोंको खाता है अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मोंके अनुसार सृष्टिमें सुख-दुःखरूप फलोंका भोग करता है और 'अनश्नन्नन्यः अभिचाकशीति', दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा 'अनश्नन्' फलोंका भोग न करता हुआ 'अभिचाकशीति' संसारमें चारों ओर अपने सौन्दर्यको प्रकाशित करता है। यह इस मन्त्रका भाव है। काव्यकी मनोहर भाषामें दार्शनिक तत्त्वका ऐसा सुन्दर निरूपण सारे साहित्यमें कहीं और देखनेको नहीं मिलता है। रूपककी कल्पना कैसी सुन्दर बनी है और उसके साथ 'सुपर्णा, सयुजा, सखायः, समानं, परिषस्वजाते' के सुन्दर अनुप्रासने तो सोनेमें सुगन्धका काम किया है। 'अनश्नन्नन्यः अभिचाकशीति' में नकारका अनुप्रास माधुर्यकी अभिव्यंजना कर रहा है। 'अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति' फलका भोग न करते हुए भी अपने तेजको, सौन्दर्यको प्रकाशित कर रहा है यह विभावना अलङ्कारका सुन्दर उदाहरण है। 'विभावना तु विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते', बिना हेतुके जहाँ कार्यकी उत्पत्तिका वर्णन हो वहाँ 'विभावना' अलङ्कार होता है। फलका भोग या भक्षण ही दैहिक सौन्दर्यका जनक है पर यहाँ 'अनश्नन्' न खानेपर भी 'अभिचाकशीति' सौन्दर्यके प्रकाशका उल्लेख पाया जाता है। इसलिए यह विभावना अलङ्कारका उदाहरण है। काव्यप्रकाशके 'यः कौमारहरः' इत्यादि अनलङ्कृतिवाले उदाहरणके खण्डमें साहित्यदर्पणकी अपनायी गयी प्रक्रियाके

१. ऋग्वेद १-१६४-२०।

अनुसार यदि इसको उलट दिया जाय तो यह 'विशेषोक्ति'का उदाहरण बन जायेगा। 'सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिः', हेतुके होनेपर भी फलका न होना 'विशेषोक्ति' अलङ्कार कहलाता है। यहाँ 'अनश्नन्' रूप सौन्दर्याभावका कारण विद्यमान है परन्तु सौन्दर्याभावरूप कार्य विद्यमान नहीं है क्योंकि 'अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति', न खाते हुए भी वह अपने सौन्दर्यको प्रकाशित कर रहा है। इसलिए यहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार है।

इस मन्त्रमें न केवल रूपक, अनुप्रास, विभावना या विशेषोक्ति अलङ्कार ही पाये जाते हैं, अपितु 'सयुजा' और 'सखायः' विशेषणोंसे जीवात्मा और परमात्माकी नियतता एवं सन्निकृष्टताकी अभिव्यक्ति भी होती है, इसलिए वे पदद्योत्य ध्वनिके उदाहरण भी हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस एक ही मन्त्रमें रूपक, अनुप्रास, विभावना, विशेषोक्ति चार अलङ्कारों, माधुर्य गुण और पदद्योत्य ध्वनि आदि काव्यके अनेक महत्त्वपूर्ण अङ्गोंका समावेश पाया जाता है। इस प्रकारके अन्य सैकड़ों मन्त्र पाये जाते हैं जिनमें साहित्यशास्त्रके मौलिक तत्त्वोंका सुन्दर समावेश हुआ है। इन मन्त्रोंका जितना ही अधिक आलोडन किया जाय उतना ही उनका सौन्दर्य प्रस्फुटित होता जायगा।

वेदाङ्ग निरुक्तमें उपमाका विवेचन

ऊपरके प्रकरणमें हम देख चुके हैं कि वेदोंमें साहित्यशास्त्रके मौलिक तत्त्वोंका सुन्दर समावेश हुआ है। पर वह व्यावहारिक प्रयोगमात्र है, उनका शास्त्रीय विवेचन वहाँ नहीं किया गया है। निरुक्तकारने इस दिशामें कुछ थोड़ा-सा प्रयास किया है। उपमा अलङ्कार सारे अलङ्कारोंका बीज है, इसीसे वैदिक साहित्यमें उसका अत्यधिक प्रयोग पाया जाता है। निरुक्तकारने इस उपमालङ्कारका शास्त्रीय विवेचन करनेका यत्न किया है। उन्होंने तृतीय अध्यायके तृतीय पादमें अपने पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्यके मतका उल्लेख करते हुए 'उपमा'का लक्षण इस प्रकार किया है—

'यद् अतत् तत्सदृशं तदासां कर्म इति गार्ग्यः'

अर्थात् जो उपरसे भिन्न होनेपर उसके सदृश हो वह इनका अर्थात् उपमाका कर्म अर्थात् विषय होता है।

'ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा, कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते।'

अर्थात् अधिक गुणवाले अथवा अत्यन्त प्रख्यात उपमानके साथ 'कनीयांसं' कम गुणवाले अथवा 'अप्रख्यातं', कम प्रसिद्धिवाले उपमेयका सादृश्य उपमामें दिखलाया जाता है। यह उपमाका सामान्य लक्षण है और उत्तरवर्ती साहित्यशास्त्रमें भी इसी रूपमें इसको स्वीकार किया जाता है। परन्तु निरुक्तकारने 'अथापि कनीयसा ज्यायान्सं', छोटे-से बड़ेकी उपमा अर्थात् न्यून गुणवाले उपमानके साथ अधिक गुणवाले उपमेयकी उपमाका भी वर्णन किया है और उसके अनेक उदाहरण दिये हैं। नवीन साहित्यशास्त्रमें इस प्रकारकी उपमाको 'हीनोपमा' कहा जाता है और दोषकी कोटिमें गिना जाता है। परन्तु निरुक्तकारने उसे दोषाधायक नहीं माना है अपितु सुन्दर उपमाका रूप ही माना है। इसका उदाहरण उन्होंने ऋग्वेदसे इस प्रकार उद्धृत किया है—

'तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीतां।
इयन्ते अग्ने नव्यसीमनीषा युक्ष्वा रथं न शुचयद्भिरङ्गैः॥'[1]

---

१. ऋग्वेद १०-४-६।

इस मन्त्रमें आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों प्रकारके उच्च तत्त्वोंका प्रतिपादन किया है। आध्यात्मिक दृष्टिसे इसमें मनुष्यके लिए इन्द्रियसंयमका उपदेश किया गया है। 'रशनाभिर्दशभिरभ्यधीतां', दस रसनाओंसे अर्थात् दस इन्द्रियोंसे अपना संयम करे अर्थात् अपनी दशों इन्द्रियोंका कठोरताके साथ नियन्त्रण करे। इसके लिए मन्त्रके प्रथम चरणमें 'तनूत्यजेव तस्कराः वनर्गू', जंगलमें रहनेवाले तस्कर अर्थात् लुटेरोंको उपमानरूपमें प्रस्तुत किया गया है। 'वनर्गू' वनगामिनौ अर्थात् वनमें रहनेवाले, 'तस्कराः' लुटेरे, 'तनूत्यजेव' अपने प्राणोंपर खेलकर भी जैसे परद्रव्यापहरणरूप कार्यका सम्पादन अत्यन्त निष्ठुर होकर भी करते हैं इसी प्रकार श्रेयोमार्गके पथिक मानवको निष्ठुरताके साथ या दृढ़ताके साथ अपनी दशों इन्द्रियोंका नियन्त्रण करना चाहिये। और इस इन्द्रियसंयम द्वारा 'शुचयद्भिरङ्गैः', पवित्र अंगोंसे 'रथम् युक्त्वा', अपने जीवन-रथका संचालन करना चाहिये। इस प्रकार संयत जीवन व्यतीत करनेसे, 'यन्ते अग्ने नव्यसीमनीषा', हे अग्रगन्तः! प्रतिदिन जीवनके उन्नत पथपर चलनेवाले तुमको 'नव्यसी मनीषा' प्रतिदिन आत्म-साक्षात्कारके मार्गसे नूतन ज्ञान, नूतन स्फूर्ति प्राप्त होगी, यह इस मन्त्रका अर्थ है। इसमें अपनी इन्द्रियोंके संयमके लिए तस्करोंकी दृढ़ताको उपमान बनाया गया है। यों तो तस्करोंका उपमान बनानेके कारण यह हीनोपमा है पर इन्द्रियदमनके लिए अपेक्षित दृढ़ता या निष्ठुरताका प्रदर्शक वह एक बहुत ही सुन्दर उपमान है इसलिए निरुक्तकारने इस हीनोपमाको दोष न मानकर अलङ्कार ही माना है।

वेदमें 'इव'के अतिरिक्त उपमावाचक अन्य अनेक शब्द भी आते हैं। उनके आधारपर अनेक उदाहरण निरुक्तकारने प्रस्तुत किये हैं। इनमें 'आ' और 'चित' भी वेदके उपमावाचक शब्द हैं। सूर्य रात्रिके अन्धकारको नष्ट करता है। इसका वर्णन करते हुए—'जार आ भगम्' यह उपमा वेदमें दी है। उसमें 'आ' उपमावाचक शब्द है। 'था' को भी वेदमें उपमावाचक शब्दके रूपमें प्रयुक्त किया जाता है—'तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा' में 'था' शब्द 'इव'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। 'प्रत्नथा' का अर्थ 'प्रत्न इव', 'पूर्वथा'का पूर्व इव, 'विश्व था' विश्व इव आदि हैं। 'यथा' और 'वत्' आदि भी लोकके समान वेदमें उपमावाचक शब्दके रूपमें प्रयुक्त होते हैं—

'यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।'[1]

में 'यथा' शब्द उपमावाचक शब्दके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार—

'प्रियमेधवत् अत्रिवत् जातवेदो विरूपवत्।'[2]

में 'वत्' शब्द उपमावाचक शब्दके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। निरुक्तकारने कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा और लुप्तोपमा आदि उपमाके अनेक भेद भी किये हैं। 'लुप्तोपमा'का दूसरा नाम 'अर्थोपमा' भी है। सिंहः पुरुषः, काकः पुरुषः आदि इस उपमाके उदाहरण हैं। इनमें सिंह आदि शब्द प्रशंसापरक और काक पद निन्दाव्यंजक हैं। यही उत्तरवर्त्ती कालमें रूपकालङ्कारके रूपमें व्यवहृत हुआ है।

वेदाङ्ग व्याकरणशास्त्रमें उपमाका निरूपण

'निरुक्त'के समान ही 'व्याकरण'की गणना भी छ वेदाङ्गोंमें की गयी है। वर्तमान व्याकरण-ग्रन्थोंके देखनेसे पता चलता है कि व्याकरणशास्त्रपर अनेक आचार्योंने ग्रन्थ लिखे थे। परन्तु इस

१. ऋग्वेद ५-७८-८। २. ऋग्वेद १-४५-५।

समय उनकी उपलब्धि नहीं हो रही है। इस समय केवल पाणिनि-व्याकरण ही उपलब्ध हो रहा है। उसमें भी 'निरुक्त'के समान या उससे भी अधिक स्पष्ट रूपमें 'उपमा' अलङ्कारका निरूपण पाया जाता है। उपमा अलङ्कारमें (१) उपमान, (१) उपमेय, (३) साधारणधर्म और (४) उपमा-वाचक शब्द—ये चार मुख्य भाग होते हैं। पाणिनिसूत्रोंमें उन सबका स्पष्ट निर्देश पाया जाता है—

'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्'—अष्टाध्यायी २-३-७२
'उपमानानि सामान्यवचनैः' ,, २-१-५५
'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' ,, २-१-५६

इन सूत्रोंमें उपमान, उपमेय आदि शब्दोंका स्पष्ट रूपसे प्रयोग किया गया है। इतना ही नहीं अपितु उत्तरवर्ती आलङ्कारिकोंने उपमाके 'श्रौती' और 'आर्थी' रूपसे जो दो भेद किये हैं उनका भी विस्तृत विवेचन व्याकरणशास्त्रमें पाया जाता है। अथवा यों कहना चाहिये कि अलङ्कार-शास्त्रमें वह विवेचन व्याकरणशास्त्रके आधारपर ही किया गया है। साहित्यदर्पणकारने श्रौती और आर्थी उपमाका लक्षण करते हुए लिखा है—

'श्रौती यथेव वा शब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि।'
आर्थी तुल्यसमानाद्या तुल्यार्थो यत्र वा वतिः॥ सा० द० १०-१६

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ उपमानके साथ 'यथा', 'इव', 'वा' आदि शब्दोंका प्रयोग किया जाय अथवा 'तत्र तस्येव' (अष्टाध्यायी ५-१-११६) सूत्रसे 'इव'के अर्थमें 'वति' प्रत्यय किया जाय वहाँ 'श्रौती' उपमा होती है और जहाँ तुल्य, समान आदि उपमावाचक शब्दोंका प्रयोग किया जाय अथवा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (अष्टा० ५-१-११५) सूत्रसे 'वति' प्रत्यय किया जाय वहाँ 'आर्थी' उपमा होती है। काव्यप्रकाशकारने भी पूर्णोपमाके भेदोंका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

'साग्रिमा
श्रौत्यार्थी च भवेद् वाक्ये समासे तद्धिते तथा॥'
—का० प्र०, का० ८७, सूत्र १२७

'अग्रिमा' अर्थात् पूर्णोपमा 'श्रौती' और 'आर्थी' भेदसे दो प्रकारकी होती है और उनमेंसे प्रत्येक वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत तीन प्रकारकी हो जाती है। इस प्रकार 'पूर्णोपमा'के छ भेद बन जाते हैं। यथा, इव, वा आदि शब्दोंके योगमें 'श्रौती' और तुल्य आदि शब्दोंके योगमें 'आर्थी' उपमा क्यों मानी जाती है इसका उपपादन करते हुए काव्यप्रकाशकारने लिखा है—

"यथेवादि शब्दाः यत्परास्तस्यैवोपमानता प्रतीतिरिति यद्यप्युपमानविशेषणान्येते तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् सम्बन्धं प्रतिपादयन्तीति तत् सद्भावे श्रौती उपमा तथैव तत्र तस्येव इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वतेरुपादानेऽपि।

" 'तेन तुल्यं मुखं' इत्यादावुपमेयेव 'तत्तुल्यमस्य' इत्यादौ चोपमानेव 'इदञ्च तच्च तुल्यं' इत्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थ-त्वात् तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी। तद्वत् तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति इत्यनेन विहितस्य वतेस्थितौ।"

इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'यथा', 'इव' आदि शब्द जिसके बाद या साथमें प्रयुक्त होते हैं वही उपमान होता है और षष्ठी विभक्तिके समान श्रवणमात्रसे ही यहाँ इस सम्बन्धकी प्रतीति हो जाती है इसलिए उनके होनेपर 'श्रौती' उपमा मानी जाती है। इसी प्रकार 'तत्र

तस्येव' सूत्रके द्वारा 'वति' प्रत्यय होनेपर भी श्रवणमात्रसे ही उपमान-सम्बन्धकी प्रतीति हो जाती है इसलिए उसके योगमें भी श्रौती उपमा होती है।

तुल्य, समानादि उपमावाचक अन्य शब्दोंकी स्थिति इनसे भिन्न है। यथा, इव आदि शब्द सदा उपमानके साथ ही प्रयुक्त होते हैं, परन्तु तुल्य, समानादि शब्दोंके विषयमें यह बात नहीं है। वे कभी उपमानके साथ प्रयुक्त होते हैं, कभी उपमेयके साथ और कभी दोनोंके साथ, जैसे— 'तेन तुल्यं मुखम्।' इस उदाहरणमें 'तुल्य' शब्दका सम्बन्ध 'तेन' इस उपमेयके साथ है। उपमानके साथ नहीं। 'तत्तुल्यमस्य' इस उदाहरणमें 'तुल्य' शब्दका प्रयोग उपमानके साथ है, उपमेयके साथ नहीं और 'इदञ्च तच्च तुल्यं' इस उदाहरणमें 'तुल्य' शब्दका प्रयोग 'इदं' और 'तत्' अर्थात् उपमेय और उपमान दोनोंके साथ है इसलिए इन शब्दोंके प्रयोगमें उपमान और उपमेयकी प्रतीति तुरन्त नहीं होती। विचार करनेके बाद निश्चय होता है कि यहाँ तुल्य शब्दका सम्बन्ध किसके साथ है। इसलिए इस प्रकारके स्थलोंमें 'आर्थी' उपमा मानी जाती है। इन दोनों भेदोंमें 'तत्र तस्येव' तथा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इन दो व्याकरणसूत्रोंका उपयोग होता है। इसलिए इन उपमाभेदोंके ऊपर व्याकरणशास्त्रका प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। यही नहीं, इन दोनों भेदोंके वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत जो भेद किये गये हैं वे तो पूर्णतः व्याकरणके आधारपर ही किये गये हैं।

'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भाविवस्तनौ पीनौ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले॥'

इस उदाहरणमें 'अम्भोरुहवत्'में 'तत्र तस्येव' सूत्रसे 'वति' प्रत्यय होनेसे तद्धितगत श्रौती उपमा है। 'कुम्भाविव'में 'इवेन नित्यसमासः विभक्त्यलोपश्च' इस नियमके अनुसार 'कुम्भ' शब्दके साथ 'इव' शब्दका नित्यसमास होनेसे समासगत श्रौती उपमा है और 'शरदिन्दुर्यथा' में वाक्यगत श्रौती उपमा है। इस प्रकार एक ही श्लोकमें श्रौती उपमाके तद्धितगत, समासगत तथा वाक्यगत, तीनों भेदोंके उदाहरण आ जाते हैं। इसी प्रकार—

'मधुरः सुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः।
चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः॥'

इस उदाहरणमें 'सुधावत्', पदमें 'सुधया तुल्यं सुधावत्' इस विग्रहमें 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्रसे 'वति' प्रत्यय होनेके कारण तद्धितगत आर्थी उपमा है। 'पल्लवतुल्य'में समासगत आर्थी उपमा तथा 'मृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले'में वाक्यगत आर्थी उपमा है।

पूर्णोपमाके ये श्रौती और आर्थी भेद कुछ अंशमें व्याकरणके सूत्रोंसे नियन्त्रित होते हैं। परन्तु लुप्तोपमाके पाँच भेद तो पूर्ण रूपसे व्याकरणके सूत्रोंसे ही नियन्त्रित होते हैं—

'आधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यचि क्यङि।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि च स्यादेवं पञ्चधा पुनः॥ सा० द० १०-१९
वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि ॥

—का० प्र०, का० १०, सू० १३०

के अनुसार आधार तथा कर्म अर्थोंमें क्रमशः 'अधिकरणाच्च' इस वार्तिक तथा उसके मूलभूत 'उपमानादाचारे' (अष्टा० ३-१-१०) सूत्रसे क्यच् प्रत्यय होनेपर दो प्रकारकी तथा 'कर्तुः क्यङ्-

सलोपश्च' (अष्टा० ३-१-११) सूत्रसे क्यङ् प्रत्यय होनेपर तीसरी प्रकारकी एवं 'उपमाने कर्मणि' (अष्टा० ३-४-४५) सूत्रसे उपमानभूत कर्म तथा कर्ता उपपद रहते किसी धातुसे 'ण्वुल' प्रत्यय करनेपर चौथी और पाँचवीं धर्मलुप्ता उपमा होती है। इस प्रकार धर्मलुप्ता उपमाके पाँचों भेद एकदम व्याकरणसूत्रोंसे ही नियन्त्रित होते हैं। इन पाँचों भेदोंके उदाहरण एक ही श्लोकमें निम्नलिखित प्रकार आ जाते हैं—

'अन्तःपुरीयसि रणेषु सुतीयसि त्वं,
पौरं जनं तव सदा रमणीयते श्रीः।
दृष्टः प्रियाभिरमृतद्युतिदर्शमिन्दु-
संचारमत्र भुवि संचरसि क्षितीश॥

इस उदाहरणमें 'रणेषु अन्तःपुरीयसि' यह आधार अर्थमें 'अधिकरणाच्च' इस वार्तिकसे 'क्यच्' प्रत्यय होकर 'अन्तःपुरे इव आचरसि अन्तःपुरीयसि' रूप बनता है। 'पौरं जनं सुतीयसि' इसमें 'सुतमिव आचरसि सुतीयसि' यह रूप 'उपमानादाचारे' (अष्टा० ३-१-१०) सूत्रसे क्यच् प्रत्यय करनेपर बनता है। 'रमणीयते श्रीः'में 'रमणी इव आचरति' इस अर्थमें 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (अष्टा० ३-१-११) सूत्रसे क्यङ् प्रत्यय होकर 'रमणीयते' रूप बनता है। 'अमृतद्युति दर्शं दृष्टः' और 'इन्दुसंचारं संचरति' इन दोनों उदाहरणोंमें 'उपमाने कर्मणि च' (अष्टा० ३-४-४५) सूत्रसे क्रमशः कर्म तथा कर्ता उपपद रहते 'ण्वुल्' प्रत्यय होकर यह रूप बने हैं। इस प्रकार उपमाके भेदोंपर व्याकरणशास्त्रका पर्याप्त नियन्त्रण प्रतीत होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद तथा वेदाङ्गोंमें काव्यशास्त्रके मौलिक तत्त्वोंका बीज पर्याप्त रूपमें पाया जाता है।

कालविभाग

इस प्रकार हमने वैदिक साहित्यसे लेकर विक्रमसे लगभग ५०० वर्ष पूर्व पाणिनिके कालतक अलङ्कारशास्त्रकी स्थितिपर पिछली पंक्तियोंमें विचार किया। परन्तु इस कालमें अलङ्कार-शास्त्रके मौलिक तत्त्वोंका पर्याप्त मात्रामें उल्लेख मिलते हुए भी उसका सुश्लिष्ट शास्त्रीय निरूपण प्राप्त नहीं होता है। उसका शास्त्रीय निरूपण मुख्यतः भरत मुनिसे प्रारम्भ होता है। भरत मुनिका काल प्रायः विक्रमसे २ शताब्दी पूर्वसे लेकर २ शताब्दी बादतकके बीचमें विभिन्न विद्वानों द्वारा नियत किया जाता है। इस प्रकार विक्रमसे दो शताब्दी पूर्वसे लेकर १८वीं शताब्दीतकके पण्डितराज जगन्नाथ, आशाधर भट्ट और अलङ्कारकौस्तुभकार विश्वेश्वर पण्डिततक अलङ्कार-शास्त्रके साहित्यका निर्माण होता रहा है। विक्रमसे पूर्व द्वितीय शताब्दीसे लेकर १८वीं शताब्दी-तक लगभग २ हजार वर्षके बीचमें अलङ्कारशास्त्रका इतिहास फैला हुआ है। इस कालका विभा-जन कई प्रकारसे विद्वानोंने किया है। अधिकांश विद्वानोंने इस कालको चार भागोंमें विभक्त किया है—

१. प्रारम्भिक काल (अज्ञातकालसे लेकर भामहतक)
२. रचनात्मक काल (भामह ,, ,, आनन्दवर्धनतक अर्थात् ६०० विक्रमीसे ८०० विक्रमीतक)
३. निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धनकालसे लेकर मम्मटतक अर्थात् ८०० विक्रमीसे १००० विक्रमीतक)

४. व्याख्याकाल (मम्मटकालसे लेकर जगन्नाथ तथा विशेश्वर पण्डिततक अर्थात् १००० विक्रमीसे १७५० विक्रमीतक)

(१) प्रारम्भिक काल

इन चार कालविभागोंमें पहला—**प्रारम्भिक काल** है। यह अज्ञातकालसे प्रारम्भ होकर ७वीं शताब्दीके प्रारम्भमें भामहतक आता है। इस कालमें मुख्य रूपसे भरत और भामह दो ही मुख्य आचार्य पाये जाते हैं। भरतका 'नाट्यशास्त्र' ग्रन्थ साहित्यशास्त्रका मुख्य ग्रन्थ है उसमें रस और नाट्यके सूक्ष्म तत्त्वोंका विवेचन बहुत सुन्दर रूपसे किया गया है। परन्तु वह सब मूलभूत है, बीजभूत है। आगे उसका विस्तार अन्य आचार्योंने किया है। 'नाट्यशास्त्र'के १६वें अध्यायमें केवल ४ अलङ्कार, १० गुण और १० दोषोंका ही विवेचन किया गया है, जो अलङ्कार-शास्त्रकी दृष्टिसे एक रूपरेखामात्र ही कहा जा सकता है।

भरतके बाद मेधावी रुद्र आदि उनके कुछ टीकाकार हुए हैं पर उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते हैं। उनके बाद वास्तवमें भामह ही अलङ्कारशास्त्रके प्रथम आचार्य पाये जाते हैं और उनका 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्रका मुख्य ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसमें इन्होंने भरतके चार अलङ्कारोंके स्थानपर ३८ स्वतन्त्र अलङ्कारोंका विवेचन किया है। भट्टिकाव्यके निर्माता भट्टिने इसी-के आधारपर अपने ग्रन्थमें अलङ्कारोंका निरूपण किया है।

(२) रचनात्मक काल

साहित्यशास्त्रका दूसरा महत्त्वपूर्ण काल रचनात्मक काल है जो भामह (६०० विक्रमी) से लेकर आनन्दवर्धन (८०० विक्रमी)तक २०० वर्षोंमें फैला हुआ है। इस रचनात्मक कालमें साहित्यशास्त्रके आगे कहे जानेवाले अलङ्कारसम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय, रससम्प्रदाय तथा ध्वनिसम्प्रदाय चारों मुख्य सम्प्रदायोंके मौलिक ग्रन्थोंका निर्माण हुआ है। इन चारों सम्प्रदायोंके मौलिक साहित्य-का निर्माण करनेवाले आचार्य इस कालमें ही हुए हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. अलङ्कारसम्प्रदाय— भामह, उद्भट, रुद्रट
२. रीतिसम्प्रदाय— दण्डी, वामन
३. रससम्प्रदाय— लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक आदि
४. ध्वनिसम्प्रदाय— आनन्दवर्धन

यह काल साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसमें जहाँ एक ओर भामह, उद्भट तथा रुद्रटने काव्यके बाह्य अलङ्कारोंका निरूपण किया वहाँ दूसरी ओर दण्डी और वामनने काव्य-की रीति और उसके गुणोंकी विवेचना की। भरतनाट्यशास्त्रके प्रसिद्ध 'रससूत्र'की व्याख्या करने-वाले लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक आदिने नाट्यशास्त्रपर टीका लिखकर 'रस-सिद्धान्त'को स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया और इसी कालमें आनन्दवर्धनाचार्यने अपना 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ लिखकर ध्वनिसिद्धान्तकी स्थापना की।

(३) निर्णयात्मक काल

आनन्दवर्धनसे लेकर मम्मटतक साहित्यशास्त्रका तीसरा महत्त्वपूर्ण काल है जो 'निर्णया-त्मक काल'के नामसे प्रसिद्ध है। यह काल ८०० विक्रमीसे लेकर १००० विक्रमीतक दो सौ वर्षोंके

बीच फैला हुआ है। 'ध्वन्यालोक'की प्रसिद्ध टीका 'लोचन', एवं 'नाट्यशास्त्र'की 'अभिनव भारती' टीकाके निर्माता अभिनवगुप्त, वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक, व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट इस युगके प्रधान आचार्य हैं। इनमेंसे कुन्तक पाँचवें वक्रोक्तिसम्प्रदायके संस्थापक हैं और महिमभट्ट ध्वनि-सिद्धान्तके कट्टर विरोधी हैं। कुन्तकका 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ वक्रोक्तिसिद्धान्तका प्रतिपादन करने-वाला उत्कृष्ट ग्रन्थ है और महिमभट्टका 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ ध्वनिसिद्धान्तका आमूल खण्डन करनेवाला उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त रुद्रभट्ट, भोजराज तथा धनिक और धनंजय भी इसी कालके उज्ज्वल रत्न हैं।

(४) व्याख्याकाल

साहित्यशास्त्रका चौथा महत्त्वपूर्ण काल 'व्याख्याकाल'के नामसे प्रसिद्ध है जो मम्मट से लेकर जगन्नाथ और विश्वेश्वर पण्डिततक अर्थात् १००० से लेकर १७५० तक लगभग ७½ सौ वर्षोंमें फैला हुआ है। यह सबसे लम्बा काल है। इसमें अनेक आचार्य हुए जिनमेंसे हेमचन्द्र, विश्वनाथ और जयदेव आदिने काव्यकी सर्वांगपूर्ण विवेचना की है और साहित्यके सम्पूर्ण विषयोंको लेकर अपने ग्रन्थोंकी रचना की है। रुय्यक तथा अप्पयदीक्षित आदिने केवल अलङ्कारोंके विवेचनमें ही अपनी शक्तिका व्यय किया है। शारदातनय, शिङ्गभूपाल तथा भानुदत्त आदिने इस सिद्धान्त-के विवेचनमें श्लाघनीय प्रयत्न किया है। गौडीय, वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामीका सहयोग भी इस कार्यमें श्लाघनीय रहा है। राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अमरचन्द्र आदिने कवि-शिक्षाके विषयपर अपने ग्रन्थोंका निर्माण किया है। इस कालके आचार्योंका वर्गीकरण हम विविध सम्प्रदायोंके अन्तर्गत निम्नलिखित प्रकार कर सकते हैं—

१. ध्वनिसम्प्रदाय—मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र तथा विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव तथा अप्पयदीक्षित आदि।
२. रससम्प्रदाय—शारदातनय, शिङ्गभूपाल, भानुदत्त, रूपगोस्वामी आदि।
३. कवि-शिक्षा—राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अरिसिंह, अमरचन्द्र, देवेश्वर आदि।
४. अलङ्कारसम्प्रदाय—पण्डितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर भट्ट आदि।

प्रकारान्तरसे कालविभाग

यह एक शैलीसे कालविभाजन किया गया है, जिसमें साहित्यशास्त्रके दो हजार वर्षके लम्बे इतिहासको चार भागोंमें विभक्त किया है। दूसरे विद्वानोंने ध्वनिसिद्धान्तको साहित्यशास्त्रका मुख्य सिद्धान्त मानकर इस कालको तीन भागोंमें विभक्त किया है—

१. पूर्वध्वनिकाल—प्रारम्भसे आनन्दवर्धन (८०० विक्रमी)तक
२. ध्वनिकाल—आनन्दवर्धन (८०० विक्रमी)से मम्मट (१००० विक्रमी)तक
३. पश्चात् ध्वनिकाल—मम्मट (१००० विक्रमी)से जगन्नाथ (१७५० विक्रमी)तक

साहित्यशास्त्रके सम्प्रदाय

कालविभागके उपर्युक्त प्रकरणमें ध्वनिसम्प्रदाय, रससम्प्रदाय आदि कुछ सम्प्रदायोंकी चर्चा आयी है। इन सम्प्रदायोंकी स्थापना काव्यात्मभूत तत्त्वके विषयमें मतभेदके कारण हुई है। जो लोग रसको काव्यका आत्मा मानते हैं वे रससम्प्रदायके अन्तर्गत हैं। जो अलङ्कारोंको ही काव्य-का आत्मा मानते हैं वे अलङ्कारसम्प्रदायके अनुयायी कहे जाते हैं। इसी प्रकार 'रीतिरात्मा

काव्यस्य', रीतिको ही काव्यका आत्मा माननेवाले रीतिसम्प्रदायके अन्तर्गत आते हैं। 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः', ध्वनिको काव्यका आत्मा माननेवाले ध्वनिसम्प्रदायके अनुयायी तथा 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्', वक्रोक्तिको काव्यका आत्मा माननेवाले वक्रोक्तिसम्प्रदायके अनुयायी कहे जाते हैं। इस प्रकार साहित्यशास्त्रमें प्रायः (१) रससम्प्रदाय, (२) अलङ्कारसम्प्रदाय, (३) रीतिसम्प्रदाय, (४) वक्रोक्तिसम्प्रदाय तथा (५) ध्वनिसम्प्रदाय ये पाँच सम्प्रदाय पाये जाते हैं। भरतसे लेकर पण्डितराज जगन्नाथतक लगभग दो हजार वर्षोंमें साहित्यशास्त्रमें जितने आचार्य हुए हैं वे प्रायः इन्हीं सम्प्रदायोंमेंसे किसी-न-किसी सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

(१) रससम्प्रदाय

इन पाँचों सम्प्रदायोंमेंसे सबसे मुख्य तथा प्राचीन सम्प्रदाय कदाचित् रससम्प्रदाय है। रससम्प्रदायके संस्थापक भरत मुनि हैं। यद्यपि राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा'में भरतसे भी पहिले नन्दिकेश्वरको रससिद्धान्तका प्रतिष्ठापक माना है, किन्तु नन्दिकेश्वरका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसलिए उपलब्ध साहित्यके आधारपर साहित्यशास्त्रके पितामह भरतको ही रससम्प्रदायका संस्थापक माना जाता है। रसके विषयमें सबसे पहिला विवेचन भरतके 'नाट्यशास्त्र'में ही पाया जाता है। भरत मुनिका 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह प्रसिद्ध रससूत्र ही रससिद्धान्तका प्राणभूत है। उत्तरवर्ती आचार्योंने इसीके आधारपर रसका विवेचन किया है। इसलिए भरत मुनिको ही रससम्प्रदायका आदिप्रवर्तक मानना होगा। भरत मुनिने 'नाट्यशास्त्र'के छठे अध्यायमें रसोंका और सातवें अध्यायमें भावोंका बहुत विस्तारके साथ विवेचन किया है। वही रससिद्धान्तका आधार है।

भरत मुनिके रससिद्धान्तके व्याख्याकारके रूपमें भट्टनायक, भट्टलोल्लट, शंकुक, अभिनवगुप्त आदि पाँच आचार्य बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके मतोंकी चर्चा प्रकृत ग्रन्थ काव्यप्रकाशमें की गयी है। उनके मतोंका अन्तर क्या है इसे काव्यप्रकाशकी प्रकृत टीकामें दिखलाया गया है, उसे वहींसे (पृष्ठ १००–१०९ तक) देखना चाहिये। काव्यप्रकाशका यह सारा विवरण भरतनाट्यशास्त्रकी 'अभिनव भारती' टीकाके आधारपर दिया है।

(२) अलङ्कारसम्प्रदाय

रससम्प्रदायके बाद दूसरा स्थान अलङ्कारसम्प्रदायका आता है। कालक्रमसे भरतके बाद होनेवाले दूसरे आचार्य भामह इस अलङ्कारसम्प्रदायके प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके व्याख्याकार 'भामह-विवरण'के निर्माता उद्भट और उनके बाद हुए दण्डी, रुद्रट आदि और पश्चाद्वर्ती प्रतिहारेन्दुराज तथा जयदेव आदि अनेक आचार्य इस अलङ्कारसम्प्रदायके अन्तर्गत आ जाते हैं। अलङ्कारसम्प्रदायके अनुयायी भी रसकी सत्ता मानते हैं किन्तु उसे प्रधानता नहीं देते हैं। उनके मतमें काव्यका प्राणभूत जीवनाधायक तत्त्व अलङ्कार ही है। अलङ्कारविहीन काव्यकी कल्पना वैसी ही है जैसे उष्णताविहीन अग्निकी कल्पना। 'चन्द्रालोक'के निर्माता जयदेवने काव्यप्रकाशकारके काव्यलक्षणमें आये 'अनलंकृती पुनः क्वापि', अर्थात् 'कहीं-कहीं अलङ्कारहीन शब्दार्थ भी काव्य हो सकते हैं' इस अंशपर कटाक्ष करते हुए लिखा है—

'अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

अर्थात् काव्यप्रकाशकार जो अलङ्कारविहीन शब्द और अर्थको भी काव्य मानते हैं वे उष्णताविहीन

अग्निकी सत्ता क्यों नहीं मानते ? अलङ्कारसम्प्रदायवादी, काव्यमें अलङ्कारोंको ही प्रधान मानते हैं और इसका अन्तर्भाव रसवदलङ्कारोंमें करते हैं। रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित और समाहित, चार प्रकारके रसवदलङ्कार माने जाते हैं। भामह और दण्डी दोनोंने इन रसवदलङ्कारोंके भीतर ही रसका अन्तर्भाव किया है—

'रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा।'

—भामह, काव्यालङ्कार ३.६

'मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।'

—दण्डी, काव्यादर्श ३-५१

(३) रीतिसम्प्रदाय

कालक्रममें अलङ्कारसम्प्रदायके बाद रीतिसम्प्रदायका स्थान आता है। रीतिसम्प्रदायके संस्थापक भामहके बाद होनेवाले वामन हैं। वामनने काव्यमें अलङ्कारकी प्रधानताके स्थानपर रीतिकी प्रधानताका प्रतिपादन किया है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य'[1] यह उनका प्रमुख सिद्धान्त है। इसीलिए उन्हें रीतिसम्प्रदायका प्रवर्तक माना जाता है। रीति क्या है इसका विवेचन करते हुए उन्होंने 'विशिष्ट पदरचना रीतिः'[2] अर्थात् विशिष्ट पदरचनाका नाम 'रीति' है यह लक्षण किया है। आगे उस 'विशेष'की व्याख्या करते हुए 'विशेषो गुणात्मा'[3] अर्थात् रचनामें माधुर्यादि गुणोंका समावेश ही उसकी विशेषता है और वह विशेषता ही 'रीति' है। इस प्रकार इस सिद्धान्तमें 'गुण' और 'रीति' का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है इसीलिए रीतिसम्प्रदायको 'गुणसम्प्रदाय' के नामसे भी कहा जाता है।

वामनने 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः'[4] तथा 'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः'[5] इन दो सूत्रोंको लिखकर गुण तथा अलङ्कारोंका भेद प्रदर्शित करते हुए अलङ्कारोंकी अपेक्षा गुणोंके विशेष महत्त्वको प्रदर्शित किया है। गुण काव्यशोभाके उत्पादक होते हैं। अलङ्कार केवल उस शोभाके अभिवर्द्धक होते हैं। इसलिए काव्यमें अलङ्कारोंकी अपेक्षा गुणोंका स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए वामनने अलङ्कारोंकी प्रधानताको समाप्त कर गुणोंकी प्रधानताका प्रतिपादन करनेवाले रीतिसम्प्रदायकी स्थापना की। मम्मट आदि उत्तरवर्ती आचार्योंने 'रीति'की उपयोगिता तो स्वीकार की है किन्तु उसे काव्यका आत्मा स्वीकार नहीं किया है। उनके मतमें 'रीतयोऽवयवसंस्थान-विशेषवत्', काव्यमें रीतियोंकी स्थिति वैसी ही है जैसे शरीरमें आँख, नाक, कान आदि अवयवोंकी। इन अवयवोंकी रचना शरीरके लिए उपयोगी भी है और शरीरशोभाकी जनक भी है फिर भी उसे आत्माका स्थान नहीं दिया जा सकता। इसी प्रकार काव्यमें 'रीति'का महत्त्व तथा शोभाजनकत्व होनेपर भी उसे काव्यका आत्मा नहीं कहा जा सकता है।

(४) वक्रोक्तिसम्प्रदाय

कालक्रमसे वामनके रीतिसिद्धान्तके बाद उसको दबाकर वक्रोक्तिसम्प्रदायके संस्थापक वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक माने जाते हैं। कुन्तकने काव्यमें रीतिकी प्रधानताको समाप्तकर 'वक्रोक्ति'-की प्रधानताकी स्थापना की। वैसे काव्यमें 'वक्रोक्ति'का मूल्य भामहने भी स्वीकार किया है—

१. काव्यालङ्कारसूत्र १-२-६। २. का० सू० १-२-७। ३. का० सू० १-२-८। ४. का० सू० ३-१-१। ५. का० सू० ३-१-२।

'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥'
—भामह, काव्यालङ्कार २-८५

इसी प्रकार दण्डीने भी—'भिन्नं द्विधा स्वभावोक्ति-वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्' (काव्यादर्श, २-३६३) लिखकर वक्रोक्तिके महत्त्वका प्रतिपादन किया है। और वामनने भी 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' (काव्यालङ्कारसूत्र, ४-३-८ की वृत्ति) लिखकर काव्यमें 'वक्रोक्ति'का स्थान माना है। किन्तु उन सबके मतसे वक्रोक्ति सामान्य अलङ्कारादिरूप ही है। कुन्तकने वक्रोक्तिको जो गौरव प्रदान किया है वह उन आचार्योंने नहीं दिया है। इसलिए कुन्तक ही इस सम्प्रदायके संस्थापक माने जाते हैं। उन्होंने इस वक्रोक्तिसिद्धान्तके ऊपर भी 'वक्रोक्तिजीवित' नामक अपने विशाल एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की है।

वक्रोक्तिजीवितकारने अपने पूर्ववर्ती रीतिसिद्धान्तको भी परिमार्जित करके अपने यहाँ स्थान दिया है। वामनकी पांचाली, वैदर्भी, गौडी आदि 'रीतियाँ' देशभरके आधारपर मानी जाती थीं। कुन्तकने उनका आधार देशको न मानकर रचनाशैलीको माना है और उनके लिए 'रीति'के स्थान-पर 'मार्ग' शब्दका प्रयोग किया है। वामनकी वैदर्भी रीतिको कुन्तक 'सुकुमारमार्ग' कहते हैं। इसी प्रकार गौडी रीतिको 'विचित्रमार्ग' तथा पांचाली रीतिको 'मध्यममार्ग' नामसे कहते हैं।

(५) ध्वनिसम्प्रदाय

कालक्रमसे वक्रोक्तिसम्प्रदायके बाद ध्वनिसम्प्रदायका उदय हुआ। इस सम्प्रदायके संस्थापक आनन्दवर्धनाचार्य माने जाते हैं। इनके मतमें 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः', काव्यका आत्मा ध्वनि है। इन सभी सम्प्रदायोंमें ध्वनिसम्प्रदाय सबसे अधिक प्रबल एवं महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय रहा है। यों इसके विरोधमें भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये, किन्तु उस विरोधसे ध्वनिसिद्धान्त वैसा ही अधिकाधिक चमकता गया जैसे अग्निमें तपानेपर स्वर्णकी कान्ति बढ़ती जाती है। ध्वनिसिद्धान्तके विरोधमें वैयाकरण, साहित्यिक, वेदान्ती, मीमांसक, नैयायिक सभीने आवाज उठायी, किन्तु अन्तमें काव्यप्रकाशकार मम्मटने बड़ी प्रबल युक्तियों द्वारा उन सबका खण्डन करके ध्वनिसिद्धान्तकी पुनः स्थापना की। इसीलिए उनको 'ध्वनिप्रतिष्ठापक परमाचार्य' कहा जाता है।

भरतसे लेकर पण्डितराज जगन्नाथतक लगभग दो हजार वर्षोंके दीर्घकालके भीतर इन सम्प्रदायोंका विकास और संघर्ष होता रहा है। इस बीचमें लगभग चालीस-पैंतालीस मुख्य आचार्योंने इस साहित्यिक विकासके कार्यमें अपना योगदान किया है। उनका परिचय इस सारे संघर्ष एवं विकासको समझनेमें उपयोगी होगा; इसलिए निम्नलिखित पंक्तियोंमें हम साहित्य-शास्त्रके उन प्रमुख आचार्योंका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करनेका यत्न करते हैं।

साहित्यशास्त्रके आचार्योंका परिचय

१. भरत मुनि

भरत मुनि साहित्यशास्त्रके आचार्योंमें सबसे प्राचीन आचार्य माने जाते हैं। भरत नामसे पाँच विभिन्न व्यक्तियोंका उल्लेख संस्कृत साहित्यमें पाया जाता है—१. दशरथके पुत्र भरत, २. दुष्यन्तके पुत्र भरत, ३. मान्धताके प्रपौत्र भरत, ४. जड़ भरत और ५. 'नाट्यशास्त्र'के प्रवर्तक

भरत मुनि। हमें यहाँ केवल अन्तिम अर्थात् नाट्यशास्त्रकार भरत मुनिके विषयमें ही विवेचन करना है, क्योंकि साहित्यशास्त्रके आचार्योंमें उन्हींकी गणना की जाती है। अन्य भरतोंका साहित्यशास्त्रके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

भरत मुनिके कालका निर्णय करना बड़ा कठिन कार्य है। कुछ विद्वान् भरत नामको एक काल्पनिक नाम मानते हैं। डॉ० मनमोहन घोषका 'नाट्यशास्त्र'का अंग्रेजी अनुवाद 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' बंगालसे अभी सन् १९५०में प्रकाशित हुआ है। उसमें भी उन्होंने भरत मुनिको एक काल्पनिक व्यक्ति माना है। इस मतके माननेवाले लोगोंका यह विचार है कि प्रारम्भमें जो नटगण स्वाँग भरते थे वे स्वाँग भरनेके कारण 'भरत' कहलाते थे। बादमें उनके आदिपुरुषके रूपमें भरत मुनिकी कल्पना कर ली गयी। परन्तु यह मत वास्तवमें ठीक नहीं है। भरत मुनि काल्पनिक व्यक्ति नहीं अपितु ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। सारे साहित्यशास्त्रमें उनको 'नाट्यशास्त्र'के प्रवर्तकरूपमें स्मरण किया गया है। मत्स्यपुराणके २४वें अध्यायमें २७-३२वें श्लोकतक ६ श्लोकोंमें भरत मुनिका उल्लेख अनेक बार किया गया है। उनमें यह कथा कही गयी है कि भरत मुनिने देवलोकमें 'लक्ष्मी-स्वयंवर' नामक नाटकका अभिनय करवाया था। उसमें अप्सरा उर्वशी लक्ष्मीका अभिनय कर रही थी। देवसभामें इन्द्रके साथ राजा पुरूरवा भी उपस्थित थे। पुरूरवाके रूपको देखकर उर्वशी उस समय ऐसी मोहित हो गयी कि वह अपना अभिनय करना भूल गयी। इसपर भरत मुनिने अप्रसन्न होकर पुरूरवा और उर्वशी दोनोंको शाप दे दिया। महाकवि कालिदासने भी इस घटनाकी ओर सङ्केत किया है और भरत मुनिके नामका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥'

—विक्रमोर्वशीय २-१८

भरतके 'नाट्यशास्त्र'में भी देवलोकमें भरत मुनिके द्वारा किये जानेवाले अभिनयका वर्णन किया गया है। उसमें भरत मुनिके सौ पुत्रोंकी लम्बी सूची भी दी गयी है और साथमें अप्सराओंके नामोंकी भी सूची दी गयी है, जिनके द्वारा भरत मुनिने अभिनयकी योजना की थी। संस्कृतके सभी नाटकोंकी समाप्ति प्रायः 'भरतवाक्य'के साथ होती है। और अभिनवगुप्त आदि सभी प्राचीन लेखकोंने भरत मुनिको 'नाट्यशास्त्र'का प्रवर्तक माना है, इसलिए उनको कल्पित व्यक्ति कहना उचित नहीं है।

भरत मुनिके कालका निर्णय कर सकना यद्यपि बहुत कठिन है फिर भी जो लोग उनको ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं वे उनका समय ५०० विक्रमपूर्वसे लेकर प्रथम शताब्दीतकके बीचमें मानते हैं। अश्वघोष नामक बौद्ध दार्शनिक तथा कवि, विक्रमकी प्रथम शताब्दीमें हुए हैं। उनका 'सारिपुत्रप्रकरण' नामक एक नाट्यग्रन्थ भी खण्डित अवस्थामें अभी मिला है। आलोचकोंकी सम्मतिमें उसके ऊपर भी भरत मुनिके 'नाट्यशास्त्र'का प्रभाव दिखलाई देता है। इसलिए भरत मुनिका काल उनसे पहिले अवश्य ही मानना होगा। अतएव कुछ विद्वान् लोग विक्रमपूर्व पञ्चम शताब्दीसे लेकर विक्रमकालके बीचमें कहीं भरत मुनिका समय मानते हैं।

भरत मुनिका एकमात्र ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' है। यों नामसे तो वह नाट्यके विषयका ही ग्रन्थ प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः वह समस्त कलाओंका विश्वकोष है। स्वयं भरत मुनिने 'नाट्यशास्त्र'का परिचय देते हुए लिखा है—

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥'[1]

जो बात उन्होंने नाट्यके विषयमें कही है वही बात उनके 'नाट्यशास्त्र'पर भी चरितार्थ होती है। उनका 'नाट्यशास्त्र' न केवल नाट्यका ही अपितु समस्त ललित एवं उपयोगी कलाओंका आकरग्रन्थ है।

वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' प्रायः ६,००० श्लोकोंका ग्रन्थ है। इसलिए उसको 'षट्साहस्री संहिता' भी कहा जाता है। पर इसके पूर्व उसका १२,००० श्लोकोंका भी कोई संस्करण रहा होगा क्योंकि उसकी 'द्वादशसाहस्री संहिता'का भी उल्लेख पाया जाता है। शारदातनयने अपने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थमें इन दोनों संस्करणोंका उल्लेख किया है और उनमेंसे 'द्वादशसाहस्री संहिता'का रचयिता वृद्धभरतको और 'षट्साहस्री संहिता'का रचयिता भरतको बतलाया है। उन्होंने लिखा है—

'एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः ॥'[2]

'नाट्यशास्त्र'का वर्तमान संस्करण 'षट्साहस्री' संस्करण है। इसमें कुल ३६ अध्याय हैं। निर्णयसागरसे प्रकाशित प्रथम संस्करणमें 'नाट्यशास्त्र'के ३७ अध्याय दिखलाये गये थे। परन्तु 'नाट्यशास्त्र'के प्राचीन टीकाकार अभिनवगुप्तने उसमें केवल ३६ अध्यायोंका वर्णन करते हुए लिखा है—

'षट्त्रिंशकात्मक जगद्-गगनावभाससंविन्मरीचिचयचुम्बितबिम्बशोभम्।
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन् वन्दे शिवं .... ॥'

'नाट्यशास्त्र'का सम्पादन

सन् १८२५ में विलसन महोदयने कुछ संस्कृत नाटकोंका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया था। उस समय 'नाट्यशास्त्र'की कोई प्रति सर्वसाधारणके लिए सुलभ न थी। विलसन महोदयको भरत मुनिके 'नाट्यशास्त्र'का उल्लेख तो विभिन्न ग्रन्थोंमें मिला, परन्तु उसकी कोई प्रति उपलब्ध न हो सकी, इसलिए उस समय उन्होंने बड़े दुःखके साथ यह लिखा कि भरत मुनिका 'नाट्यशास्त्र' तो सर्वदाके लिए लुप्त हो गया प्रतीत होता है। इसके चालीस वर्ष बाद सन् १८६५ में फ्रेड्रिक हाल महोदयको 'नाट्यशास्त्र'की एक प्रति प्राप्त हुई। परन्तु वह अत्यन्त अशुद्ध थी इसलिए वे उसका सम्पूर्ण रूपसे सम्पादन तथा प्रकाशन न कर सके। फिर भी उन्होंने उसके कुछ अध्यायोंको अपने सम्पादित 'दशरूपक'के साथ प्रकाशित किया।

हाल महोदयके इस प्रकाशनसे 'नाट्यशास्त्र'के बिलकुल लुप्त हो जानेकी विद्वानोंकी धारणाका निराकरण हो गया, इसलिए विद्वान् लोग हस्तलिखित ग्रन्थोंके भण्डारोंमें इस 'नाट्यशास्त्र'की अन्य प्रतियोंकी खोज बड़ी तत्परतासे करने लगे। सन् १८७४ में हेमान नामक जर्मन विद्वान्ने 'नाट्यशास्त्र'की एक और नयी प्रतिका पता लगाकर गौटिंगेन नगरकी राजकीय विज्ञान-परिषद्की विवरण-पुस्तकमें 'नाट्यशास्त्र'का एक विस्तृत परिचय प्रकाशित किया। उसके बाद सन् १८८० में रैग्नो

१. ना० शा० १-११७। २. भावप्रकाशन, पृ० २८७।

नामक फ्रांसके एक विद्वान्ने 'नाट्यशास्त्र'के १५वें तथा १६वें अध्यायोंको प्रकाशित किया। उसके बाद सन् १८८४ में उन्हीं रेग्नो महोदयने ६ठे तथा ७वें अध्यायोंको प्रकाशित किया।

रेग्नो महोदयके शिष्य ग्रोसे नामक दूसरे फ्रेंच विद्वान्ने अपने गुरुके कार्यको आगे बढ़ाते हुए सन् १८८८ में 'नाट्यशास्त्र'के संगीतविषयक २८वें अध्यायको सम्पादित करके प्रकाशित किया और उसके बाद भी वे 'नाट्यशास्त्र'के सम्पादनमें अनवरत तत्पर रहे। अनेक कठिनाइयोंके होते हुए भी सन् १८९८ में उन्होंने 'नाट्यशास्त्र'के प्रारम्भिक १४ अध्यायोंका एक सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किया।

ग्रोसेके इस संस्करणके प्रकाशित होनेके पूर्व फ्रांसके प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् प्रो० शिल्वाँ लेवीने अपने भारतीय नाटकविषयक ग्रन्थमें भरतके 'नाट्यशास्त्र'के कुछ अध्यायोंका विवेचन किया था, पर वह बहुत अच्छा नहीं कहा जा सकता था। इसी बीचमें ग्रोसेके संस्करणसे पहले हमारे भारतमें भरत-नाट्यशास्त्रका प्रथम संस्करण निर्णयसागर प्रेस, बम्बईकी काव्यमाला सीरीजमें प्रकाशित हुआ। इसका सम्पादन स्वर्गीय श्री पण्डित शिवदत्तजी तथा श्री काशीनाथ पाण्डुरंग परब महोदयने किया था।

इतना कार्य हो चुकनेपर भी 'नाट्यशास्त्र'का समझना और उसकी समुचित व्याख्या कर सकना विद्वानोंके लिए एक समस्या ही बनी हुई थी। क्योंकि ये संस्करण पर्याप्त शुद्ध न थे और न उनकी कोई टीका आदि अबतक मिल सकी थी। वर्तमान २०वीं शताब्दीके आरम्भमें डॉ० सुशीलकुमार दे महोदयने 'नाट्यशास्त्र'की 'अभिनवभारती' नामक प्राचीन टीकाकी एक प्रति खोज कर निकाली। इस टीकाके रचयिता कश्मीरके प्रसिद्ध विद्वान् श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य हैं। बादको मद्रासके प्रसिद्ध विद्वान् श्री रामकृष्ण कवि महोदयने 'अभिनवभारती' टीका और मूल 'नाट्यशास्त्र'को सम्पादन करनेका भार उठाया और सन् १९२६ में उसके सात अध्यायोंका प्रथम भाग तथा सन् १९३४ में द्वितीय भाग १८ अध्यायतकका प्रकाशित किया। इसका तृतीय भाग भी अब प्रकाशित हुआ है और चतुर्थ भाग भी शीघ्र प्रकाशित होनेकी आशा है।

'अभिनवभारती'के प्रकाशनसे यह आशा हुई थी कि 'नाट्यशास्त्र'का रहस्य स्पष्ट हो जायगा। और बहुत-कुछ अंशोंमें ऐसा हुआ भी है। परन्तु दुःखकी बात यह है कि 'अभिनवभारती'की जो प्रतियाँ उपलब्ध हुई वे सब अत्यन्त दूषित थीं। उनका पाठ अत्यन्त अशुद्ध था। सम्पादक महोदयको जिस प्रकारका पाठ हस्तलिखित प्रतियोंमें मिला उसको उन्होंने उसी रूपमें छाप दिया था। परन्तु वह पाठ इतना अधिक अशुद्ध और असंगत है कि उससे ग्रन्थका अभिप्राय समझ सकना नितान्त असम्भव है।

उसके सम्बन्धमें विद्वानोंका कहना तो यह है कि 'अभिनवभारती'का पाठ इतना अधिक अशुद्ध है कि यदि स्वयं अभिनवगुप्ताचार्य भी स्वर्गसे उतर कर आ जायँ तो वर्तमान पाठको देखकर वे भी अपने अभिप्रायको नहीं समझ सकते।

इस प्रकारकी अशुद्धियोंके दो कारण हुए हैं। एक तो यह कि सम्पादक महोदयको जो पाण्डुलिपि प्राप्त हुई थी वह अनेक स्थानोंपर कीड़ोंने खा डाली थी। इसलिए उन स्थानोंपर क्या पाठ था यह पढ़ा नहीं जा सका। इसी कारणसे मुद्रित संस्करणमें अनेक जगह पाठ लुप्त-सा दिखाई देता है। दूसरा कारण यह है कि पाण्डुलिपिके पृष्ठोंपर संख्या पड़ी हुई नहीं थी। इसलिए कहीं-कहींपर, जहाँ कि पृष्ठोंको किसीने इधर-उधर करके रख दिया था, वे वहीं छाप दिये गये। इस

प्रकार उनके मुद्रणमें भी भूल हो गयी है, अर्थात् पाठोंका पौर्वापर्य बिगड़ गया है। ऐसी अवस्थामें किसी पाठका अर्थ समझमें आ ही कैसे सकता है।

हमारा संस्करण

हमने अभी 'अभिनवभारती'का पाठ-संशोधन कर नवीन संस्करण प्रस्तुत किया है जो दिल्ली विश्वविद्यालयकी 'हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्'की ओरसे प्रकाशित हो गया है। इसमें हमने अपनी विवेकाश्रित सम्पादन-पद्धतिसे पाठोंका संशोधन करनेका यत्न किया है। जहाँपर कीड़ोंके खा जानेके कारण हस्तलिखित पाण्डुलिपियोंमें पाठ न पढ़े जा सकनेसे मुद्रित प्रतिमें पाठ लुप्त हो गये थे वहाँ हमने प्रसंगके अनुसार लुप्त पाठकी पूर्ति करनेका यत्न किया है। जहाँ दो-चार अक्षरोंका ही लोप हुआ था वहाँ तो हमारा संशोधित पाठ निश्चय ही ठीक बैठ गया है। पर जहाँ लम्बा पाठ लुप्त हो गया था वहाँ भी अक्षरशः नहीं तो भी ग्रन्थकारका भाव पूर्णतः संशोधित पाठमें आ गया है। इसी प्रकार जहाँ पृष्ठोंके व्युत्क्रमसे रख दिये जानेके कारण मुद्रित संस्करणमें पाठ उलट-पलटकर अस्थानमें छप गये थे वे भी प्रायः ठीक स्थानपर कर दिये गये हैं। पाठोंका यह संशोधन बड़ा असाध्य कार्य था। पर मैंने उसे करनेका यत्न किया है। यदि विद्वानोंको सन्तोषप्रद हुआ तो हम अपना श्रम सफल समझेंगे और यदि इस कार्यमें कोई भूल-चूक हुई हो तो विद्वानोंके परामर्शका आदर करते हुए अगले संस्करणमें और आवश्यक सुधार करनेका यत्न करेंगे।

भरत मुनिके टीकाकार

भरत मुनिके 'नाट्यशास्त्र'की यद्यपि केवल एक ही टीका 'अभिनवभारती' अबतक उपलब्ध हुई है परन्तु उसे देखनेसे विदित होता है कि उनके पूर्व अन्य अनेक टीकाकारोंने 'नाट्यशास्त्र'पर टीकाएँ लिखी थीं। किन्तु वे सब कालक्रमसे विलुप्त हो गयीं या कमसे कम अबतक प्राप्त नहीं हो सकी हैं। इनमेंसे १. भट्टोद्भट, २. भट्टलोल्लट, ३. भट्टशंकुक और ४. भट्टनायक इन चार व्याख्याकारोंका उल्लेख तो काव्यप्रकाशकारने भी किया है। भरतके 'रससूत्र'की व्याख्यामें इन चारोंके मतोंका उल्लेख अभिनवभारतीकारने भी किया है। इनके साथ पाँचवें अभिनवगुप्त और छठे कीर्तिधरको मिलाकर 'संगीत-रत्नाकर'के लेखक श्री शार्ङ्गदेवने भरतके छ टीकाकारोंका उल्लेख निम्नलिखित प्रकारसे किया है—

> 'व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः।
> भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमान् कीर्तिधरो परः॥'

इन छ टीकाकारोंके अतिरिक्त 'अभिनवभारती'में ७. राहुल, ८. भट्टयन्त्र और हर्ष-वार्तिकका उल्लेख अपनी टीकामें किया है। राहुलके मतका उल्लेख करते हुए 'अभिनवभारती'के चतुर्थ अध्यायमें पृष्ठ १७२ पर लिखा है—

> 'यथाह राहुलः—
> परोक्षे पि हि वक्तव्यो नार्या प्रत्यक्षवत् प्रियः।
> सखी च नाट्यधर्मो यं भरतेनोदितं द्वयम्॥'

अभिनवभारतीकारने पृष्ठ २०८ पर भट्टयन्त्रके मतका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'शिक्षार्हस्वेच्छान्यनृत्तकतिपयनाट्यांगकृतं नृत्तमभ्यासफलमिति भट्टयन्त्रः।'

इसी पृष्ठ २०८ पर अभिनवभारतीकारने 'नाट्यमेवेदमिति कीर्तिधराचार्यः' लिखकर कीर्तिधरके नामका भी उल्लेख किया है।

वार्तिककारके मतका उल्लेख अभिनवभारतीके पृष्ठ १७२ पर भी किया गया है और फिर पृष्ठ २०७ पर भी उनका उल्लेख किया है। दोनोंमें अन्तर यह है कि पहिली जगह अर्थात् पृष्ठ १७२ पर केवल 'वार्तिककृताप्युक्तम्' इस रूपमें नामके बिना वार्तिककारका उल्लेख किया है। और दूसरी जगह अर्थात् पृष्ठ २०७ पर 'इतिहर्षवार्तिकम्' इस रूपमें कार्तिकके साथ हर्ष नामको जोड़कर उसका उल्लेख किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि 'नाट्यशास्त्र'पर वार्तिक लिखनेवाले कदाचित् हर्षदेव या श्रीहर्ष आदि नामका कोई व्यक्ति रहा होगा।

इन नौ टीकाकारोंका उल्लेख 'अभिनवभारती' तथा 'संगीतरत्नाकर' आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है। इनके अतिरिक्त मातृगुप्ताचार्य नामक एक दसवें व्यक्तिका नाम भी इस प्रसंगमें लिया जाता है। राघवभट्टने 'अभिज्ञानशाकुन्तल'की टीकामें पृष्ठ १५ पर भरतके आरम्भ तथा बीजके लक्षणवाले पद्योंको उद्धृत कर उनका भेद दिखलानेके लिए मातृगुप्ताचार्यका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'अत्र विशेषो मातृगुप्ताचार्यैरुक्तः··· ।
क्वचित् कारणमात्रन्तु क्वचिच्च फलदर्शनम् ॥'

इसी प्रकार 'नाट्यप्रदीप'के निर्माता सुन्दरमित्र (१६१३ ई०) ने 'नाट्यशास्त्र' ५-२५ तथा ५-२८ से नान्दी-लक्षणको उद्धृत करते हुए लिखा है—

'अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्यैः षोडशांघ्रिपदापीयमुदाहृता ।'

इस लेखसे प्रतीत होता है कि उन्होंने भी भरतनाट्यशास्त्रपर कोई व्याख्या लिखी थी। इस प्रकार भरत मुनिके व्याख्याकारोंके रूपमें प्रायः दस विद्वानोंका उल्लेख पाया जाता है परन्तु उनमेंसे एक 'अभिनवभारती'को छोड़कर अन्य किसीका टीकाग्रन्थ अबतक उपलब्ध नहीं हुआ है। और यह भी विदित नहीं होता है कि उन्होंने सारे 'नाट्यशास्त्र'के ऊपर अपनी टीकाएँ लिखी थीं अथवा उसके किसी विशेष भागपर ही अपनी व्याख्याएँ की थीं। केवल एक 'अभिनवभारती' व्याख्या ऐसी है जो 'नाट्यशास्त्र'के अधिकांश भागपर की गयी है। किन्तु कुछ अध्यायोंमें और कुछ स्थलोंपर वह भी उपलब्ध नहीं होती। जो कुछ उपलब्ध होती है वह भी अशुद्ध पाठोंके कारण दुरूह है। अच्छे-अच्छे विद्वान् भी पाठदोषके कारण उसे समझ नहीं सकते। हमने केवल तीन अध्यायों (१, २ तथा ६) का पाठसंशोधन किया है। उतना भाग तो अब सुबोध हो गया है, परन्तु शेष भाग अभी संशोधनकी अपेक्षा रखता है।

२. मेधावी

साहित्यशास्त्रके इतिहासमें भरत मुनिके बाद मुख्य रूपसे भामहका नाम आता है। परन्तु इन दोनोंके बीचमें छ-सात सौ वर्षका व्यवधान पड़ता है। भरत मुनिका समय, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विक्रमके पूर्व प्रथम शताब्दी या विक्रमके बाद प्रथम शताब्दीतक माना जाता है। भामहका काल जैसा कि आगे कहेंगे, विक्रमके षष्ठ शतकका पूर्वार्द्ध माना जाता है। इतना लम्बा बीचका काल साहित्यिक आचार्योंसे शून्य ही पड़ा रहा हो ऐसा सम्भव नहीं है। इस बीचमें

१. नाट्यशास्त्र (बड़ोदा), पृ० १७२। २. ना० शा० (बड़ोदा), पृ० २०८।

भी अनेक आचार्य हुए होंगे। परन्तु दैवदुर्विपाकसे आज हमको उनका कोई पता नहीं चलता है। इन्हीं बीचके आचार्योंमें मेधावी या मेधाविरुद्र नामके अलंकारशास्त्रके एक प्रमुख आचार्य हो चुके हैं। उनका पता हमें भामह, रुद्रटके व्याख्याकार नमिसाधु और राजशेखर आदिके ग्रन्थोंसे मिलता है।

मेधावी आचार्यके जिस मुख्य सिद्धान्तकी चर्चा उत्तरवर्ती साहित्यमें की गयी है वह उनका उपमादोषोंके विवेचनका सिद्धान्त है। उन्होंने १. हीनता, २. असम्भव, ३. लिंगभेद, ४. वचनभेद, ५. विपर्यय, ६. उपमानाधिक्य तथा ७. उपमानासादृश्य—इन सात प्रकारके उपमादोषोंका विशेष रूपसे निरूपण किया था। इसकी चर्चा भामह, नमिसाधु तथा वामनने अपने ग्रन्थोंमें की है। भामहने इस विषयका विवेचन करते हुए लिखा है—

'हीनतासम्भवो लिंगवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च॥
त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र च ते पृथक्॥'

—भामह, काव्यालङ्कार २-३९, ४०

रुद्रटके 'काव्यालङ्कार' (११-२४) की टीकामें इसी विषयकी चर्चा करते हुए उसके टीकाकार नमिसाधुने लिखा है—

'अत्र च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणात् मेधावि-प्रभृतिभिरुक्ता यथा लिंगवचनभेदौ हीनताधिक्यमसम्भवो विपर्ययो सादृश्यमिति सप्तोपमादोषाः ...तदेतन्निरस्तम्।

मेधावीने जिन सात उपमादोषोंका प्रतिपादन किया था उनमेंसे विपर्ययको हीनता या अधिकता दोषके अन्तर्गत करके वामनने सातके स्थानपर केवल छ उपमादोषोंका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

'अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अत एवास्माकं मते षड्दोषा इति।'

—वामन, काव्यालङ्कारसूत्र ४-२-११ की वृत्ति

वामनने यद्यपि भामह और नमिसाधुकी तरह यहाँ मेधावीके नामका उल्लेख नहीं किया है, परन्तु इस विवेचनको देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि मेधावीके सात दोषोंवाले सिद्धान्तके आलोचनारूपमें ही इसे लिखा है।

दोषोंके अतिरिक्त अलङ्कारोंके विवेचनमें भी भामह और दण्डीने मेधावीके सिद्धान्तकी चर्चा की है। भामह आदि उत्तरवर्ती आलङ्कारिकोंने 'यथासंख्य' तथा 'उत्प्रेक्षा' दो अलग-अलग अलङ्कार माने हैं, परन्तु मेधावी 'उत्प्रेक्षा' को अलग अलङ्कार न मानकर कहीं-कहीं 'संख्यान' नामसे ही उसका कथन करते हैं। इसी बातका प्रतिपादन करते हुए भामहने लिखा है—

'यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलङ्कारद्वयं विदुः।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाऽभिहिता क्वचित्॥'

—भामह, काव्यालङ्कार २-८८

दण्डीने इस संख्यान नामकी उत्प्रेक्षाका वाचक न कहकर यथासंख्यका ही दूसरा नाम माना है और उसीको 'क्रम' नामसे भी कोई आचार्य कहते हैं यह लिखा है—

'यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि।'

—दण्डी, काव्यादर्श २-२८३

दण्डीके इस लेखमें यद्यपि मेधावीके नामका उल्लेख नहीं किया गया है और न उनके उत्प्रेक्षाको 'संख्यान' नामसे कहनेकी चर्चा की गयी है फिर भी उसमें मेधावीके द्वारा प्रयुक्त 'संख्यान' नामकी चर्चा हुई है इसलिए हमने उसको यहाँ दे दिया है।

मेधाविरुद्रके तीसरे जिस सिद्धान्तकी चर्चा उत्तरवर्ती साहित्यमें पायी जाती है, वह है शब्दोंका चतुर्धा विभाग। व्याकरण आदि शास्त्रोंमें शब्दोंके १. नाम, २. आख्यात, ३. उपसर्ग, ४. निपात और ५. कर्मप्रवचनीय नामसे पाँच विभाग किये गये हैं, परन्तु मेधाविरुद्रने इनमेंसे कर्मप्रवचनीयको छोड़ केवल १. नाम, २. आख्यात, ३. उपसर्ग और ४. निपात, चार ही विभाग किये हैं। इसकी चर्चा करते हुए रुद्रट-काव्यालङ्कारकी टीकामें नमिसाधुने लिखा है—

'एत एव चत्वारः शब्दविधा इति येषां सम्यङ्मतं तत्र तेषु नामादिषु मध्ये मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः।'

—रुद्रट, काव्यालङ्कारकी टीका २-२, पृ० ९

निरुक्तके रचयिता यास्कमुनिने भी निरुक्तके प्रारम्भमें शब्दोंका विभाजन करते हुए 'तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' लिखकर नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात चार प्रकारका पदविभाग ही स्वीकार किया है। 'कर्मप्रवचनीय'को अलग विभाग नहीं माना है। इसी प्रकार मेधाविरुद्रने भी 'कर्मप्रवचनीय'को छोड़कर केवल चार प्रकारका ही पदविभाग माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेधाविरुद्रके अनेक सिद्धान्तोंकी चर्चा भामह तथा उनके परवर्ती ग्रन्थोंमें हुई है। इसलिए उन्होंने अलङ्कारशास्त्रपर अवश्य ही कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा होगा जो दुर्भाग्यवश आज उपलब्ध नहीं होता है। राजशेखरके लेखसे यह भी जान पड़ता है कि मेधावी जन्मान्ध थे। राजशेखरने लिखा है—

'प्रत्यक्षप्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्र-कुमारदासादयः जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते।'

—काव्यमीमांसा, पृ० ११-१२

राजशेखरके इस लेखसे प्रतीत होता है कि मेधाविरुद्र प्रतिभावान्, उच्च कोटिके कवि भी थे। परन्तु दुःखकी बात है कि आज उनका न काव्यग्रन्थ मिलता है और न अलङ्कारग्रन्थ ही पाया जाता है।

३. भामह

भरत मुनिके बाद अलंकारशास्त्रके दूसरे आचार्य, जिनका ग्रन्थ भी मिलता है, भामह हैं। भामहका समय विद्वानोंने षष्ठ शतकका पूर्वार्द्ध माना है। इसका आधार यह है कि उन्होंने अपने 'काव्यालङ्कार'के पंचम परिच्छेदमें न्याय-निर्णयका वर्णन करते हुए बौद्ध आचार्य दिङ्नागके 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' इस प्रत्यक्ष-लक्षणको उद्धृत किया है। दिङ्नागका समय ५०० ई० के लगभग

माना जाता है। दिङ्नागके बाद उनके व्याख्याकार आचार्य धर्मकीर्तिका समय ६२० ई० के लगभग माना जाता है। धर्मकीर्तिने दिङ्नागके प्रत्यक्ष-लक्षणमें थोड़ा-सा संशोधन कर 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्' यह प्रत्यक्ष-लक्षण किया है। इसमें 'अभ्रान्तम्' पद जोड़ दिया गया है। किन्तु भामहके ग्रन्थमें दिये हुए प्रत्यक्ष-लक्षणमें 'अभ्रान्तम्' पद नहीं है। इससे अनुमान होता है कि भामह दिङ्नागके बाद और धर्मकीर्तिके पहिले अर्थात् ५०० तथा ६२० ई० के बीचमें हुए हैं।

भामह और कालिदास

वस्तुतः भामहके कालका निर्णय करना बड़ा कठिन काम है। उनके ग्रन्थमें अन्य लोगोंके लेखोंके कुछ संकेत पाये जाते हैं जिनके कारण विद्वानोंमें उनके पौर्वापर्यके निर्णयमें विभिन्न मत पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए भामहके 'काव्यालङ्कार' में—

'अयुक्तिमद् यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः।
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः ॥१-४२
अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन् इति युक्त्या न युज्यते ॥१-४३
यदि चोत्कण्ठया यत् तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते ॥'१-४४

इन कारिकाओंमें 'अयुक्तिमत्' दोषकी विवेचना करते हुए साधारण अवस्थामें मेघ आदिको दूत बनानेके वर्णनको 'अयुक्तिमत्' दोष कहा है। क्योंकि दूर देशमें विचरण करनेवाले और वाणी-रहित अथवा अव्यक्त वाणीवाले होनेसे वे दौत्यकार्य कर ही नहीं सकते। इसलिए उनको दूत बनाना 'अयुक्तिमत्' दोष माना जाता है। इसके साथ उन्होंने यह भी लिखा है कि यह तो हो सकता है कि उन्मत्तावस्थामें उनको दूतरूपमें प्रयुक्त किया जा सके, क्यों कि बड़े-बड़े विद्वान् इस रूपमें उनका प्रयोग करते हैं।

यह जो वर्णन भामहके ग्रन्थमें मिलता है इससे प्रतीत होता है कि इस आलोचनाके समय उनके सामने कालिदासका 'मेघदूत' ग्रन्थ विद्यमान था। और कालिदास जैसे महाकविके द्वारा उस मेघको दूत बनाये जानेका वर्णन देखकर ही उन्होंने 'सुमेधोभिः प्रयुज्यते' लिखा है। इसलिए भामह कालिदासके उत्तरवर्ती हैं। इसके विपरीत डॉ० टी० गणपति शास्त्री आदि कुछ विद्वानोंका मत है कि भामह कालिदाससे बहुत पूर्ववर्ती रहे होंगे। क्योंकि भामहने मेधावी, रामशर्मा अश्मकवंश, रत्नाहरण आदि अत्यन्त अप्रसिद्ध ग्रन्थकारोंके नामोंका तो स्पष्ट रूपसे उल्लेख किया है किन्तु कालिदास जैसे महाकविका नामतः कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाकवि कालिदासका नाम उनको विदित नहीं था। यह जो मेघको दूत बनाने आदिकी चर्चा की है वह सामान्य रूपसे ही की है, उसका कालिदासके 'मेघदूत'से कोई सम्बन्ध नहीं है।

भामह और माघ

माघकविविरचित 'शिशुपालवध' महाकाव्यमें द्वितीय सर्गमें निम्नलिखित श्लोक आता है—

'नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ॥'

—माघ २-२८

इसमें सत्कवि, शब्द और अर्थ दोनोंकी अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार राजनीतिज्ञ भाग्य और पौरुष दोनोंकी अपेक्षा रखता है। इस युक्तिसे काव्यके साथ शब्द और अर्थ दोनोंका जो सम्बन्ध सूचित किया गया है इस आधारपर कुछ विद्वानोंका विचार है कि माघकी यह उपमा भामहके काव्य-लक्षणके आधारपर स्थित होती है। भामहने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' यह काव्यका लक्षण किया है। इन विद्वानोंका विचार है कि माघ कविकी यह उपमा भामहके काव्यलक्षणके आधारपर बनी है। इसलिए भामह माघके पूर्ववर्ती हैं। यह प्रो० पाठकका मत है। इसके विपरीत डॉ० जे० नोबुलका कहना है कि यह युक्ति बिलकुल निस्सार है। यदि इसी युक्तिसे काम लिया जाय तो फिर कालिदासके 'रघुवंश'में जो 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' लिखा गया है वह भी कालिदासने भामहके काव्यलक्षणके आधारपर ही लिखा होगा। परन्तु यह सब बात ठीक नहीं।

भामह और भास

इसी प्रकारकी कल्पनाओंके आधारपर कुछ विद्वान् भामह और भासका भी सम्बन्ध जोड़नेका यत्न करते हैं। भामहने 'काव्यालङ्कार'के चतुर्थ परिच्छेदमें निम्नांकित श्लोक लिखे हैं—

'विजिगीषुमुपन्यस्य वत्सेशं वृद्धदर्शनम्।
तस्यैव कृतिनः पश्चादभ्यधान्चरशून्यताम् ॥३९॥
अन्तर्योधशताकीर्णं सालंकायननेतृकम्।
तथाविधं गजच्छद्म नाज्ञासीत् स स्वभूगतम् ॥४०॥
यदि वोपेक्षितं तस्य सचिवैः स्वार्थसिद्धये।
अहो नु मन्दिमा तेषां भक्तिर्वा नास्ति भर्तरि ॥४१॥'

इन श्लोकोंमें वत्सराज उदयनकी कथाकी चर्चा की गयी है। गणपति शास्त्रीका कथन है कि भामहने यह चर्चा भास कविके 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटकके आधारपर की है। इसकी सम्पुष्टिमें उन्होंने एक युक्ति यह भी दी है कि इसी प्रसंगमें भामहने अगले ४३ वें श्लोकमें लिखा है—

'हतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम।
मातुलो भागिनेयश्च रुषा संरब्धचेतसा ॥'

इसीसे मिलता-जुलता निम्नलिखित प्राकृत गद्यभाग 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण'में आया है—

'मम भादा हदो अणेण मम पिदा अणेण मम सुदो।'

भामहके उपर्युक्त श्लोकों और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटिकाकी कथा तथा उक्त 'हतो येन मम भ्राता' आदि वाक्यकी समानताके आधारपर श्री गणपति शास्त्रीने यह परिणाम निकाला है कि भामह भासके बाद हुए हैं, किन्तु दूसरे विद्वानोंकी सम्मतिमें यह ठीक नहीं है। वत्सराज उदयन-की कथा 'बृहत्कथा'में मूल रूपसे आती है। अन्यत्र जहाँ कहीं भी उसका उल्लेख किया गया है वह सब 'गुणाढ्य'की 'बृहत्कथा'से ही लिया गया है। 'बृहत्कथामञ्जरी' और 'कथासरित्सागर' 'बृहत्कथा' के संक्षिप्त रूप हैं। उनमें भी वत्सराज उदयनकी कथा आती है। भामहने जो वत्सराज उदयनकी कथाका यह उल्लेख किया है वह भासके 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण'के आधारपर नहीं, अपितु 'बृहत्कथा-मञ्जरी' या 'कथासरित्सागर'के आधारपर ही किया है। अतः इस युक्तिके आधारपर भामहको भासका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेका प्रयत्न ठीक नहीं है।

भामह और भट्टि

महाकवि भट्टि भी संस्कृत साहित्यके महान् कवि हुए हैं। उनकी कल्पना बड़ी विचित्र है। उन्होंने 'रावणवध' नामक एक महाकाव्य लिखा है। जिस प्रकार माघने 'शिशुपालवध' काव्य लिखा है, उसी प्रकार इनका 'रावणवध' महाकाव्य है। किन्तु माघके काव्यका नाम कविके नामसे 'माघ'के रूपमें ही प्रसिद्ध हो गया है। 'शिशुपालवध' नाम उसकी अपेक्षा कम प्रचलित है। उसी प्रकार भट्टि कविके 'रावणवध' महाकाव्यका मुख्य नाम गौण हो गया है। उसके स्थानपर उसे अब 'भट्टि-काव्य' ही कहा जाता है। इस 'भट्टि-काव्य'की रचना काठियावाड़के 'बलभी' राज्य, जिसे अब 'बल' कहते हैं, के राजा धरसेनके समयमें हुई है। 'भट्टिकाव्य'के अन्तमें कविने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

> 'काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
> कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य प्रेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्॥'
>
> —२२-३५

'भट्टिकाव्य'में रचनाकालका इतना परिचय होनेपर भी उसका समय कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि काठियावाड़के इतिहासके अनुसार 'बलभी'में धरसेन नामके चार राजा राज्य कर चुके हैं। इनमेंसे किस 'धरसेन'के समयमें 'भट्टिकाव्य'की रचना हुई यह नहीं कहा जा सकता। प्रो० मजूमदारने सन् ४७३ ई० के मन्दसोर सूर्यमन्दिरके लेखमें कहे हुए वत्सभट्टिको ही 'भट्टिकाव्य'का रचयिता माना है। इसके समर्थनके लिए उनकी यह युक्ति है कि मन्दसोरके शिलालेखके श्लोक 'भट्टिकाव्य'के शरद्वर्णनके श्लोकोंसे बहुत मिलते-जुलते हैं। इसके विपरीत प्रो० कीथने इस मतका उग्रताके साथ खण्डन किया है। इसी प्रकार प्रो० काणे, प्रो० पाठक आदि अन्य विद्वानोंका भी 'भट्टिकाव्य'के रचनाकालके विषयमें मतभेद पाया जाता है। इसलिए इसके कालका यथार्थ निर्णय बड़ा कठिन काम है।

भामहने 'काव्यालङ्कार'के द्वितीय परिच्छेदमें निम्नलिखित श्लोक दिया है—

> 'काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
> उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥'
>
> —२-२०

इसी श्लोकका भावानुवाद 'भट्टिकाव्य'के श्लोकमें निम्नलिखित प्रकार किया गया है—

> 'व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
> हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया॥'
>
> —२२-३४

भामह और भट्टिके इन दोनों श्लोकोंमें इतना अधिक साम्य है कि इन दोनोंमेंसे किसी एकने दूसरेके श्लोकका भावानुवाद किया है यह बात बिलकुल निश्चित ही है। किन्तु भामहने भट्टिका अनुवाद किया है अथवा भट्टिने भामहका यह बात तबतक नहीं कही जा सकती जबतक उनके कालका ठीक निर्णय नहीं हो जाता है। इसीलिए विद्वानोंमें इस विषयमें मतभेद पाया जाता है।

भामह और न्यासकार

पाणिनिकी 'अष्टाध्यायी'पर 'काशिका' वृत्ति और उसके ऊपर जिनेन्द्रबुद्धिकी 'काशिका-

विवरणपञ्जिका' टीका मिलती है। इस 'काशिकाविवरण-पञ्जिका'की अधिक प्रसिद्धि 'न्यास' नामसे पायी जाती है। 'काशिका'के ऊपर जिनेन्द्रबुद्धिके 'न्यास'के पहिले हरदत्तने 'पदमञ्जरी' नामकी एक और टीका की थी। 'भविष्यत्पुराण'के आधारपर डॉ० याकोबीने (जे० आर० ए० एस०, बम्बई, भाग २३, पृ० ३१) लिखा है कि हरदत्तका देहावसान ८७८ ई० के लगभग हुआ। अर्थात् हरदत्त-का समय नवम शताब्दीमें पड़ता है। डॉ० कीलहार्न आदि विद्वानोंका मत है कि जिनेन्द्रबुद्धिने अनेक स्थानोंपर 'पदमञ्जरी'की बिलकुल नकल की है। इसका अर्थ यह होता है कि जिनेन्द्रबुद्धिका काल हरदत्तके बाद दशम शताब्दीमें पड़ता है। भामहके 'काव्यालंकार'में षष्ठ परिच्छेदमें एक स्थान-पर न्यासकारके मतका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

'शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथंचिदुदाहरेत्॥
सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः।
अकेन च न कुर्वीत वृत्तिं तद्गमको यथा॥'—६, ३६-३७

इन श्लोकोंमें न्यासकारके मतका उल्लेख देखकर प्रो० पाठकने यह सिद्धान्त निकाला कि भामह न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धिके पश्चात् हुए हैं। और जिनेन्द्रबुद्धिका समय उन्होंने इत्सिंगके वृत्तान्तके आधारपर सप्तम शताब्दीमें निश्चय किया है। इस प्रकार प्रो० पाठकने भामहका समय अष्टम शताब्दीमें स्थिर किया है। किन्तु डॉ० त्रिवेदी आदि अन्य विद्वान् इस मतको नहीं मानते हैं। उनके कथनानुसार यहाँ जिस न्यासग्रन्थ का उल्लेख किया गया है वह जिनेन्द्रबुद्धिकी 'काशिकाविवरणपञ्जिका' नहीं अपितु कोई अन्य ही ग्रन्थ है। 'न्यास' शब्द सामान्य रूपसे व्याकरण-की टीका या व्याख्याग्रन्थोंके लिए प्रयुक्त होता है। जिनेन्द्रबुद्धिके 'न्यास'के अतिरिक्त अन्य भी अनेक न्यासग्रन्थोंका उल्लेख पाया जाता है। माधवाचार्यने अपनी 'माधवीया धातुवृत्ति'में 'क्षेमेन्द्र-न्यास', 'न्यासोद्योत', 'बोधिन्यास', 'शाकटायन-न्यास' आदि अनेक न्यासोंका उल्लेख किया है। बाणभट्टके 'हर्षचरित'में 'कृतगुरुपदन्यासाः' पद आया है। इसकी व्याख्या करते हुए उनके टीकाकार शंकरने 'कृतोऽभ्यस्तो गुरुपदे दुर्बोधशब्दे न्यासो वृत्तिर्विवरणं यैः' यह लिखा है। यहाँ 'न्यास' पदसे टीकाकारने वृत्ति या विवरण अर्थ ही लिया है। उससे जिनेन्द्रबुद्धिके 'न्यास'का ग्रहण नहीं किया गया है। अन्यथा न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धिको बाणभट्टका भी पूर्ववर्ती मानना होगा। इसलिए जो लोग 'न्यासकार' पदका उल्लेख देखकर भामहको जिनेन्द्रबुद्धिके बादमें होनेवाला सिद्ध करना चाहते हैं उनका मत ठीक नहीं है।

भामह और दण्डी

भास और भट्टिके समान दण्डीके साथ भी भामहकी अनेक उक्तियोंका असाधारण सादृश्य पाया जाता है। अनेक उक्तियाँ तो ऐसी हैं जो भामहके 'काव्यालंकार' तथा दण्डीके 'काव्यादर्श'में बिलकुल एक ही रूपमें पायी जाती हैं। उदाहरणके लिए हम कुछ उक्तियाँ नीचे उद्धृत करते हैं जो इन दोनों ग्रन्थोंमें शब्दशः समान रूपमें उपलब्ध होती हैं—

१. **'सर्गबन्धो महाकाव्यम्।'** भामह १-१९। काव्यादर्श १-१४।
२. **'मन्त्रिदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि।'** भामह १-२०। काव्यादर्श १-१७।
३. **'कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः।'** भामह १-२७। काव्यादर्श १-२९।

४. 'अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
   कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ॥' भामह ३–५ । काव्यादर्श २–२७६ ।

५. 'तद् भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।' भामह ३–५३ । काव्यादर्श २–३६४ ।

६. 'अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ''विरोधि च ।' भामह ४–१, २ । काव्यादर्श ३–१२५, १२६ ।

७. 'समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थकमिष्यते ।' भामह ४–८ । काव्यादर्श ३–१२८ ।

८. 'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।' भामह २–८७ । काव्यादर्श २–२४४ ।

९. 'आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना ।' भामह २–६६। काव्यादर्श २–४ ।

१०. 'प्रेयो रसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम् ।' भामह ३–१ । काव्यादर्श २–५ ।

ये दस उदाहरण ऐसे हैं जो भामहके 'काव्यालङ्कार' और दण्डीके 'काव्यादर्श'में न केवल अर्थतः अपितु शब्दतः भी प्रायः एक रूपमें ही उपलब्ध होते हैं । कहीं बिलकुल नाममात्रका भेद पाया जाता है ; जैसे, द्वितीय उदाहरणमें अन्तमें 'अपि' शब्दके स्थानपर भामहने 'च यत्' शब्दका प्रयोग किया है । इसी प्रकार तीसरे उदाहरणके अन्तमें 'उदयादयः'के स्थानपर भामहमें 'उदयान्विताः' प्रयोग पाया जाता है । इन नाममात्रके भेदोंके अतिरिक्त ये दसों स्थल भामह और दण्डीमें बिलकुल एक-से पाये जाते हैं ।

कुछ स्थल मिलते हैं जिनमें एक-दूसरेके मतकी आलोचना की गयी प्राप्त होती है; जैसे, भामहने काव्यके—

'सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे ।
अनिबद्धं च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते ॥' —१–१८

(१) सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य, (२) अभिनेयार्थ अर्थात् नाटक, (३) आख्यायिका, (४) कथा तथा (५) अनिबद्ध अर्थात् मुक्तक ये काव्यके पाँच भेद किये हैं । इनमें आख्यायिका तथा कथाको काव्यका अलग-अलग भेद माना है । किन्तु दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में इसका खण्डन करते हुए लिखा है—

'तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा द्वयांकिता ।' —१–२८

भामहने अपने पूर्ववर्ती आचार्य मेधावीके आधारपर उपमाके सात दोष बतलाये हैं—किन्तु दण्डीने इस मतकी आलोचना करते हुए लिखा है—

'न लिंगवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा ।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥' —२–५१

भामह और दण्डीके ग्रन्थोंमें इस प्रकारके सारूप्य तथा वैरूप्यके उदाहरण बहुत अधिक मात्रामें पाये जाते हैं । इससे प्रतीत होता है कि इनमेंसे किसी एकने दूसरेके आधारपर ही अपने ग्रन्थमें उन प्रसंगोंका उल्लेख किया है । इसी आधारपर भामह और दण्डीके पौर्वापर्यके विषयमें विद्वानोंमें बड़ा तीव्र वाद्-विवाद बहुत कालतक चलता रहा । सबसे पहिले 'एम० टी० नरसिंह अयंगरने सन् १९०५ में 'जरनल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी' (पृ० ३५५) में इस प्रश्नको उठाया और दण्डीको भामहका पूर्ववर्ती सिद्ध करनेका यत्न किया । परन्तु इनके मतका बड़ा विरोध हुआ । डॉ० त्रिवेदीने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'की भूमिकामें, प्रो० रंगाचार्यने 'काव्यादर्श'की भूमिकामें,

गणपति शास्त्रीने 'स्वप्नवासवदत्ता'की भूमिकामें और प्रो० पाठकने 'कविराजमार्ग'की भूमिकामें दण्डीको भामहके पूर्व ठहरानेवाले नरसिंह अयंगरके मतका विस्तारके साथ खण्डन किया। अपने देशमें ही नहीं, डॉ० जेकोबीने भी (जेड० एस० एम० जी०, पृ० १३४-१३९ पर) दण्डीको भामहका पूर्ववर्ती बतलानेवाले श्री नरसिंह अयंगरके मतका खण्डन किया। इस सब विवादका अध्ययन करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अधिकांश विद्वान् भामहको ही दण्डीका पूर्ववर्ती माननेके पक्षमें हैं।

भामहको दण्डीका पूर्ववर्ती माननेके विषयमें एक युक्ति और है। दण्डीके 'अवन्तिसुन्दरी-कथा' नामक एक नवीन ग्रन्थका परिचय अभी हालमें प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थके आरम्भमें जो श्लोक दिये गये हैं उनमें—

'भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः।
व्याहारेषु जहौ लीलां न मयूरः ········॥'

आदि श्लोकमें महाकवि बाणभट्ट तथा मयूरभट्टका उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त दण्डीने अपनेको महाकवि भारविका प्रपौत्र घोषित किया है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी महाकवि बाणके बाद हुए हैं। बाणभट्ट के 'हर्षचरित'के आधारपर यह निश्चित बात है कि बाणभट्ट हर्षवर्धनकी राजसभामें थे। हर्षवर्धनका राज्यकाल ६०६-६४८ ई० तक माना जाता है। इसलिए बाणभट्टका काल भी सप्तम शताब्दीका मध्यभाग है। उस दशामें दण्डीका समय आठवींमें होना चाहिये। दण्डी बाणभट्टके बाद हुए हैं और भामह बाणभट्टके पहिले हुए हैं इसलिए भामह दण्डीके निश्चय ही पूर्ववर्ती हैं। इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।

भामह बाणभट्टसे भी पहिले हुए हैं इस बातकी सिद्धि आनन्दवर्धनाचार्यके 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थके आधारपर होती है। 'ध्वन्यालोक'के चतुर्थ उद्योतमें—

'दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवा भान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥'

यह कारिका आयी है। इसका अभिप्राय यह है कि काव्यमें पूर्वकवियों द्वारा वर्णित पुराने अर्थोंमें भी कवि रसका समावेश करके उनमें नवीनता ला सकता है और वे पुराने अर्थ भी रसके सम्पर्कसे ऐसे ही नवीन प्रतीत होने लगते हैं जैसे वसन्तमें पुराने वृक्ष भी नवीन और आकर्षक हो जाते हैं। इसीका उदाहरण देते हुए आनन्दवर्धनने लिखा है—

'तथा हि विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रकार-समाश्रयेण नवत्वं। यथा—धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः इत्यादौ—
शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।···
···इत्यादिषु सत्स्वपि।'

इसका अभिप्राय यह है कि 'शेषो हिमगिरिः' इत्यादि पूर्ववर्ती श्लोकमें वर्णित पुराने अर्थको ही 'अधुना धरणीधारणाय त्वं शेषः'इस नवीन वाक्यमें कहा गया है, किन्तु उसमें शब्द-शक्त्युत्थ अलंकारध्वनिके सन्निवेशसे विशेष चमत्कार आ जानेसे उसमें नवीनता प्रतीत होने लगी है। इसी प्रकार पूर्वकवियों द्वारा वर्णित पुराने अर्थोंमें नवीन चमत्कारका आधान करके उनमें नूतनता उत्पन्न की जा सकती है। इस आशयसे आनन्दवर्धनाचार्यने यहाँ यह उदाहरण दिया है।

इस उदाहरणमें जो दो वाक्य उद्धृत किये गये हैं वे विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। आनन्दवर्धनाचार्यने

'शेषो हिमगिरिस्त्वं च' इत्यादि श्लोकको पुराना वर्णन माना है और उसी अर्थको नवीन रूपमें प्रस्तुत करनेवाला 'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' इस वाक्यको नवीन वाक्य माना है। आनन्दवर्धनाचार्य जिस 'शेषो हिमगिरिस्त्वं च' आदिको पुराना वाक्य कहते हैं वह भामहके 'काव्यालंकार'में आया हुआ तीसरे परिच्छेदका २७ वाँ श्लोक है। और 'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः'रूप जिस वाक्यको वे नवीन वाक्य कहते हैं वह बाणभट्टके 'हर्षचरित'के चतुर्थ उच्छ्वासके १५ वें अनुच्छेदमें आया है। अर्थात् बाणभट्टका यह वाक्य भामहके वाक्यकी अपेक्षा नवीन है। इसका अर्थ हुआ कि भामह बाणभट्टसे बहुत पहिले हुए हैं और दण्डी बाणभट्टके बादमें हुए हैं। इसलिए भामह दण्डीके पूर्ववर्ती हैं इसमें कोई सन्देह रह ही नहीं जाता है।

भामहका धर्म

जिस प्रकार भामहके कालके विषयमें विद्वानोंमें बड़ा मतभेद पाया जाता है उसी प्रकार उनके धर्मके विषयमें भी पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। भामहके 'काव्यालङ्कार'के प्रथम श्लोक में—

'प्रणम्य सार्वसर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः।
काव्यालङ्कार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते॥' —का० १–१

'सार्वसर्वज्ञ'को नमस्कार किया गया है।' 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धः' इत्यादि 'अमरकोश'के आधारपर कुछ लोगोंने 'सर्वज्ञ' पदको बुद्धका नाम मानकर यह अर्थ लगा लिया है कि इसमें बुद्धको नमस्कार किया गया है इसलिए भामह बौद्ध आचार्य जान पड़ते हैं। परन्तु यह कोई युक्ति नहीं है। 'कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललोहितः' इत्यादि 'अमरकोश'के अनुसार 'सर्वज्ञ' पद शिवके नामोंमें भी पढ़ा गया है। तब उससे शिव अर्थ न लेकर बुद्ध अर्थ ही कैसे लिया जा सकता है? उसके साथमें 'सार्व' पद और है। उसका अर्थ सबके लिए हितकारी है। वह जैसे बुद्धके साथ जुड़ सकता है वैसे ही शिवके साथ भी जुड़ सकता है। इसलिए इस पदके आधारपर भामहको बौद्ध नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत उनके ग्रन्थके भीतर वैदिक प्रक्रियाओं, वैदिक कथाओंका विशेष रूपमें उल्लेख पाया जाता है, बौद्ध कथाओं या बौद्ध प्रक्रियाओं आदिका उल्लेख बिलकुल नहीं पाया जाता। इसलिए उनको बौद्ध नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार कथाओं आदिके उदाहरणरूपमें 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थके निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे भामहके वैदिक धर्मके प्रति अनुरक्तिकी ही सूचना मिलती है—

'भूभृतां पीतसोमानां न्याय्ये वर्त्मनि तिष्ठताम्।
अलङ्करिष्णुना वंशं गुरौ सति जिगीषुणा॥४-४८
युगादौ भगवान् ब्रह्मा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः॥२-५५
समग्रगगनायाममानदण्डो रथांगिणः।
पादो जयति सिद्धस्त्रीमुखेन्दुनवदर्पणः॥३-३६
कान्ते इन्दुशिरोरत्ने आदधाने उदंशुनी।
पातां वः शम्भु-शर्वाण्याविति प्राहुर्विसन्धयदः॥४-२७
विदधानौ किरीटेन्दू श्यामाभ्रहिमसच्छवी।
रथांगशूले बिभ्राणौ पातां वः शम्भुशार्ङ्गिणौ॥४-२१
उदात्तशक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधकः।
विहायोपनतं राज्यं यथा वनमुपागमत्॥३-११

भरतस्त्वं दिलीपस्त्वं त्वमेवैलः पुरूरवाः ।
त्वमेव वीरप्रद्युम्नस्त्वमेव नरवाहनः ॥५-४९

इत्यादि श्लोकोंमें शिव, विष्णु, पार्वती, ब्रह्मा आदि देवताओंका वर्णन और सोमपान आदि याज्ञिक क्रियाओंका उल्लेख, स्पष्ट रूपसे वैदिक धर्मके प्रति भामहका अनुराग सूचित करता है। रामचन्द्र, भरत, दिलीप, प्रद्युम्न और पुरूरवाका उल्लेख भी वैदिक धर्मके प्रति उनके अगाध प्रेमको ही सूचित करता है। इसमें कहीं भी कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जिससे भामहको बौद्ध मानने-का संकेत मिल सकता हो। अतएव भामहको बौद्ध सिद्ध करनेका प्रयास असंगत है।

अपने वंशपरिचयके रूपमें केवल एक पंक्ति भामहके ग्रन्थके अन्तिम भागमें पायी जाती है। उसमें उन्होंने अपने पिताका नाम 'रक्रिलगोमिन' बतलाया है—

'अवलोक्य मतानि सत्कवीनां अवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्यम् ।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिनसूनुनेदम् ॥'

इस श्लोकमें ग्रन्थकारने अपना नाम 'भामह' और अपने पिताका नाम 'रक्रिलगोमिन्' बतलाया है। इसके अतिरिक्त इनके जीवनका और कोई परिचय इनके ग्रन्थमें नहीं मिलता है।

भामहके ग्रन्थ

भामहका आज हमें केवल 'काव्यालङ्कार' ही एकमात्र ग्रन्थ उपलब्ध होता है। किन्तु साहित्यशास्त्रके ग्रन्थोंके देखनेसे विदित होता है कि उन्होंने इस 'काव्यालङ्कार'के अतिरिक्त छन्दःशास्त्र और अलङ्कारशास्त्रके विषयमें कुछ और ग्रन्थोंकी भी रचना की थी, किन्तु दुर्भाग्यवश वे ग्रन्थ अबतक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। उन ग्रन्थोंके उद्धरण भामहके नामसे विविध ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए, 'अभिज्ञानशाकुन्तल'की टीकामें राघवभट्टने—

'क्षेमं सर्वगुरुर्दत्ते मगणो भूमिदेवतः।' इति भामहोक्तेः

(अभि० शा०, टीका नि० सा०, पृ० ४) लिखकर भामहके किसी छन्दःशास्त्रविषयक ग्रन्थसे उसके उद्धृत किये जानेकी सूचना दी है। इसी टीकामें दूसरे स्थान (पृ० १०) पर राघवभट्टने उनके किसी अन्य अलङ्कारविषयक ग्रन्थसे निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किया है—

'तल्लक्षणमुक्तं भामहेन—
पर्यायोक्तं प्रकारेण यदन्येनाभिधीयते ।
वाच्य-वाचकशक्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥ इति ।
उदाहृतं च हयग्रीववधस्थं पद्यं—
यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता ।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः ॥'

पर्यायोक्त अलङ्कारके जिस लक्षण और उदाहरणको राघवभट्टने यहाँ भामहके नामसे उद्धृत किया है, उन दोनोंमेंसे कोई भी भामहके वर्तमान 'काव्यालङ्कार'में नहीं पाया जाता है। वर्तमान 'काव्यालङ्कार'में भामहके अनुसार पर्यायोक्त अलङ्कारके लक्षण और उदाहरण निम्नलिखित प्रकार दिये गये हैं—

'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
तवात्र रत्नाहरणे चैद्यं शार्ङ्गधनुर्यथा ॥—का० ३-८

लक्षणका पूर्वार्द्ध भाग तो थोड़ेसे अन्तर-से भामहके लक्षणसे मिल जाता है किन्तु उत्तरार्द्ध भागका उल्लेख वर्तमान लक्षणमें नहीं पाया जाता है और हयग्रीववधस्थ उदाहरण तो यहाँ बिलकुल ही नहीं पाया जाता है। उद्भटके काव्यालङ्कारमें पर्यायोक्तका यह लक्षण कुछ अन्तरसे मिल जाता है और हयग्रीववधस्थ जिस श्लोकको उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किये जानेकी चर्चा राघवभट्टने की है वह उदाहरण 'काव्यप्रकाश'में पाया जाता है।

ऐसा हो सकता है कि राघवभट्टके पास भामहके 'काव्यालंकार'की जो प्रति रही हो उसमें पर्यायोक्तका लक्षण इसी रूपसे दिया गया हो जिस रूपमें कि उन्होंने उद्धृत किया है और हयग्रीववधस्थ श्लोक भी उदाहरणरूपमें दिया गया हो, किन्तु दूसरी किसी प्रतिमें जिसके आधार-पर वर्तमान 'काव्यालङ्कार'का सम्पादन किया गया है, ये दोनों भाग लिखनेसे रह गये हों। लक्षणके विषयमें तो इतना ही भेद है कि राघवभट्टने जो लक्षण उद्धृत किया है वह पूरा एक श्लोक है, किन्तु वर्तमान 'काव्यालङ्कार'में दिया हुआ लक्षण आधे श्लोकमें ही आ गया है। वर्तमान 'काव्यालङ्कार'का लक्षण अपूर्ण-सा भी जान पड़ता है। राघवभट्टने जो लक्षण दिया है वह पूर्ण लक्षण है। इसलिए ऐसा अनुमान होता है कि वर्तमान 'काव्यालङ्कार'की पाण्डुलिपिमें लक्षणकी एक पंक्ति लिखनेसे छूट गयी है। इसी प्रकार पर्यायोक्तके अनेक उदाहरण 'काव्यालङ्कार'में पाये जाते हैं। सम्भव है इनके साथ हयग्रीववधस्थ एक और भी उदाहरण रहा हो। परन्तु यह बात तभी सम्भव हो सकती है जब हयग्रीववधस्थके प्रणेताका काल भामहके पूर्व निश्चित किया जा सके अन्यथा नहीं। किन्तु यह बात निश्चित है कि केवल इस श्लोकके आधारपर भामहके अलङ्कारविषयक किसी अन्य ग्रन्थकी कल्पना नहीं की जा सकती है। उनका छन्दःशास्त्रविषयक तो दूसरा ग्रन्थ हो सकता है किन्तु अलङ्कारशास्त्रके विषयमें तो 'काव्यालङ्कार'के रहते अन्य दूसरा ग्रन्थ लिखे जानेकी कोई संगति नहीं लगती है।

छन्दःशास्त्रके विषयमें भामहने किसी ग्रन्थकी रचना की थी यह बात अन्य साहित्य-ग्रन्थोंमें भामहके नामसे उद्धृत किये गये उद्धरणोंसे प्रतीत होती है। उनमेंसे एक उदाहरण तो हम 'अभिज्ञानशाकुन्तल'की राघवभट्टकृत टीकामेंसे ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। उसी प्रकारका दूसरा उद्धरण 'वृत्तरत्नाकर'की टीकामें नारायणभट्टने इस प्रकार दिया है—

'तदुक्तं भामहेन—

अवर्णात् सम्पत्तिर्भवति भुविवर्णात् धनशता-
न्युवर्णाद् अख्यातिः सरभशमृवर्णाद्धरहितात् ॥
तथा ह्येषः सौख्यं ढगणरहितादक्षरगणात्
पदादौ विन्यस्ताद् भरबहलहाहाविरहितात् ॥'

—वृत्तरत्नाकर, पृ० ६

'तदुक्तं भामहेन—

देवतावाचकाः शब्दाः ये च भद्रादिवाचकाः।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतो पि वा ॥
कः खो गो घश्च लक्ष्मीं वितरति, वियशो ङस्तथा चः सुखं छः
प्रीतिं जो मित्रलाभं भयमरणकरौ झञौ टठौ खेद-दुःखे।
डः शोभां ढो विशोभां भ्रमणमथ च णस्तः सुखं थश्च युद्धं
दो धः सौख्यं मुदं नः सुखभयमरणक्लेशदुःखं पवर्गः ॥

यो लक्ष्मीं रश्च दाहं व्यसनमथ लवौ शः सुखं यश्च खेदं
सः सौख्यं हश्च खेदं विलयमपि च लः क्षः समृद्धिं करोति ।
संयुक्तं चेह न स्यात् सुख-मरण-पटुर्वर्णविन्यासयोगः
पद्यादौ गद्यवक्त्रे वचसि च सकले प्राकृतादौ समोऽयम् ॥"

—वृत्तरत्नाकर, पृ० ७

यद्यपि ये सब उद्धरण बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं फिर भी इनके आधारपर यह सम्भावना मानी जा सकती है कि भामहने सम्भव है छन्दःशास्त्रविषयक कोई अन्य ग्रन्थ लिखा हो ।

भामहभट्टके नामसे एक ग्रन्थ और मिलता है और वह है वररुचिके प्राकृतके 'प्राकृत-प्रकाश' नामक व्याकरणग्रन्थकी 'प्राकृत-मनोरमा' नामक टीका । प्राकृत-व्याकरणमें इस टीकाका बड़ा महत्त्व माना जाता है । पिशल आदि प्राकृत-व्याकरणके विद्वानोंने 'काव्यालंकार' और 'प्राकृतमनोरमा' दोनोंके निर्माता एक ही भामहको माना है । इस प्रकार भामहके (१) 'काव्यालंकार' तथा (२) 'प्राकृतमनोरमा' दो ग्रन्थ तो उपलब्ध होते हैं । और तीसरे छन्दःशास्त्रविषयक ग्रन्थकी भी रचना उन्होंने की थी इस बातका अनुमान किया जाता है । 'प्राकृतमनोरमा', 'प्राकृत-प्रकाश' की टीका है । 'काव्यालंकार' स्वतन्त्र ग्रन्थ है । इसमें ६ परिच्छेद हैं । प्रथम परिच्छेदमें ६० श्लोक हैं और उनमें काव्यके शरीरका वर्णन किया गया है; द्वितीय परिच्छेदमें १६० श्लोक हैं । द्वितीय तथा तृतीय दोनों परिच्छेदोंमें मिलाकर अलङ्कारोंका वर्णन किया गया है । चतुर्थ परिच्छेदमें दोषोंका निरूपण किया है और उसमें ५० श्लोक हैं । पञ्चम परिच्छेदके ७० श्लोकोंमें न्याय-निर्णयका प्रतिपादन किया है और षष्ठ परिच्छेदके ६० श्लोकोंमें शब्दशुद्धिका विवेचन किया गया है । इस प्रकार 'काव्यालङ्कार'में कुल मिलाकर ४०० श्लोक हैं जो ६ परिच्छेदोंमें विभक्त हैं । भामहने स्वयं इस सबका विवरण निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलंकृतिः ।
पंचाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः ॥
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपंचकम् ।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैः भामहेन क्रमेण वः ॥'

भामहके टीकाकार

भामहका 'काव्यालङ्कार' अलङ्कारशास्त्रका प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है जिसमें अलङ्कारशास्त्र एक स्वतन्त्र शास्त्रके रूपमें दिखलाई पड़ता है । इसके पूर्व भरतके 'नाट्यशास्त्र'में नवें अध्यायमें गौण रूपसे काव्यके गुण-दोष-अलङ्कार आदिके लक्षण किये गये थे, किन्तु वे सब 'नाट्यशास्त्र'के अंगरूपमें ही थे । स्वतन्त्र रूपमें अलङ्कारशास्त्रको एक अलग शास्त्रका रूप प्रदान करनेवाला भामहका 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ ही है । इसके ऊपर नवम शताब्दीमें कश्मीरके राजा जयादित्यकी राज-सभाके सभापति उद्भटने 'भामह-विवरण' नामसे एक टीका लिखी थी । किन्तु दुर्भाग्यसे वह 'भामह-विवरण' आजतक उपलब्ध नहीं हुआ है । केवल साहित्यके विभिन्न ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर उसका उल्लेख पाया जाता है । उद्भटका स्वयं भी एक 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' ग्रन्थ है, जो अब प्रकाशित हो चुका है । उसपर प्रतीहारेन्दुराजने 'लघुविवृति' नामक टीका लिखी है । इस टीकामें प्रतीहारेन्दुराजने इस 'भामह-विवरण'का उल्लेख इस प्रकार किया है—

'विशेषोक्तिलक्षणे च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्द एवं व्याख्यातो इत्येतास्माभिर्निरूपितः ॥' (पृ० १३)

अभिनवगुप्ताचार्यने भी 'ध्वन्यालोकलोचन'में कई जगह भामहके ऊपर 'उद्भट'के विवरण-का उल्लेख किया है।

४. दण्डी

भामहके बाद दूसरे आचार्य, जिन्होंने अलङ्कारशास्त्रपर स्वतन्त्र रूपसे ग्रन्थरचना की, दण्डी हैं। भामह और दण्डीके पौर्वापर्यके निरूपणके प्रसंगमें हम पीछे देख चुके हैं कि दण्डीका काल अष्टम शताब्दीमें पड़ता है। दण्डीने अपने 'अवन्तिसुन्दरीकथा'में अपनेको महाकवि भारविका प्रपौत्र बतलाया है और बाण तथा मयूर कविकी प्रशंसा की है। अतएव उनका समय सप्तम शताब्दीमें राजा हर्षवर्धन, (राज्यकाल ६०६-६४८ तक) की राजसभामें रहनेवाले बाणभट्टके बाद अर्थात् आठवीं शताब्दीमें है।

दण्डीके ग्रन्थ

'शार्ङ्गधरपद्धति'में श्लोकसंख्या १७४ पर राजशेखरके नामसे निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया गया है—

'त्रयोऽग्न्यस्त्रयो वेदा त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥'

अर्थात् तीन अग्नि, तीन वेद, तीन देव और तीन गुणोंके समान दण्डी कविके तीन ग्रन्थ सारे संसारमें प्रसिद्ध हैं। इस श्लोक द्वारा राजशेखरने दण्डीके तीन ग्रन्थोंको विश्व-विश्रुत बतलाया है। किन्तु अभी कुछ समय पूर्वतक विद्वानोंको दण्डीके तीन ग्रन्थोंके नाम भी पता नहीं थे। दण्डीके (१) 'काव्यादर्श' तथा (२) 'दशकुमारचरित' दो ग्रन्थ तो लोक-प्रसिद्ध हैं किन्तु इनका तीसरा ग्रन्थ कौन-सा है इसका पता इस २० वीं शताब्दीके आरम्भमें विद्वानोंको नहीं था। डॉ० पिशलने 'मृच्छकटिक'को दण्डीका तीसरा ग्रन्थ कहनेका साहस कर डाला। 'दशकुमारचरित'-की भूमिकामें डॉ० पीटर्सनने, तथा डॉ० जैकोबीने 'छन्दोविचित' नामक ग्रन्थको दण्डीका तीसरा ग्रन्थ कहा है। किन्तु यह सिद्धान्त भी गलत निकला। उसके बाद कुछ लोगोंने 'कलापरिच्छेद' नामक किसी ग्रन्थको दण्डीकी तृतीय रचना माना। परन्तु यह बात भी केवल कल्पनामात्र ही ठहरी। उसमें कोई तत्त्व नहीं निकला। इस प्रकार दण्डीका तीसरा ग्रन्थ कौन-सा है इसके विषयमें विद्वज्जन अभीतक अन्धकारमें थे। 'प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रान्जैक्शन्स आफ दि सेकेण्ड ओरिएण्टल कान्फ्रेन्स', पृ० १९८-२०१ तथा 'जरनल आफ दि मिथिक सोसाइटी' भाग १३, पृ० ६७१-६८५ के अनुसार अभी दक्षिणभारतमें स्थित, मद्रासके हस्तलिखित ग्रन्थोंके राजकीय पुस्तकालयमें 'अवन्ति-सुन्दरीकथा' नामक एक ग्रन्थकी पाण्डुलिपि मिली है। इसके प्रारम्भिक भागके देखनेसे स्पष्ट रूपसे विदित होता है कि यह ग्रन्थ दण्डीने लिखा है। इसीमें दण्डीने अपनेको भारविका प्रपौत्र कहा है। इस प्रकार इस 'अवन्तिसुन्दरीकथा'को मिलाकर दण्डीके तीन ग्रन्थ बन जाते हैं।

एक बातको जानकर और आश्चर्य होगा कि अभीतक कुछ लोग ऐसे भी हैं जो 'दशकुमार-चरित'के दण्डीकृत होनेमें सन्देह करते हैं। श्री त्रिवेदीने अपने सम्पादित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'की

भूमिकामें तथा श्री आगाशेने 'दशकुमारचरित'की भूमिकामें इस प्रकारका सन्देह प्रदर्शित किया है। श्री आगाशेका कहना यह है कि 'काव्यादर्श'के प्रणेता दण्डी बड़े कठोर आलोचक हैं।

'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥'
—काव्यादर्श १-७।

'काव्यादर्श'के इस सिद्धान्तके अनुसार दण्डी काव्यमें एक तनिक-से भी दूषणको सहन नहीं करते हैं। सुन्दर चेहरेपर यदि एक भी कोढ़का दाग हो जाय तो जैसे मुखका सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सुन्दर काव्यमें एक भी दोष आ जानेपर काव्यका सारा सौन्दर्य जाता रहता है। इसलिए काव्यमें एक भी दोषकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यह दण्डीका सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके आधारपर आगाशे महोदयका कहना है कि 'दशकुमारचरित', जिसमें कि सैकड़ों दोष पाये जाते हैं, किसी भी अवस्थामें दण्डीकी रचना नहीं हो सकता है।

ग्राम्यत्व दोषके विवेचनमें दण्डीने—

'कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते॥'
—काव्यादर्श १-६३

'हे कन्ये, मैं तुमको चाहता हूँ फिर तुम मुझको क्यों नहीं चाहती हो' इस बातको भी दण्डीने ग्राम्य दोषका उदाहरण माना है। और इस प्रकारकी उक्तिको भी वैरस्यापादक माना है। परन्तु 'दशकुमारचरित'में इससे भी कहीं अधिक ग्राम्यताके उदाहरण पाये जाते हैं। इससे भी आगाशे महोदयने अपने इस सिद्धान्तकी पुष्टि करनेका यत्न किया है कि 'दशकुमारचरित' दण्डीकी रचना नहीं है।

परन्तु इस बातको लिखते समय आगाशे महोदयने सिद्धान्त और व्यवहारके सार्वत्रिक भेदकी ओर ध्यान नहीं दिया है। सिद्धान्त और व्यवहारका यह भेद तो सब जगह पाया जाता है। सिद्धान्त या लक्ष्य-बिन्दु तो सदा ऊँचा होता है और रखना भी चाहिये। किन्तु व्यवहारमें उसका उतना शुद्ध रूपमें पालन लगभग असम्भव है। इसलिए यदि दण्डीके सिद्धान्त और व्यवहारमें अन्तर पाया जाता है तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। दण्डी ही क्यों, कोई भी महाकवि आजतक ऐसे निर्दोष काव्यकी रचना नहीं कर सका है जिसके ऊपर अंगुली न उठायी जा सके। कोई भी कवि या कोई व्यक्ति किसी भी काव्यको करे, सिद्धान्ततः यही चाहता है कि उसके कार्यमें कोई कमी न रहने पाये, कोई दोष न निकाल सके, परन्तु फिर भी मनुष्यके प्रत्येक काममें कोई न दोष रह ही जाता है। व्यक्तिविवेककारने लिखा है—

'स्वकृतिष्वयन्त्रितः कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यम्।
वारयति भिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत्॥'

वैद्य स्वयं अपथ्यका सेवन करते हुए भी दूसरोंको अपथ्यका निषेध करता है। दण्डीने जो 'काव्यादर्श'में तनिक-से भी काव्यदोषकी उपेक्षा न करनेकी बात लिखी है वह सब वैद्यके अपथ्य-सेवनके निषेधक आदेशके समान है। और 'कन्ये कामयमानं मां' आदि श्लोकमें तो दण्डीने यही

दिखलाया है कि बातको इस प्रकार नग्न रूपमें कहना सहृदयोंके लिए रुचिकर नहीं होता है। उसी बातको यदि थोड़ी-सी शैली बदलकर यों कह दिया जाय कि—

'कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दयः।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्येत्यग्राम्योऽर्थो रसावहः॥'

—काव्यादर्श १–६४

तो यह अर्थ ग्राम्यतादोषसे रहित और रसावह हो जाता है। इसलिए 'दशकुमारचरित'में दोषोंके विद्यमान होनेसे आगाशे महोदयने जो यह परिणाम निकाला है कि वह दण्डीकी रचना नहीं है वह अनुचित और असंगत है। दूसरी बात यह भी है कि 'दशकुमारचरित' दण्डीकी अप्रौढ़ावस्था-की रचना है इसलिए उसमें दोषोंका होना स्वाभाविक है।

आगाशे महोदयने 'दशकुमारचरित'को दण्डीकी रचना न माननेका दूसरा कारण यह बतलाता है कि 'दशकुमारचरित'की रचनाशैली बड़ी क्लिष्ट और समासबहुल है, जब कि 'काव्या-दर्श'की रचनाशैली बड़ी सरल और समास-रहित प्रसादगुणयुक्त है। इसलिए भी इन दोनोंका रचयिता एक नहीं हो सकता है। किन्तु वह हास्यास्पद-सी बात है। 'दशकुमारचरित' गद्यग्रन्थ है। उसमें समासबाहुल्य गुण है, दोष नहीं। स्वयं 'काव्यादर्श'में दण्डीने इस बातका समर्थन करते हुए लिखा है—

'ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्॥'

—काव्यादर्श १–८०

अर्थात् समास-बाहुल्यात्मक ओज गुण ही तो गद्यकी जान है और दाक्षिणात्य लोगोंको छोड़कर अन्य लोग तो पद्यमें भी समासबाहुल्यका प्रयोग पसन्द करते हैं। इसलिए गद्यात्मक 'दशकुमारचरित' में भी समास-बाहुल्य पाया जाता है और वह उसमें सौन्दर्यका आधान कर रहा है। 'काव्यादर्श' तो गद्य-ग्रन्थ नहीं है। पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसलिए उसमें समासका न होना या कम होना स्वाभाविक है। फिर 'काव्यादर्श'में समास-भूयस्त्व नहीं है यह बात नहीं है।

'पयोधरतटोत्संगलग्नसन्ध्यातपांशुका।
कस्य कामातुरं चेतो वारुणी न करिष्यति॥'

—काव्यादर्श १–८४

इस पद्यमें पूर्वार्द्धभाग साराका सारा मिलकर एक समस्त पद है। इसलिए 'दशकुमार-चरित' के समासबाहुल्यके आधारपर उसको दण्डीकी रचना न माननेका आगाशे महोदयका विचार किसी रूपमें भी ग्राह्य नहीं हो सकता है।

एक बात और है, संस्कृत साहित्यमें दण्डी एक महाकविके रूपमें प्रसिद्ध हैं।

'जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥'

इस श्लोकमें तो वाल्मीकि तथा व्यासके बाद तीसरे नम्बरपर दण्डी कविको ही रखा गया है। सबसे पहिले जब वाल्मीकि इस जगत्में आये तो उनके लिए एकवचन 'कवि' शब्दका प्रयोग प्रारम्भ हुआ। उस समय कोई दूसरा कवि नहीं कहलाता था। उसके बाद व्यासके आनेपर 'कवी'

यह द्विवचनमें कवि शब्दका प्रयोग होने लगा, क्योंकि अब वाल्मीकि और व्यास दो कवि हो गये। किन्तु अभीतक 'कवयः' इस बहुवचनमें कवि शब्दके प्रयोगका अवसर नहीं आया। कवि शब्दका बहुवचनमें 'कवयः' प्रयोग दण्डीके बाद होना प्रारम्भ हुआ। यह तो कविकी प्रशंसापरक अतिशयोक्ति है। किन्तु इसका भाव इतना ही है कि दण्डी एक महाकविके रूपमें प्रसिद्ध हैं। उनकी यह प्रसिद्धि मुख्य रूपसे 'दशकुमारचरित'के आधारपर ही है। 'काव्यादर्श'के आधारपर कवित्वकी प्रसिद्धि नहीं है। यदि उस 'दशकुमारचरित'को उनकी रचनाओंमेंसे निकाल दिया जाय तो फिर उनकी इस प्रसिद्धिका आधार ही क्या रह जाता है। इसी प्रकार—

'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥'

इस प्रसिद्ध लोकोक्तिमें दण्डी अपने 'दशकुमारचरित'के पदलालित्यके आधारपर ही स्थान पा सके हैं। इसलिए 'दशकुमारचरित' दण्डीकी रचना नहीं है, आगाशे महोदयका यह कथन सर्वथा असंगत है। पता नहीं उन्होंने इस प्रकारकी असंगत बात लिखनेका साहस कैसे किया।

'काव्यादर्श'

दण्डीके तीन ग्रन्थोंमेंसे अलङ्कारशास्त्रसे सम्बद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' ही है। भारतमें इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। सबसे पहिला संस्करण सन् १८६३ में कलकत्तासे प्रकाशित हुआ था। उसमें प्रेमचन्द्र तर्कवागीशकी टीका भी साथमें मुद्रित थी। उसके बाद सन् १९१० में प्रो० रंगाचार्य द्वारा सम्पादित एक 'तरुण वाचस्पति'-कृत टीका तथा दूसरी 'हृदयंगमा' टीका, जिसके निर्माताके नामका पता नहीं है, इन दो टीकाओं सहित एक संस्करण मद्राससे प्रकाशित हुआ। उसके बाद पूनासे डॉ० वेलवलकर और शास्त्री रंगाचार्य रेड्डी द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ। 'काव्यादर्श' में सामान्यतः तीन परिच्छेद हैं। किन्तु मद्राससे प्रकाशित रंगाचार्यवाले संस्करणमें चार परिच्छेद रखे गये थे। अन्य संस्करणोंमें जिसको तृतीय परिच्छेदके रूपमें दिया गया है उसको रंगाचार्यवाले संस्करणमें दो भागोंमें विभक्त कर दिया गया था। उसमें दोषोंके निरूपणसे चतुर्थ परिच्छेदका आरम्भ किया गया था। कलकत्ता और मद्रासवाले संस्करणोंमें दूसरा अन्तर यह भी था कि कलकत्तावाले संस्करणमें कुल श्लोकोंकी संख्या ६६० थी और मद्रासवाले संस्करणमें वह संख्या ६६३ थी। यह तीन संख्याओंका अन्तर इस प्रकार है कि दो श्लोक तो तृतीय परिच्छेदके अन्तमें अधिक पाये जाते हैं और एक श्लोक चतुर्थ परिच्छेदके आरम्भमें अधिक पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कलकत्तावाले संस्करणके तृतीय परिच्छेदके १९० वें श्लोकके बाद—

'आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत्॥'

यह एक चौथा श्लोक मद्रास संस्करणमें अधिक पाया जाता है। इस प्रकार मद्रास संस्करण में चार श्लोक अधिक हो जाते हैं। किन्तु इसके साथ ही दूसरे परिच्छेदका 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' वाला प्रसिद्ध श्लोक मद्रासवाले संस्करणमें नहीं पाया जाता है। इसलिए इन दोनों संस्करणोंमें तीन श्लोकोंका ही अन्तर रह जाता है। कलकत्तावाले संस्करणमें कुल ६६० श्लोक थे और मद्रासवाले संस्करणमें ६६३ श्लोक थे।

'काव्यादर्श'के प्रथम परिच्छेदमें काव्यका लक्षण, उसके गद्य-पद्य और मिश्रकाव्य-रूप तीन

भेद, सर्गबन्ध महाकाव्यका लक्षण देनेके बाद गद्यकाव्यके कथा तथा आख्यायिकारूप भामहाभिमत दो भेदोंका उल्लेख कर फिर उसका खण्डन कर दिया है। उन्होंने कथा और आख्यायिकाको एक ही जाति माना है। उसके बाद साहित्यका भाषाके आधारपर संस्कृत, २ प्राकृत, ३ अपभ्रंश तथा ४ मिश्ररूपसे चार भागोंमें विभाजन किया है। उसके बाद काव्यके दश गुणोंके लिए 'वैदर्भ' तथा 'गौड' दो मार्गोंका उल्लेखकर उसी प्रसंगमें अनुप्रासका लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। इसके बाद उत्तम कवि बननेके लिए आवश्यक (१) प्रतिभा, (२) श्रुत तथा (३) अभियोग इन तीन गुणोंका वर्णन किया है।

द्वितीय परिच्छेदमें अलङ्कारका सामान्य लक्षण करनेके बाद ३५ अलंकारोंके लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। वे ३५ अलंकार, जिनका वर्णन दण्डीने द्वितीय परिच्छेदमें किया है, क्रमशः निम्नलिखित प्रकार हैं—

१ स्वभावोक्ति, २ उपमा, ३ रूपक, ४ दीपक, ५ आवृत्ति, ६ आक्षेप, ७ अर्थान्तरन्यास, ८ व्यतिरेक, ९ विभावना, १० समासोक्ति, ११ अतिशयोक्ति, १२ उत्प्रेक्षा, १३ हेतु, १४ सूक्ष्म, १५ लेश (या लव), १६ यथासंख्य (या क्रम), १७ प्रेय, १८ रसवत्, १९ ऊर्जस्वि, २० पर्यायोक्त, २१ समाहित, २२ उदात्त, २३ अपह्नुति, २४ श्लेष, २५ विशेषोक्ति, २६ तुल्ययोगिता, २७ विरोध, २८ अप्रस्तुतप्रशंसा, २९ व्याजोक्ति, ३० निदर्शना, ३१ सहोक्ति, ३२ परिवृत्ति, ३३ आशीः, ३४ संसृष्टि और ३५ भाविक।

'काव्यादर्श'के तृतीय परिच्छेदमें ग्रन्थकारने 'यमक'का विस्तारके साथ वर्णन किया है और चित्रबन्धके गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, स्वरस्थानवर्णनियम आदि भेदोंका तथा प्रहेलिकाके दस भेदोंका वर्णन करनेके बाद दस प्रकारके काव्य-दोषोंका वर्णन किया है। मद्रासवाले संस्करणमें इन दोषोंके विवेचनको चतुर्थ परिच्छेदमें दिखलाया गया है।

दण्डीका प्रभाव और उनके टीकाकार

यद्यपि अलङ्कारशास्त्रके आद्य आचार्य भामह हैं और दण्डी उनके बाद हुए हैं, किन्तु अपनी रचनाके द्वारा दण्डीने भामहकी अपेक्षा कहीं अधिक ख्याति प्राप्त की है। भामहका मूलग्रन्थ ही बड़ी कठिनाईसे मिल सका। उसपर 'भामह-विवरण' नामक एक ही टीका लिखी गयी, वह भी मिलती नहीं। किन्तु दण्डीके 'काव्यादर्श'की स्थिति इससे बिलकुल भिन्न है। इसके ऊपर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। १ प्रेमचन्द्र तर्कवागीशवाली टीका जो कलकत्तासे प्रकाशित हुई थी और तरुण वाचस्पतिकृत टीका तथा 'हृदयंगमा' टीका, जिसके लेखकके नामका पता नहीं है, दो टीकाएँ मद्राससे प्रकाशित हुई थीं। इन तीनों टीकाओंकी चर्चा हम पहिले कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त महामहोपाध्याय हरिनाथकृत 'मार्जन' नामक टीका (१ विक्रम संवत् १७४६ में इसकी प्रतिलिपि की गयी थी), ५ कृष्णकिंकर तर्कवागीशविरचित 'काव्यतत्त्वविवेचककौमुदी' नामक टीका, ६ वादिंघलविरचित 'श्रुतानुपालिनी' टीका, ७ जगन्नाथके पुत्र मल्लिनाथकृत 'वैमल्यविधायिनी' आदि अनेक टीकाओंका उल्लेख मिलता है। इतनी अधिक टीकाएँ 'काव्यादर्श'पर लिखी गयी हैं इससे 'काव्यादर्श'की लोकप्रियता तथा विद्वानोंमें उसके विशेष आदरका परिचय मिलता है।

न केवल टीकाग्रन्थोंके द्वारा ही अपितु अन्य भाषाओंमें अनुवाद आदिके द्वारा भी 'काव्यादर्श'ने विशेष सम्मान प्राप्त किया है। सिंहली भाषामें 'सिय-बस-लकर' नामका अलङ्कारशास्त्रका सर्वमान्य ग्रन्थ है। 'सिय-बस-लकर'का अर्थ होता है 'स्व-भाषा-अलङ्कार'। इस ग्रन्थकी रचना

'काव्यादर्श'के आधारपर ही हुई है। इसी प्रकार कन्नड़ भाषाका अलङ्कारशास्त्रविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' भी दण्डीके 'काव्यादर्श'के आधारपर ही लिखा गया है। अधिकांशमें उसका अनुवाद ही कहा जा सकता है।

सिंहल और कन्नड़ भाषाके अलङ्कारशास्त्रविषयक ग्रन्थोंपर इतना व्यापक प्रभाव देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी स्वयं दक्षिणभारतके ही रहनेवाले थे। 'काव्यादर्श'के 'पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्' आदि (१-८०) श्लोकको हम ऊपर दे चुके हैं। उसमें एक ध्वनि यह निकलती है कि दाक्षिणात्य लोग तो पद्यमें समासभूयस्त्वका प्रयोग नहीं करते हैं किन्तु दाक्षिणात्यों-को छोड़कर अन्य लोगोंके लिए पद्यमें भी सौन्दर्य लानेका केवल यही एक मार्ग रह जाता है। इससे दाक्षिणात्योंके प्रति कुछ गौरवभावना व्यक्त होती है। इससे भी यह अनुमान होता है कि वे दाक्षिणात्य रहे होंगे। इसके अतिरिक्त कर्णाटककी रहनेवाली कवयित्री विज्जिका या विजयांकाके द्वारा दण्डीका विशेष रूपसे उल्लेख भी उनके दाक्षिणात्य होनेका संकेत करता है। जल्हणकी 'सूक्तिमुक्तावली'में तथा 'शार्ङ्गधरपद्धति'में १८४ श्लोकसंख्यापर राजशेखरके नामसे निम्नलिखित पद उद्धृत किया गया है—

'सरस्वतीव कार्णाटी विजयांका जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वाचः कालिदासादनन्तरम्॥'

—शा० प० १८४

इसमें कर्णाटक-निवासिनी 'विजयांका' कवयित्रीकी प्रशंसा की गयी है। उसे सरस्वतीके समान कहा गया है और वैदर्भमार्गकी रचनामें कालिदासके समान ठहराया गया है। इसी 'विजयांका' या 'विज्जिका'के नामसे 'शार्ङ्गधरपद्धति'में श्लोकसंख्या १८० पर निम्नलिखित पद्य दिया गया है—

'नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती॥'

—शा० प० १८०

'सर्वशुक्ला सरस्वती' यह 'काव्यादर्श'के प्रथम श्लोकका अन्तिम चरण है। इसमें सरस्वती-को 'सर्वशुक्ला' कहा है। कार्णाटी विजयांका या विज्जिकाको भी लोग साक्षात् सरस्वती कहते थे। और वह स्वयं भी अपनेको सरस्वतीसे कम नहीं समझती थी। किन्तु कार्णाटी होनेके कारण वह 'नीलोत्पलदलश्यामा' थी। इसीलिए उसने अपनी प्रशंसाके रूपमें कहा है कि सरस्वती श्याम भी हो सकती हैं, क्योंकि मैं श्यामवर्ण हूँ। दण्डीने जो सरस्वतीको 'सर्वशुक्ला सरस्वती' कहा है वह ठीक नहीं है।

दण्डीके 'काव्यादर्श'का भारतके दक्षिणी भागमें विशेष प्रभाव होने, कार्णाटी 'विजयांका' के द्वारा उनका उल्लेख करने, और स्वयं दण्डीके द्वारा दाक्षिणात्योंकी प्रशंसा ध्वनित करनेसे यह अनुमान किया जा सकता है कि दण्डी कदाचित् दाक्षिणात्य ही रहे होंगे।

५. भट्टोद्भट

दण्डीके बाद अगले आचार्य भट्टोद्भट हैं जिन्होंने अलङ्कारशास्त्रके ऊपर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। भट्ट उद्भट, जैसा कि उनके नामसे ही विदित होता है, कश्मीरी ब्राह्मण थे। वे कश्मीरके

राजा जयादित्यकी राजसभाके पण्डित नहीं अपितु सभापति थे। उन्हें राज्यकी ओरसे प्रतिदिन एक लाख दीनार वेतनरूपमें मिलता था। कल्हणकी 'राजतरंगिणी'में उनका वर्णन करते हुए लिखा है—

'विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥' ४-४९५

कश्मीरमें महाराज जयापीडका शासनकाल ७७९ ई० से लेकर ८१३ ई० तक माना जाता है। इसलिए उद्भटका समय भी आठवीं शताब्दीका अन्तिम तथा नवम शताब्दीका प्रारम्भिक भाग पड़ता है

दण्डीके समान उद्भटने भी साहित्यशास्त्रके सम्बन्धमें तीन ग्रन्थ लिखे थे। उनके एक ग्रन्थ 'भामह-विवरण'का उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। यह ग्रन्थ भामहके 'काव्यालङ्कार'की व्याख्याके रूपमें लिखा गया था, किन्तु आककल उपलब्ध नहीं होता है। अनेक साहित्य-ग्रन्थोंमें उसका उल्लेख आदरपूर्वक किया जाता है। उनके शेष दो ग्रन्थोंमें एक 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' और दूसरा 'कुमारसम्भव काव्य' है। इनमेंसे केवल 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' प्राप्त होता है। 'कुमारसम्भव काव्य' भी नहीं मिलता है। किन्तु उसके अनेक श्लोक 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'में उदाहरण-रूपमें उद्धृत पाये जाते हैं। 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'में उद्भटने जितने भी उदाहरण दिये हैं वे सब अपने बनाये हुए इस 'कुमारसम्भव काव्य'से ही दिये हैं। महाकवि कालिदासका भी 'कुमारसम्भव' नामक एक काव्य है किन्तु उद्भटका 'कुमारसम्भव काव्य' उससे बिलकुल भिन्न है। यद्यपि दोनों काव्योंकी रचना एक ही कथानकको आधार मानकर की गयी है, किन्तु रामचरितको लेकर बनाये गये अनेक काव्यों और नाटकोंके समान ये दोनों काव्य बिलकुल अलग हैं। फिर भी उन दोनोंके कुछ श्लोकोंकी तुलना मनोरंजक होगी। 'कुमारसम्भव'के कथानकके अनुसार पार्वतीजी जब शिवजीकी प्राप्तिके लिए तपस्या कर रही थीं तब उनकी परीक्षा लेनेके लिए शिवजी ब्रह्मचारीका वेश बनाकर पार्वतीके पास जाते हैं। उस समय पार्वतीकी तपस्या तथा शिवके जानेका वर्णन दोनों महाकवियोंने बड़े सुन्दर रूपमें किया है। उस प्रसंगके दो-तीन श्लोक दोनों कवियोंके हम नीचे दे रहे हैं—

उद्भटका श्लोक—'प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः स्त्रीणां भावपरीक्षणे।
प्रतस्थे धूर्जटिरतस्तनुं स्वीकृत्य वाटवीम्॥' २-१०

कालिदासका श्लोक—'विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं
शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा॥' ५-१२

उद्भटका श्लोक—'अपश्यच्चातिकष्टानि तप्यमानां तपांस्युमाम्।
असम्भाव्यपतीच्छानां कन्यानां का परा गतिः॥' २-१२

कालिदासका श्लोक—'इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमीदृशं द्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥' ५-२

उद्भटका श्लोक—'शीर्णपर्णाम्बुवाताशकष्टेऽपि तपसि स्थितम्।
समुद्वहन्तीं नापूर्वं गर्वमन्यतपस्विवत्॥' २-१

कालिदासका श्लोक—'स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः ॥' ५-२८

'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'

भट्ट उद्भटका एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' है । यह ग्रन्थ ६ वर्गोंमें विभक्त है । इसमें कुल मिलाकर ७९ कारिकाएँ हैं और उनमें ४१ अलङ्कारोंके लक्षण आदि दिये गये हैं । ६ वर्गोंमें उन ४१ अलङ्कारोंका विभाजन निम्नलिखित प्रकार किया गया है—

प्रथम वर्ग—१ पुनरुक्तवदाभास, २ छेकानुप्रास, ३ त्रिविध अनुप्रास (परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या या कोमला वृत्ति), ५ लाटानुप्रास, ४ रूपक, ६ उपमा, ७ त्रिविध दीपक (आदिदीपक, मध्य-दीपक, अन्तदीपक), ८ प्रतिवस्तूपमा ।

द्वितीय वर्ग—१ आक्षेप, २ अर्थान्तरन्यास, ३ व्यतिरेक, ४ विभावना, ५ समासोक्ति, ६ अतिशयोक्ति ।

तृतीय वर्ग—१ यथासंख्य, २ उत्प्रेक्षा, ३ स्वभावोक्ति ।

चतुर्थ वर्ग—१ प्रेय, २ रसवत्, ३ ऊर्जस्वित् , ४ पर्यायोक्त, ५ समाहित ।

पंचम वर्ग—अपह्नुति, २ विशेषोक्ति, ३ विरोध, ४ तुल्ययोगिता, ५ अप्रस्तुतप्रशंसा, ६ व्याजस्तुति, ७ निदर्शना, ८ उपमेयोपमा, ९ सहोक्ति, १० संकर (चतुर्विध), ११ परिवृत्ति ।

षष्ठ वर्ग—१ अनन्वय, २ ससन्देह, ३ संसृष्टि, ४ भाविक, ५ काव्यलिङ्ग, ६ दृष्टान्त ।

इन सब अलङ्कारोंका वर्णन ७९ कारिकाओंमें किया गया है और उनके उदाहरणरूपमें लगभग १०० श्लोक ग्रन्थकारने अपने 'कुमारसम्भव काव्य'मेंसे उद्धृत किये हैं ।

इन ४१ अलङ्कारोंमेंसे १ पुनरुक्तवदाभास, २ काव्यलिङ्ग, ३ छेकानुप्रास, ४ दृष्टान्त, ५ संकर, ये पाँच अलङ्कार ऐसे हैं जो भामहके 'काव्यालङ्कार'में नहीं पाये जाते हैं । किन्तु उद्भटने एक रूपमें उनकी स्थापना की है । ये पाँचों अलङ्कार दण्डीके 'काव्यादर्श'में भी नहीं पाये जाते हैं ।

१ उत्प्रेक्षावयव, २ उपमारूपक, ३ यमक ये तीन अलङ्कार ऐसे हैं जो भामहने और दण्डीने उत्प्रेक्षाके अन्तर्गत माने हैं किन्तु उद्भटने उनको नहीं माना है ।

१ लेश, २ सूक्ष्म तथा ३ हेतु ये तीन अलङ्कार दण्डीने माने हैं । भामहने उनका निषेध किया है । भामहके समान उद्भट भी इन तीनों अलङ्कारोंको नहीं मानते हैं इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थमें इन तीनों अलङ्कारोंकी कोई चर्चा नहीं की है । १ रसवत् , २ प्रेय, ३ ऊर्जस्वि, ४ समाहित और ५ श्लिष्ट ये पाँच अलङ्कार ऐसे हैं जिनका वर्णन तो भामह और दण्डीने किया है किन्तु उनके लक्षण दोनों जगह अस्पष्ट हैं । उद्भटने उनके लक्षण बहुत स्पष्ट रूपसे प्रस्तुत कर दिये हैं । इस प्रकार पुनरुक्तवदाभासादि पाँच अलङ्कारोंकी स्थापना तथा रसवत् आदि पाँच अलङ्कारोंके लक्षणोंका स्पष्टीकरण उद्भटकी साहित्यशास्त्रको अपनी विशेष देन है ।

उद्भटके टीकाकार

उद्भटके 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'पर दो टीकाएँ उपलब्ध होती हैं । एक टीकाके लेखक प्रतिहारेन्दुराज हैं और दूसरेके निर्माता राजानक तिलक हैं । प्रतिहारेन्दुराज कोंकण देशके निवासी तथा 'अभिधावृत्तिमातृका'के निर्माता मुकुलभट्टके शिष्य थे । इनका समय दशम शताब्दीके प्रारम्भमें माना जाता है । 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'पर इनकी 'लघुविवृति' नामकी टीका है । उस

टीकामें इन्होंने अपने गुरु मुकलभट्टकी बड़ी प्रशंसा की है। उन्हींसे पढ़कर इन्होंने 'काव्यालङ्कार-सारसंग्रह'की यह टीका लिखी है—

'विद्वदग्र्यान्मुकुलकादधिगम्य विविच्यते ।
प्रतीहारेन्दुराजेन काव्यालङ्कारसंग्रहः ॥'

यह 'लघुविवृति' टीका निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे काव्यमाला तथा बाम्बे संस्कृत सिरीजके अन्तर्गत प्रकाशित हो चुकी है।

'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'पर 'विवृति' नामकी एक और टीका 'गायकवाड ओरिएण्टल सिरीज' बड़ौदासे प्रकाशित हुई है। इसके रचयिताका नाम तो उसपर नहीं दिया गया है, किन्तु उसके सम्पादक महोदयका विचार है कि इस टीकाके निर्माता कश्मीर-निवासी राजानक तिलक प्रतीत होते हैं। राजानक तिलकने 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'पर 'उद्भट-विवेक' नामसे कोई टीका लिखी थी इस बातका उल्लेख 'अलङ्कारसर्वस्व'की जयरथ-विरचित 'विमर्शिणी' टीकामें पाया जाता है। किन्तु उसकी अन्यत्र कहीं उपलब्धि नहीं हुई है। इसलिए यह अनुमान किया गया है कि यही ग्रन्थ राजानक तिलक द्वारा लिखा गया होगा। यह ग्रन्थ प्रतिहारेन्दुराजकी 'लघुविवृति'के बाद लिखा गया है, क्योंकि उसमें प्रतिहारेन्दुराजकी व्याख्याकी आलोचना भी पायी जाती है।

उद्भटके 'भामह-विवरण', 'कुमारसम्भव' तथा 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' इन तीन ग्रन्थोंका उल्लेख तो ऊपर किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त भरत-नाट्यशास्त्रके टीकाकारके रूपमें भी इनका उल्लेख पाया जाता है। शार्ङ्गदेवने अपने 'संगीतरत्नाकर'में 'नाट्यशास्त्र'के व्याख्याताओंकी सूची निम्नलिखित प्रकार दी है—

'व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः ।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः ॥'

'भामह-विवरण'के समान 'नाट्यशास्त्र'पर इनकी लिखी टीका भी उपलब्ध नहीं होती है।

६. वामन

अलङ्कारशास्त्रके आचार्योंमें उद्भटके बाद वामनका स्थान आता है। साहित्यशास्त्रके इतिहासमें वामनका स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। ये रीतिसम्प्रदाय नामसे प्रसिद्ध साहित्यशास्त्रके एक प्रमुख सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' लिखकर इन्होंने रीतिको काव्यका आत्मा माना है। इस सिद्धान्तके कारण इनका साहित्यशास्त्रके इतिहासमें विशेष महत्त्व माना गया है। उद्भटके समान वामन भी कश्मीरके निवासी उद्भटके समकालीन और सहयोगी थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उद्भट कश्मीरराज जयादित्यकी राजसभाके सभापति थे। आचार्य वामन उन्हीं जयादित्यके मन्त्री थे। 'राजतरङ्गिणी'में जहाँ उद्भटके सभापति होनेकी बात लिखी है वहीं वामनके जयादित्यके मन्त्री होनेकी बात भी इस प्रकार लिखी है—

'मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा ।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः ॥'

—राजतरङ्गिणी ४-४९७

जयादित्यका राज्यकाल ७७९ से ८१३ ई० तक माना जाता है। अतएव इनका समय आठवीं शताब्दीके अन्तिम और नवम शताब्दीके आरम्भमें पड़ता है।

वामनका एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्र' है। अलङ्कारशास्त्रपर यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो सूत्र-शैलीमें लिखा गया है। यह ग्रन्थ पाँच अधिकरणोंमें विभक्त है। प्रत्येक अधिकरण दो या तीन अध्यायोंमें विभक्त किया गया है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थमें बारह अध्याय हैं। इन बारहों अध्यायोंमें मिला कर सूत्रोंकी संख्या ३१९ है। ग्रन्थके प्रथम अधिकरणमें काव्यके प्रयोजन, अधिकारीका वर्णन करके रीतिको काव्यका आत्मा सिद्ध किया है। रीतिको काव्यका आत्मा बतलानेवाले प्रसिद्ध सिद्धान्तका निरूपण कर, फिर रीतिके तीन भेद तथा काव्यके अनेक प्रकारोंका वर्णन किया गया है। इस अधिकरणका नाम 'शरीराधिकरण' है और उसमें तीन अध्याय हैं। द्वितीयाधिकरणका नाम 'दोपदर्शनाधिकरण' है। इसमें दो अध्याय हैं जिनमें काव्यके दोषोंका विवेचन किया गया है। तीसरे अधिकरणका नाम 'गुणविवेचनाधिकरण' है। इसमें दो अध्याय हैं, जिनमें काव्यके गुणोंका विवेचन किया गया है। इसमें ग्रन्थकारने गुण तथा अलङ्कारोंका भेद भी दिखलाया है। "काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः" (३-१-१), "तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः" (३-१-२), इन सूत्रोंमें गुण तथा अलङ्कारके भेदनिरूपणसे ही इस अधिकरणका आरम्भ हुआ है। किन्तु उत्तरवर्ती मम्मटादि आचार्योंने वामनके इस मतकी बड़ी कटु आलोचना की है। वामनको गुण तथा अलङ्कारका यह भेद दिखलानेकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि इनके पूर्ववर्ती उद्भटने काव्यमें गुण तथा अलङ्कारोंका भेद नहीं माना था। उद्भटका कहना था कि लोकमें तो शौर्यादि गुणों तथा हारादि अलङ्कारोंमें यह भेद किया जा सकता है कि शौर्यादि गुण आत्मामें समवायसम्बन्धसे रहते हैं और हारादि अलङ्कार संयोगसम्बन्धसे शरीरमें रहते हैं, इसलिए वे दोनों भिन्न हैं। किन्तु काव्यमें तो ओज आदि गुण तथा उपमादि अलङ्कार दोनों समवायसम्बन्धसे ही रहते हैं इसलिए उनमें कोई भेद नहीं है। पूर्व आचार्य जो इनका भेद मानते आये हैं वह केवल गड्डरिका-प्रवाह अर्थात् भेड़चालमात्र है। उद्-भटके इस मतका खण्डन करनेके लिए वामनको गुण-निरूपण करनेवाले तृतीय अधिकरणके आरम्भमें ही गुण तथा अलङ्कारोंका यह भेद करना पड़ा।

चतुर्थ अधिकरणका नाम 'आलङ्कारिक अधिकरण' है। इसमें तीन अध्याय हैं। पाँचवें अधिकरणका नाम 'प्रायोगिकाधिकरण' है। इसमें दो अध्याय हैं और शब्दप्रयोगके विषयमें विवेचन किया गया है।

इस ग्रन्थके तीन भाग हैं—१ सूत्र, २ वृत्ति तथा ३ उदाहरण। सूत्र और वृत्ति दोनों भागों-की रचना वामनने स्वयं की है।

'प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालङ्कारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते॥'

अर्थात् वामनने अपने काव्यालङ्कारसूत्रोंके ऊपर 'कविप्रिया' नामकी वृत्ति स्वयं ही लिखी है। इस प्रकार सूत्र तथा वृत्ति दो भागोंकी रचना तो स्वयं वामनने की है। किन्तु उदाहरणरूप तीसरे भागमें उन्होंने कुछ उदाहरण अपने भी दिये हैं और अधिकांश उदाहरण दूसरोंके ग्रन्थोंसे लिये हैं। चतुर्थ अधिकरणके अन्तमें उन्होंने स्वयं लिखा है—

'एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः।'

अन्य जिन ग्रन्थोंसे उदाहरण लेकर वामनने अपने ग्रन्थमें प्रस्तुत किये हैं उनमें 'अमरुक-शतक', 'उत्तररामचरित', 'कादम्बरी', 'किरातार्जुनीय', 'कुमारसम्भव', 'मालतीमाधव', 'मृच्छकटिक',

'मेघदूत', 'रघुवंश', 'विक्रमोर्वशीय', 'वेणीसंहार', 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'शिशुपालवध', 'हर्षचरित' आदिके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

'काव्यालङ्कारसूत्र' वामनका एकमात्र ग्रन्थ है किन्तु बीचमें वह भी लुप्त हो गया था। प्रतीहारेन्दुराजके गुरु मुकुलभट्टको कहींसे उसकी एक आदर्श प्रति मिली, उसके आधारपर इसका फिर प्रसार और प्रचार हो सका है। इस बातका उल्लेख 'काव्यालङ्कार'के टीकाकार सहदेवने निम्न-लिखित प्रकार किया है—

'वेदिता सर्वशास्त्राणां भट्टोऽभून्मुकुलाभिधः।
लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शभ्रष्टाम्नायं समुद्धृतम् ॥
काव्यालङ्कारशास्त्रं यत् तेनैतद्वामनोदितम्।
असूया तत्र कर्तव्या विशेषालोकिभिः क्वचित् ॥'

७. रुद्रट

वामनके बाद अगले आचार्य रुद्रट हैं। ये साहित्यशास्त्रके इतिहासमें एक अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। इनका दूसरा नाम शतानन्द था। किन्तु वह नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं है। इनकी प्रसिद्धि रुद्रट नामसे ही है। इनके पिताका नाम वामुकभट्ट था। नामसे प्रतीत होता है कि ये भी कश्मीरी थे। अपने वंशके परिचयरूपमें इनके एक श्लोकको टीकाकारने विशेष रूपसे निम्नलिखित प्रकार उल्लिखित किया है—

'अत्र च चक्रे स्वनामांकभूतोऽयं श्लोकः कविनान्तर्भावितो यथा—
शतानन्दपराख्येन भट्टवामुकसूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं समाजा धीमता हितम् ॥'

—काव्यालङ्कार ५। १२-१४ की टीका

इनके मतका उल्लेख धनिक, मम्मट, प्रतिहारेन्दुराज और राजशेखर आदि अनेक आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें किया है। किन्तु इनमें सबसे पूर्ववर्ती उल्लेख राजशेखर द्वारा किया गया है। राज-शेखरने 'काव्यमीमांसा'में 'काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोऽयमिति रुद्रटः' (काव्यमीमांसा, अध्याय ७, पृ० ३१) लिखकर रुद्रटके मतका उल्लेख किया है। राजशेखरका काल ९२० ई०के लगभग माना जाता है। इसलिए रुद्रटका काल उनके पहले नवम शताब्दीमें ८५० ई० के लगभग पड़ता है।

ऐसा ज्ञान पड़ता है कि साहित्यशास्त्रके सारे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना कश्मीरमें हुई और उनमेंसे अधिकांश लोगोंने अपने ग्रन्थोंके नाम भी 'काव्यालङ्कार' ही रखे हैं। इस परम्पराके अनुसार कश्मीरवासी रुद्रटके ग्रन्थका नाम भी 'काव्यालङ्कार' होना चाहिये और है भी। रुद्रटका 'काव्या-लङ्कार' ग्रन्थ आर्या छन्दमें लिखा गया है। इसमें कुल ७१४ आर्याएँ हैं। ग्रन्थ सोलह अध्यायोंमें विभक्त है, जिनमेंसे ११ अध्यायोंमें अलङ्कारोंका वर्णन है। अन्तिम अध्यायमें रसोंकी मीमांसा की गयी है। इसमें नौ रसोंके साथ एक 'प्रेय' नामक रसकी और कल्पना करके रसोंकी संख्या दस कर दी गयी है। नायक-नायिका-भेदका भी विस्तारके साथ वर्णन किया है। अलङ्कारोंके विवेचनमें इन्होंने नयी बात यह की है कि वैज्ञानिक आधारपर अलङ्कारोंका विभाजन करनेका यत्न किया है। वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष इन चारको इन्होंने अलङ्कारोंका विभाजक तत्त्व माना है और इसीके आधारपर अलङ्कारोंको चार भागोंमें विभक्त किया है। यह इनका बिलकुल नया दृष्टि-

कोण है; रुद्रटने अलङ्कारक्षेत्रमें १ मत, २ साम्य, ३ पिहित और ४ भाव नामके चार बिलकुल नवीन अलङ्कारोंकी कल्पना की है, जिनका उल्लेख प्राचीन और नवीन किन्हीं ग्रन्थोंमें नहीं मिलता है। कुछ प्राचीन अलङ्कारोंका इन्होंने नवीन रूपमें नया नामकरण किया है। जैसे भामह आदिके 'व्याजस्तुति'के लिए इन्होंने 'व्याजश्लेष' (१०-११) शब्दका प्रयोग किया है। 'स्वभावोक्ति'के स्थानपर 'जाति' (९-३) और 'उदात्त'के स्थानपर 'अवसर' (७-१०३) आदि नामोंका प्रयोग किया है।

रुद्रटके टीकाकार

रुद्रटके 'काव्यालङ्कार'पर तीन टीकाओंका उल्लेख मिलता है। उनमें सबसे पहली टीका कश्मीरके वल्लभदेव नामक विद्वान्ने लिखी थी। इसका नाम 'रुद्रटालङ्कार' था। परन्तु वह टीका उपलब्ध नहीं होती है। दूसरी टीका नमिसाधुकी है। यह टीका उपलब्ध होती है और छप चुकी है। नमिसाधु जैन विद्वान् थे। इन्होंने अपनी टीकाके रचनाकालका उल्लेख निम्नलिखित प्रकार किया है—

'पंचविंशतिसंयुक्तैः एकादश-समाशतैः।
विक्रमात् समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम्॥'

अर्थात् विक्रमके ११२५ संवत् (१०६८ ई०) में नमिसाधुने इस टीकाकी रचना की। तीसरी टीकाके निर्माता भी जैन यति थे। इनका नाम आशाधर और समय १३ वीं शताब्दीका मध्यभाग है।

रुद्रट और रुद्रभट्ट

रुद्रटसे मिलता-जुलता एक नाम और पाया जाता है रुद्रभट्ट। रुद्रभट्टकी रचनाका नाम 'शृङ्गारतिलक' है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें नौ रसों, भाव तथा नायक-नायिकाके भेदोंका सामान्य वर्णन है। द्वितीय परिच्छेदमें विशेष रूपसे विप्रलम्भ-शृङ्गारका तथा तृतीय परिच्छेदमें इतर रसों तथा वृत्तियोंका वर्णन किया गया है। नवीन और प्राचीन अधिकांश विद्वान् इन दोनोंको अभिन्न एक ही व्यक्ति मानते हैं। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इनको भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। भिन्नतावादियोंकी मुख्य युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

१. रुद्रटके 'काव्यालङ्कार'के अनुसार काव्यका तत्त्व अलङ्कार है, क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थके सोलह अध्यायोंमेंसे ग्यारह अध्यायोंमें अलङ्कारोंका वर्णन किया है। रसका वर्णन केवल एक अन्तिम अध्यायमें किया है। इसके विपरीत 'शृङ्गारतिलक'में काव्यका प्रधान तत्त्व रस है। उसमें अलङ्कारोंकी चर्चा बिलकुल ही नहीं की गयी है। इसलिए इन दोनों ग्रन्थोंके कर्ता अलग-अलग मानने चाहिये।

२. 'शृङ्गारतिलक'में रुद्रभट्टने केवल नौ रसोंका उल्लेख किया है, किन्तु 'काव्यालङ्कार'में रुद्रटने 'प्रेय'को भी दसवाँ रस मान कर रसोंकी संख्या दस कर दी है।

३. रुद्रभट्टने कैशिकी आदि चार वृत्तियोंका उल्लेख किया है, किन्तु रुद्रटने मधुरा, परुषा, प्रौढा, ललिता तथा भद्रा नामसे पाँच प्रकारकी वृत्तियोंका वर्णन किया है।

४. नायक-नायिका-भेदमें रुद्रभट्टने तीसरे नायिकाभेद, वेश्याका बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है, किन्तु रुद्रटने केवल दो श्लोकोंमें उसका वर्णन कर उसको तिरस्कारपूर्वक छोड़ दिया है।

इस प्रकार भेदवादियोंकी दृष्टिमें रुद्रट तथा रुद्रभट्ट दोनों अलग-अलग व्यक्ति हैं। किन्तु

अधिकांश लोग इन दोनोंको एक ही व्यक्ति मानते हैं। प्राचीन सूक्तिसंग्रहोंमें दोनोंके पद्य एक-दूसरेके नामसे दिये गये हैं।

८. आनन्दवर्धनाचार्य

साहित्यशास्त्रके आचार्योंमें रुद्रभट्टके बाद आनन्दवर्धनाचार्यका नाम आता है। आनन्दवर्धनाचार्य साहित्यशास्त्रके प्रमुख ध्वनिसम्प्रदायके प्रतिष्ठापक होनेके नाते साहित्यशास्त्रके अत्यन्त प्रसिद्ध एवं प्रमुखतम व्यक्ति हैं। पूर्ववर्ती अन्य आचार्योंके समान यह भी कश्मीरके निवासी हैं। राजतरङ्गिणीकारने इन्हें कश्मीराधिपति अवन्तिवर्माका समकालीन बतलाते हुए लिखा है—

'मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥'

—राजतरंगिणी ५-४

कश्मीर-नरेश अन्तिमवर्माका समय ८५५-८८४ ई० तक है। इसलिए आनन्दवर्धनाचार्यका समय नवम शताब्दीमें ठहरता है। आनन्दवर्धनाचार्यने 'विषमबाणलीला', 'अर्जुनचरित' ३ 'देवीशतक', ४ 'तत्त्वालोक' तथा ५ 'ध्वन्यालोक' इन पाँच ग्रन्थोंकी रचना की थी। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' है। इस ग्रन्थमें काव्यके आत्मभूत ध्वनि-तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थमें चार 'उद्योत' हैं। कुछ लोग ध्वनिको मानते ही नहीं हैं, कुछ उसको गौण मानते हैं और कुछ उसको अनिर्वचनीय तत्त्व कहते हैं। ये तीन ध्वनिविरोधी सिद्धान्त हैं। इन तीनों सिद्धान्तोंका खण्डन करके प्रथम उद्योतमें ध्वनिकी स्थापना की गयी है और उसका स्वरूपप्रतिपादन किया गया है—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः,
तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं,
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥'—ध्वन्यालोक १-१

द्वितीय उद्योतमें अविवक्षितवाच्य अर्थात् लक्षणामूला ध्वनि तथा विवक्षितवाच्य अर्थात् अभिधामूला ध्वनिके भेदोपभेदोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है और उनके साथ गुणोंका भी कुछ विवेचन किया गया है। तृतीय उद्योतमें पदों, वाक्यों, पदांश और रचना आदिके द्वारा ध्वनिकी प्रकाश्यताका प्रतिपादन और रसोंके विरोध तथा अविरोधापदनके सिद्धान्तोंका वर्णन किया गया है। चतुर्थ उद्योतमें यह दिखलाया गया है कि ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्यके प्रयोगके प्रभावसे कविके काव्यमें अनन्त चमत्कारकी उत्पत्ति हो जाती है। जैसे मधुमासमें पुराने जीर्ण-शीर्ण वृक्षोंमें अनन्त सौन्दर्य छा जाता है उसी प्रकार ध्वनि तथा रसके सम्बन्धसे पूर्व कवियों द्वारा वर्णित पुराने अर्थोंमें भी नवीन चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्यने इस ग्रन्थमें ध्वनि-विरोधी पक्षोंका निराकरण कर बड़ी सुन्दरता एवं प्रौढ़ताके साथ ध्वनि-सिद्धान्तकी स्थापना की है।

'ध्वन्यालोक'में तीन भाग हैं। एक मूलकारिका-भाग, दूसरा उनकी वृत्ति और तीसरा भाग उदाहरणरूप है। कारिका और वृत्ति दोनों भागोंके निर्माता स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य ही हैं। उदाहरणोंमें कुछ उदाहरण उन्होंने स्वयं अपने बनाये 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित' आदि ग्रन्थोंसे दिये हैं, किन्तु अधिकांश उदाहरण अन्य प्रसिद्ध कवियोंके ग्रन्थोंसे दिये हैं। प्राचीन सभी

आचार्य कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनोंका निर्माता आनन्दवर्धनाचार्यको ही मानते हैं। किन्तु डॉ० बुलहर, प्रो० जैकोबी, प्रो० कीथ आदि आधुनिक विद्वानोंने इन दोनों भागोंको भिन्न व्यक्तियोंकी रचना सिद्ध करनेका यत्न किया है। इन भिन्नतावादियोंके मतमें कारिकाभागके निर्माता कोई 'सहृदय' नामके व्यक्ति हैं और वृत्तिभागके निर्माता आनन्दवर्धनाचार्य हैं। अपने मतके समर्थनके लिए वे 'ध्वन्यालोक'के प्रथम तथा अन्तिम श्लोकमें 'सहृदय' पदके प्रयोगको प्रस्तुत करते हैं। प्रथम श्लोक जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है उसके अन्तिम चरणमें 'तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्'में जो 'सहृदय' पद आया है इसे भेदवादी लोग कारिकाकारका नाम मानते हैं। इसी प्रकार 'ध्वन्यालोक'के अन्तिम श्लोक—

'सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्तकल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः॥'

इसमें जो 'सहृदयोदयलाभहेतोः' पद आया है वह भी इन भेदवादियोंकी दृष्टिमें मूल कारिकाकारके नामका ग्राहक है। किन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है। 'सहृदय' शब्द यहाँ किसी व्यक्तिविशेषका नाम नहीं अपितु 'सहृदय' व्यक्तियोंका बोधक विशेषणपद है। 'ध्वन्यालोक'की टीका 'लोचन'में स्थान-स्थानपर 'वृत्तिकृत', 'ग्रन्थकृत' आदि शब्दोंका जो प्रयोग आता है वह व्याख्याके कारिका तथा वृत्तिभागको सूचित करनेकी दृष्टिसे ही आता है, किन्तु उसका यह अभिप्राय नहीं है कि वृत्तिकार और कारिकाकार दोनों अलग-अलग हैं। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक, व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट, 'औचित्यविचारचर्चा'के निर्माता क्षेमेन्द्र आदि उत्तरवर्ती सभी आचार्य आनन्दवर्धनको ही कारिका तथा वृत्तिभाग दोनोंका निर्माता मानते हैं। स्वयं आनन्दवर्धनाचार्यने भी—

'इति काव्यार्थविवेको यो यं चेतश्चमत्कृतिविधायी।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः॥'

लिखकर ध्वनितत्त्वको 'अस्मदुपज्ञ' कहा है। अर्थात् स्वयं अपने आपको ही ध्वनिसिद्धान्तका प्रतिष्ठापक बतलाया है। अतः कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनोंका निर्माता आनन्दवर्धनाचार्यको ही मानना उचित है। नवीन विद्वानोंकी शंकाएँ उचित नहीं हैं।

आनन्दवर्धनाचार्यके 'ध्वन्यालोक'पर दो टीकाओंका पता चलता है। इनमेंसे एक अभिनवगुप्ताचार्य द्वारा विरचित 'लोचन' टीका उपलब्ध होती है। दूसरी टीका 'चन्द्रिका' नामकी थी। यह टीका 'लोचन'से पहिले लिखी गयी थी और उसके निर्माता अभिनवगुप्तके कोई पूर्ववंशज ही थे। अभिनवगुप्तने 'लोचन'में जगह-जगह उसका खण्डन किया है। एक जगह खण्डन करते हुए लिखा है—

'चन्द्रिकाकारस्तु पठितमनुपठतीति न्यायेन गजनिमीलिकया व्याचचक्षे।··· इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन बहुना।' —लोचन, पृ० १४५

'चन्द्रिका' टीकाके होनेपर भी आनन्दवर्धनने जो 'लोचन' टीका लिखी है इसका कारण दिखलाते हुए लोचनकारने लिखा है—

'किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
अतोऽभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥'

इसमें प्रकारान्तरसे ग्रन्थकारने 'लोचनकी' विशेषता सूचित की है।

९. अभिनवगुप्त

'ध्वन्यालोक'की इस 'लोचन' टीकाके निर्माता अभिनवगुप्त कश्मीरके एक प्रमुख विद्वान् हैं। वे स्वयं यद्यपि कश्मीरी ब्राह्मण हैं किन्तु उनके पूर्वज सदा कश्मीरके ही रहनेवाले नहीं थे। अभिनवगुप्तके जन्मसे लगभग २०० वर्ष पूर्व उनके पूर्वज उत्तरप्रदेशके प्रसिद्ध नगर कन्नौजमें रहते थे, जो उन दिनों एक बड़ा समृद्ध एवं शक्तिशाली साम्राज्य था। उस समय कन्नौज-साम्राज्यके अधिपति यशोवर्मा थे। यह आठवीं शताब्दीकी बात है। कश्मीरमें उस समय राजा ललितादित्य राज्य कर रहे थे। किसी कारणवश कश्मीरराजने कन्नौजपर चढ़ाई कर दी और उस युद्धमें यशोवर्मा पराजित हो गये। उस समय यशोवर्माके यहाँ अत्रिगुप्त नामके एक बहुत बड़े विद्वान् थे। कश्मीरके राजा तो सदासे ही बड़े-बड़े विद्वानोंका आदर एवं संग्रह करनेवाले रहे हैं। इसलिए राजा ललितादित्य अत्रिगुप्तको बड़े आदरपूर्वक अपने यहाँ ले गये। उनके लिए मकान बनवा तथा एक बड़ी जागीर प्रदान कर अपने यहाँ रखा। इन्हीं अत्रिगुप्तके वंशमें लगभग २०० वर्ष बाद अभिनवगुप्त उत्पन्न हुए। अभिनवगुप्तने इस घटनाका वर्णन अपने ग्रन्थ 'तन्त्रालोक'में निम्नलिखित प्रकार किया है—

'निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेश-
स्तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा।
कोऽप्यत्रिगुप्त इति नाम निरुक्तगोत्रः
शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्रः ॥

तमथ ललितादित्यो राजा स्वकं पुरमानयत्।
प्रणयरभसात् काश्मीराख्यं हिमालयमूर्धगम् ॥

तस्मिन् कुबेरपुरचारुसितांशुमौलि-
साम्मुख्यदर्शनविरूढपवित्रभागे ।
वैतस्तरोधसि निवासममुष्य चक्रे
राजा द्विजस्य परिकल्पितभूमिसम्पत् ॥'

इस प्रकार मध्यदेश या अन्तर्वेदी गंगा-यमुनाके मध्यवर्ती प्रदेश कन्नौजसे अत्रिगुप्तको लाकर ललितादित्यने कश्मीरमें वितस्ता नदीके किनारे, वहाँके प्रसिद्ध शिवमन्दिरके सामनेके पवित्र भागमें मकान बनवाकर तथा 'परिकल्पितभूमिसम्पत्' जागीर प्रदान कर आदरपूर्वक रखा। इस बातका वर्णन करनेके बाद अभिनवगुप्तने 'तन्त्रालोक'में ही फिर इसी वंशमें अपने बाबा 'वराहगुप्त', अपने पिता 'चुलुखक' तथा अपनी उत्पत्तिका वर्णन निम्नलिखित प्रकार किया है—

'तस्यान्वये महति कोऽपि वराहगुप्तनामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले।
गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा यस्याकरोत् परमनुग्रहमाग्रहेण ॥
तस्यात्मजः चुलुखकेति जने प्रसिद्धचन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः।
यं सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्तं माहेश्वरी परमलंकुरुते स्म भक्तिः ॥'

इन दो श्लोकोंमें अभिनवगुप्तने अपने बाबा वराहगुप्त तथा अपने पिता नरसिंहगुप्त, जिनकी लोकमें 'चुलुखक' नामसे प्रसिद्धि थी, की उत्पत्तिका वर्णन किया है। इन्हीं नरसिंहगुप्तके पुत्र अभिनवगुप्त थे। अभिनवगुप्तने अपने १ 'बृहतीविमर्शिणी', २ 'क्रमस्तोत्र' तथा ३ 'भैरवस्तोत्र' इन

तीन ग्रन्थोंका रचनाकाल कश्मीरके प्रसिद्ध सप्तर्षिसंवत्सर और उसके साथ कलिसंवत्सरका सम्बन्ध दिखलाते हुए दिया है। उसके अनुसार 'क्रमस्तोत्र'की रचना ९९० ई०में, 'भैरवस्तोत्र'की रचना ९९२ ई०में और 'बृहतीविमर्शिणी'की रचना १०१४ ई०में की गयी है। 'बृहतीविमर्शिणी'में उसके रचनाकालका निर्देश अभिनवगुप्तने इस प्रकार किया है—

'इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरान्त्ये युगांशे
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधां ईश्वरप्रत्यभिज्ञां
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः॥'

'अन्त्ये युगांशे' अर्थात् कलियुगके तिथि अर्थात् १४, 'शशि' अर्थात् १ और 'जलधि' अर्थात् ४, 'अंकानां वामतो गतिः' इस सिद्धान्तके अनुसार ४११४ कलि-संवत्सरमें जब कि कश्मीरका प्रसिद्ध 'सप्तर्षिसंवत्सर' का 'नवतितमेऽस्मिन्' ९० संवत् अर्थात् ४०९० 'सप्तर्षिसंवत्' में मार्गशीर्षके अन्तमें इस ग्रन्थकी रचना हुई। इस कलिसंवत्सर और सप्तर्षिसंवत्सरको जब हम ईसवी सन्‌में लाते हैं तब यह मालूम होता है कि १०१४ ईसवी सन्‌में 'बृहतीविमर्शिणी' की रचना हुई। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिनवगुप्तका काल दशम शताब्दीका अन्तिम भाग तथा ग्यारहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें था।

अभिनवगुप्तका पूरा नाम 'अभिनवगुप्तपाद' है। 'काव्यप्रकाश'के टीकाकार वामनका कहना है कि यह नाम बादको उनके गुरुओंने उनकी अपने सहाध्यायी बालकोंको सताने और डरानेकी प्रवृत्तिके कारण दिया था। 'गुप्तपाद'का अर्थ है 'सर्प'। यह अपने साथियोंके लिए सर्पके समान त्रासदायक थे इसलिए गुरुओंने इनका 'अभिनव-गुप्तपाद' नाम रख दिया। इसके बाद इन्होंने अपने लिए गुरुप्रदत्त इसी नामका व्यवहार आरम्भ कर दिया। इन्होंने 'तन्त्रालोक' (१-५०) में स्वयं भी लिखा है—

'अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्या।'

अभिनवगुप्तको विद्याध्ययन बड़ा व्यसन था। इनके समयमें कश्मीरमें और कश्मीरके आस-पास जितने प्रसिद्ध विद्वान् थे उन सबके पास जाकर इन्होंने विद्याका अध्ययन किया था। जिस शास्त्रके विशेषज्ञके रूपमें जिस विद्वान्‌की उस समय प्रसिद्धि थी उस शास्त्रका अध्ययन इन्होंने उसी विशिष्ट विद्वान्‌के पास जाकर किया था। इसलिए इनके भिन्न-भिन्न शास्त्रोंके भिन्न-भिन्न गुरु थे, जिनकी सूची निम्नलिखित प्रकार है—

१. नरसिंहगुप्त (अभिनवगुप्तके पिता)	व्याकरणशास्त्रके गुरु
२. वामनाथ	द्वैताद्वैततन्त्रके गुरु
३. भूतिराजतनय	द्वैतवादी शैवसम्प्रदायके गुरु
४. लक्ष्मणगुप्त	प्रत्यभिज्ञा, क्रम तथा त्रिक् दर्शनके गुरु
५. भट्ट इन्दुराज	ध्वनिसिद्धान्तके गुरु
६. भूतिराज	ब्रह्मविद्याके गुरु
७. भट्ट तोत	नाट्यशास्त्रके गुरु

इन सात गुरुओंका तो अभिनवगुप्तने शास्त्रके सहित उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त अपने १३ अन्य गुरुओंका उल्लेख भी एक श्लोकमें इस प्रकार किया है—

'श्रीचन्द्रचन्द्रपरभक्तिविलासयोगानन्दाभिनन्दशिवभक्तिविचित्रनाथाः ।
अन्येऽपि धर्मशिववामनकोद्भटश्रीभूतीशभास्करगुरुप्रमुखा महान्तः ॥'

अभिनवगुप्तके ग्रन्थ

अभिनवगुप्तके गुरुओंके समान उनके ग्रन्थोंकी भी एक बड़ी लम्बी सूची है। उनमें 'तन्त्रालोक' जैसे विशालकाय ग्रन्थ भी हैं और 'क्रमस्तोत्र', 'भैरवस्तोत्र' जैसे १०-१२ श्लोकोंकी कृतियाँ भी। इन सबको मिलाकर उनकी रचनाओंकी संख्या ४१ तक पहुँच जाती है। रचनाकालके क्रमानुसार उनके नाम निम्नलिखित प्रकार हैं—

१ बोधपञ्चदशिका, २ परात्रिंशिकाविवृतिः, ३ मालिनीविजयवार्तिक, ४ तन्त्रालोक, ५ तन्त्रसार, ६ तन्त्रवटधानिका, ७ ध्वन्यालोकलोचन, ८ अभिनवभारती, ९ भगवद्गीतार्थसंग्रह, १० परमार्थसार, ११ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी, १२ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी (बृहती), १३ क्रमस्तोत्र, १४ देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र, १५ भैरवस्तोत्र, १६ परमार्थद्वादशिका, १७ अनुभवनिवेदन, १८ परमार्थचर्चा, १९ महोपदेशविंशतिका, २० अनुत्तरशतिका, २१ तन्त्रोच्चय, २२ घटकर्परकुलक-विवृति, २३ क्रमकेलि, २४ शिवदृष्ट्यालोचन, २५ पूर्वपंचिका, २६ पदार्थप्रवेशनिर्णयटीका, २७ प्रकीर्णकविवरण, २८ प्रकरणविवरण, २९ काव्यकौतुकविवरण, ३० कथामुखटीका, ३१ लध्वी प्रक्रिया, ३२ भेदवादविदारण, ३३ देवीस्तोत्रविवरण, ३४ तत्त्वार्थप्रकाशिका, ३५ शिवशक्त्यविनाभाव-स्तोत्र। ३६ बिम्बप्रतिबिम्बवाद, ३७ परमार्थसंग्रह, ३८ अनुत्तरशतक, ३९ प्रकरणस्तोत्र, ४० नाट्या-लोचन, ४१ अनुत्तरतत्त्वविमर्शिणी।

अन्तिम ६ कृतियाँ ऐसी हैं जिनके केवल नामोंका उल्लेख सूचीपत्रोंमें मिलता है। ग्रन्थ नहीं मिलते हैं। इसी प्रकार ऊपर दिये ३५ ग्रन्थोंमेंसे कुछ ऐसे हैं कि जिनका उल्लेख अभिनवगुप्तने स्वयं अपने उपलब्ध ग्रन्थोंमें किया है, किन्तु वे प्राप्त नहीं हैं।

इन ४१ कृतियोंमेंसे साहित्यशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले केवल तीन ग्रन्थ हैं। एक 'ध्वन्यालोकलोचन' जो 'ध्वन्यालोक'की टीकाके रूपमें लिखा गया है। दूसरा 'अभिनवभारती' जो भरत-नाट्यशास्त्रकी टीकाके रूपमें लिखा गया है और तीसरा 'घटकर्पर-विवरण' जो 'मेघदूत'के सदृश एक दूतकाव्यपर टीकारूपमें लिखा गया है। शेष सब ग्रन्थ शैवदर्शन आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं।

जीवन-झाँकी

अभिनवगुप्तके जीवनकी झाँकी कुछ बहुत सुखद नहीं है। उनका 'अभिनवगुप्तपाद' नाम, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उनकी बाल्यकालकी शरारतोंका स्मारक है। 'माता व्ययूयुजदमुं किल बाल्य एव', उनकी माता बाल्यावस्थामें ही उनको छोड़कर परलोक चली गयीं। इसकी कसक उनके हृदयमें बहुत कालतक बनी रही। 'माता परं बन्धुरिति प्रवादः, स्नेहोऽति गाढीकुरुते हि पाशान्।' किन्तु अभिनवगुप्तने माताके इस वियोगको भी अपने भावी जीवनके लिए कल्याणप्रद रूपमें ही स्वीकार किया है—'दैवो हि भाविपरिकर्मणि संस्करोति।' माताके वियोगके बाद शीघ्र ही इनको पिताके वियोगका भी सामना करना पड़ा, क्योंकि माताका देहान्त हो जानेके बाद इनके पिताको एकदम वैराग्य हो गया और वे 'तारुण्यसागरतरंगभरानपोह्य, वैराग्यपोतमधिरुह्य दृढं हठेन' विरक्त होकर संन्यासी हो गये। माता और पिताके वियोगकी इन दोनों घटनाओंने

अभिनवगुप्तकी जीवनधारा ही बदल दी। अबतक वे साहित्यके सरस विषयके अध्ययनमें प्रवृत्त थे, किन्तु अब उसको छोड़कर वे एकदम शिवभक्ति और दार्शनिक विषयोंके अध्ययनमें लग गये—

'साहित्यसान्द्ररसभोगपरो महेशभक्त्या स्वयंग्रहणदुर्मदया गृहीतः।
स तन्मयीभूय न लोकवर्तनीमजीगणत् कामपि केवलं पुनः॥
तदीयसम्भोगविवृद्धये पुरा करोति दास्यं गुरुवेश्मसु स्वयम्।'

उन्होंने विवाह भी नहीं किया। जीवनभर ब्रह्मचर्यके कठोर व्रतका पालन किया। उनके जीवनका पटाक्षेप भी उनकी इस जीवनचर्याके अनुरूप ही सुन्दर रूपमें हुआ। कश्मीरमें श्रीनगर तथा गुलमर्गके बीचमें 'मगम' नामका एक स्थान है। इस स्थानसे पाँच मीलकी दूरीपर 'भैरव'-गुफा'के नामसे एक प्रसिद्ध गुफा है। उसके पास ही 'भैरव' नामकी एक छोटी-सी नदी भी बहती है। इसके पास एक छोटा-सा गाँव है, वह भी 'भैरव गाँव' के नामसे ही प्रसिद्ध है। अभिनवगुप्तने अपने जीवनका अन्तिम भाग इसी पवित्र वातावरणमें व्यतीत किया। अन्तिम समय समीप आनेपर वे स्वयं इस गुफाके भीतर प्रविष्ट हो गये और फिर कभी वापस नहीं लौटे। उनकी इस अन्तिम दीर्घ यात्राके समय कहते हैं कि उनके बारह सौ शिष्य उनको विदाई देनेके लिए उनके साथ थे।

१०. राजशेखर

दशम शताब्दीके आरम्भमें प्रसिद्ध नाटककार तथा काव्यशास्त्रके सूक्ष्म विवेचक राजशेखर-का नाम उल्लेख योग्य है। अबतक हमने साहित्यशास्त्रके जिन आचार्योंका परिचय दिया है उनमें एक दण्डीको छोड़कर शेष सभी आचार्य कश्मीरी थे। दण्डीके बाद यह दूसरे आचार्य हैं जो कश्मीरके बाहरके हैं। राजशेखर विदर्भ-वासी हैं। किन्तु इनका कार्यक्षेत्र विदर्भमें न होकर कन्नौजमें रहा। कन्नौजके प्रतिहारवंशीय राजा महेन्द्रपाल और महिपाल इनके शिष्य थे। 'बाल-रामायण' नाटकमें अपने इन शिष्योंकी प्रशंसा करते हुए राजशेखरने लिखा है—

'आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारान्निधिः
त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत् कान्तः कवीनां गुरुः।
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः॥'

—बा० रा० १-१८

राजशेखर अपनेको 'यायावरीयः' लिखते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे 'यायावर' वंशमें उत्पन्न हुए थे। वे महाराष्ट्रके प्रसिद्ध कवि 'अकालजलद'के पौत्र थे। उनके पिताका नाम 'दुर्दुक' और माताका नाम 'शीलवती' था। 'यायावर' वंशमें इनके पितामह अकालजलद और उनके अतिरिक्त सुरानन्द, तरल आदि अनेक कविराज हो चुके हैं। इसलिए इनमें कवित्व तथा शास्त्रीय प्रतिभा वंशपरम्परागत थी। सौभाग्यसे पत्नी भी इनको बड़ी विदुषी और कवित्व-प्रतिभाशालिनी प्राप्त हुई थी। उसका नाम 'अवन्तिसुन्दरी' था। राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा'-में कई स्थानोंपर 'इति अवन्तिसुन्दरी' लिखकर उसके साहित्यविषयक मतोंका उल्लेख किया है। इससे उसके पाण्डित्यका परिचय मिलता है। यह अवन्तिसुन्दरी चौहान-वंशमें उत्पन्न हुई थी। अपने 'कर्पूरमंजरी सट्टक'में राजशेखरने अपनी पत्नीका परिचय निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'चाहुमानकुलमौलिमालिका राजशेखरकवीन्द्रगेहिनी।
भर्तुः कृतिमवन्तिसुन्दरी या प्रयोक्तुमेवमिच्छति॥
—कर्पूरमंजरी (संस्कृत) १-११

राजशेखरके ग्रन्थ

राजशेखर मुख्य रूपसे कवि और नाटककार हैं। उन्होंने चार नाटकोंकी रचना की है—१ 'बालरामायण', २ 'बालभारत', ३ 'विद्धशालभंजिका' और ४ 'कर्पूरमंजरी'। 'कर्पूरमंजरी' संस्कृत भाषामें न लिखकर प्राकृतभाषामें लिखा गया 'सट्टक' है। इनका पाँचवाँ ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' है। यह ग्रन्थ साहित्यसमीक्षासे सम्बन्ध रखता है। इसी ग्रन्थके कारण अलङ्कारशास्त्रके इतिहासमें उनको गौरवमय स्थान प्राप्त हुआ है। अबतक हम साहित्यशास्त्रके ग्रन्थोंकी जो रूप-रेखा देखते आये हैं, राजशेखरकी 'काव्यमीमांसा'की रूपरेखा उन सबसे एकदम विलक्षण है। इसमें अठारह अध्याय हैं। प्रथम अध्यायका नाम 'शास्त्रसंग्रह' है। इसमें बतलाया गया है कि 'काव्यमीमांसा'-की शिक्षा शिवने ब्रह्मा आदिको किस प्रकार प्रदान की और फिर ब्रह्मासे शिष्यपरम्परा द्वारा इसके १८ विषयोंको १८ लेखकोंने १८ ग्रन्थोंमें अलग-अलग लिखा, और उन सबको यायावर-वंशोत्पन्न राजशेखरने एक ही ग्रन्थमें २८ अध्यायोंमें किस प्रकार संक्षेपमें दे दिया है। इसलिए इस अध्यायका नाम 'शास्त्रसंग्रह' अध्याय रखा है। दूसरे अध्यायका नाम 'शास्त्रनिर्देश' है। इसमें वाङ्मयको दो भागोंमें विभक्त किया है—एक 'शास्त्र' और दूसरा 'काव्य'। 'शास्त्र'को फिर पौरुषेय तथा अपौरुषेयरूपसे दो भागोंमें विभक्त किया है। ४ वेद, ४ उपवेद और ६ वेदाङ्ग ये अपौरुषेय शास्त्रके वर्गमें आते हैं। राजशेखरने अपना मत दिया है कि ६ वेदांगोंके साथ अलङ्कारको भी सातवाँ वेदाङ्ग मानना चाहिये। पौरुषेय शास्त्रमें पुराण, आन्वीक्षिकी, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, १८ स्मृति, १४ या १८ प्रकारकी जो विधाएँ मानी जाती हैं उन सबका समावेश होता है।

तीसरे अध्यायका नाम 'काव्यपुरुषोत्पत्ति' है। इसमें सरस्वतीसे 'काव्यपुरुष' की उत्पत्तिका वर्णन किया गया है। उस काव्यपुरुषके स्वरूपका वर्णन करते हुए लिखा है—'शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रं, समः प्रसन्नो मधुर-उदार-ओजस्वी चासि। उक्तिक्षणं च ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति।' साहित्यविद्यावधूके साथ 'वत्सगुल्म' नगरमें इस काव्यपुरुषके विवाहका वर्णन भी किया है।

चतुर्थ अध्यायका नाम 'पदवाक्यविवेक' है। इसमें कवि बननेके लिए किन-किन बातोंकी आवश्यकता है इस बातका वर्णन विशेष रूपसे किया गया है। इसमें राजशेखरने कहा है कि 'यायावरीय' के मतमें केवल एक शक्ति ही काव्यका हेतु है। उसीसे प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति आती है। अन्योंके मतमें समाधि तथा अभ्यासकी भी आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार आगे अध्यायोंके नाम तथा विषय हैं—५ काव्यपादकल्प, ६ पदवाक्यविवेक, ७ पाठप्रतिष्ठा, ८ काव्यार्थयोनि, ९ अर्थव्याप्ति, १० कविचर्या तथा राजचर्या है। इसके बाद ११–१३ अध्यायोंमें यह दिखलाया है कि कवि अपने पूर्ववर्ती कवियोंके अभिप्रायको कैसे और कहाँतक समझ सकता है। १४–१६ अध्यायोंमें देश, काल, प्रकृति आदिके वर्णनमें प्रसिद्ध कविसमयका वर्णन किया गया है। १७ वें अध्यायमें देशविभाग तथा १८ वें अध्यायमें कालविभागका वर्णन है।

इस विषयसूचीके देखनेसे विदित होता है कि 'काव्यमीमांसा' अपने पूर्ववर्ती अलङ्कार-ग्रन्थोंसे एकदम विलक्षण ग्रन्थ है। वह कविके लिए उपयोगी जानकारी देनेवाला एक विश्वकोश-सा प्रतीत होता है। इसलिए राजशेखर एक स्वतन्त्र 'कविशिक्षासम्प्रदाय'के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। राजशेखरके बाद क्षेमेन्द्र, अरिसिंह, अमरचन्द्र तथा देवेश्वर आदिने भी इसी प्रकार 'कवि-शिक्षा'के विषयमें ग्रन्थोंकी रचना की है। इसलिए साहित्यशास्त्र, रससम्प्रदाय, ध्वनिसम्प्रदाय, अलङ्कारसम्प्रदाय आदि प्रसिद्ध सम्प्रदायोंसे भिन्न यह 'कविशिक्षासम्प्रदाय' अलग ही मानना चाहिये।

११. मुकुलभट्ट

उद्भटके टीकाकार प्रतिहारेन्दुराजके वर्णनके प्रसंगमें हम देख चुके हैं कि प्रतिहारेन्दुराजने मुकुलभट्टको अपना गुरु माना है। इसलिए मुकुलभट्टका समय नवम शताब्दीमें पड़ता है। यों मुकुलभट्टने अपने ग्रन्थोंके अन्तमें 'भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता' लिखकर अपनेको भट्टकल्लट-का पुत्र बतलाया है। 'राजतरङ्गिणी'में भट्टकल्लटको अवन्तिवर्माका समकालीन कहा गया है—

'अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्रीकल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्॥' ५-५६।

अवन्तिवर्माका समय, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, ८५५-८८४ ई० तक माना जाता है। इन्हीं अवन्तिवर्माके राज्यकालमें आनन्दवर्धन भी हुए। इसलिए मुकुलभट्टके पिता आनन्द-वर्धनके समकालीन रहे होंगे। मुकुलभट्टने अपने ग्रन्थमें आनन्दवर्धन, उद्भट, विज्जिका आदिका उल्लेख किया है। इनके शिष्य प्रतिहारेन्दुराजने इनका जो परिचय दिया है उसके अनुसार मुकुलभट्ट मीमांसाशास्त्रके एक प्रकाण्ड विद्वान् थे। उसके साथ ही व्याकरण, तर्क और साहित्यशास्त्रपर भी उनका पूर्ण अधिकार था। इनका एकमात्र ग्रन्थ है 'अभिधावृत्तिमातृका'। यह बहुत छोटा-सा ग्रन्थ है। इसमें केवल १५ कारिकाएँ हैं। इन कारिकाओंकी वृत्ति भी स्वयं मुकुलभट्टने ही लिखी है। यह ग्रन्थ एक तरहसे ध्वनिसिद्धान्त तथा व्यंजनावृत्तिका विरोधी है। व्यंजनावादी आचार्य अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना, तीन प्रकारकी वृत्ति मानते हैं। मीमांसक व्यंजनावृत्तिको नहीं मानते हैं। इसलिए मुकुलभट्टने इस ग्रन्थमें व्यंजना तो दूर रही, लक्षणाको भी अलग वृत्ति न मानकर अभिधाका ही एक भेद माना है। और 'इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम्' लिखकर अभिधाके दश प्रकारके व्यापारके अन्तर्गत ही लक्षणाका भी समावेश कर दिया है। इनका ग्रन्थ छोटा होनेपर भी तनिक क्लिष्ट है। मम्मटने 'काव्यप्रकाश'में जो अभिधा, लक्षणा आदि वृत्तियोंका निरूपण किया है वह इस 'अभिधावृत्तिमातृका'के आधारपर ही किया है। मम्मटने इसके आधारपर 'शब्दव्यापार-विचार' नामक एक छोटा-सा अलग ग्रन्थ भी लिखा है। उसीके आधारपर 'काव्यप्रकाश'में अभिधादि वृत्तियोंका विवेचन किया गया है। अतएव इस विषयकी 'काव्यप्रकाश'की पंक्तियोंके रहस्यको ठीक तरहसे हृदयंगम करनेके लिए मुकुलभट्टके ग्रन्थका परिशीलन उपयोगी तथा आवश्यक है।

१२. धनञ्जय

धनञ्जय दशम शताब्दीके एक महान् साहित्यिक हैं। किन्तु इनका सम्बन्ध मुख्यतः अलङ्कारशास्त्रसे न होकर नाट्यशास्त्रसे है। इनका एकमात्र ग्रन्थ 'दशरूपक' है। भरतमुनिके 'नाट्यशास्त्र'के बाद इस विषयपर यह सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भरतका 'नाट्यशास्त्र' एक विशाल विश्वकोश है। उसमें जितना वर्णन नाट्यके मुख्य विषयोंका है उससे कहीं

अधिक विस्तृत वर्णन उससे सम्बद्ध अन्य विषयोंका है। नाट्यके पारिभाषिक शब्दों और विशेष विषयोंके लिए यदि कोई मूल 'नाट्यशास्त्र'से अध्ययन करना चाहे तो उसे बड़ी कठिनाई होगी। इस-लिए धनञ्जयने 'नाट्यशास्त्र'के आधारपर नाटकके भेदोपभेद सहित दस प्रकारके रूपकोंसे सम्बन्ध रखनेवाली सारी बातोंका संग्रह करके इस सरल ग्रन्थका निर्माण कर दिया है। इससे नाटक सम्बन्धी सारी बातें बड़ी सरलतासे समझमें आ जाती हैं। इसीलिए इस ग्रन्थका विद्वानोंमें बड़ा आदर हुआ और पठन-पाठनमें सर्वत्र प्रचार होनेसे इसकी बड़ी ख्याति हुई।

'दशरूपक' ग्रन्थ कारिकारूपमें लिखा गया है। इसमें लगभग ३०० कारिकाएँ हैं। ग्रन्थ चार प्रकाशोंमें विभक्त है। प्रथम प्रकाशमें ग्रन्थके प्रयोजन आदिको दिखलाते हुए ग्रन्थकारने 'नाट्यानां किन्तु किञ्चित् गुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि', नाटकोंके लक्षण आदिको संक्षिप्त रूपमें प्रस्तुत करना इस ग्रन्थका प्रयोजन बतलाया है। उसके बाद नाटकोंकी पंचसन्धियों, अर्थोपक्षेपकों आदिके लक्षण और आख्यानवस्तुके भेद आदिका वर्णन किया गया है। द्वितीय प्रकाशमें नायक-नायिकाभेद तथा कैशिकी आदि वृत्तियोंके भेदोंका वर्णन किया गया है। तृतीय प्रकाशमें नाटकके लक्षण, प्रस्तावना, अङ्कसंविधान, कथाभागके औचित्यानुसार परिवर्तन, नाटकके प्रधान रस, पात्रोंकी संख्या, प्रवेश और निर्गमके नियम आदिका वर्णन किया गया है। चतुर्थ प्रकाश मुख्यतः रसोंसे सम्बन्ध रखता है। रसके स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव आदि सामग्रीका विवेचन, रसनिष्पत्ति सामाजिकमें होती है, रसास्वादनके प्रकार, नाट्यमें शान्तरसकी अनुपयोगिता, अन्य रसोंकी स्थिति आदि रस सम्बन्धी समस्त विषयोंका विवेचन किया गया है।

ग्रन्थके अन्तमें अपना परिचय देते हुए धनञ्जयने लिखा है—

'विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुंजमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्॥'

इससे प्रतीत होता है कि धनञ्जयके पिताका नाम 'विष्णु' था। इन्होंने मालवाके परमार-वंशके राजा 'मुंज', जिनको 'वाक्पतिराज द्वितीय' भी कहा जाता है, की राजसभामें रहनेका सौभाग्य प्राप्त किया था और वहीं रहकर इस ग्रन्थकी रचना की थी। मुंजका राज्यकाल ९७४-९९४ ई० तक माना जाता है। अतः यही धनञ्जयका काल है। रसनिष्पत्तिके विषयमें धनञ्जय व्यञ्जनावादी नहीं हैं। चतुर्थ प्रकाशमें उन्होंने इसका खण्डन किया है। धनञ्जयके 'दशरूपक'पर उनके छोटे भाई धनिकने 'अवलोक' नामकी टीका लिखी है। यह टीका बड़ी विद्वत्तापूर्ण है। धनिकके अतिरिक्त नृसिंहभट्ट, देवपाणि, कुरविराम और बहुरूप मिश्रने भी दशरूपकके ऊपर टीकाएँ लिखी हैं। इनमेंसे बहुरूप मिश्रकी टीका विशेष महत्त्वपूर्ण है। ये चारों टीकाएँ हस्तलिखित रूपमें उपलब्ध हैं। अभी प्रकाशित नहीं हुई हैं।

१३. भट्टनायक

भट्टनायक दशम शताब्दीके एक अत्यन्त प्रसिद्ध साहित्यकार हैं। दुर्भाग्यसे इस समय उनका एकमात्र ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' उपलब्ध नहीं हो रहा है, किन्तु साहित्यके क्षेत्रमें उनकी जो नयी देन दी थी उसके कारण उत्तरवर्ती साहित्यमें उनके मतकी चर्चा बहुत अधिक पायी जाती है। सामान्यतः वे ध्वनिविरोधी आचार्य हैं। उनके 'हृदयदर्पण'में 'ध्वन्यालोक'के सिद्धान्तोंका खण्डन किया गया है। इसलिए वे ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्यके बाद हुए हैं। फिर उनके ध्वनिविरोधी

सिद्धान्तोंका खण्डन 'ध्वन्यालोक'के टीकाकार अभिनवगुप्तने किया है। इसलिए वे अभिनवगुप्तके पहिले हुए हैं। इस प्रकार उनका समय आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तके बीच दशम शताब्दीमें पड़ता है। उनका ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' आज उपलब्ध नहीं हो रहा है। किन्तु इस ग्रन्थकी अनुपलब्धि आजकी नहीं, बहुत पुरानी जान पड़ती है। भट्टनायकके कुछ समय बाद ही ग्यारहवीं शताब्दीमें दूसरे ध्वनिविरोधी आचार्य महिमभट्ट हुए हैं। भट्टनायकके समान उन्होंने भी 'ध्वन्यालोक'के खण्डन-में अपना 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थके लिखते समय उन्होंने भट्टनायकके 'हृदयदर्पण'को देखना चाहा जिससे कि वे अपने ग्रन्थको और अधिक उत्कृष्ट बना सकें, किन्तु उस समय भी उनको यह ग्रन्थ देखनेको नहीं मिल सका। इस बातका उल्लेख उन्होंने 'व्यक्तिविवेक'-में बड़े सुन्दर रूपमें करते हुए लिखा है—

'सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यताऽदृष्टदर्पणा मम धीः।
स्वालङ्कारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम्॥'

श्लोकमें श्लेषालङ्कार है। कविने अपनी बुद्धिको नायिका बनाया है। वह अलङ्कार सजाने जा रही है ताकि उसे सौन्दर्यका यश प्राप्त हो सके। किन्तु जल्दबाजीमें बिना दर्पण देखे ही अपनी अलङ्कारसज्जामें लग गयी है। तो वह बिचारी बिना दर्पणके यह कैसे समझ सकेगी कि मेरे अलङ्कार-में कोई दोष तो नहीं रह गया है। इसके द्वारा ग्रन्थकार प्रकृतमें यह कहना चाहते हैं कि मैं अलङ्कारशास्त्रपर ध्वनिविरोधी ग्रन्थ तो लिखने जा रहा हूँ, किन्तु मैंने भट्टनायकके 'हृदयदर्पण' ग्रन्थका अबतक अवलोकन नहीं किया है, तब मुझे यह कैसे ज्ञान होगा कि मेरे ग्रन्थमें क्या कमी रह गयी है।

इस प्रकार चाहे उसी समय लुप्त हो जानेके कारण या फिर चाहे किसी अन्य कारणसे ११ वीं शताब्दीमें ही महिमभट्टको भट्टनायकका 'हृदयदर्पण' ग्रन्थ देखनेका अवसर नहीं मिल सका।

इस ग्रन्थको उत्तरवर्ती साहित्यमें विशेष ख्याति प्राप्त करनेके दो कारण हैं, एक ध्वनिविरोध और दूसरा रसनिष्पत्तिविषयक सिद्धान्त। ये दोनों सिद्धान्त बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और इन दोनोंके विषयमें भट्टनायकने एकदम नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया था। इसलिए उसे आलोचनाका सामना करना ही पड़ा। भट्टनायकके बाद ही अभिनवगुप्तका काल आ जाता है। और अभिनवगुप्तको ध्वन्यालोकपर 'लोचन' लिखते समय तथा 'नाट्यशास्त्र'पर 'अभिनवभारती' लिखते समय भट्टनायकके ध्वनिविरोधी तथा रसनिष्पत्तिविषयक दोनों सिद्धान्तोंकी आलोचना करनी पड़ी है। इसलिए भट्टनायकके सबसे बड़े विरोधी अभिनवगुप्त हैं। उन्होंने भट्टनायकपर बड़े कड़े प्रहार किये हैं।

भट्टनायकने ध्वनिसिद्धान्तका खण्डन किया है, किन्तु रसकी स्थिति तो मानते ही हैं। वह भी ध्वनिके अन्तर्गत आता है। इसलिए भट्टनायकके ध्वनिविरोधका उपहास करते हुए अभिनवगुप्त-ने 'लोचन'में (पृ० २० पर) लिखा है—

'वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्।'

भट्टनायक मीमांसक थे। मीमांसक वेदको ही परमप्रमाण मानते हैं। वेदको 'काव्यप्रकाश' आदिमें 'प्रभु शब्द' कहा है, अर्थात् वेद राजाज्ञाके समान है। राजाज्ञामें व्यञ्जनाका अवसर नहीं होता है। उसमें अभिधासे जो सीधा अर्थ निकलता है उसीको ग्रहण किया जाता है। इसलिए मीमांसकके यहाँ व्यञ्जनाका कोई मूल्य नहीं है। 'ध्वन्यालोक'में अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनिके उदाहरणरूपमें

'निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते' यह प्रसिद्ध श्लोक दिया गया है। इसमें दर्पणके लिए 'अन्ध' विशेषणका प्रयोग किया गया है। किन्तु नेत्रहीनत्वरूप अन्धत्व तो दर्पणमें बन नहीं सकता है। इसलिए 'अन्ध' शब्द अप्रकाशातिशयत्वको सूचित करनेवाला होनेसे इसको अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनिका उदाहरण ध्वनिकारने माना है। भट्टनायकने इसका खण्डन करके इस श्लोककी व्याख्या कुछ अन्य प्रकारसे की है। भट्टनायककी उस व्याख्याका उपहास करते हुए अभिनवगुप्तने 'लोचन' (पृ० ६३ पर) लिखा है—'जैमिनिसूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपि', इस प्रकारकी अर्थ-योजना आपके मीमांसादर्शनमें ही होती होगी काव्यमें नहीं, अर्थात् तुम काव्यकी योजनाका प्रकार नहीं समझते हो। इसी प्रकार 'ध्वन्यालोक'की प्रथम उद्योतकी १३वीं कारिकामें आये हुए 'व्यंक्तः काव्यविशेषं'में व्यंक्तः पदमें द्विवचनका खण्डन भट्टनायकने किया था। इसकी आलोचना करते हुए अभिनवगुप्तने 'तेन भट्टनायकेन द्विवचनं दूषितं तद् गजनिमीलिकयैव' उसे गजनिमीलिका या प्रमाद कहकर उसका उपहास किया है।

रसनिष्पत्तिके विषयमें भी भट्टनायकका अपना अलग सिद्धान्त है। उनके सिद्धान्तका उल्लेख 'काव्यप्रकाश'में किया गया है। उन्होंने शब्दमें अभिधाव्यापार, भावकत्वव्यापार तथा भोजकत्वव्यापार तीन प्रकारके व्यापार माने हैं। अभिधाव्यापारके द्वारा काव्यका सामान्य अर्थ उपस्थित होता है। भावकत्वव्यापार सीता-राम आदिके विशेष स्वरूपका अपहरण कर उनको साधारणीकरण करता है और भोजकत्वव्यापार सामाजिकको रसकी अनुभूति कराता है। जयरथने 'अलङ्कारसर्वस्व'की टीकामें (पृ० ९ पर) तथा हेमचन्द्रने 'काव्यानुशासनविवेक'में (पृ० ६१ पर) भट्टनायकके इस विषयके प्रतिपादक श्लोकोंको निम्नलिखित रूपमें उद्धृत किया है—

'अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः॥
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः।
तद्भोगीकृतिरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः॥'

इनका अभिप्राय 'अलङ्कारसर्वस्व'की टीकामें (पृ० ९ पर) निम्नलिखित प्रकार दिया गया है—

'भट्टनायकेन तु व्यंङ्ग्यव्यापारस्यैव प्रौढोक्त्याऽभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवतान्यग्भावित-शब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यामुक्तम्। तत्रापि अभिधाभावकत्वलक्षण व्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतयाऽङ्गीकृतः।'

१४. कुन्तक

कुन्तक साहित्यशास्त्रके एक प्रमुख आचार्य हैं। ये साहित्यके परम मान्य वक्रोक्तिसम्प्रदाय-के संस्थापक माने जाते हैं। उनका समय आनन्दवर्धनके बाद राजशेखर तथा महिमभट्टके बीचमें पड़ता है। उन्होंने 'वक्रोक्तिजीवित'में (पृ० १९६ पर) 'यस्मादत्र ध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितस्तत् किं पौनरुक्त्येन' लिखकर ध्वनिकार तथा (पृ० १५६ पर) 'भवभूतिराजशेखरवि-रचितेषु बन्धसौन्दर्यसुभगेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते' लिखकर राजशेखरका उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि वे आनन्दवर्धन और राजशेखरके भी बाद हुए हैं। इधर व्यक्तिविवेककार महिमभट्टने—

'काव्यकांचनकशाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निदर्शितो मया॥'

—व्यक्तिविवेक, पृ० ५८

इस श्लोकमें स्पष्ट रूपसे कुन्तकके नामका उल्लेख किया है इसलिए यह निश्चय है कि कुन्तक महिमभट्टके पूर्ववर्ती हैं। राजशेखरका काल उनके शिष्य कन्नौजके राजा महेन्द्रपाल तथा उनके पुत्र महिपालके कालके आधारपर दशम शताब्दीका प्रारम्भिक भाग निर्धारित किया जाता है। और महिमभट्टका काल ग्यारहवीं शताब्दीके पहिले ही मानना होगा, क्योंकि ग्यारहवीं शताब्दीमें अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यकने महिमभट्टके मतका उल्लेख किया है। इसलिए महिमभट्टके पूर्ववर्ती होनेके कारण कुन्तकका काल दशम शताब्दीका अन्तिम भाग मानना होगा। राजशेखर, कुन्तक और महिमभट्ट ये सब थोड़े-थोड़े अन्तरसे ही पूर्व-पश्चाद्वर्ती हैं, वैसे ये सब दशम शताब्दीके ही साहित्यिक महापुरुष हैं।

कुन्तकका एकमात्र ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' है। किन्तु उस एक ही ग्रन्थने कुन्तकके नामको अमर कर दिया है। महिमभट्टके अतिरिक्त गोपालभट्टने 'साहित्यसौदामिनी' नामक ग्रन्थके आरम्भमें कुन्तककी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

'वक्रानुरंजिनीमुक्तिं शुक इव मुखे वहन्।
कुन्तकः क्रीडति सुखं कीर्तिस्फटिकपंजरे॥'

'ध्वन्यालोक' आदि ग्रन्थोंके समान 'वक्रोक्तिजीवित'में भी कारिका, वृत्ति और उदाहरण, तीन भाग हैं। कारिका और वृत्ति दोनोंके लेखक कुन्तक ही हैं। उदाहरण प्रसिद्ध काव्यग्रन्थोंसे लिये गये हैं। ग्रन्थ चार उन्मेषोंमें विभक्त किया गया है। प्रथम उन्मेषमें काव्यके प्रयोजन, लक्षण तथा प्रतिपाद्य विषय षड्विधवक्रताका सामान्य उल्लेख किया गया है। द्वितीय उन्मेषमें षड्विध-वक्रतामेंसे १ वर्णविन्यासवक्रता, २ पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा ३ प्रत्ययवक्रता इन तीन प्रकारकी वक्रताओंका प्रतिपादन किया गया है। तृतीय उन्मेषमें वाक्यवक्रताका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। उसीके भीतर अलङ्कारोंका अन्तर्भाव हो जाता है। चतुर्थ उन्मेषमें वक्रोक्तिके अन्तिम दो भेदों अर्थात् प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धवक्रताका निरूपण किया गया है।

कुन्तक अभिधावादी आचार्य हैं। वैसे वे लक्ष्य-व्यङ्ग्य अर्थ भी मानते हैं, किन्तु उनका अन्तर्भाव वाच्यमें ही कर लेते हैं—'यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वात् उपचारात् तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यंग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचारात् वाच्यत्वमेव' (का० १–८ का०) और उस वाचकत्वका अर्थ 'कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्' किया है।

१५. महिमभट्ट

कुन्तकके बाद महिमभट्टका स्थान आता है। इनका उल्लेख ग्यारहवीं शताब्दीमें होनेवाले अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यकने किया है और इन्होंने वक्रोक्तिजीवितककार कुन्तकका उल्लेख किया है। इसलिए कुन्तक तथा रुय्यकके बीचमें महिमभट्टका समय दशम शताब्दीका अन्तिम भाग पड़ता है। महिमभट्ट भी ध्वनिविरोधी आचार्य हैं। आनन्दवर्धनाचार्य और अभिनवगुप्तने ध्वनिको काव्यका आत्मा सिद्ध करनेका जैसा प्रबल प्रयत्न किया है उतना ही अधिक उस सिद्धान्तका उग्र विरोध भी साहित्यशास्त्रमें हुआ है। अभिनवगुप्तके बाद मुकुलभट्ट, धनञ्जय, भट्टनायक, कुन्तक और महिमभट्ट आदि सभी आचार्य ध्वनिके विरोधी हैं। किसीने उग्र विरोध किया है, किसीने हलका। किन्तु इनमेंसे कोई भी ध्वनिको काव्यका आत्मा माननेको तैयार नहीं है। इन विरोधियोंको उनकी शास्त्रीय मान्यताके आधारपर तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। मुकुलभट्ट तथा भट्टनायक ये दोनों मीमांसक हैं। मीमांसा अभिधाप्रधान शास्त्र है, उसमें व्यञ्जना और ध्वनिका कोई स्थान नहीं हो

सकता है इसलिए इन दोनोंने अपनी शास्त्रीय मान्यताके अनुसार व्यञ्जना और ध्वनिसिद्धान्तका खण्डन किया है। कुन्तक साहित्यिक आचार्य हैं। उन्होंने शुद्ध साहित्यिक दृष्टिसे ध्वनिको काव्यका आत्मा माननेसे निषेध कर दिया और उसके स्थानपर वक्रोक्तिको काव्यका जीवनाधायक तत्त्व माना है। महिमभट्ट नैयायिक हैं इसलिए उन्होंने न्यायकी पद्धतिसे ध्वनिको सामान्य रूपसे और उसके उदाहरणोंको विशेष रूपसे अनुमानके अन्तर्गत करनेका यत्न किया है।

महिमभट्टका एकमात्र ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' है। इसके निर्माणका उद्देश्य ध्वनिको अनुमानके भीतर अन्तर्भुक्त करना ही है। इस बातका प्रतिपादन उन्होंने अपने ग्रन्थके आरम्भमें निम्नलिखित श्लोकमें किया है—

'अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥'

महिमभट्टका केवल एक यही ग्रन्थ पाया जाता है किन्तु इसके द्वारा उनको पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई है। वे अपने मुख्य नामकी अपेक्षा 'व्यक्तिविवेककार'के नामसे ही अधिक प्रसिद्ध हैं। ये भी कश्मीरनिवासी थे। इनके पिताका नाम 'श्री धैर्य' और गुरुका नाम 'श्यामल' था। इन्होंने 'व्यक्तिविवेक'के अतिरिक्त 'तत्त्वोक्तिकोश' नामक किसी और ग्रन्थकी भी रचना की थी, किन्तु वह उपलब्ध नहीं है। उसका उल्लेख इन्होंने स्वयं 'इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितं शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशशास्त्रे इति नेह प्रपंचितम्' (व्यक्तिविवेक, पृ० १८, अनन्तशयन संस्करण) इस रूपमें 'व्यक्तिविवेक'में किया है। 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थमें तीन 'विमर्श' हैं। प्रथम विमर्शमें ध्वनिका प्रबल रूपसे खण्डन करके ध्वनिके सारे उदाहरणोंका अनुमानके भीतर अन्तर्भाव दिखलाया है। द्वितीय विमर्शमें काव्यदोषोंका निरूपण किया है। उसमें अनौचित्यको काव्यका मुख्य दोष माना है। इसके शब्द तथा अर्थविषयक या अन्तरंग एवं बहिरंग दो भेद किये हैं। अन्तरंग अनौचित्यके भीतर रसदोषका समावेश किया है और बहिरंग अनौचित्यके १. विधेयाविमर्श, २. प्रक्रमभेद, ३. क्रमभेद, ४. पौनरुक्त्य और ५. वाच्यावचन ये पाँच भेद किये हैं। तृतीय विमर्शमें ध्वनिके ४० उदाहरणोंका अनुमानमें अन्तर्भाव दिखलाया है।

१६. क्षेमेन्द्र

जिस प्रकार आनन्दवर्धन ध्वनिसम्प्रदायके, वामन रीतिसम्प्रदायके और कुन्तक वक्रोक्तिसम्प्रदायके संस्थापकके रूपमें साहित्यशास्त्रके इतिहासमें प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार क्षेमेन्द्र अपने औचित्यसम्प्रदायके संस्थापकके रूपमें प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने 'कविकण्ठाभरण' ग्रन्थमें लिखा है—

'तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः।'

इसी प्रकार 'औचित्यविचारचर्चा'में भी—'राज्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः' लिखकर 'अनन्तराज'के नामका उल्लेख किया है। अनन्तराज नामके राजाने कश्मीरमें १०२८ से १०६३ तक राज्य किया था। इसलिए यही काल क्षेमेन्द्रका सिद्ध होता है। क्षेमेन्द्रके पिताका नाम 'प्रकाशेन्द्र' और बाबाका नाम 'सिन्धु' था। अपने 'बृहत्कथामंजरी' ग्रन्थमें इन्होंने 'श्रुत्वाभिनयगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः' लिखकर अभिनवगुप्तको अपना साहित्यशास्त्रका गुरु माना है। कश्मीरमें अनन्तराजके बाद उनके पुत्र 'कलश' राजसिंहासनपर आसीन हुए। अनन्तराजने अपने जीवनकालमें ही कलशको राज्यभार सौंप दिया था। अनन्तराजका शरीरान्त यद्यपि १०८१ ई० में हुआ था किन्तु उन्होंने १०६३ में ही राज्यभार कलशको सौंप दिया था।

क्षेमेन्द्रने अपने 'समयमातृका' ग्रन्थकी रचना १०५० में अनन्तराजके कालमें की थी। किन्तु 'दशावतार' ग्रन्थकी रचना उसके २६ वर्ष बाद १०६६ में कलशके राज्यकालमें की थी।

इनके ग्रन्थोंकी सूची बहुत लम्बी है। लगभग ४० ग्रन्थोंकी रचना इन्होंने की है। पर वे सब उपलब्ध नहीं हैं। १ भारतमंजरी, २ बृहत्कथामंजरी, ३ औचित्यविचारचर्चा, ४ कविकण्ठाभरण, ५ सुवृत्ततिलक, ६ समयमातृका आदि कुछ ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इन ग्रन्थोंमें उन्होंने अपने अनेक ग्रन्थोंके नामोंका उल्लेख किया है। १ अवसरसार, २ अमृततरंगकाव्य, ३ कनकजानकी, ४ कवि-कर्णिका, ५ चतुर्वर्गसंग्रह, ६ चित्रभारतनाटक, ७ देशोपदेश, ८ नीतिलता, ९ पद्यकादम्बरी, १० बौद्धावदानकल्पलता, ११ मुक्तावलीकाव्य, १३ मुनिमतमीमांसा, १४ ललितरत्नमाला, १५ लावण्यवतीकाव्य, १६ वात्स्यायनसूत्रसार, १७ विनयवती, १८ शशिवंश इन अठारह ग्रन्थोंके नाम मिलते हैं।

क्षेमेन्द्रके उपलब्ध ग्रन्थोंमेंसे 'औचित्यविचारचर्चा'का ही अलङ्कारशास्त्रके साथ विशेषरूपसे सम्बन्ध माना जा सकता है। इसीके कारण उनकी गणना आलङ्कारिक आचार्योंमें की जाती है। इसमें उन्होंने औचित्यको रसका भी प्राण कहा है—

'औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥'

दूसरी जगह अनौचित्यको रसभङ्गका कारण और औचित्यको रसका परम रहस्य कहा है—

'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥'

औचित्य क्या है इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥'

'सुवृत्ततिलक' ग्रन्थमें छन्दोंका वर्णन है। उसमें ग्रन्थकारने यह भी दिखलाया है कि किस कविका किस छन्दपर विशेष अधिकार है; जैसे, अभिनन्द अनुष्टुपमें, पाणिनि उपजातिमें, भारवि वंशस्थमें, कालिदास मन्दाक्रान्तामें, रत्नाकर वसन्ततिलकामें, भवभूति शिखरिणीमें और राजशेखर शार्दूलविक्रीडितमें विशेष चमत्कार उत्पन्न करते दीखते हैं। 'कविकण्ठाभरण'में कवित्वकी प्राप्ति अथवा उसमें उत्कर्षप्राप्तिके उपायोंका वर्णन किया है। इसमें पाँच सन्धियाँ हैं और उनके प्रतिपाद्य विषयका संग्रह निम्नलिखित एक श्लोकमें दिया गया है—

१ अत्राकवेः कवित्वाप्तिः, २ शिक्षाप्राप्तगिरः कवेः।
३ चमत्कृतिश्च शिक्षाप्तौ, ४ गुणदोषोद्गतिस्ततः॥
५ पश्चात् परिचयप्राप्तिरित्येते पंचसन्धयः॥

क्षेमेन्द्रने अपनेको अभिनवगुप्तका शिष्य कहा है। इन्हीं अभिनवगुप्तके एक शिष्य और हैं क्षेमराज। कुछ विद्वान् इन दोनोंको भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। क्षेमराजने शैवदर्शनके ऊपर अनेक रचनाएँ की हैं। उन्होंने अभिनवगुप्तके 'परमार्थसार'पर व्यवस्था भी लिखी है। भेदवादियोंका कहना है कि क्षेमराज शैव थे और क्षेमेन्द्र वैष्णव। क्षेमेन्द्रने विष्णुके दश अवतारोंके विषयमें अपना 'दशावतारचरित' लिखा है। अभेदवादियोंका कहना है कि क्षेमेन्द्र पहिले शैव थे, बादको

सोमाचार्य द्वारा वैष्णव सम्प्रदायमें दीक्षित किये गये। क्षेमेन्द्र अपने ग्रन्थोंमें अपनेको प्रायः व्यासदास नामसे लिखते हैं, जैसे 'दशावतारचरित'के निम्नांकित श्लोकमें पाया जाता है—

'इत्येष विष्णोरवतारमूर्तेः काव्यामृतास्वादविशेषभक्त्या।
श्रीव्यासदासान्यतमाभिधेन क्षेमेन्द्रनाम्ना विहितः प्रबन्धः॥' १०-४१

१७. भोजराज

धारानरेश राजा भोज भारतीय इतिहासमें विद्वानोंके आश्रयदाता एवं उदार दानशील राजाके रूपमें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनका शासनकाल ग्यारहवीं शताब्दीमें माना जाता है। इनकी विद्वत्सेवा एवं दानशीलताकी सारे देशमें ख्याति थी। यहाँतक कि कश्मीर राज्यके इतिहास 'राजतरङ्गिणी'में भी इनके इन गुणोंकी प्रशंसा की गयी है। कश्मीरके राजा अनन्तराजकी चर्चा हम अभी कर चुके हैं, भोजराज उन्हीं अनन्तराजके समकालीन हैं। 'राजतरङ्गिणी'की सप्तम तरङ्गमें कश्मीरनरेश अनन्तराज तथा मालवाधीश भोजराज दोनोंकी समानरूपसे विद्वत्प्रियताका उल्लेख ग्रन्थकारने निम्नलिखित प्रकारसे किया है—

'स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ।
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यं द्वावास्तां कविबान्धवौ॥' ७-२५९

इसमें 'स च' इस सर्वनाम 'स' पदसे प्रकृत वर्ण्यमान कश्मीराधिपति अनन्तराजका ग्रहण होता है। अनन्तराजका समय ग्यारहवीं शताब्दीमें था, इसी प्रकार भोजराजका समय भी ग्यारहवीं शताब्दीमें निश्चित् माना जाता है। भोजराजके समयके निर्णयके लिए इस प्रमाणके अतिरिक्त उनका स्वयं एक शिला-दानपत्र संवत् १०७८ सन् १०२१ का पाया जाता है। इसमें भोजराजने गोविन्दभट्टके पुत्र धनपतिभट्ट नामक किसी ब्राह्मणको ग्रामदान करनेका उल्लेख किया है। उसके अन्तमें उस दानपत्रकी तिथि आदि इस प्रकार दी है—

'इति। संवत् १०७८ चैत्र सुदी १४ स्वयमाज्ञा मंगलं महाश्रीः। स्वहस्तोऽयं भुजदेवस्य।'

इस दानपत्रमें अपने उत्तराधिकारी अन्य सब लोगोंसे प्रार्थना की है कि जो दान दे दिया गया है उसको कोई वापस लेनेका यत्न न करे। उनमेंसे दो श्लोक निम्नलिखित प्रकार हैं—

'सर्वानेतान् भाविनः पार्थिवेन्द्रान् भूयो भूयो याचते रामभद्रः।
सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नराणां काले काले पालनीयो भवद्भिः॥
इति कमलदलाम्बुबिन्दुलोलां श्रियमनुचिन्त्य मनुष्यजीवितं च।
सकलमिदमुदाहृतं च बुद्ध्वा न हि पुरुषैः परकीर्तयो विलोपनीयाः॥'

राजा भोज केवल विद्वानोंका आदर करनेवाले ही नहीं थे अपितु स्वयं भी एक महान् विद्वान् और अच्छे साहित्यिक थे। अलङ्कारशास्त्रके विषयमें उनके लिखे हुए दो ग्रन्थ मिलते हैं—१ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और २ 'शृङ्गारप्रकाश'। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पाँच परिच्छेदोंमें विभक्त है। प्रथम परिच्छेदमें दोष और गुणका विवेचन है। इसमें इन्होंने पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ तीनोंके १६-१६ दोष माने हैं और शब्द तथा अर्थ दोनों के २४-२४ गुण माने हैं। द्वितीय परिच्छेदमें २४ शब्दालङ्कारों तथा चतुर्थ परिच्छेदमें २४ उभयालङ्कारोंका वर्णन किया है। पंचम परिच्छेदमें रस, भाव, पंचसन्धि तथा चारों वृत्तियोंका वर्णन किया है। इसके ऊपर १४वीं

शताब्दीमें तिरहुतके राजा रामसिंहदेवके आग्रहसे महामहोपाध्याय रत्नेश्वरने 'रत्नदर्पण' नामक टीका लिखी थी। इस टीकाके सहित यह ग्रन्थ काव्य काव्यमाला सीरीजमें निर्णय सागर प्रेस बम्बईसे प्रकाशित हो चुका है।

भोजराजका दूसरा ग्रन्थ 'शृङ्गारप्रकाश' है। यह बड़ा विशालकाय ग्रन्थ है। इसमें ३६ 'प्रकाश' हैं। ग्रन्थ हस्तलिखित रूपमें पूरा उपलब्ध है। परन्तु अभी पूरा प्रकाशित नहीं हुआ है। इस ग्रन्थपर प्रथम आठ प्रकाशोंमें शब्द तथा अर्थविषयक अनेक वैयाकरणोंके मत दिये गये हैं। नवम-दशम प्रकाशोंमें गुण तथा दोषोंका विवेचन है। ग्यारहवें-बारहवें प्रकाशमें महाकाव्य तथा नाटकका वर्णन है। शेष २४ प्रकाशोंमें उदाहरण सहित रसोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसमें, जैसा कि ग्रन्थनामसे ही प्रतीत होता है, शृङ्गाररसको ही प्रधान रस अथवा एकमात्र रस माना है—

'शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः॥'

किन्तु भोजराजका यह शृङ्गार सामान्य शृङ्गार नहीं है, उसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थोंका समावेश हो जाता है। 'मन्दारमरन्दचम्पू' (बिन्दु ७, पृ० १०७) में लिखा है "अथ भोजनृपादीनां मतमत्र प्रकाश्यते। 'रसो वै सः' इति श्रुत्या रस एकः प्रकीर्तितः। अतो रसः स्याच्छृङ्गार एक एवेतरे तु न॥ धर्मार्थकाममोक्षाख्यभेदेन स चतुर्विधः॥" 'शृङ्गारप्रकाश' अलङ्कार-शास्त्रके ग्रन्थोंमें कदाचित् सबसे अधिक विशालकाय ग्रन्थ है। भोजराजकी इस उत्तम रचनाने साहित्यिक जगत्‌में उनका नाम चिरकालके लिए अमर कर दिया है।

१८. काव्यप्रकाशकार मम्मट

मम्मटका काल तथा वंश

भोजराजके बाद मम्मटाचार्यका काल आता है। अलङ्कारसाहित्यके निर्माताओंकी अब-तककी धारामें दण्डी, राजशेखर और भोजराजके अतिरिक्त और सभी आचार्य कश्मीर-निवासी थे। इसी प्रकार ये मम्मटाचार्य भी कश्मीर-निवासी हैं यह बात उनके नामसे ही प्रतीत होती है। परन्तु इनके जीवनवृत्तादिका और कुछ अधिक परिचय नहीं मिलता है। कश्मीरी पण्डितोंकी परम्परागत प्रसिद्धिके अनुसार मम्मट 'नैषधीयचरित'के रचयिता महाकवि श्रीहर्षके मामा माने जाते हैं। किन्तु यह प्रवादमात्र जान पड़ता है, क्योंकि महाकवि श्रीहर्ष स्वयं कश्मीरी नहीं थे। 'काव्यप्रकाश'की 'सुधासागर' टीकाके निर्माता भीमसेनने मम्मटके परिचयके रूपमें कुछ पद्य लिखे हैं, उनसे यह प्रतीत होता है कि मम्मट कश्मीरदेशीय जैयटके पुत्र थे। उन्होंने वाराणसीमें जाकर विद्याध्ययन किया था। पतञ्जलि-प्रणीत 'महाभाष्य'के टीकाकार कैयट तथा चतुर्वेदभाष्यकार उव्वट दोनों मम्मटके छोटे भाई थे। इस भावका वर्णन भीमसेनने अपने श्लोकोंमें निम्नलिखित प्रकार किया है—

'शब्दब्रह्म सनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित् केनचित्
तद्देवी हि सरस्वती स्वयमभूत् काश्मीरदेशे पुमान्।

श्रीमज्जैयटगेहिनीसुजठराज्जन्माप्य युग्मानुजः
श्रीमन्मम्मटसंज्ञयाश्रिततनुं सारस्वतीं सूचयन् ॥
मर्यादां किल पालयन् शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्
शास्त्रं सर्वजनोपकाररसिकः साहित्यसूत्रं व्यधात् ।
तद्वृत्तिं च विरच्य गूढमकरोत् काव्यप्रकाशं स्फुटं
वैदग्ध्यैकनिदानमर्थिषु चतुर्वर्गप्रदं सेवनात् ॥
कस्तस्य स्तुतिमाचरेत् कविरहो को वा गुणान् वेदितुं
शक्तः स्यात् किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिणः ।
श्रीमान् कैयट औवटौ ह्यवरजौ यच्छात्रतामागतौ
भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गतः ॥

इस विवरणके अनुसार मम्मटका जन्म 'जैयटगेहिनी'के सुजठरसे हुआ था । अर्थात् वे जैयटके पुत्र थे और 'श्रीमान् कैयट-औवटौ ह्यवरजौ' कैयट और औव्वट उनके छोटे भाई थे, जिन्होंने 'भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय' महाभाष्य तथा वेदोंपर व्याख्या लिखी थी । इस प्रकार मम्मटरूपमें स्वयं सरस्वती देवीने कश्मीरदेशमें पुरुषके रूपमें अवतार लिया था और साहित्यशास्त्रपर सूत्रोंका निर्माण, उसपर स्वयं काव्यप्रकाश-वृत्तिकी रचना की थी ।

यह विवरण सुधासागरकार भीमसेनने मम्मटाचार्यके विषयमें अपने ग्रन्थमें प्रस्तुत किया है । किन्तु इसमें जो कैयट तथा औव्वट या उव्वटको मम्मटका अनुज कहा है वह ठीक प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि उव्वटकृत वाजसनेय संहिता भाष्यमें उनका परिचय इस प्रकार मिलता है—

'आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना ।
मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति ॥'

उव्वट द्वारा स्वयं प्रदत्त इस विवरणके अनुसार उव्वटके पिताका नाम 'वज्रट' है, 'जैयट' नहीं, और उनका वेदभाष्य भोजराजके शासनकालमें लिखा गया है । किन्तु मम्मटका समय भोजराजके समकाल नहीं अपितु उनके बाद पड़ता है क्योंकि मम्मटने स्वयं दशम उल्लासमें उदात्त अलङ्कारके उदाहरणरूपमें जो पद्य दिया है उसमें अन्तमें 'भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम्', वह सब भोजराजके दानका फल है, इस रूपमें भोजराजके नामका उल्लेख किया है । भोजराजका शासनकाल, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, ९९६ ई० से १०५१ ई० पर्यन्त माना जाता है । मम्मट उनके उत्तरवर्ती जान पड़ते हैं । किन्तु यदि कथञ्चित् मम्मटको भोजराजका समकालीन भी मान लिया जाय तो भी उव्वटको उनका अनुज कहना कठिन है । हाँ कैयटको उनका अनुज माना जा सकता है, क्योंकि कैयटने भी 'कैयटो जैयटात्मजः'के अनुसार अपनेको जैयटका पुत्र कहा है । किन्तु उव्वट तो वज्रटके पुत्र हैं । इसलिए उव्वटको मम्मटका अनुज बतलानेवाला भीमसेनका लेख सन्दिग्ध जान पड़ता है ।

इसके अतिरिक्त 'शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्' लिखकर मम्मटको विद्याध्ययनके लिए कश्मीरसे 'शिवपुरी' वाराणसी भेजा है । यह बात भी कुछ युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती । कश्मीर तो स्वयं विद्याका केन्द्र था । साहित्यशास्त्रके अबतक जितने आचार्य हुए थे उनमेंसे दण्डी, राजशेखर और भोजराजको छोड़कर सभी आचार्य कश्मीरमें ही उत्पन्न हुए थे । जो तीन आचार्य कश्मीरसे बाहरके थे, काशीके साथ उनका भी कोई सम्बन्ध नहीं था । साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे

काशीका कोई विशेष महत्त्व उस समय नहीं था। इसलिए मम्मटके लिए कश्मीरको छोड़कर काशी आनेका कोई विशेष प्रयोजन या आकर्षण नहीं प्रतीत होता है। इन सब कारणोंसे भीमसेन-का मम्मटविषयक उपर्युक्त परिचय अप्रामाणिक मालूम होता है। भीमसेनका यह लेख मम्मटके लगभग ६०० वर्ष बाद सन् १७२३ में लिखा है। इसलिए उसमें अधिकतर कल्पनासे काम लिया गया है। उव्वटने अपने ऋक्-प्रातिशाख्यमें अपनेको वज्रटका पुत्र लिखा है और वाजसनेय संहिताभाष्यमें 'भोजे राज्यं प्रशासति' लिखा है; इन दोनों बातोंसे उव्वटका सम्बन्ध मम्मटसे नहीं जुड़ता है।

युग्मकर्तृत्व

'काव्यप्रकाश'के कर्ताके रूपमें साधारणतः मम्मट ही प्रसिद्ध हैं। किन्तु वस्तुतः वे अकेले ही इस ग्रन्थके निर्माता नहीं हैं। इसमें मम्मटके अतिरिक्त कश्मीरके दूसरे विद्वान् 'अल्लट'का भी सहयोग है। वह सहयोग कितने अंशमें है इस विषयमें कुछ मतभेद पाया जाता है, किन्तु 'काव्य-प्रकाश' केवल अकेले मम्मटकी रचना नहीं है, उसकी रचनामें अल्लटका भी हाथ है इस विषयमें मतभेद नहीं है। अधिकांश टीकाकार इस बातमें एकमत हैं। 'काव्यप्रकाश'के अन्तमें एक श्लोक निम्नलिखित प्रकार दिया गया है—

'इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता संघटनैव हेतुः॥'

'काव्यप्रकाश'के सबसे पूर्ववर्ती टीकाकार माणिक्यचन्द्रने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

'अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समापित इति द्विखण्डोऽपि संघटना-वशादखण्डायते।'

इसी प्रकार 'काव्यप्रकाश'की 'संकेत' टीकाके निर्माता रुचकने इसकी व्याख्यामें लिखा है—

'एतेन महामतीनां प्रसरणहेतुरेष ग्रन्थो ग्रन्थकृतानेन कथमप्यसमाप्तत्वादपरेण च पूरितावशेषत्वात् द्विखण्डोऽपि।'

इन दोनों टीकाकारोंने इस बातकी ओर संकेत तो किया है कि ग्रन्थका आरम्भ अन्य विद्वान्के द्वारा अर्थात् मम्मटाचार्यके द्वारा किया गया, किन्तु किसी कारणसे वे इसको समाप्त नहीं कर सके, तब इसकी समाप्ति दूसरे विद्वान्के द्वारा की गयी। किन्तु दो निर्माताओंके द्वारा बनाये जानेपर भी यह ग्रन्थ अखण्ड-सा प्रतीत होता है। परन्तु इन टीकाकारोंने न तो स्पष्ट रूपसे इस बातका उल्लेख किया कि पूर्वग्रन्थकार अर्थात् मम्मटने ग्रन्थका कितना भाग लिखा और दूसरे ग्रन्थकारने कितना भाग लिखा और न इस बातका ही संकेत किया कि वह दूसरा विद्वान्, जिसने अपूर्ण 'काव्यप्रकाश'को पूर्णता प्रदान की, कौन था। इन दोनों बातोंका उल्लेख स्पष्टरूपसे सबसे पहिले 'काव्यप्रकाशनिदर्शना' नामक टीकाका निर्माता राजानक आनन्दने (१६८५) निम्नलिखित प्रकार किया है—

'कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
ग्रन्थः सम्पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा॥'

इस श्लोकसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मम्मटाचार्यने परिकर अलङ्कारपर्यन्त 'काव्यप्रकाश'की रचना की, उसके बाद कदाचित् उनका देहावसान हो गया या किसी अन्य कारणसे वे ग्रन्थको समाप्त नहीं कर सके तो शेष ग्रन्थकी रचना 'अल्लट' या 'अलक' नामके विद्वान्ने करके इस ग्रन्थको पूरा किया। इस प्रकारकी घटना 'कादम्बरी' ग्रन्थके विषयमें भी हुई है। 'कादम्बरी'के निर्माता बाणभट्ट कादम्बरीके केवल पूर्वार्द्धभागकी ही रचना कर सके थे। उनके बाद उसके उत्तरार्द्ध-भागकी रचना उनके पुत्रने की थी। इसी प्रकार मम्मटाचार्यके इस अपूर्ण 'काव्यप्रकाश'की समाप्ति अल्लट या अलकसूरिने की।

यह एक मत हुआ। इसके अनुसार दशम उल्लासके परिकर अलङ्कारतकके अधिकांश ग्रन्थकी रचना मम्मटने की है। उनके बाद जो थोड़ा-सा भाग रह गया था उसकी पूर्ति अलकसूरि या अल्लटसूरिने की थी। पर इसके अतिरिक्त एक दूसरा मत भी पाया जाता है। उसके अनुसार 'काव्यप्रकाश'का एक भाग मम्मटाचार्यका और दूसरा भाग अल्लटसूरिका लिखा हुआ है यह बात नहीं है अपितु साराका सारा ग्रन्थ दोनों विद्वानोंकी सम्मिलित रचना है। जैसे 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रन्थकी रचना रामचन्द्र गुणचन्द्र दोनोंने मिलकर की है। सम्पूर्ण 'नाट्यदर्पण' गुणचन्द्र रामचन्द्रकी सम्मिलित कृति है। इसी प्रकार सम्पूर्ण काव्यप्रकाश मम्मट और अल्लटकी सम्मिलित कृति है। इस दूसरे मतका उल्लेख भी उसी 'काव्यप्रकाशनिदर्शना' टीकामें रुचकने अन्योंके मतको दिखलाते हुए निम्नलिखित प्रकार किया है—

'अन्येनाप्युक्तम्—
काव्यप्रकाशदशकेऽपि निबन्धकृद्भ्यां
द्वाभ्यां कृतेऽपि कृतिनां रसवत्वलाभः।'

श्री भण्डारकरने संवत् १२१५ (सन् ११५८) में लिखी गयी 'काव्यप्रकाश'की एक पाण्डुलिपि-के अन्तमें पुष्पिकामें 'इति राजानकमम्मटालकयोः' इस प्रकारका लेख पाया है। इससे भी सम्पूर्ण 'काव्यप्रकाश' मम्मट तथा अल्लट दोनोंकी सम्मिलित रचना है इस मतकी पुष्टि होती है। 'अमरुक-शतक'की टीकामें उसके निर्माता अर्जुनवर्मदेवने भी इसी मतकी पुष्टि की है। उन्होंने 'भवतु विदितं' इत्यादि श्लोककी व्याख्यामें पृष्ठ २९ पर लिखा है—'यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्यां प्रसादे वर्तस्व इत्यादि'। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे न केवल परिकरा-लङ्कारके बादवाले भागको ही अलक-विरचित मानते हैं अपितु सप्तम उल्लासको भी अर्थात् सारे ग्रन्थको ही दोनोंकी सम्मिलित कृति मानते हैं। 'अमरुकशतक'के टीकाकार अर्जुनवर्मदेवने एक जगह और इसी बातका उल्लेख किया है। 'लीलातामरसाहत' आदि ('काव्यप्रकाश' उदाहरणसंख्या ४३८) 'अमरुकशतक'का बड़ा सुन्दर श्लोक है। इसमें 'वायु' पद आया है। 'काव्यप्रकाश'ने उस 'वायु' पदको जुगुप्साव्यंजक अश्लीलताका उदाहरण मानकर इस श्लोकको अश्लीलताके उदाहरण-रूपमें प्रस्तुत किया है। इसपर टिप्पणी करते हुए अर्जुनदेवने लिखा है—

'अत्र केचित् वायुपदेन जुगुप्साश्लीलमिति दोषमाचक्षते।...तदा वाग्देवतांश इति व्यवसितव्य एवासौ। किन्तु ह्लादैकमयीवरलब्धप्रसादौ काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टी।'

इसमें भी 'काव्यप्रकाशकारौ' यह द्विवचनका उल्लेख यह बतलाता है कि अर्जुनवर्मदेवकी दृष्टिमें 'काव्यप्रकाश'का सम्पूर्ण भाग मम्मट तथा अल्लट दोनों विद्वानोंकी सम्मिलित रचना है।

'अमरुकशतक'के टीकाकार अर्जुनवर्मदेव मालवाधीश और धारानगरीके राजा भोजराज (जिनका उल्लेख पहिले किया जा चुका है, के वंशधर हैं। वे भोजके बाद धाराके राजसिंहासनको अलंकृत करनेवाले १३वें राजा थे। १२११ से लेकर १२१६ ई० तकके उनके शिलालेख पाये जाते हैं, अर्थात् वे 'काव्यप्रकाशकार'के लगभग १०० वर्ष बाद हुए हैं।

'काव्यप्रकाश'की 'संकेत'टीकाके प्रथम तथा दशम उल्लासके अन्तकी पुष्पिकाओंमें एक और संकेत मिलता है। इसके प्रथम उल्लासके अन्तकी और दशम उल्लासके अन्तकी पुष्पिकाएँ निम्नलिखित प्रकार हैं—

'इति श्रीमद्राजानकमल्लमम्मटरुचकविरचिते निजग्रन्थकाव्यप्रकाशसंकेते प्रथम उल्लासः।'

इसमें 'काव्यप्रकाश'के निर्मातारूपमें राजानक मल्ल (अलकके स्थानपर) मम्मट और रुचक तीन नाम दिये हैं। इसी प्रकार दशम उल्लासकी पुष्पिकामें फिर 'राजानकमम्मट-अलक-रुचकानाम्' इन्हीं तीन नामोंका उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि 'संकेत' टीकाके निर्माता रुचक 'काव्यप्रकाश'को दोकी नहीं, तीनकी कृति मानते हैं। पर यह बात नहीं है। रुचकने इस स्थलपर 'काव्यप्रकाश'के मूल ग्रन्थके साथ अपनी 'संकेत' टीकाको भी सम्मिलित करके पुष्पिकाएँ दी हैं। इसलिए 'काव्यप्रकाश'के मम्मट तथा अलक निर्माताओंके साथ टीकाकारके रूपमें अपने नामका भी समावेश कर दिया है। यहाँ ग्रन्थकार जिस ग्रन्थकी पुष्पिका लिख रहे हैं वह ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ नहीं अपितु 'काव्यप्रकाशसंकेत' ग्रन्थ है। उसके तीन रचयिता हो जाते हैं, 'काव्यप्रकाश'के नहीं। इसलिए 'काव्यप्रकाश'के विषयमें युग्मकर्तृत्ववाला सिद्धान्त प्रायः सर्वसम्मत सिद्धान्त माना जाता है।

कारिकाकर्तृत्व

'काव्यप्रकाश'के युग्मकर्तृत्व-सिद्धान्तके ये दो पक्ष हमने ऊपर दिखलाये। इनमेंसे एक पक्षके अनुसार 'काव्यप्रकाश'का प्रारम्भसे लेकर परिकरालङ्कारतकका भाग मम्मटका और शेष अन्तिम भाग अलकसूरिका लिखा हुआ है। दूसरे मतके अनुसार साराका सारा 'काव्यप्रकाश' मम्मट तथा अलकसूरिकी सम्मिलित रचना है। इस प्रकार 'काव्यप्रकाश'के युग्मकर्तृत्वविषयक ये दो सिद्धान्त बनते हैं। इसी प्रसंगमें एक और तीसरा सिद्धान्त भी है। वह भी 'काव्यप्रकाश'को दो व्यक्तियोंकी रचना मानता है। किन्तु उसकी विचारशैली भिन्न प्रकारकी है। 'ध्वन्यालोक', 'व्यक्तिविवेक' आदि अन्य सभी ग्रन्थोंके समान 'काव्यप्रकाश'में भी तीन भाग हैं—१ कारिकाभाग, २ वृत्तिभाग और ३ उदाहरणभाग। 'काव्यप्रकाश'के उदाहरण सब विभिन्न प्रसिद्ध काव्योंसे लिये गये हैं इसलिए उनके कर्तृत्वके विषममें कोई विवाद नहीं है। किन्तु कारिकाभाग और वृत्तिभागकी रचनाके विषयमें दो प्रकारके मत पाये जाते हैं। कुछ लोग इन दोनों भागोंके कर्ता अलग-अलग मानते हैं। उनके मतानुसार कारिकाभागके निर्माता भरतमुनि हैं और वृत्तिभागके निर्माता मम्मटाचार्य हैं। दूसरे लोग कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनोंका निर्माता एक ही मम्मटाचार्यको मानते हैं।

कारिका तथा वृत्तिभागका भिन्नकर्तृकत्ववादी पूर्वपक्ष

कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनोंके निर्माता अलग-अलग हैं इस सिद्धान्तका उदय बंगदेशमें हुआ। साहित्यकौमुदीकार विद्याभूषण तथा 'काव्यप्रकाश'की 'आदर्श' नाम्नी टीकाके निर्माता

महेश्वरने 'काव्यप्रकाश'के कारिकाभागका निर्माता भरतमुनिको माना है। विद्याभूषणने 'साहित्य-कौमुदी'में दो बार इस बातका उल्लेख किया है जो निम्नलिखित प्रकार है—

'मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम्।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात्।'

इसमें विद्याभूषणने 'काव्यप्रकाश'के सूत्रोंको भरतसूत्र कहा है। दूसरी जगह उन्होंने फिर लिखा है—

'सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानां वृत्तीनां मितवपुषां कृतौ ममास्याम्।'

इन लेखोंसे विदित होता है कि साहित्यकौमुदीकार विद्याभूषणके मतमें 'काव्यप्रकाश'के सूत्र भरतमुनि-विरचित हैं। इसी प्रकार 'आदर्श' व्याख्याके निर्माता महेश्वरने (जीवानन्द संस्करण पृ० ३ पर) 'काव्यप्रकाश'के सूत्रोंको भरतनिर्मित तथा वृत्तिभागको मम्मटाचार्यकृत माना है।

इसके विपरीत जयरामने अपनी 'तिलक' नामक 'काव्यप्रकाश'की टीकामें इस मतका खण्डन किया है। उन्होंने पहिले पूर्वपक्षके रूपमें सूत्रोंको भरतकृत माननेवालोंका पक्ष रखा है, फिर उसका खण्डन कर सूत्र तथा वृत्ति दोनों भागोंका निर्माता मम्मटको ही सिद्ध किया है। 'काव्य-प्रकाश'के सूत्रभागको भरतमुनिकृत माननेवाले लोग अपने पक्षके समर्थनमें प्रायः तीन युक्तियाँ देते हैं।

उनकी पहिली युक्ति यह है कि 'काव्यप्रकाश'में रसनिरूपणके विषयमें जो सूत्र आये हैं वे स्पष्ट रूपसे भरतमुनिके सूत्र हैं। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह स्पष्ट ही भरतसूत्र है। इसके अतिरिक्त 'शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-भयानकाः' इत्यादि सूत्रसंख्या ४४, जिसमें कि रसोंके नाम गिनाये गये हैं, 'रतिर्हासश्च शोकश्च' इत्यादि सूत्रसंख्या ४५, जिसमें स्थायिभावोंके नाम दिये गये हैं और 'निर्वेदग्लानिशंका' इत्यादि सूत्रसंख्या ४६, जिसमें व्यभिचारिभावोंके नामोंका निर्देश किया गया है ये सब भरतमुनिके सूत्र हैं। ये तीनों सूत्र भरतनाट्यशास्त्रके छठे अध्यायमें क्रमशः १४, १७ तथा २१ संख्यावाले हैं।

भेदवादियोंकी दूसरी युक्ति यह है कि 'काव्यप्रकाश'की प्रथम कारिकाकी वृत्ति आरम्भ करते समय ग्रन्थकारने—'ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवता ग्रन्थकृत परामृशति' यह प्रथमपुरुषका प्रयोग किया है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार मम्मट जिस कारिकाकी व्याख्या करने जा रहे हैं उसका बनानेवाला उनसे भिन्न कोई दूसरा व्यक्ति है। तभी उसके लिए 'परामृशति' इस प्रथमपुरुषका प्रयोग बनता है। अन्यथा यदि वे अपनी बनायी कारिकाओंकी स्वयं ही व्याख्या लिख रहे होते तो इस प्रकार प्रथमपुरुषका प्रयोग न करके उत्तमपुरुषका प्रयोग करते। ऐसा नहीं किया है। इससे यही सिद्ध होता है कि कारिकाकार भरतमुनि ही हैं।

तीसरी युक्ति यह है कि दशम उल्लासमें रूपकके निरूपणमें 'समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा' यह सूत्रसंख्या १४० आया है। इस सूत्रकी व्याख्यामें मम्मटने लिखा है। 'बहुवचनमविवक्षितम्' अर्थात् बहुवचनके स्थानपर द्विवचन भी हो सकता है। भेद-वादियोंका कहना है कि यदि कारिकाभागके निर्माता मम्मट स्वयं ही होते तो पहिले सूत्रभागमें 'आरोपिताः' इस बहुवचनका प्रयोग करके फिर स्वयं उसकी व्याख्यामें 'बहुवचनमविवक्षितम्' ऐसा लिखनेकी क्या आवश्यकता थी। वे कारिकामें स्वयं ही 'श्रौतावारोपितौ यदि'

पाठ रख सकते थे। पर क्योंकि सूत्रभाग मम्मटका बनाया हुआ नहीं है, भरतका बनाया हुआ है, इसलिए उसकी व्याख्यामें 'बहुवचनमविवक्षितम्' लिखा जाना संगत हो सकता है।

भेदवादीकी युक्तियोंका खण्डन

इस प्रकार इन तीन युक्तियोंके आधारपर भेदवादी 'काव्यप्रकाश'के सूत्रोंको भरतमुनिकी रचना बताते हैं और काव्यप्रकाशकारको केवल उन सूत्रोंपर वृत्ति लिखनेवाला मानते हैं। किन्तु यदि इन युक्तियोंपर विचार किया जाय तो ये तीनों युक्तियाँ एकदम थोथी और निस्सार प्रतीत होती हैं। पहिली युक्तिमें भरतमुनिके तीन सूत्र ऐसे प्रस्तुत किये हैं जो 'काव्यप्रकाश'में ज्योंके त्यों पाये जाते हैं। यह ठीक है। वे तीनों सूत्र भरतमुनिके बनाये हुए हैं। उनको काव्यप्रकाशकारने ज्योंका त्यों अपने ग्रन्थमें उद्धृत कर दिया है। पर उससे सारे सूत्रोंके भरतनिर्मित होनेकी पुष्टि कैसे हो सकती है। जैसे यह स्पष्ट है कि ये तीन सूत्र भरतके 'नाट्यशास्त्र'में पाये जाते हैं ऐसे ही यह भी स्पष्ट है कि 'काव्यप्रकाश'के शेष सूत्रोंमेंसे कोई भी सूत्र भरतनाट्यशास्त्रमें नहीं पाया जाता है। तब उनका निर्माता भरतको कैसे माना जा सकता है? भरतने नाट्यशास्त्रको छोड़कर कोई और ग्रन्थ बनाया हो उसमें शेष सूत्र आये हों यह बात एकदम क्लिष्ट कल्पनामात्र है। भरतमुनिका कोई दूसरा ग्रन्थ न मिलता है और न उसका कोई उल्लेख ही किसी ग्रन्थमें पाया जाता है। अतः यह निश्चय है कि इन तीन सूत्रोंके अतिरिक्त और कोई सूत्र भरतनिर्मित नहीं है। शेष सब सूत्र काव्यप्रकाशकारके स्वनिर्मित सूत्र हैं और उन स्वनिर्मित सूत्रोंपर मम्मटाचार्यने स्वयं ही वृत्ति भी लिखी है।

प्रथम युक्तिके समान दूसरी युक्ति भी एकदम निस्सार है। उसमें 'काव्यप्रकाश'के आरम्भमें आये हुए 'समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति' इस प्रथमपुरुषके प्रयोगके आधारपर सूत्रभागको व्याख्याकारसे भिन्नकी कृति ठहरानेका यत्न किया गया है, किन्तु यह तो युक्ति देनेवालेके अज्ञानका ही परिचायक है। ग्रन्थोंमें इस प्रकारके अवसरोंपर अपने लिए प्रथमपुरुषके प्रयोगकी शैली तो संस्कृत साहित्यकी बहु-समादृत और बहु-प्रचलित सामान्य शैली है। अधिकांश लोग ऐसे अवसरोंपर प्रथम पुरुषका प्रयोग करते हैं। उदाहरणके लिए, विश्वनाथने भी 'साहित्य-दर्पण'के आरम्भमें इस प्रकार 'वाग्देवतायाः साम्मुख्यमाधत्ते' लिखा है। 'नागेशः कुरुते सुधीः'में नागेशने भी अपने लिए 'कुरुते' इस प्रथमपुरुषका प्रयोग किया है। यह संस्कृत साहित्यके ग्रन्थ-कारोंकी सामान्य प्रवृत्ति है। वे कदाचित् अपनी निरभिमानिताके सूचनार्थ उत्तमपुरुषका प्रयोग बचाना चाहते हैं इसलिए ऐसे स्थलोंपर प्रथमपुरुषका प्रयोग करते हैं। इसी दृष्टिसे मम्मटाचार्यने भी स्वयं अपनी लिखी हुई कारिकाकी वृत्ति लिखते समय उसमें 'ग्रन्थकृत् परामृशति' यह प्रथम पुरुषका प्रयोग किया है। उसके आधारपर कारिका और वृत्तिको भिन्न निर्माताओंकी कृति माननेका प्रयत्न अनुचित एवं उपहासास्पद है।

इसी प्रकार कारिकाकार तथा वृत्तिकारको भिन्न सिद्ध करनेके लिए जो तीसरी युक्ति प्रस्तुत की गयी है वह भी असंगत और उपहासास्पद है। 'समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा' समस्तवस्तु-विषयरूपकके इस लक्षणकी वृत्तिमें 'बहुत्वमविवक्षितम्' यह जो वृत्तिकारने लिख दिया है इससे भेदवादी यह परिणाम निकालना चाहते हैं कि यह मूल कारिका तथा वृत्ति अलग-अलग व्यक्तियोंकी लिखी हुई है। क्योंकि यदि एक ही व्यक्तिकी लिखी हुई होती तो वृत्तिमें 'बहुत्वमविवक्षितम्' लिखनेके बजाय ग्रन्थकार स्वयं मूल कारिकामें ही बहुवचन या एकवचन जो विवक्षित हो उसका प्रयोग कर सकते थे। पहिले मूल सूत्रमें बहुवचनका प्रयोग करके स्वयं ही फिर 'बहुत्वमविवक्षितम्' उसी

वृत्तिकारके लिए शोभा नहीं देता है; *'प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्'*। **इससे यह सिद्ध होता है कि मूल सूत्र भरतमुनिका बनाया हुआ है। उसमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है। उसकी वृत्ति मम्मटाचार्यकी लिखी है इसलिए उन्होंने इसमें 'बहुत्वमविवक्षितम्' लिखा है।**

यह भेदवादीका युक्तिक्रम है। किन्तु जान पड़ता है कि वह प्रकृत प्रसंगको बिलकुल ही नहीं समझ सका है इसीलिए ऐसी बात कह रहा है। यहाँ ग्रन्थकारने रूपकके समस्तवस्तुविषय-रूपक और एकदेशविवर्तिरूपक ये दो भेद किये हैं। रूपकमें किसी एक वस्तुके ऊपर दूसरेका आरोप किया जाता है। जैसे मुखके ऊपर चन्द्रका आरोप करके मुखचन्द्र रूपकका उदाहरण हो जाता है। यह आरोप कहीं एक ही होता है, कहीं दो-तीन-चार भी हो सकते हैं। जैसे यहाँ पृष्ठ ४६४ पर समस्तवस्तुविषयरूपकका जो उदाहरण दिया है उसमें 'रात्रिकापालिकी'में रात्रिके ऊपर कापालिकी होनेका आरोप किया है। रात्रिके इस कापालिकीत्वके उपपादनके लिए रात्रिकी ज्योत्स्नापर कापालिकीकी भस्मका, तारोंके ऊपर कापालिकीकी अस्थियोंका, चन्द्रमाके ऊपर कपालका और चन्द्रमाके कलंकके ऊपर सिद्धांजनका आरोप किया है। इस प्रकार इसमें अनेक आरोप किये गये हैं। समस्त-वस्तुविषयरूपकके लिए यह आवश्यक है कि उसमें दो या दोसे अधिक आरोप होने चाहिये और वे सब 'श्रौत' अर्थात् शब्दतः उपात्त होने चाहिये। दो आरोपोंके शब्दतः उपात्त होनेपर भी समस्तवस्तुविषयरूपक हो सकता है। और तीन-चार आदि अनेक आरोपितोंके भी शब्दतः उपात्त होनेपर समस्तवस्तुविषयरूपक हो सकता है। यह बात ग्रन्थकार कहना चाहते हैं। अब यदि इस स्थलपर मूलमें प्रयुक्त बहुवचनको ज्योंका त्यों माना जाता है तो इसका अर्थ यह होगा कि जब कमसे कम तीन या उससे अधिक आरोपित शब्दोपात्त हों तभी समस्तवस्तुविषयरूपक होगा। यदि किसी स्थलपर केवल दोका ही आरोप किया गया है और वे दोनों शब्दोपात्त हैं तब वहाँ समस्तवस्तुविषयरूपक नहीं माना जा सकेगा। क्योंकि इस दोषको बचानेके लिए वृत्तिकारको यहाँ 'बहुत्वमविवक्षितम्' लिखना पड़ा है। इसी प्रकार यदि मूल कारिकामें बहुवचनको हटाकर द्विवचन-का प्रयोग किया जाता तो भी यही स्थिति उत्पन्न होती। उस दशामें यदि दोसे अधिकका आरोप कहीं किया जाता और वे सब शब्दतः उपात्त होते तो वहाँ समस्तवस्तुविषयरूपक नहीं बन सकता। क्योंकि मूल लक्षणमें द्विवचनके प्रयोगके कारण दो आरोपोंके स्थलपर ही वह लक्षण घट सकता था। दोसे अधिक आरोपितोंके विषयमें वह लक्षण नहीं घट सकता। तब इस दोषके परिहारके लिए उस अवस्थामें वृत्तिकारको 'द्वित्वमविवक्षितम्' लिखना पड़ता। मूल कारिकामें यदि बहुवचनका प्रयोग किया है तो वृत्तिमें 'बहुत्वमविवक्षितम्'का लिखना अनिवार्य है और यदि मूलमें द्विवचन-का प्रयोग किया जाता तो वृत्तिमें 'द्वित्वमविवक्षितम्' लिखना अनिवार्य हो जाता। इसलिए मूलकारको स्वयं ही द्विवचन या बहुवचन लिखकर फिर उसको अविवक्षित मानना इस स्थलपर सर्वथा अनिवार्य है। भेदवादियोंने इस रहस्यको न समझ सकनेके कारण ही 'बहुत्वमविवक्षितम्'के आधारपर कारिकाकार तथा वृत्तिकारको भिन्न-भिन्न व्यक्ति सिद्ध करनेका यह जो प्रयास किया है वह उनके अविवेकको ही सूचित करता है।

अभेदसमर्थक युक्तियाँ

यह तो भेदवादियों द्वारा प्रस्तुत की गयी युक्तियोंका खण्डन हुआ। इसके अतिरिक्त कुछ युक्तियाँ ऐसी भी प्रस्तुत की जा सकती हैं जिनके आधारपर यह सिद्ध होता है कि वृत्ति तथा मूल-कारिकाओंके निर्माता एक हैं। इनमें सबसे पहले कारिका तथा वृत्ति दोनोंके निर्माता मम्मटाचार्य ही हैं इस बातके समर्थनके लिए निम्नाङ्कित तीन युक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

१. 'काव्यप्रकाश'की मूल कारिकाओंके आरम्भमें तो मङ्गलाचरण किया गया है, किन्तु वृत्ति-भागके आरम्भमें कोई मङ्गलाचारण नहीं किया गया है। यदि मम्मट केवल वृत्तिभागके ही निर्माता होते तो वे अपने वृत्तिग्रन्थके आरम्भमें मङ्गलाचरण अवश्य करते। मूलके आरम्भमें जो मङ्गलाचरण है उसीको वृत्तिभागका मङ्गलाचरण माननेका अभिप्राय यह है कि ये दोनों भाग मम्मटाचार्यके ही बनाये हुए हैं।

२. जहाँ कहीं मम्मटाचार्यने भरतमुनिकी कारिकाओं या सूत्रोंको उद्धृत किया है वहाँ 'तदुक्तं भरतेन' लिखकर उस विशेष सूत्र या कारिकाके साथ भरतमुनिका नाम जोड़कर ही उद्धृत किया है। यदि सारी ही कारिकाएँ भरतमुनिकी बनायी हुई होतीं तो फिर दो-तीन विशेष स्थलोंपर ही 'तदुक्तं भरतेन' का प्रयोग क्यों किया जाता। इस प्रयोगसे सिद्ध होता है कि केवल वे कारिकाएँ या सूत्र जिनके साथ 'तदुक्तं भरतेन' लिखा गया है, भरतमुनिके बनाये हुए हैं। शेष सब मम्मटाचार्यके स्वयं बनाये हुए सूत्र या कारिकाएँ हैं।

३. 'काव्यप्रकाश'के कारिका तथा वृत्तिभाग दोनों ही मम्मटाचार्यके ही बनाये हुए हैं इस बातको सिद्ध करनेके लिए तीसरी युक्ति यह है कि रूपकके प्रसंगमें—

'साङ्गमेतन्निरङ्गन्तु शुद्धं, माला तु पूर्ववत्।'

लिखकर पूर्वकथित 'मालोपमा'के समान 'मालरूपक' भी हो सकता है यह बात ग्रन्थकारने 'माला तु पूर्ववत्' इस कारिकाभागसे कही है। यदि कारिकाभाग भरतमुनिका बनाया हुआ है तो यहाँ कारिकाभागमें 'माला तु पूर्ववत्' लिखकर जिस मालोपमाका संकेत किया गया है वह मालोपमा भी भरतमुनिविरचित कारिकामें ही निर्दिष्ट होनी चाहिये किन्तु 'काव्यप्रकाश'में मालोपमाका जो उल्लेख किया गया है वह कारिकाभागमें नहीं किन्तु वृत्तिभागमें किया गया है (पृष्ठ ४६६)। पहिले वृत्तिभागमें जिस मालोपमाका उल्लेख किया गया है उसीको यहाँ कारिकाभागमें 'माला तु पूर्ववत्' लिखकर निर्दिष्ट किया गया है। इससे यह बात स्पष्ट रूपसे सिद्ध होती है कि 'काव्य-प्रकाश'के कारिकाभाग और वृत्तिभाग दोनोंके निर्माता स्वयं मम्मटाचार्य ही हैं। इसलिए जो लोग कारिकाभागको भरतमुनिकृत मानते हैं और मम्मटाचार्यको केवल वृत्तिभागका ही निर्माता मानते हैं उनका मत युक्तिसंगत नहीं है।

मम्मटके टीकाकार

मम्मटका 'काव्यप्रकाश' संस्कृत साहित्यके विद्वानोंका अत्यन्त प्रेमभाजन रहा है। इसलिए इसके ऊपर टीका लिखनेवाले विद्वानोंकी संख्या बहुत बड़ी है। 'भगवद्गीता' एक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय धार्मिक ग्रन्थ है। इसलिए भारतीय साहित्यमें सबसे अधिक टीकाएँ 'भगवद्गीता'के ऊपर लिखी गयी हैं। 'भगवद्गीता'के बाद जिस ग्रन्थपर सबसे अधिक टीकाएँ लिखी गयीं वह ग्रन्थ मम्मटाचार्यका 'काव्यप्रकाश' है। 'काव्यप्रकाश'पर अबतक लगभग ७५ टीकाएँ संस्कृतमें ही लिखी जा चुकी हैं। वर्तमान प्रस्तुत टीकाको मिलाकर हिन्दीमें भी तीन टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। अंग्रेजी भाषामें भी उसका अनुवाद हो चुका है। इतनी अधिक टीकाओंका होना जहाँ एक ओर ग्रन्थकी लोकप्रियताका परिचायक है वहाँ उसकी क्लिष्टता और दुरूहताका भी द्योतक है। किसी ग्रन्थकी लोकप्रियता तो उसके गौरवका कारण हो सकती है किन्तु उसकी दुरूहता और क्लिष्टता ग्रन्थकारके गौरवको बढ़ानेवाली नहीं हो सकती है। 'काव्यप्रकाश'के विषयमें प्रसिद्ध है कि उसकी टीकाएँ घर-घरमें विद्यमान् हैं किन्तु ग्रन्थ आज भी वैसा ही दुरूह बना हुआ है—

'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे,
टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।'

यह उक्ति काव्यप्रकाशके गौरवको बढ़ानेवाली नहीं है। ग्रन्थकारका कौशल तो इसमें है कि जो बात वह कहना चाहता है वह पढ़ने और सुननेवालोंको एकदम हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाय।

'काव्यप्रकाश'की टीकाओंमें सबसे प्राचीन टीका माणिक्यचन्द्रकृत 'संकेत' टीका है। इसका रचनाकाल विक्रम संवत् १२१६ तदनुसार ११६० ई० है। माणिक्यचन्द्र गुजराती जैन विद्वान् थे। उन्होंने 'संकेत' टीकाके अन्तमें उसके लिखनेका समय निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'रसवक्त्रग्रहाधीशवत्सरे (=१२१६) मासि माधवे।
काव्य काव्यप्रकाशस्य संकेतो यं समर्थितः॥'

कर्णाटक जनपदके बीजापुर प्रान्तमें स्थित झलकी ग्रामके निवासी महाराष्ट्र ब्राह्मण वामनाचार्य शर्माने पुण्यपत्तनकी प्रधान पाठशालामें अध्यापन करते हुए सं० १८०४ तदनुसार सन् १७४७ ई० में 'बालबोधिनी' नामकी 'काव्यप्रकाश'की बड़ी सुन्दर टीका लिखी है। इसके आरम्भमें उन्होंने 'काव्यप्रकाश'की ४८ टीकाओं और उनके निर्माताओंके नाम गिनाये हैं। ये नाम उन्होंने पद्यबद्ध रूपमें दिये हैं। हम उनके नामोंकी सूची निम्नलिखित प्रकार दे रहे हैं—

१. माणिक्यचन्द्रकृत 'संकेत' टीका : रचनाकाल सं० १२१६, सन् ११६० ई०। २. सरस्वतीतीर्थकृत 'बालचित्तानुरञ्जिनी' टीका : रचनाकाल सं० १२९८, सन् १२४२। ३. जयन्तभट्टकृत 'दीपिका' टीका : रचनाकाल सं० १३५०, सन् १२९३। ४. सोमेश्वरकृत 'काव्यादर्श' टीका, इसका दूसरा नाम 'संकेत' भी है। ५. विश्वनाथकृत 'दर्पण' टीका। ६. परमानन्द भट्टाचार्यकृत 'विस्तारिका' टीका। ७. आनन्दकविनिर्मित 'निदर्शना' टीका। ८. श्रीवत्सलांछनकृत 'सारबोधिनी' टीका। ९. महेश्वरकृत 'आदर्श' टीका। १०. कमलाकरभट्टनिर्मित 'विस्तृता' टीका। ११. नरसिंहकृत 'नरसिंहमनीषा' टीका। १२. भीमसेनकृत 'सुधासागर' टीका। १३. महेशचन्द्रविरचित 'तात्पर्यविवृति' टीका। १४. गोविन्दनिर्मित 'प्रदीपच्छाया' व्याख्या। १५. नागेशभट्टकृत 'लघ्वी' टीका तथा १६. नागेशभट्टकृत 'बृहती' टीका। १७. वैद्यनाथकृत प्रदीपकी 'उद्योत' नामक टीका, १८. वैद्यनाथनिर्मित 'प्रभा' टीका तथा १९. वैद्यनाथ द्वारा निर्मित 'उदाहरणचन्द्रिका' टीका। २० राघव-विनिर्मित 'अवचूरि' टीका। २१. श्रीधरकृत टीका। २२. चण्डीदासकृत टीका। २३. देवनाथकृत टीका। २४. भास्करकृत 'साहित्यदीपिका' टीका। २५. सुबुद्धिमिश्रकृत टीका। २६. पद्मनाभकृत टीका। २७. मिथिलेशके मन्त्री अच्युतकृत टीका। २८. अच्युतपुत्र रत्नपाणि द्वारा निर्मित टीका। २९. भट्टाचार्यकृत 'काव्यदर्पण' टीका। ३०. भट्टाचार्यके पुत्र रविकृत 'मधुमती' टीका। ३१. 'तत्त्वबोधिनी' टीकाके निर्माताके नामका पता नहीं चलता है। ३२. इसी प्रकार'कौमुदी' टीकाके निर्माताका नाम विदित नहीं। ३३. 'आलोक' टीका। ३४. रुचककृत 'संकेत' टीका। ३५. जयरामकृत 'प्रकाशतिलक' टीका। ३६. यशोधरकृत टीका। ३७. विद्यासागर निर्मित टीका। ३८. मुरारिमिश्रकृत टीका। ३९. मणिसारकृत टीका। ४०. पक्षधरकृत टीका। ४१. सूरिकृत 'रहस्यप्रकाश' टीका। ४२. रामनाथकृत 'रहस्यप्रकाश' टीका। ४३. जगदीशकृत टीका। ४४. गदाधरकृत टीका। ४५. भास्कर विनिर्मित 'रहस्यनिबन्ध' टीका। ४६. रामकृष्णनिर्मित 'काव्यप्रकाश-भावार्थ' टीका। ४७. वाचस्पतिमिश्र-विरचित टीका। ४८. झलकीकर वामनाचार्यकृत 'बालबोधिनी टीका।

इन उपरिनिर्दिष्ट ४८ टीकाओंमें सबसे प्रचीन माणिक्यचन्द्रकृत टीका सन् ११६० ई० में

लिखी गयी थी और सबसे नवीन टीका 'बालबोधिनी' सन् १७४७ ई० में लिखी गयी थी, अर्थात् लगभग ५०० वर्षोंमें 'काव्यप्रकाश'के ऊपर ५० के लगभग टीकाएँ लिखी जा चुकी थीं। इसका अर्थ यह हुआ कि औसतन प्रति दस वर्षमें 'काव्यप्रकाश'पर एक नयी टीका लिखी जाती रही है। बालबोधिनीकार वामनाचार्य झलकीकरके बाद विगत २५० वर्षमें भी कुछ टीकाएँ लिखी गयी हैं।

संस्कृत टीकाओंके अतिरिक्त इधर हिन्दीमें भी 'काव्यप्रकाश'के ऊपर टीकाओंकी रचनाका क्रम प्रारम्भ हो गया है। इस क्रममें प्रस्तुत यह 'काव्यप्रकाश-दीपिका' तीसरी टीका है। इसके पूर्व हरिमंगलमिश्र तथा डॉ० सत्यव्रतसिंह द्वारा निर्मित दो हिन्दी टिकाएँ पहिले प्रकाशित हो चुकी हैं। यह 'काव्यप्रकाशदीपिका' तीसरी हिन्दी टीकाके रूपमें प्रकाशित हो रही है। यह तो अभी हिन्दीवालोंका 'काव्यप्रकाश'के प्रति प्रेमका आरम्भ है; आगे देखिये, कितनी टीकाएँ लिखी जाती हैं।

मम्मटका मूल्याङ्कन

वाग्देवतावतार मम्मट और उनके ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश'ने अलङ्कारशास्त्रके क्षेत्रमें बड़ा गौरव तथा आदर प्राप्त किया है। उस गौरवका कारण ग्रन्थकी अपनी विशेषताएँ हैं। 'काव्यप्रकाश'की सबसे बड़ी विशेषता, जिसके कारण उसको इतना अधिक गौरव प्राप्त हुआ और उसका इतना अधिक प्रचार हो सका, उसकी सूत्रशैली और विषय-बाहुल्य है। मम्मटने 'काव्यप्रकाश'में संक्षेपमें काव्यशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले सारे विषयोंका प्रतिपादन बड़े सुन्दर रूपमें कर दिया है। भरतमुनिसे लेकर भोजराजतक लगभग १२०० वर्षोंमें अलङ्कारशास्त्रके विषयमें जिस विशाल साहित्यका निर्माण हुआ उसका दिग्दर्शन हम ऊपर करा चुके हैं। मम्मटने इस सारे विशाल साहित्यका मन्थन कर उसका सारभूत जो 'नवनीत' प्राप्त किया वह 'काव्यप्रकाश' है। अलङ्कारशास्त्रकी दृष्टिसे भरतके नाट्यशास्त्रका नवनीत है रससिद्धान्त। भरतमुनिका रससूत्र और उसपर गत १२०० वर्षमें जो कुछ ऊहापोह हुआ है उस सबका सार 'काव्यप्रकाश'में सुन्दर रूपमें उपस्थित है। भामहका 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'वाला काव्यलक्षण और अधिक निर्दुष्ट, और अधिक सगुण, और अधिक अलंकृत, और परिमार्जित होकर 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'के रूपमें 'काव्यप्रकाश'में मौजूद है। गत १२०० वर्षोंमें किये गये काव्यलक्षणोंका सार मम्मटने अपने इस काव्यलक्षणके भीतर समाविष्ट कर दिया है। भामह और दण्डीने न शब्दशक्तियोंका विवेचन किया है, न रस और ध्वनिका। इसलिए वे आजके अलङ्कारशास्त्रकी आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं करते और विषयप्रतिपादनकी दृष्टिसे अपूर्ण हैं। मम्मटने भामह और दण्डीकी इस कमीको समझा और 'काव्यप्रकाश'में इन विषयोंका समावेश करके उस कमीको दूर करनेका यत्न किया। उद्भट तो 'अलङ्कारसारसंग्रह'में ही रम गये हैं। गिने-चुने ४१ अलङ्कारोंके निरूपणके अतिरिक्त उनके पास काव्यशास्त्रका और कोई तत्त्व नहीं है। वामन रीतिपर रीझ रहे हैं। उन्होंने यद्यपि गुण, दोष और अलङ्कारोंका भी वर्णन किया है, किन्तु काव्यके आत्मभूत रसकी नितान्त उपेक्षा कर दी है और रीतिको असाधारण गौरव प्रदान कर दिया है। वे साहित्यिक तत्त्वोंका यथार्थ मूल्याङ्कन नहीं कर सके हैं। मम्मटने रीति, गुण, दोष और अलङ्कार सबका यथार्थ मूल्याङ्कन किया है और सबको अपनी योग्यताके अनुरूप स्थान दिया है। यह उनकी बड़ी विशेषता है। वामनके बाद रुद्रट आते हैं, पर वे भी काव्यलक्षण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कारके विवेचनमें लगे हुए हैं। दस प्रकारके रस और नायक-नायिकाभेदका वर्णन इन्होंने अवश्य किया है किन्तु उसके बाद भी साहित्यशास्त्रके अनेक अंग छूट जाते हैं; शब्द-

शक्ति, ध्वनि आदिके विवेचनके बिना साहित्यिक ग्रन्थ पूर्ण नहीं कहा जा सकता। रुद्रटके बाद आनन्दवर्धन आते हैं। आनन्दवर्धन सचमुच ही आनन्दवर्धन हैं। उन्होंने ध्वनितत्त्वका ऐसा विशद और प्राञ्जल विवेचन उपस्थित किया है कि सहृदयोंका हृदय आनन्दोल्लाससे परिपूर्ण हो उठता है। पर अकेली मिठाईसे ही तो काम नहीं चलता। भगवान्ने तो मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त षड्रस बनाये हैं। उन सबकी विविधता आस्वादविशेषको उत्पन्न करती है। आनन्दवर्धनमें वह विविधता कहाँ है? उनका तो सब-कुछ ध्वनिपर केन्द्रित हो रहा है। इसलिए वे भी साहित्यशास्त्रका समग्र चित्र अपने 'ध्वन्यालोक'में प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। काव्यप्रकाशकारने तो 'ध्वन्यालोक'का सारा तत्त्वांश बड़े सुन्दर रूपमें अपने ग्रन्थमें उपस्थित कर दिया है। या यों कहिये कि मम्मटने आनन्दवर्धनको पुनः प्राणदान किया है अन्यथा ध्वनिविरोधी भट्टनायक और महिमभट्टने मिलकर उनके ध्वनिसिद्धान्तको कुचल ही डाला था। यह तो मम्मटका ही सामर्थ्य था कि इस उग्र संघर्षके बीचसे वे ध्वनिसिद्धान्तको बचाकर निकाल लाये हैं और अब वह सिद्धान्त 'ध्वन्यालोक'से भी अधिक सुन्दर रूपमें, और अधिक पुष्ट आधारपर 'काव्यप्रकाश'में उपस्थित है। इसीलिए मम्मटाचार्यको 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' कहा जाता है।

आनन्दवर्धनके बाद अभिनवगुप्त आते हैं। बड़े उद्भट विद्वान् और प्रौढ़ लेखक थे। 'ध्वन्यालोकलोचन' और 'अभिनवभारती' दोनों साहित्यशास्त्रके लिए बड़ी देनें हैं। परन्तु वे दोनों मिलकर भी साहित्यको पूर्ण नहीं कर रही हैं। काव्यके आवश्यक अङ्ग—दोष और अलङ्कारोंका विवेचन उनमें नहीं है। इसलिए वे अलङ्कारशास्त्रकी दृष्टिसे अपूर्ण और एकदेशी ही कहे जा सकते हैं। 'काव्यप्रकाश'-ने उनकी इस अपूर्णताको पूर्ण किया है। 'लोचन'में अभिनवगुप्तने ध्वनिसिद्धान्तका उद्धार करनेका यत्न किया है और 'अभिनवभारती'में नाट्यशास्त्रका। अलङ्कारशास्त्रकी दृष्टिसे उनका जो सारभूत तत्त्व है वह सब 'काव्यप्रकाश'में उपस्थित है। इसलिए 'काव्यप्रकाश' इनकी अपेक्षा अधिक परिपूर्ण है और साहित्यिक आवश्यकताको अधिक सुन्दरताके साथ शान्त करनेवाला है। इनके बाद राजशेखर आते हैं। यह तो बस 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' हैं। 'काव्यमीमांसा' साहित्यशास्त्रका विवेचन करनेवाली होनेपर भी अबतककी सारी विचारधारासे बिलकुल भिन्न है। इसलिए उपयोगी होनेपर भी वह अलङ्कारशास्त्रविषयक जिज्ञासाकी निवृत्तिमें प्रायः असमर्थ है। अगले मुकुलभट्ट हैं। इनका 'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रन्थ केवल शब्दशक्तिसे सम्बन्ध रखता है। अलङ्कारशास्त्रके अन्य अङ्गोंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। काव्यप्रकाशकार मम्मटने उसकी उपेक्षा नहीं की है। साहित्यशास्त्रके एक आवश्यक भागकी पूर्ति उसके द्वारा होती है इसलिए उसका भी सारांश उन्होंने बड़े सुन्दर रूपमें अपने ग्रन्थमें उपस्थित किया है। कुन्तक, क्षेमेन्द्र और भोजराजके सिद्धान्तोंका भी यथार्थ मूल्याङ्कन कर उनका समुचित रूपमें 'काव्यप्रकाश'में समावेश किया गया है और ध्वनिविरोधी महिमभट्टको तो खूब मजा चखाया है। उनकी ध्वनिविरोधी युक्तियोंकी ऐसी छीछालेदर की है कि अब वह बिचारा सिकुड़-सिकुड़कर अपने 'व्यक्तिविवेक'के भीतर ही समा गया है, उसके बाहर उसका कहीं कोई आदर नहीं है। जिस ध्वनिसिद्धान्तको मिटा डालनेका व्यक्तिविवेककारने सङ्कल्प किया था, मम्मटकी कृपासे वह अब पहलेकी अपेक्षा भी अधिक सुन्दर तथा सुदृढ़ सिद्धान्तके रूपमें उपस्थित है।

आचार्य मम्मटकी प्रतिभा, उनकी विशेषता और साहित्यशास्त्रके प्रति की गयी उनकी सेवाका मूल्याङ्कन एक सहस्र वर्षसे भी अधिक लम्बे कालमें फैले हुए साहित्यशास्त्रके सिंहावलोकनके बिना नहीं किया जा सकता है। इसलिए हमने बहुत संक्षेपमें विगत एक सहस्र वर्षोंकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका विश्लेषणकर यह दिखलानेका यत्न किया है कि काव्यप्रकाशकारने इन एक सहस्र वर्षोंमें

साहित्योद्यानमें खिले हुए समस्त पुष्पोंका मधुसंचय करके अपने इस 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थका निर्माण किया है। यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है जिसके कारण उनको और उनके ग्रन्थको इतना अधिक आदर प्राप्त हुआ है। 'काव्यप्रकाश'में अपने पूर्ववर्ती सारे अलङ्कारशास्त्रियोंके गुणों, सारी उत्तम बातोंका एक साथ संग्रह कर दिया गया है और उनमें जो त्रुटियाँ या न्यूनताएँ थीं उनको दूर-कर एक सर्वाङ्गपूर्ण साहित्यग्रन्थ उपस्थित करनेका प्रयत्न मम्मटने किया है। इसीलिए 'काव्यप्रकाश' इतना सारगर्भित, महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय ग्रन्थ बन गया है कि उस एक ही ग्रन्थका अध्ययन कर लेनेसे साहित्यशास्त्रका पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए 'काव्यप्रकाश' वस्तुतः एक महती रचना है।

किसी भी महती कृतिके लिए श्रम और कला दोनोंकी आवश्यकता होती है। मधुमक्षिका विविध पुष्पोंका मधु संचय करके लाती है यह उसका श्रमपक्ष है। पर उसको अपने छत्तेमें किस प्रकार सजाकर, सँभालकर रखती है यह उसका कलापक्ष है। मधुमक्खीके छत्तेकी रचना उसके मधुसे कम आनन्ददायक नहीं है। मधु रसनाको तृप्त करता है तो छत्ता दृष्टिको। दोनोंका अपना सौन्दर्य है, दोनोंकी अपनी उपयोगिता है और दोनोंकी अपनी कला है। मधुमक्षिकाका वह श्रम और वह कलात्मक प्रवृत्ति दोनों ही सराहना प्राप्त करती हैं। 'काव्यप्रकाश'की मधुमक्षिका—मम्मट—की भी यही स्थिति है। उन्होंने एक सहस्र वर्षके दीर्घकालमें फैले हुए विस्तीर्ण साहित्यो-द्यानके सैकड़ों सुन्दर पुष्पोंसे मधुसंचय करनेमें जो श्रम किया है वह तो प्रशंसनीय है ही, पर उसके साथ ही उसको जिस रूपमें सजाकर 'काव्यप्रकाश'में उपस्थित किया है वह उनकी कलात्मक प्रवृत्तिका परिचायक है। 'काव्यप्रकाश'में दस उल्लास हैं। उनमें पतिपाद्य विषय या संचित मधुको इस प्रकार सजाकर रखा गया है कि बस देखते ही बनता है। सारा 'काव्यप्रकाश' 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' इस एक सूत्रके ऊपर घूम रहा है। इस सूत्रमें आया हुआ 'तत्' पद काव्यका वाचक है। 'काव्यं यशसेऽर्थकृते' इत्यादि काव्यप्रयोजनोंका प्रतिपादन करनेवाली पहली कारिकाके प्रारम्भमें 'काव्यम्' यह संज्ञापद आया है। उसके परामर्शक रूपमें 'तददोषौ शब्दार्थौ' में 'तत्' यह सर्वनाम प्रयुक्त हुआ है। इसलिए 'तत्' यह सर्वनाम 'काव्यम्'का ग्राहक है। इसलिए पहिले उल्लासमें काव्यका लक्षण करनेके बाद उसके ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्रकाव्यरूप तीन भेद भी दिखलाये हैं। इसके बाद 'शब्दार्थौ' पदके स्पष्टीकरणके लिए द्वितीय उल्लासमें वाचक, लक्षक, व्यञ्जक तीन प्रकारके शब्द तथा वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य तीन प्रकारके अर्थोंका वर्णन किया गया है। शब्दमें जो अर्थकी प्रतीति होती है वह शब्दकी शक्ति द्वारा ही होती है इसलिए तीन प्रकारके शब्दोंसे तीन प्रकारके अर्थोंको बोधित करनेवाली अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीनों प्रकारकी शब्दशक्तियोंका भी निरूपण इसी उल्लासमें कर दिया है। प्रथम उल्लासमें काव्यके भेदोंका केवल सामान्य वर्णन दिया था, उनके स्पष्टीकरणके लिए कुछ विशेष वर्णनकी आवश्यकता थी। अतः चौथे, पाँचवें तथा छठें उल्लासोंमें क्रमशः ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य और चित्रकाव्यका विशेष वर्णन किया गया है। ध्वनिकाव्यके भीतर रसध्वनिका समावेश या मुख्यता होनेके कारण चौथे उल्लासमें ध्वनिकाव्यके निरूपणके साथ ही इसका निरूपण भी कर दिया गया है। इसके पहिले तीसरे उल्लासमें आर्थी व्यञ्जनाका वर्णन किया है। काव्यप्रकाश-कार 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' कहलाते हैं। उद्भट और महिमभट्टकी उक्तियोंका खण्डन करके ध्वनिसिद्धान्तकी स्थापना करनेमें उनको बड़ा परिश्रम करना पड़ा है। इसलिए ध्वनिका विषय काफी विस्तृत भी हो गया है। द्वितीय उल्लासमें अभिधा और लक्षणाके अतिरिक्त व्यञ्जनाके केवल

शाब्दी व्यञ्जनाभेदका निरूपण किया था। इसलिए व्यञ्जनाके दूसरे भेद आर्थी व्यञ्जनाका निरूपण तृतीय उल्लासमें किया गया है और पंचम उल्लासमें गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यके भेदों तथा उदाहरणोंको दिखलानेके बाद फिर व्यञ्जनाकी सिद्धिका यत्न किया गया है। द्वितीय तथा तृतीय उल्लासमें केवल व्यञ्जनाके भेद दिखलाये गये थे और उनके उदाहरण दिये गये थे, अन्य मतोंका खण्डन करके ध्वनिसिद्धान्तकी स्थापनाका प्रयत्न वहाँ नहीं किया गया था। ध्वनि तथा गुणीभूत-व्यङ्ग्य दोनों प्रकारके व्यञ्जनाश्रित काव्यके भेदों तथा उदाहरणोंका निरूपण करनेके बाद उद्भट आदि साहित्यिकों, महिमभट्ट आदि नैयायिकों, मुकुलभट्ट आदि मीमांसकों, वैयाकरणों और वेदान्तियों, सब व्यञ्जना-विरोधी मतोंका खण्डन करके बड़ी विद्वत्ताके साथ व्यञ्जनावृत्तिकी सत्ता पंचम उल्लासके अन्तमें विस्तारके साथ सिद्ध की गयी है। इसके बाद काव्यलक्षणमें 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अन-लंकृती पुनः क्वापि' पद व्याख्याके लिए शेष रह जाते हैं। इनकी व्याख्याके लिए ग्रन्थकारने सातसे लेकर दसतक चार उल्लास लिखे हैं। सप्तम उल्लासमें दोषोंका, अष्टम उल्लासमें गुणोंका, उनके साथ ही रीति तथा वृत्तियोंका, नवम तथा दशम दो उल्लासोंमें अलङ्कारोंका वर्णन किया है। नवम उल्लासमें केवल शब्दालंकार तथा उभयालंकारका और दशम उल्लासमें अर्थालङ्कारोंका वर्णन किया है। इस प्रकार दस उल्लासोंमें ग्रन्थकारने काव्यशास्त्रसे सम्बद्ध सारे विषयको बड़ी सुन्दरताके साथ सजा दिया है। यह 'काव्यप्रकाश'की एक बड़ी विशेषता है जो उसको अन्य सब साहित्यिक ग्रन्थों-की अपेक्षा अधिक उपादेय बनाती है। इस प्रकार 'काव्यप्रकाश'के गौरव और उपादेयताकी वृद्धि करानेवाले और उसे अन्य सबकी अपेक्षा अधिक गौरव एवं आदर प्राप्त करानेवाले कारणोंका संग्रह हम निम्नलिखित पाँच भागोंमें कर सकते हैं—

१. काव्यप्रकाशकारने साहित्यशास्त्रके एक सहस्र वर्षके समस्त आचार्योंकी कृतियोंका अव-गाहन और मनन करके उनके सर्वोत्तम सारभागको संग्रहकर अपने इस ग्रन्थमें उपस्थित करनेका यत्न किया है और अपने उस प्रयत्नमें उन्होंने यथेष्ट सफलता प्राप्त की है।

२. पूर्ववर्ती आचार्योंके ग्रन्थोंमें विषयप्रतिपादनकी दृष्टिसे जो न्यूनता या त्रुटियाँ रह गयीं थीं उन सबको हृदयङ्गम करके मम्मटने अपने ग्रन्थमें उन सबको दूरकर विषयकी दृष्टिसे ग्रन्थको सर्वाङ्गसुन्दर एवं परिपूर्ण बनानेका यत्न किया है और उस यत्नमें पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

३. मम्मटने साहित्यशास्त्रके शक्ति, ध्वनि, रस, गुण, दोष, अलङ्कार आदि समग्र आवश्यक तत्त्वोंका यथार्थ मूल्याङ्कन किया है और उसीके अनुसार उनको अपने ग्रन्थमें स्थान दिया है।

४. संक्षिप्त सूत्रशैलीका अवलम्बनकर परिमित शब्दोंमें अधिकसे अधिक विषय देनेका यत्न किया है।

मम्मटके उत्तरवर्ती आचार्य

१९. सागरनन्दी

कालक्रममें मम्मटाचार्यके बाद सागरनन्दीका स्थान आता है। ये काव्यशास्त्रके नहीं अपितु नाट्यशास्त्रके आचार्य हैं। मम्मटके पूर्ववर्ती आचार्यों १. भरत तथा २. धनञ्जय और उनके भाई ३. धनिक ये तीन नाट्यशास्त्रके आचार्य हो चुके हैं। धनञ्जयने ९७४-९९४ ई० के बीच अपने नाट्यशास्त्रविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दशरूपक'की रचना की थी। इनके लगभग १०० वर्ष बाद सागरनन्दीने अपने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की। इनका असली नाम

तो केवल 'सागर' था, किन्तु नन्दी-वंशमें उत्पन्न होनेके कारण ये 'सागरनन्दी' नामसे ही विख्यात हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थके अन्तिम श्लोकमें अपने आधारभूत आचार्योंका उल्लेख इस प्रकार किया है—

'श्रीहर्षविक्रमनराधिपमातृगुप्त-
गर्गाश्मकुट्टनखकुट्टकबादराणाम्।
एषां मतेन भरतस्य मतं विगाह्य,
घुष्टं मया समनुगच्छत रत्नकोशम्॥

सन् १९२२ में स्व० सिलवाँ लेवीने नेपालमें 'नाट्यलक्षणरत्नकोश' नामक ग्रन्थकी पाण्डुलिपि प्राप्तकर और उसके सम्बन्धमें परिचयात्मक विवरण 'जरनल एशियाटिक'में (१९२२, पृष्ठ २१० पर) प्रकाशित कराया। उससे विदित हुआ कि सागरनन्दीने भी नाट्यसाहित्यपर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की है। इसके पूर्व 'नाटकलक्षणरत्नकोश'के कुछ उद्धरण तो विभिन्न ग्रन्थोंमें मिलते थे किन्तु इनके ग्रन्थका पता नहीं था। उसके बाद श्री एम० डिलनने इस ग्रन्थको सुसम्पादित करके लन्दनसे प्रकाशित करवाया है (१८३७ ई०)। 'नाटकलक्षण'में भरतमुनिके अतिरिक्त १. हर्षवार्तिकम्, २. मातृगुप्त, ३. गर्ग, ४. अश्मकुट्ट, ५. नखकुट्ट, ६. बादरिका भी उल्लेख पाया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि सागरनन्दीने भरत सहित सात आचार्योंके आधारपर अपने ग्रन्थकी रचना की है। किन्तु इन सबमें अधिक 'नाट्यशास्त्र'का आश्रय लिया गया है। अनेक स्थानोंपर भरतके श्लोकोंको ज्योंका त्यों उतार दिया गया है। 'दशरूपक'के समान यह ग्रन्थ भी कारिकारूपमें ही लिखा गया है।

२०. राजानक रुय्यक

ऊपरकी पंक्तियोंमें 'काव्यप्रकाश'की टीकाओंके प्रसङ्गमें 'काव्यप्रकाशसङ्केत' टीकाके रचयिताके रूपमें हमने रुय्यकका नाम दिया था। मम्मटके उत्तरवर्ती साहित्याचार्योंमें ये राजानक रुय्यक प्रमुख आचार्य हैं। इनके नामके साथ जुड़ी हुई 'राजानक' उपाधि इनके कश्मीरी पण्डित होनेका प्रमाण है। कश्मीरके राजाओं द्वारा ही प्रमुख विद्वानोंको 'राजानक'की उपाधि दी जाती थी। राजानक रुय्यकने 'काव्यप्रकाश'पर टीका लिखी है इसलिए वे ११वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें होनेवाले आचार्य मम्मटके पश्चाद्वर्ती हैं यह बात स्पष्ट ही है। दूसरी ओर इन्होंने मंखककविविरचित 'श्रीकण्ठचरित' काव्यसे लिये हुए पाँच पद्योंको उदाहरणरूपमें अपने 'अलङ्कारसर्वस्व' ग्रन्थमें उद्धृत किया है। यह बात भी उनका कालनिर्णय करनेमें सहायक होती है। मंखक कवि राजानक रुय्यकके शिष्य हैं। उनके 'श्रीकण्ठचरित'का रचनाकाल ११४५ है। इसलिए राजानक रुय्यकका काल ११वीं शताब्दीका मध्यभाग मानना उचित प्रतीत होता है।

रुय्यकविरचित ग्रन्थोंमेंसे १ 'सहृदयलीला', २ 'व्यक्तिविवेक'की टीका, तथा ३ 'अलङ्कारसर्वस्व' केवल ये तीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हो रहे हैं। इनमेंसे 'सहृदयलीला' स्त्रियोंके प्रसाधन अलङ्कारादिसे सम्बन्ध रखनेवाला एक छोटा-सा काव्यग्रन्थ है। दूसरा ग्रन्थ महिमभट्टके 'व्यक्ति विवेक'की टीकारूपमें लिखा गया है। किन्तु वह भी अधूरा ही मिला है और 'अनन्तशयन ग्रन्थमाला' में प्रकाशित हो चुका है। उनका सबसे प्रमुख ग्रन्थ है 'अलङ्कारसर्वस्व'। अलङ्कारशास्त्रके ऊपर यह बड़ा प्रौढ़ तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। साहित्यशास्त्रके रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति आदि जिन सम्प्रदायोंकी चर्चा ऊपर की गयी है उनकी मूल उद्भावना 'अलङ्कारसर्वस्व' और उसकी समुद्रबन्धकृत टीकामें ही की गयी थी। समुद्रबन्धकी टीकामें इन सम्प्रदायोंके विभाजनका वैज्ञानिक विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

'इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेन चेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीये भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन चेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेषु आद्यः उद्भटादिभिरङ्गीकृतः। द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन।'—समुद्रबन्धकृत अलङ्कारसर्वस्व-टीका

इस विवेचनमें टीकाकार समुद्रबन्धने 'विशिष्ट शब्दार्थ'को काव्य माना है। शब्द और अर्थका वह 'वैशिष्ट्य' धर्म द्वारा, व्यापार द्वारा तथा व्यङ्ग्य द्वारा तीन प्रकारसे हो सकता है। इन तीनोंमेंसे भी प्रथम तथा द्वितीय पक्षके फिर दो-दो भेद होकर चार भेद बन जाते हैं। (१) धर्म शब्दसे अलङ्कार तथा गुण इन दो धर्मोंका ग्रहण होता है। इसलिए धर्ममुखसे होनेवाले शब्दार्थके वैशिष्ट्यके दो पक्ष बन गये। एक अलङ्कार द्वारा शब्दार्थका वैशिष्ट्य माननेवाला पक्ष और दूसरा गुणों द्वारा शब्दार्थका वैशिष्ट्य माननेवाला पक्ष। इन्हींको क्रमशः अलङ्कारसम्प्रदाय तथा गुण-सम्प्रदाय कहा जा सकता है। इनमेंसे अलङ्कारपक्षके पोषक भट्टोद्भट आदि हैं और गुणपक्षके पोषक वामनादि हैं। यह टीकाकारका मत है। हम ऊपर दिखला चुके हैं कि गुणसम्प्रदायका दूसरा नाम 'रीतिसम्प्रदाय' भी है। इस रीतिसम्प्रदायके प्रवर्तक वामन हैं। (२) व्यापारमुखेन शब्दार्थका वैशिष्ट्य माननेवाले मतके भी दो भेद बन जाते हैं। एक भणितिवैचित्र्यकृत भेद और दूसरा भोग कृत्त्व या भोजकत्वव्यापार द्वारा होनेवाला वैचित्र्य। इसमेंसे प्रथम अर्थात् 'भणितिवैचित्र्यकृत' भेदको ही वक्रोक्तिसम्प्रदाय कहते हैं। उसके प्रवर्तक वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक हैं। दूसरा पक्ष भोजकत्वव्यापारके द्वारा शब्दार्थका वैशिष्ट्य मानना है। इस पक्षको माननेवाले भट्टनायक हैं। भट्टनायकके इस 'भोजकत्व' सिद्धान्तकी चर्चा काव्यप्रकाशकारने रसनिरूपणके प्रसङ्गमें (पृ० १०६ पर) की है। इस सिद्धान्तका सम्बन्ध रससम्प्रदायके साथ है। इन चार पक्षोंके बाद पाँचवाँ पक्ष वह रह जाता है जो (३) व्यङ्ग्यमुखेन शब्दार्थके वैशिष्ट्यको मानता है। यही ध्वनिसम्प्रदाय है और इसके प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन हैं।

यह समुद्रबन्धके इस विवेचनका अभिप्राय है। इसमें अलङ्कारसम्प्रदायका पोषक भामहके बजाय उनके टीकाकार उद्भटको बताया है और रससम्प्रदायके सम्बन्धमें भरतमुनिका नाम न लेकर उनके टीकाकार भट्टनायकका उल्लेख किया है। इन सम्प्रदायोंके विभाजनका यह सुन्दर एवं वैज्ञानिक विवेचन है। इसको प्रस्तुत करनेका श्रेय अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक और उनके टीकाकार समुद्रबन्धको है।

रुय्यकके टीकाकारोंमें समुद्रबन्ध १३वीं शताब्दीके टीकाकार हैं। ये दक्षिणभारतके निवासी हैं। केरलके राजा रविवर्माके राज्यकालमें हुए थे। रविवर्माका जन्मकाल १२६५ ई० माना जाता है।

रुय्यकके दूसरे टीकाकार जयरथ हैं। उन्होंने 'अलङ्कारसर्वस्व'के ऊपर 'विमर्शिणी' टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्तके 'तन्त्रालोक'पर भी जयरथने 'विवेक' नामकी बड़ी विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। इससे प्रतीत होता है कि अन्य कश्मीरी विद्वानोंके समान जयरथ भी साहित्य एवं दर्शनके प्रौढ़ विद्वान् थे। इनका काल समुद्रबन्धसे कुछ पहले तेरहवीं शताब्दीका आरम्भिक भाग माना जाता है।

'अलङ्कारसर्वस्व'के टीकाकारोंमें एक 'अलक' और दूसरे विद्याधर चक्रवर्ती ये दो टीकाकार और हुए हैं। इनमेंसे 'अलक' के नामका केवल उल्लेखमात्र मिलता है। उनकी टीका उपलब्ध नहीं है।

विद्याधर चक्रवर्तीकी टीकाका नाम 'अलङ्कारसर्वस्वसञ्जीवनी' या 'सर्वस्वसञ्जीवनी' है। उन्होंने मम्मटके 'काव्यप्रकाश'पर भी 'सम्प्रदायप्रकाशिनी' टीका लिखी थी। इनका काल चौदहवीं शताब्दीमें माना जाता है।

रुय्यकके तीन ग्रन्थोंका उल्लेख हमने ऊपर किया है। ये तीनों ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त (१) 'काव्यप्रकाशसंकेत', (२) 'अलङ्कारमञ्जरी', (३) 'अलङ्कारानुसारिणी', (४) 'साहित्य-मीमांसा', (५) 'नाटकमीमांसा' और (६) 'अलङ्कारवार्तिक' इन ६ ग्रन्थोंका उल्लेख जयरथकी 'विमर्शिणी' टीकामें मिलता है।

२१. हेमचन्द्र

राजानक रुय्यकके बाद साहित्यशास्त्रके आचार्योंमें आचार्य हेमचन्द्रका नाम आता है। ये जैनधर्मके अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनका जन्म गुजरातमें अहमदाबाद जिलेके 'धुन्धुक' नामक गाँवमें ११४५ वि० (१०८८ ई०) में और देहावसान ११७२ ई० में हुआ था। इस प्रकार इन्होंने ८४ वर्षकी आयु पायी। इनके अनेक ग्रन्थ हैं। अनहिलपट्टनके चालुक्य राजा सिद्ध-राज (१०९३-११४३ ई०) की प्रार्थनापर इन्होंने एक व्याकरणग्रन्थकी रचना की जिसका नाम अपने तथा सिद्धराज दोनोंके नामोंको मिलाकर 'सिद्धहेम' व्याकरण रखा। साहित्यशास्त्रपर इन्होंने 'काव्यानुशासन' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थकी रचना की। यह ग्रन्थ सूत्रपद्धतिपर लिखा गया है। उसके ऊपर 'विवेक' नामक 'वृत्ति' भी स्वयं ग्रन्थकारने लिखी है। ग्रन्थमें आठ अध्याय हैं। इनमें काव्यके लक्षण, प्रयोजनादि, रस, दोष, गुण, ६ प्रकारके शब्दालङ्कार, २९ प्रकारके अर्थालङ्कार आदिका वर्णन किया गया है। यह प्रायः संग्रहग्रन्थ-सा है जिसमें 'काव्यमीमांसा', 'काव्यप्रकाश', 'ध्वन्या-लोक', 'अभिनवभारती' आदिसे लम्बे-लम्बे उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।

२२. रामचन्द्र गुणचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्रके बाद उनके प्रमुख शिष्य रामचन्द्र गुणचन्द्रका स्थान आता है। आचार्य हेमचन्द्रके समान ये दोनों भी जैन धर्मके लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं। वैसे रामचन्द्र गुणचन्द्र एक नहीं, दो अलग अलग व्यक्ति हैं, किन्तु दोनों हेमचन्द्राचार्यके शिष्य हैं। इन दोनोंने मिलकर 'नाट्यदर्पण' नामक एक नाट्यविषयक ग्रन्थकी रचना की है इसलिए इन दोनोंके नामका उल्लेख प्रायः साथ-साथ ही किया जाता है। गुणचन्द्रका अपना अलगसे कोई और ग्रन्थ नहीं पाया जाता है किन्तु रामचन्द्रके अलग भी बहुत-से ग्रन्थ पाये जाते हैं जो प्रायः नाटक हैं। उन्हें 'प्रबन्धशतकर्ता' कहा जाता है। इसका अभिप्रायः यह है कि उन्होंने लगभग १०० ग्रन्थोंकी रचना की थी। उनके ११ नाटकोंके उद्धरण 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थमें पाये जाते हैं। अनेक दुर्लभ नाटकोंके उद्धरण भी इसमें दिये गये हैं जिनमें विशाखदत्तविरचित 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक भी है।

अन्य साहित्यग्रन्थोंके समान 'नाट्यदर्पण'की रचना भी कारिकाशैलीमें हुई है। उसपर वृत्ति भी ग्रन्थकारोंने स्वयं ही लिखी है। ग्रन्थमें चार 'विवेक' हैं, जिनमें क्रमशः नाटक, प्रकरणादि रूपक, रस, भावाभिनय तथा रूपक सम्बन्धी अन्य बातोंका विवेचन किया गया है। इन्होंने रसको केवल सुखात्मक न मानकर दुःखात्मक भी माना है।

आचार्य हेमचन्द्रके शिष्य होनेके नाते ये गुजरातके सिद्धराज (१०९३-११४३), कुमारपाल (११४३-११७२) तथा अजयपाल (११७२-११७४) तीन राजाओंके समयमें विद्यमान थे। कहते

हैं कि अन्तिम राजा अजयपालने किसी कारणवश क्रुद्ध होकर इन्हें प्राणदण्ड दिलवा दिया था। इनका समय १२वीं शताब्दीमें निश्चित होता है।

२३. वाग्भट

आचार्य हेमचन्द्रके समयमें गुजरातका अनहिलपट्टन राज्य जैन विद्वानोंका केन्द्र बन गया था। काव्यशास्त्रके अनेक आचार्योंने वहाँ रहकर साहित्यका निर्माण किया था। उसी परम्परामें रामचन्द्र गुणचन्द्रके बाद वाग्भटका नाम आता है। साहित्यिक क्षेत्रमें वाग्भटका नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। १ 'वाग्भटालङ्कार', २ 'काव्यानुशासन', ३ 'नेमिनिर्वाणमहाकाव्य', ४ 'ऋषभदेवचरित', ५ 'छन्दोऽनुशासन' और आयुर्वेदके प्रसिद्ध ग्रन्थ ६ 'अष्टाङ्गहृदय' आदि ग्रन्थोंके रचयिता वाग्भट माने जाते हैं। इन सबके रचयिता एक ही व्यक्ति हैं या अलग-अलग व्यक्तियोंने इनकी रचना की है इस विषयमें मतभेद है। कुछ लोग वाग्भट प्रथम और वाग्भट द्वितीय दो वाग्भट हुए हैं ऐसा मानते हैं। उनके मतमें प्रथम वाग्भट केवल 'वाग्भटालङ्कार'के निर्माता हैं और 'काव्यानुशासन', 'ऋषभदेवचरित' तथा 'छन्दोऽनुशासन' इन तीन ग्रन्थोंको ये लोग दूसरे वाग्भटकी रचना बतलाते हैं। किन्तु 'नेमिनिर्वाण' महाकाव्य तथा आयुर्वेदकी 'अष्टाङ्गहृदयसंहिता' इन दोनोंमेंसे किस वाग्भटकी कृति है इस विषयपर ये लोग कोई प्रकाश नहीं डाल सके हैं। वास्तवमें तो इन सब ग्रन्थोंके रचयिता वाग्भट नामके एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। 'वाग्भटालङ्कार' की टीका (४-१४८) में—

'इदानीं ग्रन्थकार इदमलङ्कारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य, तन्नामगाथया एकया निर्दिशति।'

यह पंक्ति लिखी है। इसमें वाग्भटको 'महाकवि' और 'अलङ्कारकर्ता' कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि अलङ्कारशास्त्रके 'वाग्भटालङ्कार' तथा 'काव्यानुशासन' ग्रन्थोंके साथ 'नेमिनिर्वाण-महाकाव्य' तथा 'ऋषभदेवचरित' जैसे काव्योंके रचयिता भी यही वाग्भट हैं। उस दशामें 'छन्दोऽनुशासन' तथा 'अष्टाङ्गहृदयसंहिता'का रचयिता भी इन्हींको मानना उचित प्रतीत होता है।

ऊपर दिये हुए उद्धरणमें जहाँ इनको 'महाकवि' कहा गया है उसके साथ ही 'महामात्य' भी बतलाया है। 'वाग्भटालङ्कार'के उदाहरणोंमें कर्णदेवके पुत्र अनहिलपट्टनके राजा चालुक्यवंशी राजा जयसिंहकी स्तुति निम्नलिखित प्रकार पायी जाती है—

'जगदात्मकीर्तिशुभ्रः जनयन्नुद्दामधामदोः परिघः।
जयति प्रतापपूषा जयसिंहक्ष्माभृदधिनाथः॥ ४-४५
अणहिल्लपाटके पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगतीह॥ ४-१३२
इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनुः,
ऐरावणेन किमहो यदि तद्‌द्विपेन्द्रः।
दम्भोलिनाप्ययमलं यदि तत्प्रतापः,
स्वर्गोऽप्ययं न तु सुधा यदि तत्पुरी सा॥'

इस स्तुतिसे यह प्रतीत होता है कि वाग्भट अनहिलपट्टनके राजा जयसिंहके महामात्य थे। एक बड़े राज्यके महामात्य, महाकवि और महान् विद्वान् होनेपर भी इनकी जीवनकथा बड़ी

करुण है। इन्हें अपने इस 'महामात्यत्व'का 'महामूल्य' चुकाना पड़ा है। इनकी एक पुत्री थी, परम सुन्दरी, परम विदुषी और अपने पिताके सदृश कविप्रतिभाशालिनी। जब वह विवाह योग्य हुई तो उसे बलात् इनसे छीनकर राजप्रासादकी शोभा बढ़ानेके लिए भेज दिया गया। न वाग्भट इसके लिए तैयार थे और न कन्या। पर 'अप्रतिहता राजाज्ञा'के सामने दोनोंको सिर झुकाना पड़ा। बिदाईके समयकी कन्याकी इस उक्तिको जरा देखिये कैसा चमत्कार है, तबीयत फड़क उठती है। राजप्रासादके लिए प्रस्थान करते समय कन्या अपने रोते हुए पिताको सान्त्वना देते हुए कह रही है—

'तात वाग्भट! मा रोदिहि कर्मणां गतिरीदृशी।
दुष् धातोरिवास्माकं गुणो दोषाय केवलम् ॥'

व्याकरणप्रक्रियाके अनुसार दुष् धातुको गुण होकर 'दोष' पद बनता है। 'दुष्' धातुके 'गुण'का परिणाम 'दोष' है। इसी प्रकार हमारे सौन्दर्य-'गुण'का परिणाम यह अनर्थ है और अत्याचाररूप 'दोष' है। इसलिए हे तात! आप रोइये नहीं, यह तो हमारे कर्मोंका फल है कि दुष् धातुके समान हमारा गुण भी दोषजनक हो गया।

२४. अरिसिंह और अमरचन्द्र

जैन आचार्योंकी परम्परामें अगला नाम अरिसिंह-अमरचन्द्रका आता है। जिस प्रकार रामचन्द्र गुणचन्द्र दोनों एक ही गुरुके शिष्य थे और दोनोंने मिलकर 'नाट्यदर्पण'की रचना की थी, उसी प्रकार अरिसिंह और अमरचन्द्र दोनों एक ही गुरु जिनदत्त सूरिके शिष्य हैं और उन दोनोंने मिलकर 'काव्यकल्पलता' नामक ग्रन्थकी रचना की है—

'किञ्चिच्च तद्रचितमात्मकृतं च किञ्चित्
व्याख्यास्यते त्वरितकाव्यकृतेऽत्र सूत्रम्।'

—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ० १

अमरसिंहके पिताका नाम लावण्यसिंह था। इन्होंने गुजरातके ढोलकर राज्यके राणा धीरधवलके मन्त्री और अपने मित्र वस्तुपाल जैनकी स्तुतिमें 'सुकृतसंकीर्तन' नामक काव्य लिखा है। अमरचन्द्रने 'काव्यकल्पलतावृत्ति'में अपने १. 'छन्दोरत्नावली', २. 'काव्यकल्पलतापरिमल' तथा ३. 'अलङ्कारप्रबोध' इन तीन ग्रन्थोंका उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'जिनेन्द्रचरित', जिसका दूसरा नाम 'पद्मानन्द' भी है, की रचना की है।

'काव्यकल्पलतावृत्ति'में अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके मार्गको छोड़कर नवीन मार्गका अवलम्बन किया है। उसका विषय 'कविशिक्षा' है। उसमें गुण, दोष, अलङ्कार आदिका विवेचन न करके काव्यरचनाके नियमोंका प्रतिपादन किया गया है। कवि बननेके इच्छुक व्यक्ति किस प्रकार अपने लक्ष्यको सरलतासे प्राप्त कर सकते हैं उन्हीं उपायोंका वर्णन इसमें किया गया है। इस ग्रन्थमें चार 'प्रतान' हैं। उनमें १. छन्दःसिद्धि, २. शब्दसिद्धि, ३. श्लेषसिद्धि और ४. अर्थसिद्धिके उपायोंका प्रतिपादन किया गया है।

२५. देवेश्वर

अरिसिंह-अमरचन्द्रके बाद उसी १४वीं शताब्दीमें देवेश्वर नामके एक और जैन विद्वान् हुए हैं। उन्होंने 'कविकल्पलता' नामक ग्रन्थकी रचना की है। पर यह ग्रन्थ पूर्वोक्त 'काव्यकल्पलता'की

एकदम अनुकृति है। कुछ नाममात्रका शैलीभेद करके सारा विषय 'काव्यकल्पलता'का ले लिया गया है। इसलिए इस ग्रन्थका अपना कोई मूल्य नहीं है।

२६. जयदेव

ग्यारहवीं शताब्दीमें आचार्य हेमचन्द्रसे लेकर चौदहवीं शताब्दीमें देवेश्वरपर्यन्त लगभग २५० वर्षतक जब उधर गुजरातका अनहिलवाड़ा राज्य जैन विद्वानों और साहित्यकारोंका केन्द्र बन रहा था, उसी समय बङ्गदेश ब्राह्मण विद्वानों, कवियों और साहित्यकारोंका केन्द्र बना हुआ था। इस कालमें गुजरातने जहाँ आचार्य हेमचन्द्र जैसे विद्वान् और रामचन्द्र जैसे सुकवि उत्पन्न किये उसी प्रकार बङ्गदेशके विद्याकेन्द्रने जयदेव और गोवर्धनाचार्य जैसे सुकवियों और पण्डितोंको प्रस्तुत किया। बङ्गदेशमें वल्लालसेनके पुत्र लक्ष्मणसेन ११वीं शताब्दीमें राज्य करते थे। इन लक्ष्मणसेनकी राजसभामें (१) आर्यासप्तशतीकार गोवर्धनाचार्य, (२) जयदेव, (३) शरणकवि, (४) उमापति और (५) कविराज ये पाँच प्रमुख सभापण्डित थे। राजा लक्ष्मणसेनके सभाभवनके द्वारपर इन 'सभारत्नों' के नाम शिलापट्टपर एक श्लोकके रूपमें निम्नलिखित प्रकार अङ्कित थे—

'गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य तु॥'

इनमेंसे गोवर्धनाचार्य 'आर्यासप्तशती'के रचयिताके रूपमें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। जयदेव 'चन्द्रालोक' और 'प्रसन्नराघव' नाटकादि अनेक ग्रन्थोंके रचयिता हैं। कविराजपद कदाचित् कोई कविके लिए प्रयुक्त हुआ है। जयदेवकविने 'गीतगोविन्द'में अपने सभी साथी कवियोंका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

'वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरः धोईकविक्ष्मापतिः॥'

—गीतगोविन्द १-४

इसमें जयदेवने उमापति, जयदेव, शरण, गोवर्धनाचार्य और धोई कविराज सभीका नाम ग्रहण करके उनकी विशेषताओंका कथन किया है।

जयदेवविरचित ग्रन्थोंमें १. 'चन्द्रालोक', २. 'प्रसन्नराघव' नाटक और 'गीतगोविन्द' तीन ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे 'गीतगोविन्द'में उन्होंने अपने आश्रयदाता लक्ष्मणसेन तथा अपने सहयोगी पंचरत्नोंका परिचय दिया है। 'चन्द्रालोक' एवं 'प्रसन्नराघव' नाटकमें अपने माता-पिताका परिचय दिया है। उनके पिताका नाम महादेव और माताका नाम सुमित्रा था। चन्द्रालोकके प्रत्येक 'मयूख' के अन्तमें—

'महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणहितमतिर्यस्यपितरौ॥'

लिखकर अपनी माता सुमित्रा तथा अपने पिता महादेवके नामका कीर्तन किया है। इसी प्रकार 'प्रसन्नराघव' नाटककी प्रस्तावनामें भी जयदेवने इन दोनोंका परिचय निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'विलासो यद्वाचामसमरसनिःष्यन्दमधुरः,
कुरंगाक्षी बिम्बाधरमधुरभावं गमयति ।
कवीन्द्रः कौण्डिन्यः स तव जयदेवः श्रवणयोः,
अभासीदातिथ्यं न किमिह महादेवतनयः ॥
लक्ष्मणस्येव यस्यास्य सुमित्राकुक्षिजन्मनः ।
रामचन्द्रपदाम्भोजे भ्रमद्भृंगायते मनः ॥'

माता-पिताके इस परिचयसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'चन्द्रालोक' तथा 'प्रसन्नराघव' नाटकके रचयिता एक ही व्यक्ति हैं ।

गीतगोविन्दकार जयदेव

'गीतगोविन्द'के बारहवें सर्गका ११वाँ श्लोक निम्नलिखित प्रकार पाया जाता है—

'श्रीभोजदेवप्रभवस्य रामादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य ।
पाराशरादिप्रियवर्गकण्ठे श्रीगीतगोविन्दकवित्वमस्तु ॥'

इस श्लोकमें जयदेवको भोजदेव और रामादेवीका पुत्र कहा है । इस कारण अधिकांश विद्वान् गीतगोविन्दकार जयदेवको 'चन्द्रालोक' तथा 'प्रसन्नराघव'के प्रणेता जयदेवसे भिन्न मानते हैं । इन गीतगोविन्दकार जयदेवके विषयमें श्रीचन्द्रदत्त नामक किसी कविने संस्कृतके 'भक्तमाल' नामक अपने ग्रन्थमें (३९-४१ तीन सर्गोंमें २४१ श्लोकोंमें) विस्तारके साथ परिचय दिया है । किन्तु उसमें इनके माता-पिताके नामका कोई उल्लेख नहीं किया है । उस परिचयमें चन्द्रदत्तने उत्कलमें जगन्नाथपुरीके पास 'बिन्दुविल्व' ग्रामको जयदेवकी जन्मभूमि बतलाते हुए लिखा है—

'जगन्नाथपुरीप्रान्ते देशे चैवोत्कलाभिधे ।
बिन्दुविल्व इति ख्यातो ग्रामो ब्राह्मणसंकुलः ॥
तत्रोत्कले द्विजो जातो जयदेव इति श्रुतः ।'

आगे तीन सर्गोंमें जो कुछ वर्णन है वह 'गीतगोविन्द'के माहात्म्यकी प्रदर्शक अनेक भक्त-जनोचित कथाओंके रूपमें है । चन्द्रदत्तके इस वर्णन और 'गीतगोविन्द'के दिये हुए माता-पिताके नामोंके भेदसे यह प्रतीत होता है कि गीतगोविन्दकार जयदेव चन्द्रालोककार और प्रसन्नराघवकार जयदेवसे भिन्न हैं । इसी आधारपर अधिकांश विद्वान् दो जयदेव अलग-अलग मानते हैं ।

किन्तु हमारे विचारमें यह स्थिति यथार्थ नहीं है । चन्द्रालोककार जयदेवको गीतगोविन्द-कार जयदेवसे भिन्न माननेका मुख्य आधार 'चन्द्रालोक'में आया हुआ उपरिलिखित 'श्रीभोजदेव-प्रभवस्य रामादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य' श्लोक ही है । परन्तु यह श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ता है । इस अनुमानका कारण यह है यह है कुम्भनृपतिकृत 'रसिकप्रिया' नामक 'गीतगोविन्द'की टीकामें इस 'श्रीभोजदेवप्रभवस्य' श्लोककी टीका नहीं पायी जाती है । निर्णयसागरसे जो 'रसिकप्रिया' टीका सहित 'गीतगोविन्द' प्रकाशित हुआ है उसमें इस स्थलपर सम्पादक महोदयने कोष्ठकमें 'अत्र श्रीभोजदेवेति श्लोकस्य टीका नोपलब्धा टीकादर्शपुस्तके' पद लिख दिया है । इससे अनुमान होता है कि यह श्लोक बादका बढ़ाया हुआ श्लोक है और प्रामाणिक नहीं है ।

हमारे इस अनुमानके समर्थनमें दूसरी युक्ति यह भी है कि यदि हम इस श्लोकके आधार-पर गीतगोविन्दकार जयदेवको चन्द्रालोककार जयदेवसे भिन्न मानना चाहें तो फिर चन्द्रदत्तकृत 'भक्तमाल'के विवरणके अनुसार उन्हें उत्कल-निवासी जयदेवके रूपमें मानना होगा। उस दशामें 'गीतगोविन्द'के प्रथम सर्गमें बंगालके राजा लक्ष्मणसेनकी राजसभाके पञ्चरत्नोंका उल्लेख करनेवाले श्लोककी सङ्गति कैसे लगेगी ? 'गीतगोविन्द'का प्रथम सर्गवाला यह श्लोक सर्वथा प्रामाणिक श्लोक है। उसमें किसीको मतभेद नहीं है। इस श्लोकसे यह स्पष्ट है कि गीतगोविन्दकार जयदेव वंगदेशीय राजा लक्ष्मणसेनकी सभाके 'पञ्चरत्नों'मेंसे ही हैं। इसलिए वे चन्द्रालोककार तथा प्रसन्नराघवकार जयदेवसे अभिन्न ही हैं, भिन्न नहीं हैं।

चन्द्रालोककार जयदेवसे गीतगोविन्दकार जयदेवको भिन्न माननेका मुख्य आधार 'श्रीभोज-देव' इत्यादि श्लोक था। वह अप्रामाणिक है यह बात हम अभी दिखला चुके हैं। इसका दूसरा आधार चन्द्रदत्तकृत 'भक्तमाल'को दिया हुआ उत्कलवासी जयदेवका वर्णन है। वह वर्णन स्पष्टतः गीतगोविन्दकारसे ही सम्बन्ध रखता है। किन्तु उसमें जयदेवके माता-पिताके नामका कहीं उल्लेख नहीं आता है। केवल उत्कलदेशमें उनके जन्मकी और जगन्नाथपुरी तथा उत्कलसे सम्बद्ध 'गीत-गोविन्द'के माहात्म्यकी प्रदर्शक कथाओंका वर्णन है। परन्तु उससे गीतगोविन्दकार जयदेवको चन्द्रा-लोककार जयदेवसे भिन्न माननेका समर्थन नहीं होता है। यह हो सकता है कि जयदेवका जन्म उत्कलके 'बिन्दुबिल्व' ग्राममें ही हुआ हो और उनका विवाह भी वहीं पद्मावतीके साथ हुआ हो, किन्तु बादको वे वंगदेशीय राजा लक्ष्मणसेनकी राजसभाके 'रत्न' बन गये हों। यह भी माना जा सकता है कि उन्होंने 'गीतगोविन्द'की रचना उत्कलमें रहते हुए ही कर ली हो जिससे उत्कल और जगन्नाथपुरीके मन्दिरमें 'गीतगोविन्द'का विशेष प्रचार हो गया हो। पर इससे उन्हें 'चन्द्रालोक' और 'प्रसन्नराघव'का कर्ता न माननेका समर्थन तो नहीं होता है, और न इस यह सिद्ध होता है कि वे राजा लक्ष्मणसेनकी सभाके रत्नोंमें नहीं आ सकते हैं। यदि 'भक्तमाल'वाली कथा इस बातमें बाधा उपस्थित करती है कि गीतगोविन्दकार जयदेव राजा लक्ष्मणसेनकी सभाके 'रत्न' थे तो उस कथाको भी अप्रामाणिक मानना होगा, क्योंकि गीतगोविन्दकार जयदेवने स्वयं ही लक्ष्मणसेनके सभारत्नोंमें अपने नामका उल्लेख किया है।

इस सब विवेचनका परिणाम यह निकलता है कि गीतगोविन्दकार जयदेव चन्द्रालोककार जयदेवसे भिन्न नहीं हैं, अभिन्न ही हैं।

पक्षधर मिश्र और जयदेव मिश्र

चन्द्रदत्तके 'भक्तमाल'के अनुसार उत्कलप्रदेशमें जयदेव उत्कलवासीके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार मिथिलामें वे एक मैथिल विद्वान्‌के रूपमें प्रसिद्ध हैं। मैथिल-प्रसिद्धिके अनुसार जयदेव पक्षधर मिश्रका दूसरा नाम है। पक्षधर मिश्र मैथिल और नव्य-न्यायके प्रमुख आचार्य हैं। उनका जन्मकाल १२७५ है। इन्हींका दूसरा नाम जयदेव मिश्र है। अलङ्कारशास्त्रपर इन्होंने 'चन्द्रालोक' ग्रन्थ लिखा है, इसी प्रकार गङ्गेशोपाध्याय-विरचित 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थके ऊपर पक्षधर मिश्रने 'तत्त्वचिन्तामणि आलोक' ग्रन्थकी रचना की है। पक्षधर मिश्र (जयदेव)के नव्य-न्यायपर 'न्यायलीलावतीविवेक' तथा 'द्रव्यपदार्थाऽलोक' ग्रन्थ भी है। जयदेव मिश्र पक्षधर मिश्रका ही दूसरा नाम हो सकता है, इस बातकी पुष्टि इस आधारपर होती है कि 'प्रसन्नराघव' नाटकमें जयदेव मिश्रने अपने तार्किकत्वका भी बड़े गर्वके साथ उल्लेख करते हुए लिखा है—

'येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती,
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते।
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता,
तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः॥'

जयदेवके नामसे १. 'चन्द्रालोक', २. 'प्रसन्नराघव' नाटक तथा ३. 'गीतगोविन्द' तीन ग्रन्थ विशेष रूपसे प्रसिद्ध हैं।

'चन्द्रालोक'में १० 'मयूख' हैं। उनमें क्रमशः १ वाग्विचार, २ दोषनिरूपण, ३ लक्षण-निरूपण, ४ गुणनिरूपण, ५ अलङ्कारनिरूपण, ६ रसभावरीतिवृत्तिनिरूपण, ७ शब्दशक्तिनिरूपण, ८ गुणीभूतव्यंग्यनिरूपण, ९ लक्षणानिरूपण और १० अभिधानिरूपणका प्रतिपादन हुआ है। यह ग्रन्थ बड़ी सरल एवं सुन्दर शैलीमें लिखा गया है। अलङ्कारोंके निरूपणमें इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने अनुष्टुप श्लोकके पूर्वार्धमें प्रत्येक अलङ्कारका लक्षण और आधे श्लोकमें उसका उदाहरण दे दिया है। इससे अलङ्कारोंके समझने और याद करनेमें बड़ी सरलता होती है। इसीलिए यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुआ। इसके ऊपर प्रद्योतन भट्टाचार्यने 'शरदागम' टीका सबसे पहिले लिखी थी। उसके बाद अप्पयदीक्षित (१६२०-१६६०) ने 'चन्द्रालोक'के अलंकार-प्रकरणको लेकर अपने 'कुवलयानन्द' ग्रन्थकी रचना की।

'चन्द्रालोको विजयतां शरदागमसम्भवः।
हृद्यः कुवलयानन्दो यत्प्रसादादभूदयम्॥'

इनके अतिरिक्त वैद्यनाथ पायगुण्डेने 'रमा' नामक एक टीका और विश्वेश्वर पण्डितने, जो 'गागाभट्ट' नामसे भी कहे जाते हैं, 'चन्द्रालोक'पर 'सुधा' या 'राकागम' टीका लिखी। जोधपुरनरेश जसवन्तसिंह प्रथम (सं० १६८३-१७३५) ने इसी 'चन्द्रालोक'के आधारपर 'भाषाभूषण' नामक अलङ्कारग्रन्थकी रचना की है। 'चन्द्रालोक'का पाँचवाँ मयूख इस 'भाषाभूषण' ग्रन्थका आधार है। 'भाषाभूषण' 'चन्द्रालोक'का अनुवादमात्र नहीं है।

जयदेवका दूसरा ग्रन्थ 'प्रसन्नराघव' नाटक है। 'चन्द्रालोक'के समान उत्तरवर्ती साहित्यपर इसका भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। गोस्वामी तुलसीदासने 'प्रसन्नराघव'के अनेक पद्योंका अनुवाद अपने रामचरितमानसमें प्रस्तुत किया है। उदाहरणरूपमें निम्नलिखित दो पद्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

'चन्द्रहास हर मे परितापं रामचन्द्रविरहानलजातम्।
त्वं हि कान्तिजित मौक्तिकचूर्णधारया वहसि शीतलमम्भः॥'

यह 'प्रसन्नराघव' नाटकके छठे अंकका श्लोक है। गोस्वामी तुलसीदासने इसका अनुवाद निम्नलिखित प्रकार किया है—

'चन्द्रहास हरु मम परितापं। रघुपति विरह अनल संजातम्।'
'सीत निसा तव असिबर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥'

'प्रसन्नराघव' नाटकके सप्तमांकका पहिला श्लोक इस प्रकार है—

'उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते।
चतुर्थीचन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका॥'

गोस्वामी तुलसीदासजीने इसका भावानुवाद निम्नलिखित प्रकार प्रस्तुत किया है—

'सो परनारि-लिलार गुसाईं।
तजहु चौथ चन्दाकी नाईं॥'

२७. विद्याधर

एकावलीकार विद्याधरसे अलङ्कारशास्त्रकी प्रवृत्तियोंमें एक नया मोड़ आरम्भ होता है। अबतक हमने यह देखा है कि साहित्यशास्त्रके ऊपर सबसे बड़ा और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम भारतके ठेठ उत्तरी भाग कश्मीरमें हुआ। साहित्यशास्त्रके २,००० वर्षके इतिहासमें बारहवीं शताब्दीमें हुए रुय्यकतक लगभग १,४०० वर्ष साहित्यिक प्रवृत्तियोंका प्रधान केन्द्र कश्मीर रहा है। यह भारतका उत्तरी विद्याकेन्द्र था। इसके बाद गुजरातका अनहिलपट्टन राज्य और पूर्वका वङ्गराज्य साहित्यिक प्रवृत्तियोंके केन्द्र बने। एकावलीकार विद्याधरसे साहित्यिक प्रवृत्तियोंका केन्द्र दक्षिणभारतमें पहुँच गया। विद्याधर, विद्यानाथ और विश्वनाथ ये सब दक्षिणभारतकी विभूतियाँ हैं, जिन्होंने अलङ्कारशास्त्रके साहित्यनिर्माणमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

विद्याधरका एकमात्र ग्रन्थ 'एकावली' है। इसमें आठ 'उन्मेष' या अध्याय हैं। इनमें क्रमशः १ काव्यस्वरूप, २ वृत्तिविचार, ३ ध्वनिभेद, ४ गुणीभूतव्यङ्ग्य, ५ गुण और रीति, ६ दोष, ७ शब्दालङ्कार तथा ८ अर्थालङ्कारोंका विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' और 'अलङ्कारसर्वस्व'के आधारपर लिखा गया है। इसके ऊपर १४वीं शताब्दीमें सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथने 'तरला' नामक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। इसीलिए मल्लिनाथने अपनी काव्य-टीकाओंमें 'एकावली' के काव्यलक्षण ही प्रायः उद्धृत किये हैं।

'एकावली'की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसमें जितने उदाहरण दिये गये हैं वे स्वयं विद्याधरके बनाये हुए हैं और उन्होंने अपने आश्रयदाता उत्कलाधिपति नरसिंहदेवके स्तुतिरूपमें उनकी रचना की है। उन्होंने लिखा है—

'एवं विद्याधरस्तेषु कान्तासम्मितलक्षणम्।
करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन्॥'

—एकावली

ग्रन्थकारने स्वयं अपने इन श्लोकोंको 'चाटुश्लोक' (खुशामद और चापलूसीके श्लोक) कहा है। पूर्ववर्ती अलङ्कारसाहित्यमें यह चाटुप्रवृत्ति नहीं दिखलाई देती है। विद्याधरने इस नवीन चाटु-प्रवृत्तिकी उद्भावना की। उनके बाद विद्यानाथने भी इसका अनुकरण किया। विद्याधरने जिन उत्कलाधिपतिके चाटुश्लोकोंको उदाहरणरूपमें प्रस्तुत कर 'एकावली'की रचना की है वे उड़ीसा-के राजा नरसिंह द्वितीय माने जाते हैं। उनका समय १२८०-१३१४ ई० है। इसलिए विद्याधरका भी यही काल पड़ता है।

२८. विद्यानाथ

विद्याधरके बाद विद्यानाथका समय आता है। ये भी विद्याधर द्वारा उद्भावित 'चाटु-प्रवृत्ति'के अनुगामी हैं। इन्होंने अलङ्कारशास्त्रपर 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामका ग्रन्थ लिखा है। अन्य ग्रन्थोंके समान इसमें भी कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण तीन भाग हैं। इसमेंके सारे उदाहरण आन्ध्रप्रदेशके काव्यतीयवंशीय राजा प्रतापरुद्रकी स्तुतिमें स्वयं विद्यानाथके बनाये हुए हैं।

'प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः।
अलङ्कारप्रबन्धोऽयं सन्तः कर्णोत्सवोऽस्तु वः।'
—प्रतापरुद्रयशोभूषण १-९

इस 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'के तृतीय अध्यायमें ग्रन्थकारने अपने आश्रयदाताकी स्तुतिमें लिखे हुए 'प्रतापकल्याण' नाटकका समावेश कर दिया है। प्रतापरुद्र आन्ध्रप्रदेशके राजा थे। इनकी राजधानी वारङ्गल, जिसको 'एकशिला' कहते हैं, थी। इनके शिलालेख १२९८-१३१७ ई० तकके मिलते हैं। इसलिए प्रतापरुद्र राजाका समय चौदहवीं शताब्दीका प्रारम्भिक भाग है। यही समय विद्यानाथका भी है। विद्यानाथके 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'के आदर्शपर ही कदाचित्, हिन्दीके प्रसिद्ध कवि भूषणने 'शिवराजभूषण' नामक अलङ्कारग्रन्थकी हिन्दीमें रचना की थी।

२९. विश्वनाथ कविराज

विद्यानाथके बाद विश्वनाथ कविराजका नाम आता है। इनका अलङ्कारशास्त्रविषयक 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ बड़ा लोकप्रिय है। उसके अन्तिम श्लोकमें उन्होंने अपनेको 'श्रीचन्द्रशेखर-महाकविचन्द्रसूनुः' कहा है, जिससे पता चलता है कि इनके पिताका नाम चन्द्रशेखर था। इनके पितामहका नाम नारायणदास था। इन्होंने 'काव्यप्रकाश'के ऊपर टीका भी लिखी है। उसका उल्लेख 'काव्यप्रकाश'की टीकाओंके प्रसंगमें किया जा चुका है। इसमें उन्होंने अपने पितामह श्री नारायण-दासका परिचय देते हुए लिखा है—

'यदाहुः श्रीकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः अस्मत्पितामहश्रीमन्नारायणदासपादाः।'

'साहित्यदर्पण'में इन्हीं नारायणदासका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

'तत्प्रवणत्वं चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारा-यणपादैरुक्तम्।'

इन दोनोंमें विश्वनाथने नारायणदासके साथ अपना जो सम्बन्ध दिखलाया है वह एक-सा नहीं है। पहिली जगह उनको अपना साक्षात् पितामह कहा है और दूसरी जगह 'वृद्धप्रपितामह-सहृदयगोष्ठीगरिष्ठ' अर्थात् मित्रमण्डलीके प्रमुख कहा है। पता नहीं इनमेंसे कौन-सी बात ठीक है। पर इस विवरणसे यह निकलता है कि यह कलिङ्गके रहनेवाले थे। 'साहित्यदर्पण'के प्रथम परिच्छेदके अन्तकी पुष्पिकाके अनुसार उन्होंने अपनेको 'सान्धिविग्रहिक' और 'अष्टादशभाषावार-विलासिनीभुजङ्ग' कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि वे १८ भाषाओंके ज्ञाता थे और किसी राज्य-के 'सान्धिविग्रहिक' अर्थात् विदेशमन्त्री थे। किन्तु उस राज्यका कोई उल्लेख नहीं किया है।

'साहित्यदर्पण'के चतुर्थ परिच्छेदमें 'अल्लावदीन नृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः' (४-१४) इन शब्दोंमें दिल्लीके सुलतान अलाउद्दीन खिलजीका उल्लेख पाया जाता है। अलाउद्दीन खिलजीका शासनकाल १२९६-१३१६ ई० तक रहा है। उसने दक्षिणभारतपर आक्रमण कर पिछले आचार्य विद्यानाथके आश्रयदाता प्रतापरुद्रकी राजधानी वारंगल (एकशिला) को जीत लिया था। उसका उल्लेख 'साहित्यदर्पण'में पाये जानेसे विश्वनाथका काल उसके बाद ही होना सम्भव है। इधर 'साहित्यदर्पण'की एक हस्तलिपि प्राप्त हुई है, उसका लेखनकाल सन् १३८४ ई० (सं० १४४०) है। इसलिए विश्वनाथका काल चौदहवीं शताब्दीमें स्थिर होता है।

विश्वनाथका सबसे मुख्य और प्रसिद्धतम ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' है। 'काव्यप्रकाश'के समान इसमें भी दस परिच्छेद हैं और इन परिच्छेदोंमें प्रायः उसी क्रममें विषयका विवेचन किया गया है। किन्तु इसकी अपनी विशेषता यह है इसके छठे परिच्छेदमें जो इसका सबसे बड़ा परिच्छेद है, नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी सम्पूर्ण विषयका समावेश कर दिया गया है, जिससे काव्य तथा नाट्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञान एक ही ग्रन्थ द्वारा प्राप्त हो जानेसे ग्रन्थकी उपयोगिता बढ़ गयी है। 'काव्यप्रकाश'में नाटक सम्बन्धी अंश नहीं है। प्रथम उल्लासमें काव्यके प्रयोजन-लक्षणादि प्रस्तुत करते हुए विश्वनाथने मम्मटके 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' इस काव्य-लक्षणका बड़े संरम्भके साथ खण्डन किया है और उसके स्थानपर 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'को काव्यका लक्षण स्थापित किया है। द्वितीय परिच्छेदमें वाच्य और पदका लक्षण करनेके बाद अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जनादि शब्दशक्तियोंका विस्तारके साथ विवेचन किया है। तृतीय उल्लासमें रस-निष्पत्तिका बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। रसनिरूपणके साथ-साथ इसमें नायकनायिकाभेदका प्रतिपादन किया है। यह विषय भी 'काव्यप्रकाश'में नहीं आया है। चतुर्थ परिच्छेदमें काव्यके ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यके भेदोंका विवेचन किया है। पञ्चम परिच्छेदमें ध्वनिसिद्धान्तके विरोधी समस्त मतोंका खण्डन करके ध्वनिसिद्धान्तका समर्थन बड़ी प्रौढ़ताके साथ किया है। इसीलिए ग्रन्थकार परिच्छेदोंके अन्तकी पुष्पिकाओंमें अपनेको 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' लिखते हैं। छठे परिच्छेदमें नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी विषयोंका प्रतिपादन है। उसके बाद ७—१० चार परिच्छेदोंमें क्रमशः दोष, गुण, रीति तथा अलङ्कारोंका प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ सर्वाङ्गपूर्ण बन गया है। ग्रन्थकी लेखनशैली बड़ी सरल और सुबोध है। 'काव्यप्रकाश'की-सी जटिलता इसमें कहीं नहीं है।

'साहित्यदर्पण'के लिखनेके बाद विश्वनाथने 'काव्यप्रकाश'के ऊपर 'काव्यप्रकाशदर्पण' नामक टीका लिखी। इनके अतिरिक्त अनेक काव्योंकी भी रचना की है, जिनमें १. 'राघवविलास', संस्कृतका महाकाव्य है; २. 'कुवलयाश्वचरित' प्राकृत भाषामें निबद्ध काव्य है; ३. 'प्रभावती-परिणय' नाटिका; ४. 'चन्द्रकला' नाटिका; ५. 'नरसिंहविजय' काव्य तथा ६. 'प्रशस्तिरत्नावली' इन ६ काव्य तथा नाटकोंका उल्लेख इन्होंने स्वयं 'साहित्यदर्पण' तथा 'काव्यप्रकाश'की टीकामें किया है। इनमेंसे अन्तिम 'प्रशस्तिरत्नावली' सोलह भाषाओंमें लिखा हुआ 'करम्भक' है।

३०. शारदातनय [१३वीं शताब्दी]

शारदातनय अलङ्कारशास्त्रके नहीं अपितु नाट्यशास्त्रके आचार्य हैं। इनके ग्रन्थका नाम 'भावप्रकाशन' है। ग्रन्थमें दस 'अधिकार' अथवा अध्याय हैं। इनमें क्रमशः १ भाव, २ रसस्वरूप, ३ रसभेद, ४ नायक-नायिका, ५ नायिकाभेद, ६ शब्दार्थसम्बन्ध, ७ नाट्येतिहास, ८ दशरूपक, ९ नृत्यभेद तथा १० नाट्य-प्रयोगका वर्णन किया गया है।

शारदातनयका नाम उनका राशिनाम नहीं है अपितु वे अपनेको शारदादेवीका पुत्र मानकर अपनेको 'शारदातनय' कहने-लिखने लगे, इसलिए उनका यही नाम प्रसिद्ध हो गया। उन्होंने अपने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थमें भोजके 'शृङ्गारप्रकाश' तथा मम्मटके 'काव्यप्रकाश'से अनेक श्लोकोंको उद्धृत किया है। आगे १३२० ई० के लगभग होनेवाले शिंगभूपालने अपने 'रसार्णवसुधाकर' ग्रन्थमें इन शारदातनयके मतका उल्लेख किया है, इसलिए शारदातनयका समय उनसे पूर्व अर्थात् तेरहवीं शताब्दी माना जा सकता है।

३१. शिङ्गभूपाल [१४वीं शताब्दी]

शारदातनयके समान शिङ्गभूपाल भी नाट्यशास्त्रके आचार्य हैं। इनका 'रसार्णवसुधाकर' ग्रन्थ नाट्यशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाला ग्रन्थ है। उसमें १. रञ्जकोल्लास, २. रसिकोल्लास तथा ३. भावोल्लास नामक तीन उल्लास हैं। प्रथम रञ्जकोल्लासमें नायक-नायिकाके स्वरूपका, दूसरे रसिकोल्लासमें रसके स्वरूपका और तीसरे भावोल्लासमें रूपकोंके वस्तुविन्यासका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। लेखनशैली सरल और सुन्दर है। 'रसार्णवसुधाकर'की पुष्पिकामें इन्होंने अपना परिचय निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'इति श्रीमदान्ध्रमण्डलाधीश्वरप्रतिगुणभैरवश्रीअन्नप्रोतनरेन्द्रनन्दनभुजबलभीमशिंगभूपालविरचिते रसार्णवसुधाकरनाम्निग्रन्थे नाट्यालंकाररञ्जकोल्लासो नाम प्रथमो विलासः।'

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आन्ध्रके राजा अन्नप्रोतके पुत्र और आन्ध्रमण्डलके अधीश्वर थे। साथ ही इन्होंने अपनेको शूद्र लिखा है।

'रसार्णवसुधाकर'के अतिरिक्त इन्होंने शार्ङ्गदेवके 'संगीतरत्नाकर' नामक संगीतशास्त्र-विषयक ग्रन्थके ऊपर 'संगीतसुधाकर' टीका लिखी है। इसकी पुष्पिका भी 'रसार्णवसुधाकर'की पुष्पिकासे बिलकुल मिलती-जुलती है। 'रसार्णवसुधाकर'के आरम्भमें इन्होंने अपने वंशादिका जो परिचय दिया है उससे विदित होता है कि इनका जन्म 'रेचल' वंशमें हुआ था। इन्हें ६ पुत्र थे। विन्ध्याचलसे लेकर श्रीबोल नामक पर्वततकके बीचके भागपर इनका शासन था। इनकी राजधानीका नाम 'राजाचल' था और ये शूद्र थे। इनका समय चौदहवीं शताब्दीमें माना जाता है।

३२. भानुदत्त [१४वीं शताब्दी]

अबतक हमने काव्यशास्त्रविषयक साहित्यिक प्रवृत्तियोंका जो चित्र उपस्थित किया है उसमें भारतके उत्तरमें कश्मीर, पश्चिममें अनहिलपट्टन, पूर्वमें वंग और दक्षिणमें उत्कल, आन्ध्र आदिके राजाओंके संरक्षणमें होनेवाली साहित्यिक प्रवृत्तियोंका परिचय मिल जाता है। किन्तु इस कार्यमें मध्यभारतका भाग अबतक शून्य जैसा है। अब भानुदत्तसे मध्यभारतकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका आरम्भ होता है। भानुदत्तके दो ग्रन्थ हैं—१. 'रसमञ्जरी' और २. 'रसतरंगिणी'। इनमेंसे 'रसमंजरी' मुख्य ग्रन्थ है। 'रसतरंगिणी' इसीका संक्षिप्त रूप है। 'रसमंजरी'के अन्तिम श्लोकमें ग्रन्थकारने अपना परिचय निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालंकारचूडामणिः
देशो यस्य विदेहभूसुरसरित्कल्लोलकिर्मीरिता।'

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये विदेहभू अर्थात् मिथिलाके रहनेवाले थे और इनके पिताका नाम गणेश्वर था। 'विवादरत्नाकर' नामक धर्मशास्त्रविषयक ग्रन्थके लेखक चण्डेश्वरने भी अपनेको मन्त्री गणेश्वरका पुत्र बतलाया है। इससे प्रतीत होता है कि कदाचित् भानुदत्त और चण्डेश्वर सगे भाई होंगे। चण्डेश्वरने १३१५ ई० में अपना तुलादान करवाया था। इसलिए भानुदत्तका समय चौदहवीं शताब्दीमें ही निर्धारित होता है। पन्द्रहवीं शताब्दीमें गोपाल

आचार्य (१४२८ ई०) ने भानुदत्तकी 'रसमंजरी'पर 'विकास' नामक टीका लिखी है। 'रसमंजरी'पर अबतक ११ टीकाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। 'रसमंजरी' एवं 'रसतरंगिणी'के अतिरिक्त भानुदत्तका 'गीतगौरीपति' नामक एक सुन्दर गीतिकाव्य भी मिलता है, जो जयदेवके 'गीतगोविन्द'के आदर्श-पर लिखा गया है और उसीके समान सरस एवं सुन्दर है।

३३. रूपगोस्वामी [१५-१६वीं शताब्दी]

रूपगोस्वामी वृन्दावनकी विभूति हैं। वे चैतन्य महाप्रभुके शिष्य प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य हैं। इन्होंने वैष्णव दृष्टिकोणसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं विशाल साहित्यकी रचना की है। रूप-गोस्वामी तथा सनातनगोस्वामी ये दो भाई थे। दोनों चैतन्य महाप्रभुके शिष्य थे और उन्हींकी प्रेरणासे अपनी जन्मभूमि बंगालको छोड़कर वृन्दावनमें जाकर बसे थे। इनके साथ इनके एक भतीजे जीवगोस्वामी भी हैं। ये तीनों ही वैष्णवधर्मके प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनके कारण वृन्दावनको साहित्यिक क्षेत्रमें अपूर्व गौरव प्राप्त हुआ है। जीवगोस्वामीने सनातनगोस्वामीकी भागवत-टीकाका संक्षिप्तरूप 'लघुतोषिणी'के नामसे प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थमें उन्होंने सनातनगोस्वामी तथा रूपगोस्वामीके सभी ग्रन्थोंकी सूची दी है। इस सूचीके अनुसार रूपगोस्वामीके १७ ग्रन्थ हैं। इनमें १. 'हंसदूत' काव्य, २. 'उद्धवसन्देश' काव्य, ३. 'विदग्धमाधव' नाटक, ४. 'ललितमाधव' नाटक, ५. 'दानकेलिकौमुदी' भाणिका, ६. 'भक्तिरसामृतसिन्धु', ७. 'उज्ज्वलनीलमणि' (रसशास्त्र) तथा ८. 'नाटकचन्द्रिका' ये आठ ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमेंसे भी अन्तिम तीन ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। इन्हीं ग्रन्थोंके कारण अलङ्कारशास्त्रके इतिहासमें इनको महत्त्व-पूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इनमेंसे 'विदग्धमाधव'का रचनाकाल १५३३ ई० तथा 'उत्कलिकावल्लरी' (जिसका उल्लेख ऊपर नहीं आया है) का रचनाकाल १५५० ई० दिया गया है। इससे इनके काल निर्धारणमें सहायता मिलती है। चैतन्य महाप्रभुका समय १५ वीं शताब्दीका अन्तिम भाग है। रूपगोस्वामी उनके शिष्य हैं और १५५० में उन्होंने 'उत्कलिकावल्लरी'की रचना की है, इसलिए उनका समय हमने १५-१६वीं शताब्दी रखा है।

रूपगोस्वामीके साहित्यशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले तीन ग्रन्थोंमेंसे 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' ये दोनों ग्रन्थ रसविषयपर हैं। 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिणविभाग नामसे चार 'विभाग' हैं। प्रत्येक विभाग अनेक लहरियोंमें विभक्त है। इसमें भक्तिरसको सर्वोत्तम रस सिद्ध करनेका यत्न किया गया है। पूर्वविभागमें भक्तिका सामान्य स्वरूप-लक्षणादि दिये हैं। दक्षिणविभागमें उसके विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभावोंका वर्णन किया गया है। पश्चिमविभागमें शान्त भक्तिरस, प्रीत भक्तिरस, प्रेयो भक्तिरस, वत्सल भक्तिरस तथा मधुर भक्तिरस आदि भक्तिरसके विशेष भेदोंका निरूपण किया है। उत्तर-विभागमें हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक रसोंका वर्णन और रसोंके विरोधाविरोध आदिका दिग्दर्शन कराया गया है। इस ग्रन्थकी रचना १५४१ ई० (१४३३ शाके) में हुई थी। 'उज्ज्वलनीलमणि' इसका पूरक ग्रन्थ है। उसमें मधुर शृङ्गारका विवेचन है।

रूपगोस्वामीका साहित्यशास्त्रविषयक तीसरा ग्रन्थ 'नाटकचन्द्रिका' है। इसकी रचना उन्होंने भरत-नाट्यशास्त्र तथा शिङ्गभूपालके 'रसार्णवसुधाकर'के आधारपर की है। इसमें विश्वनाथके 'साहित्यदर्पण'में किये हुए नाट्यनिरूपणको भरतमुनिके विपरीत बतलाया गया है।

रूपगोस्वामीके भतीजे जीवगोस्वामीने उनके 'भक्तिरसामृतसिन्धु'पर 'दुर्गमसङ्गमिनी'

तथा 'उज्ज्वलनीलमणि'पर 'लोचनरोचनी' टीकाएँ लिखी हैं। रूपगोस्वामी तथा सनातनगोस्वामीके समान जीवगोस्वामी भी बड़े उच्च कोटिके विद्वान् थे। ये तीनों आचार्य वृन्दावनके गौरवभूत हैं।

३४. केशवमिश्र [१६वीं शताब्दी]

भारतके मध्यभागमें होनेवाली साहित्यिक प्रवृत्तियोंका यह प्रसङ्ग चल रहा है। इसमें हम वृन्दावन आ गये हैं। अब थोड़ा-सा और आगे बढ़ें तो हम भारतकी राजधानी दिल्लीके पास पहुँच जाते हैं। यह केशव मिश्रका स्थान है। केशव मिश्रने काव्यशास्त्रपर 'अलङ्कारशेखर' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की है। इस ग्रन्थमें उन्होंने लिखा है कि इस ग्रन्थकी रचना धर्मचन्द्रके पुत्र राजा माणिक्यचन्द्रके आग्रहपर की गयी है। कनिंघमने धर्मचन्द्रके पुत्र माणिक्यचन्द्र राजाका उल्लेख काँगड़ाके राजाके रूपमें किया है। उनके अनुसार माणिक्यचन्द्र १५६३ ई० में काँगड़ाकी गद्दीपर बैठे और उन्होंने दस वर्षतक राज्य किया। इससे केशव मिश्रका काल सोलहवीं शताब्दीका उत्तरार्धभाग निश्चित होता है।

अन्य अलङ्कारग्रन्थोंके समान केशव मिश्रने भी अपने 'अलङ्कारशेखर' ग्रन्थकी रचना कारिकारूपमें की है और उसपर स्वयं ही वृत्ति लिखी है। इसमें आठ अध्याय या आठ 'रत्न' हैं। इनमें १. काव्यका लक्षण, २. रीति, ३. शब्दशक्ति, ४. आठ प्रकारके पददोष, ५. अठारह प्रकारके वाक्यदोष, ६. आठ प्रकारके अर्थदोष, ७. पाँच प्रकारके शब्दगुण, चार प्रकारके अर्थगुण, दोषोंका गुणभाव, ८. अलङ्कार तथा ९. रूपक आदि विषयोंका निरूपण किया गया है। इसमें इन्होंने यह भी लिखा है कि उन्होंने अपनी कारिकाओंकी रचना किन्हीं 'भगवान् शौद्धोदनि' के अलङ्कारग्रन्थके आधारपर की है। किन्तु आजतक 'भगवान् शौद्धोदनि' और उनके अलङ्कार-ग्रन्थका कोई पता नहीं चल सका है।

३५. कवि कर्णपूर [१६वीं शताब्दी]

कवि कर्णपूरके पिता शिवानन्द चैतन्य महाप्रभुके शिष्य थे। उनके पुत्रका नाम परमानन्द-दास सेन था। यही परमानन्ददास सेन साहित्यिक जगत्में 'कवि कर्णपूर'के नामसे विख्यात हैं। सन् १५२४ ई० में बङ्गालके नदिया जिलेमें इनका जन्म हुआ था। सन् १५७२ ई० में इन्होंने महाप्रभु चैतन्यके जीवनपर 'चैतन्यचन्द्रोदय' नामक नाटककी रचना की। इनका दूसरा ग्रन्थ 'अलङ्कारकौस्तुभ' है। इसीके कारण अलङ्कारशास्त्रके आचार्योंमें गिने जाते हैं। इस ग्रन्थमें दस 'किरण' या अध्याय हैं। इनमें काव्यलक्षण, शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य, रस तथा भाव, गुण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, रीति तथा दोष आदिका वर्णन किया गया है।

३६. कविचन्द्र [१६वीं शताब्दी]

कवि कर्णपूरके पुत्रका नाम कविचन्द्र था। इन्होंने भी अलङ्कारशास्त्रपर 'काव्यचन्द्रिका' नामक ग्रन्थकी रचना की थी। इसमें १६ 'प्रकाश' या अध्याय हैं। ग्रन्थकारने 'सारलहरी' तथा 'धातुचन्द्रिका' नामक ग्रन्थोंकी रचना भी की है। इनका समय सत्रहवीं शताब्दी है।

३७. अप्पयदीक्षित [१६-१७ वीं शताब्दी]

अप्पयदीक्षित दक्षिणभारतकी विभूति हैं। वे मुख्य रूपसे दार्शनिक किन्तु सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र विद्वान् हैं। इन्हें १०४ ग्रन्थोंका कर्ता कहा जाता है। इनके पूर्व संख्या २१ पर निर्दिष्ट

रामचन्द्रको 'प्रबन्धशतकर्ता' कहा गया था, पर अप्पयदीक्षितके ग्रन्थोंकी संख्या उनसे भी आगे निकल गयी है। विषयकी दृष्टिसे उनकी मुख्य रचनाओंका विभाजन निम्नलिखित प्रकार किया जा सकता है—

(१) अद्वैतवेदान्तविषयक ६ ग्रन्थ: १. 'श्रीपरिमल', २. 'सिद्धान्तलेशसंग्रह', ३. 'वेदान्तनक्षत्रवादावली', ४. 'मध्वतन्त्रमुखमर्दन', ५. 'मध्वमतविध्वंसनम्', ६. 'न्यायरक्षामणि'।

(२) भक्तिविषयक २६ रचनाएँ: १. 'शिखरिणीमाला', २. 'शिवतत्त्वविवेक', ३. 'ब्रह्मतर्कस्तवः', ४. 'लघुविवरण', ५. 'आदित्यस्तवरत्नम्', ६. 'आदित्यस्तवव्याख्या', ७. 'शिवाद्वैतविनिर्णयः', ८. 'शिवध्यानपद्धतिः', ९. 'पञ्चरत्नम्', १०. 'पञ्चरत्नव्याख्या', ११. 'आत्मार्पणम्', १२. 'मानसोल्लासः', १३. 'शिवकर्णामृतम्', १४. 'आनन्दलहरी', १५. 'चन्द्रिका', १६. 'शिवमहिमकालिकास्तुति', १७. 'शिवमहिमव्याख्या', १८. 'रत्नत्रयपरीक्षा', १९. 'रत्नत्रयपरीक्षाव्याख्या', २०. 'अरुणाचलेश्वरस्तुति', २१. 'अपीतकुचाम्बास्तुति', २२. 'चन्द्रकलास्तव', २३.'शिवार्कमणिदीपिका', २४.'शिवपूजाविधि', २५.'नयमणिमाला', २६. 'नयमणिमालाव्याख्या'।

(३) रामानुजमतविषयक ५ ग्रन्थ: १. 'नयनमयूखमालिका', २. 'नयनमयूखमालिकाव्याख्या', ३. श्रीवेदान्तदेशिकविरचित 'यादवाभ्युदय'की व्याख्या, ४. वेदान्तदेशिक-विरचित 'पादुकारहस्य'की व्याख्या, ५. 'वरदराजस्तव'।

(४) मध्वसिद्धान्तानुसारी २ ग्रन्थ: १. 'न्यायरत्नमाला', २. 'न्यायरत्नमालाव्याख्या'।

(५) व्याकरणविषयक १ ग्रन्थ: १. 'नक्षत्रवादावली'।

(६) पूर्वमीमांसाशास्त्रपर २ ग्रन्थ: १. 'नक्षत्रवादावली', २. 'विधिरसायनम्'।

(७) अलङ्कारशास्त्रपर ३ ग्रन्थ: १. 'वृत्तिवार्तिक' २. 'चित्रमीमांसा', ३. 'कुवलयानन्द'।

अप्पयदीक्षितके १०४ ग्रन्थोंमेंसे मुख्यतम ४-५ ग्रन्थोंके नाम हमने ऊपर दिये हैं। इस सूचीमें दिये अन्तिम तीन ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्रसे सम्बद्ध होनेके कारण प्रकृतमें उपयोगी हैं। इनमेंसे 'वृत्तिवार्तिक' ग्रन्थ, जैसा कि उसके नामसे प्रतीत होता है, वृत्ति अर्थात् शब्दशक्तिके विषयपर लिखा गया है। इसमें केवल दो ही परिच्छेद हैं जिनमें केवल अभिधा तथा लक्षणाका विवेचन किया गया है। इससे यह ग्रन्थ अपूर्ण-सा प्रतीत होता है। 'चित्रमीमांसा' दूसरा ग्रन्थ है परन्तु यह भी केवल अतिशयोक्ति अलङ्कारपर्यन्त होनेसे अधूरा है। इसके अधूरे होनेका उल्लेख स्वयं ग्रन्थकारने निम्नलिखित प्रकार किया है—

> 'अप्यर्धचित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।
> अनूरुरिव धर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः॥'

तीसरा ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' है। यह अप्पयदीक्षितका अलङ्कारशास्त्रविषयक मुख्य ग्रन्थ है। इसकी रचना जयदेवके 'चन्द्रालोक'के आधारपर हुई है। 'चन्द्रालोक'में अलङ्कारोंके लक्षण दिये हैं। उनको अप्पयदीक्षितने ज्योंका त्यों ले लिया है। किन्तु उदाहरण अन्य काव्योंसे भी प्रचुर मात्रामें उपस्थित किये हैं। अन्तमें केवल २४ अलङ्कार ऐसे दिये हैं जो जयदेवके 'चन्द्रालोक'में नहीं पाये जाते हैं। इन २४ अलङ्कारोंके लक्षण भी उन्होंने जयदेवकी शैलीसे ही बनाये हैं, अर्थात् आधे श्लोकमें लक्षण और आधे श्लोकमें उदाहण दिया है।

> 'अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पयदीक्षितः।
> नियोगाद्वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः॥'

इस श्लोकसे विदित होता है कि अप्पयदीक्षितने वेङ्कटपतिके अनुरोधसे 'कुवलयानन्द'की रचना की थी। वेङ्कट नामके दो राजा दक्षिणभारतमें मिलते हैं। एक विजयनगरराज्यमें १५३५ के लगभग और दूसरे पेन्नकोण्डाराज्यमें, जिनके १५८६ से १६१३ तकके लेख मिलते हैं। कोई प्रथम वेङ्कटपतिको और कोई द्वितीय वेङ्कटपतिको अप्पयदीक्षितका आश्रयदाता मानते हैं। दोनों अवस्थाओंमें उनका समय १६-१७ शताब्दीमें पड़ता है।

३८. पण्डितराज जगन्नाथ

अप्पयदीक्षितके बाद पण्डितराज जगन्नाथका नाम आता है। वैसे ये दोनों समकालीन और दक्षिणभारतके परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् हैं। पण्डितराज जगन्नाथके पिताका नाम पेरुभट्ट तथा माताका नाम लक्ष्मीदेवी था। ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे। यों इनका जन्म दक्षिणभारतमें हुआ था किन्तु इनका यौवन दिल्लीके शाहजहाँ बादशाहके यहाँ बीता था ('दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः')।

'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा
मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्येन केनापि नृपेण दत्तं
शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यात्॥'

शाहजहाँके यहाँ रहकर ये दाराशिकोहको संस्कृत पढ़ाते थे। उसके संस्कृत और भारतीय अध्यात्मविद्याके प्रति अनुपम अनुरागादि गुणोंको देखकर पण्डितराजने दाराशिकोहके ऊपर 'जगदाभरण' नामका एक पूरा काव्य ही बना डाला था। शाही दरबारके सरदार आसफअली इनके मित्र थे। १६४१ ई० में उनकी मृत्यु हो जानेपर उनकी स्मृतिमें इन्होंने 'आसफविलास' नामक काव्यकी रचना की थी।

पण्डितराज कवि होनेके नाते बड़े रसिक थे। दिल्लीमें आकर वे लवंगी नामकी यवनकन्याके चक्करमें फँस गये थे। यह यवनकन्या बहुत सामान्य परिवारकी थी। सिरपर पानीका घड़ा लेकर जाती हुई उस नवयुवतीको देखकर मुग्ध हो गये और बादशाहसे प्रार्थना की कि—

'न याचे गजालिं न वा वाजिराशिं
न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित्।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुम्भा
लवङ्गी कुरङ्गीदृगङ्गीकरोतु॥'

लवंगीके ऊपर यह इतने आसक्त थे कि उसके बिना इन्हें तनिक भी चैन नहीं था और स्वर्गका सुख भी तुच्छ प्रतीत होता था —

'यवनी नवनीतकोमला शयनीये नीयते कदाचित्।
अवनीतलमेव साधुमन्ये न वनी माधवनी विनोदहेतुः॥
यवनी रमणी विपदःशमनी कमनीयतया नवनीतसमा।
उहि-ऊहि वचोऽमृतपूर्णमुखी स सुखी जगतीह यदङ्गगता॥'

इत्यादि अनेक श्लोक पंडितराजने इस यवनकन्याके विषयमें कहे हैं। अपना यौवनकाल इन्होंने

इस यवनकन्याके साथ दिल्लीमें बिताया। ढलती उमरमें यौवनका नशा उतरनेपर इस पापका प्रायश्चित्त करनेके लिए 'मधुपुरी मध्ये हरिः सेव्यते', मथुरा आकर कृष्णकी आराधनामें लग गये। और अन्त समयमें काशीमें पंचगङ्गा घाटपर बैठकर गङ्गाकी स्तुतिमें 'गङ्गालहरी'की रचना की। कहते हैं कि 'गङ्गालहरी'का एक-एक श्लोक भक्तिभावसे गाते जाते थे और गङ्गाकी धारा इनके पास बढ़ती आती थी (अथवा ये स्वयं गङ्गाकी धाराकी ओर बढ़ते जाते थे)। 'गङ्गालहरी'के अन्तिम श्लोकके पाठके साथ गङ्गाने इनको अपनी गोदमें ले लिया और इनकी जीवनलीला समाप्त हो गयी। यह इनके यवनीप्रणयका अन्तिम प्रायश्चित्त था।

यवनीप्रणयकी घटनाको लेकर इनके प्रतिद्वन्द्वी अप्पयदीक्षितने इनको जातिबहिष्कृत करा दिया था। इसलिए ये अप्पयदीक्षितसे और भी अधिक नाराज हो गये थे और अप्पयदीक्षितकी 'चित्रमीमांसा'के खण्डनमें 'चित्रमीमांसाखण्डन' ग्रन्थ लिखा, जिसमें अप्पयदीक्षितके अनेक दुर्वाक्योंका प्रयोग किया है।

पंडितराज जगन्नाथने बहुत-से ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमें १ 'भामिनीविलास', २ 'गङ्गालहरी', ३ 'करुणालहरी', ४ 'अमृतलहरी', ५ 'लक्ष्मीलहरी', ६ 'आसफविलास', ७ 'जगदाभरण', ८ 'प्राणाभरण', ९ 'सुधालहरी', १० 'यमुनावर्णनचम्पू' ये सब काव्यग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। भट्टोजिदीक्षितके 'मनोरमा'के खण्डनमें 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक व्याकरणग्रन्थकी भी रचना की थी।

अलङ्कारशास्त्रके सम्बन्धमें इन्होंने जो ग्रन्थ लिखा उसका नाम 'रसगङ्गाधर' है। यह बड़ा प्रौढ़ और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। इसमें सारे उदाहरण इन्होंने स्वयं अपने बनाकर दिये हैं। इस बातका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—

'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण॥'

किन्तु दुर्भाग्यकी बात है कि पण्डितराजका यह ग्रन्थ अधूरा है। इसमें केवल दो 'आनन' हैं। प्रथम आननमें अन्य सब काव्यलक्षणोंका खण्डन करके 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' को काव्यका लक्षण स्थापित किया है। काव्यके हेतुओंमें 'प्रतिभा'को ही मुख्य हेतु ठहराया गया है और १ उत्तमोत्तम, २ उत्तम, ३ मध्यम तथा ४ अधम, ये चार काव्यके भेद बतलाये हैं। द्वितीय आननमें ध्वनिके भेदोंको दिखलाकर अभिधा तथा लक्षणाका विवेचन किया है। उसके बाद ७० अलङ्कारोंका वर्णन किया है। उत्तरालङ्कारके विवेचनके बाद यह ग्रन्थ बीचमें ही समाप्त हो गया है।

'रसगङ्गाधर'पर नागेशभट्टकृत 'गुरुमर्मप्रकाशिका' टीका प्रकाशित हो चुकी है। नागेशभट्टने गोविन्द ठक्कुरकी 'काव्यप्रकाश'पर लिखी 'काव्यप्रदीप' टीकापर बृहत् तथा लघु दो 'उद्योत' भी लिखे हैं। 'उदाहरणदीपिका' मम्मटके ग्रन्थका विवरण है। उन्होंने अप्पयदीक्षितके 'कुवलयानन्द' पर भी 'अलङ्कारसुधा' तथा 'विषमपदव्याख्यानषट्पदानन्द' टीका लिखी है। भानुदत्तकी 'रसमञ्जरी'की 'प्रकाश' टीका तथा 'रसतरङ्गिणीव्याख्या' भी नागेशभट्टने लिखी है।

३९. आशाधरभट्ट [१८वीं शताब्दी]

'शिवयोस्तनयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम्।
आशाधरेण कविना रामजीभट्टसूनुना॥'

अपने 'अलङ्कारदीपिका' ग्रन्थके आरम्भमें आशाधरभट्टने इन शब्दोंमें अपना परिचय देते हुए अपने पिताका नाम रामजी तथा अपने गुरुका नाम धरणीधर सूचित किया है। आशाधरभट्टके अलङ्कारशास्त्रविषयक तीन ग्रन्थ हैं—१. 'कोविदानन्द', २. 'त्रिवेणिका' और ३. 'अलङ्कारदीपिका'। ये ग्रन्थ अभीतक प्रकाशितरूपमें देखनेमें नहीं आये। किन्तु इनका जो विवरण हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूची आदिमें दिया गया है उससे विदित होता है कि 'कोविदानन्द' तथा 'त्रिवेणिका' ग्रन्थ शब्दशक्तिके विषयपर हैं। 'त्रिवेणिका'में अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना तीनों वृत्तियोंका निरूपण होनेसे इसका 'त्रिवेणिका' नाम ग्रन्थमें हो है। इन तीनों शक्तियोंका उपयोग प्रधानतया कौन करते हैं इसका विवेचन करते हुए ग्रन्थकारने लिखा है—

'शक्तिं भजन्ति सरला लक्षणां चतुरा जनाः।
व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञाः कवयः कमनाजनाः॥'

आशाधरभट्टका तीसरा ग्रन्थ 'अलङ्कारदीपिका' है। यह अप्पयदीक्षितके 'कुवलयानन्द'के आधारपर लिखा गया है। इसमें तीन 'प्रकरण' या अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें 'कुवलयानन्द' की कारिकाओंकी बालोपयोगी सरल व्याख्यामात्र की गयी है। द्वितीय प्रकरणका नाम उद्दिष्टालङ्कार-प्रकरण है। 'कुवलयानन्द'के अन्तमें रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित् और समाहित आदि रसवदलङ्कारोंको केवल 'उद्देश' अर्थात् नाममात्रेण कथन करके छोड़ दिया गया है। आशाधरने इस द्वितीय प्रकरणमें उन अलङ्कारोंके लक्षण अप्पयदीक्षितकी शैलीसे ही बना दिये हैं और उनकी व्याख्या कर दी है। 'अलङ्कारदीपिका'का तीसरा 'परिशेषप्रकरण' है। इसमें संसृष्टि तथा सङ्करालङ्कारके पाँच भेदोंका निरूपण किया गया है। इसकी कारिकाएँ भी आशाधरभट्टने स्वयं बनायी हैं। जयदेवके 'चन्द्रालोक'-में अलङ्कारोंकी संख्या १०० थी। उसके आधारपर लिखे गये 'कुवलयानन्द'में अप्पयदीक्षितने २४ अलङ्कार और बढ़ा दिये थे। आशाधरभट्टकी 'अलङ्कारदीपिका'में अलङ्कारोंकी संख्या १२५ हो गयी है। ये अप्पयदीक्षितके बाद हुए इसलिए इनका समय १८वीं शताब्दीमें निश्चित होता है।

अलङ्कारशास्त्रविषयक इन तीन ग्रन्थोंके अतिरिक्त १. 'अद्वैतविवेक' तथा २. 'प्रभापटल' ये दो और ग्रन्थ भी आशाधरभट्टने लिखे थे।

इन आशाधरभट्टके ४०० वर्ष पूर्व 'आशाधर' नामके एक जैन विद्वान् १४वीं शताब्दीमें हो चुके हैं। वे इनसे भिन्न हैं।

४०. नरसिंह कवि [१८वीं शताब्दी]

इनका अलङ्कारशास्त्रविषयक एक ही ग्रन्थ मिलता है, उसका नाम 'नञ्जराजयशोभूषण' है। यह ग्रन्थ विद्यानाथके 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'के आदर्शपर लिखा गया है। अन्तर यह है कि यह राजाकी स्तुतिमें नहीं अपितु मैसूरराज्यके मन्त्रीकी स्तुतिमें लिखा गया है। नञ्जराज १८वीं शताब्दीमें मैसूरराज्यके मुख्य मन्त्री थे। राज्यका सारा अधिकार उन्हींके हाथमें था।

इसलिए नञ्जराज उन्हींको अपना आश्रयदाता मानकर 'नञ्जराजयशोभूषण' नामक इस अलङ्कार-ग्रन्थकी रचना की है। इसमें सात 'विलास' या अध्याय हैं—१ नायक, २ काव्य, ३ ध्वनि, ४ रस, ५ दोष, ६ नाटक तथा ७ अलङ्कार। इन विषयोंका इसमें विवेचन किया गया है। नाटकका निरूपण करनेवाले षष्ठ विलासमें ग्रन्थकारने अपने आश्रयदाता नञ्जराजकी स्तुतिमें एक नाटकका ही समावेश कर दिया है। दक्षिणनायकके उदाहरणरूपमें दिये हुए निम्नलिखित पद्यसे नरसिंह कविकी रचनाशैलीका परिचय मिल सकता है—

'धम्मिल्ले नवमल्लिकाः स्तनतटे पाटीरचर्चा गले
हारं मध्यतले दुकूलममलं दत्त्वा यशः कैतवात्।
यः प्राक्-दक्षिणपश्चिमोत्तरदिशाः कान्ताः समं लालयन्
आस्ते निस्तुलचातुरीकृतपदः श्रीनञ्जराजाग्रणीः॥'

४१. विश्वेश्वर पण्डित

अलङ्कारशास्त्रके प्रमुख साहित्यनिर्माताओंमें विश्वेश्वर पण्डित कदाचित् अन्तिम विद्वान् हैं। ये उत्तरप्रदेशके अलमोड़ा जिलेके अन्तर्गत 'पटिया' ग्रामके निवासी पाण्डेय ब्राह्मण हैं। इनके पिताका नाम लक्ष्मीधर था, जो अपने समयके एक अत्यन्त प्रतिष्ठित मूर्धन्य विद्वान् और सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र पण्डित थे। विश्वेश्वर पण्डितने व्याकरण, न्याय और साहित्यशास्त्रोंपर उत्कृष्ट ग्रन्थोंकी रचना की है। 'वैयाकरणसिद्धान्तसुधानिधि' इनका व्याकरणविषयक उत्कृष्ट एवं विशाल ग्रन्थ है। न्यायपर 'तर्ककुतूहल' तथा 'दीधितिप्रवेश' ये दो इनके उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। साहित्यशास्त्रपर इनका ग्रन्थ 'अलङ्कारकौस्तुभ' नामसे विख्यात है। यह ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्र बड़ा प्रौढ़ एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें अप्पयदीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथके मतोंका अनेक स्थलोंपर बड़ी प्रौढ़ताके साथ खण्डन किया गया है।

इसके अतिरिक्त १. 'अलङ्कारमुक्तावली', २. 'अलङ्कारप्रदीप', ३. 'रसचन्द्रिका' और ४. 'कवीन्द्रकण्ठाभरण' ये चार ग्रन्थ और भी हैं। इस प्रकार 'अलङ्कारकौस्तुभ'को मिलाकर विश्वेश्वर पण्डितके अलङ्कारविषयक ग्रन्थोंकी संख्या पाँच हो जाती है। इनमें 'अलङ्कारकौस्तुभ' सर्वोत्तम ग्रन्थ है।

उपसंहार

भरतमुनि (२०० वि० पू०) से लेकर विश्वेश्वर पण्डित (१८वीं शताब्दीतक) लगभग २००० वर्षमें होनेवाले भारतीय काव्यशास्त्रके विकासकी यह संक्षिप्त रूपरेखा हमने प्रस्तुत की है। 'काव्यप्रकाशके' पढ़नेवालोंके लिए साहित्यशास्त्रके इतिहासका यह सर्वेक्षण मनोरञ्जक एवं लाभ-दायक होगा, इस आशाके साथ हम इसे समाप्त करते हैं।

गुरुपूर्णिमा,
आषाढ़ शु० १५, सं० २०१७
८ जुलाई, सन् १९६०

विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि
आचार्य
गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन

श्री मम्मटाचार्यकृतः

काव्यप्रकाशः

प्रथम उल्लासः

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति–

श्रीमदाचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिता
काव्यप्रकाशदीपिका हिन्दीव्याख्या

[1]प्र सुमेधा गातुविद्विश्वदेवः सोमः पुनानः सद एति नित्यम् ।
भुवद्विश्वेषु काव्येषु रन्तानु जनान् यतते पञ्च धीरः ॥
यस्य काव्यं विभोराद्यमजरममरं श्रुतम् ।
काव्य-प्रकाशकर्तारं कविमाद्यं नुमस्तु तम् ॥
आनन्दवर्धनकृतौ विवृतिं विरच्य
व्याख्यां विधाय विशदामथ वामनीये ।
वक्रोक्तिजीवितविधेऽपि विधाय वृत्तिं
काव्यप्रकाशमधुना विशदी-करोमि ॥

ग्रन्थकार ['श्री मम्मटाचार्य' ग्रन्थके निर्माण-कार्यमें उपस्थित होनेवाले सम्भावित] विघ्नोंके नाशके लिए ग्रन्थके आरम्भमें ['ग्रन्थारम्भमें स्मरण करने योग्य सरस्वती अथवा विशेष रूपसे कवि-भारती रूप'] उचित इष्टदेवताका स्मरण [ध्यान और शिष्योंकी शिक्षाके लिए केवल मानसव्यापारसाध्य उस स्मरणको 'मङ्गलाचरण'के रूपमें अङ्कित भी] करते हैं—

ग्रन्थकार—

'काव्यप्रकाश' श्री 'मम्मटाचार्य'की सर्वोत्तम कृति है । साहित्य-शास्त्रमें इस ग्रन्थने और उसके द्वारा उसके निर्माता श्री 'मम्मटाचार्य'ने विपुल ख्याति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त की है । परन्तु इस ग्रन्थकी रचनामें केवल 'मम्मटाचार्य'का ही हाथ नहीं है अपितु उसके अन्तिम भागका निर्माण दूसरे कश्मीरी विद्वान् श्री 'अल्लटसूरि'के हाथों हुआ है । ऐसा जान पड़ता है कि 'मम्मटाचार्य' अपने जीवन कालमें 'काव्यप्रकाश'को पूरा नहीं कर सके थे । वे दशम उल्लासका 'परिकर अलङ्कार' तकका भाग ही लिख पाये थे कि बीचमें ही सब कुछ छोड़कर स्वर्ग-धाम सिधार गये । उनके पीछे उनके मित्र श्री 'अल्लटसूरि'ने शेष भागकी रचना कर ग्रन्थको पूर्ण किया । इस प्रकार इस ग्रन्थकी रचना दो विद्वानोंके प्रयत्नसे हुई है यह बात ग्रन्थके अन्तिम उपसंहारात्मक श्लोकसे भी प्रतीत होती है, पर उससे भी अधिक स्पष्ट रूपसे उसका वर्णन निम्नलिखित दो प्राचीन श्लोकोंमें पाया जाता है—

1. ऋग्वेद ९।९२।३ ।

कृतः श्री मम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः ।
प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा ॥

इस श्लोकमें स्पष्ट रूपसे यह प्रतिपादन किया गया है कि 'मम्मटाचार्य'ने केवल 'परिकर अलङ्कार' पर्यन्त 'काव्यप्रकाश'की रचना की थी। उसके बाद 'श्री अल्लटसूरि'ने शेष भागकी रचना करके ग्रन्थको पूर्ण किया। दूसरा श्लोक निम्न प्रकार है—

काव्यप्रकाश इह कोऽपि निबन्धकृद्भ्यां
द्वाभ्यां कृतेऽपि कृतिनां रसवत्त्वलाभः ।
लोकेऽस्ति विश्रुतमिदं नितरां रसालं
[1]रन्ध्रप्रकाररचितस्य तरोः फलं यत् ॥

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे रन्ध्र-प्रकार या बन्ध-प्रकार अर्थात् कलम लगानेकी शैलीसे लगाये गये कलमी आमका फल संसारमें अधिक स्वादिष्ट रूपसे प्रसिद्ध है इसी प्रकार 'मम्मट' तथा 'अल्लट' दो विद्वानोंके द्वारा बनाये गये इस काव्यप्रकाश ग्रन्थमें भी सहृदय विद्वानोंको विशेष आनन्द मिलता है।

कारिका तथा वृत्ति-ग्रन्थके कर्ताका अभेद—

रचना-शैलीकी दृष्टिसे भी काव्यप्रकाशमें दो भाग पाये जाते हैं। एक कारिकाभाग और दूसरा वृत्तिभाग। यहाँ 'ग्रन्थकृत् परामृशति' ये जो शब्द आये हैं उनके आधारपर कुछ विद्वानोंका विचार है कि इन दोनों भागोंकी रचना अलग अलग व्यक्तियोंने की है। वे लोग कारिका-भागका रचयिता 'भरतमुनि' को मानते हैं और 'मम्मटाचार्य' को केवल उन कारिकाओंपर वृत्ति लिखनेवाला मानते हैं। अपने मतके समर्थनमें वे निम्न युक्तियाँ देते हैं—

१. 'ग्रन्थकृत् परामृशति' इस वाक्यमें प्रथम-पुरुषके प्रयोग द्वारा वृत्तिकार अपनेसे भिन्न किसी अन्य ग्रन्थकारका निर्देश कर रहे हैं। इससे प्रतीत होता है कि जिन कारिकाओंकी व्याख्या 'मम्मटाचार्य' करने जा रहे हैं उनका निर्माता उनसे भिन्न है। इसलिए ये कारिकाएँ 'भरतमुनि'की बनायी हुई हैं और मम्मटाचार्य केवल उनपर वृत्तिका ही निर्माण कर रहे हैं।

२. इस सिद्धान्तके माननेवाले दूसरी युक्ति यह देते हैं कि रूपकके निरूपणके प्रसङ्गमें—

[2]समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ।

'आरोपिताः' इति बहुवचनमविवक्षितम् ।

यह पाठ मिलता है। इसमें ऊपरकी पङ्क्ति कारिका-भागकी है और नीचेकी पङ्क्ति वृत्ति-भागकी है। कारिकाकारने 'श्रौता आरोपिताः' इन पदोंमें बहुवचनका प्रयोग किया है, परन्तु उसकी व्याख्यामें वृत्तिकार उस बहुवचनको अविवक्षित बतलाते हैं। यदि वृत्तिकार मम्मट ही कारिकाके भी निर्माता होते तो कारिकामें स्वयं ही बहुवचनके स्थानपर एकवचनका प्रयोग कर सकते थे। उस दशामें उसकी व्याख्यामें 'बहुवचनमविवक्षितम्' लिखनेकी आवश्यकता ही न होती। परन्तु वास्तवमें कारिका उनकी लिखी नहीं है इसलिए मूल—'भरतमुनि'की कारिका—में बहुवचन रखकर उसकी वृत्तिमें उनको 'बहुवचनं अविवक्षितम्' लिखना पड़ा।

---

१. बन्ध-प्रकार इति पाठान्तरम् ।

२. काव्यप्रकाश दशम उल्लास, सूत्र १४०, कारिका ९३ ।

मुख्यरूपसे इन दो युक्तियोंके आधारपर ही कुछ विद्वान् काव्यप्रकाशके कारिकाभागको भरत-मुनिकृत मानकर मम्मटाचार्यको केवल वृत्तिभागका निर्माता सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु उनका यह पक्ष ठीक नहीं है। यह ठीक है कि मम्मटाचार्यने दो-तीन स्थलोंपर भरतमुनिकी कारिकाएँ भी दी हैं परन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। काव्यप्रकाशकी १४२ कारिकाओंमेंसे केवल दो-तीन कारिकाएँ भरतमुनिकी उद्धृत की गयी हैं शेष सब कारिकाएँ मम्मटाचार्यकी स्वयं बनायी हुई ही हैं। ग्रन्थकार जब अपनी बनायी हुई कारिकाओंपर स्वयं वृत्ति लिखने बैठता है तो वह अपनेको कारिका-कारसे भिन्न-सा मानकर 'ग्रन्थकृत् परामृशति' आदि प्रथम-पुरुषका प्रयोग करता है और स्व-रचित कारिकाकी व्याख्यामें स्वयं ही 'बहुवचनमविवक्षितम्' आदि भी लिख सकता है। इस प्रकारका व्यवहार न केवल काव्यप्रकाशमें अपितु अन्य अनेक ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। मम्मटाचार्यके अति-रिक्त आनन्दवर्धन, कुन्तक, मुकुलभट्ट, विश्वनाथ आदि सभी आचार्योंने इस पद्धतिका अव-लम्बन किया है। इन सबोंने स्वयं कारिकारूपमें अपने ग्रन्थोंकी रचनाकर उनपर स्वयं ही वृत्तिकी रचना की है। इसी प्रकार मम्मटाचार्यने भी अपनी लिखी कारिकाओंपर स्वयं ही वृत्ति लिखकर इस काव्यप्रकाश ग्रन्थकी रचना की है यह मानना ही उचित है।

इसके अतिरिक्त चतुर्थ उल्लासमें जहाँ मम्मटाचार्यने रसका निरूपण किया है वहाँ[1] 'तदुक्तं भरतेन' लिखकर विशेषतः प्रमाण रूपसे भरतमुनिका उल्लेख किया है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि केवल वह अंश भरतमुनिका है। अन्य सब कारिकाभाग स्वयं मम्मटाचार्यका ही है। इसी प्रकार दशम उल्लासमें रूपकालङ्कारके निरूपणमें 'माला तु पूर्ववत्' यह कारिकाका भाग आया है। परन्तु इसके पूर्व किसी कारिकामें 'माला'का वर्णन नहीं आया है। हाँ उपमालङ्कारके प्रसङ्गमें वृत्तिभागमें 'एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमा' यह पङ्क्ति अवश्य आयी है। 'माला-रूपक' वाली कारिकामें वृत्तिभागके इसी अंशकी ओर संकेत किया गया है। यदि कारिकाएँ भरतमुनिकी होतीं तो इस वृत्तिभागका संकेत उसमें कैसे हो सकता था! इसलिए भी काव्यप्रकाशका कारिकाभाग तथा वृत्ति-भाग दोनों मम्मटाचार्यके ही बनाये हुए हैं यही बात मानना उचित एवं अधिक युक्तिसङ्गत है।

साहित्य-मीमांसाका विवेचन—

हमने अपनी बनायी 'साहित्य-मीमांसा' नामक कारिका-रूपमें लिखी हुई अन्य पुस्तकमें इस विषयका विवेचन इस प्रकार किया है—

[2]काव्यप्रकाशनामा च मम्मटाचार्यनिर्मितः।
ग्रन्थो लेभे परां ख्यातिं शते तु द्वादशे कृतः ॥१॥
"कृतः श्री मम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
ग्रन्थः सम्पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा ॥"
कारिका भरतस्यात्र वृत्तिर्मम्मटनिर्मिता।
य एवं मेनिरे केचिन्मतं तेषामशोभनम् ॥ २ ॥
कारिकाणां शते त्वत्र द्वाचत्वारिंशदुत्तरे।
कथं हरेयुः स्वातन्त्र्यं द्वित्रा भरतकारिकाः ॥ ३ ॥

१. सूत्र ४३ कारिका २७ की व्याख्या।
२. साहित्य-मीमांसा ६।

'ग्रन्थारम्भे प्रयोगो यः प्रथमे पुरुषे कृतः ।
'परामृशती'ति नूनं सोऽनहङ्कारसूचकः ॥ ४ ॥
रूपके कारिकायान्तु बहुवचनं प्रयुज्यते ।
वृत्तौ तस्य च सम्प्रोक्तं 'बहुत्वमविवक्षितम्' ॥ ५ ॥
तेनापि भिन्नकर्तृत्वमनयोर्न प्रसिद्ध्यति ।
स्वाभिन्नकर्तृकत्वेऽपि तथा व्याख्यानसम्भवात् ॥ ६ ॥
मङ्गलं मूलमात्रे तु वृत्तेरादौ न दृश्यते ।
एतेनापि तयोरेककर्तृकत्वं सुनिश्चितम् ॥ ७ ॥
'तदुक्तं भरतेने'ति वृत्तिस्तुर्ये तु दृश्यते ।
सर्वाश्चेत् कारिकास्तस्य किमर्थमत्र कीर्तनम् ॥ ८ ॥
रूपके कारिकायां हि प्रोक्तं 'माला तु पूर्ववत्' ।
वृत्तेस्तेन परामर्शान्न कर्तृत्वं विभिद्यते ॥ ९ ॥
तस्मात् काव्यप्रकाशस्य वृत्तिभागोऽथ कारिकाः ।
उभयं मम्मटेनैव निर्मितमिति निश्चितम् ॥ १० ॥

इस प्रकार श्री मम्मटाचार्यने अपनी बनायी हुई कारिकाओंकी ही व्याख्या स्वयं लिखकर अपने इस ग्रन्थकी रचना की है यह बात बिल्कुल निश्चित है ।

ग्रन्थका लक्षण—

पञ्चाङ्गकं वाक्यं 'ग्रन्थः' अर्थात् पाँच अवयवोंसे युक्त वाक्यको ग्रन्थ कहते हैं । वस्तुतः उन पाँच अङ्गोंको ही दूसरी जगह 'पञ्चाधिकरण' नामसे कहा गया है—

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं विदुः ॥

(१) विषय, (२) उसके सम्बन्धमें विशय अर्थात् संशय, (३) पूर्वपक्ष, (४) उत्तरपक्ष आदि दिखलाकर अन्तमें किसी (५) निर्णयको प्राप्त करना यह पाँच अङ्ग शास्त्रमें 'अधिकरण' माने गये हैं, वे ही पाँचों ग्रन्थके भी अङ्ग हैं । उन पाँचों अङ्गोंसे युक्त महावाक्य ग्रन्थ कहलाता है । काव्यप्रकाशमें भी अनेक विषयोंमें पूर्वपक्ष आदिका निराकरण करके निर्णय या सिद्धान्त स्थिर किये गये हैं इसलिए वह भी ग्रन्थ कहा जाता है । अन्य विद्वानोंने 'सम्बन्धप्रयोजनज्ञानाहितशुश्रूषाजन्य-श्रुतिविषयशब्दसन्दर्भो ग्रन्थः' यह ग्रन्थका लक्षण किया है ।[1]

मङ्गलाचरण—

प्रत्येक शुभकार्यके प्रारम्भमें भगवान्‌का स्मरण करना सभी आस्तिकोंमें समान रूपसे पाया जाता है । इसीलिए ग्रन्थके आरम्भमें भी किसी न किसी रूपमें अपने इष्टदेवताका स्मरण किये जानेकी परम्परा सारे भारतीय-साहित्यमें पायी जाती है । इसको 'मङ्गलाचरण' नामसे कहा जाता है । इस 'मङ्गलाचरण' अथवा भगवान्‌के नामका स्मरण करनेसे कार्य-सिद्धिके मार्गमें आनेवाली विघ्न-बाधाओंके ऊपर विजय प्राप्त करनेकी क्षमता प्राप्त होती है । इसलिए विघ्नविघातको भी 'मङ्गलाचरण' का एक मुख्य प्रयोजन माना जाता है । इसी परम्पराके अनुसार मम्मटाचार्यने भी अपने ग्रन्थके आरम्भमें पहिली कारिका मङ्गलाचरणके स्वरूपमें लिखी है । 'काव्यप्रकाश' नामसे वह साहित्यशास्त्रके

---

१. साहित्य-मीमांसा ६ ।

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥१॥

एक मुख्य ग्रन्थका निर्माण करने जा रहे हैं। इसलिए उन्होंने वाङ्मयकी अधिष्ठातृ-देवता और उसमें भी विशेष रूपसे कवि-भारतीका ही इष्टदेवताके रूपमें स्मरण करना उचित समझा है। अत एव 'भारती कवेर्जयति' के रूप उस कवि-भारतीका जय-जयकार करते हुए वे लिखते हैं—

[पद्मत्वादि रूप असाधारण धर्म अथवा अदृष्ट या धर्माधर्मादि रूप] नियतिके द्वारा निर्धारित नियमोंसे रहित, केवल आनन्दमात्र-स्वभावा, [कविकी प्रतिभाको छोड़कर] अन्य किसीके आधीन न रहनेवाली, तथा [छः रसोंके स्थानपर] नौ रसों [के योग] से मनोहारिणी, काव्य-सृष्टिकी रचना करनेवाली, कविकी भारती [वाणी-सरस्वती] सर्वोत्कर्ष-शालिनी है। १।

कवि-सृष्टिकी विशेषताएँ—

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्यने कविको स्वयं प्रजापति या ब्रह्मा और काव्यसंसारको उसकी सृष्टि कहा है—

[1]अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथा विपरिवर्तते ॥

इस अपार काव्य संसारका निर्माता कवि है। उस कवि-प्रजापतिकी इच्छा और रुचिके अनुसार ही इस काव्य संसारकी रचना होती है। यह कह कर आनन्दवर्धनाचार्यने कविके असाधारण महत्त्वका प्रतिपादन किया है, पर मम्मटाचार्य उससे भी एक पग आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने कविकी सृष्टिको ब्रह्माकी सृष्टिसे भी उत्कृष्ट माना है और इस प्रकार कविके सामर्थ्यको ब्रह्माके सामर्थ्योंसे अधिक महत्त्व प्रदान किया है। अपने इस मङ्गलाचरणमें ग्रन्थकारने अपनी इष्ट-देवता 'कवि-भारती' को सर्वोत्कर्षशालिनी सिद्ध करनेके लिए 'व्यतिरेकालङ्कार'का प्रयोग किया है। उपमानसे उपमेयका आधिक्य वर्णन करनेपर व्यतिरेकालङ्कार होता है। यहाँ ब्रह्माकी सृष्टि रूप उपमानकी अपेक्षा कवि-भारतीकी सृष्टि-निर्मितिका उत्कर्ष प्रतिपादन कर ग्रन्थकारने उसके सर्वोत्कर्षशालित्वकी स्थापना की है। ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा कविकी सृष्टिमें काव्य-प्रकाशकारने चार प्रकारकी विशेषताओंका उल्लेख अपने इस मङ्गल-श्लोकमें किया है। उनको इस प्रकार समझना चाहिये कि—

१—पहिली विशेषता यह है कि ब्रह्माकी सृष्टि 'नियतिकृत-नियम-सहिता' है परन्तु कविकी 'सृष्टि 'नियतिकृतनियमरहिता' है। 'नियति' शब्दके दो अर्थ हो सकते हैं। 'नियम्यन्ते सौरभादयो धर्मा अनया इति नियतिरसाधारणो धर्मः पद्मत्वादिरूपः' अर्थात् जिसके द्वारा सौरभ आदि धर्मोंका नियन्त्रण किया जाता है वे पद्मत्वादि रूप असाधारण धर्म 'नियति' पदसे कहे जाते हैं। उसके द्वारा किया गया नियम 'यत्र पद्मत्वं तत्र सौरभविशेषः' जहाँ पद्मत्व होता है वहाँ विशेष प्रकारका सौरभ रहता है इस प्रकारकी व्याप्तिको 'नियति-कृत-नियम' कहा जा सकता है। ब्रह्माकी सृष्टि इस 'नियति-कृत-नियम'से युक्त है। उसमें इस प्रकारकी व्याप्ति पायी जाती है कि विशेष प्रकारके सौरभ आदिका विशेष पदार्थोंके साथ ही सम्बन्ध होता है, परन्तु कविकी सृष्टिमें इस प्रकारका कोई नियम नहीं है। उसकी सृष्टिमें स्त्रीके मुखमें कमलकी सुगन्ध, उसकी आँखोंमें कमलका सौन्दर्य और उसके शरीरमें

१. ध्वन्यालोक पृष्ठ ४२२ ।

कमलकी कोमलता रहती है। उसकी सृष्टिमें चन्द्रमाकी शीतल चाँदनी और मेघोंकी मन्दध्वनिसे भी विरहिणियोंके लिए आगकी लपटें निकलती हुई दिखलाई देती हैं। इसलिए कविकी सृष्टि 'नियतिकृत-नियम-रहिता' है।

'नियति' शब्दका दूसरा अर्थ 'अदृष्ट' या 'धर्माधर्म' है। ब्रह्माकी सारी सृष्टि 'अदृष्ट' के सिद्धान्तपर ही स्थिर है। प्राणियोंके पूर्वकृत कर्म या 'अदृष्ट'के फलभोगके लिए ही इस सृष्टिकी रचना हुई है और उसीके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको सुख-दुःख, स्वर्ग और नरककी प्राप्ति होती है। परन्तु कविकी सृष्टि इन सब बन्धनोंसे परे है। कवि केवल अपनी कल्पनाके सहारे जब चाहता है अपने नायकको या पात्रोंको विघ्न-बाधाओंके भयङ्कर सङ्कटमें डाल देता है और जब चाहता है तब अतर्कित रूपसे मनोवाञ्छित सामग्रीसे भी अधिक सुख सामग्री उनके सामने उपस्थित कर देता है। [1]"स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनि"के अनुसार वह इसी शरीरसे मनुष्यको सदेह स्वर्गमें पहुँचा सकता है। इसलिए कवि-सामर्थ्य ब्रह्माके सामर्थ्यसे कहीं अधिक है। मङ्गलाचरणके श्लोकमें 'नियतिकृत-नियमरहिता' लिखकर मम्मटाचार्यने कवि-भारतीकी इसी विशेषताका उल्लेख किया है।

२—कवि-सृष्टिकी दूसरी विशेषता 'ह्लादैकमयत्व' है। ब्रह्माकी सृष्टिमें सुख-दुःख दोनोंका अस्तित्व है। कोई प्राणी संसारमें रहकर दुःखसे नहीं बच सकता है। सांसारिक सुखोंके साथ दुःखका भोग अवश्यम्भावी है। परन्तु कविकी सृष्टिमें दुःखका अस्तित्व नहीं है। उसकी सृष्टिमें जब हम 'इन्दुमती' के वियोगमें 'अज'को विलाप करते हुए सुनते हैं और जब 'उत्तर रामचरित' के कविको सीता-वियोगमें रोते हुए रामचन्द्रको देखकर [2]"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' पत्थरोंको रुलाते हुए पाते हैं तब उस करुण रसमें भी आनन्दका अनुभव करते हैं। उस आनन्दातिरेकसे द्रवीभूत होकर नेत्रोंसे भी अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। कविकी सृष्टिमें रुदन एवं क्रन्दनसे भरा हुआ करुण-रस भी आनन्दानुभूतिस्वरूप ही है—

> [3]करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
> सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥

इसलिए कविकी सृष्टि 'ह्लादैकमयी'—केवल सुखमयी—है। 'संख्याः संख्येये ह्याद्वादश त्रिषु' अमरकोशके इस वचनके अनुसार द्वादश पर्यन्त संख्या-वाचक शब्द संख्याके अतिरिक्त संख्येय वस्तुके वाचक भी होते हैं। इसलिए यहाँ एक शब्द संख्याका नहीं अपितु संख्येयका वाचक है। उससे [4]"तत्प्रकृतवचने मयट्' इस सूत्रसे मयट्-प्रत्यय होकर 'एकं [वस्तु] प्राचुर्येण प्रस्तुतं यस्यां सा एकमयी' एक वस्तु जिसमें प्रचुरतासे प्रस्तुत है वह 'एकमयी' हुई। 'ह्लादेन एकमयी ह्लादैकमयी' इस प्रकारका समास होकर 'ह्लादैकमयी' यह पद सिद्ध होता है और उसका अर्थ आनन्दमात्र-परिच्छिन्नस्वरूपा' होता है। 'ह्लाद' शब्दका 'एक' शब्दके साथ 'कर्मधारय-समास' करके 'ह्लादश्चासौ एकः ह्लादैकः' पद बनाकर और उससे 'मयट्-प्रत्यय' करके इस पदको सिद्ध करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये, क्योंकि उस दशामें [5] 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' इस सूत्रसे

१. काव्यप्रकाश अष्टम उल्लास उदाहरण सं० ३४६।
२. उत्तररामचरित १,२८।
३. साहित्यदर्पण ३,४।
४. अष्टाध्यायी २,१,४९।
५. अष्टाध्यायी ५,४,२११।

का 'पूर्वनिपात' अनिवार्य होनेके कारण 'एकश्चासौ ह्लादः एकह्लादः' यह रूप बनेगा 'ह्लादैकः' रूप नहीं बनेगा। इसलिए इस प्रकारका समास न करके पूर्वोक्त रीतिसे पहिले संख्येय-वस्तु-वाचक 'एक' शब्दसे प्राचुर्यार्थमें अथवा प्रदीपकारके अनुसार स्वार्थमें मयट् प्रत्यय करके 'एकमयी' शब्द बना लेनेके बाद उसका तृतीयान्त 'ह्लाद' शब्दके साथ 'ह्लादेन एकमयी ह्लादैकमयी' इस प्रकारका समास करना ही उचित है। जिसका अर्थ 'आनन्दमात्रस्वभावा' होता है। इससे ब्रह्माकी सृष्टिमें सांख्याभिमत सुख-दुःख-मोहस्वभावत्वकी अपेक्षा कविकी सृष्टिमें आनन्दमात्र-स्वभावत्व दिखलाकर ग्रन्थकारने कवि सृष्टिके दूसरे उत्कर्षका प्रतिपादन किया है।

३—कविकी सृष्टिमें तीसरी विशेषता मम्मटाचार्यने 'अनन्य-परतन्त्राम्' इस पदसे प्रदर्शित की है। ब्रह्माकी सृष्टि प्रकृति अथवा समवायि असमवायि निमित्तकारण आदिके बिना सम्भव न होनेके कारण इनके अधीन है परन्तु कविकी सृष्टिके लिए कविकी अपनी प्रतिभाके अतिरिक्त अन्य किसी सामग्रीकी आवश्यकता नहीं होती है। वह किसी दूसरेके अधीन न होनेसे 'अनन्य-परतन्त्रा' है। इसीलिए वह ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा उत्कर्ष शालिनी है।

अनन्य-परतन्त्रा पदमें 'परतन्त्र' पदका प्रयोग किया गया है इसमें परतन्त्र शब्दका अर्थ अधीन है। परतन्त्रका पराधीन अर्थ न करके केवल अधीन अर्थ ही करना चाहिये। क्योंकि 'अनन्य पराधीना' यह अर्थ कुछ सङ्गत-सा नहीं होता है। इसलिए यहाँ 'परतन्त्र' शब्दका केवल 'अधीन' अर्थ ही करना चाहिये।

"[1]परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि।
अधीनो निघ्न आयत्तो स्वच्छन्दो गृह्यकोऽप्यसौ॥"

अमरकोशके इस वचनके अनुसार 'परतन्त्र' शब्द केवल 'अधीन' अर्थका वाचक भी माना गया है।

४—ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा कविकी सृष्टिमें चौथी विशेषता यह दिखलायी है कि कविकी सृष्टिमें मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त केवल ये छः प्रकारके रस पाये जाते हैं। उनमेंसे सब रस मनुष्योंको प्रिय ही नहीं है। कटु-रस अत्यन्त अप्रिय रस है। औषध आदिके रूपमें भी उसका सेवन करनेसे आदमी घबड़ाता है। परन्तु कवि-सृष्टिके रसोंमें एक विशेषता तो यह है कि उसमें छः रसोंके स्थानपर शृङ्गार, करुण आदि नौ रस होते हैं। और दूसरी विशेषता यह है कि, जैसा कि अभी कहा जा चुका है कि वे सब रस केवल आनन्दमय ही होते हैं। इसलिए कविकी सृष्टि 'नवरसा' और 'रुचिरा' होनेके कारण भी ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

'नवरस' पदमें 'नवानां रसानां समाहारः' इस प्रकारका समास नहीं करना चाहिये। क्योंकि उस दशामें "अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः" इस महाभाष्यके वचनके अनुसार त्रिलोकी, पञ्चमूली आदिके समान 'नवरसी' इस प्रकारका प्रयोग प्राप्त होगा। इसलिए 'समाहार द्विगु समास' न करके 'नवसंख्याका रसा यस्यां सा नवरसा' इस प्रकारका 'बहुव्रीहिसमास' करनेके बाद फिर 'नवरसा चासौ रुचिरा चेति नवरसरुचिरा' यह 'कर्मधारय समास' करके इस पदको बनाना चाहिये। अथवा 'नवावयवश्चासौ रसश्च' इस विग्रहमें 'शाकपार्थिवत्वात्' मध्यमपदलोपी कर्मधारय—समास करके 'नवरसा' पद बनानेके बाद उसका 'रुचिरा' पदके साथ फिर कर्मधारय—समास किया जा सकता है।

---

१. अमरकोष।

नियतिशक्त्या नियतरूपाः सुखदुःखमोहस्वभावाः परमाण्वाद्युपादानकर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा, षड्रसा, न च हृद्यैव तैः, तादृशी ब्रह्मणो निर्मितिर्निर्माणम् । एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः । अत एव जयति । जयत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत इति, तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते ॥१॥

इस प्रकार ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा कवि भारतीकी रचनामें चार महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ पायी जाती हैं। ब्रह्माकी अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट सृष्टिकी रचना करनेवाली कवि भारती 'जयति' अर्थात् सर्वोत्कर्ष-शालिनी है, यह लिखकर मम्मटाचार्यने अपने ग्रन्थके आरम्भमें कवि-भारतीका जय-जय-कार किया है और उसके द्वारा कवि-भारतीके प्रति अपनी सम्मान-भावना द्वारा नमस्कारको भी सूचित किया है।

[ब्रह्माकी] सृष्टि 'नियति' [पद्मत्वादि रूप असाधारण-धर्म अथवा अदृष्ट]के सामर्थ्यसे निश्चित स्वरूपवाली, [त्रिगुणात्मक होनेसे] सुख-दुःखमोहस्वभावसे युक्त, परमाणु आदि रूप उपादान कारण, तथा कर्म आदि रूप सहकारीकारणके अधीन, छः रसोंसे युक्त और उनसे केवल मनोहारिणी ही नहीं [अपितु अरुचिकर भी] इस प्रकारकी ब्रह्माकी रचना अर्थात् सृष्टि है। कवि-भारतीकी सृष्टि तो इसके विपरीत [नियतिकृतनियमरहिता, ह्लादैकमयी, अनन्यपरतन्त्रा और नवरसरुचिरा] है, इसलिए [कविकी भारती] विजय-शालिनी [सर्वोत्कर्षसे युक्त] है। 'जयति' [क्रिया] के अर्थसे [जयकार करनेवालेका उसके प्रति] नमस्कार आक्षिप्त [बिना कहे अर्थतः बोधित] होता है। इसलिए मैं उसका अभिवादन करता हूँ यह [अर्थ भी] सूचित होता है। १।

मङ्गलाचरणके इस श्लोकमें 'आर्या' छन्दके 'गीति' नामक भेदका लक्षण पाया जाता है। आर्या छन्दका लक्षण कालिदासने श्रुतबोधमें इस प्रकार किया है—

[1]यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये पञ्चदश चतुर्थके सार्या ॥

संस्कृतके इस 'आर्या' छन्दको ही प्राकृतमें 'गाथा' नामसे कहा जाता है। इसी छन्दमें संस्कृतकी 'आर्या-सप्तशती' तथा प्राकृतकी 'गाथा-सप्तशती'की रचना हुई है। प्राकृत पिङ्गलके आचार्य पिङ्गलनागने गाथाका लक्षण इस प्रकार किया है—

[2]पढम बारहमत्ता बीए अट्ठारहेहिं सजुत्ता ।
जह पढमं तह तीअं पञ्चदहविहूसिआ गाहा ॥

गाथाका यह लक्षण आर्या छन्दके पूर्वोक्त लक्षणसे बिल्कुल मिलता हुआ है। यहाँ मम्मटाचार्यने अपने मङ्गलाचरणके श्लोकमें इसी 'आर्या' छन्दके विशेष भेद 'गीति'का प्रयोग किया है। 'गीति'का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

[3]आर्या प्रथमदलोक्तं कथमपि लक्षणं भवेदुभयोः ।
दलयोः कृतयतिशोभा तां गीतिं गीतवान् भुजङ्गेशः ॥

---

१. श्रुतबोध ।

२. प्राकृत-पिङ्गल ।

३. श्रुतबोध ।

इस मङ्गल-श्लोकमें उपमानभूत ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा उपमेयभूत कवि-भारतीकी सृष्टिमें चार प्रकारका आधिक्य दिखलाया गया है इसलिए यहाँ व्यतिरेकालङ्कार है। व्यतिरेकालङ्कारका लक्षण काव्यप्रकाशमें इस प्रकार किया गया है—

[1]"उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः'।

'भारती कवेर्जयति' में कविपदमें जो षष्ठीका प्रयोग हुआ है वह सम्बन्ध-सामान्यका सूचक है। 'कवेर्भारती' इसके दो अर्थ हो सकते हैं—एक कविकी भारती अर्थात् काव्य, और दूसरी कविकी भारती अर्थात् उसकी आराध्य देवता सरस्वती। इन दोनोंमेंसे पहिले अर्थमें कविका काव्य-रूप अपनी भारतीके साथ जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध होगा। और देवता रूप दूसरे पक्षमें कविका भारतीके साथ आराध्य आराधक भाव सम्बन्ध होगा।

'जयत्यर्थेन नमस्कार आक्षिप्यते' यहाँ 'जयति'का अर्थ उत्कर्ष-शालिनी होता है। इसलिए 'जयत्यर्थेन'का अर्थ 'उत्कर्षेण' होता है। उससे अपने अपकर्षज्ञानपूर्वक प्रह्वीभाव रूप नमस्कारकी अभिव्यक्ति होती है। 'वैयाकरण मञ्जूषा'में 'सुबर्थ'के प्रकरणमें 'नमः' शब्दका अर्थ "अपकृष्टत्वज्ञान-बोधनानुकूलो व्यापारः स्वरादिपठितनमः शब्दार्थः" इस प्रकार किया है। नमस्कार करनेवाला पुरुष नमस्कार्यकी अपेक्षा अपनेको छोटा समझकर ही नमस्कार करता है। इसलिए नमस्कार्य कविभारतीके 'जयति' पदसे सूचित उत्कर्षके द्वारा ग्रन्थकर्ताके नमस्कार या प्रह्वीभावकी सूचना मिलती है। अत-एव यहाँ 'जयति' कहनेसे 'मैं उस कवि-भारतीको नमस्कार करता हूँ' यह अर्थ भी प्रतीत होता है; यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ॥१॥

अनुबन्धचतुष्टय—

इस प्रकार प्रथम कारिकामें मङ्गलचरण करनेके बाद ग्रन्थके विषय, प्रयोजन आदि रूप अनु-बन्ध-चतुष्टयके निरूपण करनेका अवसर आता है। किसी भी कार्यमें, मनुष्य तभी प्रवृत्त होता है जब उसमें उसको इष्ट-साधनता तथा कृति-साध्यताका ज्ञान होता है। 'इदम्मदिष्टसाधनम्' यह कार्य मेरे लिए हितकर या मेरे अभीष्टका साधन है और 'इदं मत्कृति-साध्यम्' मैं इस कार्यको भली प्रकार कर सकता हूँ इस प्रकारका ज्ञान होनेपर ही मनुष्य किसी कार्यमें प्रवृत्त हो सकता है अन्यथा नहीं। इस ज्ञानमें 'इदं' अंशसे विषय, 'इष्ट' पदसे प्रयोजन, 'साधनम्' पदसे सम्बन्ध, एवं 'मत' पदसे अधिकारीका ज्ञान होता है। इस प्रकार इन चारोंका ज्ञान ही प्रवृत्तिका प्रयोजक होता है। इसलिए 'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वं अनुबन्धत्वम्' यह 'अनुबन्ध'का लक्षण किया गया है। और अधिकारी, विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन इन चारोंको 'अनुबन्ध' शब्दसे कहा जाता है। प्रत्येक ग्रन्थके आरम्भमें उन चारों अनुबन्धोंका निरूपण आवश्यक माना गया है।

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

इन चार अनुबन्धोंमें विषय तथा प्रयोजन ये दो अनुबन्ध मुख्य हैं अतः उनका शब्दतः निरूपण आवश्यक होता है। शेष अधिकारी तथा सम्बन्ध उनकी अपेक्षा गौण हैं उनकी सिद्धि शब्दतः कहे बिना अर्थतः भी हो जाती है। इसलिए अगली कारिकामें ग्रन्थकार अपने ग्रन्थका विषय और प्रयोजन प्रतिपादन करेंगे।

---

१. काव्य-प्रकाश, दशम उल्लास, सूत्र १५९।

इहाभिधेयं सप्रयोजनमित्याह—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥२॥

कालिदासादीनामिव यशः; श्रीहर्षादे—र्धावकादीनामिव धनम्; राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्; आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थवारणम्; सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन-समुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्, प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः; सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च; शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्ग-

---

जैसा कि ग्रन्थके नामसे ही प्रतीत हो जाता है इस ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय काव्यसे सम्बन्ध रखनेवाला है। अर्थात् इसमें काव्यसे सम्बन्ध रखनेवाले गुण, दोष, रीति, अलङ्कार आदिका विवेचन किया गया है। इसलिए वह काव्य-चर्चा ही इसका विषय है। और काव्यका जो प्रयोजन है वही इस ग्रन्थका भी प्रयोजन है। क्योंकि यह ग्रन्थ भी उस काव्य-फलकी सिद्धिमें अप्रधान कारण होता ही है। इसलिए अपने ग्रन्थका प्रयोजन लिखनेके स्थानपर ग्रन्थकार मुख्य रूपसे विषय-भूत काव्यका प्रयोजन दिखलाते हुए आगे लिखते हैं कि—

काव्य के प्रयोजन—

और यहाँ [इस ग्रन्थमें] कहा जानेवाला [काव्यका लक्षण, उसके भेद, गुण, दोष, अलङ्कार आदि रूप] विषय [रसास्वादन आदि रूप काव्यके फलोंकी सिद्धिका अप्रधान साधन होनेसे] सप्रयोजन है यह [काव्यके प्रयोजनोंको दिखलाते हुए] कहते हैं—

काव्य यशका जनक, अर्थका उत्पादक, [लोक-] व्यवहारका बोधक [शिव अर्थात् कल्याण, शिवेतर अर्थात् उससे भिन्न] अनिष्ट का नाशक, पढ़ने [या सुनने, देखने आदि]के साथ ही [सद्यः] परम आनन्द का देनेवाला और स्त्रीके समान [सरस रूपसे कर्तव्याकर्तव्य का] उपदेश प्रदान करनेवाला होता है। २।

[काव्यका निर्माण कविको] कालिदास आदिके समान १ यश [की प्राप्ति, नैषध महाकाव्यके प्रणेता महाकवि श्रीहर्षसे नहीं अपितु रत्नावली नाटिकाके प्रणेता राजा] श्री हर्ष आदिसे धावक आदि [पण्डितों] के समान २ धन [की प्राप्ति कराता है। और काव्योंके अध्ययन करनेसे पढ़नेवालोंको वर्णित राजा आदिके साथ अन्य लोगोंके व्यवहारको पढ़ने या नाटक आदिमें देखनेके द्वारा काव्य ही] ३ राजा आदिके साथ किये जाने योग्य आचारका परिज्ञान [कराता है। इसी प्रकार काव्य-निर्माण] ४ सूर्य आदि [की स्तुति] से 'मयूर [कवि] आदि [के कुष्ठ—निवारण] के समान अनर्थका निवारण [कराता है] और इन समस्त प्रयोजनोंमें मुख्य [काव्यके पढ़ने या सुननेके बाद सद्यः] तुरन्त ही रसके आस्वादनसे समुत्पन्न और अन्य सब विषयोंके परिज्ञानसे शून्य ५ परम आनन्द [की अनुभूति], तथा राजा [की आज्ञा] के समान शब्द-प्रधान वेद आदि शास्त्रोंसे [विलक्षण], मित्र [-वचन] के समान अर्थ-प्रधान पुराण और इतिहास आदिसे, [विलक्षण], शब्द तथा अर्थ दोनोंके गुणी-

भूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं; यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म, तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ॥२॥

भावके कारण रसके साधक [व्यञ्जन] व्यापारकी प्रधानताके द्वारा, [वेद शास्त्र पुराण इतिहास आदिसे] विलक्षण, जो लोकोत्तर वर्णन-शैलीमें निपुण कवि का कर्म [अर्थात् काव्य] है वह ६ स्त्रीके समान सरसताके साथ [सरस बनाकर] राम आदिके समान आचरण करना चाहिये, रावण आदिके समान नहीं, यह यथायोग्य उपदेश [आवश्यकतानुसार] कवि तथा सहृदय [पाठक आदि] दोनोंको करता है। इसलिए उस [काव्यकी रचना तथा उसके अध्ययन] में अवश्य प्रयत्न करना चाहिये।

इस वाक्यका अर्थ समझनेके लिए उसका विश्लेषण करना आवश्यक है। वाक्यका क्रिया-पद 'करोति' वाक्यके लगभग अन्तमें आया है। इस क्रियाके कर्म-पद यशः, धनम्, आचार-परिज्ञानम्, अनर्थनिवारणम्, आनन्दम्, उपदेशं च ये ६ हैं। इन सबके साथ उपमा और विशेषण जुड़े हुए हैं। विशेष रूपसे आनन्दके साथ 'सकलप्रयोजनमौलिभूतं', 'रसास्वादनसमुद्भूतं' और विगलितवेद्यान्तरं ये तीन विशेषण जुड़े हुए हैं। वाक्यमें 'काव्यं' पद कर्तृपद है। पर उसके साथ 'वेदादिशास्त्रेभ्यः पुराणादीतिहासेभ्यश्च विलक्षणं' इन विशेषणोंको जोड़कर 'यत् काव्यं तत्', यह, कर्तृपद बनता है। इन विशेषणोंके साथ भी दूसरे विशेषण जुड़े हुए हैं। प्रभुसम्मित–शब्दप्रधान-वेदादिशास्त्रेभ्यः [विलक्षणं], सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च [विलक्षणं] यत् काव्यं तत् –यशः,–धनं,–आचारपरिज्ञानं,–अनर्थनिवारणं–'उपदेशं च करोति' यह वाक्य बनता है। वेद शास्त्र इतिहास पुराणादिसे काव्यकी विलक्षणता दिखलानेके लिए पूर्वोक्त विशेषणोंके अतिरिक्त 'शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया' पद, तथा 'उपदेशं' इस कर्मपदके साथ 'कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य' पद में इतिकर्तव्यता भी समाविष्ट हो गयी है। फलतः इस वाक्यकी रचना बड़ी दुरुह और क्लिष्ट हो गयी है। बिना टीकाके उसका अर्थ समझना जरा टेढ़ी खीर है। मम्मटाचार्यने सारे ग्रन्थमें इसी प्रकारकी रचना-शैलीका अवलम्बन किया है। इसीलिए काव्यप्रकाशकी बीसों टीकाएँ होते हुए भी अनेक स्थलोंपर उसका रहस्य आज भी दुरूह बना हुआ है।

उपदेशकी त्रिविध शैली—

इस प्रकार मम्मटाचार्यने इस कारिकामें काव्यके छ प्रयोजन दिखलाये हैं। इसमेंसे 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने वेदादि शास्त्र तथा पुराण इतिहासादिसे काव्यका भेद और उसकी उपादेयताका प्रतिपादन बड़े अच्छे ढंगसे किया है। काव्यके प्रयोजनोंमें यश, अर्थ आदि अन्य प्रयोजनोंके साथ कर्तव्याकर्तव्यका उपदेश करना भी एक मुख्य प्रयोजन है। वेद-शास्त्र, इतिहास, पुराण आदिकी रचना भी मनुष्योंको शुभ-कर्मोंमें प्रवृत्त करने तथा अशुभ-कर्मोंसे निवृत्त करनेके लिए ही की गयी है। परन्तु काव्यकी उपदेश-शैली उन सबसे विलक्षण है। इस विलक्षणताका उपपादन करनेके लिए ग्रन्थकारने शब्दप्रधान, अर्थप्रधान तथा रस-प्रधान तीन तरहकी उपदेश-शैलियोंकी कल्पना की है। जिनको क्रमशः 'प्रभुसम्मित', 'सुहृत्सम्मित' तथा 'कान्तासम्मित' पदोंसे निर्दिष्ट किया है। वेद-शास्त्र आदिकी शैली 'प्रभुसम्मित' या शब्दप्रधान शैली है। राजाज्ञाएँ तथा राजकीय-

विधान सदा शब्दप्रधान होते हैं। उनमें जो कुछ आज्ञा दी जाती है उसका अक्षरशः पालन अनिवार्य होता है। इसी प्रकार वेद-शास्त्र आदिमें जो उपदेश दिये गये हैं उनका अक्षरशः पालन करना ही अभीष्ट होता है। इसलिए वे शब्दप्रधान होनेसे राजाज्ञाके समान या प्रभु-सम्मित उपदेश-शैलीमें अन्त-र्भुक्त होते हैं।

दूसरी उपदेश-शैली इतिहास पुराण आदिकी है। इनमें वेद-शास्त्र आदिके समान शब्दोंकी प्रधानता नहीं होती है अपितु अर्थपर विशेष बल दिया जाता है। इसलिए उनका अक्षरशः पालन आवश्यक नहीं होता है अपितु उनके अभिप्रायका अनुसरण किया जाता है। इसको ग्रन्थकारने 'सुहृत्-सम्मित' शैली कहा है। मित्र अपने मित्रको उचित कार्यके अनुष्ठान करने तथा अनुचित कामके परित्याग करनेका उपदेश करता है। परन्तु उसका उपदेश राजाज्ञाके समान शब्द-प्रधान नहीं होता है। उसका तात्पर्य अर्थमें होता है। इसलिए अर्थमें तात्पर्य रखनेवाली इस दूसरे प्रकारकी उपदेश-शैलीको ग्रन्थकारने 'सुहृत्-सम्मित'—शैली कहा है। इतिहास-पुराण आदिका अन्त-र्भाव इस शैलीके अन्तर्गत होता है।

काव्यकी उपदेश-शैली इन दोनोंसे भिन्न प्रकारकी होती है। उसमें न शब्दकी प्रधानता होती है और न अर्थकी। वहाँ शब्द तथा अर्थ दोनोंका गुणीभाव होकर केवल रसकी प्रधानता होती है। इस शैलीको मम्मटने 'कान्तासम्मित' उपदेश-शैली नाम दिया है। स्त्री जब किसी काममें पुरुषको प्रवृत्त या किसी कार्यसे उसको निवृत्त करती है तब वह अपने सारे सामर्थ्यसे उसको सरस बनाकर ही उस प्रकारकी प्रेरणा करती है। इसलिए कान्तासम्मित-शैलीमें शब्द तथा अर्थ दोनोंका गुणीभाव होकर रसकी प्रधानता हो जाती है। इसलिए इसको रसप्रधान-शैली कहा जा सकता है। मम्मटाचार्यने काव्यकी उपदेश-शैलीको इस श्रेणीमें रखा है। काव्योंके पढ़नेसे भी रामादिके समान आचरण करना चाहिये, रावण आदिके समान आचरण नहीं करना चाहिये इस प्रकारकी शिक्षा प्राप्त होती है। परन्तु उसमें शब्द या अर्थकी नहीं अपितु रसकी प्रधानता होती है। काव्यके रसास्वादनके साथ साथ कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान भी मनुष्यको होता जाता है। यह शैली वेद-शास्त्रकी शब्दप्रधान, तथा इतिहास-पुराण आदिकी अर्थप्रधान दोनों शैलियोंसे भिन्न और सरसताके कारण अधिक उपादेय है। इसलिए काव्यके विषयमें प्रयत्न करना ही चाहिये यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

काव्यसे यशकी प्राप्ति होती है इसको सिद्ध करनेके लिए ग्रन्थकारने कालिदासका उदाहरण दिया है, जो उचित ही है। अर्थप्राप्ति भी काव्यसे हो सकती है; इसके लिए ग्रन्थकारने धावकका नाम लिया है। श्रीहर्षके नामसे 'रत्नावली-नाटिका' आदि जो ग्रन्थ पाये जाते हैं वे वस्तुतः उनके बनाये हुए नहीं हैं अपितु धावक नामक किसी अन्य कविके बनाये हुए हैं। राजा श्रीहर्षने प्रचुर धन देकर उस कविको सम्मानित तथा पुरस्कृत किया इसलिए कविने उसपरसे अपना नाम हटाकर लिखनेवालेके स्थानपर राजा श्रीहर्षका नाम डाल दिया है। इस प्रकार उन काव्योंसे धावकको केवल धनकी प्राप्ति हुई, यशकी प्राप्ति जितनी होनी चाहिये थी उतनी नहीं हुई। तीसरा प्रयोजन 'व्यवहारविदे' अर्थात् व्यवहारका ज्ञान है। काव्य-नाटक आदिमें जो चरित्र-चित्रण होता है उससे भिन्न-भिन्न स्थितियोंमें पात्रोंके परस्पर व्यवहारकी शैलीका परिज्ञान होता है। विशेषकर राजा आदिके साथ किस प्रकारका शिष्टाचार व्यवहारमें लाना चाहिये इस बातका परिज्ञान काव्यादिके द्वारा ही साधारण-जनोंको प्राप्त होता है। 'सद्यः परनिर्वृतये' अर्थात् काव्यके निर्माण अथवा पाठके साथ ही जो एक विशेष प्रकारके आन्तरिक आनन्दकी प्राप्ति होती है यह अलौकिक आनन्दानुभूति

ही काव्यका सबसे मुख्य प्रयोजन है। इस आनन्दानुभूतिकी वेलामें पाठक संसारका और सब कुछ भूलकर उसी काव्य जगत्में तल्लीन हो जाता है। इस तन्मयतामें ही उस अलौकिक आनन्दकी अभिव्यक्ति होती है। इसलिए ग्रन्थकारने उसके साथ 'विगलितवेद्यान्तरं' तथा 'सकलप्रयोजनमौलिभूतं' ये दो विशेषण जोड़े हैं।

इन प्रयोजनोंमें 'शिवेतरक्षति' अर्थात् अनिष्ट-अमङ्गलका निवारण भी एक प्रयोजन बतलाया गया है। उसके लिए ग्रन्थकारने 'मयूर' कविका उदाहरण दिया है। 'मयूर' कविका एकमात्र काव्य 'सूर्य-शतक' मिलता है। इसमें सूर्यकी स्तुति-परक १०० श्लोक हैं। कहते हैं कि इन श्लोकों द्वारा सूर्यकी स्तुति कर 'मयूर' कविने कुष्ठ-रोगसे छुटकारा पाया था। इसलिए ग्रन्थकारने उसे अनिष्ट-निवारणके उदाहरण-रूपमें प्रस्तुत किया है। 'मयूर' कविके कुष्ठी होनेके विषयमें एक कथा प्रसिद्ध है। उसका भी इस प्रसङ्गमें उल्लेख कर देना उचित होगा। 'मेरुतुङ्गाचार्य' कृत 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' तथा 'यज्ञेश्वरभट्ट' कृत सूर्य-शतककी टीकामें मयूरभट्टके कुष्ठी होने और उस दुष्टरोगसे मुक्त होनेकी कथा इस प्रकार दी है—

मयूरभट्टका उपाख्यान—

संवत् १०७८ या सन् १०२१ में मयूर कवि राजा भोजके सभारत्न थे और धारानगरीमें रहते थे। कादम्बरी नामक प्रसिद्ध गद्य-काव्यके निर्माता महाकवि 'बाणभट्ट' इनके भगिनी-पति अर्थात् बहनोई थे। वे भी उसी धारानगरीमें रहते थे। दोनों ही कवि थे इसलिए साले-बहनोईके इस सम्बन्धके अतिरिक्त भी उन दोनोंमें विशेष मैत्री-भाव था। दोनों अपनी नूतन रचनाएँ एक दूसरेको सुनाते रहते थे।

एक दिनकी बात है कि बाणकी पत्नी किसी कारणसे बाणभट्टसे अत्यन्त अप्रसन्न हो गयी। बाणभट्टने उसको मनानेका बहुतेरा प्रयत्न किया पर उसमें उनको सफलता नहीं मिली। सारी रात उनकी इस मान-मनौवलमें ही बीत गयी। और लगभग सवेरा हो आया, पर बाणभट्ट भी अपने प्रयत्नमें लगे हुए थे। वे अपनी पत्नीसे कह रहे थे—

गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो—

हे प्रिये रात्रि समाप्त हो आयी है। चन्द्रमा अस्त होने जा रहा है और यह दीपक भी रातभर जागनेके कारण अब निद्राके वशीभूत होकर झोंके ले रहा है। आखिर प्रणामसे तो मानकी समाप्ति होती ही है पर मेरे सिर नवानेपर भी तुम अपना क्रोध नहीं छोड़ रही हो—

श्लोकके तीन चरण बन पाये थे और बाणभट्ट उन्हीं तीनोंको बार-बार दुहरा रहे थे। इसी समय मयूरभट्ट प्रातःकालके भ्रमण और काव्यचर्चाके निमित्त बाणभट्टको साथ ले जानेके लिए उनके घर आ पहुँचे। बाणभट्टको ऊपर लिखे श्लोकका पाठ करते हुए सुनकर वे बाहर ही रुककर सुनने लगे। थोड़ी देर सुननेके बाद उनसे चुप न रहा गया और उन्होंने श्लोकके चतुर्थ चरणकी इस प्रकार पूर्ति करके उसे जोरसे सुना ही दिया कि—

'कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्'।

बाणकी पत्नीने जब यह सुना तो उसे बड़ा क्रोध आया और उस क्रोधके आवेशमें उसने पूर्ति करनेवालेको पहिचाने बिना ही कुष्ठी हो जानेका शाप दे दिया। उसके पातिव्रत्यके प्रभावसे मयूरभट्टपर शापका प्रभाव पड़ा और वे कुष्ठी हो गये। उसके बाद मालूम होने तथा क्रोध शान्त होनेपर उसीने उनको शापके प्रभावसे मुक्त होनेका यह उपाय बतलाया कि तुम गङ्गाके किनारे जाकर सूर्यकी उपासना करो, उसीसे तुम इस रोगसे मुक्त हो सकोगे। तदनुसार मयूरभट्टने गङ्गाके किनारे एक वृक्षपर एक रस्सीका छीका लटकाकर और उसपर बैठकर सूर्यदेवकी उपासना प्रारम्भ की। वह प्रतिदिन सूर्यकी स्तुतिमें एक नया श्लोक बनाते थे और प्रतिदिन अपने छींकेकी एक रस्सी काटते जाते थे। छींकेकी सौ डोरियाँ कट जानेपर उनके गङ्गामें गिरनेके पूर्व ही सूर्यदेवकी कृपासे उनको आरोग्य-लाभ हो गया। इस प्रकार सूर्यकी स्तुतिमें मयूरकविने जिन सौ श्लोकोंकी रचना की, उन्हींका संग्रह 'सूर्यशतक' नामसे प्रसिद्ध है। इसी प्रसिद्ध कथाके आधारपर मम्मटाचार्यने 'शिवेतरक्षतये' की व्याख्यामें मयूरभट्टके नामका उल्लेख किया है।

वामनाभिमत काव्यके प्रयोजन—

मम्मटाचार्यने यहाँ काव्यके जिन छ प्रयोजनोंका निरूपण किया, लगभग उसी प्रकारके काव्य-प्रयोजनोंका प्रतिपादन उनके पूर्ववर्ती आचार्योंने भी किया है। इनमेंसे 'वामन' कृत प्रयोजनोंका निरूपण सबसे अधिक संक्षिप्त है। उन्होंने काव्यके केवल दो प्रयोजन माने हैं। एक कीर्ति और दूसरा प्रीति या आनन्द। उन्होंने लिखा है—

[1]काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।

इनमेंसे प्रीति अर्थात् आनन्दानुभूतिको काव्यका दृष्ट-प्रयोजन तथा कीर्तिको काव्यका अदृष्टार्थ-प्रयोजन माना है और इसपर विशेष बल दिया है। उन्होंने इस विषयमें तीन श्लोक भी दिये हैं—

[2]प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः।
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम्॥१॥
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्तिन्तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्॥२॥
तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिञ्च निबर्हितुम्।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः॥३॥

भामह-प्रतिपादित काव्य-प्रयोजन—

वामनके भी पूर्ववर्ती आचार्य भामहने इनकी अपेक्षा अधिक विस्तारके साथ काव्यके प्रयोजनोंका वर्णन निम्न प्रकारसे किया है—

[1]धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥

अर्थात् उत्तम काव्यकी रचना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूप चारों पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओंमें निपुणता और कीर्ति एवं प्रीति अर्थात् आनन्दको उत्पन्न करनेवाली होती है।

१, २. वामन-काव्यालङ्कार सूत्र १, १, ५।

१. भामह-काव्यालङ्कार १, २।

भामहके इस श्लोकको उत्तरवर्ती सभी आचार्योंने आदरपूर्वक अपनाया है। इसके अनुसार कीर्ति तथा प्रीतिके अतिरिक्त पुरुषार्थ-चतुष्टय, कला तथा व्यवहार आदिमें निपुणताकी प्राप्ति भी काव्यका प्रयोजन है।

कीर्तिको काव्यका मुख्य प्रयोजन बतलाते हुए जिस प्रकार वामनने तीन श्लोक लिखे थे जो ऊपर दिये जा चुके हैं इसी प्रकार भामहने भी कुछ श्लोक इसी अभिप्रायके लिखे हैं जो नीचे दिये जा रहे हैं—

[1]उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः ॥६॥
रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी।
तावत् किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ॥७॥
अतोऽभिवाञ्छता कीर्तिं स्थेयसीमाभुवः स्थितेः।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्य-लक्षणः ॥८॥
सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥९॥
अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥१०॥

अर्थात् उत्तम काव्योंकी रचना करनेवाले महाकवियोंके दिवङ्गत हो जानेके बाद भी उनका सुन्दर काव्य-शरीर 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' अक्षुण्ण बना रहता है ॥६॥

और जबतक उनकी अनश्वर कीर्ति इस भू-मण्डल तथा आकाशमें व्याप्त रहती है तबतक वे सौभाग्यशाली पुण्यात्मा देवपदका भोग करते हैं ॥७॥

इसलिए प्रलयपर्यन्त स्थिर रहनेवाली कीर्तिके चाहनेवाले कविको, उसके उपयोगी समस्त विषयोंका ज्ञान प्राप्त कर उत्तम काव्यकी रचनाके लिए प्रयत्न करना चाहिये ॥८॥

काव्यमें एक भी अनुपयुक्त पद न आने पावे इस बातका ध्यान रखना चाहिये क्योंकि बुरे काव्यकी रचनासे कवि उसी प्रकार निन्दाका भाजन होता है जिस प्रकार कुपुत्रसे पिताकी निन्दा होती है ॥९॥

[कु-कवि बननेकी अपेक्षा तो अ-कवि होना अच्छा है क्योंकि] अ-कवित्वसे तो अधिकसे अधिक व्याधि या दण्डका भागी हो सकता है परन्तु कु-कवित्वको विद्वान् लोग साक्षात् मृत्यु ही कहते हैं ॥१०॥

कुन्तक-प्रतिपादित काव्य-प्रयोजन—

कुन्तकने अपने वक्रोक्तिजीवितमें इसको और भी अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने काव्यके प्रयोजनोंका निरूपण करते हुए लिखा है—

[2]धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥३॥

---

१. भामहकाव्यालङ्कार, प्रथम परिच्छेद।

२. वक्रोक्तिजीवितम्, प्रथम उन्मेष ३–५ कारिका।

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥४॥
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥५॥

अर्थात् काव्यकी रचना अभिजात— श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न—राजकुमार आदिके लिए सुन्दर एवं सरस ढंगसे कहा गया; धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धिका सरल मार्ग है ।

सत्काव्यके परिज्ञानसे ही व्यवहार करनेवाले सब प्रकारके लोगोंको अपने-अपने व्यवहारका पूर्ण एवं सुन्दर ज्ञान प्राप्त होता है ।

[और सबसे बड़ी बात यह है कि] उससे सहृदयोंके हृदयमें चतुर्वर्ग फलकी प्राप्तिसे भी बढ़कर आनन्दानुभूतिरूप चमत्कार उत्पन्न होता है ।

कवि तथा पाठककी दृष्टिसे प्रयोजन-विभाग

इस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्योंने जिन काव्य-प्रयोजनोंका प्रतिपादन किया था उनका और भी अधिक परिमार्जन करके काव्यप्रकाशकारने सबसे अधिक सुन्दर एवं विस्तृत रूपमें काव्यके प्रयोजनोंका निरूपण किया है । इनमेंसे तीनको मुख्यतः कवि-निष्ठ तथा तीनको मुख्यतः पाठक-निष्ठ प्रयोजन कहा जा सकता है । 'यशसे', 'अर्थकृते' तथा 'शिवेतरक्षतये' ये तीन मुख्यतः कविके उद्देश्यसे और 'व्यवहारविदे', 'सद्यः परनिर्वृतये' तथा 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' ये तीन मुख्यतः पाठककी दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण प्रयोजन कहे जा सकते हैं । परन्तु प्राचीन आचार्योंने इस प्रकारका विभाजन नहीं किया है ।

भरतमुनिके काव्य-प्रयोजन—

काव्यशास्त्रके आद्य आचार्य श्री भरतमुनिने अपने नाट्यशास्त्र [अ० १, ११३–११५] में नाट्य अथवा काव्यके प्रयोजनोंका वर्णन इस प्रकार किया है —

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ।
हितोपदेशजननं धृति क्रीडा-सुखादिकृत् ॥
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्ति-जननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

उत्तरवर्ती आचार्योंने इसीके आधारपर काव्यके प्रयोजनोंका निरूपण किया है ।

इस प्रकार अधिकांश आचार्योंने कीर्ति या यशको काव्यका मुख्य प्रयोजन माना है । कदाचित् इसीलिए मम्मटाचार्यने भी अपनी कारिकामें उसको सबसे पहिला स्थान दिया है । कविकी दृष्टिसे वह है भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण । परन्तु पाठककी दृष्टिसे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन 'सद्यः परनिर्वृति' अर्थात् अलौकिक आनन्दानुभूति है । इसलिए मम्मटाचार्यने उसको 'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्' कहा है ॥२॥

एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह्—

शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥३॥

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः, यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य लोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दो-व्याकरण-अभिधानकोश-कला-चतुर्वर्ग-गज-तुरग-खड्गादिलक्षणग्रन्थानाम्, काव्यानां च महाकवि-सम्बन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः। काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिताः; न तु व्यस्ताः, तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः ॥३॥

काव्यके हेतु—

इसप्रकार काव्य तथा उसके उपयोगी विषयोंमें अभिरुचि उत्पन्न करनेके लिए काव्यके प्रयोजनोंका प्रतिपादन करनेके बाद ग्रन्थकार काव्यके प्रयोजक हेतुओंका वर्णन अगली कारिकामें करते हैं—

[कविमें रहनेवाली उसकी स्वाभाविक प्रतिभा रूप] १ शक्ति, २ लोक [व्यवहार] शास्त्र तथा काव्य आदिके पर्यालोचनसे उत्पन्न निपुणता और ३ काव्य [की रचना-शैली तथा आलोचनापद्धति] को जाननेवाले [गुरु] की शिक्षाके अनुसार [काव्य निर्माणका] अभ्यास, ये [तीनों मिलकर समष्टि रूपसे] उस [काव्य] के विकास [उद्भव] के कारण हैं । ३ ।

१ कवित्वका बीजभूत संस्कार-विशेषण [प्रतिभा या] शक्ति [कहलाती] है, जिसके बिना काव्य [निकलता] बनता ही नहीं है। अथवा [निकलने, तुकबन्दीके रूपमें कुछ] बन जाने पर [भी] उपहासके योग्य हो जाता है। २ लोक अर्थात् स्थावर-जङ्गम रूप संसारके व्यवहारके, शास्त्र अर्थात् छन्द, व्याकरण, संज्ञा-शब्दों [अभिधान] के कोश [अमरकोश आदि], कला [अर्थात् भरत-कोहल आदि प्रणीत नृत्य, गीत आदि चौसठ प्रकारकी कलाओंके प्रतिपादक लक्षण-ग्रन्थों], चतुर्वर्ग [अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतिपादक ग्रन्थ], हाथी घोड़े [आदिके लक्षणोंके प्रतिपादक शालिहोत्र आदि रचित ग्रन्थ] एवं खड्ग आदिके लक्षणग्रन्थों, और महाकवि सम्बन्धी [अर्थात् महाकवियों द्वारा रचे गये] काव्योंके, आदि [पदके] ग्रहणसे [सूचित], इतिहास आदिके पर्यालोचनसे उत्पन्न व्युत्पत्ति [विशेष प्रकारका ज्ञान], तथा ३ जो काव्य [की रचना] करना और उसकी विवेचना करना जानते हैं उनके उपदेशके अनुसार [अपने आप नवीन श्लोकादिके] निर्माण करने और [प्राचीन कवियोंके श्लोकोंमें] जोड़-तोड़ करनेमें बार-बार प्रवृत्ति [अर्थात् अभ्यास] ये तीनों मिलकर [समष्टि रूपसे], अलग-अलग नहीं, उस काव्यके उद्भव अर्थात् निर्माण और विकासमें कारण होता है। अलग-अलग तीन कारण नहीं होते हैं।

यहाँ ग्रन्थकारने १ शक्ति, २ लोकव्यवहार, शास्त्र एवं काव्य आदिके पर्यालोचनसे उत्पन्न व्युत्पत्ति तथा ३ काव्यकी रचना-शैली और उसके गुण-दोषोंके जाननेवाले विद्वानोंकी शिक्षाके अनुसार अभ्यास इन तीनोंकी समष्टिको काव्य-निर्माणकी योग्यता प्राप्त करनेका कारण माना है।

वामन-प्रतिपादित काव्यके हेतु—

वामनने भी इसी प्रकार १ लोक, २ विद्या तथा ३ प्रकीर्ण, इन तीनको काव्यका अङ्ग, काव्य-निर्माणकी क्षमता प्राप्त करनेका साधन बतलाया है।

[१]लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि।

[२]लोकवृत्तं लोकः। १, ३, २।

[३]शब्दस्मृति-अभिधानकोश-छन्दोविचिति-कला-कामशास्त्र-दण्डनीतिपूर्वा विद्याः। १, ३, ३।

[४]लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवा-अवेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम्। १, ३, ११।

इस प्रकार वामनने काव्यके कारणोंका अधिक विस्तारके साथ विवेचन किया है। प्रथम अधिकरणके तीसरे अध्यायके २० सूत्र वामनने इन काव्याङ्गोंके निरूपण करनेमें व्यय किये हैं जिनको यहाँ मम्मटाचार्यने केवल एक कारिकामें कह दिया है। मम्मटने वामनके लोक तथा विद्या दोनोंको 'लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् निपुणता'के अन्तर्गत कर लिया है। 'प्रकीर्ण'मेंसे 'शक्ति'को अलग कर दिया है। और 'वृद्ध-सेवा'का 'काव्यज्ञशिक्षयाभ्यासः'में अन्तर्भाव करके मम्मटने वामनके समान आठ काव्याङ्गोंका मुख्य रूपसे तीन काव्य-साधनोंके रूपमें प्रतिपादन किया है।

भामह-प्रतिपादित काव्य-हेतु—

वामनके पूर्ववर्ती आचार्य भामहने भी काव्य-साधनोंका निरूपण लगभग उसी प्रकारसे किया है। उन्होंने लिखा है—

[५]शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्ययैरमी॥ ९॥
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः॥ १०॥

इस काव्य-साधनोंकी तुलना करनेसे प्रतीत होता है कि काव्य-साधन सभी आचार्योंकी दृष्टिमें लगभग एक से ही हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न आचार्योंने उनके पौर्वापर्य अथवा विभाग आदिमें थोड़ा-बहुत भेद करके उनका अलग-अलग ढंगसे निरूपण कर दिया है। तत्त्वतः उनके विवेचनमें अधिक भेद नहीं है॥ ३॥

१ मम्मटका काव्यका लक्षण—

इस प्रकार द्वितीय कारिकामें काव्यके प्रयोजन तथा तृतीय कारिकामें काव्यके साधनोंका निरूपण कर चुकनेके बाद चतुर्थ कारिकामें ग्रन्थकार काव्यका लक्षण प्रस्तुत करने जा रहे हैं। किसी भी पदार्थका अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव तीनों प्रकारके दोषोंसे रहित एकदम निर्दुष्ट लक्षण प्रस्तुत करना यों ही कठिन होता है फिर काव्य जैसे दुर्बोध पदार्थका लक्षण करना और भी अधिक कठिन है। फिर भी काव्यप्रकाशकारने इस दिशामें जो प्रयत्न किया है वह प्रशंसनीय है। यद्यपि उत्तरवर्ती विश्वनाथ आदिने उनके लक्षणको बुरी तरहसे खण्डन किया है, परन्तु वास्तविक दृष्टिसे विचार किया जाय तो वह उतना दूषित लक्षण नहीं है जिस रूपमें विरोधियोंने उसको चित्रित करनेका प्रयत्न किया है। उनके काव्य-लक्षणके गुण-दोषकी मीमांसा करनेसे पहिले उनके लक्षणको भली प्रकार समझ लेना चाहिये अन्यथा उसकी समालोचना और मीमांसा समझमें नहीं आ सकेगी।

१-४. वामन काव्यालङ्कार सूत्र १, ३, २-३, ११।

५. भामह काव्यालङ्कार १, ९-१०।

एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह—

[सूत्रम् १] तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।

दोषगुणालङ्काराः वक्ष्यन्ते । क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः । यथा—

[1]यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपाः
ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥१॥

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'

मम्मटाचार्यके अनुसार यह काव्यका लक्षण है । इस लक्षणमें सबसे पहिली बात यह है कि मम्मट शब्द तथा अर्थ दोनोंकी समष्टिको काव्य मानते हैं। अकेला शब्द या अकेला अर्थ इनमेंसे कोई भी काव्य नहीं है। तत् यह सर्वनाम पद पिछली 'काव्यं यशसे' इत्यादि कारिकामें प्रयुक्त हुए काव्यपदका परामर्शक है । द्वितीय कारिकामें मुख्य संज्ञापद या 'काव्य'-पदका प्रयोग करनेके बाद तीसरी तथा चौथी दोनों कारिकाओंमें ग्रन्थकारने 'तत्' इस सर्वनाम पदके प्रयोग द्वारा ही उसका निर्देश किया है । इसलिए यहाँ भी 'तत्' पद 'काव्य'का परामर्शक है । 'शब्दार्थौ तत्'का अर्थ 'शब्दार्थौ काव्यम्' यह हुआ । इसके अनुसार शब्द तथा अर्थ, ये दोनों मिलकर काव्य पद-वाच्य होते हैं, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

इस 'शब्दार्थौ' पदके तीन विशेषण लक्षणमें प्रस्तुत किये गये हैं ; वे शब्द और अर्थ दोनों किस प्रकारके होने चाहियें कि १ 'अदोषौ', २ 'सगुणौ' तथा ३ 'अलंकृती पुनः क्वापि' । अर्थात् वे शब्द तथा अर्थ दोनों दोष-रहित हों यह पहिली बात है। दूसरी बात यह है कि वे दोनों 'सगुण' माधुर्य आदि काव्य-गुणोंसे युक्त होने चाहियें । और तीसरी बात यह है कि साधारणतः वे अलङ्कार सहित भी होने चाहिये परन्तु जहाँ कहीं रसादिकी प्रतीति हो रही हो वहाँ उनके अलङ्कार-विहीन होनेपर भी काम चल सकता है । इस प्रकार इन तीन विशेषणोंसे युक्त शब्द तथा अर्थकी समष्टिका नाम काव्य है, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । यही बात आगे कहते हैं—

इस प्रकार इस [काव्य] के साधन बतलाकर [उसके] स्वरूपको कहते हैं—

[सू० १]—दोषोंसे रहित, गुण-युक्त और [साधारणतः अलङ्कार सहित परन्तु] कहीं-कहीं अलङ्कार-रहित शब्द और अर्थ [दोनोंकी समष्टि] काव्य [कहलाती] है ।

दोष, गुण और अलङ्कार [किसको कहते हैं यह बात] आगे कहेंगे । ['अनलंकृती पुनः क्वापि' इस वाक्यांशमें प्रयुक्त] 'क्वापि' इस पदसे [ग्रन्थकार] यह कहते हैं कि [साधारणतः] सब जगह अलङ्कार सहित [शब्द तथा अर्थ होने चाहिये] परन्तु कहीं [जहाँ व्यङ्ग्य या रसादिकी स्थिति विद्यमान हो वहाँ] स्पष्ट रूपसे अलङ्कारकी सत्ता न होनेपर भी काव्यत्वकी हानि नहीं होती है । जैसे—

[जिन प्रियतम पतिदेवने विवाहके बाद प्रथम सम्भोग द्वारा मेरे कुमारीभावके सूचक योनिच्छदका भङ्ग करके कौमार्यका हरण किया, चिर उपभुक्त, मेरे] कौमार्यका हरण करनेवाले वे ही पतिदेव हैं, और [आज फिर] वे ही चैत्र

---

१. 'शार्ङ्गधर-पद्धति'में यह श्लोक 'शिलाभट्टारिका'के नामसे दिया गया है ।

अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः । रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता ।

[मास] की [उज्वल चाँदनीसे भरी हुई] रातें हैं, खिली हुई मालती की [मालती का अर्थ जाति-पुष्प या चमेली होता है परन्तु 'न स्याज्जाती वसन्ते' इत्यादि कवि-सम्प्रदायके अनुसार वसन्त ऋतुमें जाति-पुष्पका वर्णन करना वर्जित है, इसलिए यहाँ मालती पदसे वसन्तमें खिलनेवाली किसी लता-विशेषका ग्रहण करना चाहिये] सुगन्धसे भरी हुई और [वसन्त ऋतुमें कदम्ब भी नहीं खिलता है, वह वर्षा ऋतुमें खिलता है। इसलिए यहाँ कदम्ब शब्दसे वसन्तमें खिलनेवाले धूलि-कदम्ब नामक पुष्प-विशेषका ग्रहण करना चाहिये] धूलि-कदम्बकी उन्मादक [प्रौढ़ अत्यन्त कामोत्तेजक] वायु वह रही है और मैं भी वही हूँ [सब ही सामग्री पुरानी चिर उपभुक्त होनेसे उसमें उत्कण्ठा होनेका कोई अवसर नहीं] फिर भी [न जाने क्यों आज] वहाँ नर्मदाके तटपर उस वेतके पेड़के नीचे [जहाँ अनेक बार अपने पतिदेवके साथ सम्भोग कर चुकी हूँ, सम्भोगकी] उन काम-केलियोंके [फिर-फिर करनेके] लिए चित्त उत्कण्ठित हो रहा है । १ ।

यहाँ कोई स्पष्ट अलङ्कार नहीं है । और रसके प्रधान होनेसे [रसवदलङ्कारके रूपमें] उसको भी अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है । [क्योंकि वह रसवदलङ्कार रसके गौण होनेपर ही होता है] ।

इस उदाहरणकी विश्वनाथकृत आलोचना—

यहाँ कोई स्पष्ट अलङ्कार नहीं है इसके कहनेका अभिप्राय यह है कि वैसे चाहें तो खींच-तान करके यहाँ अलङ्कार निकाला जा सकता है ; जैसे कि साहित्यदर्पण-कार विश्वनाथने इसमें 'विभावना' तथा 'विशेषोक्ति' अलङ्कार निकालनेका प्रयत्न किया है । 'विभावना' तथा 'विशेषोक्ति' ये दोनों अलङ्कार परस्पर-विरोधी रूप हैं ।

विभावना तु विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।
सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्ततो द्विधा ।

जहाँ बिना कारणके कार्यका वर्णन किया जाय वहाँ 'विभावना' अलङ्कार होता है । इसके विपरीत जहाँ कारण होनेपर भी कार्यकी उत्पत्ति न हो वहाँ 'विशेषोक्ति' नामक दूसरा अलङ्कार होता है । साहित्यदर्पण-कारका कहना यह है कि यहाँ उत्कण्ठा रूप कार्यका वर्णन किया गया है परन्तु उसका कारण विद्यमान नहीं है । उत्कण्ठा सदा किसी नयी चीजकी प्राप्तिके लिए होती है । यहाँ कोई भी नयी चीज नहीं, सभी वस्तु पहिले सैकड़ों बारकी भोगी हुई हैं । इसलिए उत्कण्ठाका कारण न होनेपर भी उत्कण्ठा रूप कार्यका वर्णन होनेसे यहाँ 'विभावना' अलङ्कार है । इसी प्रकार यदि इसको उलट दिया जाय तो यहाँ 'विशेषोक्ति' अलङ्कार निकल सकता है । यहाँ सब ही वस्तुएँ उपभुक्त-चर हैं इसलिए उत्कण्ठा नहीं होनी चाहिये । अर्थात् उत्कण्ठाके अभावकी सारी सामग्री विद्यमान है परन्तु उत्कण्ठाका अभाव रूप कार्य नहीं है, उत्कण्ठा हो रही है । इस प्रकार उत्कण्ठा-भावका कारण रहते हुए भी उत्कण्ठा भाव कार्यके न होनेसे यहाँ 'विशेषोक्ति' अलङ्कार भी पाया जाता है ।

उसका समाधान

इस प्रकार साहित्यदर्पण-कार विश्वनाथने इस श्लोकमें 'विभावना' तथा 'विशेषोक्ति' दो अलङ्कारोंकी कल्पना करके और उनके सन्देह-सङ्कर अलङ्कारकी स्थिति सिद्ध करके मम्मट द्वारा 'अनलंकृती

पुनः क्वापि' के उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किये गये इस श्लोकमें अलङ्कारके अभावका खण्डन किया है। परन्तु विश्वनाथने अत्यन्त संरम्भके साथ जिस विभावना-विशेषोक्ति-मूलक सन्देह-सङ्कर अलङ्कारको यहाँ सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है वह मम्मटाचार्यकी दृष्टिसे ओझल नहीं था। वे भी जानते थे कि यहाँ इस प्रकारसे 'विभावना' या 'विशेषोक्ति' या दोनोंका सन्देह-सङ्कर अलङ्कार निकाला जा सकता है। परन्तु ये अलङ्कार भाव-मुखेन नहीं, अभाव-मुखेन निकलते हैं इसलिए वे स्पष्ट नहीं अपितु खींच-तानकर ही निकाले जा सकते हैं। इसीलिए तो मम्मटने उसे 'स्फुटालङ्कार-विरह' के उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया है। अतएव विश्वनाथने जो इस उदाहरणका खण्डन किया है वह युक्तिसङ्गत नहीं है।

विश्वनाथकी भावना—

विश्वनाथने अपने साहित्यदर्पणमें मम्मटके इस काव्य-लक्षणकी बुरी तरह छीछालेदर की है। उनकी दृष्टिमें तो काव्यप्रकाशके इस काव्य-लक्षणमें 'पदसंख्यातोऽपि भूयसी दोषाणां संख्या' लक्षणमें जितने पद प्रयुक्त हुए हैं उससे भी अधिक दोष उसमें है। 'साहित्यदर्पण'को पढ़नेसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथकी दृष्टिमें मम्मट महामूर्ख आदमी हैं, वह साहित्य-शास्त्रकी बारह-खड़ी भी नहीं जानते हैं। उन्होंने अपने पाण्डित्यके प्रदर्शनका यही एकमात्र उपाय समझा है कि 'काव्यप्रकाश'का हर बातमें खण्डन किया जाय। कदाचित् इसीलिए उन्होंने अपने ग्रन्थका नाम 'साहित्यदर्पण' रखा है। 'दर्पण'का कार्य 'प्रकाश'का प्रतिक्षेप करना ही है। दर्पणको यदि सूर्यके सामने दिखलाया जाय तो उसपर जो सूर्यकी किरणें पड़ेंगी वे वहाँसे प्रतिक्षिप्त होकर सामने खड़े हुए व्यक्तिकी आँखोंमें भीषण चकाचौंध उत्पन्न कर देंगी। इसी प्रकार साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने अपने 'दर्पण' द्वारा काव्य-प्रकाशकार मम्मटके 'प्रकाश'का प्रतिक्षेप कर साहित्यके विद्यार्थियोंकी दृष्टिमें चकाचौंध उत्पन्न कर दी है जिसके कारण विद्यार्थी उस समय अन्धा-सा हो जाता है और काव्यप्रकाशमें उसे कुछ भी तत्व नहीं दिखलाई देता।

'अदोषौ'पदकी आलोचना—

काव्यप्रकाश-कारने अपने लक्षणमें 'शब्दार्थौ'के जो तीन विशेषण 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलंकृती पुनः क्वापि' दिये हैं उन तीनोंका ही विश्वनाथने बुरी तरह खण्डन किया है।[1] उनकी युक्तियोंका सार यह है कि यदि दोषरहित शब्दार्थको ही काव्य माना जाय तो इस प्रकारका नितान्त दोषरहित काव्य संसारमें मिल सकना ही कठिन है। इसलिए 'एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्' अर्थात् ऐसी दशामें काव्य या तो संसारमें मिलेगा ही नहीं और यदि भूले-भटके कहीं मिल भी गया तो बहुत कम मिल सकेगा। इसके अतिरिक्त आगे चलकर 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि जिस श्लोकको ध्वनि-प्रधान होनेसे उत्तम काव्य माना गया है उसमें भी 'विधेयाविमर्श' दोषके विद्यमान होनेसे उसको उत्तम-काव्य क्या, काव्य भी नहीं कहा जा सकेगा। और यदि यह कहा जाय कि दोष तो उस श्लोकके थोड़ेसे ही अंशमें है तो—

'यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः, यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा किमपि न स्यात्'।

जिस अंशमें दोष है वह अकाव्यत्वका प्रयोजक होगा और जिस अंशमें ध्वनि है वह उत्तम काव्यत्वका प्रयोजक होगा। इस प्रकार दोनों अंशोंकी इस छीना-झपटीमें वह काव्य या अकाव्य कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।

---

१. साहित्य-दर्पण, प्रथम परिच्छेद।

उसका समाधान—

इस प्रकार साहित्यदर्पणकारने 'अदोषौ' पदके लक्षणमें रखे जानेका खण्डन किया है। परन्तु काव्यप्रकाश-कारका 'अदोषौ' पदके रखनेका अभिप्राय यह है कि काव्यत्वके विघटक जो 'च्युतसंस्कार' आदि प्रबल दोष हैं उनसे रहित शब्द तथा अर्थ काव्य है। कोई भी दोष स्वरूपतः दोष नहीं होता अपितु जब वह रसानुभूतिमें बाधक होता है तभी दोष कहा जाता है। जैसे 'दुःश्रवत्व' दोष करुण, शृङ्गार आदि कोमल रसोंकी अनुभूतिमें बाधक होता है इसलिए वहाँ उसे दोष कहा जाता है। परन्तु वीर, बीभत्स या भयानक रसमें वह 'दुःश्रवत्व' रसानुभूतिका बाधक नहीं अपितु साधक हो जाता है इसलिए वहाँ दोष गुण नहीं अपितु गुण कहा जाता है। इसलिए जो दोष प्रबल होनेके कारण रसानुभूतिमें बाधक हों उन प्रबल दोषोंसे रहित शब्द तथा अर्थ काव्य है। यह काव्यप्रकाश-कारका अभिप्राय है। अतः साधारण स्थितिके दुर्बल दोषके विद्यमान होनेपर भी काव्यत्वकी हानि नहीं होती है। स्वयं साहित्यदर्पण-कारने भी साधारण दोषोंके रहते हुए भी काव्यमें काव्यत्व स्वीकार किया है।

'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः ॥

जैसे कीड़ोंसे खाया हुआ प्रवाल आदि रत्न, रत्न ही कहलाता है इसी प्रकार जिस काव्यमें रसादिकी अनुभूति स्पष्ट रूपसे होती रहती है वहाँ दोषके होते हुए भी काव्यत्वकी हानि नहीं होती है।

इस सिद्धान्तको साहित्यदर्पण-कार भी स्वीकार करते हैं और काव्यप्रकाश-कारने जो अपने काव्य-लक्षणमें 'अदोषौ'पदका समावेश किया है वह भी इसी अभिप्रायसे किया है कि रसानुभूतिके बाधक प्रबल दोषोंसे रहित शब्द तथा अर्थकी समष्टि काव्य कहलाती है अर्थात् जहाँ साधारण दोषके होते हुए भी रसानुभूतिमें बाधा नहीं होती है वह दोष-युक्त काव्य भी काव्य ही है। ऐसी दशामें काव्य 'प्रविरलविषय' या 'निर्विषय' कुछ भी नहीं होता है, और न 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादिमें साधारण 'विधेयाविमर्श' दोषके होनेसे अकाव्यत्व होता है। इसलिए विश्वनाथने इसके खण्डनमें जो कुछ लिखा है उसका 'पाण्डित्य-प्रदर्शन' के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं है।

'सगुणौ'की आलोचना—

इसी प्रकार लक्षणमें दिये हुए 'सगुणौ'पदका भी विश्वनाथने खण्डन किया है। उनका कहना है कि गुण तो रसके धर्म होते हैं, रसमें रहते हैं। वे शब्द या अर्थके धर्म नहीं होते हैं इसलिए शब्द या अर्थमें नहीं रह सकते हैं। ऐसी दशामें रस ही 'सगुण' कहा जा सकता है, शब्द या अर्थको 'सगुण' नहीं कहा जा सकता। इसलिए काव्यप्रकाश-कारने जो 'सगुणौ' पदको 'शब्दार्थौ'के विशेषण रूपमें प्रयुक्त किया है वह भी उचित नहीं किया है।

विश्वनाथ तो ऐसा समझ रहे हैं कि मम्मटाचार्य मानों कोई बिलकुल साधारण विद्यार्थी हों जिनको इस बातका भी बोध नहीं है कि गुण शब्द या अर्थके धर्म नहीं है। पर ऐसी तो बात नहीं है। काव्यप्रकाश-कार भी जानते हैं कि गुण रसके धर्म होते हैं। फिर भी गौण रूपसे शब्द और अर्थके साथ भी उनका सम्बन्ध हो सकता है। अष्टम उल्लासमें 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' लिखकर मम्मटाचार्यने गौणीवृत्तिसे शब्द तथा अर्थके साथ भी गुणोंके सम्बन्धका प्रतिपादन किया है। और उसी दृष्टिसे यहाँ 'शब्दार्थौ'के विशेषण रूपमें 'सगुणौ' पदका प्रयोग किया गया है। इसलिए विश्वनाथने अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन करनेके लिए काव्यप्रकाश-कारपर जो यह पङ्क-प्रक्षेप किया है वह सब केवल उनका अकाण्ड-ताण्डवमात्र है।

रसगङ्गाधर-कार-कृत आलोचना—

काव्यप्रकाशके इस काव्यलक्षणपर न केवल विश्वनाथने अपितु रसगङ्गाधर-कार पण्डितराज जगन्नाथने भी कुछ आपत्ति उठायी है। परन्तु उनका दृष्टिकोण विश्वनाथसे बिलकुल भिन्न है। विश्वनाथने लक्षणके केवल विशेषण भागका खण्डन किया है, विशेष्य भाग अर्थात् 'शब्दार्थौ' पदपर कोई आक्षेप नहीं किया है। इसके विपरीत पण्डितराज जगन्नाथने लक्षणके केवल विशेष्यांश 'शब्दार्थौ' पदपर आपत्ति उठायी है, विशेषण—भूत 'अदोषौ', 'सगुणौ' आदि पदोंपर कोई आक्षेप नहीं किया है। 'शब्दार्थौ' पदपर पण्डितराजको यह आपत्ति है कि काव्यत्व, शब्द और अर्थ दोनोंकी समष्टिमें नहीं रहता है। और न दोनोंकी व्यष्टिमें अलग-अलग काव्यत्व रहता है। अपितु केवल शब्दमें ही काव्यत्व रहता है। उन्होंने लिखा है—

१यत्तु प्राञ्चः [काव्यप्रकाशकारादयः] शब्दार्थौ काव्यमित्याहुः तत्र विचार्यते— ० ० ० अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तं [व्यासज्यवृत्ति] प्रत्येकपर्याप्तं वा ? नाद्यः, एको न द्वौ इति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्यं न काव्यमिति व्यवहारापत्तेः। न द्वितीयः, एकस्मिन् पद्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः। तस्माद्वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता।

अर्थात् जो काव्यप्रकाश-कार आदि प्राचीन आचार्य शब्द और अर्थ दोनोंको काव्य कहते हैं उसके विषयमें यह विचार करना है कि वह काव्यत्व शब्द तथा अर्थ दोनोंमें 'व्यासज्य-वृत्ति' अर्थात् दोनोंमें मिलकर रहनेवाला धर्म है अथवा 'प्रत्येक-पर्याप्त' अर्थात् एक-एकमें अलग भी रह सकता है। इनमेंसे पहिला अर्थात् 'व्यासज्य-वृत्ति' वाला पक्ष नहीं बन सकता है; क्योंकि उस दशामें 'एको न द्वौ' इस व्यवहारके समान यह श्लोक-वाक्य तो है परन्तु काव्य नहीं है इस प्रकारका व्यवहार होने लगेगा। जैसे दो पदार्थोंमें रहनेवाली द्वित्व-संख्या दोनोंमें मिलकर ही रहती है, अलग-अलग नहीं। इसलिए द्वित्व-संख्या उन दोनों पदार्थोंका व्यासज्य-वृत्ति धर्म है। जब दोनों पदार्थ उपस्थित होते हैं तभी 'द्वौ'—'ये दो हैं' इस प्रकारका व्यवहार होता है। और जब उनमेंसे एक ही पदार्थ उपस्थित होता है उस समय 'यह दो नहीं, एक है' इस प्रकारका व्यवहार होता है। इसी प्रकार 'यह श्लोक वाक्य है, काव्य नहीं' यह व्यवहार होने लगेगा। इसलिए काव्यत्वको 'व्यासज्य-वृत्ति' धर्म नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार काव्यत्वको 'प्रत्येक-पर्याप्त' अर्थात् शब्द तथा अर्थ दोनोंमें अलग-अलग रहनेवाला धर्म भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि उस दशामें एक ही श्लोक वाक्यमें शब्द और अर्थ दोनोंकी दृष्टिसे दुहरा काव्यत्व आ जायगा। इसलिए एक पद्यमें दो काव्योंका व्यवहार होने लगेगा। इसलिए शब्द तथा अर्थमें न 'व्यासज्य-वृत्ति' काव्यत्व बनता है, न 'प्रत्येक-पर्याप्त'। फलतः काव्यत्व शब्दार्थ उभयनिष्ठ धर्म नहीं है अपितु केवल शब्दनिष्ठ धर्म है। यह पण्डितराज जगन्नाथका सिद्धान्त है। इसीलिए उन्होंने—

"रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'

इस प्रकारका काव्यका लक्षण किया है।

नागेश भट्टकृत पण्डितराजकी प्रत्यालोचना—

परन्तु उनका यह खण्डन उनके ही टीकाकार नागेशभट्टको उचित प्रतीत नहीं हुआ। इसलिए रसगङ्गाधरकी टीकामें इसी स्थलकी 'नोचिता' इस प्रतीकको लेकर उन्होंने लिखा है कि—

---

१. रसगङ्गाधर पृ० ५।

२. रसगङ्गाधर पृ० ४।

'आस्वादव्यञ्जकत्वस्योभयत्राप्यविरोधात् चमत्कारिबोधजनकज्ञानविषयतावच्छेदक–धर्मत्वरूपस्यानुपहसनीयकाव्यलक्षणस्य प्रकाशाद्युक्तलक्ष्यतावच्छेदकस्योभयवृत्तित्वाच्च काव्यं पठितं श्रुतं, काव्यं बुद्धमित्युभयविषव्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं व्यासज्यवृत्ति । अतएव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादकः 'तदधीते तद्वेद' ५, २, ५९ इति सूत्रस्थो भगवान् पतञ्जलिः सङ्गच्छते । लक्षणयान्यतरस्मिन्नपि तत्वात् 'एको न द्वौ' इतिवत् न तदापत्तिः । तेनानुपहसनीयकाव्यलक्षणं प्रकाशोक्तं निर्बाधम् ।'

इसका अभिप्राय यह है कि काव्यत्वका प्रयोजक जो 'रसास्वादव्यञ्जकत्व' है वह शब्द तथा अर्थ दोनोंमें समान रूपसे रहता है । काव्यको पढ़ा, काव्यको सुना और काव्यको समझा इस प्रकारका व्यवहार भी दिखलाई देता है, इससे शब्द तथा अर्थ दोनोंकी काव्यता प्रतीत होती है, केवल शब्द या केवल अर्थकी नहीं । और काव्यप्रकाशोक्त अनुपहसनीय काव्यका नियामक 'चमत्कारिबोधजनकज्ञानविषयतावच्छेदकधर्मत्व' रूपका लक्षण शब्द तथा अर्थ दोनोंमें रहता है, एकमें नहीं । इसलिए काव्यत्वको 'व्यासज्य-वृत्ति' धर्म माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती । इसी दशामें, अर्थात् काव्यत्वको व्यासज्य वृत्ति धर्म माननेपर ही, 'तदधीते तद्वेद' इस पाणिनि—सूत्रके 'महाभाष्य' में भाष्यकार पतञ्जलि मुनिने वेदत्व आदिको जो व्यासज्य वृत्ति धर्म माना है उसकी सङ्गति लगती है । इस प्रकार काव्यत्व मुख्य रूपसे 'व्यासज्य वृत्ति' धर्म है परन्तु लक्षणासे केवल शब्द अथवा केवल अर्थमें भी काव्यत्व माना जा सकता है । इसलिए 'एको न द्वौ'के समान 'श्लोकवाक्यं न काव्यं' इस प्रकारके व्यवहारका कोई अवसर नहीं आता है । फलतः काव्यप्रकाशके अनुसार शब्द तथा अर्थ दोनोंको काव्य माननेमें कोई बाधा नहीं है यह रसगङ्गाधरके टीकाकार नागेशभट्टका अभिप्राय है ।

न केवल नागेश अपितु पण्डितराज जगन्नाथको छोड़कर प्रायः सभी आचार्योंने शब्द अर्थ दोनोंको ही काव्य माना है । इस विषयमें विभिन्न आचार्योंके निम्न वचन उद्धृत किये जा सकते हैं—

१ शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा [भामह १, १६]
२ काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । [वामन १, १]
३ शब्दार्थौ काव्यम् [रुद्रट काव्यालङ्कार २, १]
४ अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् [हेमचन्द्र पृ० १६]
५ शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ च काव्यम् [वाग्भट पृ० १४]
६ गुणालङ्कार सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ [प्रतापरुद्रे विद्यानाथः पृ० ४२]
७ शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः [एकावली विद्याधर पृ० १, १३]

इस प्रकार शब्द तथा अर्थ दोनोंमें काव्यत्व माननेवाला मत ही बहुजन-समादृत मत है । अतएव पण्डितराज जगन्नाथने जो उसका खण्डन किया है वह उपादेय नहीं है ।

'अनलंकृती पुनः क्वापि' अर्थात् कहीं स्फुटालङ्कार-रहित शब्दार्थ भी काव्य हो सकते हैं, इसे दिखलानेके लिए काव्यप्रकाश-कारने जो 'यः कौमारहरः' इत्यादि श्लोक उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया है उसका समन्वय करते हुए उन्होंने लिखा है कि यहाँ कोई अलङ्कार स्पष्ट नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि उसमें खींचतान करके 'विभावना' या 'विशेषोक्ति' जैसे अलङ्कार निकालनेका प्रयत्न उचित नहीं है । अत एव विश्वनाथने यहाँ 'विभावना' 'विशेषोक्ति' मूलक सन्देह-सङ्कर अलङ्कार सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया वह ठीक नहीं है । 'हरो वरः' इस प्रकारका अनुप्रास रूप शब्दालङ्कार भी प्रकृत शृङ्गार रसके विरोधी वर्ण रेफसे घटित होनेके कारण अलङ्कार कहलाने योग्य नहीं है ।

'रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता' काव्य-प्रकाशकी इस पंक्तिका अभिप्राय यह है कि—जहाँ रस स्वयं प्रधान न होकर अन्य किसीका अङ्ग बन जाता है वहाँ 'रसवत्-अलङ्कार' माना जाता है। इस प्रकारके रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित ये चार अलङ्कार अलग माने गये हैं। इनमेंसे भी कोई अलङ्कार यहाँ नहीं है। क्योंकि यदि रस यहाँ प्रधान न होकर किसी अन्यका अङ्ग होता तब तो इसमें 'रसवत्-अलकार' हो सकता था। परन्तु यहाँ तो रस किसी अन्यका अङ्ग नहीं अपितु स्वयं प्रधान रूपसे अनुभव हो रहा है इसलिए 'रसवदलङ्कार' भी नहीं है। अतएव 'अनलंकृती पुनः क्वापि'का यह उदाहरण ठीक बन जाता है यह काव्यप्रकाश-कारका अभिप्राय है।

२ भामहका काव्य-लक्षण—

मम्मटके पूर्ववर्ती आचार्योंमेंसे साहित्यशास्त्रके भीष्मपितामह 'भामह'का काव्य-लक्षण सबसे अधिक प्राचीन है। उन्होंने—

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा'। १, १६।

यह काव्यका लक्षण किया है। यह लक्षण जितना ही प्राचीन है उतना ही संक्षिप्त है। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनोंके सहभावको काव्य माना है। वे सहभाव या 'सहितौ' शब्दका क्या अर्थ लेते हैं इसकी व्याख्या भी उन्होंने नहीं की है। पर उनका अभिप्राय यह है कि जिस रचनामें वर्णित अर्थ-के अनुरूप शब्दोंका प्रयोग हो या शब्दोंके अनुरूप अर्थका वर्णन हो वे शब्द और अर्थ ही 'सहितौ' पदसे विवक्षित हैं। वही शब्द और अर्थका 'साहित्य' है।

३ दण्डीका काव्य-लक्षण—

भामहके बाद 'काव्यादर्श'के निर्माता 'दण्डी'का स्थान माना जाता है। दण्डीने पूर्वके आचार्योंका उल्लेख करते हुए लिखा है—

[1]'अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्॥
तैः शरीरं काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।

अर्थात् प्रजाजनोंकी व्युत्पत्तिको ध्यानमें रखकर भामह आदि प्राचीन विद्वानोंने विचित्र मार्गोंसे युक्त काव्यवाणीके रचनाके प्रकारोंका वर्णन किया है, जिसमें उन्होंने काव्यके शरीर तथा उसके अलङ्कारोंका वर्णन किया है।

यहाँतक डेढ़ कारिकामें 'दण्डी'ने पूर्व आचार्योंके मतकी चर्चा की है। उनका संङ्केत यहाँ मुख्य रूपसे 'भामह'की ओर ही है। 'भामह'के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस लक्षणमें काव्यके शब्द और अर्थमय 'शरीर'का निर्देश है। और आगे ग्रन्थमें उसके अलङ्कारोंका वर्णन किया गया है। इस प्रकार 'तैः शरीरं काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।' यह पंक्ति स्पष्ट रूपसे 'भामह'की ओर संकेत कर रही है। भामहके इस लक्षणमें आये हुए 'सहितौ' पदकी कोई व्याख्या नहीं की गयी थी। इस कमीको पूरा करनेका प्रयत्न 'दण्डी'ने किया है—

[2]'शरीरं तावदिष्टार्थ–व्यवच्छिन्ना पदावली'

यही दण्डीका काव्य-लक्षण है। इष्ट अर्थात् मनोरम हृदयाह्लादक अर्थसे युक्त पदावली—शब्द-समूह—अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्यका शरीर है। इस प्रकार 'भामह' और 'दण्डी' दोनोंने काव्यके शरीर तथा अलङ्कारोंकी चिन्ता की है पर उसकी आत्माका विचार नहीं किया है।

१–२. काव्यादर्श १, ९-१०

३ वामनका काव्य-लक्षण—

दण्डीके बाद 'वामन'का लक्षण सामने आता है। वामनने भामह और दण्डीके उक्त काव्य शरीरमें प्राणप्रतिष्ठा करनेका प्रयत्न किया है। उन्होंने काव्यके शरीरकी चिन्ता न करके उसके आत्मा-का अनुसन्धान करनेका प्रयत्न किया है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' [काव्यालङ्कार सूत्र १, १] यह उनका प्रसिद्ध सूत्र है। अर्थात् वे 'रीति'को काव्यकी 'आत्मा' मानते हैं। और 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्' 'सौन्दर्यमलङ्कारः' आदि सूत्रोंमें काव्यके सौन्दर्याधायक अलङ्कारोंको काव्यकी ग्राह्यता एवं उपादेयताका प्रयोजक मानते हैं।

४ आनन्दवर्धनका मत—

भामह और दण्डीने काव्यके शरीरकी चर्चा की थी इसलिए आत्माका कोई प्रश्न उनके सामने न था। वामनने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' लिखकर काव्यकी 'आत्मा' क्या है, एक नया प्रश्न उठा दिया है। इसलिए अगले विचारक आनन्दवर्धनाचार्यके सामने काव्यकी आत्माके निर्धारण करनेका प्रश्न, काव्य-प्रश्न बन गया। रीतियोंको वे केवल 'सङ्घटना' या अवयव-संस्थानके समान ही मानते हैं उनको काव्यकी 'आत्मा' वे नहीं मानते हैं। इसलिए उन्होंने 'ध्वनि'को काव्यकी आत्मा माना है। और वह भी अपने मतसे ही नहीं अपितु प्राचीन अलिखित परम्पराके आधारपर वे 'ध्वनि'को ही काव्यकी आत्मा माननेके पक्षमें हैं। इस विषयमें कुछ लोगोंने विप्रतिपत्ति उत्पन्न कर दी थी, उन्हींके निराकरणके लिए उन्हें 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ लिखनेकी आवश्यकता पड़ी।

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः यः समाम्नातपूर्वः
तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः, सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥[1]

इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्यके मतमें 'ध्वनि' ही काव्यका जीवनाधायक तत्व है। उसके बिना सुन्दर शब्द और अर्थ भी निर्जीव देहके समान त्याज्य हैं। ध्वनि-रूप आत्माकी प्रतिष्ठा होनेपर ही शब्दार्थ काव्य होते हैं।

५ राजशेखरका मत—

पिछले आचार्योंने काव्यके शरीर, आत्मा, अलङ्कार आदिका जो यह रूपक बाँधा था इसकी पृष्ट-भूमिमें उन्होंने एक 'काव्यपुरुष'की कल्पना की थी जो बहुत स्पष्ट नहीं थी। आगे चलकर राजशेखरने इस 'काव्यपुरुष'की कल्पनाको एकदम स्पष्ट और मूर्त रूप प्रदान कर दिया। उन्होंने 'काव्यपुरुष'का वर्णन करते हुए लिखा है—

"—शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघन्यमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिवर्णं च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तर-प्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति।—"[2]

ध्वनिकारने ध्वनिको काव्यकी 'आत्मा' माना था। राजशेखरने उस आत्मतत्वको और अधिक निश्चित रूप देनेके लिए वस्तु-ध्वनि तथा अलङ्कार-ध्वनिको छोड़कर केवल रसको काव्यकी आत्मा माना है।

१. ध्वन्यालोक १, १।

२. काव्य-मीमांसा, पृष्ठ १३-१४।

६ कुन्तकका काव्य-लक्षण—

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तकने इन सबकी अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्वक और अधिक स्पष्ट रूपसे काव्यका लक्षण करनेका प्रयत्न किया है ।

[1]शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥

कुन्तकके इस लक्षणमें पूर्वोक्त सभी लक्षणोंका सारांश प्रायः आ जाता है । 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' यह भामहका लक्षण कुन्तकके इस लक्षणमें स्पष्ट रूपसे ही समाविष्ट हो गया है । 'तद्विदाह्लादकारिणि बन्धे व्यवस्थितौ'से दण्डीकी 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' तथा वामनकी 'रीति' दोनोंका समावेश हो जाता है । 'वक्र-कविव्यापारशालिनि'से ध्वन्यालोककारके व्यञ्जना-व्यापार-प्रधान 'ध्वनि' तथा राजशेखरके 'रस' दोनों दोनोंका अन्तर्भाव हो जाता है । इस प्रकार कुन्तकने मानों पूर्ववर्ती सभी आचार्योंके काव्य-लक्षणोंका निचोड़ अपने इस लक्षणमें समाविष्ट कर दिया है । फिर भी अभी उनकी तृप्ति नहीं हुई है । क्योंकि 'सहितौ' पदका स्पष्टीकरण न भामहके लक्षणमें हुआ था और न यहाँ हुआ है । अतएव शब्द और अर्थके इस 'साहित्य'का स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं—

[2]शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा ।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते ॥
साहित्यमनयोः, शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्व — मनोहारिण्यवस्थितिः ॥

यहाँ पहिले यह शंका उठायी है कि शब्द और अर्थ तो प्रतीतिमें सदा साथ-साथ ही भासते हैं फिर 'सहितौ' पदसे आप उनमें कौन-सी विशेषता दिखलाना चाहते हैं ? इस शंकाका उत्तर देते हुए कुन्तक यह कहते हैं कि शब्द और अर्थके 'साहित्य'का अभिप्राय काव्य-सौन्दर्यके लिए उनकी 'न्यूनता या अधिकतासे रहित' मनोहर स्थिति होना चाहिये । उसीको शब्द अर्थका 'साहित्य' कहते हैं ।

इस प्रकार कुन्तकने काव्यलक्षणको अधिक विस्तारके साथ स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है ।

७ क्षेमेन्द्रका मत—

साहित्य-शास्त्रके इतिहासमें जिस प्रकार वामन अपने 'रीति-सिद्धान्त'के लिए, आनन्दवर्धन अपने 'ध्वनि-सिद्धान्त' के लिए और कुन्तक अपने 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त'के लिए प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार क्षेमेन्द्र अपने 'औचित्य-सिद्धान्त'के लिए प्रसिद्ध हैं । उन्होंने 'औचित्य'को ही काव्यका 'जीवित' माना है । अपने 'औचित्यविचारचर्चा' ग्रन्थमें वे लिखते हैं—

[3]काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः ।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥
अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥

८ विश्वनाथका काव्य-लक्षण—

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ 'रसात्मक वाक्य'को काव्य मानते हैं । 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' यह उनका काव्य-लक्षण है ।

---

१. वक्रोक्तिजीवित १ ।
२. वक्रोक्ति १-१७ ।
३. औचित्यविचारचर्चा ४, ५ ।

तद्भेदान् क्रमेणाह–

[सू० २] इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः॥४॥

मम्मटके काव्यलक्षणकी विशेषता—

काव्य-प्रकाशकार मम्मटका 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' यह काव्य-लक्षण अन्य लक्षणोंकी अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। कुन्तकने जिस बातको कई कारिकाओंमें कहा है मम्मटने इस आधी कारिकामें ही उसको समाविष्ट कर दिया है। उसके साथ ही 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' पद जोड़कर उन्होंने काव्य-लक्षणका नया दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है जिसका प्राचीन लक्षणोंमें इतना स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया था। पूर्वलक्षणकारोंने काव्यके शरीर 'शब्द तथा अर्थ' उसकी आत्मा रीति, रस या ध्वनि उसके अलङ्कारोंकी चर्चा तो अपने लक्षणोंमें की थी परन्तु गुण-दोषकी चर्चा नहीं की थी। मम्मट इस दोष तथा गुणके प्रश्नको सामने लाये हैं और वह बड़ा आवश्यक प्रश्न है। कितना ही सुन्दर काव्य हो पर उसमें यदि एक भी उत्कट दोष आ जाता है तो वह उसके गौरवको कम कर देता है।

यों तो महाकवि कालिदासने—

एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।

कहकर चन्द्रमाके सौन्दर्यके भीतर उसके कलङ्कके दब जानेकी बात कही है। उनके अनुसार चन्द्रमाका कलङ्क कितना ही दब गया हो परन्तु देखनेवालेको वह सबसे पहिले खटकता है। इसी प्रकार काव्यका दोष उसके गौरवको कम करनेवाला हो जाता है। इसलिए मम्मटने गुण और अलंकारोंकी चर्चा करनेसे पहिले दोषकी चर्चा की है—

दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्।
मुखप्रक्षालनात् पूर्वं गुदप्रक्षालनं यथा॥

शरीरके संस्कारमें भी पहिले दोषापनयन रूप संस्कार करनेके बाद ही गुणाधान रूप संस्कार किया जाता है तब उसके बाद अलङ्कार आदिका नम्बर आता है। वह अगर न भी हो तो भी दोषापनयन तथा गुणाधान रूप संस्कार तो अपरिहार्य है। उसके बिना काम नहीं चलता है। इसी-लिए मम्मटने काव्यके शरीरभूत शब्दार्थके 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' विशेषणों द्वारा इस द्विविध संस्कारकी अपरिहार्यताका प्रतिपादन किया है और 'अनलंकृती पुनः क्वापि' लिखकर अलङ्कारकी गौणताको सूचित किया है। इस प्रकार थोड़े शब्दोंमें भाव-गाम्भीर्यके द्वारा मम्मटने अपने काव्य-लक्षणको अत्यन्त सुन्दर एवं उपादेय बना दिया है।

काव्य-भेद : १ ध्वनि-काव्य—

इस प्रकार काव्यका लक्षण करनेके बाद काव्यप्रकाश-कार उसके मुख्य तीन भेदोंका संक्षेपसे उल्लेख करते हैं।

[काव्यके प्रयोजन, उसके साधन तथा उसके लक्षणके निरूपणके बाद अब] क्रमसे [अवसर प्राप्त] उसके भेदोंको कहते हैं—

[सू० २]—वाच्य [अर्थ] की अपेक्षा व्यङ्ग्य [अर्थ] के अधिक चमत्कार-युक्त होनेपर [इदं] उत्तम काव्य होता है, और विद्वानोंने उसको 'ध्वनि' [-काव्य नामसे] कहा है। ४।

इदमिति काव्यम् । बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्य-व्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ।

'इदं' यह पद [यहाँ] काव्यका बोधक है। 'बुध' अर्थात् वैयाकरणोंने प्रधान-भूत 'स्फोट' रूप व्यङ्ग्यकी अभिव्यक्ति करानेमें समर्थ शब्दके लिए 'ध्वनि' इस पदका प्रयोग किया था। उसके बाद उनके मतका अनुसरण करनेवाले अन्यों [अर्थात् साहित्य शास्त्रके आचार्यों] ने भी वाच्यार्थको गौण बना देनेवाले व्यङ्ग्यार्थकी अभिव्यक्ति करानेमें समर्थ शब्द तथा अर्थ दोनोंके लिए ['ध्वनि' पदका प्रयोग करना आरम्भ कर दिया]।

'ध्वनि' नामका मूल आधार—

यहाँ ग्रन्थकारने जो पंक्तियाँ लिखी हैं उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'ध्वनि' शब्दका प्रयोग मुख्य रूपसे वैयाकरणोंने किया था और साहित्य-शास्त्रमें आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादी आचार्योंने व्याकरण-शास्त्रके इस 'ध्वनि' शब्दको अपना लिया है। इस शब्द-प्रयोगको अपना लेनेका कारण यह था कि व्याकरण शास्त्रमें प्रधानभूत 'स्फोट'की अभिव्यक्ति शब्दसे होती है इसलिए 'ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति इति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'स्फोट'के अभिव्यञ्जक शब्दके लिए 'ध्वनि' पद-का प्रयोग किया गया था। इसीके आधारपर ध्वनिवादी आचार्योंने भी वाच्यार्थको दबा सकनेमें समर्थ जो व्यङ्ग्य-अर्थ उसको अभिव्यक्त करनेवाले शब्द तथा अर्थके लिए 'ध्वनि' इस पदका प्रयोग प्रारम्भ कर दिया।

यहाँ वैयाकरणोंके जिस 'ध्वनि'पदके प्रयोगकी ओर ग्रन्थकार संकेत कर रहे हैं वह महाभाष्य में आया है। उसका प्रसङ्ग इस प्रकार है—

[1]'अथ शब्दानुशासनम्।···अथ गौरित्यत्र कः शब्दः। किं यत्तत् सास्ना-लांगूल-ककुद-खुर-विषाण्यर्थरूपं स शब्दः? नेत्याह, द्रव्यं नाम तत्। कस्तर्हि शब्दः। येनोच्चारितेन सास्ना-लांगूल-ककुद-खुर-विषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः। अथवा प्रतीतपदार्थको लोके 'ध्वनिः' शब्द इत्युच्यते। तद्यथा शब्दं मा कुरु, शब्दं मा कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः इति। ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् 'ध्वनिः' शब्दः।

इसमें 'ध्वनि'को शब्द कहा गया है। परन्तु स्फोट रूप व्यङ्ग्यके अभिव्यक्त करनेवाले शब्द-के लिए ध्वनि-पदका प्रयोग हुआ है यह बात इस पंक्तिसे नहीं निकलती है। फिर भी व्याकरण-शास्त्र-में अन्य स्थलोंपर स्फोट-सिद्धान्तकी कल्पना की गयी है। और उस 'स्फोट'की अभिव्यक्ति श्रोत्र-ग्राह्य-वर्ण या ध्वनिसे ही होती है। इसलिए ग्रन्थकारने उक्त आशयकी पंक्ति लिखी है। इस विषयको और अधिक स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए स्फोट-सिद्धान्तको समझना आवश्यक है। इसलिए संक्षेपमें उसका विवरण नीचे दे रहे हैं।

स्फोटवाद—

'स्फोटवाद' वैयाकरणोंका प्रमुख सिद्धान्त है। 'स्फोट' शब्दकी व्युत्पत्ति 'स्फुटति अर्थः यस्मात् स 'स्फोटः' इस प्रकार की जाती है। अर्थात् जिससे अर्थकी प्रतीति हो उसको 'स्फोट' कहते हैं। यह 'स्फोट' पद-स्फोट, वर्ण वाक्य-स्फोट आदि भेदसे आठ प्रकारका होता है। 'पदस्फोट'से पदार्थकी तथा

1. महाभाष्य प्रथमाह्निक, पृष्ठ ७।

यथा—

> निःशेषच्युतचन्दनस्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो—
> नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
> मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
> वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥२॥

वाक्य-स्फोटसे वाक्यार्थकी प्रतीति होती है। गकार, औकार, विसर्जनीयके योगसे मिलकर बना हुआ जो 'गौः' पद गायका बोध कराता है, वह श्रोत्रसे सुनाई देनेवाली ध्वनि नहीं, उससे व्यक्त मानस 'स्फोट' है। क्योंकि श्रोत्रसे सुनाई देनेवाली ध्वनि तो क्षणिक और अस्थिर है। एक ध्वनिके उच्चारणके बाद जब दूसरी ध्वनिका उच्चारण किया जाता है तबतक पहिला ध्वनि-रूप वर्ण नष्ट हो जाता है इसलिए अनेक वर्णोंके समुदाय रूप पदकी उपस्थिति एक साथ नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनेक पदोंके समुदायसे रूप वाक्यकी भी एक साथ उपस्थिति नहीं हो सकती है। तब पदार्थ या वाक्यार्थकी प्रतीति कैसे होती है इस प्रश्नका समाधान करनेके लिए वैयाकरणोंने 'स्फोट-सिद्धान्त'की कल्पना की है। उनका अभिप्राय यह है कि पूर्वपूर्व वर्णके अनुभवसे एक प्रकारका संस्कार उत्पन्न होता है। उस संस्कारसे सहकृत अन्त्य वर्णके श्रवणसे तिरोभूत वर्णोंको भी ग्रहण करनेवाली एक मानसिक पदकी प्रतीति उत्पन्न होती है। इसीका नाम 'पदस्फोट' है। अर्थकी प्रतीति इस 'पदस्फोट'के द्वारा ही होती है, श्रोत्रसे गृहीत शब्द या ध्वनिसे नहीं; क्योंकि उस रूपमें तो अनेक वर्णोंके समुदाय रूप पदकी स्थिति ही नहीं बन सकती है।

इसी प्रकार 'पूर्व पूर्व—पदानुभवजनितसंस्कारसहकृत—अन्त्य—पद-श्रवण' से सदसद् अनेक पदावगाहिनी मानसी वाक्य-प्रतीति होती है, वैयाकरण उसको 'वाक्य-स्फोट' कहते हैं। इस 'वाक्य-स्फोट'-से वाक्यार्थकी प्रतीति होती है। वर्णध्वनिसे वर्ण-स्फोटकी अभिव्यक्ति होती है।

नैयायिक 'स्फोट'को नहीं मानते हैं। इसका कारण यह है कि वैयाकरणकोंका यह 'स्फोट' नित्य है। इसी 'स्फोट'को लेकर वे शब्दको नित्य बतलाते हैं। नैयायिकके मतसे शब्द अनित्य है और स्फोटकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है। वे केवल 'सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीति तथा सदसदनेकपदावगाहिनी वाक्यतो प्रतीति मानते हैं। पर उसे 'स्फोट' नहीं कहते हैं और न नित्य मानते हैं।

इस 'स्फोट'की अभिव्यक्ति श्रोत्रग्राह्य ध्वनि-रूप शब्दसे होती है। इसलिए जैसे वैयाकरणोंने अपने यहाँ प्रधानभूत 'स्फोट'के अभिव्यञ्जक शब्दके लिए 'ध्वनि' पदका प्रयोग किया है इसी प्रकार प्रधानभूत व्यङ्ग्य अर्थको अभिव्यक्त करनेवाले शब्द तथा अर्थके लिए आनन्दवर्धनाचार्य आदिने 'ध्वनि' शब्दका प्रयोग साहित्य-शास्त्रमें किया है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

[ध्वनि-काव्यका उदाहरण] जैसे—

तुम्हारे स्तनके अग्रभागका चन्दन बिलकुल छूट गया है। [यदि स्नानसे यह चन्दन छूटता तो केवल अग्रभागका ही नहीं, सारे स्तनका छूटता। यह जो ऊपर उठे हुए अग्रभागका ही चन्दन छूटा है, वह निश्चय ही परपुरुषके आलिङ्गनसे ही छूटा है।] अधरका राग बिलकुल छूट गया है, आँखोंका अञ्जन अत्यन्त पुँछ गया है और तुम्हारा यह कृश शरीर रोमाञ्चयुक्त हो रहा है। अपनी सखी [बान्धव रूप मेरी] की पीड़ाको न समझनेवाली और झूठ बोलनेवाली अरी दूती तू यहाँसे बावली नहाने गयी थी और उस अधम [नायक] के पास नहीं गयी ॥ २ ॥

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते ॥४॥

[सू० ३]—अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।

अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि । यथा—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥३॥

अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसंकेता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतं, तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ।

यहाँ [कहनेवाली भी जानती है कि यह नायक के साथ भोग करके आयी है और जिससे कहा जा रहा है वह तो जानती ही है । इसलिए वक्ता तथा बोद्धाके वैशिष्ट्यसे तू] उसीके पास गयी थी, और रमण करनेके लिए ही गयी थी, यह बात विशेष कर 'अधम' पदसे अभिव्यक्त होती है । [इसमें वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कार-युक्त है इसलिए ग्रन्थकारने इसको उत्तम-काव्य या ध्वनि-काव्यके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है] ॥४॥

२ गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य—

इस प्रकार ध्वनि-काव्यका लक्षण तथा उदाहरण दे चुकनेके बाद काव्यके 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक दूसरे भेदका लक्षण करके उसका उदाहरण आगे देते हैं—

[सू० ३]—उस प्रकारके [अर्थात् वाच्यसे अधिक चमत्कारी] व्यङ्ग्य [अर्थ] न होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्य [नामक दूसरे प्रकारका काव्य] होता है जो मध्यम [—काव्य कहा जाता] है ।

[अतादृशि] वैसा न होनेपर अर्थात् [व्यङ्ग्यार्थके] वाच्यसे अधिक उत्तम न होनेपर [गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है] जैसे—

वेतस-वृक्षकी ताज़ी तोड़ी हुई मञ्जरीको हाथमें लिये हुए ग्रामके नवयुवकको देख-देखकर तरुणीके मुखकी कान्ति मलिन होती जा रही है ।३।

यहाँ अशोक या वेतसके [वञ्जुलः पुंसि तिनशे वेतसाशोकयोरपि] लता-गृहमें [ग्राम-तरुणके साथ मिलनेका] संकेत देकर [घरके काममें लग जाने अथवा अन्य लोगोंकी उपस्थितिके कारण निकलनेका समय न मिलनेसे तरुणी नियत समयपर वहाँ] नहीं आयी [और ग्रामतरुण समयपर पहुँच गया; उसको देखकर तरुणीकी मुख-कान्ति मलिन हो रही है] यह व्यङ्ग्य, वाच्यके ही उस [व्यङ्ग्य] की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होनेसे गुणीभूत हो गया है । [इसलिए यह गुणीभूत-व्यङ्ग्यका उदाहरण है] ।३।

'ग्रामतरुण' इस पदसे यह भी व्यक्त होता है कि ग्राममें एक ही तरुण है अनेक युवतियों द्वारा प्रार्थ्यमान होनेसे उसका दुबारा जल्दी मिलना कठिन है । इसलिए पश्चात्तापका अतिशय सूचित होता है । यहाँ व्यङ्ग्य अर्थकी अपेक्षा वाच्य अर्थके ही अधिक चमत्कारी होनेसे गुणीभूत-व्यङ्ग्यका यह उदाहरण दिया है ।

वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों जहाँ समान स्थितिमें हों वहाँ भी व्यङ्ग्यके वाच्यातिशायी न होनेके कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य ही होता है । उसका उदाहरण यहाँ नहीं दिया है । पञ्चम उल्लासमें जहाँ

[सू० ४]–शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥५॥

चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम् । अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम् । अवरं अधमम् । यथा–

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा–
मूर्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः ।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घाऽदरिद्रद्रुम–
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥४॥

'गुणीभूतव्यङ्ग्य'का विस्तारके साथ विवेचन किया जायगा वहाँ वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनोंके 'तुल्य-प्राधान्य'का उदाहरण भी दिया जायगा ।

३ चित्र-काव्य—

इस प्रकार काव्यके ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्यरूप उत्तम तथा मध्यम भेदोंके लक्षण एवं उदाहरण यहाँतक दिखलाये । आगे काव्यके तीसरे भेद 'चित्र-काव्य' नामक लक्षण तथा उदाहरण दिखलाते हैं—

[सू० ४]—व्यङ्ग्य [अर्थ] से रहित 'शब्द-चित्र' तथा 'अर्थ-चित्र' [दो प्रकारका] अधम [काव्य] कहा गया है ।५।

चित्र [नाम] गुण तथा अलङ्कारसे युक्त [होनेसे] है । अव्यङ्ग्य [का अभि-प्राय] स्पष्ट रूपसे [प्रतीयमान] व्यङ्ग्य अर्थसे रहित [काव्य] है । अवर [का अर्थ] अधम है । [शब्द-चित्र, अर्थ-चित्र—दोनोंके उदाहरण देते हैं] जैसे—

[मन्दाकिनी वः मन्दतां अन्हाय भिद्यात् यह इस श्लोकका मुख्य वाक्य है शेष सब मन्दाकिनीके विशेषण हैं । इसलिए श्लोकका भावार्थ यह हुआ कि] गङ्गा तुम्हारी मन्दता अर्थात् अज्ञान या पापको अन्हाय अर्थात् झटिति तुरन्त ही दूर करे । किस प्रकारकी मन्दाकिनी कि—] स्वच्छन्द रूपसे उछलती हुई, अच्छ अर्थात् निर्मल, और [कच्छ-कुहर] किनारेके गड्ढोंमें [छात दुर्बल, छातेतर] अत्यन्त वेगसे प्रवाहित होनेवाली जो जलकी धारा [अम्बुच्छटा] उससे जिनके मोह अज्ञानका [मूर्च्छा] नाश हो गया है ऐसे महर्षियोंके द्वारा जिसमें आनन्दपूर्वक स्नान तथा आह्निक [सन्ध्या—वन्दन आदि] कार्य किये जा रहे हैं [इस प्रकारकी मन्दाकिनी तुम्हारी मन्दता, अज्ञान अथवा पापादिको दूर करे । इस विशेषणसे मन्दाकिनीके महर्षिजन-सेव्यत्वका प्रतिपादन कर अन्य तीर्थोंकी अपेक्षा उसका महत्त्व प्रदर्शित किया है । आगे अन्य नदियोंसे उसकी श्रेष्ठता दिखलाते हैं । उद्यन्तः प्रकाशमाना उदारा महन्तो दर्दुरा भेका यासु एवं विधा दर्यः कन्दरा यस्यां सा] जिनमें बड़े-बड़े मेढ़क दिखलाई पड़ रहे हैं इस प्रकारकी कन्दराओंसे युक्त, और दीर्घकाय एवं अदरिद्र अर्थात् [बड़े ऊँचे तथा शाखा, पत्र-पुष्प आदिसे लदे हुए] जो वृक्ष उनके गिरने [द्रोह] के कारण ऊपर उठनेवाली बड़ी-बड़ी लहरोंसे [मेदुरमदा] अत्यन्त गर्वशालिनी गङ्गा तुम्हारे पाप या अज्ञान आदिको तुरन्त नष्ट करे । [उसमें कोई व्यङ्ग्यार्थ नहीं है केवल शब्दोंका अनु-प्रास-जन्य चमत्कार है । अतः चित्र-काव्य है] ॥४॥

यह 'शब्दचित्र'का उदाहरण है । अर्थचित्रका उदाहरण आगे देते हैं—

[1]विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम् ।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती ॥५॥

इति काव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजन-कारण-स्वरूप-विशेषनिर्णयो नाम
प्रथम उल्लासः

[शत्रूणां मानं अभिमानं द्यति खण्डयति, मित्रेभ्यो मानमादरं ददाति वा इति मानदः] शत्रुओंके अभिमानको चूर करनेवाले जिस [हयग्रीव] को यों ही घूमनेके लिए [युद्ध या अमरावतीको विजय करनेके लिए नहीं] अपने महलसे निकला हुआ सुनकर भी घबड़ाये हुए इन्द्रके द्वारा जिसकी अर्गला डाल दी गयी है इस प्रकारकी [इन्द्रकी राजधानी] अमरावती [नगरी, रूप नायिका] ने [द्वार रूप अपनी] आँखें बन्द-सी कर लीं ।

यहाँ 'भिया निमीलिताक्षीव अमरावती जाता' अर्थात् अमरावतीने मानों डरके-मारे आँखें बन्द कर ली हों यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । इस उत्प्रेक्षामें ही कविका प्रधान रूपसे तात्पर्य है । इसलिए यद्यपि वीररसकी प्रतीति भी हो सकती है परन्तु उसमें कविका तात्पर्य न होनेसे इसको चित्र-काव्यमें स्थान दिया गया है । परन्तु अर्थचित्रका यह उदाहरण कुछ ठीक नहीं जँचता है । यहाँ वीररसकी प्रतीति होती है । जिसमें हयग्रीव स्वयं 'आलम्बन-विभाव', प्रतिपक्षी इन्द्रगत भय 'उद्दीपन-विभाव', मानका खण्डन 'अनुभाव' और यदृच्छा-सञ्चरणसे गम्य धृति 'व्यभिचारिभाव' है । इसलिए यह व्यङ्ग्य-रहित अधम 'चित्र-काव्य' का उदाहरण नहीं हो सकता है । यदि उत्प्रेक्षासे वीररस अभिभूत हो जाता है यह कहा जाय, तो इसको गुणीभूत-व्यङ्ग्यके उदाहरणमें अन्तर्भूत किया जा सकता है । अधम-काव्यकी श्रेणीमें रखकर कदाचित् इस श्लोकके साथ न्याय नहीं किया गया है ।

सारांश—

इस प्रकार इस प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकारने १ मङ्गलाचरण, उसके बाद २ काव्यके प्रयोजन, ३ काव्यके साधन, ४ काव्यका लक्षण तथा ५ काव्यके भेदोंका वर्णन किया है । काव्यके भेदों का वर्णन करते हुए उन्होंने मुख्य रूपसे काव्यके तीन भेद किये हैं । १ ध्वनि-काव्य, २ गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य और ३ चित्र-काव्य । इनमेंसे 'ध्वनि-काव्य' उसको कहते हैं जिसमें वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारयुक्त हो । इसके विपरीत जहाँ व्यङ्ग्यार्थकी अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक या उसके तुल्य चमत्कारजनक होता है उसको 'गुणीभूत-व्यङ्ग्य-काव्य' कहते हैं । और जहाँ व्यङ्ग्यका सर्वथा अभाव होता है उसको 'चित्र-काव्य' कहते हैं । इनमेंसे ध्वनि-काव्य उत्तम, गुणीभूत व्यङ्ग्य-काव्य मध्यम तथा चित्र-काव्य अधम श्रेणीमें गिना जाता है ।

काव्यप्रकाशमें काव्यके प्रयोजन, कारण तथा स्वरूप-विशेष-का निर्णय नामक प्रथम उल्लास समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्य-विश्वेश्वर-सिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां काव्यप्रकाशदीपिकायां
हिन्दीव्याख्यायां प्रथम उल्लासः समाप्तः ।

१. मेण्ठ-कवि कृत हयग्रीववध-नाटक ।

द्वितीय उल्लासः

क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह—

[सू० ५]–स्याद्वाचिको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।

अत्रेति काव्ये । एषां स्वरूपं वक्ष्यते ।

अथकाव्य प्रकाश-दीपिकायां द्वितीय उल्लासः

उल्लास-सङ्गति—

प्रथम उल्लासमें काव्यका लक्षण करते हुए ग्रन्थकारने शब्द तथा अर्थ दोनोंकी समष्टिको काव्य बतलाया था। इसलिए काव्यके इस लक्षणको समझनेके लिए शब्द तथा अर्थके स्वरूपका ज्ञान आवश्यक है। इसलिए ग्रन्थकार इस द्वितीय उल्लासमें शब्द तथा अर्थके स्वरूपका परिचय करानेका प्रयत्न कर रहे हैं। इसी दृष्टिसे उन्होंने अपने इस द्वितीय उल्लासका नाम 'शब्दार्थस्वरूपनिर्णय' रखा है। उन्होंने वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीन प्रकारके अर्थ माने हैं। उसीके अनुसार वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक तीन प्रकारके शब्द माने हैं। इन तीन प्रकारके शब्दोंसे तीनों प्रकारके अर्थोंकी प्रतीतिके लिए उन शब्दोंमें अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना नामक तीन प्रकारकी शब्द-शक्तियाँ मानी हैं। इस उल्लासमें ग्रन्थकार तीन प्रकारके अर्थ, तीन प्रकारके शब्द और तीन प्रकारकी शब्द-शक्तियोंका वर्णन करेंगे। सबसे पहिले तीन प्रकारके शब्दोंका निरूपण करते हैं।

शब्दके तीन भेद—

[काव्यका लक्षण हो जानेके बाद लक्षणमें आये हुए 'शब्दार्थौ'के विवेचन करनेके लिए] क्रमसे [अवसर प्राप्त] शब्द तथा अर्थके स्वरूपको कहते हैं—

[सू० ५]—यहाँ [काव्यमें] वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक [भेदसे] तीन प्रकारका शब्द होता है।

'यहाँ' इससे 'काव्यमें' [यह अर्थ लेना चाहिये]। इन [वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक तीनों प्रकारके शब्दों] का स्वरूप [आगे] बतलाया जायगा।

अन्य शास्त्रोंमें वाचक तथा लक्षक दो प्रकारके शब्द तो प्रायः माने गये हैं परन्तु तीसरे व्यञ्जक शब्दका निरूपण साहित्य-शास्त्र को छोड़कर अन्य शास्त्रोंमें नहीं किया गया है। इसीलिए कारिकामें 'अत्र' शब्दका विशेष रूपसे प्रयोग किया गया है। जिसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि अन्य शास्त्रोंमें व्यञ्जक-शब्द नहीं माना गया है परन्तु काव्यमें तो व्यञ्जक शब्दके बिना कोई चमत्कार ही न रह जायगा इसलिए यहाँ काव्यमें तीनों प्रकारके शब्द माने जाते हैं। इनमें वाचक शब्द मुख्यार्थका बोधक होता है इसलिए सबसे पहिले उसको रखा गया है। लाक्षणिक शब्द वाचक शब्दके ऊपर आश्रित रहता है इसलिए वाचकके बाद लाक्षणिक शब्दका स्थान आता है। और व्यञ्जक शब्द इन दोनोंकी अपेक्षा रखता है इसलिए उसको तीसरे स्थानपर रखा गया है। उसमें भी विशेष रूपसे यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह तीन प्रकारका विभाग केवल शब्दकी उपाधियोंका है। शब्दोंका नहीं। क्योंकि अमुक शब्द केवल वाचक है, अमुक शब्द केवल लक्षक है या अमुक शब्द केवल व्यञ्जक है इस प्रकारका कोई निश्चित विभाग शब्दोंमें नहीं पाया जाता है। एक ही शब्द वाचक भी हो सकता है और लक्षक तथा व्यञ्जक भी। इसलिए यह तीन प्रकारका विभाग शब्दोंका नहीं अपितु शब्दकी उपाधियोंका ही समझना चाहिये। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति उपाधिके भेदसे कभी वाचक और कभी पाठक कहा जा सकता है। इसी प्रकार उपाधियोंके भेदसे एक ही शब्द कभी वाचक, कभी लक्षक और कभी व्यञ्जक, शब्द कहा जा सकता है।

[सू० ६] **वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः-**
वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः ।
[सू० ७]-**तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥ ६ ॥**

अर्थके तीन भेद—

जिस प्रकार उपाधिभेदसे शब्द तीन प्रकारके होते हैं उसी प्रकार अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं। उनको कहते हैं—

[सू० ६]—वाच्य [लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य] आदि उन [वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों] के अर्थ [भी तीन प्रकारके] होते हैं।

[वाच्यादिका अर्थ है] वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य।

अर्थका चतुर्थ भेद 'तात्पर्यार्थ'—

[सू० ७]—किन्हीं [कुमारिलभट्टके अनुयायी पार्थसारथिमिश्र आदि 'अभिहितान्वयवादी' मीमांसकों] के मतमें [तीन प्रकारके वाच्यादि अर्थोंके अतिरिक्त चौथे प्रकारका] तात्पर्यार्थ भी होता है ॥६॥

भारतीय साहित्यमें शाब्दबोधका विवेचन व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा इन तीन शास्त्रोंमें विशेष रूपसे किया गया है। इनमेंसे व्याकरणशास्त्रमें पद-पदार्थोंका विवेचन है इसलिए व्याकरणको 'पद-शास्त्र' कहते हैं। न्यायमें विशेष रूपसे प्रमाणोंका विवेचन किया गया है इसलिए न्यायको 'प्रमाण-शास्त्र' कहा जाता है इसी प्रकार वाक्यार्थ-शैलीका विवेचन मीमांसामें विशेष रूपसे किया है इसलिए मीमांसाको 'वाक्य-शास्त्र' कहा जाता है। शाब्दबोधमें इन तीनों शास्त्रोंकी आवश्यकता पड़ती है इसलिए शाब्दबोधमें निष्णात इन तीनों शास्त्रोंके पण्डितको 'पद-वाक्य-प्रमाणज्ञः' इस गौरवपूर्ण उपाधिसे विभूषित किया जाता है। यहाँ ग्रन्थकारने अर्थविवेचनके प्रसङ्गमें मीमांसकोंके सिद्धान्तको प्रदर्शित करनेके लिए 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' यह पंक्ति विशेषरूपसे लिखी है।

मीमांसकोंमें भी वाक्यार्थके विषयमें कई मत पाये जाते हैं जिनमें 'अभिहितान्वयवाद' तथा 'अन्विताभिधानवाद' दो मत मुख्य हैं। प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथिमिश्र आदि 'अभिहितान्वयवाद' के माननेवाले हैं। इसके विपरीत प्रभाकर-गुरु और उनके अनुयायी शालिकनाथमिश्र आदि 'अन्विताभिधानवाद' के माननेवाले हैं।

अभिहितान्वयवाद—

अभिहितान्वयवादका अभिप्राय यह है कि पहिले पदोंसे पदार्थोंकी प्रतीति होती है। उसके बाद उन पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध जो पदोंसे उपस्थित नहीं हुआ था, वाक्यार्थ-मर्यादासे उपस्थित होता है। इसलिए पहिले पदोंके द्वारा पदार्थ अभिहित अर्थात् अभिधा शक्ति द्वारा बोधित होते हैं, बादमें वक्ताके तात्पर्यके अनुसार उनका परस्पर अन्वय या सम्बन्ध होता है जिससे वाक्यार्थकी प्रतीति होती है। इस प्रकार वाक्यार्थ बोधके लिए अभिहित पदार्थोंका अन्वय माननेके कारण कुमारिलभट्ट आदिका यह सिद्धान्त 'अभिहितान्वय-वाद' कहा जाता है। इस मतमें पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध पदोंसे नहीं, अपितु वक्ताके तात्पर्यके अनुसार होता है, इसलिए उसको 'तात्पर्यार्थ' कहते हैं, वही वाक्यार्थ कहलाता है। और उसकी बोधक शक्तिको 'तात्पर्याख्याशक्ति' भी कहा जाता है। जो पहिले बतलायी हुई तीनों शक्तियोंसे भिन्न चौथी शक्ति मानी जा सकती है। परन्तु मीमांसक व्यञ्जना-शक्ति नहीं मानते हैं इसलिए उनकी दृष्टिसे तो यह चौथी नहीं, तीसरी ही शक्ति है।

आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति 'अभिहितान्वयवादिनां' मतम् ।

ग्रन्थकारने 'अभिहितान्वयवाद' के इसी सिद्धान्तका परिचय इस प्रकार दिया है—

जिन [पदार्थों] का स्वरूप आगे कहा जावेगा ऐसे [पदों द्वारा अभिहित केवल] पदार्थोंका आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधिके बलसे [समन्वय] परस्पर सम्बन्ध होनेमें पदोंसे प्रतीत होनेवाला अर्थ न होनेपर भी [तात्पर्य विषयीभूत अर्थ होनेके कारण] विशेष प्रकारका तात्पर्यार्थ रूप वाक्यार्थ प्रतीत होता है यह 'अभिहितान्वयवादियों' [अर्थात् कुमारिलभट्टके अनुयायियों] का मत है ।

एक तो 'अभिहितान्वयवाद'का सिद्धान्त दार्शनिक विषय होनेके कारण वैसे ही क्लिष्ट है उसपर आचार्य, मम्मटकी क्लिष्ट रचना-शैलीके कारण ये पंक्तियाँ और भी कठिन एवं दुरूह बन गयी हैं। 'आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिवशात्' इस वाक्य-खण्डको ग्रन्थकारने पहिले रखा है और 'वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां' इस वाक्यांशको बादमें रखा है। यह वाक्य-रचना अर्थको समझनेमें कुछ कठिनाई उपस्थित करती है। यदि इसके स्थानपर 'वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिवशात् समन्वये' इस प्रकारका पाठ रखते तो अर्थका समझना अपेक्षाकृत सरल हो जाता। पंक्तियोंका आशय यह है कि पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध पदों द्वारा उपस्थित न होनेपर भी आकांक्षादिके बलसे भासता है। यही 'तात्पर्यार्थ' है और यही 'वाक्यार्थ' कहलाता है। इसीको पंक्तिमें 'तात्पर्यार्थो विशेषवपुः अपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसति' इन शब्दोंसे कहा है।

इस अनुच्छेदमें आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि शब्दोंका प्रयोग हुआ है। ये नये शब्द हैं इसलिए इनका अर्थ समझ लेना आवश्यक है। इनमेंसे 'आकांक्षा' वस्तुतः 'श्रोताकी जिज्ञासा रूप' है। एक पदको सुननेके बाद वाक्यके अन्य पदोंके सुने बिना पूरे अर्थका ज्ञान नहीं होता है इसलिए वाक्यके अगले पदके सुननेकी इच्छा श्रोताके मनमें उत्पन्न होती है। इसीका नाम आकांक्षा है। जिन पदोंके सुननेपर इस प्रकारकी आकांक्षा होती है उनके समुदायको ही वाक्य कहते हैं। आकांक्षासे रहित 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' आदि यों ही अनेक पद बोल देनेसे वाक्य नहीं बनता है। दूसरे 'योग्यता' पदका अभिप्राय 'पदार्थोंके परस्पर सम्बन्धमें बाधाका अभाव' है। जहाँ पदार्थोंके परस्पर सम्बन्धमें बाधा होती है उस पद-समुदायको वाक्य नहीं कहा जाता है और न उससे वाक्यार्थ-बोध होता है। जैसे 'वह्निना सिञ्चति' इस पद-समुदायमें 'योग्यता' नहीं है अर्थात् अग्निसे सिंचाई नहीं की जा सकती है। इसलिए वह्नि तथा सिंचनके सम्बन्धमें बाधा होनेसे यहाँ योग्यताका अभाव है। इस कारण इसको वाक्य नहीं कहा जा सकता है। तीसरा 'सन्निधि' पद है, उसका अर्थ 'एक ही पुरुष द्वारा अविलम्बसे पदोंका उच्चारण करना' है। यदि एक ही व्यक्ति द्वारा घंटे-घंटेभर बाद पदोंका अलग-अलग उच्चारण किया जाय तो वे सब मिलकर वाक्य नहीं कहला सकते हैं; क्योंकि उनमें 'आसत्ति' या 'सन्निधि' नहीं है। इसलिए आकांक्षा, योग्यता और सन्निधिसे युक्त जो पदसमुदाय होता है वह ही वाक्य कहलाता है और उसीसे वाक्यार्थका बोध होता है। इसलिए यहाँ ग्रन्थकारने इन तीनोंका उल्लेख किया है। 'अभिहितान्वय-वाद' में पहिले पदोंसे केवल—अनन्वित—पदार्थ उपस्थित होते हैं उसके बाद पदोंकी आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधिके बलसे 'तात्पर्याख्याशक्ति' द्वारा उन पदार्थोंके परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थका बोध होता है। यह 'अभिहितान्वयवादी' कुमारिलभट्टके मतका सारांश ग्रन्थकारने यहाँ प्रस्तुत किया है।

वाच्य एव वाक्यार्थ इति 'अन्विताभिधानवादिनः' ।

अन्विताभिधानवाद—

दूसरा सिद्धान्त 'अन्विताभिधानवाद' है। इस सिद्धान्तके प्रतिपादक प्रभाकर, और उनके अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि हैं। इनका कहना यह है कि पहिले 'केवल' पदार्थ अभिहित होते हों, और बादको उनका 'अन्वय' होता हो यह बात नहीं है बल्कि पहिलेसे 'अन्वित' पदार्थोंका ही अभिधासे बोधन होता है। इसलिए इस सिद्धान्तका नाम 'अन्विताभिधानवाद' रखा गया है। और इस मत में पदार्थोंका 'अन्वय' पूर्वसे ही सिद्ध होनेके कारण, उसके करानेके लिए 'तात्पर्याख्या-शक्ति' की आवश्यकता नहीं होती है।

प्रभाकर अपने इस मतके समर्थनके लिए यह युक्ति देते हैं कि पदोंसे जो पदार्थोंकी प्रतीति होती है वह 'संकेतग्रह' के बाद ही होती है। और उस संकेतका ग्रहण व्यवहारसे होता है। जैसे छोटा बालक है उसको यह ज्ञान नहीं होता है कि किस शब्दका क्या अर्थ है। कौन-सा शब्द किस अर्थके बोधनके लिए प्रयुक्त किया जाता है। वह अपने पिता आदिके पास बैठा है। पिता उसके बड़े भाई या नौकर आदि किसीको आज्ञा देता है कि 'जरा कलम उठा दो।' बालक न कलम को जानता है और न 'उठा दो' का अर्थ समझता है। परन्तु वह पिताके इस वाक्यको सुनता है और भाईके व्यापारको देखता है। इससे उसके मनपर उस समष्टि वाक्यके समष्टिभूत अर्थका एक संस्कार बनता है। उसके बाद पिता फिर कहता है 'कलम रख दो और दवात उठा दो।' बालक फिर इस वाक्यको सुनता और भाईको तदनुसार क्रिया करते देखता है। इस प्रकार अनेक बारके व्यवहारको देखकर बालक धीरे-धीरे कलम, दवात, उठाना, रखना आदि शब्दोंके अलग-अलग अर्थ समझने लगता है। इस प्रकार व्यवहारसे संकेत-ग्रह होता है। यह संकेत-ग्रह 'केवल पदार्थ'में नहीं अपितु किसीके साथ 'अन्वित-पदार्थ' में ही होता है। इसलिए जब 'केवल' 'अनन्वित' पदार्थमें संकेत-ग्रह नहीं होता है तो 'केवल' या 'अनन्वित' पदार्थकी उपस्थिति भी नहीं होती है। अतएव 'अन्वित'का ही 'अभिधान' अर्थात् 'अभिधा'से बोधन होनेसे 'अन्विताभिधान' ही मानना उचित है 'अभिहितान्वय' का मानना उचित नहीं है यह प्रभाकरके सिद्धान्तका सार है।

अगली पंक्तिमें अन्विताभिधानवादके सिद्धान्त को इस प्रकार दिखलाते हैं—

[पदोंके द्वारा अन्वित पदार्थोंकी ही उपस्थिति होती है इसलिए पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध रूप] वाक्यार्थ वाच्य ही होता है [तात्पर्या-शक्तिसे बादको प्रतीत नहीं होता है] यह 'अन्विताभिधानवादियों' [प्रभाकर आदि] का मत है।

प्रभाकरका परिचय—

इस 'अन्विताभिधानवाद' के सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाले प्रभाकर, वस्तुतः 'अभिहितान्वयवादी' कुमारिलभट्टके शिष्य हैं। पर उनका अनेक विषयोंमें अपने गुरुसे मतभेद रहा है। प्रभाकर अपने विद्यार्थी जीवनमें ही बड़े प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे। और अपने स्वतन्त्र विचारोंके लिए प्रसिद्ध थे। प्रत्येक विषयपर वे अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा और स्वतन्त्र विचार-शैलीसे विचार करते थे जिसके कारण कभी-कभी उनके गुरु कुमारिलभट्टको भी कठिनाईका सामना करना पड़ता था।

एक बारकी बात है कि कुछ विद्वानोंमें 'आतिवाहिक-पिण्ड' के सिद्धान्तपर विवाद छिड़ गया। आतिवाहिक-पिण्डका अभिप्राय मृत्युके बाद दिये जानेवाले पिण्डसे है। एक पक्ष उसके दिये जानेका समर्थन करता था और उसकी एक विशेष विधिका प्रतिपादन करता था। दूसरा पक्ष उसका विरोधी

था। अन्तमें यह विवाद निर्णयके लिए कुमारिलभट्टके पास पहुँचा। कुमारिलभट्टने अपनी सम्मतिके अनुसार एक पक्षमें व्यवस्था दे दी। परन्तु यह व्यवस्था प्रभाकरको रुचिकर प्रतीत नहीं हुई और उन्होंने उसका प्रतिवाद किया। बाहरके विद्वान् तो कुमारिलभट्टकी व्यवस्था लेकर चले गये परन्तु जो विवाद अबतक बाहर था वह अब घरमें प्रारम्भ हो गया। कुमारिलभट्टने अनेक प्रकारसे प्रभाकरको अपना सिद्धान्त समझानेका प्रयत्न किया परन्तु उसको सन्तोष न हुआ। या यों कहना चाहिये कि कुमारिलभट्ट अपनी युक्तियोंसे उसको चुप न कर सके। जैसे गान्धीजी अपने जीवन-कालमें जवाहरलालजीको अपने अहिंसा सिद्धान्तको पूरी तरहसे समझा नहीं सके पर उनको यह विश्वास था कि मेरे बाद मेरे सिद्धान्तका पालन करनेवाले 'जवाहर' ही होंगे। इसी प्रकार कुमारिलभट्टको यह विश्वास था कि इस 'आतिवाहिक पिण्ड'के सिद्धान्तको प्रभाकर इस समय भले ही अपने तर्कके सामने न टिकने दे पर किसी दिन इस सिद्धान्तको मानेगा ही। इसलिए उस समय उन्होंने इस विषयपर आगे चर्चा बन्द कर दी और प्रभाकरसे कह दिया कि फिर कभी इस सिद्धान्तका स्पष्टीकरण करेंगे।

बहुत दिन बीत गये। एक दिन सहसा कुमारिलभट्टकी मृत्युका समाचार सुनाई दिया। यद्यपि सहसा किसीको उनकी मृत्युका विश्वास न होता था पर जब सभीने उनके शरीरकी परीक्षा कर उसमें जीवनका कोई चिह्न न पाया तो फिर उसपर विश्वास करनेके अतिरिक्त और मार्ग ही क्या था। फलतः सब लोगोंने उनका अन्तिम संस्कार करनेकी तैयारी प्रारम्भ कर दी। इस अन्तिम संस्कारके प्रसङ्गमें जब 'आतिवाहिक-पिण्ड'का अवसर आया तो लोगोंने प्रभाकरकी ओर देखा। परन्तु उस समय प्रभाकरने बिना किसी सङ्कोचके कुमारिलभट्टकी व्यवस्थाके अनुसार ही सारी प्रक्रिया करवायी। सारी कार्यवाही पूर्ण हो जानेके बाद मृतक-यानके उठाये जानेके पूर्व कुमारिलभट्टके शरीरमें कुछ चेतनाका संचार-सा प्रतीत हुआ। और धीरे-धीरे थोड़ी देर बाद वे उठकर बैठ गये, जैसे सोकर उठे हों। उठनेके बाद सब लोगोंमें प्रसन्नताकी लहर दौड़ गयी। और इस बीचमें क्या-क्या हुआ इस सबका समाचार उनको सुनाया गया। उस प्रसङ्गमें जब उनको यह मालूम हुआ कि आज प्रभाकरने मेरे 'आतिवाहिक-पिण्ड' सम्बन्धी सिद्धान्तको ही मान्य ठहराया था तब उनको भी प्रसन्नता हुई और उन्होंने प्रभाकरको सम्बोधन करके कहा 'प्रभाकर जितमस्माभिः'। कहो प्रभाकर, हम जीते न। प्रभाकर ने उत्तर दिया 'भगवन् मृत्वा जितम्'। भगवन् मरकर जीते। मुझे जीतनेके लिए आपको मरनेका छल करना पड़ा या दूसरा जन्म लेना पड़ा।

प्रभाकरको 'गुरु'की उपाधि—

यह उन गुरु-शिष्यके शास्त्र-समरकी एक झाँकी है। पर एक और घटना इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक दिन कुमारिलभट्टके यहाँ विद्यार्थियोंके पाठ हो रहे थे। प्राचीन पाठशालाओंकी प्रणाली यह थी कि पाठके समय छोटे-बड़े सभी विद्यार्थी, गुरुजीके पास ही बैठकर सबके पाठ सुनते थे। इससे जो विद्यार्थी उस ग्रन्थको पहिले पढ़ चुके होते थे उनको उसका पाठ दुबारा-तिबारा सुननेसे वह और अधिक परिमार्जित हो जाता था। और जिन्हें आगे चलकर वह ग्रन्थ पढ़ना होता था उनका कुछ प्रारम्भिक संस्कार बन जाता था जो आगे उनको सहायता देता था।

ऐसे ही पाठके प्रसङ्गमें सब विद्यार्थियोंके साथ बैठे हुए प्रभाकर, अपनेसे किसी उच्च कक्षाके विद्यार्थियोंका पाठ सुन रहे थे। पढ़ाते-पढ़ाते गुरुजी अकस्मात् रुक गये। कोई क्लिष्ट पंक्ति आ गयी थी जो लग नहीं रही थी। इसलिए गुरुजीने उस पाठको वहीं रोक दिया और देखकर कल पढ़ानेको कह दिया।

पाठोंके समाप्त हो जानेके बाद जब सब लोग उठ कर चले गये और गुरुजी अपने भोजन आदि अन्य कार्योंमें लग गये तो प्रभाकरने आकर गुरुजीकी पुस्तक उठा ली और जहाँ गाड़ी अटक गयी थी उस पाठको विचारने लगे। तनिक देर सोचनेके बाद उन्हें मालूम हो गया कि यह, "ईश्वरकी रचना" को '७ सेरके चना' बना देनेवाले आजके प्रेसके भूतोंके समान लेखकके प्रमादका खेल है। उसमें कोई शास्त्रीय गुत्थी नहीं है। पुस्तकमें लेखकके प्रमादसे पाठ अशुद्ध लिख दिया गया है। इसलिए वह पंक्ति नहीं लग रही थी। पुस्तकमें लिखा हुआ था 'अत्रापि नोक्तं तत्रापि नोक्तं इति पौनरुक्तयम्'। इसका अर्थ यह होता था कि यहाँ भी नहीं कहा है और वहाँ भी नहीं कहा है इसलिए पुनरुक्ति है। यही समस्या बन गयी थी। पुनरुक्ति तो तब होती है जब एक ही बात दो बार कही जाय। जो बात न यहाँ कही गयी, न वहाँ कही गयी वह पुनरुक्ति कैसे हो सकती है यह बात समझ में नहीं आ रही थी। प्रभाकरने कलम लेकर उस पाठको संशोधन करके इस प्रकार लिख दिया—

'अत्र तुना उक्तं तत्र अपिना उक्तं इति पौनरुक्तयम्।'

अर्थात् यहाँ जो बात 'तुना' अर्थात् 'तु' शब्दसे कही है वही बात वहाँ अर्थात् दूसरे स्थानपर 'अपिना' अर्थात् 'अपि' शब्दसे कही गयी है इसलिए पुनरुक्ति है।

'अत्र तु नोक्तं तत्रापि नोक्तं इति पौनरुक्तयम्'।

इस पाठमें जो पुनरुक्ति समझमें नहीं आ रही थी पाठका संशोधन कर देनेसे वह बिलकुल स्पष्ट हो गयी। प्रभाकर चुप-चाप पुस्तक रखकर चले आये। कुछ समय बाद जब कुमारिलभट्टने उस पाठको विचारनेके लिए पुस्तक उठायी तो सब कुछ हस्तामलकवत् स्पष्ट हो गया। और यह समझनेमें भी उनको देर न लगी कि यह कार्य प्रभाकरका है। उनको अपने शिष्यकी प्रतिभापर पहिले ही बड़ा विश्वास था पर आज उसकी अपूर्व प्रतिभा देखकर उनको बड़ा आनन्द हुआ और वे गद्गद् हो गये। विश्वविद्यालीय बाह्याडम्बरमय वातावरणके समान नहीं, अपितु विशुद्ध भावनासे अपने समस्त शिष्य-मण्डलके बीच आज उन्होंने अपने उस शिष्यको 'गुरु' की गौरवमयी उपाधि प्रदान की। तबसे आज-तक प्रभाकर 'गुरु' नामसे प्रसिद्ध हैं। और दार्शनिक ग्रन्थोंमें 'इति गुरुमतम्' कहकर अत्यन्त सम्मानपूर्वक उनके मतका उल्लेख किया जाता है।

तौतातिक मत—

इसके विपरीत कुमारिलभट्टके मतका प्रायः 'इति तौतातिक मतम्' 'तौतातिक-मत' नामसे उल्लेख किया जाता है। 'तौतातिक' शब्दका अर्थ 'तु शब्दः तातः शिक्षको यस्य स तुतातः, तस्येदं तौतातिकम्' यह होता है। 'तु' शब्द जिसका 'तात' अर्थात् शिक्षक है वह तु-तात हुआ और उसका मत 'तौतातिक-मत' हुआ। ऊपरकी घटनाके अनुसार 'तु' शब्दसे ही कुमारिलभट्टको यह शिक्षा मिली थी इसलिए वे ही 'तु-तात' हुए, और उनका मत 'तौतातिक-मत' कहलाया जाने लगा।

इन तीनों अर्थोंका व्यञ्जकत्व—

इस प्रकार ग्रन्थकारने वाचक, लक्षक, व्यञ्जक तीन प्रकारके शब्दों और उनके अनुसार वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य तीन प्रकारके अर्थोंका विवेचन किया। और उसके साथ 'अभिहितान्वयवादियों' के मतमें 'तात्पर्यार्थ' भी होता है यह बात यहाँतक दिखलायी है। इसके बाद वे यह कह रहे हैं कि इन तीनों प्रकारके अर्थोंमें व्यञ्जकत्व भी रहता है अर्थात् वाच्यार्थ भी व्यञ्जक हो सकता है, और लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ भी, अर्थात् तीनों ही अर्थ व्यञ्जक हो सकते हैं। उन तीनों अर्थोंके व्यञ्जकत्व के उदाहरण क्रमशः देते हुए इसी बातको आगे कहते हैं—

[सू० ८]—सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ।

तत्र वाच्यस्य यथा—

माए घरोवअरणं अज्ज हु णत्थित्ति साहिअं तुमए ।
ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाइ ॥ ६ ॥
[मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया ।
तद्भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी ॥
इति संस्कृतम्]

अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते ।

लक्ष्यस्य यथा—

साहेन्ती सहि सुहअं खणे खणे दूम्मिआसि मज्झकए ।
सब्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए ॥७॥
[साधयन्ती सखि सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते ।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद्विरचितं त्वया ॥
इति संस्कृतम्]

अत्र मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितं इति लक्ष्यम् । तेन च कामुकविषयं सापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम् ।

[सूत्र ८]—प्रायः [इन] सभी अर्थोंका व्यञ्जकत्व भी [साहित्य-शास्त्रमें] माना जाता है ।

उनमेंसे वाच्य [अर्थके व्यञ्जकत्व] का [उदाहरण] जैसे—

हे मातः ! आज घरकी [आटा दाल आदि] सामग्री नहीं रही है यह बात तुमने बतला ही दी है । तो अब यह बतलाओ कि क्या करना चाहिये, क्योंकि दिन ऐसा ही तो नहीं बना रहेगा [थोड़ी देरमें दिन छिप जायगा फिर क्या होगा] ॥६॥

यहाँ [कहनेवाली वधू] स्वच्छन्द विचरण के लिए [अर्थात् उपपतिके पास] जाना चाहती है यह बात व्यङ्ग्य है ।

लक्ष्य [अर्थ के व्यञ्जकत्व] का [उदाहरण] जैसे—

हे सखि उस सुन्दरके पास बार-बार जाकर मेरे लिए तुमने बड़ा कष्ट उठाया [अब उसकी आवश्यकता नहीं है । मेरे प्रति] अपनी सद्भावना और स्नेहके सदृश जो तुमको करना चाहिये था सो तुमने कर लिया ॥७॥

यहाँ, मेरे प्रियके साथ रमण करके तूने [मेरे साथ] शत्रुता निवाही है यह लक्ष्य अर्थ होता है और उससे कामुकविषयक सापराधत्वका प्रकाशन व्यङ्ग्य है ।

यह श्लोक भी वञ्चिता नायिकाकी उक्ति है और वह ठीक उसी ढंगका है जिस ढंगका 'निःशेषच्युतचन्दनं' इत्यादि उदाहरण सं० २ का श्लोक पहिले दिया जा चुका है । उसमें भी नायिकाकी भेजी हुई दूतीने उसका संवाद नायकके पास पहुँचानेके बजाय स्वयं उसके साथ 'स्वैरविहार' करके उस नायिकाको धोखा दिया था । इसी प्रकार यहाँ भी नायिकाकी सखीने बीचमें स्वयं ही उसके प्रियके साथ रमण कर उसको धोखा दिया है । यह बात वक्ता तथा बोद्धाके वैशिष्ट्यसे व्यङ्ग्य है ।

व्यङ्ग्यस्य यथा–

उअ णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥८॥
[पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥
इति संस्कृतम्] ।

अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वम् । तेन च जनरहितत्वम् । अतः संकेतस्थानमेतदिति कयाचित् कञ्चित् प्रति उच्यते । अथवा मिथ्या वदसि न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते ॥

इस प्रकार वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थके व्यञ्जकत्वके दो उदाहरण दिये गये हैं । आगे व्यङ्ग्यार्थके व्यञ्जकत्वका तीसरा उदाहरण देते

व्यङ्ग्य [अर्थ के व्यञ्जकत्व] का [उदाहरण] जैसे—

देखो कमलके पत्तेपर निश्चल और बिना हिले-डुले बैठी हुई बलाका [बगुलिया] निर्मल [हरे रंगकी] मरकत-मणिकी तश्तरी में [भाजन] रखी हुई शङ्ख-शुक्तिकी तरह विदित होती है ॥८॥

यहाँ [बलाकाके] निश्चल होनेसे उसकी निडरता [आश्वस्तता लक्षणासे सूचित होती है] । और उस [आश्वस्तत्व रूप लक्ष्यार्थ] से [स्थानका] जनरहित होना [व्यञ्जनासे सूचित होता है] । इसलिए यह संकेतस्थान है यह [बात पहिले व्यङ्ग्यार्थसे फिर व्यञ्जना द्वारा-] कोई नायिका किसीसे [अर्थात् अपने कामुक प्रिय से] कह रही है । अथवा झूठ बोलते हो तुम यहाँ नहीं आये [अन्यथा यह बलाका ऐसी निश्चल निस्पन्द नहीं रह सकती थी] यह [पहिले व्यङ्ग्यार्थसे] व्यञ्जना द्वारा सूचित होता है ।

यह पद्य 'हाल-कवि' विरचित 'गाथा सप्तशती'के प्रथम शतकका चतुर्थ पद्य है । ग्रन्थकारने उसे व्यङ्ग्यार्थके व्यञ्जकत्वको दिखलानेवाले उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है । इसमें बलाका निष्पन्द अर्थात् बिना हिले-डुले बैठी है यह वाच्य अर्थ है । इससे वह सर्वदा आश्वस्त है, उसको किसी प्रकारका भय नहीं है यह बात लक्षित है । इस आश्वस्तत्वसे यह स्थान विजन-एकान्त-स्थान है यह व्यङ्ग्य निकलता है । इस व्यङ्ग्य अर्थसे यह 'संकेत'के लिए उचित स्थान है यह दूसरा व्यङ्ग्यार्थ निकलता है इसलिए यह व्यङ्ग्यार्थकी व्यञ्जकताका उदाहरण है ।

यहाँ श्लोकमें निश्चल तथा निष्पन्द दो विशेषणोंका प्रयोग किया गया है । वैसे अनेक स्थानोंपर ये दोनों शब्द समानार्थक रूपमें प्रयुक्त होते हैं । परन्तु यहाँ यदि उनको समानार्थक माना जाय तो पुनरुक्ति होती है, इसलिए उनके अर्थमें जो सूक्ष्म भेद है, उसकी ओर ध्यान देना चाहिये । चलन शरीरकी स्थानान्तर-प्रापिका क्रिया है । अर्थात् चलनक्रिया शरीरमें होती है और उसके होनेपर चलनेवाला व्यक्ति एक स्थानसे दूसरे स्थानपर पहुँच जाता है । परन्तु स्पन्दन शरीरके अवयवोंकी क्रिया है जो स्थानान्तर प्रापक नहीं होती है । अर्थात् अपने स्थानपर बैठे या खड़े हुए जो शरीरके अवयवोंका हिलाना-डुलाना है वह 'स्पन्दन' कहा जाता है । 'स्पदि किञ्चिच्चलने' धातुका यही भावार्थ है । इसलिए इन दोनों शब्दोंके सह-प्रयोगमें भी पुनरुक्ति नहीं होती है ।

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह–

[सू० ९]–साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥७॥

इहागृहीतसंकेतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात् संकेतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन संकेतो गृह्यते स तस्य वाचकः ।

वाचक शब्दका स्वरूप—

इस प्रकार तीन प्रकारके शब्द तथा अर्थोंका निरूपण कर चुकनेके बाद उन वाचक आदि तीनों प्रकारके शब्दोंके स्वरूपको कहते हैं।

क्रमशः वाचक आदि [तीनों प्रकारके शब्दों] के स्वरूपका निरूपण करते हैं—

[सू० ९]—जो [शब्द] साक्षात् संकेतिक अर्थको [अभिधा शक्तिके द्वारा] कहता है वह 'वाचक' [शब्द कहलाता] है ॥ ७ ॥

लोक-व्यवहारमें [इह] विना संकेत-ग्रहके शब्दसे अर्थकी प्रतीतिके न होनेसे संकेतकी सहायतासे ही शब्द अर्थविशेषका प्रतिपादन करता है [यह सिद्धान्त निश्चित होता है] इसलिए जिस [शब्द] का जहाँ [जिस अर्थमें] अव्यवधानसे संकेतका ग्रहण होता है वह [शब्द] उस [अर्थ] का 'वाचक' होता है।

संकेतग्रहके उपाय—

लोक-व्यवहारसे छोटे बालकको संकेतग्रह किस प्रकार होता है यह हम अभी दिखला चुके हैं। उस प्रक्रियाको 'आवापोद्वाप'की प्रक्रिया कहते हैं क्योंकि उसमें पहिले उत्तमवृद्ध अर्थात् बालकके पिता आदिने मध्यमवृद्ध अर्थात् बालकके बड़े भाई या नौकर आदिको कलम उठानेकी आज्ञा दी थी। फिर कलम रखकर दावात उठानेकी आज्ञा दी थी और मध्यमवृद्धने उसीके अनुसार क्रिया की थी। उस व्यवहारमें एक शब्दको हटाकर जो दूसरे शब्दका इसी प्रकार एक अर्थके स्थानपर दूसरे अर्थका निवेश किया गया इसीको आवाप-उद्वाप कहते हैं इसलिए व्यावहारमें 'आवापोद्वाप' द्वारा संकेतका ग्रहण होता है यह बात स्पष्ट हो जाती है। यह लोक-व्यवहार संकेतग्रहका प्रधान साधन है परन्तु उसके अतिरिक्त अन्य उपाय भी माने गये हैं जिनका संग्रह निम्न कारिकामें किया गया है—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष विवृति अर्थात् व्याख्या और सिद्ध-ज्ञात-पदके सान्निध्यसे भी शक्ति या संकेतका ग्रहण माना जाता है। इन सबमें मुख्य उपाय व्यवहार है क्योंकि अधिकांश शब्दोंका और सबसे पहिले शक्तिग्रह व्यवहारसे ही होता है।

इनमें 'भू सत्तायाम्' आदि धातुपाठसे अथवा 'साधकतमं करणम्' आदि सूत्रोंसे भू-धातु तथा करण आदि पदोंका संकेतग्रह व्याकरणके द्वारा होता है। 'यथा गौस्तथा गवयः' यह उपमान प्रमाणका उदाहरण है। जो व्यक्ति गौको जानता है पर गवय [नील गाय] को नहीं जानता है, उसको गौके सदृश गवय होता है इस वाक्यकी सहायतासे गवय पदका संकेतग्रह हो जाता है। आप्तवाक्य अर्थात् पिता आदिके बतलानेसे भी नये पदार्थोंके नामोंका ज्ञान बालकको होता ही है। व्यवहारका उदाहरण ऊपर दे चुके हैं। विवृति अर्थात् व्याख्या भी संकेतग्रहका साधन है और 'वाक्यशेष' तथा सिद्ध पद अर्थात् ज्ञात अर्थवाले पदकी सहायतासे अज्ञात् अर्थवाले पदका अर्थ भी ज्ञात हो जाता है। इस प्रकार ये सब संकेतग्रहके उपाय माने गये हैं।

[सू० १०]–संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

संकेतग्रहका विषय—

यह शक्तिग्रह किसमें होता है, यह संकेतग्रहसे सम्बन्ध रखनेवाला महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसका अनेक विवेचकोंने अनेक प्रकारसे समाधान किया है । कोई जातिमें संकेतग्रह मानते हैं, कोई व्यक्तिमें और कोई जातिविशिष्ट व्यक्तिमें । यद्यपि साधारण रूपसे व्यवहार किसी व्यक्तिमें ही होता है इसलिए संकेतग्रह व्यक्तिमें ही होना चाहिये परन्तु व्यक्तिमें संकेतग्रह माननेसे 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दो प्रकारके दोषोंकी सम्भावना रहती है । जिस शब्दका जिस अर्थमें संकेतग्रह होता है उस शब्दसे उसी अर्थकी प्रतीति होती है। बिना संकेतग्रहके अर्थकी प्रतीति नहीं होती है । इसलिए यदि व्यक्तिमें संकेतग्रह माना जाय तो जिस व्यक्ति-विशेषमें संकेतग्रह हुआ है उस शब्दसे उस व्यक्ति-विशेषकी ही उपस्थिति होगी । अन्य व्यक्तियोंकी प्रतीतिके लिए प्रत्येक व्यक्तिमें अलग-अगल संकेतग्रह मानना आवश्यक होगा । इस दशामें एक गो शब्दसे प्रतीत होनेवाली सभी गो-व्यक्तियोंमें अलग अलग संकेतग्रह माननेमें अनन्त शक्तियोंकी कल्पना करनी होगी । यही 'आनन्त्य' दोषका अभिप्राय है । फिर व्यवहारसे तो वर्तमान देश और वर्तमान कालकी गो-व्यक्तियोंमें ही संकेतग्रह हो सकता है, भूत भविष्य और देशान्तर या कालान्तरकी सब गो-व्यक्तियोंमें संकेतग्रह सम्भव भी नहीं है इसलिए व्यक्तिमें संकेतग्रह नहीं माना जा सकता है ।

इस 'आनन्त्य-दोष' अर्थात् अनन्त शक्तियोंकी कल्पनाके दोषको बचानेके लिए यदि यह कहा जाय कि अन्य सब व्यक्तियोंमें अलग-अलग शक्तिग्रहकी आवश्यकता नहीं होती है, दो चार व्यक्तियों-में व्यवहारसे संकेतग्रह हो जाता है, शेष व्यक्तियोंका बोध बिना संकेतग्रहके ही होता रहता है; तब 'व्यभिचार-दोष' होगा । 'व्यभिचार' शब्दका अर्थ है 'नियमका उल्लङ्घन' । संकेतकी सहायतासे ही शब्द अर्थकी प्रतीति कराता है यह नियम है । अब यदि यह मान लिया जाता है कि गो-शब्दसे बहुत-सी गो-व्यक्तियोंका बोध बिना संकेतग्रहके होता है तो इस नियमका उलंघन होता है । इसलिए 'व्यभिचार-दोष' आ जाता है । इस प्रकार व्यक्तिमें संकेतग्रह माननेमें या तो 'आनन्त्य-दोष' हो जाता है और उससे बचनेका प्रयत्न करने पर 'व्यभिचार-दोष' आ जाता है । इसलिए व्यक्तिमें संकेतग्रह मानना सम्भव नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि 'महाभाष्यकार'ने 'चतुष्टयी च शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः', लिखकर जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छा-शब्द रूपसे शब्दोंका चार प्रकारका विभाग किया है । व्यक्तिमें शक्ति माननेपर यह चारों प्रकारका शब्द-विभाग भी नहीं बन सकता है । क्योंकि जब व्यक्तिमें संकेतग्रह माना जायगा तो गौः, शुक्लः, चलः, डित्थः, आदि चारों शब्दोंसे व्यक्तिका ही बोध होगा । इसलिए गौ शब्द जातिवाचक है, शुक्ल पद गुणवाचक है, चलः पद क्रियावाचक है और डित्थः पद उस व्यक्तिका नाम होनेसे यदृच्छाशब्द है इस प्रकारका विभाग नहीं बन सकता है । अतएव व्यक्तिमें शक्ति न मानकर व्यक्तिके उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा रूप धर्मोमें ही संकेतग्रह मानना उचित है यह सिद्धान्त स्थिर होता है । इसी बात-को ग्रन्थकारने इस प्रकार लिखा है—

[सू० १०]—संकेतित अर्थ जाति आदि [अर्थात् जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा] भेदोंसे चार प्रकारका होता है । अथवा [मीमांसकोंके मतमें] केवल जाति [रूप एक प्रकार का] ही [संकेतित अर्थ] होता है ।

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्तुं न युज्यत इति, 'गौः शुक्लः चलो डित्थः' इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च, तदुपाधावेव संकेतः ।

उपाधिश्च द्विविधः वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च । वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः, सिद्धः साध्यश्च । सिद्धोऽपि द्विविधः, पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च । तत्राद्यो जातिः । उक्तं हि वाक्यपदीये—"न हि गौः स्वरूपेण गौ-र्नाप्यगौः, गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः"। इति ।

द्वितीयो गुणः । शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते ।

साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः ।

यद्यपि [आनयन अपनयन आदि रूप] अर्थक्रियाका निर्वाहक होनेसे प्रवृत्ति निवृत्ति [रूप व्यवहार] के योग्य व्यक्ति ही होता है [इसलिए व्यवहार द्वारा होने वाला संकेतग्रह उस व्यक्तिमें ही होना चाहिये] फिर भी 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' [दोष] आ जानेके कारण उस [व्यक्ति] में संकेतग्रह मानना उचित नहीं है इसलिए, और सफेद रंगकी [शुक्लः], [चलः] चलती हुई, डित्थ नामक, गाय, इत्यादि, [गुणवाचक शुक्ल पद, क्रियावाचक चलः पद, जाति वाचक गौ पद तथा यदृच्छात्मक संज्ञारूप डित्थ पद—इन सब शब्दोंसे केवल व्यक्तिकी ही उपस्थिति होनेपर] का विषय विभाग नहीं हो सकता है इसलिए भी [व्यक्तिमें नहीं अपितु] उसके उपाधि [भूत धर्म जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा] में ही संकेतका ग्रहण होता है ।

उपाधिभेद द्वारा शब्दोंका चतुर्विध विभाग—

यह उपाधि [मुख्य रूपसे] दो प्रकारका होता है । १ वस्तुका [यथार्थ] धर्म और २ वक्ताके द्वारा अपनी इच्छासे [उस अर्थमें] सन्निवेशित । [इनमेंसे वक्ताकी यदृच्छासे सन्निवेशित उपाधि यदृच्छात्मक रूढ़ि शब्दोंमें रहता है]। वस्तु धर्म भी दो प्रकारका होता है एक सिद्ध रूप और दूसरा साध्य रूप । [इनमें साध्य रूप वस्तु-धर्म 'क्रिया' कहलाता है] । सिद्ध [रूप, वस्तु-धर्म] भी दो प्रकारका होता है। एक पदार्थका प्राणप्रद या जीवनाधायक और दूसरा विशेषताका आधान करानेका कारण। इनमेंसे पहिला [अर्थात् वस्तुका प्राणप्रद सिद्ध धर्म] 'जाति' होता है। जैसा कि [भर्तृहरिने अपने] वाक्यपदीय [नामक ग्रन्थ] में कहा है कि—'गौ स्वरूपतः न गौ होती है न अ-गौ । गोत्व [जाति] के सम्बन्धसे ही गौ कहलाती है' । [इसलिए वस्तुका प्राणप्रद जीवनाधायक वस्तु-धर्म 'जाति' कहलाता है] ।

दूसरा [अर्थात् वस्तुका विशेषाधान-हेतु सिद्ध वस्तु धर्म] 'गुण' होता है। क्योंकि शुक्ल आदि [गुणों] के कारणसे [ही] सत्ताप्राप्त वस्तु [अपने सजातीय अन्य पदार्थोंसे विशेष] भिन्नताको प्राप्त होती है । [गौ के साथ गुण-वाचक 'शुक्लः' विशेषण अन्य गौओंकी अपेक्षा उसकी विशेषता या भेदको सूचित करता है]

साध्य [रूप वस्तु-धर्म दाल, आदिके पकानेमें चूल्हा जलाकर बटलोई रखनेसे लेकर उसके उतारने पर्यन्त आगे पीछे किया जानेवाला] पूर्वापरीभूत [सारा व्यापार कलाप] क्रिया रूप [क्रिया शब्दसे वाच्य] होता है ।

डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेपूपाधित्वेन सन्निवेश्यत इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति ।

'गौः शुक्लश्चलो डित्थ' इत्यादौ 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इति महाभाष्यकारः ।

डित्थ आदि [किसी व्यक्ति विशेषके वाचक रूढ़ि] शब्दोंका [स्फोटकी पूर्व प्रदर्शित प्रक्रियाके अनुसार पूर्व-पूर्व वर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृत चरम वर्णके श्रवणसे] अन्त्य-बुद्धि [चरमवर्णके श्रवण] से गृहीत होनेवाला [गकार औकार विसर्जनीय आदिके नामके] क्रमभेदसे रहित [बिना क्रमके बुद्धिमें एक साथ उपस्थित होनेवाला पदस्फोट रूप] स्वरूपको वक्ताकी अपनी स्वेच्छा द्वारा डित्थ आदि पदार्थोंमें [उसके वाचक] उपाधि रूपसे सन्निविष्ट किया जाता है। [अर्थात् किसी पदार्थ या व्यक्ति-विशेषका नाम रखनेवाला व्यक्ति रूढ़ संज्ञा रूप शब्दका उस अर्थके साथ सम्बन्ध स्थापित कर देता है कि यह व्यक्ति इस नामसे बोधित होगा]। इस प्रकार यह [रूढ़] संज्ञा रूप यदृच्छात्मक [शब्द होता] है।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँतक यह प्रतिपादन किया कि संकेतग्रह व्यक्तिमें नहीं होता है अपितु व्यक्तिके उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा आदि धर्मोंमें होता है। उसीके अनुसार शब्दोंका चार प्रकारका विभाग किया जाता है। अपने इस चतुर्विध विभागकी सम्पुष्टिमें महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनिकी सम्मति प्रमाण रूपसे उपस्थित करते हैं कि—

'सफेद रंगकी', 'चलती हुई', 'डित्थ' नामकी, 'गाय,' इत्यादि [वाक्य] में [जाति-शब्दके रूपमें गौ पदका, गुण-शब्दके रूपमें शुक्लः पदका, क्रिया-शब्दके रूपमें चलः पदका, और यदृच्छा-शब्दके रूपमें डित्थः पदका प्रयोग होनेसे] शब्दोंकी प्रवृत्ति [या प्रवृत्ति-निमित्त] चार प्रकार की होती है। यह महाभाष्यकारने कहा है।

परम-अणु-परिमाणकी गुणोंमें गणना कैसे—

इस विभाजनके अनुसार वस्तुके प्राणप्रद धर्मका नाम 'जाति' और उसके विशेषाधानहेतु धर्म को 'गुण' कहा जाना चाहिये। परन्तु 'वैशेषिक-दर्शन'में शुक्ल आदि 'रूप'के समान 'परिमाण'को भी गुण माना है। उसमें रूप रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण आदि २४ गुणोंमें 'परिमाण'की भी गणना की गयी है। यह परिमाण मुख्य रूपसे 'अणु' तथा 'महत्' दो प्रकारका होता है। परन्तु उन दोनोंके साथ परम शब्दको जोड़कर उनका एक-एक भेद और हो जाता है। अर्थात् अणु-परिमाणके दो भेद हो गये—एक 'अणुपरिणाम' और दूसरा 'परम-अणु-परिणाम'। इसी प्रकार महत्-परिमाणके भी एक 'महत्-परिमाण' तथा दूसरा 'परममहत्-परिमाण' दो भेद हो जाते हैं। इनमेंसे 'परम अणु परिमाण' केवल परमाणु-संज्ञक पदार्थ अर्थात् पृथिव्यादि द्रव्योंके सबसे सूक्ष्म और अविभाज्य अवयवमें रहता है। इस 'परम अणु-परिमाण'के लिए 'पारिमाण्डल्य-परिमाण' शब्दका भी प्रयोग होता है। यह परम-अणु-परिमाण 'परमाणु' रूप सूक्ष्मतम पदार्थका प्राणप्रद धर्म है। विशेषधान हेतु नहीं। इसलिए आपकी परिभाषाके अनुसार-परम-अणु-परिमाणके वाचक 'परमाणु-परिमाण' शब्दको जाति-शब्द मानना चाहिये। परन्तु 'वैशेषिक-दर्शन'में उसका पाठ गुणोंमें किया गया है। इसका क्या कारण है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्नका उत्तर ग्रन्थकारने यह दिया है कि 'परम अणु-परिमाण' वस्तुतः जाति-वाचक शब्द ही है। परन्तु जैसे लोकमें अन्य अर्थोंमें प्रसिद्ध 'गुण', 'वृद्धि' आदि शब्दोंका व्याकरण-शास्त्रमें विशेष अर्थमें प्रयोग होता है, उसी प्रकार वैशेषिक दर्शनमें परम अणु-परिमाणकी गणना गुणोंमें की है।

परमाण्वादीनान्तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम् ।
गुण-क्रिया-यदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते ।
यथैकस्य मुखस्य खड्ग-मुकुर-तैलाद्यालम्बनभेदात् ।

इसी बातको ग्रन्थकारने निम्न पंक्तिमें लिखा है—

परम-अणु [परिमाण तथा आदि शब्दसे परम-महत्-परिमाण] आदिका [उनके प्राणप्रद-धर्म होनेके कारण जाति-शब्द मानना उचित होनेपर भी 'वैशेषिकदर्शन' में उनका] गुणोंके बीच पाठ होनेसे [उस शास्त्रमें 'नदी', 'गुण', 'वृद्धि' आदि व्याकरणके विशेष संज्ञा शब्दोंकी भाँति] परिभाषासे निर्धारित गुणत्व है।

गुण शब्द आदिमें दोषोंकी शङ्का और उसका निवारण—

ऊपर ग्रन्थकारने यह कहा था कि व्यक्तिमें संकेतग्रह माननेसे 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दोष आ जाते हैं इसलिए व्यक्तिमें संकेतग्रह न मानकर व्यक्तिके उपाधिभूत जाति गुण आदि धर्मोंमें ही संकेतग्रह मानना चाहिये। गोत्व जाति सब गो-व्यक्तियोंमें एक ही है इसलिए उसमें संकेतग्रह मानने-पर एक जगह संकेतग्रह हो जानेसे सब गो-व्यक्तियोंकी उपस्थिति हो सकती है। इसी प्रकार शुक्ल आदि गुण सर्वत्र एक ही है इसलिए एक बार संकेतग्रह हो जानेपर सब शुक्ल पदार्थोंका उससे बोध हो सकता है, अलग-अलग शक्तिग्रहकी आवश्यकता नहीं है।

इसपर यह शङ्का उपस्थित होती है कि शंख, दूध, कपड़ा आदि अनेक शुक्ल पदार्थोंमें रहने-वाला शुक्ल रूप, भिन्न भिन्न प्रकारका प्रतीत होता है। इसी प्रकार भातका पकाना, ईंटोंका पकाना आदि क्रियाओंमें पाक आदि क्रिया भी भिन्न-भिन्न ही होती है। इसलिए एक जगह शुक्ल पदका संकेतग्रह होनेसे काम नहीं चलेगा। जैसे भिन्न गो-व्यक्तियोंमेंसे एक व्यक्तिमें संकेतग्रह माननेमें 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दोष आ-जाते हैं इसी प्रकार शंख, दूध आदिमें आश्रित शुक्ल आदि गुणों तथा पाक आदि क्रियाओंमें भेद होनेसे भी 'आनन्त्य', और 'व्यभिचार' दोष आ सकते हैं। अतः एक जगह संकेतग्रह माननेसे काम नहीं चल सकता है।

इस शंकाका उत्तर ग्रन्थकारने यह दिया है कि शुक्ल आदि गुण और पाक आदि क्रियाओंका भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें जो अलग-अलग रूप दिखलाई देता है उसका कारण उनका वास्तविक भेद नहीं अपितु उपाधिका भेद है। जैसे एक ही मुखको समतल, नतोदर, उन्नतोदर आदि भिन्न-भिन्न प्रकारके दर्पणोंमें, अथवा तेल, पानी, तलवार आदिमें देखा जाय तो सब जगह उनका प्रतिबिम्ब अलग-अलग दिखलाई देता है; परन्तु मुखमें वस्तुतः भेद नहीं है। वह सब केवल उपाधिकृत भेद है। इसी प्रकार शुक्लादि गुण और पाकादि क्रियाएँ भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें भिन्न प्रकारकी दिखलाई भले ही देती हों परन्तु उनका यह भेद पारमार्थिक नहीं, औपाधिक है। इसलिए गुण, क्रिया आदिमें संकेतग्रह माननेमें कोई दोष नहीं आता है। इसी बातको अगली पंक्तिमें इस प्रकार लिखा है—

[भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें भिन्न रूपसे प्रतीत होने वाले] गुण, क्रिया और यदृच्छा के एक रूप होनेपर भी आश्रयके भेदसे उनमें भेद-सा दिखलाई देता है [वह वास्तविक भेद नहीं है]। जैसे एक ही मुखका तलवार, दर्पण तथा तेल आदि आश्रयोंके भेदसे [प्रतिबिम्बोंमें भेद-सा प्रतीत होता है। वह वास्तविक नहीं, औपाधिक भेद है। इसी प्रकार गुण आदिमें प्रतीत होनेवाला भेद भी केवल औपाधिक भेद है। अतः गुण आदिमें संकेतग्रह माननेमें 'आनन्त्य', 'व्यभिचार' दोषोंके आनेकी सम्भावना नहीं है।]

केवल 'जाति'में शक्ति माननेवाला मीमांसक-मत—

'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादि-र्जातिरेव वा' इस कारिकांशमें संकेतित अर्थके विषयमें १ 'जात्यादिः' और २ 'जातिरेव वा' ये दो पक्ष दिखलाये थे। इनमेंसे 'जात्यादिः' यह पक्ष वैयाकरणों तथा उनके अनुगामी अलङ्कार-शास्त्रियोंका है। और 'जातिरेव वा' यह दूसरा पक्ष मीमांसकोंका है। 'जात्यादि' रूप प्रथम-पक्षके अनुसार जात्यादि अर्थात् १ जाति, २ गुण, ३ क्रिया और ४ यदृच्छा रूप वस्तुके उपाधिभूत इन चार धर्मोंमें संकेतग्रह होता है। इस पक्षका आधार 'चतुष्टयी च शब्दानां प्रवृत्तिः' यह महाभाष्यका वचन है। इसलिए ग्रन्थकारने इस प्रमाणको उद्धृत कर यहाँतक इन चारोंको शब्दका प्रवृत्ति-निमित्त माननेका उपपादन किया। अब 'जातिरेव वा' यह मीमांसकोंका दूसरा पक्ष रह जाता है उसका उपपादन अगले अनुच्छेदमें करते हैं।

मीमांसकोंका सिद्धान्त यह है कि जाति आदि चारोंके स्थानपर केवल जातिमें ही शब्दकी शक्ति या संकेतग्रह होता है। अर्थात् केवल जातिको ही शब्दका प्रवृत्ति-निमित्त मानना उचित है। जाति-शब्दोंके समान गुण क्रिया तथा यदृच्छा शब्दोंमें भी जातिमें ही संकेतग्रह मानना चाहिये। अनुगत अर्थात् एकाकार प्रतीतिके कारणको 'सामान्य' या जाति कहते हैं। गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्दोंमें भी जातिका अनुसन्धान किया जा सकता है। जैसे शंख दूध, बर्फ आदि अनेक शुक्ल पदार्थोंमें शुक्लः-शुक्लः यह अनुगत प्रतीति या एकाकार प्रतीति होती है इसका कारण 'शुक्लत्व-सामान्य' ही है। 'जाति' का ही दूसरा नाम 'सामान्य' है। उसका लक्षण 'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्' अनुगत-एकाकार प्रतीतिका हेतु 'सामान्य' कहलाता है यह किया गया है। जैसे दस घट व्यक्तियोंमें घटः-घटः इस अनुवृत्ति-प्रत्यय अर्थात् एकाकार प्रतीतिका कारण 'घटत्व-सामान्य' माना जाता है उसी प्रकार दस जगह रहनेवाले शुक्ल गुणमें जिसके कारण शुक्लः-शुक्लः यह अनुगत या एकाकार प्रतीति होती है वह 'शुक्लत्व-सामान्य' है। इसी प्रकार गुड़, तण्डुल आदि अनेक पदार्थोंमें रहनेवाली पाक-क्रियामें अनुगतप्रतीतिका कारण 'पाकत्व-सामान्य' है। इसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चरित यदृच्छा-शब्द और प्रतिक्षण परिणामके कारण भिद्यमान उनके अर्थोंमें भी सामान्यका अनुसन्धान किया जा सकता है। इसलिए जाति शब्दोंके समान शेष तीनोंमें भी जातिमें ही संकेतग्रह मानना चाहिये और जातिको ही उन शब्दोंका प्रवृत्ति-निमित्त मानना चाहिये।

जाति या सामान्यके लक्षणमें दो बातें आवश्यक होती हैं। एक तो यह कि सामान्य ही अनुवृत्ति-प्रत्यय अर्थात् एकाकार-प्रतीतिका कारण होता है। दूसरी बात यह है कि वह नित्य और अनेकमें समवेत धर्म होता है। 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यम्' यह भी सामान्यका दूसरी तरह लक्षण किया गया है। इसके अनुसार शुक्लत्वादिको 'सामान्य' माननेमें तो कोई कठिनाई नहीं होती है क्योंकि भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें रहनेवाले शुक्ल रूप भिन्न-भिन्न हैं। अभी 'जात्यादि' पक्षकी व्याख्याके अन्तिम भागमें अनेक पदार्थोंमें रहनेवाले शुक्लादि गुणोंको एकरूप होनेका जो प्रतिपादन किया था, मीमांसक उस सिद्धान्तको नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें रहनेवाले शुक्ल आदिको अभिन्न मानना अनुभवके विपरीत है क्योंकि उनकी शुक्लताकी प्रतीतिमें अन्तर है। अतः वे भिन्न ही हैं और उनमें अनुगत-प्रतीतिका कारण शुक्लत्व-सामान्यको मानना ठीक है। इसी प्रकार पाक आदि क्रियाओंमें भी पारमार्थिक भेद होनेके कारण उनमें पाकत्व आदि जातिको प्रवृत्ति-निमित्त मानना ही उचित है। इसलिए जाति-शब्दोंके समान गुण-शब्द तथा क्रिया-शब्दोंमें भी जातिको ही प्रवृत्ति-निमित्त मानकर उसीमें संकेत-ग्रह मानना उचित है। यह बात सिद्ध हो जाती है।

हिम-पयः-शंखाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तत् शुक्लत्वादि सामान्यम् । गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि । बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च, प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये ।

यदृच्छा शब्दोंमें जातिका उपादान—

परन्तु सामान्य जातिके उक्त लक्षणमें 'अनेक समवेतत्व'का समावेश होनेके कारण यदृच्छा-शब्दोंमें जातिको प्रवृत्ति-निमित्त माननेमें थोड़ी कठिनाई प्रतीत हो सकती है। इसलिए उसके समाधान-का विशेष मार्ग निकालना पड़ा है। कठिनाई यह उपस्थित होती है कि यदृच्छा शब्द तो अनेक व्यक्तियोंके वाचक नहीं अपितु केवल एक-व्यक्ति-वाचक रूढ़ शब्द होते हैं। उनमें 'अनेक समवेतत्व'के न रहनेसे जातिकी कल्पना कैसे की जाय। जाति तो अनेक व्यक्तियोंमें रहनेवाला—अनेकसमवेत—धर्म है। और यदृच्छा-शब्दोंमें, स्फोट-रूप शब्द भी एक है, और उसका वाच्यार्थ व्यक्ति-विशेष भी एक है तब उसमें जातिकी कल्पना कैसे की जाय।

यह एक शंका हो सकती है। इसका समाधान करनेके लिए मीमांसकोंने उच्चारण करनेवाले व्यक्तियोंके भेदसे शब्दोंमें, और प्रतिक्षण होनेवाले वृद्धि या ह्रास रूप परिवर्तनके आधारपर व्यक्तियोंमें भेदकी कल्पना की है। अर्थात् बाल-वृद्ध-शुक आदि द्वारा उच्चारण किये जानेवाले 'डित्थ' या देवदत्त आदि एकव्यक्ति-वाचक शब्द-व्यक्तियोंमें अनेकत्व मानकर उनमें अनुगत-प्रतीति करानेवाली 'डित्थत्व' आदि जातिकी कल्पना की जा सकती है। इसी प्रकार "प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावा ऋते चितिशक्तेः" एकमात्र चेतन आत्माको छोड़कर सारे पदार्थोंमें प्रतिक्षण परिणाम, प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है इस सिद्धान्तके अनुसार प्रतिक्षण परिवर्तनके कारण यदृच्छा-शब्दोंके वाच्यार्थ व्यक्तियोंमें भी भेदकी कल्पना करके उनमें अनुगत-प्रतीतिके कारणरूपमें जातिको माना जा सकता है। अतः यदृच्छा-शब्दोंका संकेतग्रह भी जातिमें ही मानना चाहिये।

इस प्रकार मीमांसक जाति आदि चारके स्थानपर केवल एक जातिमें ही संकेतग्रह मानते हैं। मम्मटाचार्यने अपनी कारिकामें 'जातिरेव वा' लिखकर उसी मीमांसक मतका प्रदर्शन किया है। अगले अनुच्छेदमें उसी मीमांसक-सिद्धान्तका उपपादन करते हुए वे लिखते हैं कि—

बर्फ, दूध और शंख आदिमें रहनेवाले वास्तवमें भिन्न [अर्थात् प्रथम सिद्धान्तमें कहे अनुसार एक रूप नहीं] शुक्ल आदि गुणोंमें जिसके कारण शुक्लः-शुक्लः इस प्रकारका एकाकार कथन और प्रतीतिकी उत्पत्ति होती है वह शुक्लत्व आदि सामान्य [जाति] है। गुड़ और तण्डुल आदिके पाकादिमें भी इसी प्रकार पाकत्व आदि 'सामान्य' [रहता] है। इसी प्रकार बालक, वृद्ध और तोता आदिके द्वारा उच्चारण किये जानेवाले 'डित्थ' आदि शब्दोंमें, अथवा प्रतिक्षण भिद्यमान-परिवर्तन-शील-'डित्थ' आदि पदार्थोंमें डित्थत्व आदि [सामान्य] रहता है। इसलिए सब शब्दोंका प्रवृत्ति-निमित्त केवल एक जाति ही है। [अर्थात् वैयाकरणोंके पूर्वोक्त मतके अनुसार]जात्यादि चारको प्रवृत्ति-निमित्त न मानकर केवल जातिको ही प्रवृत्ति-निमित्त मानना चाहिये और उसीमें संकेतग्रह मानना चाहिये यह अन्यों [अर्थात् मीमांसकों] का सिद्धान्त है

इस प्रकार 'जातिरेव वा' लिखकर ग्रन्थकारने शक्तिविषयक जो यह दूसरा मत दिखलाया है वह ग्रन्थकारको मान्य नहीं है। मीमांसकोंके मतको दिखलानेके लिए ही उसे लिखा है।

तद्वानपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात् प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम् ।

संकेतग्रहविषयक नैयायिक मत—

इस प्रकार संकेतग्रहके विषयमें वैयाकरण आलङ्कारिक और मीमांसकोंके मतका वर्णन किया जा चुका है । इनके अतिरिक्त नैयायिकों तथा बौद्ध आदि अन्य दार्शनिकोंने भी इस प्रश्नपर विचार किया है और उनके मत इन पूर्व प्रदर्शित मतोंसे भिन्न हैं । नैयायिकोंके मतमें न केवल जातिमें शक्तिग्रह माना जा सकता है और न केवल व्यक्तिमें । केवल व्यक्तिमें संकेतग्रह माननेसे आनन्त्य और व्यभिचारदोष आते हैं तो केवल जातिमें शक्तिग्रह माननेपर शब्दसे केवल जाति की उपस्थिति होनेके कारण व्यक्तिका भान शब्दसे नहीं हो सकता है । जातिमें शक्ति मानकर यदि व्यक्तिका भान आक्षेपसे माना जाय तो उसका शाब्द-बोधमें अन्वय नहीं हो सकेगा । क्योंकि 'शाब्दी हि आकांक्षा शब्देनैव पूर्यते' इस सिद्धान्तके अनुसार शब्द-शक्तिसे लभ्य अर्थका ही शाब्दबोधमें अन्वय हो सकता है । आक्षेप-लभ्य अर्थ शाब्द-बोधमें अन्वित नहीं हो सकता है । इसलिए नैयायिकोंके मतानुसार केवल व्यक्ति या केवल जाति किसी एकमें शक्तिग्रह नहीं माना जा सकता । इसलिए 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः' [न्यायसूत्र २,२,६८] जाति तथा आकृतिसे विशिष्ट व्यक्ति पदका अर्थ होता है यह नैयायिक-सिद्धान्त है । इसे ग्रन्थकारने अगली पंक्तिमें 'तद्वान् पदार्थः' कहकर दिखलाया है । 'तद्वान्'का अर्थ जातिमान् है । अर्थात् जातिविशिष्ट व्यक्तिमें संकेतग्रह मानना चाहिये, यह नैयायिक-मत है ।

बौद्ध-मत—

इसके अतिरिक्त बौद्ध-दार्शनिकोंका भी इस विषयमें अपना अलग मत है । उनके मतमें शब्दका अर्थ 'अपोह' होता है । 'अपोह'का अर्थ 'अतद्-व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्न-भिन्नत्व' है । दस घट-व्यक्तियोंमें घटः-घटः इस प्रकारकी एकाकार-प्रतीतिका कारण नैयायिक आदि 'घटत्व-सामान्य'को मानते हैं । उनका 'सामान्य' एक नित्य पदार्थ है क्योंकि 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतं सामान्यम्' यह सामान्यका लक्षण है । इसके अनुसार 'सामान्य' नित्य है । परन्तु बौद्धोंका पहिला सिद्धान्त 'क्षणभङ्गवाद' है । उनके मतसे सारे पदार्थ 'क्षणिक' हैं इसलिए वे 'सामान्य' जैसे किसी नित्य-पदार्थको नहीं मानते । उसके स्थानपर अनुगत-प्रतीतिका कारण वे 'अपोह'को मानते हैं । 'अपोह' यह शब्द बौद्ध-दर्शनका पारिभाषिक शब्द है । उसका अर्थ 'अतद्-व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्न-भिन्नत्व' होता है । अर्थात् दस घट-व्यक्तियोंमें जो घटः-घटः इस प्रकारकी अनुगत-प्रतीति होती है उसका कारण 'अघट-व्यावृत्ति' या 'घटभिन्नभिन्नत्व' है । प्रत्येक घट अ-घट अर्थात् घट-भिन्न सारे जगत्से भिन्न है । इसलिए उसमें घटः-घटः यह एक-सी प्रतीति होती है । इसलिए बौद्धोंके मतमें 'अपोह' ही शब्दका अर्थ होता है उसीमें संकेतग्रह मानना चाहिये । इस बौद्धमतका संकेत ग्रन्थकारने 'अपोहो वा शब्दार्थः' लिख कर किया है । इन सब पक्षोंका विस्तारपूर्वक विवेचन ग्रन्थगौरवके भयसे तथा प्रकृतमें विशेष उपयोग न होनेसे ग्रन्थकारने नहीं किया है । यही बात वे अगली पंक्तिमें दिखलाते हैं—

किन्हीं लोगोंने 'तद्वान्' [अर्थात् जातिविशिष्ट व्यक्ति] और 'अपोह' [अर्थात् अतद्-व्यावृत्ति या तद्भिन्न-भिन्नत्व] शब्दका अर्थ है यह कहा है [ये दोनों मत क्रमशः नैयायिक तथा बौद्धोंके हैं]। ग्रन्थके बढ़ जानेके भयसे और प्रकृतमें उपयोग न होनेसे उनको [विस्तारपूर्वक] नहीं दिखलाया है ।

[सू० ११]–स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥८॥

स इति साक्षात् संकेतितः । अस्येति शब्दस्य ।

मम्मटका सिद्धान्तमत—

यहाँ संकेतग्रहके विषयमें जो तीन-चार मत दिखलाये हैं उनमेंसे पहिलेके साथ 'इति महाभाष्यकारः', दूसरेके साथ 'इत्यन्ये' और तीसरे तथा चौथेके साथ 'केचित्' शब्दका प्रयोग किया गया है। नरसिंह ठक्कुर आदि काव्यप्रकाशके कुछ टीकाकारोंने इसका अर्थ यह लगाया है कि इनमेंसे कोई भी मत ग्रन्थकारको अभिमत नहीं है। इसलिए इन शब्दोंके द्वारा सब मतोंमें अपना अस्वरस प्रदर्शित किया है। नरसिंह ठक्कुरने तो यहाँतक लिखा दिया है कि 'तस्माद् व्यक्तिपक्ष एव क्षोदक्षमः' 'अर्थात् इसलिए व्यक्तिपक्ष ही अधिक उचित प्रतीत होता है'। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है। जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है साहित्य-शास्त्रमें प्रायः व्याकरण-शास्त्रके दार्शनिक सिद्धान्तोंको अपनाया गया है। स्वयं काव्यप्रकाशकारने 'बुधैर्वैयाकरणैः' आदि लिखकर इस सिद्धान्तकी पुष्टि की है। इसलिए इस विषयमें भी साहित्य-शास्त्रमें व्याकरण-सिद्धान्तके अनुसार 'जात्यादि' चारमें संकेतग्रह मानना ही अभीष्ट है। मम्मटाचार्य भी इसी सिद्धान्तको मानते हैं। उन्होंने यहाँ महाभाष्यकारके नामका उल्लेख अपने मतके समर्थनमें प्रमाण प्रस्तुत करनेके लिए ही किया है।

श्री मम्मटाचार्यने इसी विषयपर 'शब्द-व्यापार विचारः' नामक एक और छोटा सा प्रकरण-ग्रन्थ लिखा है। उसमें भी मीमांसक आदि अन्य मतोंका खण्डन करके उन्होंने वैयाकरण-सम्मत और महाभाष्यकार द्वारा अनुमोदित जात्यादि चारोंमें संकेतग्रह माननेके सिद्धान्तका ही प्रतिपादन किया है। उन्होंने उस ग्रन्थमें स्पष्ट रूपमें लिखा है कि—

तत्र मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः ।

अर्थात् अभिधा-शक्तिसे प्रतिपादित होनेवाला 'मुख्य अर्थ जाति आदिके भेदसे चार प्रकारका समझना चाहिये'। अतः नरसिंह ठक्कुरका लेख भ्रममूलक है।

अभिधालक्षण—

ऊपर अर्थके 'वाच्य','लक्ष्य','व्यङ्ग्य' रूपसे तीन भेद बतलाये थे। इनमेंसे वाच्यार्थको मुख्यार्थ नामसे भी कहा जाता है। 'मुखमिव मुख्यः' इस विग्रहमें 'शाखादिभ्यो यः' [५-३-१०३] सूत्रसे य-प्रत्यय होकर मुख्य-शब्द सिद्ध होता है। जैसे शरीरके सारे अवयवोंमें मुख सबसे प्रधान है और सबसे पहिले दिखलाई देता है। इसी प्रकार वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य सब अर्थोंमें वाच्यार्थ सबसे प्रधान और सबसे पहिले उपस्थित होनेवाला अर्थ है इसलिए मुखके समान होनेसे उसको 'मुख्यार्थ' कहा जाता है। उस वाच्यार्थ या 'मुख्यार्थ'को बोधन करानेवाला जो शब्दका व्यापार है उसको 'अभिधा' व्यापार कहते हैं। आगे 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे' तथा 'मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः' इत्यादि अनेक स्थलोंपर ग्रन्थकार वाच्य अर्थ तथा वाचक शब्दके लिए मुख्यार्थ तथा मुख्य-शब्द पदका प्रयोग करेंगे। अतः यहाँ, वाच्यार्थको ही मुख्यार्थ कहा जाता है। इस बातको ग्रन्थकार आगे कहते हैं—

[सू० ११]—वह [साक्षात्-संकेतित अर्थ] मुख्य अर्थ [कहलाता] है, और उस [के बोधन कराने] में इस [शब्द]का जो व्यापार होता है वह अभिधा [व्यापार या अभिधा-शक्ति] कहलाता है ।८।

[कारिकामें प्रयुक्त] 'स' इस [पद] से साक्षात्-संकेतित [अर्थ लिया जाता है]। 'अस्य' इस [पद] से 'शब्दका' [यह अर्थ लिया जाता है] ॥८॥

[सू० १२]-मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥९॥

लक्षणा-निरूपण—

मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थकी बोधिका अभिधा-शक्ति होती है और, अन्य सबकी अपेक्षा सबसे पहिले अभिधा-शक्ति ही अपने अर्थ अर्थात् वाच्यार्थका बोध कराती है। परन्तु जहाँ कहीं मुख्यार्थका वाक्यके अन्य पदोंके अर्थोंके साथ अन्वय होनेमें बाधा होती है अथवा उससे तात्पर्यकी उपपत्ति नहीं होती वहाँ रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्धिके कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजनके प्रतिपादनके लिए मुख्यार्थसे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थकी प्रतीति हो सकती है। उस अन्य अर्थको 'लक्ष्यार्थ' और उसकी बोधिका शक्तिको 'लक्षणा-शक्ति' कहा जाता है। लक्षणा-शक्तिके व्यापारके लिए १ मुख्यार्थ-बाध, २ लक्ष्यार्थका मुख्यार्थके साथ सम्बन्ध, तथा ३ रूढ़ि या प्रयोजनमेंसे अन्यतर, इन तीन कारणोंकी आवश्यकता होती है। इसी अभिप्रायसे लक्षणाका लक्षण करनेके लिए ग्रन्थकार अगली कारिका लिखते हैं—

[सू० १२]—१ मुख्यार्थका बाध [अर्थात् अन्वयकी अनुपपत्ति या तात्पर्यकी अनुपपत्ति] होनेपर, २ उस [मुख्यार्थ] के साथ [लक्ष्यार्थ या अन्य अर्थका] सम्बन्ध होनेपर, ३ रूढ़िसे अथवा प्रयोजन-विशेषसे जिस [शब्द-शक्ति] के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है वह [मुख्य रूपसे अर्थमें रहनेके कारण, शब्दका] आरोपित व्यापार लक्षणा [कहलाता] है। ९।

इस कारिकामें 'लक्ष्यते यत् सा' इस स्थलपर जो 'यत्' शब्दका प्रयोग हुआ है उसकी दो प्रकारकी व्याख्या की जाती है। प्रथम व्याख्याके अनुसार 'यदिति यया इत्यर्थे लुप्तकरणं तृतीयान्त-मव्ययम्' 'यत्' यह पद 'यया' इस अर्थमें करण-विभक्तिके लोप द्वारा बना हुआ तृतीयान्त अव्यय-पद है। उसके अनुसार 'यया शब्दशक्त्या अन्यो अर्थो लक्ष्यते सा लक्षणा' जिस शब्दशक्तिसे अन्य अर्थ लक्षित होता है वह 'लक्षणा' कहलाती है, यह अर्थ होता है। दूसरी व्याख्याके अनुसार 'यत्' यह क्रियाविशेषण है 'यत् लक्ष्यते' अर्थात् 'यत् प्रतिपाद्यते' जो प्रतिपादित होता है वह 'लक्षणा' है। इन दोनों ही व्याख्याओंमें और विशेषकर दूसरी व्याख्यामें 'लक्ष्यते' यह पद णिजन्तसे बना हुआ आख्यातका रूप है। णिच्-प्रत्ययका अर्थ प्रयोजक हेतुका व्यापार होता है 'अन्योऽर्थो यत् लक्ष्यते'का अर्थ 'अन्यार्थ-प्रतिपत्तिहेतुः शब्दव्यापारो लक्षणा' यह होता है। परन्तु यह व्याख्या अधिक क्लिष्ट हो जाती है। इसलिए 'यत्' पदको 'यया' के अर्थमें लुप्तकरण तृतीयान्त अव्यय मानना ही अधिक अच्छा है।

कुछ लोगोंने 'यत् लक्ष्यते यत् प्रतिपाद्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा' इस प्रकारकी व्याख्या भी की है, परन्तु यह व्याख्या नितान्त असङ्गत है क्योंकि 'प्रतिपत्ति' अर्थात् ज्ञान 'लक्षणा' नहीं है अपितु शब्दकी शक्ति 'लक्षणा' है। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्टने अपने 'श्लोक वार्तिक'में 'अभिधेयाविना-भूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' यह लिखा है। उसीके आधारपर इन व्याख्याकारोंने यहाँ भी 'यत् लक्ष्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा' इस प्रकारकी व्याख्या कर दी है परन्तु एक तो वह काव्यप्रकाशकारका सिद्धान्तमत नहीं अपितु मीमांसकोंका मत है, इसलिए उसके आधारपर व्याख्या उचित नहीं है। काव्यप्रकाशकार-को शब्द-व्यापारको ही लक्षणा मानना अभिमत है अतः 'यया' अर्थमें ही 'यत्' अव्ययका प्रयोग समझना चाहिये। दूसरे वहाँ भी 'प्रतीति' पदका अर्थ ज्ञान नहीं अपितु 'प्रतीतिका करणभूत व्यापार' किया जाता है। करणमें क्तिन-प्रत्यय करके 'प्रतीयतेऽर्थोऽनया इति प्रतीतिः' यह विग्रह होता है।

'कर्मणि कुशलः' इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगात्, 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्याधारत्वासम्भवात्, मुख्यार्थस्य बाधे, विवेचकत्वादौ सामीप्ये च सम्बन्धे, रूढितः प्रसिद्धेः तथा गङ्गातटे घोष इत्यादेः प्रयोगात् येषां न तथा प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथाप्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येन अमुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा ।

मुख्यार्थबाधके दो रूप—

इस कारिकामें 'लक्षणा'का मुख्य कारण 'मुख्यार्थ-बाध'को बतलाया गया है। इस 'मुख्यार्थ-बाध'की भी दो प्रकारकी व्याख्या की जाती है। अधिकांश व्याख्याकार मुख्यार्थबाधका अर्थ 'अन्वयानुपपत्ति' करते हैं। जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरणमें गङ्गाका अर्थ जलकी धारा और घोष का अर्थ आभीरपल्ली घोसियोंकी बस्ती है। गङ्गाकी धाराके ऊपर घोसियोंकी बस्ती नहीं रह सकती है इसलिए यहाँ अन्वयके अनुपपन्न होनेके कारण गङ्गा पद लक्षणासे तट रूप अर्थका बोधक होता है।

परन्तु नागेशभट्टने 'परमलघुमञ्जूषा'में 'अन्वयानुपपत्ति'के स्थानपर 'तात्पर्यानुपपत्ति'को लक्षणाका बीज माना है और उसका हेतु यह दिया है कि यदि अन्वयानुपपत्तिको लक्षणाका बीज माना जायगा तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस प्रयोगमें लक्षणा नहीं हो सकेगी। कोई व्यक्ति अपना दही बाहर रखा हुआ छोड़कर किसी कामसे तनिक देरके लिए कहीं जा रहा है। वह चलते समय अपने साथीसे कहता है कि 'जरा कौओंसे दहीको बचाना'। इसका अभिप्राय केवल कौओंसे बचाना ही नहीं है अपितु कौए, कुत्ते आदि जो कोई दहीको बिगाड़ने या खानेका प्रयत्न करें, उन सबसे दहीकी रक्षा करना यह वक्ताका अभिप्राय है। यह अभिप्राय 'काक' पदकी 'दध्युपघातक' अर्थमें लक्षणा करनेसे ही पूरा हो सकता है। अन्यथा नहीं। परन्तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस प्रयोगमें 'अन्वयानुपपत्ति' नहीं है। सब पदोंका अन्वय बन जाता है इसलिए यदि अन्वयानुपपत्तिको ही लक्षणाका बीज माने तो यहाँ लक्षणाका अवसर ही नहीं आता है। इसलिए नागेशभट्टने 'अन्वयानुपपत्ति'के स्थान पर 'तात्पर्यानुपपत्ति'को लक्षणाका बीज माना है। अन्वयमें बाधा न होनेपर भी 'काक' पदका मुख्यार्थमात्र लेनेसे वक्ताके तात्पर्यकी उपपत्ति नहीं होती है इसलिए लक्षणा करना आवश्यक हो जाता है। अतः तात्पर्यानुपपत्तिको ही लक्षणाका बीज मानना चाहिये, यह नागेशभट्टका अभिप्राय है।

लक्षणाके दो उदाहरण—

'कर्मणि कुशलः' [अर्थात् चित्रकर्म आदि किसी विशेष] 'काममें कुशल है' इत्यादिमें [कुशान् लाति आदत्ते इति कुशलः इस व्युत्पत्ति के अनुसार] कुशोंके लानेका कोई सम्बन्ध न होनेसे [मुख्यार्थका बाध होता है] और 'गङ्गायां घोषः' इत्यादिमें गङ्गा [पदके जलप्रवाह रूप मुख्यार्थ] आदिमें घोष [आभीर-पल्ली] आदिका आधारत्व सम्भव न होनेसे मुख्यार्थका बाध होनेपर [प्रथम उदाहरणमें] विवेचकत्वादि और [दूसरे उदाहरणमें] सामीप्य सम्बन्ध होनेपर, [पहिले उदाहरणमें कुशल पदके दक्ष रूप अर्थमें रूढ़ होनेके कारण] रूढ़िसे अर्थात् प्रसिद्धिसे, और [दूसरे उदाहरणमें] 'गङ्गातटे घोषः' इत्यादि [मुख्य शब्द] के प्रयोगसे जिन [शैत्य पावनत्वादि धर्मों] की उस रूपमें प्रतीति नहीं होती है उन [शैत्य] पावनत्व आदि धर्मोंके उस प्रकारके प्रतिपादनस्वरूप प्रयोजनसे मुख्य अर्थसे जो अमुख्य अर्थ लक्षित होता है वह शब्दका व्यवहितार्थविषयक आरोपित शब्द-व्यापार 'लक्षणा' [कहलाता] है।

[सू० १३]–स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥१०॥

ग्रन्थकारने कारिकामें 'लक्ष्यते यत् सा' इस अंशमें 'यत्' पदका प्रयोग किया है। यह पद कुछ अस्पष्ट-सा है इसलिए इसकी व्याख्यामें ऊपर लिखे अनेक मतभेद पाये जाते हैं। वृत्ति लिखते समय यदि वे अपने इस पदकी स्पष्ट व्याख्या कर देते तो अच्छा होता। परन्तु उन्होंने वृत्ति लिखते समय भी उसकी व्याख्या न करके फिर उसी 'यत्' शब्दका प्रयोग कर दिया है। इससे उसका अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ और व्याख्याकारोंको अनेक प्रकारकी व्याख्या करनेका अवसर मिल गया है।

प्रयोजनवती-लक्षणाके उदाहरणरूपमें 'गङ्गायां घोषः' यह वाक्य यहाँ प्रस्तुत किया गया है। लक्षणाका यह उदाहरण साहित्य शास्त्रके सभी ग्रन्थोंमें दिया गया है, परन्तु वह उनका अपना बनाया हुआ उदाहरण नहीं है अपितु जिस प्रकार 'ध्वनि' शब्द तथा 'चतुष्टयी च शब्दानां प्रवृत्तिः'के सिद्धान्तको उन्होंने व्याकरण-शास्त्रसे उधार लिया है उसी प्रकार यह उदाहरण भी उन्होंने व्याकरण-शास्त्रसे ही लिया है। महाभाष्यकारने 'पुंयोगादाख्यायाम्' [४-१-४८] सूत्रके महाभाष्यमें 'गङ्गायां घोषः' तथा 'कूपे गर्गकुलम्' ये दो लक्षणाके उदाहरण दिये हैं। वहाँसे ही साहित्य-शास्त्रमें यह उदाहरण ले लिया गया है। यह भी साहित्य-शास्त्रके व्याकरणानुगामी होनेका प्रमाण है।

लक्षणाके दो भेद—

आगे ग्रन्थकार लक्षणाके 'उपादान लक्षणा' तथा 'लक्षण-लक्षणा' नामसे दो भेद करते हैं। जहाँ शब्द अपने अन्वयकी सिद्धिके लिए अन्य अर्थका आक्षेप करा लेता है और स्वयं भी बना रहता है उसको 'उपादान-लक्षणा' कहते हैं। उसमें मुख्यार्थका भी उपादान या ग्रहण रहता है इसलिए उसकी 'उपादान-लक्षणा' यह अन्वर्थ-संज्ञा है।

जैसे 'कुन्ताः प्रविशन्ति' या 'यष्टीः प्रवेश' आदि उदाहरणोंमें 'कुन्त' और 'यष्टि' शब्द भाला और लाठी रूप अचेतन अर्थोंके वाचक हैं, उनमें प्रवेश क्रियाका अन्वय नहीं हो सकता है इसलिए यहाँ मुख्यार्थका बाध होनेपर 'कुन्त' आदि शब्द अपने अन्वयकी सिद्धिके लिए 'पुरुष' पद या पदार्थका आक्षेप करा लेते हैं। इस प्रकार 'कुन्त' शब्द 'कुन्तधारी-पुरुष'का बोधक हो जाता है और उसका अन्वय होनेमें जो बाधा थी वह दूर हो जाती है। 'कुन्ताः प्रविशन्ति'का अर्थ 'कुन्तधारी पुरुष घुसे आ रहे हैं' यह हो जाता है। कुन्तधारी पुरुषोंका बाहुल्य-सूचन ही लक्षणाका प्रयोजन है। इस प्रकार यह प्रयोजनवती उपादानलक्षणाका उदाहरण है।

इसके विपरीत जहाँ वाक्यमेंका कोई शब्द वाक्यमें प्रयुक्त दूसरे शब्दके अन्वयकी सिद्धिके लिए अपने अर्थका परित्याग कर अन्य अर्थका बोधक हो जाता है वहाँ 'लक्षण-लक्षणा' होती है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरणमें वाक्यमें प्रयुक्त 'घोष' पदके आधेयत्व रूपसे अन्वयका उपपादन करनेके लिए 'गङ्गा' शब्द अपने 'जल-प्रवाह' रूप मुख्यार्थका परित्याग कर सामीप्य सम्बन्धसे 'तट' रूप अन्य अर्थको बोधित करता है अतएव यह प्रयोजनवती 'लक्षण-लक्षणा'का उदाहरण है। लक्षणाके इन्हीं दोनों भेदोंको ग्रन्थकार निम्नलिखित प्रकारसे दिखलाते हैं—

[सू० १३]—[वाक्यमें प्रयुक्त किसी पदका] अपने अन्वयकी सिद्धिके लिए अन्य अर्थका आक्षेप करना 'उपादान' और दूसरेके [अन्वयकी सिद्धिके] लिए अपने [मुख्य अर्थ] का परित्याग [समर्पण] 'लक्षण' [कहलाता] है, इस प्रकार वह शुद्धा-लक्षणा ही दो प्रकारकी कही गयी है [गौणीके ये भेद नहीं होते हैं]। १०।

'कुन्ताः प्रविशन्ति', 'यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेश-सिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते । तत उपादानेनेयं लक्षणा ।

उपादान-लक्षणाके दो उदाहरण—

'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'भाले घुस रहे हैं' और 'यष्टीः प्रवेशय' 'लाठियोंको बुलाओ' इत्यादि [वाक्यों] में 'कुन्त' आदि [पदों] के द्वारा अपने [अचेतन रूपमें] प्रवेश [क्रिया] की सिद्धिके लिए अपनेसे संयुक्त [अर्थात् कुन्तधारी] पुरुषोंका आक्षेप [द्वारा बोध] कराया जाता है । इसलिए [स्वार्थका परित्याग किये बिना अन्य अर्थके ग्रहण रूप अथवा स्वार्थके भी ग्रहण रूप] उपादानसे यह लक्षणा है । [अतः यह 'उपादान-लक्षणा' कहलाती है] ।

मुकुलभट्टके उपादान-लक्षणाके दो उदाहरण—

उपादानलक्षणाके इन उदाहरणोंके बाद लक्षण-लक्षणाका उदाहरण देना चाहिये । परन्तु उसको प्रस्तुत करनेके पूर्व ग्रन्थकार 'मुकुलभट्ट' तथा मण्डनमिश्र आदि मीमांसकों द्वारा दिये गये 'उपादान-लक्षणा'के दो उदाहरणोंका खण्डन करते हैं । मुकुलभट्ट काव्यप्रकाशकारसे कुछ पहिले हुए हैं । उनका एकमात्र ग्रन्थ 'अभिधावृत्तिमातृका' इस समय उपलब्ध होता है । इस ग्रन्थमें उन्होंने अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना इन तीनों शक्तियोंके स्थानपर केवल 'अभिधा' शक्तिको ही माननेका सिद्धान्त रूपसे प्रतिपादन किया है । अभिधाके उन्होंने दस भेद माने हैं । इनमें जात्यादि चार प्रकारके अर्थोंकी बोधक चार प्रकारकी अभिधाशक्ति, तथा लक्षणाके छ भेदोंका भी अभिधामें अन्तर्भाव करके दस प्रकारकी अभिधाशक्ति उन्होंने सिद्ध की है । व्यञ्जनाके सब भेदोंका अन्तर्भाव लक्षणाके छ भेदोंमें कर लिया है । इस प्रकार दस तरहकी अभिधाके अतिरिक्त अन्य किसी शक्तिके माननेकी आवश्यकता नहीं है यह बात उन्होंने सिद्ध की है । ग्रन्थका उपसंहार करते हुए उन्होंने लिखा है—

'इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम् ।' ॥१३॥

इस ग्रन्थमें उन्होंने 'उपादान-लक्षणा'के 'गौरनुबन्ध्यः' तथा 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुंक्ते' ये दो उदाहरण दिये हैं । जिस प्रकार काव्यप्रकाशकार आदि साहित्य-शास्त्रके अधिकांश आचार्य वैयाकरणोंके अनुयायी हैं । इसलिए उन्होंने अन्य विषयोंके साथ लक्षणाके उदाहरण भी व्याकरण-शास्त्रसे ही लिये हैं । 'गङ्गायां घोषः','कुन्ताः प्रविशन्ति', 'यष्टयः प्रविशन्तिः' इत्यादि लक्षणाके सब उदाहरण काव्यप्रकाशकारने महाभाष्यसे ही लिये हैं । इसी प्रकार 'मुकुलभट्ट' मीमांसक मतके अनुयायी हैं इसलिए उन्होंने अपने उदाहरणोंका संग्रह प्रायः मीमांसाके ग्रन्थोंसे किया है । 'गौरनुबन्ध्यः' और 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुंक्ते' ये उदाहरण मुकुलभट्टने मीमांसा-ग्रन्थोंसे ही लिये हैं ।

'गौरनुबन्ध्यः' यह वैदिक प्रयोगमें और पदमें 'उपादान-लक्षणा'का उदाहरण है । उसका अर्थ 'गायको बाँधना चाहिये' यह होता है । यज्ञमें गौके उपाकरण आदि द्वारा पूजनके लिए यहाँ उसके बाँधनेका विधान किया गया है । दूसरे लोग 'अनुबन्ध्यः'का अर्थ 'आलभ्यः' 'हन्तव्यः' मारना चाहिये यह करते हैं । जैसा कि कहा जा चुका है, मीमांसक लोग केवल जातिमें शब्दकी शक्ति मानते हैं । इसलिए गौ शब्दका वाच्यार्थ 'गोत्व' जाति होता है । उस जातिमें बन्धन अथवा आलम्भन रूप क्रिया सम्भव नहीं है इसलिए मुख्यार्थका बाध होता है । तब गो-शब्द बन्धनके साथ अपने 'गोत्व' जाति रूप अर्थकी अन्वयकी सिद्धिके लिए व्यक्तिका आक्षेपसे बोध कराता है । इसलिए यह पदमें उपादानलक्षणा है । यह मुकुलभट्टका या मीमांसकोंका अभिप्राय है ।

'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, न तु शब्देनोच्यते 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति न्यायात्।

इत्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्तव्या। न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढिरियम्। व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते।

मीमांसक लोग अर्थवाद-वाक्योंको 'प्राशस्त्य'का लक्षक मानकर वाक्यमें भी लक्षणा स्वीकार करते हैं। इसलिए 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुंक्ते' 'देवदत्त मोटा हो रहा है परन्तु दिनमें नहीं खाता है' यह लौकिक प्रयोगमें वाक्य-लक्षणाका उदाहरण मुकुलभट्ट आदि मीमांसकोंने दिया है। इस उदाहरणमें दिनमें न खानेवाला देवदत्त मोटा हो यह बात साधारणतः सम्भव नहीं है। इसलिए मुख्यार्थका बाध होनेपर यह वाक्य अपने अन्वयकी सिद्धिके लिए रात्रि-भोजनका आक्षेप द्वारा बोध कराता है। इस दृष्टिसे यह भी उपादान लक्षणाका उदाहरण बन जाता है। मुकुलभट्टने उपादान-लक्षणाका लक्षण तथा इन दोनों उदाहरणोंमें उस लक्षणका समन्वय करते हुए लिखा है कि—

स्वसिद्ध्यर्थतयाक्षेपो यत्र वस्त्वन्तरस्य तत्।
उपादानं, लक्षणन्तु तद्विपर्यासतो मतम्॥ का० १३।

यत्र स्वसिद्ध्यर्थतया वस्त्वन्तरस्याक्षेपो भवति तत्रोपादानम्। यथा 'गौरनुबन्ध्यः' इति। अत्र हि गोत्वस्य यागं प्रति साधनत्वं शाब्दं व्यक्त्याक्षेपमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्सिद्ध्यर्थतया व्यक्तेराक्षेपः। यथा च 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुंक्ते' इति। अत्र हि पीनत्वं दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतयावगम्यमानमेव कार्यत्वात् स्वसिद्ध्यर्थत्वेन कारणभूतं रात्रिभोजनमाक्षेपादभ्यन्तरीकरोति।

अत्र च 'रात्रौ भुंक्ते' इत्येतच्छब्दाक्षेपपूर्वकतया प्रमाणस्यापरिपूर्णस्य परिपूरणात् श्रुतार्थापत्तित्वं भवत्वथवा कारणस्यैव रात्रिभोजनस्याक्षेप इति। सर्वथा स्वसिद्ध्यर्थत्वेनार्थान्तरस्याक्षेपपूर्वकतयान्तर्भावनादुपादानत्वमुपपद्यते।

इस प्रकार मुकुलभट्टने उपादान-लक्षणाके जो दो उदाहरण दिये हैं उनका क्रमशः खण्डन करनेके लिए काव्यप्रकाशकार पहिले उनका अनुवाद करते हुए फिर उनका खण्डन करते हैं। 'गौरनुबन्ध्यः'के विषयमें मुकुलभट्टके मतका अनुवाद करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

मुकुलभट्टके प्रथम उदाहरणका खण्डन—

'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादि [वाक्य] में, श्रुतिमें प्रतिपादित किया हुआ मेरा [अर्थात् गौ शब्दके मुख्यार्थ 'गोत्व' जातिका] 'अनुबन्धन' कैसे बन सके इसके [उपपादनके] लिए [मुख्यार्थ] जातिसे [अमुख्यार्थ भूत] व्यक्तिका आक्षेप कराया जाता है। [क्योंकि गोत्व रूपी] 'विशेषणका बोध करानेमें क्षीण हुई अभिधा शक्ति [किसी भी प्रकारसे गो-व्यक्ति रूप] विशेष्यका बोध नहीं करा सकती है' इस युक्तिसे। [अतः उस विशेष्यभूत गो-व्यक्तिका बोध उपादान-लक्षणा द्वारा होता है]।

आगे उसका खण्डन करते हुए लिखते हैं—

यह उपादान-लक्षणाका उदाहरण [मुकुलभट्ट को] नहीं देना चाहिये। क्योंकि यहाँ [लक्षणाके प्रयोजक रूढ़ि तथा प्रयोजन रूप दो मुख्य हेतुओंमेंसे] न तो कोई [विशेष] प्रयोजन ही है और न यह रूढ़ि है। किन्तु [व्यक्तिके बिना जाति रह नहीं सकती है इसलिए] अविनाभावके कारण जातिसे व्यक्तिका [अनुमान] आक्षेप किया जाता है। [अतः यह लक्षणाका उदाहरण नहीं है]।

यथा 'क्रियताम्' इत्यत्र कर्ता । 'कुरु' इत्यत्र कर्म ।
'प्रविश', पिण्डीं' इत्यादौ 'गृहं', 'भक्षय' इत्यादि च ।

जैसे [कोई यह कहे कि] 'क्रियताम्' [तुम] 'करो' [इसमें कोई क्रिया बिना कर्ताके नहीं हो सकती है इसलिए] इत्यादिमें ['कृतिः अर्थात् यत्नः साश्रया गुणत्वात्' इस अनुमानसे] कर्ता ['त्वया' का लाभ होता है]। 'करो' यहाँ [कृतिः सविषया कृतित्वात् इस अनुमानसे पाकं आदि] कर्म [का आक्षेपसे लाभ होता है]। 'प्रवेश करो' और 'पिण्डको' [इन दोनोंके कहनेपर अविनाभावसे क्रमशः] घरमें [प्रवेश करो] और [पिण्डको] 'खाओ' इत्यादि [की अविनाभावसे प्रतीति होती है इनमेंसे किसी भी स्थलमें लक्षणा नहीं मानी जाती है। इसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्यः'में भी किसी प्रकारकी लक्षणा नहीं है। अतः उसको उपादान-लक्षणाके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत नहीं करना चाहिये] ।

यहाँ 'क्रियताम्', 'कुरु', 'प्रविश', 'पिण्डीम्' इत्यादि सब असम्पूर्ण वाक्य प्रयुक्त किये गये हैं । उनमें पूरक रूपसे जिन अन्य अंशोंकी अपेक्षा रहती है उनकी पूर्ति 'अध्याहार' या 'आक्षेप' के द्वारा की जाती है । अध्याहारके विषयमें मीमांसकोंमें दो प्रकारके सिद्धान्त पाये जाते हैं । कुमारिलभट्ट 'शब्दाध्याहार-वाद'के माननेवाले हैं और उनके शिष्य प्रभाकर 'अर्थाध्याहारवाद' के समर्थक हैं । ऊपर जो अध्याहारके चार उदाहरण दिये गये हैं उनमेंसे पहिले दो अर्थाध्याहारवादी प्रभाकरके अभिप्रायसे और अन्तिम दो शब्दाध्याहारवादी भट्ट-मतके अभिप्रायसे दिए गए हैं । 'क्रियताम्' तथा 'कुरु' ये दोनों क्रियापद हैं । उनमें पहिली जगह कर्ता 'त्वया'की और दूसरी जगह कर्म 'पाकं' आदिकी अपेक्षा है । इन दोनोंकी पूर्ति अध्याहार अथवा आक्षेपसे की जाती है । किन्तु वहाँ कर्ता तथा कर्म पदोंका अध्याहार न होकर उनके अर्थोंका अध्याहार किया जाता है इसलिए वे 'अर्थाध्याहारवाद'के पोषक उदाहरण हैं । इसके विपरीत 'प्रविश' तथा 'पिण्डीम्' इन दोनों उदाहरणोंमें अपेक्षित 'गृहम्' तथा 'भक्षय' इन पूरक अंशोंका शब्द रूपमें 'अध्याहार' किया जाता है । इसलिए ये दोनों 'शब्दाध्याहार'के उदाहरण हैं । ग्रन्थकारने इन उदाहरणोंको इसलिए प्रस्तुत किया है कि जिस तरह यहाँ कर्ता या कर्मके बिना क्रिया-पदोंका अन्वय सम्भव न होनेसे अविनाभाव द्वारा उन पदों या उनके अर्थोंका अध्याहार या आक्षेप किया जाता है उसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्यः' आदि उदाहरणोंमें व्यक्तिके बिना जाति नहीं रह सकती है इसलिए अविनाभाव द्वारा जातिसे व्यक्तिका अध्याहार या आक्षेप कराया जाता है । व्यक्तिका बोध लक्षणासे नहीं होता है । अतः इसको उपादान-लक्षणाके उदाहरण रूपमें प्रस्तुत करना उचित नहीं है ।

मुकुलभट्टका दूसरा उदाहरण, उसका खण्डन—

मुकुलभट्टने इसी प्रकार 'उपादान-लक्षणा'का दूसरा उदाहरण 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यह दिया है । इस उदाहरणमें विशेषता यह है कि यह 'पद-लक्षणा'के बजाय 'वाक्य-लक्षणा'का उदाहरण है; मीमांसक लोग 'अर्थवाद' वाक्योंकी 'प्राशस्त्य'में लक्षणा मानकर वाक्यमें भी लक्षणा स्वीकार करते हैं । 'गौरनुबन्ध्यः' इस उदाहरणमें गोपदमें लक्षणा थी तो यहाँ पूरे वाक्यमें लक्षणा है, इस दृष्टिसे यह उदाहरण दिया गया है । इस उदाहरणमें लक्षणाका खण्डन करते हुए ग्रन्थकारने रात्रिभोजनको 'श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थार्थापत्ति'का विषय बतलाया है । अर्थात् यहाँ रात्रि-भोजनका ज्ञान लक्षणासे नहीं अपितु अर्थापत्तिप्रमाणसे होता है इसलिए यह भी उपादान-लक्षणाका उदाहरण नहीं हो सकता है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते, श्रुतार्थापत्तेरर्थार्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात् ।

'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा ।

उभयरूपा चेयं शुद्धा । उपचारेणामिश्रितत्वात् ।

अर्थापत्ति लक्षणा नहीं—

मीमांसक लोग प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंके समान अर्थापत्तिको भी अलग प्रमाण मानते हैं । और उसका लक्षण "अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनं अर्थापत्तिः" इस प्रकार करते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि किसी अनुपपद्यमान अर्थको देखकर उसके उपपादक अर्थकी कल्पना जिस प्रमाणके द्वारा की जाती है उसको 'अर्थापत्ति' कहते हैं । जैसे 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यहाँ 'देवदत्त मोटा है 'यह अनुपपद्यमान अर्थ है और 'रात्रिभोजन' उसका उपपादकीभूत अर्थ है । यदि देवदत्त दिनमें न खाय और रात्रिमें भी न खाय तो वह मोटा नहीं हो सकता है । दिनमें न खानेवाला व्यक्ति रात्रिभोजनके बिना पीन नहीं हो सकता है । इसलिए यहाँ अनुपपद्यमान अर्थ दिवा अभुञ्जानके पीनत्वको देखकर उसके उपपादक रात्रिभोजनकी कल्पना अर्थापत्तिके द्वारा होती है ।

यह अर्थापत्ति दो प्रकारकी होती है । एक दृष्टार्थापत्ति और दूसरी श्रुतार्थापत्ति । जहाँ अनुपपद्यमान अर्थको स्वयं आँखोंसे देखकर उसके उपपादक अर्थकी कल्पना की जाती है वह दृष्टार्थापत्ति कहलाती है । और जहाँ किसी अन्यके मुखसे अनुपपद्यमान अर्थको सुनकर उसके उपपादक अर्थकी कल्पना की जाती है वह श्रुतार्थापत्ति कहलाती है । 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' यही दोनों प्रकारकी अर्थापत्तियोंका उदाहरण बन सकता है ।

यहाँ ग्रन्थकारने दृष्टार्थापत्तिके स्थानपर अर्थार्थापत्ति शब्दका प्रयोग किया है । यह प्रयोग पूर्वोक्त अर्थाध्याहारवादकी दृष्टिसे किया गया है । श्रुतार्थापत्ति-पक्षमें यहाँ रात्रिभोजनका ज्ञान "रात्रौ भुंक्ते" इस शब्दके अध्याहारसे होता है । और अर्थार्थापत्ति-पक्षमें शब्दका अध्याहार न करके साक्षात् रात्रिभोजनरूप अर्थका आक्षेपसे ज्ञान होता है । इस प्रकार इन दोनों मीमांसक सिद्धान्तोंकी दृष्टिसे ही यहाँ ग्रन्थकारने श्रुतार्थापत्ति तथा अर्थार्थापत्ति शब्दोंका प्रयोग किया है ।

और 'देवदत्त मोटा हो रहा है परन्तु दिनमें नहीं खाता है' यहाँ रात्रि-भोजन लक्षणासे उपस्थित नहीं होता है । क्योंकि वह श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थार्थापत्तिसे सिद्ध होता है ।

लक्षणलक्षणाका उदाहरण—

इस प्रकार मुकुलभट्ट द्वारा प्रस्तुत किये गये उपादान-लक्षणाके दोनों उदाहरणोंका खण्डन ग्रन्थकारने यहाँतक कर दिया है । अपने मतके अनुसार उपादान-लक्षणाके 'कुन्ताः प्रविशन्ति' आदि उदाहरण वे पहिले ही दे चुके हैं । इसलिए अब क्रम-प्राप्त 'लक्षण-लक्षणा'का 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण देते हैं । 'लक्षण-लक्षणा'का यही उदाहरण मुकुलभट्टने भी दिया है ।

'गङ्गायां घोषः' इसमें [वाक्यके भीतर प्रयुक्त हुए] घोषके अधिकरणत्वकी सिद्धिके लिए 'गङ्गा' शब्द अपने [जल-प्रवाहरूप मुख्य] अर्थका परित्याग कर देता है इसलिए इस प्रकारके उदाहरणोंमें यह 'लक्षण-लक्षणा' होती है ।

यह दोनों प्रकारकी [लक्षणा] उपचारसे मिश्रित न होनेके कारण शुद्धा है ।

'गङ्गायां घोषः' उदाहरणका विश्लेषण—

लक्षण-लक्षणाका दूसरा नाम जो वेदान्त-शास्त्रमें मुख्यतः प्रयुक्त होता है, 'जहत्स्वार्था लक्षणा' भी है। 'जहत्स्वार्था' तथा 'लक्षण-लक्षणा' दोनों ही नामोंका अभिप्राय यह है कि यहाँ लक्षक पद, दूसरे पदोंके अन्वयकी सिद्धिके लिए अपने मुख्यार्थका परित्याग कर देता है। इस 'जहत्स्वार्था' या लक्षित-लक्षणा-के अनेक उदाहरणोंमें 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है। मुकुलभट्टने भी यह उदाहरण दिया है। और काव्यप्रकाशकी अपेक्षा अधिक विस्तारसे कई बार उन्होंने इस उदाहरणके अर्थका विवेचन किया है। इस उदाहरणमें 'लक्षित-लक्षणा'के लक्षणका समन्वय करते हुए उन्होंने लिखा है—

"यत्र तु पूर्वोदितोपादानरूपविपर्याससंश्रयात्, न स्वार्थसिध्यर्थतया अर्थान्तरस्याक्षेपः अपितु अर्थान्तरसिद्धयर्थत्वेन स्वसमर्पणं, तत्र लक्षणम् यथा पूर्वमुदाहृतं 'गङ्गायां घोषः' इति। अत्र हि तटस्य घोषाधारतया धारणक्रियान्वितस्य गङ्गाशब्देन स्वसमर्पणं क्रियते। अतो अर्थान्तरभूतं तटमवगमयितुं गङ्गाशब्देन स्ववाच्यभूतः स्रोतोविशेषोऽत्र समर्प्यते, इति अर्थान्तरसिद्धयर्थत्वेन स्वसमर्पणम्। एवं चात्र पूर्वोदितोपादनरूपविपर्यासाल्लक्षणत्वम्।" [पृ० ७]

इसका यह अभिप्राय हुआ कि तटके घोषका आधार होनेके कारण उस अर्थान्तर तटके अन्वय-की सिद्धिके लिए गङ्गाशब्द अपने अर्थको छोड़ देता है और तटका लक्षणासे बोध कराता है। अतः यहाँ लक्षण-लक्षणा है। इसीका अनुवाद काव्यप्रकाशकारने 'तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गा शब्दः स्वार्थमपर्यति' इन शब्दोंमें कर दिया है।

परन्तु इस उदाहरणमें यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती है कि लक्षणा करनेके बाद यहाँ केवल 'तटे घोषः' इतना ही अर्थ प्रतीत होता है अथवा गङ्गा अर्थका सम्बन्ध भी तटके साथ जुड़ा रहता है और 'गङ्गातटे घोषः' यह अर्थ प्रतीत होता है। मुकुलभट्टने आगे चलकर 'तटस्थे लक्षणा शुद्धा' इत्यादि पञ्चम कारिकाकी व्याख्यामें इस प्रश्नपर कुछ प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है—

'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र घोषाधिकरणभूततटोपलक्षणाभिसन्धानेन गङ्गायां घोषो न वितस्तायामिति गङ्गाशब्दे प्रयुज्यमाने तटस्य स्रोतोविशेषणोपलक्षकत्वमात्रोपयुक्तत्वेन उपरागो न प्रतीयते। तटस्थत्वेनैव तस्य तटस्य प्रत्ययात्। [पृ० ९]

इसका अभिप्राय यह हुआ कि गङ्गा-शब्दसे जो तटरूप अर्थ उपस्थित होता है वह केवल तटरूप-से उपस्थित होता है। गङ्गासे उपरक्त या सम्बद्ध तटके रूपमें उपस्थित नहीं होता है। गङ्गा शब्दके प्रयोगसे केवल इतनी विशेषता हो जाती है कि वितस्ता नदीका तट नहीं उपस्थित होता है।

मुकुलभट्टका यह सिद्धान्त 'ताटस्थ्य-सिद्धान्त' है। मम्मटाचार्य अभी इसका खण्डन करेंगे। प्रकृतमें इस व्याख्यासे, जो शंका उपस्थित हुई थी उसका कुछ परोक्ष-सा समाधान तो होता है कि गङ्गा शब्द अपने मुख्यार्थको बिलकुल छोड़ देता है। परन्तु यह समाधान कुछ शाब्दिक-सा समाधान ही प्रतीत होता है; क्योंकि वह तट वितस्ता [झेलम] नदीका नहीं, गङ्गा नदीका ही है इस रूपमें भी गङ्गारूप लक्षक पदका तटरूप लक्ष्यार्थके साथ सम्बन्ध प्रतीत होता ही है। तब यह पद जहत्स्वार्था या 'लक्षण-लक्षणा'का उदाहरण कैसे हो सकता है यह एक समस्या बनी ही रहती है।

न्यायमें लक्षण-लक्षणाका उदाहरण—

न्यायके ग्रन्थोंमें परम्परा सम्बन्धसे होनेवाली लक्षणाको लक्षण-लक्षणा कहा गया है और उसका उदाहरण 'द्विरेफः' यह दिया गया है। 'द्विरेफ' पदका वाच्यार्थ दो रेफसे युक्त 'भ्रमर' पद होता है। 'भौंरा' अर्थ उससे 'लक्षित-लक्षणा' द्वारा बोधित होता है।

लक्षणलक्षणाका अधिक स्पष्ट उदाहरण—

मुकुलभट्टके मतमें तो फिर भी कुछ समाधान सा हो सकता है परन्तु काव्यप्रकाशकारके मतमें उतना भी आधार नहीं मिलता। क्योंकि उन्होंने आगे मुकुलभट्टके इस सिद्धान्तका खण्डन करके 'गङ्गात्वेन' या गङ्गाके साथ अभेद सम्बन्धसे ही तटकी उपस्थिति मानी है। उस अवस्थामें गङ्गा शब्द अपने अर्थको छोड़कर केवल तटका बोध कराता है। यह बात और भी दुरूह-सी हो जाती है और साधारण विद्यार्थीकी बुद्धिमें नहीं बैठती है। इसलिए इस प्रकारका कोई दूसरा उदाहरण ऐसा होना चाहिये जिसमें यह स्पष्ट रूपसे प्रतीत हो सके कि यहाँ शब्द अपने मुख्यार्थको छोड़कर केवल लक्ष्यार्थका ही बोध करा रहा है। काव्यप्रकाशकारने आगे चतुर्थ उल्लासके आरम्भमें सू० २९ में लक्षणा-मूल ध्वनिके 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' नामक भेदका जो उदाहरण दिया है वह इस दृष्टिसे 'लक्षित-लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था लक्षणा'का बहुत सुन्दर उदाहरण हो सकता है। वह उदाहरण निम्न प्रकार है—

'[1]उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते, सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे, सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥

किसी अत्यन्त अपकार करनेवाले व्यक्तिके प्रति उसके अपकारसे पीड़ित व्यक्तिकी यह उक्ति है। इसमें 'आपने बड़ा उपकार किया' यह 'उपकृतं' शब्दका मुख्यार्थ बाधित होता है। इसलिए उपकृत शब्द अपने अर्थको छोड़कर 'अपकृतं' अर्थको 'लक्षित-लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था लक्षणा' से बोधित करता है। इसी प्रकार 'सुजनता', 'सखे', 'सुखितमास्व' आदि शब्द भी अपने अर्थोंको छोड़कर अपनेसे विपरीत 'दुर्जनता', 'शत्रो', 'सद्यः म्रियस्व' आदि अर्थोंको लक्षणासे बोधित करते हैं। और अपकारातिशय व्यङ्ग्य होता है। इस प्रकार 'लक्षण-लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था लक्षणा' का यह उदाहरण बिलकुल स्पष्ट है। *'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण उतना स्पष्ट नहीं है।*

शुद्धा तथा गौणी लक्षणाविषयक मम्मटमत—

इस प्रकार उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणाके नामसे जो दो प्रकारकी लक्षणा दिखलायी गयी है इसे मम्मट तथा मुकुलभट्ट दोनोंने शुद्धा लक्षणा माना है। शुद्धासे भिन्न लक्षणाका दूसरा भेद गौणी-लक्षणा नामसे कहा जाता है। इन शुद्धा तथा गौणी-लक्षणाओंका परस्पर-भेदक धर्म क्या है इसके विषयमें भी मुकुलभट्ट तथा मम्मटका मतभेद है। जैसा कि ऊपरकी मूल-ग्रन्थकी पंक्तिसे प्रतीत होता है, मम्मटाचार्य 'उपचार'को 'शुद्धा' तथा 'गौणी'का भेदक धर्म मानते हैं। 'उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेण अमिश्रितत्वात्' इस पंक्तिसे विदित होता है कि मम्मटके मतमें उपचारसे रहित लक्षणा 'शुद्धा' तथा उपचारसे युक्त लक्षणा 'गौणी' कही जाती है। उपचारका लक्षण 'उपचारो हि नाम अत्यन्तं विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगन-मात्रम्' यह किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि अत्यन्त भिन्न दो पदार्थोंमें अतिशय सादृश्यके कारण उनके भेदकी प्रतीतिका न होना 'उपचार' कहलाता है। जैसे किसी पुरुष या बालकमें शौर्य-क्रौर्य आदिके सादृश्यातिशयके कारण 'सिंहो माणवकः' 'यह बच्चा शेर है' आदि प्रयोग उपचार-मूलक होते हैं; इसलिए गौण प्रयोग कहे जाते हैं। इन सबमें गौणी-लक्षणा होती है। और जहाँ सादृश्य सम्बन्धके अतिरिक्त सामीप्य आदि रूप कोई अन्य सम्बन्ध लक्षणाका प्रयोजक होता है वहाँ शुद्धा-लक्षणा होती है। इस प्रकार मम्मटाचार्यने उपचारके अमिश्रण तथा मिश्रणको शुद्धा तथा गौणी-लक्षणा का भेदक धर्म माना है।

1. सुभाषितावलीमें यह पद्य रविगुप्तके नामसे दिया गया है।

शुद्धा तथा गौणीविषयक मुकुलभट्टका मत—

परन्तु मुकुलभट्टका मत इससे भिन्न है। वे 'उपचार'को 'शुद्धा' तथा 'गौणी'का भेदक धर्म नहीं मानते हैं। उनके मतमें उपचारका मिश्रण शुद्धामें भी होता है और गौणीमें भी। इसलिए उन्होंने 'शुद्धोपचार' तथा 'गौणोपचार' भेदसे उपचारमिश्रालक्षणाके दो भेद करके फिर उनके 'सारोपा' तथा 'साध्यवसाना' दो भेद किये हैं। इस प्रकार उपचारमिश्रा लक्षणाके चार भेद तथा शुद्धा लक्षणाके उपादान-लक्षणा एवं लक्षण-लक्षणा दो भेद कुल मिलाकर लक्षणाके छः भेद किये हैं।

[1]'द्विविध उपचारः शुद्धो गौणश्च। तत्र शुद्धो यत्र मूलभूतस्योपमानोपमेयभावस्याभावेनोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणासम्भवात् कार्यकारणभावादिसम्बन्धाल्लक्षणया वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते। यथा 'आयुर्घृतम्' इति। अत्र ह्यायुषः कारणे घृते तद्गतकार्यकारणभावलक्षणापूर्वकत्वेनायुष्ट्वकार्यं तच्छब्दश्चेत्युभयमुपचरितम्। तस्माच्छुद्धोऽयमुपचारः'।

गौणः पुनरुपचारो यत्र मूलभूतोपमानोपमेयभावसमाश्रयेणोपमानगत-गुणसदृशगुणयोगलक्षणां पुरःसरीकृत्योपमेये उपमानशब्दस्तदर्थश्चाध्यारोप्यते। स हि गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणशब्देनाभिधीयते। यथा 'गौर्वाहीकः' इति। अत्र हि गोगतजाड्य-मान्द्यादिगुणसदृशजाड्यमान्द्यादियोगाद् वाहीके गोशब्द-गोत्वयोरुपचारः।

केचित्तु उपचारे शब्दोपचारमेव मन्यन्ते नार्थोपचारम्। तदयुक्तम्। शब्दोपचारस्यार्थोपचाराविनाभावित्वात्। एवमयमुपचारः शुद्ध-गौणभेदेन द्विविधोऽभिहितः।

इस प्रकार मुकुलभट्टने उपचारके शुद्धोपचार तथा गौणोपचार रूपसे दो भेद किये हैं। उनके यहाँ उपचारका अर्थ अन्यके लिए अन्य शब्दका प्रयोग है। जहाँ अन्यके लिए अन्यके वाचक शब्दका प्रयोग सादृश्यके कारण होता है वहाँ 'गौण उपचार' होता है और जहाँ सादृश्यसे भिन्न कार्यकारण-भाव आदिके कारण अन्यके लिए अन्य शब्दका प्रयोग होता है वहाँ 'शुद्धोपचार' होता है। जैसे 'आयुर्घृतम्' इस उदाहरणमें आयुके कारणभूत घृतके लिए आयु शब्दका प्रयोग किया गया है यह शुद्धोपचारका उदाहरण है। और 'गौर्वाहीकः'में वाहीकदेशवासी पुरुषमें गौके सदृश जाड्य-मान्द्य आदि गुणोंका योग होनेसे गौ शब्दका प्रयोग किया गया है। यह वाहीकके लिए गौ-शब्दका प्रयोग गुणोंके सादृश्यके कारण होनेसे 'गौण' उपचार कहलाता है। इस प्रकार उपचारके भी शुद्ध और गौण रूप होनेसे उपचारको शुद्धा तथा गौणीका भेदक नहीं माना जा सकता है।

इसलिए मुकुलभट्टने उपचारके स्थानपर 'ताटस्थ्य' अर्थात् लक्ष्यार्थ तथा लक्षकार्थके भेदको शुद्धा तथा गौणीका भेदक धर्म माना है। अर्थात् मुकुलभट्टके मतानुसार गौणी-लक्षणामें सादृश्यातिशयके कारण लक्ष्य तथा लक्षकका अभेद प्रतीत होता है जैसे 'गौर्वाहीकः' में गौ तथा वाहीक अर्थोंका अभेद प्रतीत होता है। तभी उन दोनों पदोंका समानाधिकरण-प्रयोग किया जाता है। परन्तु शुद्धा-लक्षणामें अर्थात् उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणामें लक्ष्य तथा लक्षकका अभेद नहीं अपितु भेद या 'ताटस्थ्य' होता है। उपादान-लक्षणाके 'कुन्ताः प्रविशन्ति' और लक्षण-लक्षणाके 'गङ्गायां घोषः' इन दोनों उदाहरणोंमें लक्ष्य तथा लक्षक अर्थोंका अभेद नहीं अपितु भेदरूप 'ताटस्थ्य' प्रतीत होता है। इसलिए मुकुलभट्टके सिद्धान्तमें— 'तटस्थे लक्षणा शुद्धा' शुद्धा लक्षणा तटस्थमें होती है। शुद्धा-लक्षणामें लक्ष्य और लक्षक अर्थोंका 'ताटस्थ्य' अर्थात् भेद प्रतीत होता है और गौणी लक्षणामें लक्ष्य-लक्षक अर्थोंका अभेद प्रतीत होता है। यह इन दोनोंका भेद है।

---

१. अभिधावृत्तिमातृका, पृ० ७–८।

अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम् । तटादीनां हि गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः । गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु 'गङ्गातटे घोषः' इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः ॥

[सू० १४]–सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।

आरोप्यमाणः आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते सा लक्षणा सारोपा ।

[सू० १५]–विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥११॥

विषयिणारोप्यमाणेनान्तःकृते निगीर्णे अन्यस्मिन्नारोपविषये सति साध्यवसाना स्यात् ।

मुकुलभट्टके 'ताटस्थ्य'-सिद्धान्तका निराकरण—

परन्तु मम्मटाचार्य इससे सहमत नहीं हैं । इसलिए अगले अनुच्छेदमें उन्होंने मुकुलभट्टके इस सिद्धान्तका खण्डन करते हुए लिखा है कि—

[शुद्धा-लक्षणाके उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा] इन दोनों भेदोंमें लक्ष्य [अर्थ] और लक्षक [अर्थ] का [अर्थात् गङ्गाके जल-प्रवाह रूप लक्षक अर्थ तथा तीर रूप लक्ष्यार्थका] भेद-प्रतीति रूप 'ताटस्थ्य' नहीं [माना जा सकता] है । [क्योंकि लक्ष्य रूप] तट आदि [अर्थों] के गङ्गा आदि शब्दोंसे प्रतिपादन करनेमें [तत्त्व अर्थात् गङ्गात्वकी अथवा लक्ष्य तथा लक्षक, तीर तथा जलप्रवाहके] अभेद-की प्रतीति होनेपर ही [शैत्य पावनत्वादि धर्मोंके अतिशय रूप] अभीष्ट प्रयोजनोंकी प्रतीति हो सकती है । [यदि तटमें तत्त्व अर्थात् गङ्गात्व अथवा गङ्गा शब्दके मुख्यार्थ जलप्रवाहके साथ अभेदकी प्रतीति न होकर] केवल गङ्गाका सम्बन्धमात्र प्रतीत होनेपर ['गङ्गायां घोषः' इस लाक्षणिक शब्दके स्थानपर] 'गङ्गाके किनारे घोष है' इस मुख्य शब्दसे कथन करनेसे लक्षणाका भेद होगा ।

शुद्धा तथा गौणी लक्षणाके दो-दो भेद—

इस प्रकार शुद्धाके उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा इन दो भेदोंके करनेके बाद अब ग्रन्थ-कार शुद्धा और गौणी दोनों लक्षणाके सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो-दो भेद करके चार भेद दिखलावेंगे और उन चारोंके साथ आदिके उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा इन दोनों भेदोंको जोड़कर लक्षणाके कुल छः भेद सिद्ध करेंगे । पहिले सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो भेद करते हैं—

[सू० १४] जहाँ आरोप्यमाण [उपमान] तथा आरोपविषय [उपमेय] दोनों शब्दतः कथित होते हैं वह दूसरी [गौणी] सारोपा-लक्षणा होती है ।

आरोप्यमाण [उपमान] तथा आरोप-विषय [उपमेय] जहाँ दोनों, स्वरूपका अपह्नव किये बिना [शब्दतः] सामानाधिकरण्यसे निर्दिष्ट किये जाते हैं वह सारोपा-लक्षणा होती है ।

[सू० १५]—और विषयी [अर्थात् आरोप्यमाण, उपमान] के द्वारा दूसरे [अर्थात् आरोप-विषय रूप उपमेय] का [अपने भीतर] अन्तर्भाव कर लिये जाने-पर वह साध्यवसानिका-लक्षणा हो जाती है । ११ ।

विषयी अर्थात् आरोप्यमाण [उपमेय] के द्वारा अन्य अर्थात् आरोपके विषय [उपमेय] के निगीर्ण कर लिये जानेपर साध्यवसाना लक्षणा होती है ।

**[सू० १६]–भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ ।**

इमौ आरोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ 'गौर्वाहीकः' इत्यत्र 'गौरयम्' इत्यत्र च । अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गो-शब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित् ।

सारोपा साध्यवसानाके शुद्धा गौणी दो भेद—

[सू० १६]—ये [सारोपा तथा साध्यवसाना रूप] दोनों भेदसादृश्यसे तथा [सादृश्यको छोड़कर] अन्य सम्बन्धसे [सम्पन्न] होनेपर [क्रमशः] गौण तथा शुद्ध [लक्षणाके] भेद समझने चाहिये ।

गौणी, सारोपा साध्यवसानाके उदाहरण—

ये सारोपा तथा साध्यवसाना रूप भेद सादृश्य-हेतुक होनेपर 'गौर्वाहीकः' 'वाहीक देशका वासी पुरुष गौ है' और 'यह गौ है' इनमें हैं । [और सादृश्य-मूलक होनेसे वे गौणी-लक्षणाके भेद कहलाते हैं] ।

यहाँ ग्रन्थकारने 'गौर्वाहीकः' यह सारोपा लक्षणाके और 'गौरयम्' यह साध्यवसाना-लक्षणाके उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया है । लक्षणाके अन्य उदाहरणोंके समान ये दोनों उदाहरण भी ग्रन्थकारने ''पुंयोगादाख्यायाम्'[1] सूत्रके महाभाष्यमेंसे उद्धृत किये हैं । वाहीक किसी देशका नाम था । ऐसा जान पड़ता है कि भारतकी उत्तरी सीमाके परे 'अपगान-स्थान' अफगानिस्तान आदि देश उन दिनों वाहीक नामसे व्यवहृत होते थे । अन्य लोग 'बहिर्भवो वाहीकः' इस व्युत्पत्तिके आधारपर शास्त्रीय आचारका पालन न करनेवालेको 'वाहीक' कहते हैं ।[2] 'बहिषष्टिलोपो यञ्च' 'ईकक् च' इन दो वार्तिकोंके द्वारा बहि शब्दकी टि भाग इकारका लोप और ईकक्-प्रत्यय करके बवयोरभेदः के सिद्धान्तके अनुसार ब-व का अभेद मानकर वाहीक शब्दको सिद्ध किया जाता है । इसलिए उसकी दोनों प्रकारकी व्याख्या की जा सकती है । यहाँ गौ आरोप्यमाण [उपमान] और वाहीक आरोपविषय [उपमेय] है । दोनोंका सामानाधिकरण्यसे शब्दतः प्रतिपादन इस वाक्यमें किया गया है । इसलिए दोनोंके स्वरूपके अनपह्नुत होनेके कारण यह सारोपा-लक्षणाका उदाहरण है । इसके विपरीत 'गौरयम्'में आरोपविषय वाहीकका शब्दतः उपादान नहीं किया गया है वह आरोप्यमाण गौके द्वारा निगीर्ण हो गया है । इसलिए वह साध्यवसाना-लक्षणाका उदाहरण है । सादृश्यमूलक होनेके कारण दोनों गौणी लक्षणाके उदाहरण हैं । 'गौरयम्'में 'अयम्' पदसे आरोपविषयका संकेत मिल जानेसे वह साध्यवसानाका ठीक उदाहरण नहीं बनता है । उसके स्थानपर 'गौर्जल्पति' उदाहरण अधिक अच्छा है ।

गौणी साध्यवसानाविषयक तीन मत—

'गौर्जल्पति' आदि गौणी साध्यवसानाके उदाहरणोंमें लक्षणा-वृत्तिसे बोध्य-लक्ष्य-अर्थ क्या है इस विषयमें मम्मटने तीन पक्षोंको निम्न रूपमें प्रस्तुत किया है—

१–यहाँ ['गौरयम्' आदि उदाहरणोंमें गो-शब्दके] अपने अर्थके सहचारी जाड्य, मान्द्य [मूर्खता, आलस्य] आदि गुण, लक्षणा द्वारा बोधित होकर भी गो शब्दके [द्वारा वाहीक रूप] दूसरे अर्थको अभिधासे बोधित करनेमें प्रवृत्ति-निमित्त बन जाते हैं यह कोई [विवेचक] मानते हैं ।

---

१. अष्टाध्यायी ४, १, ४८ । २. अष्टाध्यायी ४, १, ८५ पर वार्तिक ।

स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते न परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे ।

२—[गो-शब्दके] अपने अर्थके सहचारी [जाड्य मान्द्य आदि] गुणोंसे अभिन्न रूपमें वाहीक-गत गुण ही लक्षित होते हैं [परन्तु वे वाहीक अर्थके अभिधया बोधनमें प्रवृत्ति-निमित्त नहीं होते हैं] यह अन्य मानते हैं ।

३—[गौ तथा वाहीक दोनोंके] समानगुणोंके आश्रय रूपसे वाहीक अर्थ ही लक्षणासे उपस्थित होता है यह अन्य लोग [मुकुलभट्ट और मीमांसक] मानते हैं ।

'स्वीयाः' व्याख्याका विवेचन—

यहाँ ग्रन्थकारने तीन मतोंका उल्लेख किया है । परन्तु वे किन-किन आचार्यों या सम्प्रदायोंके मत हैं इसका कोई निर्देश नहीं किया है । और इन मतोंपर खण्डन-मण्डनात्मक अपनी कोई टिप्पणी भी नहीं दी है । परन्तु उनके टीकाकारोंने अन्तिम मतको उनका अपना मत कहा है । अन्तिम मतके साथ ग्रन्थकारने 'इत्यपरे' इस पदका प्रयोग किया है । टीकाकारोंने इस 'अपरे' पदका 'न परे इति अपरे' इस प्रकारका समास करके उसका अर्थ 'स्वीयाः' किया है । इस प्रकार इस मतको 'स्वीय' अर्थात् अपने लोगोंका मत टीकाकारोंने बतलाया है । परन्तु यह व्याख्या उचित प्रतीत नहीं होती है । जैसा पहिले कहा जा चुका है, मम्मट तथा अन्य साहित्य-शास्त्रियोंने अधिकांश दार्शनिक सिद्धान्त व्याकरण-शास्त्रसे ही लिये हैं । इसलिए उनके 'स्वीय' वैयाकरण ही हो सकते हैं । पर काव्यप्रकाश-कारने इस अन्तिम मतके समर्थनके लिए आगे 'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' आदि जो कारिका उद्धृत की है वह कुमारिलभट्टकी अर्थात् मीमांसकोंकी कारिका है । उसके यहाँ उद्धृत करनेसे यह स्पष्ट है कि यह मत मीमांसकोंका है । 'अपरे' पदकी 'स्वीयाः' व्याख्या करनेवालोंने भी 'स्वोक्तेऽर्थे पूर्वमीमांसकसम्मतिमाह' लिखकर इस मतका समर्थन मीमांसक मतके द्वारा कराया है । परन्तु जब मम्मट अन्य जगह वैयाकरणोंके सिद्धान्तका अनुसरण करते रहे हैं तो यहाँ उसको छोड़कर मीमांसक मतका अनुसरण क्यों कर रहे हैं इस बातकी सङ्गति नहीं लगती है । इसलिए 'अपरे'की 'स्वीयाः' व्याख्या करना ठीक नहीं जँचता है। अतः अन्तिम मतको मीमांसकोंका मत मानना चाहिये ।

मम्मटने अपने शक्तिविवेचनके प्रकरणमें मुकुलभट्टकी 'अभिधावृत्तिमातृका'का बहुत अधिक उपयोग किया है । उन्होंने पहिले मुकुलभट्टकी 'अभिधावृत्तिमातृका'का खण्डन करनेके लिए 'शब्द-व्यापारविचारः' नामक अपने एक छोटेसे प्रकरण-ग्रन्थकी रचना की थी जिसमें मुकुलभट्टके मतसे जिन अंशोंमें वे सहमत नहीं थे उनका खण्डन किया था । शेष जिन अंशोंमें उनका मतभेद नहीं था उनका मुकुलभट्टके आधारपर अपने ग्रन्थमें विवेचन कर दिया था । काव्यप्रकाशमें यह जो शक्तियोंके विवेचनका प्रकरण चल रहा है वह सब मम्मटके उसी 'शब्दव्यापारविचार'के आधारपर लिखा गया है । अधिकांश पंक्तियाँ ज्योंकी त्यों 'शब्दव्यापारविचार'से उद्धृत कर दी गयी हैं । इसलिए लक्षणाके इस विवेचनमें भी काव्यप्रकाशपर मुकुलभट्टकी छाया पड़ी है । ऊपर उपादानलक्षणाके मुकुलभट्ट द्वारा दिये गये दो उदाहरणोंका ग्रन्थकारने जो खण्डन किया है उससे भी यह प्रमाणित होता है कि इस प्रकरणके लिखते समय मुकुलभट्टका ग्रन्थ उनकी दृष्टिमें था । और उसकी छाया उनके इस विवेचनपर भी पड़ रही है। इसलिए यद्यपि उन्होंने यहाँ मुकुलभट्टका न नाम लिया है और न ठीक उनके शब्दोंमें उनके मतको उपस्थित किया है फिर भी यह उनके मतका ही उल्लेख प्रतीत होता है। परन्तु यहाँ मम्मटने उनके मतको अपना लिया है । अतः वह उनका भी मत बन गया है ।

मुकुलभट्टने इस विषयकी विवेचना करते हुए लिखा है।

"अत्र हि गोगतजाड्यमान्द्यादिसदृशजाड्यमान्द्यादियोगाद्वाहीके गोशब्द-गोत्वयोरुपचारः। केचित्तु शब्दोपचारमेव मन्यन्ते नार्थोपचारम्। तदयुक्तम्। शब्दोपचारस्यार्थोपचाराविनाभावित्वात्'।

इसका अर्थ यह हुआ कि गो-गत जाड्य मान्द्य आदि गुणोंके सदृश जाड्य मान्द्य आदि गुण वाहीकमें भी पाये जाते हैं इसलिए वाहीकमें 'गोशब्द' तथा गो शब्द के अर्थ 'गोत्व' दोनोंका उपचारसे प्रयोग होता है। कुछ लोग केवल गो शब्दका उपचार या आरोप वाहीकमें मानते हैं, उनका सिद्धान्त मुकुलभट्टकी दृष्टिमें उचित नहीं है; क्योंकि अर्थका आरोप किये बिना शब्दका आरोप नहीं किया जा सकता। इसलिए गोगत जाड्य मान्द्य आदि गुणोंके सदृश गुणोंका वाहीकमें योग होनेसे उसमें गो शब्द तथा गो-अर्थ 'गोत्व' दोनोंका आरोप होता है।

मुकुलभट्टकी इस पंक्ति तथा तीसरे मतका प्रतिपादन करनेवाली काव्यप्रकाशकी पंक्तिमें अत्यन्त समानता है। मुकुलभट्टके 'गोगतजाड्यमान्द्यादिसदृश-जाड्यमान्द्यादियोगात्' के स्थानपर मम्मटने 'साधारणगुणाश्रयत्वेन' पदका प्रयोग किया है और 'वाहीके गोशब्द-गोत्वयोरुपचारः' के स्थानपर 'परार्थ एव लक्ष्यते' इस वाक्यकी रचना की है। इन दोनों वाक्योंकी तुलना करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस पंक्तिमें मम्मट अपनी संक्षेप लेखनशैलीमें मुकुलभट्टके मतका ही अनुवाद कर रहे हैं।

जैसा कि 'गौरनुबन्ध्यः' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इन उदाहरणोंके विवेचनके प्रसङ्गमें दिखलाया जा चुका है, मुकुलभट्टने अपने विषयके प्रतिपादनमें प्रायः मीमांसासे सहायता ली है। मम्मट आदिने जहाँ अपने विवेचनमें उदाहरण आदि वैयाकरणोंसे लिये हैं और उन्हींके मतको अपनाया है वहाँ मुकुलभट्टने अपने विवेचनमें प्रायः मीमांसकोंके सिद्धान्तों तथा उदाहरण आदिको अपनाया है। इस दृष्टिसे विचार किया जाय तो भी काव्यप्रकाशमें जो मीमांसकाभिमत दिया है वह मुकुलभट्टका ही मत होना चाहिये। उसकी सङ्गति भी मुकुलभट्टके विवेचनके साथ मिल जाती है। क्योंकि यहीं नहीं अपितु गौण उपचारका निरूपण करते हुए मुकुलभट्टने जो लिखा है उसकी छाया भी काव्यप्रकाशकी इस पंक्तिपर स्पष्ट दिखलाई देती है—

'गौणः पुनरुपचारो यत्र मूलभूतोपमानोपमेयभावसमाश्रयेणोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणां पुरःसरीकृत्योपमेये उपमानशब्दस्तदर्थश्चाध्यारोप्यते। स हि गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणशब्देनाभिधीयते। यथा 'गौर्वाहीकः' इति।

इसमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो 'सदृशगुणयोगलक्षणां पुरःसरीकृत्य' शब्दका प्रयोग और दूसरा 'गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणी' इस व्युत्पत्तिका प्रदर्शन। मम्मटने तीसरे मतके प्रदर्शनमें 'साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यते' यह जो लिखा है उसका 'सदृशगुणयोगलक्षणां पुरःसरीकृत्य' के साथ अर्थसादृश्य पर्याप्त मात्रामें पाया जाता है। दूसरे इस मतके समर्थनमें जो कुमारिलभट्टकी कारिका मम्मटने उद्धृत की है उसके उत्तरार्द्ध 'लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता' के साथ मुकुलभट्टकी 'स हि गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणशब्देनाभिधीयते' इस पंक्तिकी पूर्णतः सङ्गति लगती है। इन सब कारणोंसे हमारे मतसे काव्यप्रकाशमें दिखलाया हुआ तीसरा मत मुकुलभट्टका मत है। और 'अपरे' की 'स्वीयाः' यह व्याख्या उचित नहीं है।

इस विषयमें मुकुलभट्टका मत मम्मटको अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है इसलिए वे उसके समर्थनमें 'श्लोक वार्तिक' से अगली कारिका उद्धृत करते हैं—

१–२. अभिधावृत्तिमातृका, पृ० ७–८।

उक्तं चान्यत्र—

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥

इति । अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रं न तु नान्तरीयकत्वम् । तत्त्वे हि 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादौ न लक्षणा स्यात् । अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धेर्लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम् ।

'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ च सादृश्यादन्यत् कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरम् । एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने ।

दूसरी जगह [अर्थात् कुमारिलभट्टके श्लोकवार्तिक नामक ग्रन्थमें] कहा भी है—

'मानान्तरविरुद्धे हि मुख्यार्थस्य परिग्रहे' यह इससे पहिला कारिका भाग है। उसका अर्थ है कि 'मुख्यार्थके अन्य प्रमाणोंसे बाधित होनेपर'। इस अंशको मिलाकर ही कारिकाको उद्धृत करना उचित था। क्योंकि उसके बिना अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है। उसको मिलाकर अर्थ इस प्रकार होगा कि—

[मुख्यार्थका अन्य प्रमाणोंसे बाध होनेपर] अभिधेय [मुख्यार्थ] से सम्बद्ध [अविनाभूत] अर्थकी प्रतीति [करानेवाली शक्ति] 'लक्षणा' कहलाती है। और लक्ष्यमाण [जाड्य मान्द्य आदि] गुणोंके [वाहीकमें रहने रूप] योगसे [इस लक्षणा] वृत्तिकी गौणता हो जाती है [अर्थात् 'गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणी' लक्षणा कहलाती है]।

[कारिकामें प्रयुक्त] 'अविनाभाव' शब्दसे यहाँ सम्बन्धमात्र समझना चाहिये नान्तरीयकत्व अर्थात् व्याप्ति नहीं। क्योंकि व्याप्ति या नान्तरीयकत्व अर्थ लेनेपर [तत्त्वे] 'मचान पुकारते हैं' इत्यादिमें [मञ्च पदकी मञ्चस्थ पुरुषके अर्थमें] लक्षणा नहीं होगी। और अविनाभाव [व्याप्ति] के द्वारा आक्षेप [अनुमान] से ही [लक्ष्यमाण अर्थके] सिद्ध हो जानेपर लक्षणाकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

इस अन्तिम मतके उपपादनमें जो अन्य मतोंकी अपेक्षा अधिक रुचि मम्मटने दिखलायी है, इससे यह प्रतीत होता है कि इस मतमें उनको विशेष सार दिखलाई देता है। इसलिए इस विषयमें उन्होंने मुकुलभट्टके मतको अपना लिया है। अर्थात् मुकुलभट्टका मत उनका अपना मत कहा जा सकता है; यदि वे उससे सहमत न होते तो उसका खण्डन अवश्य करते।

शुद्धा सारोपा-साध्यवसाना लक्षणाके उदाहरण—

इस प्रकार गौणी सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणाके उदाहरण देनेके बाद शुद्धा-सारोपा तथा शुद्धा साध्यवसाना लक्षणाके उदाहरण देते हैं।

'घी आयु है' अथवा 'यह [घी] आयु ही है' इत्यादिमें सादृश्यसे भिन्न कार्य-कारण-भाव आदि अन्य सम्बन्ध [लक्षणाके प्रयोजक] हैं। इस प्रकारके उदाहरणोंमें कार्य-कारणभाव [मूलक] लक्षणा पूर्वक आरोप तथा अध्यवसान होते हैं। [अर्थात् 'आयुर्घृतम्' में आरोप्यमाण आयु तथा आरोप-विषय घृत दोनोंके अनपह्नुत-स्वरूप अर्थात् शब्दतः उपात्त होनेसे शुद्धा-सारोपा तथा 'आयुरेवेदम्' में आरोप विषय घृतके शब्दतः उपात्त न होने अर्थात् अपह्नुत-स्वरूप होनेसे साध्यवसाना-लक्षणा होती है]।

'आयुरेवेदम्' में 'इदं' सर्वनामसे आरोपविषयका संकेत हो ही जाता है। अतः वह 'साध्यवसाना'का ठीक उदाहरण नहीं बनता है। 'आयुः पिबामि' यह अधिक अच्छा उदाहरण है।

अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाभेदावगमश्च प्रयोजनम् ।

शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि ।

क्वचित्तादर्थ्यादुपचारः, यथा इन्द्रार्था स्थूणा 'इन्द्रः' । क्वचित् स्व-स्वामिभावात्, यथा राजकीयः पुरुषो 'राजा' । क्वचिदवयवावयविभावात्, यथा 'अग्रहस्त' इत्यत्राग्रमात्रेऽवयवे 'हस्तः' । क्वचित् तात्कर्म्यात्, यथा अतक्षा 'तक्षा' ।

[सू० १७]—**लक्षणा तेन षड्विधा ॥१२॥**

आद्यभेदाभ्यां सह ॥

यहाँ [इन चारों उदाहरणोंमेंसे 'गौर्वाहीकः' तथा 'गौरयम्'] गौणीके दोनों भेदोंमें [आरोप्यमाण गौ तथा आरोप विषय वाहीकका] भेद होनेपर भी [उन दोनोंके] तादात्म्यकी प्रतीति [लक्षणासे होती है] और [उन दोनोंके] सर्वथा अभेदका बोधन करना [उस गौणी लक्षणाका] प्रयोजन है ।

शुद्धा-लक्षणाके ['आयुर्घृतम्' तथा 'आयुरेवेदम्' आदि सारोपा तथा साध्यवसाना] दोनों भेदोंमें अन्योंसे भिन्न प्रकार [अर्थात् अति प्रबलता] से तथा नियमसे [अवश्य ही आयु आदि रूप] कार्य-कारित्वादि [लक्षणा का प्रयोजन] है ।

सादृश्यसे भिन्न सम्बन्ध होनेपर शुद्धा लक्षणा होती है यह बात अभी कही थी और उस शुद्धा-लक्षणाके दो उदाहरण भी दिये थे । उसी प्रकारके कुछ और भी उदाहरण आगे दिखलाते हैं, जिनमें सादृश्य-सम्बन्धसे भिन्न सम्बन्ध लक्षणाके प्रयोजक हैं । अत एव वे सब शुद्धा-लक्षणाके उदाहरण हैं ।

कहीं तादर्थ्य [उसके लिए होने] से उपचार [अन्यके लिए अन्यके वाचक शब्दका प्रयोग] होता है, जैसे [यज्ञमें] इन्द्रके [पूजनके] लिए बनाई हुई स्थूणा [भी तादर्थ्य सम्बन्धसे] 'इन्द्र' [कहलाती] है ।

कहीं स्व-स्वामिभाव सम्बन्धसे [अन्य शब्दका अन्यत्र प्रयोग होता है] जैसे राजाका [विशेष कृपा-पात्र] पुरुष [भी] 'राजा' [कहलाता] है ।

कहीं अवयवावयविभावसे [औपचारिक प्रयोग होता है] जैसे—'अग्रहस्त' यहाँ [हाथके] केवल आगेके भागके लिए 'हाथ' [शब्दका प्रयोग होता] है ।

कहीं 'उस कर्मके करनेके कारण' [तात्कर्म्य सम्बन्ध] से [औपचारिक शब्द का प्रयोग होता है] जैसे [बढ़ईका काम करनेवाले] अतक्षा [बढ़ईसे भिन्न ब्राह्मण आदिके लिए] बढ़ई [तक्षा शब्दका प्रयोग तात्कर्म्य सम्बन्धसे होता है] ।

[सूत्र १७] इसलिए लक्षणा छ प्रकारकी हुई ॥१२॥

आदिके [उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा रूप] दोनों भेदोंके साथ [शुद्धा तथा गौणी दोनोंमेंसे प्रत्येकके सारोपा तथा साध्यवसाना दो-दो भेद कुल चारों भेदोंको मिलाकर लक्षणाके छ भेद हो जाते हैं] ।

षड्विधा लक्षणाका रहस्य—

यहाँतक ग्रन्थकारने लक्षणाके छः भेदोंका निरूपण किया । हम पहले यह कह चुके हैं कि मम्मटने इस प्रसङ्गमें मुकुलभट्टके 'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रन्थका बहुत उपयोग किया है; इसकी पुष्टि मम्मटकी 'लक्षणा तेन षड्विधा' इस पंक्तिसे भी होती है । लक्षणाका यह छ प्रकारका विभाग मूलतः मुकुल-भट्टने किया है । मम्मटने भी उसीका अनुवाद करके यहाँ 'लक्षणा तेन षड्विधा' यह लिख दिया है ।

सा च–

[सू० १८]–**व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने ।**

प्रयोजनं हि व्यञ्जना-व्यापारगम्यमेव ।

[सू० १९]–**तच्च गूढमगूढं वा ।**

तच्चेति व्यङ्ग्यम् ।

साहित्यदर्पणमें लक्षणाके सोलह भेद—

साहित्यदर्पणकारने 'तेन षोडशभेदिता' लिखकर यहाँतक ही लक्षणाके छ भेदोंके स्थानपर सोलह भेद करके दिखला दिये हैं। ये सोलह भेद इस प्रकार होते हैं। पहिले रूढ़ि-लक्षणा तथा प्रयोजनवती-लक्षणा ये दो भेद हुए। फिर उन दोनोंके उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा भेदसे, दो-दो भेद होकर चार भेद हुए। फिर उन चारों भेदोंके सारोपा तथा साध्यवसाना रूपसे दो-दो भेद होकर कुल आठ भेद हुए। फिर उन आठों भेदोंके शुद्धा तथा गौणी भेदसे दो-दो भेद होकर कुल सोलह भेद हुए। इस प्रकार साहित्यदर्पणकारने यहाँतक लक्षणाके सोलह भेद कर दिये हैं। मम्मट और मुकुलभट्टने यहाँतक केवल छ भेद ही किये हैं। इस अन्तरका कारण यह कि मम्मट और मुकुलभट्ट दोनोंने 'उपादान-लक्षणा' और 'लक्षण-लक्षणा' ये दोनों भेद केवल 'शुद्धा' के माने हैं, 'गौणी' के नहीं। विश्वनाथने 'गौणी'के भी ये दोनों भेद माने हैं। उनको मम्मटके ६ भेदोंमें मिला देनेसे ८ भेद बन जाते हैं। विश्वनाथने इनके रूढ़ि तथा प्रयोजनसे दो भेद करके १६ भेद बनाये हैं। मम्मट और मुकुलभट्टने ये भेद नहीं किये हैं। इसलिए उनके यहाँ भेदोंकी संख्या केवल ६ रह गयी है।

लक्षणासे लक्षणामूला व्यञ्जनाकी ओर—

'गौर्वाहीकः' आदिके विवेचनमें जो तृतीय मत मम्मटने दिखलाया था वह मूलतः मुकुलभट्टका मत था परन्तु मम्मट भी उससे सहमत थे इसलिए उन्होंने उसे अपने मतके समान विस्तारपूर्वक और सप्रमाण उपपादन करनेका प्रयत्न किया है। यह बात हम पहिले लिख चुके हैं। वहाँसे यहाँतक मुकलभट्टके साथ उनका विशेष मतभेद नहीं है इसलिए उसी पद्धतिपर उन्होंने विषयका विवेचन किया है। परन्तु आगे उनका मुकुलभट्टके साथ मतभेद है। और वह मतभेद व्यञ्जनाके विषयमें है। मुकुलभट्ट व्यञ्जनाको अलग वृत्ति नहीं मानते हैं परन्तु काव्यप्रकाशकार इस विषयमें ध्वनिवादी आचार्योंके अनुयायी हैं। ध्वन्यालोककारने प्रयोजनवती लक्षणामें प्रयोजनको व्यञ्जनागम्य ही माना है। इसलिए मम्मट भी लक्षणाके विवेचनके साथ ही लक्षणा-मूला व्यञ्जनाका भी विवेचन करना चाहते हैं। अत एव यहाँसे आगे उनकी शैली मुकुलभट्टसे भिन्न हो जाती है। लक्षणा-मूला व्यञ्जनाके विवेचनकी भूमिका बाँधते हुए वे लिखते हैं—

और वह [लक्षणा]—

[सू० १८]–रूढ़ि [गतभेदों] में व्यङ्ग्यसे रहित तथा प्रयोजन [मूलक भेदों] में [व्यङ्ग्यके] सहित होती है।

क्योंकि प्रयोजन व्यञ्जना-व्यापारसे ही जाना जा सकता है। [प्रयोजनवती लक्षणामें व्यङ्ग्य प्रयोजन अवश्य रहता है। अत एव वह व्यङ्ग्य-सहित ही होती है]।

[सू० १९]–और वह [व्यङ्ग्य प्रयोजन कहीं] गूढ [दुर्ज्ञेय, सहृदयैकगम्य। और कहीं] अगूढ [स्पष्ट, सर्वजन-संवेद्य] होता है।

वह अर्थात् व्यङ्ग्य। [तत् सर्वनाम इस पूर्व-प्रयुक्त व्यङ्ग्य का परामर्शक है]।

गूढं यथा—

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः ।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥९॥

अगूढं यथा—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥१०॥

अत्रोपदिशतीति ।

गूढ [व्यङ्ग्यका उदाहरण है] जैसे—

मुखपर मुस्कराहट खिल रही है, बाँकपन दृष्टिका दास हो रहा है, चलने में हाव-भाव छलक रहे हैं, बुद्धि मर्यादाका अतिक्रमण कर [अत्यन्त तीव्र हो] रही है। छातीपर स्तनोंकी कलियाँ निकल रही हैं। जाँघे अवयवोंके बन्धसे उभर रही हैं। बड़ी प्रसन्नताकी बात है कि उस चन्द्रवदनीके शरीरमें यौवनका उभार किलोल कर रहा है ॥ ९ ॥

यहाँ मुखमें स्मित—मुस्कराहट—के खिलनेका वर्णन किया गया है। परन्तु विकास या खिलना तो फूलोंका धर्म है, मुखमें उसका सम्बन्ध लक्षणासे ही किया जा सकता है। उस लक्षणासे असंकुचितत्व रूप सम्बन्ध द्वारा स्मितका अतिशय लक्षित होता है और मुखसे सौरभ आदि व्यङ्ग्य है। चेतनके धर्म 'वशीकरण'के प्रेक्षितमें सम्बन्धसे वक्रभावकी स्वाधीनता लक्षित होती है और उसकी किसी अभिमत-विशेषकी ओर प्रवृत्ति व्यङ्ग्य होती है। किसी मूर्त द्रव पदार्थके धर्म 'छलकने'का गतिमें सम्बन्ध जोड़नेसे विभ्रमोंका बाहुल्य लक्षित होता है और सकल मनोहारित्व व्यङ्ग्य है। 'मर्यादाके त्याग' रूप चेतन-धर्मका मतिके साथ जो सम्बन्ध दिखलाया गया है उससे अधीरता लक्षित होती है और अनुरागातिशय व्यङ्ग्य है। 'मुकुलितत्व' रूप पुष्पके धर्मका स्तनके साथ सम्बन्ध दिखलानेसे स्तनोंका काठिन्य या उभार लक्षित होता है और आलिङ्गन-योग्यत्व व्यङ्ग्य है। उत्कृष्ट धुरात्व रूप 'उद्धुरत्व'के जंघाओंके साथ सम्बन्धसे रमणीयत्व लक्षित होता है और विलक्षण रति-योग्यत्व व्यङ्ग्य है। 'मोद'से उत्कर्ष लक्षित होता है और स्पृहणीयत्व व्यङ्ग्य है।

इस प्रकार इस श्लोकमें जो व्यङ्ग्य अर्थ है वह सर्वजन-संवेद्य नहीं है अपितु केवल सहृदयोंके ही समझने योग्य है अतएव उसको गूढ-व्यङ्ग्यके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है।

अगूढ [व्यङ्ग्यका उदाहरण] जैसे—

लक्ष्मीकी प्राप्ति हो जानेपर मूर्ख [मनुष्य] भी चतुरोंके व्यवहारको समझनेवाले हो जाते हैं। [अर्थान्तर-न्याससे इसका समर्थन करते हैं कि जैसे] यौवनका मद ही कामिनियोंको ललितोंका उपदेश कर देता है। ['अनाचार्योपदिष्टं हि स्याल्ललितं रतिचेष्टितम्' बिना सिखलाये रतिचेष्टाओंका ज्ञान 'ललित' कहलाता है] ॥१०॥

यहाँ 'उपदिशति' यह [पद अगूढ-व्यङ्ग्य है। क्योंकि शब्द द्वारा अज्ञातार्थका ज्ञापनरूप 'उपदेश' चेतनका धर्म है वह यौवन-मदमें सम्भव नहीं है। इसलिए उससे 'आविष्करोति' अर्थ लक्षित होता है]।

[सू० २०]–तदेषा कथिता त्रिधा ॥१३॥

अव्यङ्ग्या, गूढव्यङ्ग्या, अगूढव्यङ्ग्या च ।

[सू० २१]–तद्भूर्लाक्षणिकः ।

'शब्द' इति सम्बध्यते । तद्भूस्तदाश्रयः ।

[सू० २२]–तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

[सू० २०]–इस प्रकार यह [लक्षणा व्यङ्ग्यकी दृष्टिसे] तीन प्रकारकी कही जा सकती है ॥१३॥

१ [रूढिगत] व्यङ्ग्य-रहिता [लक्षणा], २ गूढव्यङ्ग्या तथा ३ अगूढव्यङ्ग्या ।

इस प्रकार यहाँतक लक्षणाके भेदोंका निरूपण करके पिछले प्रसङ्गके साथ इसकी सङ्गति दिखलानेके लिए इस उल्लासकी सबसे पहिली 'स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा' आदि सूत्र संख्या ५ का स्मरण दिलाते हैं। उस सूत्रमें वाचक, लाक्षणिक तथा व्यञ्जक तीन प्रकारके शब्दोंका निर्देश किया था। उनमेंसे वाचक शब्दका प्रतिपादन पहिले किया जा चुका है। लक्षणाका विवेचन हो जानेके बाद उस लक्षणाका आश्रयभूत शब्द 'लाक्षणिक-शब्द' कहलाता है। उसका लक्षण आगे करते हैं—

[सू० २१] उस [लक्षणा]का आश्रयभूत [शब्द] लाक्षणिक [शब्द कहलाता] है।

शब्द यह [पद इस उल्लासकी प्रथम कारिका सू० ५ से 'मण्डूक-प्लुति-न्याय' से यहाँ] सम्बद्ध होता है। तद्भू [का अर्थ] उस [लक्षणा] का आश्रय है।

[सू० २२] उस [व्यङ्ग्य रूप प्रयोजनके विषय] में [लाक्षणिक शब्दका लक्षणासे भिन्न] व्यञ्जनात्मक व्यापार होता है।

प्रयोजन-प्रतीतिमें व्यञ्जनाकी अपरिहार्यता—

मुकुलभट्टने अपनी दशम कारिकामें रूढि तथा प्रयोजनको लक्षणाका प्रयोजक हेतु माना है। 'रूढेः प्रयोजनाद्वापि व्यवहारे विलोक्यते' इस कारिका-भागकी व्याख्या करते हुए—

'अत्र च लक्षणायाः प्रयोजनं तटस्य गङ्गात्वैकार्थसमवेतासंविज्ञातपदपुण्यत्व-मनोहरत्वादिप्रतिपादनम्। न हि तत् पुण्यत्वमनोहरत्वादि स्वशब्दैः स्प्रष्टुं शक्यते।'[1]

यह लिख पुण्यत्व-मनोहरत्वादिके प्रतिपादनको लक्षणाका प्रयोजन माना है। और यह भी लिखा है कि उनकी प्रतीति स्व-शब्दसे अभिधा द्वारा नहीं हो सकती है। ध्वनिवादी आचार्य उस प्रयोजनकी प्रतीति व्यञ्जना द्वारा मानते हैं। परन्तु मुकुलभट्ट उस व्यञ्जनाको स्वीकार नहीं करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे उस प्रयोजनकी प्रतीति भी लक्षणा वृत्तिसे ही मानते हैं। यदि लक्षणा शक्तिसे ही प्रयोजनकी प्रतीति मानी जाय तो उसके दो रूप हो सकते हैं—एक तो यह कि उस प्रयोजनको लक्ष्यार्थ माना जाय और दूसरा पक्ष यह हो सकता है कि यदि प्रयोजन लक्ष्यार्थसे भिन्न है तो प्रयोजन-विशिष्ट तट आदिकी उपस्थिति लक्षणासे मानी जाय। मुकुलभट्टको इनमेंसे कौनसा पक्ष अभीष्ट है इसका कोई विवेचन उन्होंने अपने ग्रन्थमें नहीं किया है। फिर भी—

'अत्र हि गङ्गा-शब्दाभिधेयस्य स्रोतोविशेषस्य घोषाधिकरणत्वानुपपत्त्या मुख्यशब्दार्थबाधे सति योऽसौ समीप-समीपि-भावात्मकः सम्बन्धस्तदाश्रयेण तटं लक्षयति'[2]।

---

१. अभिधावृत्ति मातृका, पृ० १७ ।

२. अभिवृत्तिमातृका, पृ० १७ ।

कुत इत्याह—

[सू० २३]—यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥१४॥
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ॥

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात् । न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः ।

तथाहि—

[सू० २४]—नाभिधा समयाभावात् ।

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादि-शब्दाः संकेतिताः ।

इस लेखसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह तटको लक्ष्यार्थ मानते हैं। इसलिए प्रयोजनको लक्ष्यार्थ माननेकी सम्भावना नहीं रहती है। उस दशामें व्यञ्जनाका आश्रय लिये बिना पुण्यत्व, मनोहरत्व आदि प्रयोजनोंकी गङ्गा-शब्दसे प्रतीति होनेका केवल एक ही मार्ग शेष रह जाता है कि प्रयोजन विशिष्ट तटकी उपस्थिति लक्षणासे मानी जाय। यही सम्भवतः मुकुलभट्टका अभिप्राय भी है। परन्तु उन्होंने इसका स्पष्ट निर्देश नहीं किया है। इसलिए काव्यप्रकाशकारके लिए इस विषयमें सम्भावित दोनों मतोंकी आलोचना करना अनिवार्य हो गया है। इसीलिए उन्होंने अगली १६-१८ तक तीन कारिकाओंमें इन दोनों सम्भावित पक्षोंकी आलोचना की है। १६ वीं कारिका तथा १७ वीं कारिकाके पूर्वार्द्धमें उन्होंने प्रयोजनको लक्ष्यार्थ माननेकी सम्भावनाका निराकरण किया है। और १७वीं कारिकाके उत्तरार्द्ध तथा १८ वीं कारिकामें प्रयोजन-विशिष्ट तीरमें लक्षणा माननेका खण्डन किया है। इस खण्डनका अभिप्राय यह है कि जब मुकुलभट्ट प्रयोजनको लक्षणाका प्रयोजक मानते हैं तो उस प्रयोजनकी प्रतीति अभिधा या लक्षणासे होनेका कोई मार्ग न होनेके कारण उसकी प्रतीतिके लिए उन्हें व्यञ्जना भी अवश्य माननी चाहिये। इसी अभिप्रायसे ग्रन्थकार आगे लिखते हैं कि—

प्रयोजनकी वाच्यताका निराकरण—

[व्यञ्जना व्यापार ही] क्यों [होता है] यह कहते हैं—

[सू० २३]—जिस [प्रयोजन विशेष] की प्रतीति करानेके लिए [लक्षणा अर्थात्] लाक्षणिक शब्दका [वृत्तिमें 'लक्षणया शब्दप्रयोगः' इसप्रकारकी व्याख्या होनेसे यहाँ 'लक्षणा' शब्दका अर्थ 'लाक्षणिक शब्द' ही करना उचित है] का आश्रय लिया जाता है [अनुमान आदिसे नहीं अपितु] केवल शब्दसे गम्य उस फल [प्रयोजन] के विषयमें व्यञ्जनाके अतिरिक्त [शब्दका] और कोई व्यापार नहीं हो सकता है ॥१४॥

प्रयोजन-विशेषके प्रतिपादन करनेकी इच्छासे जहाँ लक्षणासे [लाक्षणिक] शब्द-का प्रयोग किया जाता है वहाँ [अनुमान आदि] अन्य किसी [साधन या उपाय] से उस [प्रयोजनरूप अर्थ] को प्रतीति नहीं होती है अपितु उसी शब्दसे होती है। और उस [के बोधन] में [शब्दका] व्यञ्जनाके अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं [होता] है।

[इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं] क्योंकि—

[सू० २४]—संकेतग्रह न होनेसे अभिधावृत्ति [प्रयोजनकी बोधिका] नहीं है।

'गङ्गायां घोषः' इत्यादिमें जो पावनत्व आदि धर्म तटमें प्रतीत होते हैं उनमें गङ्गा आदि शब्दोंका संकेतग्रह नहीं है। [अतः अभिधासे उसका ज्ञान नहीं हो सकता है]।

[सू० २५]—हेत्वभावान्न लक्षणा ॥१५॥
मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः ॥

प्रयोजनकी लक्ष्यताका निराकरण—

[सू० २५]—[लक्षणाके प्रयोजक मुख्यार्थबाध आदि] हेतुओंके न होनेसे लक्षणा [भी प्रयोजनकी बोधिका] नहीं हो सकती है।

मुख्यार्थका बाध [और उसके साथ-साथ २ मुख्यार्थसे सम्बन्ध तथा ३ रूढ़ि एवं प्रयोजनमेंसे कोई एक] आदि तीन [लक्षणाके] कारण हैं। [वे तीनों यहाँ नहीं पाये जाते हैं। अतः प्रयोजक सामग्रीके न होनेसे प्रयोजनका बोध लक्षणासे भी नहीं हो सकता है]।

लक्षणाके हेतुओंका अभाव—

२५वें सूत्रमें अभी कहा है कि प्रयोजनके बोधनमें मुख्यार्थ-बाध आदि लक्षणाके प्रयोजक हेतुओंमेंसे कोई भी हेतु नहीं है। इसलिए लक्षणासे उसका बोध नहीं हो सकता है। अगली कारिकामें इसी हेतुओंके अभावका उपपादन करेंगे। उसका आशय यह है कि गङ्गा पदसे तटरूप अर्थकी प्रतीति होनेके बाद जो शैत्य-पावनत्व आदि धर्मोंकी प्रतीति होती है, उसको यदि लक्ष्यार्थ माना जाय तो उससे पूर्व उपस्थित होनेवाला तटरूप अर्थ, मुख्यार्थ होना चाहिये। परन्तु वह लक्ष्यार्थ है, मुख्यार्थ नहीं हो सकता है। फिर यदि उसको कथञ्चित् मुख्यार्थ ही मान लिया जाय तो लक्षणा होनेके पूर्व उसका बाध होना चाहिये। वह बाध भी नहीं होता है क्योंकि तटपर घोष रहता ही है। इसलिए भी लक्षणा नहीं हो सकती है। इस प्रकार अगली कारिकाके 'लक्ष्यं न मुख्यं' 'नाप्यस्य बाधः' इस प्रथम चरणसे मुख्यार्थ-बाध रूप लक्षणाके प्रथम कारणका अभाव प्रदर्शित किया।

लक्षणाका दूसरा कारण लक्ष्यार्थका मुख्यार्थके साथ सम्बन्ध है। यदि शैत्य पावनत्व आदि धर्मोंको लक्ष्यार्थ माना जाय तो तटको मुख्यार्थ मानना होगा। उस दशामें मुख्यार्थ रूप तटके साथ लक्ष्यार्थरूप शैत्य-पावनत्व आदिका सम्बन्ध होना चाहिये। परन्तु शैत्य-पावनत्वका सम्बन्ध तो जल-प्रवाहके साथ है, तटके साथ नहीं, इसलिए मुख्यार्थके साथ सम्बन्ध रूप दूसरा हेतु भी नहीं है। यह बात अगली कारिकाके 'योगः फलेन नो' इस द्वितीय चरणके भागसे प्रतिपादित की है। उसका अभिप्राय यह है कि आपके मतानुसार लक्ष्यार्थरूपसे कल्पित किये जानेवाले शैत्य-पावनत्व आदि फलके साथ मुख्यार्थ-स्थानीय तटका सम्बन्ध भी नहीं है। इसलिए लक्षणाके दूसरे हेतुका भी अभाव होनेसे लक्षणा नहीं हो सकती है।

लक्षणाका प्रयोजक तीसरा कारण रूढि और प्रयोजनमेंसे किसी एककी स्थिति है। इन दोनोंमेंसे कोई भी यहाँ नहीं बन सकता है। शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजनको यदि लक्ष्यार्थ मानें तो फिर उसमें किसी अन्यको प्रयोजन मानना होगा, परन्तु इस फलमें और कोई प्रयोजन नहीं माना जा सकता है। और यदि माननेका आग्रह ही करेंगे तो फिर उस प्रयोजनका भी प्रयोजन, और फिर उसका भी प्रयोजन खोजना होगा इस प्रकार 'अनवस्था' होगी। अतः प्रयोजनका प्रयोजन मानना उचित नहीं है। और रूढिसे शैत्य-पावनत्व आदिका बोध तो हो ही नहीं सकता है। इसलिए रूढि और प्रयोजनमेंसे किसी एककी उपस्थितिरूप तृतीय कारणका भी अभाव होनेसे लक्षणा नहीं हो सकती है। यह बात कारिकाके उत्तरार्द्धके 'न प्रयोजनमेतस्मिन्' इस भागसे कही है। यह २६वीं कारिकाके आदिके तीन चरणोंका अभिप्राय है।

तथा च—

[सू० २६]—लक्ष्यं न मुख्यं, नाप्यत्र बाधो, योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥१६॥

यहाँतक तो कारिका क्लिष्ट होनेपर भी स्पष्ट है। परन्तु कारिकाका अन्तिम चरण और उसका वृत्तिभाग दोनों ही अत्यन्त अस्पष्ट हैं। जहाँ कारिका भागमें क्लिष्टता आ गयी थी उसकी वृत्ति लिखते समय वृत्तिकारको उस विषयका विस्तारके साथ स्पष्टीकरण करना चाहिये था, परन्तु दुर्भाग्यसे मम्मटने यह नहीं किया है। इस स्थलपर उनकी व्याख्या मूलसे भी अधिक क्लिष्ट हो गयी है। यहाँ उनकी स्थिति उन टीकाकारोंके समान हो गयी है जो स्पष्ट स्थलोंका तो खूब विस्तार करते हैं, परन्तु अस्पष्ट स्थलोंको शब्द-जालमें ही उड़ा देते हैं। 'न च शब्दः स्खलद्गतिः' इसकी व्याख्यामें 'नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः' यह जो पंक्ति मम्मटने लिखी है वह 'मघवा मूल विडौजा टीका'का उदाहरण बन रही है। उसका पाठ 'प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः' होना चाहिये या 'समर्थः' इसका निर्णय करनेमें भी टीकाकार चक्करमें पड़े हुए हैं। पता नहीं, इतना भ्रामक पाठ और इतनी अस्पष्ट वृत्ति मम्मटने इस स्थलपर क्यों लिखी है। क्या वे स्वयं अपनी लिखी पंक्तिकी भी स्पष्ट व्याख्या नहीं कर सकते थे। अस्तु। 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' के सिद्धान्तके अनुसार हमको इसकी गति सोचनी चाहिये।

इसका भाव यह है कि यदि प्रयोजनको लक्ष्यार्थ माना जाय तो उसके विषयमें शब्दका 'स्खलद्गति' होना आवश्यक है। अर्थात् मुख्यार्थबाध आदिके बाद ही उस अर्थका बोधन होना चाहिये। मुख्यार्थबाध आदि लक्षणाके प्रयोजक हेतुओंके बिना उस शब्दसे अर्थकी प्रतीति सम्भव न हो, तब उस अर्थको लक्ष्यार्थ कहा जा सकता है। जैसे गङ्गा शब्दका लक्ष्यार्थ तट है। मुख्यार्थबाध आदिके बिना गङ्गा शब्द तटका प्रतिपादन करनेमें असमर्थ है। इसलिए वह उस तटरूप अर्थके बोधनमें स्खलद्गति है। इसलिए उसको लक्षणासे बोधित करता है। परन्तु शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजनके विषयमें गङ्गा आदि लाक्षणिक शब्द 'स्खलद्गति' नहीं होते हैं। अर्थात् मुख्यार्थबाध आदिके बाद ही वे शैत्यादिका बोध नहीं कराते हैं। अपितु मुख्यार्थबाधके बाद तो वे तटका बोध कराते हैं। और शैत्य-पावनत्वादि धर्म तो बिना मुख्यार्थबाधके भी अविनाभूत होनेसे गङ्गा शब्दके अर्थके साथ स्वयं ही उपस्थित हो जाते हैं। इसलिए गङ्गा शब्द मुख्यार्थबाध आदिके बिना भी उस शैत्यादि अर्थके प्रतिपादनमें असमर्थ नहीं, समर्थ है। अतः वह उस अर्थके विषयमें 'स्खलद्गति' नहीं है। अतः शैत्य-पावनत्व आदि प्रयोजनोंका बोध लक्षणासे नहीं हो सकता है। उसके लिए व्यञ्जना-व्यापारके माननेके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इसी बातको अगली कारिकामें कहते हैं—

[सू० २६] [तट रूप] लक्ष्यार्थ मुख्य अर्थ नहीं है, न उसका यहाँ बाध होता है, और न उसका [शैत्यपावनत्वादि] फलके साथ सम्बन्ध है, और न इस [प्रयोजनको लक्ष्यार्थ मानने] में कोई प्रयोजन है। और न [प्रयोजनके विषयमें लाक्षणिक] शब्द स्खलद्गति [अर्थात् मुख्यार्थबाधादिके बिना प्रयोजनके प्रतिपादनमें असमर्थ या मुख्यार्थबाध आदिके बाद ही प्रयोजनके प्रतिपादनमें समर्थ] है ॥१६॥

'शब्द स्खलद्गति नहीं है'। इसका अभिप्राय यह है कि गङ्गा शब्द शैत्य-पावनत्वरूप प्रयोजनको बोधित करनेमें 'बाधितार्थ' नहीं है। बिना मुख्यार्थ बाधके भी वह शैत्य-पावनत्वको व्यक्त कर सकता है। मुख्यार्थके बाधा होनेपर वह शैत्य-पावनत्वको नहीं अपितु तटको ही बोधित करता है।

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, तद्वत् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत्। न च तटं मुख्योऽर्थः। नाप्यत्र बाधः, न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सम्बन्धः। नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम्। नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः ॥

[सू० २७]–**एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।**

एवं प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेण, तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृत् अनवस्था भवेत् ॥

जैसे गङ्गा शब्द ['गङ्गायां घोषः' इस उदाहरणमें घोषका आधार बननेके लिए] जलप्रवाह अर्थमें बाधित होता है इसलिए [लक्षणासे] तट [रूप लक्ष्यार्थ] का बोध कराता है, उसी प्रकार यदि तट [गङ्गा शब्दका मुख्यार्थ हो और उसमें घोषका आधार बननेकी योग्यताके न होनेसे उस] में भी बाधित हो, तब वह प्रयोजनको लक्षणासे बोधित कर सकता है : परन्तु न तो तट [गङ्गा शब्दका] मुख्य अर्थ है, और न उसका बाध होता है। [इसलिए मुख्यार्थबाध रूप प्रथम लक्षणा-हेतुका अभाव सिद्ध होता है। और यदि गङ्गा शब्दका मुख्यार्थ तट ही मान लिया जाय तो भी] गङ्गा शब्दके [उस कल्पित मुख्य] अर्थ तटका [जिनका आप लक्षणासे बोध कराना चाहते हैं उन] लक्षणीय पावनत्वादिके साथ सम्बन्ध भी नहीं है [पावनत्वादि आदि धर्मोंका सम्बन्ध तो जलकी धारासे है, तटसे नहीं। इसलिए मुख्यार्थके साथ लक्ष्यार्थका सम्बन्धरूप लक्षणाका जो दूसरा हेतु बतलाया गया है उसका भी यहाँ अभाव है। और तीसरा लक्षणाका हेतु, रूढ़ि तथा प्रयोजनमेंसे किसी एककी स्थितिका होना है। उसका भी खण्डन करते हैं कि] और न प्रयोजनका लक्ष्यार्थ माननेमें कोई अन्य प्रयोजन ही है [और उस प्रयोजनको इसलिए भी लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता है कि] गङ्गा शब्द तटके समान प्रयोजनको प्रतिपादन करनेमें असमर्थ [स्खलद्‌गति] भी नहीं है। [इसलिए भी प्रयोजनका बोध लक्षणासे नहीं हो सकता है] ॥१६॥

इस प्रकार प्रयोजनको लक्ष्यार्थ मानना सम्भव नहीं है यह बात इस सोलहवीं कारिकामें भली प्रकार सिद्ध कर दी गयी है। फिर भी यदि व्यञ्जना-विरोधी प्रयोजनको लक्ष्यार्थ ही मानना चाहें और उसके लिए प्रयोजनमें भी कोई अन्य प्रयोजन सिद्ध करनेका प्रयत्न करें तो भी यह उचित नहीं होगा, क्योंकि उस दशामें वह दूसरा प्रयोजन भी लक्ष्य होगा, इसलिए उसके लिए तीसरे प्रयोजनकी आवश्यकता होगी। फिर उस तीसरे प्रयोजनके लिए चौथे आदि प्रयोजनोंकी आवश्यकता होनेसे 'अनवस्था-दोष' होगा। यह अनवस्था दोष मूलका ही नाश कर देनेवाला होता है। इसलिए अनवस्था भयसे भी प्रयोजनको लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता है। इसी बातको आगे कहते हैं—

[सू० २७]—इस प्रकार भी अनवस्था दोष आ जावेगा जो मूलका ही नाश करनेवाला होता है।

इस प्रकार यदि प्रयोजन लक्षित होता है [यह माना जाय] तो वह अन्य प्रयोजनसे,और वह भी अन्य प्रयोजनसे [लक्षित मानना होगा] इस प्रकार [प्रयोजनकी अविश्रान्त परम्पराकी कल्पनाके कारण मूलभूत प्रथम प्रयोजन रूप] प्रस्तुत अर्थकी प्रतीतिमें भी बाधा डालनेवाली, [मूलक्षयकारिणी] अनवस्था होगी ॥

प्रयोजन-विशिष्टमें लक्षणाका निराकरण—

इस प्रकार यहाँतक ग्रन्थकारने यह सिद्ध किया है कि प्रयोजनका बोध लक्षणासे नहीं हो सकता है इसलिए उस प्रयोजनके बोधनके लिए व्यञ्जना-वृत्ति मानना आवश्यक है। परन्तु अभी विशिष्टमें लक्षणा माननेवाला दूसरा पक्ष शेष रह जाता है। विशिष्ट-लक्षणाका अर्थ यह है कि तट आदि लक्ष्यार्थके बोधके साथ ही साथ शैत्य पावनत्वादि प्रयोजनोंका भी बोध हो जाता है। अर्थात् लक्षणा केवल तटका नहीं अपितु शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन-विशिष्ट तटका बोध कराती है इसलिए उनके बोधके लिए लक्षणा-मूला व्यञ्जना माननेकी आवश्यकता नहीं है। इस विशिष्ट-लक्षणा-वादका खण्डन ग्रन्थकारने १७वीं कारिकाके उत्तरार्द्ध तथा १८वीं कारिकामें दिया है। इस प्रसङ्गमें उन्होंने विशिष्ट-लक्षणा-वादके खण्डनके लिए जो युक्ति दी है उसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानका विषय तथा ज्ञानका फल, ये दोनों अलग-अलग होते हैं। उनको एक साथ मिलाया नहीं जा सकता है। लक्षणाजन्य ज्ञानका विषय तट आदि है और उसका फल शैत्य-पावनत्व आदिका बोध है। इसलिए इन दोनोंको एक साथ न मिलाकर अलग अलग ही उनकी प्रतीति माननी होगी। क्योंकि विषय तथा फलमें कार्य-कारण-भाव होता है। ज्ञानका विषय ज्ञानका कारण होता है और ज्ञानका फल ज्ञानका कार्य होता है। इसलिए उनकी समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

ज्ञानका विषय और ज्ञानका फल दोनों अलग-अलग होते हैं। इस बातको सिद्ध करनेके लिए ग्रन्थकारने न्याय तथा मीमांसाकी दार्शनिक प्रक्रियाकी चर्चा की है। उस दार्शनिक सिद्धान्तको समझे बिना इस कारिकाका मौलिक रहस्य समझमें नहीं आ सकता है। इसलिए नैयायिक तथा मीमांसकोंके उस सिद्धान्तको जिसकी कि चर्चा यहाँ की गयी है, भली प्रकार समझ लेना आवश्यक है। घट, पट, आदि विषयोंका जो ज्ञान होता है उसका विषय घट, पट, आदि होते हैं; और वे ज्ञानके प्रति कारण होते हैं इसलिए उनकी सत्ता ज्ञानसे पहिले रहती है। सभी दार्शनिक इस सिद्धान्तको मानते हैं। परन्तु ज्ञानका फल क्या होता है इस विषयमें न्याय तथा मीमांसा दर्शनके सिद्धान्तोंमें मतभेद है।

न्यायका अनुव्यवसाय सिद्धान्त—

न्याय सिद्धान्तके अनुसार पहिले विषयसे उसका ज्ञान उत्पन्न होता है। घट या नील आदि विषयोंका ग्रहण तो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे हो जाता है। परन्तु ज्ञानका ज्ञान कैसे होता है इस प्रश्नके समाधानके लिए नैयायिक 'अनुव्यवसाय' की कल्पना करते हैं। अनुव्यवसायका अर्थ 'ज्ञानका ज्ञान' है। पहिले 'अयं घटः' इस प्रकारका ज्ञान होता है, उसके बाद 'घटज्ञानवानहम्' या 'घटमहं जानामि' इस प्रकारका ज्ञान होता है। इनमेंसे 'यह घट है' इस प्रकारका पहिला ज्ञान 'व्यवसायात्मक' ज्ञान कहलाता है। और उसके बादका 'मैं घटको जानता हूँ' या 'मुझे घटका ज्ञान है,' यह दूसरा ज्ञान 'अनुव्यवसाय' कहलाता है। 'अयं घटः' इस प्रथम ज्ञानका विषय घट होता है। और 'घटमहं जानामि' या 'घटज्ञानवानहम्' इस दूसरे ज्ञानका विषय 'घटज्ञान' है। जैसे पहिला 'व्यवसायात्मक-ज्ञान' अपने विषय घटसे उत्पन्न होता है इसी प्रकार दूसरा ज्ञान अपने विषय 'व्यवसायात्मक घटज्ञानसे उत्पन्न होता है, इसीलिए वह 'अनुव्यवसाय' कहलाता है। यह अनुव्यवसाय घटज्ञानका फल हुआ। अर्थात् घटज्ञानके विषय 'घट' से उस घटज्ञानका फल 'अनुव्यवसाय' भिन्न है। इसलिए विषय तथा ज्ञानके फलको अलग-अलग मानना होगा और उन दोनोंकी समकालीन उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है। यह न्यायके सिद्धान्तके अनुसार सिद्ध होता है।

ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते । 'गङ्गायास्तटे' घोष इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा । तत्किं व्यञ्जनयेत्याह–

[सू० २८]–**प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥१७॥**

मीमांसकोंका ज्ञातता सिद्धान्त—

मीमांसकोंका सिद्धान्त इससे थोड़ा भिन्न है । नैयायिकोंने 'अयं घटः' इस ज्ञानके होनेके बाद उससे 'घटज्ञानवानहम्' या 'घटमहं जानामि' इत्यादि रूप 'अनुव्यवसाय'की उत्पत्ति मानी है । परन्तु मीमांसक 'अनुव्यवसाय' के स्थानपर 'ज्ञातता' धर्मकी उत्पत्ति मानते हैं । उसका कहना यह है कि 'अयं घटः' इस प्रकारका ज्ञान होनेके बाद 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रकारकी प्रतीति होती है । इस प्रतीतिमें घटमें रहनेवाला 'ज्ञातता'नामक धर्म भासता है । यह धर्म ज्ञानसे पहिले घटमें नहीं था । ज्ञान होनेके बाद आया है इसलिए वह ज्ञानसे उत्पन्न हुआ है । ज्ञान उसका कारण है । कारणके बिना कार्य उत्पन्न नहीं होता इसलिए ज्ञानके बिना 'ज्ञातता' धर्म भी घटमें उत्पन्न नहीं हो सकता था । परन्तु 'ज्ञातता' धर्म घटमें उत्पन्न हुआ है और 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रतीतिमें भास रहा है इसलिए उसका कारण ज्ञान अवश्य होना चाहिये । इस प्रकार 'ज्ञातता'की 'अन्यथा अनुपपत्ति' होनेके कारण 'ज्ञातता'से ज्ञानका ग्रहण होता है, यह मीमांसकोंका सिद्धान्त है ।

अनुव्यवसाय और ज्ञातताका भेद—

नैयायिकोंके मतमें ज्ञानका ग्रहण 'अनुव्यवसाय'से होता है और मीमांसकोंके मतमें ज्ञानका ग्रहण 'ज्ञातता'से होता है । नैयायिकका 'अनुव्यवसाय' भी 'अयं घटः' इस ज्ञानसे उत्पन्न होता है और मीमांसकोंकी 'ज्ञातता' भी 'अयं घटः' इस ज्ञानसे ही उत्पन्न होती है । फिर उन दोनोंमें मौलिक अन्तर क्या है जिसके कारण इन दोनोंका अलग सिद्धान्त माना जाय । इस प्रश्नका उत्तर यह है कि नैयायिकका 'अनुव्यवसाय' आत्मामें रहनेवाला धर्म है और मीमांसककी 'ज्ञातता' घट आदि विषयमें रहनेवाला धर्म है । इस भेदके कारण इन दोनोंको अलग सिद्धान्त माना जाता है ।

प्रकृतमें इस सारी चर्चाका प्रयोजन यह है कि जब यह सिद्धान्त मान लिया जाता है कि ज्ञानका विषय और उसका फल अलग-अलग होते हैं तब लक्षणा-जन्य ज्ञानका विषय तट और उसका फल पुण्यत्व-मनोहरत्व या शैत्य-पावनात्वादि भी अलग-अलग मानने होंगे और उनकी उत्पत्ति समकालमें मानना सम्भव नहीं होगा । अत एव 'विशिष्ट-लक्षणा' का सिद्धान्त भी नहीं माना जा सकता है ।

इसी बातको अगली कारिकामें कहते हैं —

[पूर्व पक्ष] —अच्छा पावनत्व आदि धर्मसे युक्त ही तट लक्षणासे उपस्थित होता है [यह माना जाय तो क्या हानि है ?] और 'गङ्गाके तटपर घोष है' इससे अधिक [पावनत्वादि विशिष्ट तीर] अर्थकी प्रतीति [उस लक्षणाका] प्रयोजन है । इस प्रकार [पावनत्वादि] विशिष्टमें लक्षणा हो सकती है । तब व्यञ्जना [मानने] से क्या लाभ ? [अर्थात् विशिष्टमें लक्षणा मान लेनेसे ही काम चला जाता है तब अलग व्यञ्जना वृत्तिका मानना व्यर्थ है । [यह पूर्व पक्ष हुआ] इसका उत्तर [अगले सूत्रमें] कहते हैं—

[सूत्र २८]—प्रयोजनके सहित [अर्थात् शैत्य-पावनत्वादि विशिष्ट तीरको] लक्ष्यार्थ [लक्षणीय] मानना सङ्गत नहीं है ॥१७॥

कुत इत्याह—

[सू० २९]—**ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।**

प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः फलन्तु प्रकटता संवित्तिर्वा ।

[सू० ३०]—**विशिष्टे लक्षणा नैवं**

व्याख्यातम् ।

[सू० ३१]—**विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥१८॥**

तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधा-तात्पर्य-लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जन-ध्वनन-द्योतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम् ।

एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुक्तम् ॥१८॥

क्यों [असङ्गत है] यह बतलाते हैं—

[सू० २९]—क्योंकि ज्ञानका विषय [घट आदि] अलग और [ज्ञानका] फल [नैयायिकके मतमें 'अनुव्यवसाय' तथा मीमांसकके मतमें 'ज्ञातता'] अलग कहे गये हैं ।

[नैयायिक तथा मीमांसक—दोनों ही इस बातको स्वीकार करते हैं कि ज्ञानका विषय और उसका फल दोनों अलग-अलग होते हैं । दोनोंके मतमें ज्ञानका विषय तो समान है परन्तु फलके विषयमें भेद है] प्रत्यक्ष आदि [जन्य ज्ञान] का विषय नील आदि है । और फल [मीमांसकके मतमें प्रकटता अर्थात्] 'ज्ञातता' अथवा [नैयायिकके मतमें संवित्ति अर्थात्] 'अनुव्यवसाय' [होता] है ।

दोनों ही मतोंमें ज्ञानका विषय ज्ञानके फलसे भिन्न होता है । विषय ज्ञानका कारण होता है इसलिए उसकी स्थिति ज्ञानके पहिले रहती है, तथा फल ज्ञानका कार्य होता है इसलिए उसकी उत्पत्ति ज्ञानके बाद होती है । इसलिए लक्षणा-जन्य-ज्ञानके विषय 'तटादि' और उसके फल पुण्यत्व मनोहरत्व आदि या शैत्य-पावनत्वादिकी स्थिति भी अलग-अलग है । उन दोनोंकी समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती है । इस कारण प्रयोजनके सहित तट आदिको लक्ष्यार्थ मानना युक्तिसङ्गत नहीं है ।

[सू० ३०]—इस प्रकार विशिष्टमें लक्षणा नहीं हो सकती है ।

इसकी व्याख्या [पहिले ही] कर चुके हैं । [अर्थात् अब पंक्तिके अत्यन्त स्पष्ट होनेसे उसकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है] ।

[सू० ३१]—लक्षित अर्थमें विशेष हो सकते हैं । [अर्थात् पहिले लक्षणासे केवल तटकी उपस्थिति होनेके बाद लक्षणामूलक व्यञ्जनासे उस तटादि रूप लक्ष्य अर्थमें शैत्य-पावनत्व आदि प्रयोजनोंकी प्रतीति हो सकती है] ।१८।

तट आदि [रूप लक्ष्यार्थ] में जो पावनत्व आदि विशेष [प्रयोजनभूत धर्म प्रतीत होते] हैं वे अभिधा, [अभिहितान्वयवादी कुमारिलभट्ट आदि द्वारा स्वीकृत] तात्पर्या तथा लक्षणासे भिन्न व्यापारसे गम्य है और व्यञ्जन, ध्वनन, द्योतन आदि शब्दोंसे वाच्य वह [व्यञ्जना-व्यापार] अवश्य मानना चाहिये [उसके बिना प्रयोजन आदिका बोध नहीं हो सकता है] ।

इस प्रकार लक्षणामूला व्यञ्जनाका वर्णन [समाप्त] हुआ ॥१८॥

अभिधामूलं त्वाह—

[सू० ३२]—**अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।**
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥१९॥

"संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥"

इत्युक्तदिशा—

अभिधामूला [व्यञ्जना]—

इस प्रकार मीमांसकोंके व्यञ्जना विरोधीमतका खण्डन करके ग्रन्थकारने व्यञ्जनाको अलग वृत्ति माननेके सिद्धान्तका उपपादन किया । यह व्यञ्जना वृत्ति 'शाब्दी-व्यञ्जना' तथा 'आर्थी-व्यञ्जना' भेदसे दो प्रकारकी मानी गयी है । इनमेंसे शाब्दी-व्यञ्जनाके भी 'अभिधा-मूला' तथा 'लक्षणा-मूला' व्यञ्जना ये दो भेद किये गये हैं । लक्षणाके प्रसङ्गमें प्रयोजनके बोधके लिए व्यञ्जनाकी आवश्यकता अनुभव हुई इसलिए लक्षणामूला-व्यञ्जनाका निरूपण भी ग्रन्थकारने उसीके साथ कर दिया है । शाब्दी-व्यञ्जनाके दूसरे भेद अभिधामूला-व्यञ्जनाका निरूपण अगली कारिकामें करते हैं—

[सू० ३२]—संयोग आदिके द्वारा अनेकार्थक शब्दोंके वाचकत्वके [किसी एक अर्थमें] नियन्त्रित हो जानेपर [उससे भिन्न] अवाच्य अर्थकी प्रतीति करानेवाला [शब्दका] व्यापार व्यञ्जना [अर्थात् अभिधामूला-व्यञ्जना कहलाता] है ।१९।

एकार्थ नियामक हेतु—

अनेकार्थक शब्दका एक अर्थमें संयोगादिके द्वारा नियन्त्रण हो जानेपर भी उससे जो अन्य अर्थकी प्रतीति होती रहती है उस प्रतीतिका करानेवाला शब्द-व्यापार 'अभिधामूला-व्यञ्जना' नामसे कहा जाता है । यह अभिधामूला-व्यञ्जनाका लक्षण हुआ । अब यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि अनेकार्थक शब्दका एकार्थमें नियन्त्रण करनेवाले संयोगादिका क्या अभिप्राय है । इस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए ग्रन्थकारने अपने व्याकरणानुगत सिद्धान्तके अनुसार भर्तृहरि-प्रणीत व्याकरण-शास्त्रके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाक्यपदीय'से दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं । जिनका अर्थ निम्नप्रकार है—

अभिधामूला [व्यञ्जना] को तो कहते हैं—

१ संयोग, २ विप्रयोग, ३ साहचर्य, ४ विरोधिता, ५ अर्थ, ६ प्रकरण, ७ लिङ्ग, ८ अन्य शब्दकी सन्निधि—

९ सामर्थ्य, १० औचित्य, ११ देश, १२ काल १३ [पुल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग आदि रूप] व्यक्ति और १४ स्वर आदि [अनेकार्थक] शब्दके अर्थका निर्णय न होनेपर विशेष अर्थमें निर्णय करानेके कारण होते हैं ।

[भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित] इस मार्गसे [निम्न उदाहरणोंमें अनेकार्थ शब्दोंका एक अर्थमें नियन्त्रण किया जा सकता है] ।

भर्तृहरिकी इन कारिकाओंके आधारपर अनेकार्थक शब्दोंका एकार्थमें नियन्त्रण करनेके जो १४ कारण दिखलाये हैं । इन सबके उदाहरण दिखलाते हुए आगे उनकी व्याख्या करेंगे । सबसे पहिले 'संयोग' और 'विप्रयोग' के उदाहरण देते हैं—

'सशंखचक्रो हरिः', 'अशंखचक्रो हरिः' इति अच्युते ।
'राम-लक्ष्मणौ' इति दाशरथौ । 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इति भार्गव-कार्तवीर्ययोः ।
'स्थाणुं भज भवच्छिदे' इति हरे । 'सर्वं जानाति देव' इति युष्मदर्थे ।

संयोग और विप्रयोगकी नियामकता—

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु ।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥

अर्थात् पुलिङ्गमें प्रयुक्त हरि शब्द यम, अनिल, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, विष्णु, सिंह, रश्मि, घोड़ा, तोता, सर्प, मेढ़कका वाचक होता है । और कपिल अर्थात् पीलेके अर्थके 'हरि' शब्दका तीनों लिङ्गोंमें प्रयोग हो सकता है ।

इस कोशके अनुसार हरि शब्दके अनेक अर्थ हो सकते हैं परन्तु उसके साथ जब शंख-चक्रके संयोग या विप्रयोगका वर्णन हो तो उन दोनों ही दशाओंमें हरि शब्द विष्णुका ही वाचक होगा । क्योंकि शंख-चक्रका योग तथा वियोग उन्हींके साथ हो सकता है । इसलिए—

'शंख-चक्र सहित हरि' [यहाँ 'संयोग' से] और 'शंख-चक्रसे रहित हरि' [यहाँ विप्रयोगसे] यह [हरि शब्द] अच्युत [यहाँ 'संयोग'से] में [नियन्त्रित होता है]।

साहचर्य-विरोधकी नियायकता—

रामः पशुविशेषे स्याज्जामदग्न्ये हलायुधे ।
राघवे चासिते श्वेते मनोज्ञेऽपि च वाच्यवत् ॥

इस प्रकार राम शब्दके अनेक अर्थ होते हुए भी जब लक्ष्मणके नामके साथ 'रामलक्ष्मणौ' इस रूपमें राम पदका प्रयोग किया जाता है तब साहचर्यके कारण उससे दशरथ-पुत्र रामका ही ग्रहण होता है । और जब 'रामार्जुनौ' इस प्रकारका प्रयोग होता है तब परशुराम तथा कार्तवीर्य अर्जुनका विरोध होनेसे विरोधिताके द्वारा उसका परशुराम अर्थमें नियन्त्रण हो जाता है ।

'राम-लक्ष्मण' इस [प्रयोग] में [साहचर्यके कारण राम, लक्ष्मण दोनों शब्दोंका] दशरथके पुत्रमें [नियन्त्रण होता है] और 'रामार्जुनगतिस्तयोः' [प्रयोग] में ['राम' और 'अर्जुन' इन दोनों शब्दोंका विरोधिताके कारण क्रमशः] परशुराम तथा कीर्तवीर्य अर्जुन अर्थमें [नियन्त्रण होता है]।

अर्थ-प्रकरणकी नियामकता—

इसी प्रकार 'स्थाणु' शब्दके कोशमें निम्नप्रकार अनेक अर्थ दिखलाये हैं—

स्थाणुर्ना ध्रुवः शंकुः स्थाणू रुद्र उमापतिः ।

अर्थात् 'स्थाणु' शब्दके वृक्षका ठूठ या स्थिर खड़ा हुआ खूँटा तथा शिव आदि अनेक अर्थ होते हैं परन्तु जब उसका प्रयोग संसारसे पार उतारनेकी प्रार्थनामें किया जाय तो वह 'अर्थ' या कार्य केवल शिवसे ही सिद्ध हो सकता है इसलिए उस दशामें 'अर्थ' अर्थात् प्रयोजनके कारण 'स्थाणु' पद शिवका वाचक होगा ।

'संसारसे पार उतरनेके लिए स्थाणुका भजन कर' । यहाँ [स्थाणु शब्द प्रयोजन रूप अर्थके कारण] शिवमें [नियन्त्रित हो जाता है]।

[इसी प्रकार] 'देव सब जानते हैं' यहाँ [प्रकरणसे अनेकार्थक 'देव' शब्दका] 'आप' [अर्थ] में [नियन्त्रित हो जाता है]।

'कुपितो मकरध्वज' इति कामे। 'देवस्य पुराराते:' इति शम्भौ। 'मधुना मत्तः कोकिल'इति वसन्ते। 'पातु वो दयितामुखम्'इति साम्मुख्ये। 'भात्यत्र परमेश्वर' इति राजधानीरूपदेशाद्राजनि। 'चित्रभानुर्विभाति' इति दिने रवौ, रात्रौ वन्हौ। 'मित्रं भाति' इति सुहृदि। 'मित्रो भाति' इति रवौ।

इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत्।

[इसी प्रकार मकरध्वज पद समुद्र, औषधि-विशेष और कामदेव आदि अनेक अर्थोंका वाचक है। परन्तु] 'मकरध्वज कुपित हो रहा है' यहाँ [लिङ्ग अर्थात् कोप रूप चिह्नसे मकरध्वज पद] कामदेवमें [नियन्त्रित हो जाता है]।

'पुरारि देवका' यहाँ [अनेकार्थक 'देव' शब्द पुरारातिरूप अन्य शब्दके सन्नि-धानके कारण] 'शम्भु' अर्थमें [नियन्त्रित हो जाता है]।

'कोकिल मधुसे मत्त हो रही है' यह [कोकिलको मत्त करनेका सामर्थ्य केवल बसन्तमें होनेसे 'मधु' शब्द सामर्थ्य-वश] 'वसन्त' अर्थमें [नियन्त्रित हो जाता है]।

'पत्नीका मुख तुम्हारी रक्षा करे' इसमें [अनेकार्थक 'मुख' शब्द औचित्यके कारण 'साम्मुख्य' अर्थात्] 'आनुकूल्य' अर्थमें [नियन्त्रित हो जाता है]।

'यहाँ परमेश्वर शोभित होते हैं' इसमें राजधानी रूप देशके कारण [अनेका-र्थक 'परमेश्वर' शब्द] 'राजा' अर्थमें [नियन्त्रित हो जाता है]।

'चित्रभानु चमक रहा है' यहाँ [अनेकार्थक चित्रभानु शब्द] दिनमें 'सूर्य' अर्थमें, और रात्रिमें 'अग्नि' अर्थमें [कालके कारण नियन्त्रित हो जाता है]।

'मित्रं भाति' 'मित्र शोभित होता है' यह [नपुंसक लिङ्गमें प्रयुक्त हुआ अनेकार्थक 'मित्र' शब्द 'व्यक्ति' अर्थात् लिङ्गके कारण] 'सुहृत्' अर्थमें [नियन्त्रित हो जाता है]।

'मित्रो भाति' [पुल्लिङ्गमें प्रयुक्त हुआ अनेकार्थक 'मित्र' शब्द लिङ्गके ही सामर्थ्यसे] सूर्य अर्थमें [नियन्त्रित हो जाता है। सुहृत्का वाचक मित्र शब्द नपुंसक लिङ्गमें, और सूर्यका वाचक मित्रशब्द पुल्लिङ्गमें प्रयुक्त होता है]।

ऊपर भर्तृहरिकी जो कारिकाएँ उद्धृत की थीं उनमें अनेकार्थक शब्दका एकार्थमें नियन्त्रण करनेवाले संयोगादि १४ हेतु बतलाये थे। उनमें १३के उदाहरण दिखला दिये गये हैं। चौदहवाँ हेतु 'स्वर' कहा गया है। यह उदात्त आदि स्वरोंका भेद वेदमें ही अर्थभेदका नियामक होता है, काव्यमें नहीं। इसलिए यहाँ उसका उदाहरण नहीं दिया गया है। इस बातको कहते हैं—

'इन्द्रशत्रु' आदिमें वेदमें, ही स्वर अर्थविशेषका बोधक होता है, काव्यमें नहीं। [इसलिए उसके लौकिक उदाहरण नहीं दिये हैं]।

स्वरभेदका प्रभाव—

'इन्द्रशत्रु' यह स्वरका वैदिक-प्रयोग ग्रन्थकारने अर्थभेद दर्शानेके लिए प्रस्तुत किया है, वह भी उन्होंने अपनी परम्पराके अनुसार व्याकरणके प्रसिद्ध ग्रन्थ महाभाष्यसे उद्धृत किया है। महाभाष्यमें व्याकरणके अध्ययनके मुख्य १४ प्रयोजन बतलाये हैं। उनमें दुष्ट शब्दोंके प्रयोगसे बचना भी व्याकरणका एक प्रयोजन बतलाया गया है। इसके विषयमें महाभाष्यकारने लिखा है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

आदिग्रहणात्—

एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं ।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दमेत्तेहिं दिअएहिं ॥११॥
[एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम् ।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः ॥ इति संस्कृतम्]

इत्यादावभिनयादयः ।

इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत् क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं, तत्र नाभिधा नियमनात् तस्याः । न च लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावात् । अपितु अञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः । यथा—

इस श्लोकमें 'इन्द्रशत्रुः' सम्बन्धी जिस घटनाका संकेत किया गया है उस कथाका उल्लेख तैत्तिरीय संहिताके द्वितीयकाण्डके पञ्चम प्रपाठकमें पाया जाता है। जिसका सारांश यह है कि—त्वष्टाका पुत्र विश्वरूप जो असुरोंका भाञ्जा भी होता था, देवताओंका पुरोहित था। वह प्रत्यक्ष रूपसे देवताओंका कार्य करता था परन्तु परोक्ष रूपसे असुरोंका भी कार्य करता रहता था। इसलिए इन्द्रने क्रुद्ध होकर वज्रसे उसका सिर काट दिया। उसके मारे जानेपर त्वष्टाने इन्द्रको मारनेवाले दूसरे पुत्रको उत्पन्न करनेके लिए यज्ञका प्रारम्भ किया। उस यज्ञमें उसने 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' आदि मन्त्रका 'ऊहा' करके पाठ किया। उसका अभिप्राय यह था कि 'इन्द्रके मारनेवाले पुत्रकी वृद्धि हो'। 'शत्रु' शब्द यहाँ 'शातयिता' मारनेवालेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। 'इन्द्रशत्रु' पदमें दो प्रकारके समास हो सकते हैं। एक 'इन्द्रस्य शत्रुः शातयिता इन्द्रशत्रुः' अर्थात् इन्द्रका मारनेवाला इस अर्थमें षष्ठी तत्पुरुष समास हो सकता है। और दूसरा 'इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य स इन्द्रशत्रुः' 'इन्द्र जिसको मारनेवाला है' इस विग्रहमें बहुव्रीहि समास हो सकता है। इन दोनों समासोंसे शब्दका अर्थ बिलकुल उलटा हो जाता है। एक जगह षष्ठी तत्पुरुष समासमें 'इन्द्रको मारनेवाले पुत्रकी वृद्धि हो' यह अर्थ होता है और दूसरी ओर बहुव्रीहि समासमें 'इन्द्र जिसको मारे' अर्थात् जिसकी मृत्यु इन्द्रके हाथसे हो उस पुत्रकी उत्पत्ति हो, यह अर्थ हो जाता है। इनमेंसे षष्ठी तत्पुरुष समासवाला अर्थ यजमानको अभीष्ट था। उस षष्ठी तत्पुरुष समासमें 'अन्तोदात्त' स्वरका प्रयोग होना चाहिये था, परन्तु मन्त्र पढ़ते समय उसने 'इन्द्रशत्रु' शब्दका आद्युदात्त' उच्चारण किया जिससे प्रार्थनाका अर्थ ही उल्टा हो गया। इस प्रकार अन्तोदात्त और आद्युदात्त स्वरके भेदसे अनेकार्थक वेदमें ही 'इन्द्रशत्रु' शब्दका भिन्न-भिन्न अर्थोंमें नियन्त्रण होता है। अतः यहाँ स्वरके उदाहरण नहीं दिये हैं।

संकेतकी नियामकता—

कारिकामें आदि [पदके] ग्रहण किये जानेसे—

इतने बड़े स्तनोंवाली, इतनी बड़ी आँखोंसे [उपलक्षित वह तरुणी] इतने दिनोंमें ऐसी हो गई ।११।

इत्यादिमें अभिनय आदि [कृत संकेत एकार्थमें नियन्त्रण करनेवाले होते हैं]।

इस प्रकार संयोग आदिके द्वारा अन्य अर्थके बोधकत्वका निवारण हो जानेपर भी अनेकार्थ शब्द जो कहीं दूसरे अर्थका प्रतिपादन करता है वहाँ अभिधा नहीं हो सकती है, क्योंकि उसका नियन्त्रण हो चुका है। और मुख्यार्थ बाध आदिके न होनेसे लक्षणा भी नहीं हो सकती है। अपितु अञ्जन अर्थात् व्यञ्जना व्यापार ही होता है। जैसे—

भद्रात्मनो　दुरधिरोहतनोर्विशाल-वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लवगतेः पर-वारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥१२॥

[सू० ३३]–तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः ।

तद्युक्तो व्यञ्जनयुक्तः ।

[सू० ३४]–　　यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥२०॥

तथेति व्यञ्जकः ।

इति काव्यप्रकाशे शब्दार्थस्वरूपनिर्णयो नाम द्वितीय उल्लासः

निम्नलिखित श्लोकमें किसी राजाकी स्तुति की जा रही है । इसलिए उसमें जितने अनेकार्थक शब्द आये हैं उन सबका प्रकरणसे एक अर्थमें नियन्त्रण हो जाता है । फिर भी उसमें हाथी-परक दूसरे अर्थ और उसके साथ उपमानोपमेय भावकी भी प्रतीति होती है । राजाके सारे विशेषण हाथीके पक्षमें भी लगते हैं । वह दूसरी प्रतीति अभिधामूला व्यञ्जनासे ही होती है इस बातके प्रतिपादनके लिए यह उदाहरण है ।

सुन्दर स्वरूपवाले, दूसरोंसे अनभिभवनीय शरीरसे युक्त, उच्च कुलमें उत्पन्न, जिसने बाणोंका संग्रह [या अभ्यास] कर रखा है, जिसकी गति [अथवा ज्ञान-अनुपप्लुत अर्थात्] अबाधित है और जो [पर अर्थात्] शत्रुओंका निवारण करनेवाला है उस राजाका हाथ [हाथीकी सूँड़के समान] सदा दानके [संकल्प पढ़ कर छोड़े जाने वाले] जलसे सुन्दर रहता था ।

इस प्रकार राजा परक अर्थ हो जानेपर हाथी परक दूसरा अर्थ इस प्रकार प्रतीत होता है—

भद्र जाति वाले, जिसके ऊपर चढ़नेमें कठिनाई होती है, [अर्थात् बहुत ऊँचे], जिसकी पीठकी हड्डी [वंश] बहुत विशाल और उन्नत है, जिसकी गति [अनुपप्लुत अर्थात्] धीर है और जिसने [अपने मद-जलके कारण बहुतसे] भ्रमरोंका संग्रह कर रखा है इस प्रकारके [परवारण अर्थात्] उत्तम हाथीकी [कर अर्थात्] सूँड़ [के समान राजाका हाथ] मद-जलके बहनेसे सदा सुन्दर मालूम होती है ।१२।

शाब्दी-व्यञ्जनामें अर्थका सहयोग—

इस प्रकार शाब्दी-व्यञ्जनाके लक्षणामूला तथा अभिधामूला दोनों भेदोंका निरूपण हो जानेके बाद उसमें अर्थकी सहकारिताका प्रतिपादन करते हैं—

[सू० ३२] उस [व्यञ्जना-व्यापार] से युक्त शब्द व्यञ्जक [शब्द कहलाता] है ।

उससे युक्त अर्थात् व्यञ्जना-व्यापारसे युक्त ।

[सू० ३४]—और क्योंकि वह [व्यञ्जक शब्द] दूसरे अर्थके योगसे [अर्थात् अपने मुख्यार्थको बोधन करनेके बाद] उस प्रकारका [अर्थात् दूसरे अर्थका व्यञ्जक] होता है इसलिए उसके साथ सहकारी रूपसे अर्थ भी व्यञ्जक होता है ।

काव्यप्रकाशमें शब्द और अर्थके स्वरूपका निरूपण नामक
द्वितीय उल्लास समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्य-विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि-विरचितायां काव्यप्रकाशदीपिकायां
हिन्दी-व्याख्यायां द्वितीय उल्लासः समाप्तः।

तृतीय उल्लासः

[सू० ३५]–**अर्थाः प्रोक्ताः पुरा ।**

अर्था वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः ।

[सू० ३६]–**तेषां, अर्थव्यञ्जकतोच्यते ।**

तेषां वाचक-लाक्षणिक-व्यञ्जकानाम् ।

कीदृशीत्याह–

[सू० ३७]–**वक्तृ-बोद्धव्य-काकूनां वाक्य-वाच्यान्यसन्निधेः ॥२१॥**
प्रस्ताव-देश-कालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यर्थधीर्हेतु-र्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२२॥

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः । काकुर्ध्वनेर्विकारः । प्रस्तावः प्रकरणम् । अर्थस्य वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यात्मनः ।

काव्यप्रकाशदीपिकायां तृतीय उल्लासः

उल्लाससङ्गति—

द्वितीय उल्लासमें शब्द तथा अर्थके स्वरूपका निर्णय करते हुए ग्रन्थकारने वाचक, लक्षक व्यञ्जक तीन प्रकारके शब्द, तथा वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य तीन प्रकारके अर्थोंका प्रतिपादन किया था। उसके साथ लाक्षणिक शब्दोंके प्रसङ्गमें 'प्रयोजन'के बोधके लिए व्यञ्जना-वृत्तिकी अनिवार्य आवश्यकताका प्रतिपादन किया था। वह व्यञ्जना शक्ति भी दो प्रकारकी होती है एक 'शाब्दी-व्यञ्जना' और दूसरी 'आर्थी-व्यञ्जना'। इनमेंसे 'शाब्दी-व्यञ्जना' के भी दो भेद होते हैं। एक 'अभिधामूला-व्यञ्जना' और दूसरी 'लक्षणामूला-व्यञ्जना'। शाब्दी-व्यञ्जनाके इन दोनों भेदोंका निरूपण द्वितीय उल्लासमें किया जा चुका है। इस तृतीय उल्लासमें आर्थी-व्यञ्जनाके समस्त भेदोंके उदाहरण आदि देकर उसका निरूपण करना है। इसीलिए इस उल्लासका नाम 'अर्थव्यञ्जकतानिर्णय' रखा गया है। उस उल्लासके प्रारम्भमें पूर्वकथित अर्थोंका स्मरणकर ग्रन्थकार 'आर्थी-व्यञ्जना' का निरूपण प्रारम्भ करते हैं—

अर्थके भेद—

[सू० ३५]—अर्थोंका वर्णन पहिले किया जा चुका है।

अर्थ वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य [तीन प्रकारके बतलाये थे]।

[सू० ३६]—उनकी अर्थव्यञ्जकता [अर्थात् उनके ऊपर आश्रित आर्थी-व्यञ्जना] का अब वर्णन करते हैं।

आर्थी व्यञ्जनाके भेद—

वह [आर्थी-व्यञ्जना] किस प्रकारकी [होती है] यह कहते हैं—

[सू० ३७]—१ वक्ता, २ बोद्धा, ३ काकु, ४ वाक्य, ५ वाच्य, ६ अन्यसन्निधि, ७ प्रस्ताव, ८ देश, ९ काल, १० आदिके वैशिष्ट्यसे [प्रतिभावानों] सहृदयोंको अन्यार्थकी प्रतीति करानेवाला अर्थका जो व्यापार होता है वह 'आर्थी-व्यञ्जना' ही [कहलाता] है।

बोद्धव्यका अर्थ प्रतिपाद्य [अर्थात् जिससे बात कही जाय वह] है। 'काकु' ध्वनिके विकार को कहते हैं [उसका लक्षण 'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' इस प्रकार किया गया है]। प्रस्तावका अर्थ प्रकरण है। अर्थका अर्थात् वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य-स्वरूप [अर्थ] का [व्यापार आर्थी-व्यञ्जना कहलाता है]।

क्रमेणोदाहरणानि–

अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरिअम् ।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ॥१३॥
[अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम् ।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र चौर्यरतगोपनं व्यज्यते ।

ओण्णिद्दं दोब्बल्लं चिंता अलसत्तणं सणीससिअम् ।
मह मंदभाइणीए केरं सहि तुह वि अहह परिहवइ ॥१४॥

[औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र दूत्यास्तत्कामुकोपभोगो व्यज्यते ।

[आर्थी-व्यञ्जनाके उन दसों प्रकारोंके] क्रमशः उदाहरण [देते हैं] ।—

१ वक्ताके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण—

हे सखि मैं बड़ा भारी पानीका घड़ा लेकर भागी चली जा रही हूँ । परिश्रमके कारण पसीना और निःश्वाससे परेशान हो गयी हूँ इसलिए थोड़ी देर [यहाँ बैठकर] सुस्ताऊँगी ॥१३॥

इसमें [वक्ताके वैशिष्ट्यसे] चौर्यरत छिपानेकी प्रतीति होती है ।

इसका अभिप्राय यह है कि कोई स्त्री पानी भरनेके बहाने उपनायकके पास गयी और उसके साथ सम्भोग करके आ रही है । छिपकर किये गये इस सुरतके चिन्ह रूप पसीना आदि उसके मुखपर स्पष्टरूपसे व्यक्त हो रहे हैं । उनको देखकर शायद सखी चौर्यरतकी शङ्का कर बैठे, इसलिए कहनेवाली स्त्री उस शङ्काके निवारणके लिए पहिले ही कह देती है कि पानीका घड़ा लेकर और जल्दी-जल्दी चलकर जानेके कारण यह सब हो रहा है । अर्थात् इस प्रकार वह अपने चौर्यरतको छिपानेका प्रयत्न कर रही है, यह बात वक्ताके वैशिष्ट्यसे व्यङ्ग्य है ।

२ बोद्धाके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण—

आगे बोद्धाके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण देते हैं—

हे सखि मुझ मन्दभागिनीके कारण नींदका न आना, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य और निःश्वास आदि तुमको भी भोगने पड़ रहे हैं यह बड़े खेदकी बात है ।१४।

इसमें दूतीका उस [नायिका] के कामुकके साथ भोग व्यङ्ग्य है ।

हिन्दीके निम्न पद्यको वक्ता तथा बोद्धा दोनोंके वैशिष्ट्यमें विशेष अर्थकी व्यञ्जनाके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है—

यहि अवसर किन कामना निज पूरन करि लेहु ।
ये दिन फिर ऐहैं नहीं यह क्षण भंगुर देहु ॥

दोहेका अर्थ स्पष्ट है । यदि इसका वक्ता या बोद्धा कोई कामुक व्यक्ति है तो उससे विषय-वासनाकी पूर्ति व्यङ्ग्य होगी और यदि उसका वक्ता या बोद्धा कोई विरक्त पुरुष है तो उससे धर्म-साधना या मोक्ष-प्राप्ति व्यङ्ग्य होगी । इस प्रकार यह एक ही दोहा १ वक्ता और २ बोद्धा दोनोंके वैशिष्ट्यमें होनेवाली आर्थी व्यञ्जनाका उदाहरण है ।

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥१५॥

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काका प्रकाश्यते ।

३ काकुके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण—

इस प्रकार वक्ता तथा बोद्धाके वैशिष्ट्यमें 'आर्थी-व्यञ्जना'के दो उदाहरण देनेके बाद 'काकु' द्वारा व्यञ्जनाका तीसरा उदाहरण देते हैं । 'काकु' शब्दका अर्थ विशेष प्रकारकी कण्ठध्वनि, अर्थात् बोलनेका विशेष प्रकारका लहजा होता है । उस बोलनेके विशेष ढंगसे भी अर्थकी व्यञ्जना होती है इसके प्रतिपादनके लिए 'वेणीसंहार' नाटकके प्रथम अङ्कमेंसे भीमकी उक्तिको उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है । इस प्रसङ्गमें भीम और सहदेवका संवाद हो रहा है । भीमके क्रोधको देखकर सहदेव भीमसे कहते हैं कि आपके इस प्रकारके व्यापारको सुनकर 'कदाचित् खिद्यते गुरुः' शायद गुरु अर्थात् युधिष्ठिर हैं नाराज हों । उसके उत्तरमें भीमसेन कह रहे हैं कि 'गुरुः खेदमपि जानाति' अच्छा गुरु अर्थात् युधिष्ठिर नाराज होना भी जानते हैं तो फिर—

उस राज-सभामें पाञ्चाली [द्रौपदी] की उस प्रकारकी [बाल तथा वस्त्र खींचे जानेकी] अवस्थाको देखकर [गुरु नाराज नहीं हुए, उनको क्रोध नहीं आया] फिर वनमें वल्कल धारण कर चिरकाल [बारह वर्ष] तक व्याधाओंके साथ रहते रहे [तब भी उनको क्रोध नहीं आया] फिर विराटके घरमें [रसोइया आदिके] अनुचित कार्योंको करके छिप कर जो हम रहे [उस समय भी गुरुको क्रोध नहीं आया] और आज भी उनको कौरवोंपर तो क्रोध नहीं आ रहा है । पर मैं कौरवोंपर क्रोध करता हूँ तो मेरे ऊपर नाराज होते हैं । १५ ।

यहाँ मेरे ऊपर नाराज होना उचित नहीं है । कौरवोंपर नाराज होना उचित है यह 'काकु'से प्रकाशित होता है ।

काकाक्षिप्तकी ध्वनिरूपतामें शङ्का-समाधान—

यहाँपर एक शङ्का यह हो सकती है कि आगे चल कर पञ्चम उल्लासमें गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्यके आठ भेदोंकी गणना करायी है । उनमें 'वाच्यसिद्धयङ्गव्यङ्ग्य' और 'काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य' नामसे गुणीभूत-व्यङ्ग्यकाव्यके दो भेद गिनाये गये हैं । और वहाँ भी वेणीसंहारसे ली गयी भीमकी इसी प्रकारकी निम्नलिखित उक्तिको काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्यके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

अर्थात् यदि तुम्हारे राजासाहब अर्थात् युधिष्ठिरजी किसी शर्तपर कौरवोंके साथ सन्धि कर लें तो क्या मैं युद्धमें सौ कौरवोंका नाश करना छोड़ दूँगा ? अथवा दुःशासनकी छातीका खून नहीं पीऊँगा ? अथवा गदासे दुर्योधनकी जाँघ नहीं तोड़ूँगा ? यह इसका वाच्य अर्थ है । परन्तु भीमके बोलनेके ढंगसे काकु द्वारा यह व्यक्त होता है, भले ही युधिष्ठिर सन्धि कर लें पर मैं तो यह सब काम

न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यम् । प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः ।

तइआ मह गंडत्थलणिमिअं दिट्ठिं ण णेसि अण्णत्तो ।
एण्हिं सच्चेअ अहं ते अ कवाला ण सा दिट्ठी ॥१६॥
[तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र ।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र मत्सखीं कपोलप्रतिबिम्बितां पश्यतस्ते दृष्टिरन्यैवाभूत् । चलितायां तु तस्यां अन्यैव जातेत्यहो प्रच्छन्नकामुकत्वं ते, इति व्यज्यते ।

करके ही रहूँगा । यहाँ 'काकु'से आक्षिप्त अर्थ होनेसे इसे गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य माना गया है । 'तथा भूतां' इत्यादि प्रकृत उदाहरण भी उसी प्रकारका है इसलिए इसे भी काक्वाक्षिप्त होनेसे अथवा वाच्य-सिद्धिका अङ्ग होनेसे गुणीभूत-व्यङ्ग्य ही मानना उचित है । फिर उसे ध्वनि-काव्यके उदाहरण रूपमें कैसे प्रस्तुत किया गया है ? यह शङ्का हो सकती है उसके निवारणके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

यहाँ काकु [से लभ्य अर्थ] वाच्यकी सिद्धिका अङ्ग है इसलिए गुणीभूत व्यङ्ग्य [काव्य] है [ध्वनि काव्य नहीं है] यह शङ्का नहीं करनी चाहिये । क्योंकि प्रश्नमात्रसे भी काकुकी विश्रान्ति हो सकती है । [अर्थात् यहाँ काकु केवल प्रश्नमात्रमें ही विश्रान्त हो जाती है । उससे व्यङ्ग्यार्थ आक्षिप्त नहीं होता है ।]

इसका अभिप्राय यह है कि काकुसे एक तो यह प्रश्न निकलता है कि गुरु मेरे ऊपर नाराज हो रहे हैं, कौरवोंपर नहीं ? और दूसरी यह बात प्रतीत होती है कि युधिष्ठिरका मुझपर क्रोध करना उचित नहीं है इनको मेरे स्थानपर कौरवोंपर क्रोध करना चाहिये था। यह दूसरी बात व्यङ्ग्य अर्थ है। परन्तु वह काकुसे जो प्रश्न सूचित होता है उसकी सिद्धिका अङ्ग प्रतीत होता है इसलिए वाच्यसिद्धिका अङ्ग होनेसे यह गुणीभूत व्यङ्ग्य होना चाहिये यह पूर्वपक्षका भाव है । ग्रन्थकार उसके उत्तरमें यह कहते हैं कि इस व्यङ्ग्य अर्थको काकुका अङ्ग माननेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि यहाँ काकुकी विश्रान्ति तो प्रश्नमात्रमें ही हो सकती है उससे व्यङ्ग्यार्थ आक्षिप्त नहीं होता है । इसलिए यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ न काक्वाक्षिप्त ही है और न वाच्यकी सिद्धिका अङ्ग ही है । अतः यह ध्वनिकाव्यका उदाहरण हो सकता है । गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं है । वैसे तो यह ध्वनिकाव्यके उदाहरण रूपमें नहीं केवल काकुकी व्यञ्जकताका उदाहरण दिया गया है । काकुसे व्यङ्ग्य वह अर्थ, चाहे गुणीभूत हो या प्रधान, इससे प्रकृत उदाहरणमें कोई अन्तर नहीं पड़ता है ।

हिन्दीमें 'सोह कि कोकिल विपिन करीरा' यह पद्यांश 'काकु' की व्यञ्जनाका सुन्दर उदाहरण है । उसे पढ़ते ही स्पष्ट हो जाता है कि करीरके वनमें कोकिल शोभित नहीं हो सकता है ।

४ वाक्यवैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण—

उस समय मेरे गालपर गड़ायी हुई [अपनी] दृष्टिको कहीं और नहीं ले जा रहे थे । अब मैं वही हूँ, मेरे गाल भी वे ही हैं, किन्तु तुम्हारी वह [मेरे गाल पर ही गड़ी रहनेवाली] दृष्टि नहीं है ॥१६॥

यहाँ मेरे गालपर प्रतिबिम्बित मेरी सखीको देखते हुए तुम्हारी दृष्टि कुछ और ही प्रकारकी थी, उसके चले जानेपर कुछ और ही हो गयी है इसलिए तुम्हारे कामुकत्व-पर आश्चर्य होता है । यह [अर्थ नायिकाके वाक्य से] व्यक्त होता है ।

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी ।
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः ।
किञ्चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता
येषामग्रे सरति कलिताकाण्डकोपो मनोभूः ॥१७॥

अत्र रतार्थं प्रविशेति व्यङ्ग्यम् ।

५ वाच्यवैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण—

हे तन्वि [इस विशेषणसे मदनवेदना-ग्रस्तत्व सूचित होता है] सरस हरी-हरी केलोंकी पंक्तिसे अत्यन्त सुन्दर लगनेवाला और कुञ्जोंके उत्कर्षके कारण रमणियोंके हाव-भावोंको अंकुरित कर देनेवाला नर्मदा [केवल सामान्य नदीमात्र नहीं अपितु 'नर्म रतिसुखं ददाति इति नर्मदा । जो असाधारण रतिसुखका प्रदान करनेवाली है उसी]का ऊँचा प्रदेश है । और यहाँ सुरतके मित्र [पुनः-पुनः सुरतके लिए उत्तेजना देनेवाले] वे वायु बहते हैं जिसके आगे [वसन्त आदि रूप] अवसरके न होनेपर भी चाप धारण किये हुए [अत्यन्त उग्र रूपमें उत्तेजना देनेवाला] कामदेव चलता है । १७ ।

यहाँ सुरतके लिए [कुञ्जके] भीतर चलो यह [नायककी उक्तिसे] व्यङ्ग्य है ।

यहाँ नर्मदाके उन्नत प्रदेश रूप स्थान-विशेष तथा उसके विशेषणीभूत वाच्यके वैशिष्ट्यसे व्यङ्ग्यकी प्रतीति होती है इसलिए यह वाच्य-वैशिष्ट्यका उदाहरण दिया गया है ।

वाक्य और वाच्य वैशिष्ट्यका अन्तर—

वक्ता और बोद्धाके वैशिष्ट्यमें जैसे आर्थी-व्यञ्जनाके दो भेद अलग-अलग कहे गये हैं उसी प्रकार 'वाक्य' और 'वाच्य'के वैशिष्ट्यकृत भेदसे भी आर्थी व्यञ्जनाके दो अलग-अलग भेद माने गये हैं । इन भेदोंमें भी एक ही उदाहरण दोनों भेदोंका बन सकता है । उनमें केवल प्राधान्य अप्राधान्यकी विवक्षासे ही अन्तर हो जाता है । जब 'वक्ता'का प्राधान्य विवक्षित है तब वही पद्य वक्तृ-वैशिष्ट्यका उदाहरण बन जाता है और जब 'बोद्धा' का प्राधान्य विवक्षित हो तब वही पद्य बोद्धव्य-वैशिष्ट्यका उदाहरण बन सकता है । इसी प्रकार जहाँ 'वाक्य' का प्राधान्य विवक्षित हो यहाँ वही पद्य 'वाक्य-वैशिष्ट्य'का उदाहरण हो सकता है और जहाँ उसके 'वाच्य' अर्थका प्राधान्य विवक्षित हो वहाँ वही वाच्य-वैशिष्ट्यका उदाहरण बन सकता है । यह केवल विवक्षाके ऊपर अश्रित भेद है ।

दोनोंका एक हिन्दी उदाहरण—

हिन्दीमें बिहारीका निम्न दोहा वाक्य-वैशिष्ट्य तथा वाच्य-वैशिष्ट्य दोनोंमें होनेवाली आर्थी-व्यञ्जनाका सुन्दर उदाहरण है—

घाम घरीक निवारिये कलित ललित अलिपुंज ।
जमुना-तीर तमाल-तरु मिलति मालती-कुंज ॥

यह स्वयं रमणोत्सुका नायिकाकी उक्ति है । इसका अर्थ यह है कि यमुनाके किनारे तमाल-वृक्षके पास घनी मालतीकी कुञ्जमें भ्रमरगण मनोहर गुञ्जार कर रहे हैं, वहाँ तनिक देर बैठकर धूपसे बचकर आराम कर लो । इससे रमणके लिए इस मालती-कुंजमें प्रवेश करो यह अर्थ वाक्य तथा वाच्य दोनोंसे व्यङ्ग्य है । अतः वाक्य-वैशिष्ट्य और वाच्य-वैशिष्ट्य दोनोंमें होनेवाली व्यञ्जनाका यह एक ही उदाहरण है । प्रस्ताव, देश और अन्य सन्निधिके वैशिष्ट्यमें भी यह पद्य उदाहरण बन सकता है ।

णोल्लेइ अणोल्लमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि ।
खणमेत्तं जइ संझाइ होइ ण व होइ वीसामो ॥१८॥

[नुदत्यनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मां गृहभरे सकले ।
क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र सन्ध्या संकेतकाल इति तटस्थं प्रति कयाचिद् द्योत्यते ।

सुव्वइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण ।
एमे अ किंत्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जम् ॥१९॥

[श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण ।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत् सखि सज्जय करणीयम् ॥ इति संस्कृतम्]

अत्रोपपतिं प्रत्यभिसर्तुं प्रस्तुता, न युक्तमिति कयाचिन्निवार्यते ।

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥२०॥

अत्र विविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाभिसार्यतामिति आश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते ।

६ अन्य सन्निधिके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण—

निर्दया [अनार्द्रमनाः] सास घरके सारे काम मुझसे ही कराती है इसलिए कभी मिलता है तो शामके समय थोड़ा बहुत विश्राम मिल जाता है नहीं तो कभी वह भी नहीं मिलता है । १८ ।

यहाँ सन्ध्याका समय संकेतकाल है यह बात [गुरुजन आदि की सन्निधिके वैशिष्ट्यसे दूत आदि रूप किसी] तटस्थके प्रति किसी [नायिका] के द्वारा सूचित की जा रही है ।

यहाँ अन्य लोगोंके पासमें उपस्थित होनेके कारण स्पष्ट रूपसे संकेतकाल आदिके विषयमें बात करना सम्भव न होनेसे इस प्रकारसे तटस्थ दूत आदिको सन्ध्याके समय मिलनेका अवसर निकल सकता है यह बात व्यञ्जनासे सूचित की गयी है ।

७ प्रस्तावके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण—

हे सखि सुनते हैं कि तुम्हारे प्रिय आज पहर भरके भीतर आ जावेंगे । तो ऐसे ही क्यों बैठी हो [उनके लिए भोजन या अपने शृङ्गार आदि] करने योग्य कार्योंकी तैयारी करो । १९ ।

यहाँ उपपतिके पास जानेके लिए उद्यत किसी [अभिसारिका] को उसकी सखी मना कर रही है कि [अब] यह [अभिसार करना] उचित नहीं है ।

८ देशके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण—

हे सखियों तुम कहीं और जाकर फूल तोड़ो, यहाँ मैं तोड़ रही हूँ । मैं दूर चलनेमें समर्थ नहीं हूँ इसलिए तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ मुझपर कृपा करो [और आप और कहीं जाकर अपना काम करो । यहाँ मुझे अपना काम करने दो] । २० ।

यहाँ यह एकान्त-स्थान है इसलिए प्रच्छन्न-कामुकको तुम यहाँ भेज दो यह अपनी किसी विश्वस्त सहेलीके प्रति कोई कह रही है ।

गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तुइ मंदभाइणी अहकम् ।
अज्ज पवासं वच्चसि वच्च सअं जेव्व सुणसि करणिज्जम् ॥२१॥

[गुरुजनपरवश प्रिय किं भणामि तव मन्दभागिनी अहकम्।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥ इति संस्कृतम्]

अत्राद्य मधुसमये यदि व्रजसि तदाहं तावत् न भवामि, तव तु न जानामि गतिमिति व्यज्यते ।

आदिग्रहणाच्चेष्टादेः । तत्र चेष्टाया यथा—

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम् ।
आनीतं पुरतः शिरोंऽशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं संकोचिते दोर्लते ॥२२॥

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तविषय आकूतविशेषो ध्वन्यते ।

९ कालके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण—

इस प्रकार देशके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जकत्वका उदाहरण देनेके बाद अब कालके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जकत्वका उदाहरण आगे देते हैं—

गुरुजनोंके परवश हे प्रिय ! मैं मन्दभागिनी तुमसे क्या कहूँ [वस्तुतः तो न तुम जाना चाहते हो और न मैं भेजना चाहती हूँ । परन्तु माता पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाके कारण] । आज [इस वसन्तकालमें] यदि जा रहे हो तो जाओ, [आगे]क्या करना चाहिये यह बात [मेरी मृत्युके बाद] तुमको स्वयं सुननेको मिल जावेगी । २१ ।

यहाँ आज वसन्तके समय यदि तुम जाते हो तो मैं तो जीवित न रहूँगी, तुम्हारी क्या गति होगी यह मैं नहीं जानती । यह व्यक्त होता है ।

हिन्दीमें निम्नलिखित सवैया कालकी व्यञ्जकताका सुन्दर उदाहरण हो सकता है ।—

भूमि हरी पै प्रवाह बह्यो जल, मोर नचैं गिरि पै मतवारे ।
चञ्चला त्यों चमकै 'लखिराम' चढ़े चहुँ ओरन ते घन कारे ॥
जान दे वीर विदेस उन्हें कछु बोल न बोलिये पावस प्यारे ।
आइहैं ऊबि घरीमें घरै घन घोर सों जीवन मूरि हमारे ॥

यह सवैया वस्तुतः पूर्व श्लोकके भावको लेकर ही लिखा गया है । इसमें पावसका वर्णन है । इस ऋतुमें नायक अपनी प्रियतमाको छोड़कर विदेश नहीं जा सकता है इस बातको मानती हुई नायिकाकी यह उक्ति है । उसमें कामोद्दीपक-भाव व्यक्त हो रहा है ।

१० आदि पदसे ग्राह्य चेष्टाका व्यञ्जकत्व—

[कारिकामें आये हुए] आदि पदके ग्रहणसे चेष्टा आदिका [ग्रहण करना चाहिये] । उनमेंसे चेष्टा [के वैशिष्ट्यमें व्यञ्जकत्व] का [उदाहरण] जैसे—

मेरे दरवाजेके समीप पहुँचनेपर उस अनिन्द्य सुन्दरीने अपनी दोनों जाँघोंको फैलाकर फिर एक दूसरेसे चिपटा लिया । सिरपर घूँघट डाल लिया, आँखें नीची कर लीं, बोलना बन्द कर दिया और अपनी भुजाएँ सिकोड़ लीं । २२ ।

यहाँ चेष्टासे प्रच्छन्न [रूप में स्थित] कान्तविषयक अभिप्राय विशेष व्यङ्ग्य है ।

निराकांक्षत्वप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया च पुनः पुनरुदाह्रियते । वक्त्रादीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदेन ।

अनेन क्रमेण लक्ष्यव्यङ्ग्ययोश्च व्यञ्जकत्वमुदाहार्यम् ।

[सू० ३८]–शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तत्, शब्दस्य सहकारिता ॥२३॥

शब्देति । नहि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो व्यञ्जकः ।

इति काव्यप्रकाशे अर्थव्यञ्जकतानिर्णयो नाम तृतीय उल्लासः ।

इतने उदाहरण देनेके कारण—

इस प्रकार यहाँ ग्रन्थकारने आर्थी-व्यञ्जनाके दसों भेदोंके उदाहरण अलग-अलग दिये हैं । वैसे दो-तीन या अधिक भेदोंको एक जगह मिलाकर एक या दो उदाहरणोंमें इन सबकी व्यञ्जकता दिखलायी जा सकती थी परन्तु अलग-अलग भेदोंके विषयमें—

निराकांक्षता [अर्थात् जिज्ञासाकी निवृत्ति] के लिए और अवसर होनेसे बार-बार [सब भेदोंके अलग-अलग] उदाहरण दिये हैं । वक्ता आदिके परस्पर संयोगसे दो-दो तीन-तीन आदिके भेदसे [मिलकर भी इनके उदाहरण समझ लेने चाहिए] ।

लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ भी व्यञ्जक होते हैं—

आर्थी व्यञ्जनाके इन सब उदाहरणोंमें वाच्य अर्थकी ही व्यञ्जकता दिखलायी गयी है परन्तु वाच्यके समान लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ भी व्यञ्जक हो सकते हैं । यह बात आगे कहते हैं—

इसी क्रमसे लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थोंके व्यञ्जकत्वके उदाहरण भी समझ लेने चाहिये ।

आर्थी-व्यञ्जनामें शब्दका सहयोग—

शाब्दी व्यञ्जनाके अन्तमें यह कहा था कि शाब्दी-व्यञ्जनामें शब्द मुख्य रूपसे व्यञ्जक होता है उसके साथ अर्थ उसका सहकारी होता है । इसी प्रकार आर्थी-व्यञ्जनामें अर्थके मुख्य रूपसे व्यञ्जक होनेपर शब्दकी सहकारिता आगे दिखलाते हैं—

[सू० ३८]—क्योंकि शब्द प्रमाणसे गम्य अर्थ ही अर्थान्तरको व्यक्त करता है इसलिए अर्थके व्यञ्जकत्वमें शब्द भी सहकारी होता है । २३ ।

शब्द [प्रमाणसे गम्य अर्थ, अर्थान्तरको व्यक्त करता है] इससे [यह सूचित किया गया है कि अनुमान आदि] अन्य प्रमाणोंसे वेद्य अर्थ व्यञ्जक नहीं होता है ।

सारांश—

इस प्रकार इस तृतीय उल्लासमें वक्ता बोद्धा आदिके वैशिष्ट्यसे आर्थी-व्यञ्जनाके दस भेद करके उनका उदाहरण सहित विवेचन किया है । शाब्दी-व्यञ्जनाका निरूपण द्वितीय उल्लासमें कर चुके हैं । अतः व्यञ्जनाके दोनों भेदोंके निरूपणके साथ, ध्वनि काव्यका सामान्य निरूपण समाप्त हुआ । आगे गुणीभूत व्यङ्ग्य-काव्यका विवेचन करेंगे ।

काव्यप्रकाशमें अर्थव्यञ्जकता-निर्णय नामक तृतीय उल्लास समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्य-विश्वेश्वर-सिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां काव्यप्रकाशदीपिकायां
हिन्दी व्याख्यायां तृतीय उल्लासः समाप्तः

चतुर्थ उल्लासः

यद्यपि शब्दार्थयोर्निर्णये कृते दोष-गुण-अलङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयं, तथापि धर्मिणि प्रदर्शिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायत इति प्रथमं काव्यभेदानाह—

काव्यप्रकाशदीपिकायां चतुर्थ उल्लासः

उल्लाससङ्गति—

प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकारने "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलंकृती पुनः क्वापि" इस प्रकार काव्यका लक्षण दिया है। इस लक्षणमें 'शब्दार्थौ' यह विशेष्य पद है और 'अदोषौ', 'सगुणौ' तथा 'अनलंकृती पुनः क्वापि' ये तीन उसके विशेषणरूपमें प्रयुक्त हुए हैं। लक्षणके स्पष्टीकरणार्थ, लक्षण-घटक इन चारों पदोंकी व्याख्याके लिए ही ग्रन्थके शेष भागकी रचना हुई है। इसलिए सबसे पहिले द्वितीय उल्लासमें ग्रन्थकारने शब्द तथा अर्थका स्वरूप-निर्णय करनेका प्रयत्न किया है। उसी प्रसङ्गसे वाचक, लक्षक, व्यञ्जक शब्द, तथा अर्थके वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य आदि भेदोंका निरूपण करनेके बाद द्वितीय उल्लासके अन्तमें 'शाब्दी-व्यञ्जना'के भेदोंका, और फिर तृतीय उल्लासमें 'आर्थी-व्यञ्जना'-का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार तीसरे उल्लासतक लक्षणके विशेष्य भाग 'शब्दार्थौ'की व्याख्या पूरी हो जाती है। अब इसके बाद क्रमशः 'अदोषौ' आदि विशेषणोंकी व्याख्या प्रारम्भ करनी चाहिये थी, परन्तु 'अदोषौ', 'सगुणौ' आदि विशेषणोंके घटक उन दोष, गुण आदिका निरूपण न करके इस चतुर्थ उल्लासमें ग्रन्थकार ध्वनिकाव्यके भेदोंका निरूपण प्रारम्भ कर रहे हैं। वह जो क्रमभेद उन्होंने किया है इसका स्पष्टीकरण देना आवश्यक हो जाता है; उसे आगे देते हैं।

इस क्रमभेदका कारण यह है कि गुण, दोष, अलङ्कार आदि सब काव्यके 'धर्म' हैं। काव्य 'धर्मी' है। जबतक 'धर्मी' रूप काव्यका पूर्ण ज्ञान न हो जाय तबतक उसके धर्मोंका स्वरूप या हेयता-उपादेयता आदिका ज्ञान भी ठीक तरहसे नहीं हो सकता है। इसलिए गुण, दोष आदिके निरूपणके पूर्व भेदोपभेद-सहित काव्यका सम्पूर्ण चित्र उपस्थित कर देना आवश्यक है। काव्यका लक्षण और उसके ध्वनि, गुणीभूत व्यङ्ग्य तथा चित्र-काव्य नामक तीन मुख्य भेद तो प्रथम उल्लासमें बतलाये जा चुके हैं, परन्तु उनके अवान्तर भेदोंका निरूपण करना शेष है। इस कार्यको ग्रन्थकार अगले ४—६ तक तीन उल्लासोंमें करेंगे। इनमेंसे इस चतुर्थ उल्लासमें ध्वनि-काव्यके अवान्तर भेदोंका सविस्तर वर्णन किया जा रहा है। पञ्चम उल्लासमें गुणीभूत व्यङ्ग्यके भेदोंका और छठें उल्लासमें चित्र-काव्यके भेदोंका निरूपण किया जायगा। इस प्रकार इन तीन उल्लासोंमें काव्यके भेदोपभेदोंका निरूपण कर चुकनेके बाद सातवें उल्लाससे दोष, गुण, अलङ्कार आदिका विवेचन आरम्भ करेंगे और दशम उल्लासतक काव्य-लक्षणकी व्याख्या पूर्ण हो जायेगी।

स्वाभाविक क्रममें इस प्रकारके परिवर्तन करनेके इसी कारणको दिखलाते हुए ग्रन्थकार इस चतुर्थ उल्लासका प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं—

यद्यपि [काव्य-लक्षणके विशेष्य-भाग] शब्द तथा अर्थका निर्णय करनेके बाद [स्वाभाविक रूपसे] दोष, गुण, तथा अलङ्कारोंके स्वरूपका कथन करना चाहिये था, परन्तु धर्मी [मुख्यभूत-काव्य] का निरूपण करनेपर ही [दोष, गुण आदि] धर्मोंकी हेयता या उपादेयताका ज्ञान हो सकता है इसलिए [दोष आदिका निरूपण छोड़कर] [पहले धर्मी रूप] काव्यके भेदोंको कहते हैं—

[सू० ३९]–अविवक्षित-वाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ २४ ॥

लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविवक्षितं वाच्यं यत्र सः । ध्वनौ इत्यनुवादात् ध्वनिरिति ज्ञेयः । तत्र च वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम् ।

विगतका स्मरण—

यहाँ ग्रन्थकारने एकदम ध्वनि-काव्यके विभेद करने प्रारम्भ कर दिये हैं, इससे पाठक जरा कठिनाईमें पड़ जाता है। बिना अवतरणिकाके एकदम विषय सामने आ जानेसे उसे प्रसङ्ग समझनेके लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। वह इस विचारमें पड़ जाता है कि यह क्या प्रारम्भ हो गया है। इस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए प्रथम उल्लासमें पहले किये हुए काव्यके भेदोंका स्मरण कर लेना आवश्यक है। उससे विषयके हृदयङ्गम करनेमें सुविधा होगी। ग्रन्थकार काव्यके ध्वनि, गुणीभूत-व्यङ्ग्य तथा चित्र-काव्य नामसे तीन प्रकारके भेद कर चुके हैं। इन तीनों मुख्य भेदोंके भी फिर और अवान्तर भेद होते हैं। इन सब भेदोपभेदोंका आगे यथाक्रम निरूपण किया जायगा। इसी प्रसङ्गसे सबसे पहिले ध्वनि-काव्यके अवान्तर भेदोंका विभाजन इस चतुर्थ उल्लासमें किया जा रहा है।

अविवक्षितवाच्य लक्षणामूलध्वनिके दो भेद—

जैसा कि इसी उल्लासमें आगे स्पष्ट होगा—ध्वनि-काव्यके भेदोपभेदोंका भी बहुत अधिक विस्तार इस शास्त्रमें किया गया है। परन्तु उसके मुख्य दो भेद हैं—एक 'अविवक्षितवाच्य-ध्वनि' और दूसरा 'विवक्षितवाच्य-ध्वनि'। 'अविवक्षितवाच्य-ध्वनि' का दूसरा नाम 'लक्षणामूल-ध्वनि' तथा 'विवक्षितवाच्य' का दूसरा नाम 'अभिधामूल-ध्वनि' भी है। लक्षणामूल-ध्वनिमें वाच्य विवक्षित नहीं होता है। इसीलिए उसका नाम 'अविवक्षितवाच्य-ध्वनि' रखा गया है। इसके भी फिर दो अवान्तर भेद होते हैं। एक 'अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य' और दूसरा 'अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य'। 'अविवक्षितवाच्य' या 'लक्षणामूल-ध्वनि'के इन दोनों भेदोंके लक्षण तथा उदाहरण दिखलानेके लिए ग्रन्थकार लिखते हैं—

[सू० ३९] अविवक्षितवाच्य [अर्थात् लक्षणामूल] जो [ध्वनि-भेद] है उस ध्वनि [भेद] में वाच्य या तो अर्थान्तरमें संक्रमित [हो जाता है] या अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है। [इस प्रकार अविवक्षित-ध्वनिके 'अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य' और 'अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य', दो भेद होते हैं] ॥२४॥

[अविवक्षितवाच्य-ध्वनि का दूसरा नाम लक्षणामूल-ध्वनि भी है। इसलिए] लक्षणामूल गूढव्यङ्ग्यकी प्रधानता होनेपर ही जहाँ वाच्य अविवक्षित होता है वह [अविवक्षितवाच्य-ध्वनि भेद कहलाता है। यद्यपि कारिकामें 'अविवक्षितवाच्यो ध्वनिः' इस प्रकार विशेष्य-भूत प्रथमान्त ध्वनि पदका प्रयोग नहीं किया गया है अपितु उसीका 'ध्वनौ' यह सप्तम्यन्त रूप प्रयुक्त हुआ है। उसीसे पहले ध्वनि इस प्रथमान्त पदका भी आक्षेप कर लेना चाहिये, इस बातको वृत्तिकार कहते हैं।] 'ध्वनौ' इस [पद] के द्वारा [पूर्वकथित 'ध्वनि'के] अनुवादसे [पूर्ववाक्यमें] 'ध्वनिः' इस [प्रथमान्त विशेष्य पदके अध्याहार] को भी समझ लेना चाहिये। उस अविवक्षितवाच्य-ध्वनि-भेद] में कहीं वाच्य [यथाश्रुत रूपमें अन्वित होनेके] अनुपयुक्त होनेसे [अपने किसी विशेष भेदरूप] अर्थान्तरमें परिणत हो जाता है। उसे 'अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य-ध्वनि' कहते हैं।]

यथा—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥२३॥

अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति ।

क्वचिदनुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम् । यथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥ २४ ॥

एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया, कश्चिद्वक्ति ॥

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यका उदाहरण—

जैसे—

मैं तुमसे कहता हूँ कि यहाँ विद्वानोंका समुदाय रहता है इसलिए अपनी बुद्धिको ठीक करके [जरा सँभलकर] रहना ॥ २३ ॥

यहाँ वचन आदि [का साधारण अर्थ कथन आदि, प्रकृतमें अनुपयुक्त होनेसे] उपदेश आदि रूपमें परिणत हो जाता है । [अतः यह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनिका उदाहरण है] ।

यह अपने शिष्यके प्रति किसी विद्वान्की उक्ति है । 'देख मैं तुझसे कहता हूँ' यहाँ वक्ता और बोद्धा, दोनों एक-दूसरेके सामने ही उपस्थित हैं इसलिए 'त्वां वच्मि' पदोंका प्रयोग किये बिना भी बात कही जा सकती थी । अतः 'त्वां' पदका प्रयोग अन्योंसे व्यावृत्त कर उस शिष्यकी विशेषताको सूचित करता है, फिर वह विशेषता चाहे विशेष कृपापात्रता-रूप हो अथवा शिष्यकी अनुभव-हीनता आदि रूप हो । इसी प्रकार 'वच्मि' इस क्रियापदसे उसके कर्ता 'अहम्'का ज्ञान हो सकता था इसलिए विशेष रूपसे 'अस्मि' अर्थात् 'अहम्' पदके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं थी । परन्तु 'अस्मि' या अहम् पद कहनेवालेकी विशेष हित-भावना और अनुभवशीलता आदिको व्यक्त करता है । इसी प्रकार 'वच्मि' पद साधारण अर्थको छोड़कर 'उपदेश करता हूँ' इस विशेष अर्थका बोधन करता है । इस प्रकार इस श्लोकके अनेक पद अपने वाच्यार्थके अनुपयुक्त होनेसे अर्थान्तरमें संक्रमित हो जाते हैं । इसलिए यह लक्षणामूलध्वनिके 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि' नामक उपभेदका उदाहरण है ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनिका उदाहरण—

अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूल-ध्वनिका दूसरा भेद 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि' होता है जहाँ वाच्यार्थका सीधा वाच्यतावच्छेदक रूपसे अन्वय नहीं बनता है वहाँ शब्द अपने सामान्य अर्थको छोड़कर स्वसम्बद्ध किसी विशिष्ट अर्थको बोधित करता है । वहाँ अर्थासंक्रमित वाच्यध्वनि होता है । उसका लक्षण तथा उदाहरण आगे देते हैं—

कहीं [वाच्यार्थ] अनुपपद्यमान होनेसे अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है । [उसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि कहते हैं] जैसे—

आपने बड़ा उपकार किया है, कहाँ तक प्रशंसा की जाय ! हे मित्र, सदा ऐसा ही करते हुए तुम सैकड़ों वर्षतक सुखी होकर [इस संसारमें] रहो । २४ ।

कोई [अपकृत व्यक्ति] अपकार करनेवालेके प्रति विपरीत-लक्षणासे यह कह रहा है ।

[सू० ४०]-विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।
अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् । एष च-
[सू० ४१]-कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥ २५ ॥

जिस व्यक्तिके साथ उसके किसी मित्रने अत्यन्त अपकार किया है उस अपकारी मित्रके प्रति उस सताये गये अपकृत व्यक्तिकी यह उक्ति है। इसमें 'उपकृतं' आदि शब्दोंके मुख्य अर्थकी कोई भी सङ्गति नहीं लग सकती है। इसलिए विपरीत लक्षणा अर्थात् वैपरीत्य-सम्बन्ध-मूलक लक्षणासे उन शब्दोंका एकदम उल्टा अर्थ हो जाता है। इस प्रकार वाच्य अर्थका अत्यन्त तिरस्कार करके 'उपकृतं' आदि शब्द 'अपकृतं' आदि अर्थके बोधक बन जाते हैं। तब उस विपरीत-लक्षणासे इस श्लोकका अर्थ बदलकर निम्न प्रकारका हो जाता है—

तुमने बड़ा धोखा दिया, बड़ा अपकार किया है, उसकी जहाँ तक निन्दा की जाय थोड़ी है। तुमने वास्तवमें अत्यन्त दुष्टताका परिचय दिया है। अरे मित्रद्रोही, अपकार करनेवाले, तेरे जैसा व्यक्ति जितनी जल्दी इस संसारको छोड़ दे उतना ही अच्छा है।

विवक्षितवाच्य या अभिधामूल-ध्वनिके भेद—

इस प्रकार 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' या 'लक्षणामूलध्वनि' के दो भेद और उन दोनोंके उदाहरण दिखला दिये। अब ध्वनि-काव्यका जो दूसरा मुख्य भेद 'विवक्षितवाच्यध्वनि' या 'अभिधामूलध्वनि' बतलाया था उसके भेद आगे दिखलायेंगे। इस 'अभिधामूल' या 'विवक्षितवाच्य ध्वनि'के भी पहले असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, दो भेद होते हैं, जिनमें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि ध्वनिको कहते हैं। इसके यदि अवान्तर भेद किये जायँ तो उनकी गणना करना ही कठिन हो जायगा। इसलिए 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य'के भेदोंका अधिक विस्तार न करके गणनाके लिए उसका एक ही भेद मान लिया गया है। दूसरे 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' नामक भेदके फिर १ शब्दशक्त्युत्थ, २ अर्थ-शक्त्युत्थ और ३ उभय-शक्त्युत्थ इस प्रकार तीन अवान्तर उपभेद किये गये हैं। इनमेंसे शब्द-शक्त्युत्थ ध्वनिके फिर वस्तु-ध्वनि तथा अलङ्कार-ध्वनिरूप दो अवान्तर उपभेद, अर्थ-शक्त्युत्थ ध्वनि के १२ अवान्तर उपभेद तथा उभय-शक्युत्थका एक भेद कुल १५ संलक्ष्यक्रमके और एक असंलक्ष्यक्रमका १६ भेद मिलाकर अभिधामूलाके किये गये हैं। इस प्रकार 'अविवक्षितवाच्य' अर्थात् 'लक्षणामूल' ध्वनिके दो भेद, और 'विवक्षितवाच्य' या 'अभिधामूल' ध्वनिके १६, कुल मिलाकर ध्वनि-काव्यके २ + १६ = १८ भेद होते हैं। इनमेंसे लक्षणामूल-ध्वनिके दो भेद पहले दिखलाये जा चुके हैं। अब 'अभिधामूल' या 'विवक्षितवाच्य' ध्वनिके १६ भेदोंका वर्णन करेंगे।

[सू० ४०]—यहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित [अर्थात् वाच्यतावच्छेदक रूपसे अन्वय योग्य] होनेपर भी अन्य-पर [अर्थात् व्यङ्ग्य-निष्ठ] होता है; यह [ध्वनि-काव्यका अभिधामूल ध्वनि या] विवक्षितान्यपरवाच्य नामक दूसरा भेद होता है।

अन्यपर [शब्दका अर्थ] व्यङ्ग्यनिष्ठ है। और यह—

[सू० ४१]—[इस विवक्षितान्यपरवाच्य या अभिधामूलध्वनिके भी दो भेद होते हैं। एक तो] कोई [अनिर्वचनीय अनुभवैकगोचर रसध्वनि रूप] अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [जिसमें वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थोंके क्रमकी प्रतीति नहीं होती है इस प्रकारका] और दूसरा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [जिसमें वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थोंका क्रम लक्षित होता है इस प्रकारका ध्वनिकाव्य] होता है ॥ २५ ॥

अलक्ष्येति । न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः, अपि तु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः स तु लाघवान्न लक्ष्यते ।

तत्र—

[सू० ४२]—**रस-भाव-तदाभास-भावशान्त्यादिरक्रमः ।**
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥ २६ ॥

आदिग्रहणाद्भावोदय—भावसन्धि—भावशबलत्वानि । प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालङ्कार्यः, यथोदाहरिष्यते । अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये रसवत्-प्रेय-ऊर्जस्वि-समाहितादयोऽलङ्काराः । ते च गुणीभूतव्यङ्ग्या-भिधाने उदाहरिष्यन्ते ।

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादिध्वनि—

यहाँ अभिधामूल ध्वनिके असंलक्ष्यव्यङ्ग्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, दो भेद किये हैं। इनमें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि रसादिध्वनिको कहते हैं। यहाँ विशेष रूपसे यह बात ध्यान देने योग्य है कि ग्रन्थकारने उसको 'अक्रमव्यङ्ग्य' न कहकर 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनि कहा है। इसका अभिप्राय यह होता है कि उसमें वाच्य और व्यङ्ग्यकी प्रतीतिका क्रम होता तो अवश्य है, परन्तु शीघ्रताके कारण वह क्रम दिखलाई नहीं देता है। विभाव-अनुभाव आदिकी प्रतीति ही रस नहीं है अपितु उनकी प्रतीति रसप्रतीतिका कारण है। विभावादिकी प्रतीति होनेके बाद रसादिकी प्रतीति होती है। इसलिए रसादिकी प्रतीतिमें क्रम अवश्य रहता है, परन्तु जैसे कमलके सौ पत्तोंको एक साथ रखकर उनमें सुई चुभायी जाय तो वह उन पत्तोंका भेदन तो क्रमसे ही करती है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक साथ सौ पत्तोंके पार पहुँच गयी है। इसी प्रकार रसकी अनुभूतिमें विभावादिकी प्रतीतिका क्रम होनेपर भी उसकी प्रतीति न होनेसे उसको 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनि कहा गया है।

अलक्ष्य [क्रम व्यङ्ग्य] इससे [यह सूचित किया है कि] विभाव आदि [की प्रतीति] ही रस नहीं है अपितु उन [विभावादिकी प्रतीति] से रस [उत्पन्न या अभिव्यक्त] होता है। इसलिए [रसकी प्रतीतिमें भी] क्रम तो है परन्तु शीघ्रताके [अतिशयके] कारण अनुभव नहीं होता है।

उन [अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनिके अनेकों भेदों] मेंसे—

[सू० ४२] रस, भाव, तदाभास [अर्थात् रसाभास तथा भावाभास] और भाव शान्ति आदि [अर्थात् १ भावोदय, २ भावशान्ति, ३ भावसन्धि एवं ४ भाव-शबलता] अलक्ष्यक्रम [ध्वनि, प्रधान होनेके कारण] अलङ्कार्य होनेसे 'रसवत्' आदि [अर्थात् रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित्, समाहित, इन चारों] अलङ्कारों से भिन्न है ॥ २६ ॥

आदि [पदके] ग्रहणसे १ भावोदय, २ भावसन्धि और ३ भावशबलत्व [का भी भी ग्रहण होता है]। जहाँ रस आदि प्रधान रूपसे स्थित होते हैं वहाँ वे अलङ्कार कहलाते हैं, जैसे कि [उनके] उदाहरण आगे देंगे। और जहाँ अन्य [वस्तु या अलङ्कार आदि रूप] वाक्यार्थके प्रधान होनेपर रसादि [उन वस्तु या अलङ्कार आदिके] अङ्ग होते हैं उनमें [रसादिके] गुणीभूतव्यङ्ग्य होनेपर १ रसवत्, २ प्रेय, ३ ऊर्जस्वित् और ४ समाहित आदि [चार प्रकारके रसवत्] अलङ्कार होते हैं। गुणीभूतव्यङ्ग्यके निरूपणके प्रसङ्गमें उनके उदाहरण देंगे।

तत्र रसस्वरूपमाह—

[सू० ४३]—कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥२७॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥२८॥

इस प्रकार 'अभिधामूल' या 'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनिके 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' तथा 'संलक्ष्यव्यङ्ग्य' नामके दो भेद यहाँतक किये गये हैं। उनमेंसे १ रस, २ भाव, ३ रसाभास, ४ भावाभास, ५ भावोदय, ६ भावसन्धि, ७ भावशबलत्व और ८ भावशान्ति ये आठों जब काव्यमें प्रधानरूपसे स्थित होते हैं तब रसादि रूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि-काव्य कहलाता है। और जब ये वस्तु या अलङ्कारादि किसी अन्यके अङ्ग बन जाते हैं तब गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्यका दूसरा भेद हो जाता है। यह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके स्वरूपका सामान्य रूपसे निरूपण किया है। इनमेंसे सबसे प्रधान रस है इसलिए आगे रसका निरूपण करेंगे।

रस-निरूपण—

[सू० ४३]—लोकमें रति आदि रूप स्थायी भावके जो [आलम्बन या उद्दीपनके] कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे यदि नाटक या काव्यमें [प्रयुक्त] होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं और उन विभाव आदि [रूप कारण, कार्य तथा सहकारियोंके योग] से व्यक्त वह [रति आदि रूप] स्थायी भाव 'रस' कहलाता है ॥ २७–२८ ॥

इन कारिकाओंमें विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायी भावसे रसकी निष्पत्तिका वर्णन किया गया है। और यह बतलाया है कि रति आदिकी उत्पत्तिके जो कारण हैं वे विभाव शब्दसे, कार्य अनुभाव शब्दसे, और सहकारी व्यभिचारिभाव नामसे कहे जाते हैं। इनमेंसे रति आदिके कारणका नाम 'विभाव' है। रति आदिके कारण दो प्रकारके होते हैं, एक आलम्बनरूप और दूसरे उद्दीपनरूप। सीता राम आदि एक दूसरेकी प्रीतिके आलम्बनरूप कारण होते हैं। क्योंकि सीताको देखकर रामके मनमें और रामको देखकर सीताके मनमें प्रेम या रतिकी उत्पन्न होती है। इसलिए वे दोनों आलम्बन-विभाव कहलाते हैं और परस्पर रति या प्रेमकी उत्पत्तिके प्रति कारण होते हैं। इस प्रीति या रतिको उद्बुद्ध करनेवाली चाँदनी, उद्यान, नदी—तीर आदि सामग्रीको उद्दीपन-विभाव कहा जाता है, क्योंकि वे पूर्वोत्पन्न रति आदिको उद्दीप्त करनेवाले हैं। इस प्रकार आलम्बन और उद्दीपन दोनों मिलकर स्थायी भावको व्यक्त करते हैं।

१ स्थायी भाव—

रसकी प्रक्रियामें आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव को रसका बाह्य कारण समझना चाहिये। रसानुभूतिका आन्तरिक और मुख्य कारण स्थायी भाव है। स्थायी भाव मनके भीतर स्थिर रूपसे रहनेवाला प्रसुप्त संस्कार है जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपन-रूप उद्बोधक सामग्रीको प्राप्तकर अभिव्यक्त हो उठता है और हृदयमें एक अपूर्व आनन्दका सञ्चार कर देता है। इस स्थायी भावकी अभिव्यक्ति ही रसास्वाद-जनक या रस्यमान होनेसे रस-शब्दसे बोध्य होती है। इसीलिए 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावः रसः स्मृतः' आदि कहा गया है।

अर्थात् उन पूर्वोक्त विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंके संयोगसे व्यक्त होनेवाले स्थायिभावको रस कहते हैं।

व्यवहार दशामें मनुष्यको जिस-जिस प्रकारकी अनुभूति होती है उसको ध्यानमें रखकर प्रायः आठ प्रकारके स्थायी भाव साहित्यशास्त्रमें माने गये हैं। काव्यप्रकाशकारने उनकी गणना इस प्रकार की है—

[सू० ४५]—रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।

जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥

अर्थात् १ रति, २ हास, ३ शोक, ४ क्रोध, ५ उत्साह, ६ भय, ७ जगुप्सा या घृणा, और ८ विस्मय ये आठ स्थायी भाव कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त ९ निर्वेदको भी नौवाँ स्थायी भाव माना गया है। काव्यप्रकाशकारने लिखा है—

[सू० ४७]—निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।

इस प्रकार नौ स्थायी भाव और उनके अनुसार ही १ शृङ्गार, २ हास्य, ३ करुण, ४ रौद्र, ५ वीर, ६ भयानक, ७ वीभत्स, ८ अद्भुत और ९ शान्त ये नौ रस माने गये हैं।

ये नौ स्थायिभाव मनुष्यके हृदयमें स्थायी रूपसे सदा विद्यमान रहते हैं इसीलिए 'स्थायी भाव' कहलाते हैं। सामान्य रूपसे वे अव्यक्तावस्थामें रहते हैं। किन्तु जब जिस स्थायिभावके अनुकूल विभावादि सामग्री प्राप्त हो जाती है तब वह व्यक्त हो जाता है और रस्यमान या आस्वाद्यमान होकर रसरूपताको प्राप्त हो जाता है।

मनोविज्ञान और स्थायिभाव—

स्थायिभावोंका जो यह निरूपण साहित्यशास्त्रमें किया गया है वह विशुद्ध मनोवैज्ञानिक आधारपर किया गया है। मनोविज्ञानके मूल सिद्धान्त आजके समान पूर्वकालमें भी ज्ञात थे। केवल उनकी अभिव्यक्तिकी शैलीमें भेद है। आधुनिक मनोविज्ञान जिनको मूल प्रवृत्तियोंसे सम्बद्ध 'मनः-संवेग' कहता है उन्हींको साहित्यशास्त्रमें 'स्थायिभाव' नामसे कहा गया है। नवीन मनोविज्ञानके 'मनःसंवेग' और प्राचीन साहित्यशास्त्र के 'स्थायिभाव' एक ही तत्त्वके विभिन्न नाम हैं।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैगड्गलने १४ प्रकारकी मूल प्रवृत्तियाँ और उनसे सम्बद्ध १४ 'मनः-संवेग' माने हैं। मूल प्रवृत्तिकी परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है—

'मूल-प्रवृत्ति वह प्रकृति-प्रदत्त शक्ति है जिसके कारण प्राणी किसी विशेष प्रकारके पदार्थकी ओर ध्यान देता है और उसकी उपस्थितिमें विशेष प्रकारके संवेग या मनःक्षोभका अनुभव करता है।'

मैगड्गलने जो चौदह प्रकारकी मूल प्रवृत्तियाँ मानी हैं, उनकी तथा उनके साथ सम्बद्ध मनः-संवेगोंकी तालिका भी उन्होंने प्रस्तुत की है। मैगड्गलकी बनाई हुई तालिकामें पहला स्थान मूल प्रवृत्तियोंको दिया गया है और दूसरा स्थान सम्बद्ध मनःसंवेगोंको दिया गया है। परन्तु जब वह मनोविज्ञानके विषयका विवेचन कर रहे हैं तब उन्हें मनोधर्म या मनःसंवेगोंको ही प्रधानता देनी चाहिये थी। इसका अभिप्राय यह है कि उनकी अपनी तालिकामें मूल प्रवृत्तियोंके बजाय मनः-संवेगोंको प्रथम स्थान देना चाहिये था और उसके बाद मनःसंवेगोंसे सम्बद्ध मूल प्रवृत्तियोंका निर्देश करना चाहिये था, क्योंकि मूल प्रवृत्तियोंके कारण, मूल प्रवृत्तियोंको प्रेरणा देनेवाली शक्ति, मनःसंवेग ही हैं। इसी दृष्टिसे हमने उस तालिकाके क्रममें परिवर्तन कर मनःसंवेगको पहिले तथा मूल प्रवृत्तिको पीछे कर दिया है। तदनुसार मैगड्गलके चौदह मनःसंवेगों तथा मूल प्रवृत्तियोंकी सूची और उनके साथ स्थायिभावों तथा रसोंका समन्वय करके दोनोंकी तुलनात्मक सूची हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस सूचीको देखनेसे मनोव्यापारोंके मनःसंवेगात्मक नव्य विभाजन और स्थायिभावात्मक प्राचीन विभाजनमें विस्मय-जनक समता प्रतीत होगी ।

मनःसंवेगों और स्थायिभावोंका तुलनात्मक चित्र

नव्य मनोविज्ञानके अनुसार		प्राचीन साहित्यशास्त्रके अनुसार	
मनः संवेग	मूल प्रवृत्तियाँ	स्थायिभाव	रस
१ भय	पलायन तथा आत्मरक्षा	भय	भयानक-रस
२ क्रोध	युयुत्सा	क्रोध	रौद्र-रस
३ घृणा	निवृत्ति, वैराग्य	जुगुप्सा	वीभत्स-रस
४ करुणा, दुःख	शरणागति	शोक	करुण-रस
५ काम	कामप्रवृत्ति	रति	शृङ्गार-रस
६ आश्चर्य	कौतूहल, जिज्ञासा	विस्मय	अद्भुत-रस
७ हास	आमोद	हास	हास्य-रस
८ दैन्य	आत्महीनता	निर्वेद	शान्त-रस
९ आत्मगौरव, उत्साह	आत्माभिमान	उत्साह	वीर-रस
१० वात्सल्य, स्नेह	पुत्रैषणा	वात्सल्य, स्नेह	वात्सल्य-रस

इनके अतिरिक्त १ भोजनान्वेषणकी प्रवृत्ति, २ संग्रहकी प्रवृत्ति, ३ सामूहिकताकी प्रवृत्ति, ४ विधायकता या रचनाकी प्रवृत्ति इन चार प्रकारकी मूल-प्रवृत्तियोंका भी उल्लेख मैगडूगलने किया है। परन्तु उनका सम्बन्ध रससे नहीं है और उनको मौलिक मनःसंवेग कहना भी उचित नहीं प्रतीत होता है। प्राचीन भारतीय आचार्योंने मौलिक रूपसे नौ प्रकारके मनःसंवेग मानकर साहित्य-शास्त्रमें नौ रसों या नौ प्रकारके स्थायिभावोंकी ही स्थापना की है। इस प्रकार स्थायिभावोंका सिद्धान्त प्राचीन मनोविज्ञानके सिद्धान्तपर आधारित है।

चार मौलिक रसोंका सिद्धान्त—

अधिक सूक्ष्म विवेचन करनेवाले धनिक तथा धनञ्जय आदि आचार्योंने नौ मौलिक मनः-संवेगों अथवा स्थायिभावोंके स्थानपर केवल चार स्थायिभाव या चार रस माननेका भी निर्णय किया है और शेष रसोंकी उत्पत्ति उन चारसे ही मानी है। उनका कहना है कि रसानुभूतिके कालमें चित्त-की विकास, विस्तार, विक्षोभ तथा विक्षेप रूप चार प्रकारकी ही अवस्थाएँ होती हैं इसलिए चार ही रस मानने चाहिये। दशरूपककारने इस विषयका विवेचन करते हुए लिखा है—

विकास—विस्तार—क्षोभ—विक्षोभैः स चतुर्विधः ॥
शृङ्गार—वीर—वीभत्स—रौद्रेषु मनसः क्रमात् ।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥

अर्थात् काव्यके परिशीलनसे आत्मामें आनन्दकी अनुभूतिका नाम स्वाद या रसास्वाद है। वह आत्मानन्द चित्तके विकास, विस्तार, विक्षोभ तथा विक्षेप रूपसे चार प्रकारका होता है। चित्तकी यह चार प्रकारकी अवस्था क्रमशः शृङ्गार, वीर, वीभत्स तथा रौद्र रसमें होती है। शेष हास्य, अद्-भुत, भयानक तथा करुण रसमें भी चित्तकी वे ही अवस्थाएँ होती हैं—

यतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम् ॥
शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥

अर्थात् शृङ्गार रससे हास्यकी उत्पत्ति होती है और रौद्ररससे करुणरस उत्पन्न होता है। इसी प्रकार वीररससे अद्भुत तथा बीभत्सरससे भयानकरसकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् हास्य आदि अन्तिम चार रसोंकी उत्पत्ति, शृङ्गार आदि पहिले चार रसोंसे होती है। इसलिए चार ही मुख्य-रस हैं, इस प्रकारका अवधारण किया जा सकता है।

इस प्रकार प्राचीन साहित्यशास्त्रियोंने जो रस और उनसे सम्बद्ध स्थायिभावोंकी कल्पना की थी वह पूर्णतः मनोवैज्ञानिक आधारपर ही की थी। आजके मनोविज्ञानके सिद्धान्तोंके आधारपर भी उसकी मनोवैज्ञानिकताका समर्थन किया जा सकता है

२ विभाव—

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, रसानुभूतिके कारणोंको 'विभाव' कहते हैं। वे दो प्रकारके होते हैं—एक 'आलम्बन-विभाव' और दूसरे 'उद्दीपन-विभाव'। जिसको आलम्बन करके रसकी उत्पति होती है उसको 'आलम्बन-विभाव' कहते हैं। जैसे सीताको देखकर रामके मनमें, और रामको देखकर सीताके मनमें रतिकी उत्पत्ति होती है और उन दोनोंको देखकर सामाजिकके भीतर रसकी अभिव्यक्ति होती है। इसलिए सीता, राम आदि शृङ्गार रसके 'आलम्बन-विभाव' कहलाते हैं। चाँदनी, उद्यान, एकान्त स्थान आदिके द्वारा उस रतिका उद्दीपन होता है। इसलिए इनको शृङ्गाररसका 'उद्दीपन-विभाव' कहा जाता है। प्रत्येक रसके आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव अलग-अलग होते हैं।

३ अनुभाव—

'स्थायिभाव' रसानुभूतिका प्रयोजक अन्तरङ्ग या आभ्यन्तर कारण है। आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव उसके बाह्य या बहिरङ्ग कारण हैं। इसी प्रकार अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव उस आन्तर रसानुभूतिसे उत्पन्न, उसकी बाह्याभिव्यक्तिके प्रयोजक शारीरिक तथा मानसिक व्यापार हैं। इनको रसका कारण, कार्य तथा सहकारी कहा जाता है। साहित्यदर्पणकारने अनुभावका लक्षण इस प्रकार किया है—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः॥ ३, १३२।

अर्थात् अपने-अपने आलम्बन या उद्दीपन कारणोंसे, सीता-राम आदिके भीतर उद्बुद्ध रति आदि रूप स्थायिभावको बाह्यरूपमें जो प्रकाशित करता है वह रत्यादिका कार्यरूप, काव्य और नाट्यमें 'अनुभाव'के नामसे कहा जाता है।

भरतमुनिने अनुभावका लक्षण निम्नलिखित प्रकार किया है—

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः॥ ७-५।

अर्थात् जो वाचिक या आङ्गिक अभिनयके द्वारा रत्यादि स्थायिभावकी आन्तर अभिव्यक्ति रूप अर्थका बाह्य रूपमें अनुभव कराता है उसको 'अनुभाव' कहते हैं।

भरत-नाट्यशास्त्रके अनुसार अनुभावोंका विशेष उपयोग अभिनयकी दृष्टिसे ही होता है। किसी रसकी बाह्य अभिव्यक्तिके लिए अलग-अलग अभिनय-शैलीका अवलम्बन किया जाता है। अलग-अलग रसको प्रकाशित करनेवाले स्मित आदि बाह्य व्यापार 'अनुभाव' कहलाते हैं और वे प्रत्येक रसमें अलग-अलग होते हैं। वैसे अनुकार्यकी दृष्टिसे भी वे उसकी रसानुभूतिके बाह्य प्रदर्शक होते हैं।

भरतमुनिने नाट्यशास्त्रके सप्तमाध्यायमें अलग-अलग स्थायिभावों और रसोंके अनुभावोंका वर्णन इस प्रकार किया है—

स्थायिभाव और उनके अनुभावोंका चित्र

	स्थायिभाव	उनके अनुभाव
१	रतिः	तामभिनयेत् स्मितवदन-मधुरकथन-भ्रूक्षेप-कटाक्षादिभिरनुभावैः ।
२	हासः	तमभिनयेत् पूर्वोक्तैर्हसितादिभिरनुभावैः ।
३	शोकः	तस्यास्रपात-परिदेवित-विलपित-वैवर्ण्य-स्वरभेद - स्रस्तगात्रता - भूमिपतन-सस्वनरुदित-आक्रन्दित-दीर्घनिःश्वसित-जडता-उन्माद-मोह - मरणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।
४	क्रोधः	अस्य विकृष्टनासापुट-उद्वृत्तनयन-सन्दष्टोष्ठपुट-गण्डस्फुरणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।
५	उत्साहः	तस्य धैर्य-शौर्य-त्याग-वैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।
६	भयम्	तस्य प्रकम्पितचरण-हृदयकम्पन-स्तम्भ-मुखशोष-जिह्वापरिलेहन-स्वेद-वेपथु-त्रास-परित्राणान्वेषण-धावन-उत्कुष्टादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।
७	जुगुप्सा	तस्याः सर्वाङ्गसङ्कोच - निष्ठीवन-मुखविकूणन - हृल्लेखादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।
८	विस्मयः	तस्य नयनविस्तार-अनिमिषप्रेक्षित-भ्रूक्षेप-रोमहर्षण-शिरःकम्प-साधुवादादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

भरतमुनिके द्वारा अनुभावोंका यह जो विशेष रूपसे अभिनयमें प्रयोग दिखलाया गया है उससे प्रतीत होता है कि अनुभाव वस्तुतः आन्तर रसानुभूतिकी बाह्य अभिव्यञ्जनाके साधन हैं और उनमें शारीरिक व्यापारकी प्रधानता रहती है। नट कृत्रिम रूपसे इन अनुभवोंका अभिनय करता है परन्तु अनुकार्य राम आदिकी अन्तःस्थ रसानुभूतिकी बाह्य अभिव्यक्ति इन साधनोंके द्वारा होती है। वे रसानुभूतिके 'अनु पश्चाद् भवन्ति इत्यनुभावाः' बादमें होते हैं, रसानुभूतिके कार्य होते हैं, इसलिए 'अनुभाव' कहलाते हैं। अथवा अनुकार्य राम आदिकी रसानुभूतिका अनुभव, अनुमान सामाजिकोंको कराते हैं, इसलिये अनुभाव कहलाते हैं।

४ व्यभिचारिभाव—

उद्बुद्ध हुए स्थायिभावोंकी पुष्टि तथा उपचयमें जो उनके सहकारी होते हैं उनको व्यभिचारिभाव कहते हैं। भरतमुनिने 'नाट्यशास्त्र'के सप्तम अध्यायमें व्यभिचारिभाव शब्दकी निरुक्ति करते हुए लिखा है—

'व्यभिचारिण इदानीं व्याख्यास्यामः। अत्राह—व्यभिचारिणः कस्मात्। उच्यते वि-अभि इत्येतावुपसर्गौ, चर इति गत्यर्थो धातुः। विविधं आभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः। अत्राह-कथं नयन्तीति। उच्यते, लोकसिद्धान्त एषः यथा सूर्यो इदं दिनं नक्षत्रं वा नयतीति। न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते। किन्तु लोक प्रसिद्धमेतत्, यथेदं सूर्यो नक्षत्रं दिनं वा नयतीति। एवमेते व्यभिचारिणः इत्यवगन्तव्या। तानिह संग्रहाभिहितांस्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणो भावान् वर्णयिष्यामः।

उक्तं हि भरतेन—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इति ।

एतद्विवृण्वते—

अर्थात् जो रसोंमें नाना रूपसे विचरण करते हैं और रसोंको पुष्ट कर आस्वादके योग्य बनाते हैं उनको 'व्यभिचारिभाव' कहते हैं। इन व्यभिचारिभावोंकी संख्या ३३ मानी गयी है। ये ३३ व्यभिचारिभाव सब रसोंमें मिलकर होते हैं। अलग-अलग रसोंके हिसाबसे उनका वर्गीकरण नहीं किया गया है। भरतमुनिने व्यभिचारिभावोंकी गणना इस प्रकार की है—

[1]निर्वेद-ग्लानि-शङ्काख्यास्तथासूया मदः श्रमः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृति-र्धृतिः ॥ १८ ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥ १९ ॥
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ २० ॥
त्रासश्चैवं वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ २१ ॥

भरतमुनिका रससूत्र—

रसकी निष्पत्तिका सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनिने अपने नाट्यशास्त्रमें किया है। वही सारे रस-सिद्धान्तकी आधार-भित्ति है। भरतमुनिके 'रससूत्र'की व्याख्यामें ही उत्तरवर्ती आचार्योंने अपनी शक्ति लगायी है और उसके परिणामस्वरूप, १ उत्पत्तिवाद, २ अनुमितिवाद, ३ भुक्तिवाद और ४ अभिव्यक्तिवाद इन चार सिद्धान्तोंका विकास हुआ है। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है इस भरत-सूत्रमें जो 'निष्पत्ति' शब्द आया है उसके भी चार अर्थ होते हैं। भट्टलोल्लटके मतमें 'निष्पत्ति'का अर्थ 'उत्पत्ति', शंकुकके मतमें 'अनुमिति', भट्टनायकके मतमें 'भुक्ति' और अभिनवगुप्तके मतमें 'निष्पत्ति' शब्दसे अभिव्यक्तिका ग्रहण होता है।

'विभाव-अनुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः' विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। यह भरतमुनिका सूत्र है। इस सूत्रकी अनेक प्रकारकी व्याख्या उनके टीकाकारोंने की है। जिनमेंसे १ भट्टलोल्लट, २ श्री शंकुक, ३ भट्टनायक तथा ४ अभिनवगुप्त मुख्य व्याख्याकार हैं। इन चार आचार्यों द्वारा की गई व्याख्या यहाँ काव्यप्रकाशकार मम्मटने भी उद्धृत की है। इन चारों आचार्यों द्वारा की जानेवाली यह व्याख्या अभिनवगुप्त-रचित भरतनाट्य-शास्त्रकी 'अभिनव-भारती' नामक टीकामेंसे ली गयी है। 'अभिनव-भारती' में यह सब प्रकरण बहुत लम्बा तथा कठिन है। मम्मटने उसका सारांश संक्षिप्त रूपमें उपस्थित कर दिया है, इतना ही अन्तर है। 'अभिनव-भारती'के आधारपर ही आगे ग्रन्थकार भरतके रससूत्र और उसकी चार प्रकारकी व्याख्याको प्रस्तुत करेंगे। वे पहले रस-सूत्र देते हैं।

[जैसा कि] भरतमुनिने कहा भी है—

'विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है'।

[पूर्ववर्ती १ भट्टलोल्लट, २ शंकुक, ३ भट्टनायक और ४ अभिनवगुप्त] इसकी [इस प्रकार] व्याख्या करते हैं—

१. नाट्यशास्त्र ६, १८-२१ ।

विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः; अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः; व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो; मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये; तद्रूपतानुसन्धानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस, इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः ।

भट्ट लोल्लटका उत्पत्तिवाद—

भरत-सूत्रके व्याख्याकारोंमें भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादके माननेवाले हैं। उनके मतमें विभाव-अनुभाव आदिके संयोगसे अनुकार्य राम आदिमें रसकी उत्पत्ति होती है। उनमें भी विभाव सीता आदि मुख्य रूपसे रसके उत्पादक होते हैं। अनुभाव उस उत्पन्न हुए रसको बोधित करनेवाले होते हैं और व्यभिचारिभाव उस उत्पन्न रसके परिपोषक होते हैं। अतः स्थायिभावके साथ विभावोंका उत्पाद्य-उत्पादक-भाव, अनुभावोंका गम्य-गमकभाव और व्यभिचारिभावोंका पोष्य-पोषक-भाव सम्बन्ध होता है। इसलिये भरत-सूत्रमें जो 'संयोग' शब्द आया है भट्टलोल्लटके मतमें उसके भी तीन अर्थ हैं। विभावोंके साथ संयोग अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादक-भाव-सम्बन्ध, अनुभावोंके साथ गम्य-गमक-भाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारिभावोंके साथ पोष्य-पोषक भावरूप सम्बन्ध 'संयोग' शब्दका अर्थ होता है। इसी बातको आगे कहते हैं—

विभावों [अर्थात् रसके आलम्बन तथा उद्दीपनके कारण भूत] ललना [आलम्बन विभाव] और उद्यान आदि [उद्दीपन विभावों] से, रति आदि [स्थायी] भाव उत्पन्न हुआ; [रति आदिकी उत्पत्तिके] कार्यभूत कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभावोंसे प्रतीतिके योग्य किया गया; और सहकारी रूप निर्वेद आदि व्यभिचारिभावोंसे पुष्ट किया गया; मुख्य रूपसे अनुकार्य रूप राम आदिमें, और उनके स्वरूपका अनुकरण करनेसे नटमें प्रतीयमान [अर्थात् आरोप्यमाण रत्यादि स्थायिभाव ही] रस [कहलाता] है। यह भट्ट-लोल्लट आदिका मत है।

यह जो भट्टलोल्लट आदिका मत दिखलाया है इसमें स्थायिभावके साथ विभावोंका 'संयोग' अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादक-भाव-सम्बन्ध, अनुभावोंके साथ गम्य-गमक-भाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारिभावोंके साथ पोष्य-पोषक-भाव सम्बन्ध 'संयोगसे अभिप्रेत है ऐसा मान कर ही व्याख्यामें क्रमशः 'जनितः', 'प्रतीतियोग्यः कृतः' तथा 'उपचितः' इन पदोंका प्रयोग किया गया है। दूसरी बात यह है कि इस मतमें रस मुख्य रूपसे अनुकार्य राम आदिमें रहता है और उनका अनुकर्ता होनेके कारण गौण रूपसे नटमें भी रसकी स्थिति मानी जाती है। परन्तु सामाजिकमें रसकी उत्पत्ति नहीं होती है। तीसरी बात यह है कि जैसे भरत-सूत्रमें आये हुए 'संयोग' शब्दके तीन अर्थ यहाँ माने गये हैं उसी प्रकार भरत-सूत्र में आये हुए 'निष्पत्ति' शब्दसे भी तीन अर्थ समझने चाहिये। विभावके साथ स्थायिभावका 'संयोग' अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादक-भाव सम्बन्ध होनेपर रसकी 'निष्पत्ति' अर्थात् 'उत्पत्ति' होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्दका अर्थ 'उत्पत्ति' होता है। अनुभावोंके साथ 'संयोग' अर्थात् 'गम्य-गमक-भाव' सम्बन्ध होनेपर रसकी 'निष्पत्ति' अर्थात् 'प्रतीति' होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्दका अर्थ 'प्रतीति' होता है। और व्यभिचारिभावोंके साथ 'पोष्य-पोषक-भाव सम्बन्ध होनेसे रसकी 'निष्पत्ति' अर्थात् 'पुष्टि' होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्दका अर्थ पुष्टि होता है। यह इस व्याख्याका अभिप्राय है।

इस व्याख्याको टीकाकारोंने मीमांसा-सिद्धान्तके अनुसार की गयी व्याख्या बतलाया है। 'मीमांसा'से यहाँ 'उत्तर-मीमांसा' अर्थात् 'वेदान्त'का ग्रहण करना चाहिये। वेदान्तमें जगत्की

'राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति, च सम्यङ्-मिथ्या-संशय-सादृश्य-प्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे—

'सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः ।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ॥ २५ ॥

आध्यासिक प्रतीति मानी गयी है। जैसे रज्जुमें सर्पकी आध्यासिक या आरोपित प्रतीतिके समय सर्पके विद्यमान न होनेपर भी सर्पकी प्रतीति और उससे भयादि कार्योंकी उत्पत्ति होती है; इसी प्रकार अभिनयादिके समय रामादिगत सीताविषयिणी अनुरागादिरूपा रतिके विद्यमान न होनेपर भी, नटमें विद्यमानरूपसे उसकी प्रतीति और उसके द्वारा सहृदयोंमें चमत्कारानुभूति आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है। इसी सादृश्यके कारण इस सिद्धान्तको 'मीमांसा' अर्थात् 'उत्तर-मीमांसा' या 'वेदान्त'का अनुगामी सिद्धान्त कहा जा सकता है। इस व्याख्याके करनेवाले भट्टलोल्लट मीमांसक पण्डित थे।

भट्टलोल्लटके मतकी न्यूनता—

भट्टलोल्लटकी इस व्याख्यामें सबसे बड़ी कमी यह प्रतीत होती है कि उसमें मुख्य रूपसे अनुकार्य तथा गौण रूपसे नटमें तो रसकी उत्पत्ति अभिव्यक्ति और पुष्टि आदि मानी गयी है, परन्तु सामाजिकको रसानुभूति क्यों होती है इस समस्यापर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। दूसरी बात यह है कि अनुकार्य सीता राम आदि तो अब इस जगत्में नहीं हैं। अतः इस समय किये जानेवाले अभिनयसे उनमें रसकी उत्पत्ति नहीं बन सकती है। इसलिए उनके अनुकर्ता नटमें भी रसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ये दो इस व्याख्याके मुख्य दोष हैं। इसलिए यह व्याख्या अन्य आचार्योंको रुचिकर प्रतीत नहीं हुई।

शंकुकका अनुमितिवाद—

इसलिए न्याय-सिद्धान्तके अनुयायी भरत-सूत्रके दूसरे टीकाकार श्री शंकुकने इस सूत्रकी दूसरे प्रकारकी व्याख्या उपस्थित की है। उसमें उन्होंने सामाजिकके साथ रसका सम्बन्ध दिखलानेका प्रयत्न किया है। इस व्याख्याके अनुसार नट, कृत्रिम रूपसे अनुभाव आदिका प्रकाशन करता है। परन्तु उनके सौन्दर्यके बलसे उनमें वास्तविकता-सी प्रतीत होती है। उन कृत्रिम अनुभाव आदिको देखकर सामाजिक, नटमें वस्तुतः विद्यमान न होने पर भी उसमें रसका अनुमान कर लेता है और अपनी वासनाके वशीभूत होकर उस अनुमीयमान रसका आस्वादन करता है। भट्टशङ्कुककी इस व्याख्याको काव्यप्रकाशकारने निम्नलिखित प्रकारसे उपस्थित किया है—

१ 'यह राम ही है' अथवा 'यह ही राम है' [इस प्रकारकी सम्यक् प्रतीति], २ 'यह राम नहीं है' इस प्रकार उत्तरकालमें बाधित होनेवाली 'यह राम है' [इस प्रकारकी मिथ्याप्रतीति], ३ 'यह राम है या नहीं' [इस प्रकारकी संशय रूप प्रतीति], और ४ 'यह रामके समान है' [इस प्रकारकी सादृश्य-प्रतीति], इन १ सम्यक्प्रतीति, २ मिथ्याप्रतीति, ३ संशयप्रतीति तथा ४ सादृश्यप्रतीतियोंसे भिन्न प्रकारकी, 'चित्र-तुरग-न्याय-'से होनेवाली [पाँचवें प्रकारकी] प्रतीतिसे ग्राह्य नटमें—

मेरे अङ्गोंमें सुधारसके समान [आनन्ददायिनी], आँखोंके लिए कर्पूरकी शलाकाके समान [शीतलतादायक], और मनके लिए शरीर-धारिणी मनोरथ-श्रीके समान वह प्राणेश्वरी मुझे अब दिखलाई दे रही है। २५।

दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च ।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम्' ॥ २६ ॥

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः 'संयोगात्' गम्यगमकभावरूपात्, अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन संभाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस' इति श्रीशङ्कुकः ।

दैवात् मैं चञ्चल, बड़ी-बड़ी आँखोंवाली उस [प्रियतमा]से आज ही अलग हुआ, और [आज ही] निरन्तर उमड़ते हुए मेघोंसे युक्त यह [सन्तापकारी वर्षाका] काल आ गया । २६ ।

इत्यादि काव्योंके अनुशीलनसे, तथा शिक्षाके अभ्याससे सिद्ध किये हुए अपने [अनुभाव इत्यादि] कार्यसे, नटके ही द्वारा प्रकाशित किये जानेवाले, कृत्रिम होनेपर भी कृत्रिम न समझे जानेवाले, विभाव आदि शब्दसे व्यवहृत होनेवाले, कारण, कार्य, और सहकारियोंके साथ 'संयोग' अर्थात् गम्य-गमकभावरूप-सम्बन्धसे, अनुमीयमान होनेपर भी, वस्तुके सौन्दर्यके कारण तथा आस्वादका विषय होनेसे अन्य अनुमीयमान अर्थोंसे विलक्षण, स्थायी रूपसे सम्भाव्यमान रति आदि भाव वहाँ [अर्थात् नटमें वास्तव रूपमें] न रहते हुए भी सामाजिकके संस्कारोंसे [स्वात्मगतत्वेन] आस्वाद किया जाता हुआ 'रस' कहलाता है। यह श्री शंकुकका मत है । [इस मतमें भरत-सूत्रके 'निष्पत्तिः' शब्दका अर्थ 'अनुमितिः' और 'संयोग' शब्दका अर्थ गम्य-गमकभाव सम्बन्ध है ।]

श्री शंकुकके मतका विश्लेषण किया जाय तो उसमें निम्नलिखित विशेष ध्यान देने योग्य बातें पायी जाती हैं—

१—शंकुकने नटमें रसको अनुमेय माना है । अनुमानकी सामग्रीमें, नटमें 'चित्रतुरग-न्याय'से राम-बुद्धिका प्रतिपादन किया है। जैसे घोड़ेके चित्रको देखकर 'यह घोड़ा है' इस प्रकारका व्यवहार होता है, परन्तु इस प्रतीतिको १ न सत्य कहा जा सकता है, २ न मिथ्या । ३ न संशयरूप कहा जा सकता है और ४ न सादृश्यरूप प्रतीति ही माना जा सकता है । चित्रस्थ तुरगमें होनेवाली बुद्धि इन चारों प्रकारकी बुद्धिसे भिन्न होती है। इसी प्रकार नटमें जो राम-बुद्धि होती है वह १ सम्यक्, २ मिथ्या, ३ संशय तथा सादृश्य इन चारो प्रकारकी प्रतीतियोंसे विलक्षण होती है ।

२—रसकी अनुमितिमें राम-सीता आदि विभावोंकी प्रतीति तो चित्रतुरग-न्यायसे होती ही है, उसके अतिरिक्त जिन अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव रूप लिङ्गोंसे उनमें 'इयं सीता रामविषयकरतिमती, तस्मिन् विलक्षणस्मितकटक्षादिमत्वात्' इस प्रकारका अनुमान होता है, वे लिङ्ग भी यथार्थ नहीं है । यथार्थ स्मित-कटाक्षादि अनुभाव तो यथार्थ सीता-राम आदिमें ही रहे होंगे । पर यहाँ चित्र-तुरग-न्यायसे उपस्थित सीता-राम रूप नटमें तो यथार्थ स्मित-कटाक्षादि नहीं हैं । नट अपने शिक्षा और अभ्याससे कृत्रिम स्मित-कटाक्षादिका प्रदर्शन करता है । इस प्रकार कृत्रिम आलम्बन रूप सीता-राम आदिमें नटों द्वारा कृत्रिम रूपसे प्रकाशित स्मित-कटाक्षादिसे 'इयं सीता रामविषयकरतिमती' या 'अयं रामः सीताविषयकरतिमान् तत्र विलक्षणस्मित-कटाक्षादिमत्वात्' इस प्रकार आनुमानिक रसकी प्रतीति होती है ।

३—इसलिए भरतके रस-सूत्रमें प्रयुक्त 'संयोगात्' शब्दका अर्थ 'गम्य-गमकभावसम्बन्धात्' यह होता है।

४—इसलिए आनुमानिक रसकी प्रतीतिका आधार भी सामाजिक नहीं होता है। कृत्रिम राम और सीतामें रहनेवाली रति या रसका सामाजिकको केवल अनुमान होता है।

५—सामान्यतः अनुमान आदि प्रमाणोंसे होनेवाले ज्ञान 'परोक्ष' रूप माने जाते हैं। केवल प्रत्यक्षप्रमाणसे ही 'अपरोक्ष' प्रतीति होती है। परन्तु इस रसानुमितिमें विशेषता यह है कि वह अनुमिति होनेपर भी अन्य अनुमितियोंसे भिन्न और 'अपरोक्ष' रूप होती है। इसलिए उस अनुमित रसका भी सामाजिकको आस्वाद होता है।

६—सामाजिकके रसास्वादका कारण उसकी वासना और रसप्रतीतिमें विलक्षण अपरोक्षताकी कल्पना है। वस्तुतः अनुमित रस न सामाजिकमें रहता है और न कृत्रिम रामादिमें रहता है, परन्तु वासनाके बलसे सामाजिकमें न रहनेवाले और नटमें भी वस्तुतः अविद्यमान किन्तु अनुमीयमान रसका सामाजिकको आस्वाद होता है।

शङ्कुकके 'अनुमितिवाद'को न्यायमतानुसारी सिद्धान्त माना गया है। इसका कारण उसका अनुमिति-प्रधान होना ही है। न्यायशास्त्र अनुमिति-प्रधान शास्त्र है। विशेष रूपसे नव्य-न्यायके आचार्योंने तो अपनी सारी शक्ति अनुमानके परिष्कारमें ही लगा दी थी। न्यायकी इस 'अनुमिति-प्रधान' प्रक्रियाके आधारपर ही शंकुकने अपने 'अनुमितिवाद'की स्थापना की है। इसीलिए उसको न्यायमतानुसारी सिद्धान्त कहा जाता है।

'शंकुक'के मतमें चतुर्विध प्रतीतियोंमेंसे सम्यक् प्रतीतिका प्रदर्शन करते हुए ग्रन्थकारने 'राम एवायं','अयमेव रामः' इन दो वाक्योंका प्रयोग किया है। इनमें वस्तुतः 'एव'पदका दो प्रकारसे प्रयोग किया गया है। 'राम एवायं' और 'अयमेव रामः' इन दोनों वाक्योंमें 'रामः' विशेषण पद है, 'अयं' विशेष्य पद है। इनमेंसे प्रथम वाक्यमें विशेषण भूत 'राम' पदके साथ 'एवकार'का प्रयोग किया गया है। और 'अयमेव रामः' इस दूसरे वाक्यमें 'अयं' इस विशेष्य पदके साथ 'एवकार'का प्रयोग किया है। पहले वाक्यमें 'रामः' इस विशेषण पदसे साथ एवकारको मिलाकर 'राम एवायं' यह प्रयोग किया गया है। 'विशेषणसङ्गतः एवकारः अयोगव्यवच्छेदकः' इस नियमके अनुसार वह विशेष्यभूत 'अयं' पदके अर्थमें 'रामत्व'के अयोगका व्यवच्छेद कर उसमें 'रामत्व'का नियमन करता है—अर्थात् 'यह रामसे भिन्न नहीं है'। दूसरे वाक्यमें विशेष्यभूत 'अयं'के साथ प्रयुक्त 'एवकार' अन्य योगका व्यवच्छेदक होता है। अर्थात् विशेष्यसे भिन्न किसी अन्य पदार्थमें विशेषणी-भूत धर्मके सम्बन्धका निवारक होता है। इसलिए यहाँ विशेष्यभूत 'अयं'के साथ प्रयुक्त 'एवकार' इससे भिन्न अर्थमें 'रामत्व'के सम्बन्धका निवारण करता हुआ 'यही राम है, अन्य कोई नहीं' इस प्रकार 'अयं'में रामत्वका नियमन करता है। 'राम एवायं' और 'अयमेव रामः' ये दोनों अंश मिलकर सम्यक् प्रतीतिका प्रदर्शन करते हैं।

'एवकारस्त्रिधा मतः'—

'अयोगं अन्ययोगं चात्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः॥'

इस 'एव'का प्रयोग तीन प्रकारसे होता है और उन तीनोंमें उसके अर्थमें भेद हो जाता है। वह कभी विशेषणके साथ प्रयुक्त होता है, कभी विशेष्यके साथ और कभी क्रियाके साथ। विशेष्यके साथ प्रयोग होनेपर वह अन्य-योगका व्यवच्छेदक होता है [विशेष्यसङ्गतस्त्वेवकारो अन्ययोग—व्यवच्छेदकः] जैसे 'पार्थ एव धनुर्धरः'। यहाँ पार्थ विशेष्य है उसके साथ प्रयुक्त एवका अन्य-

योगका व्यवच्छेदक होता है। अर्थात् वह विशेष्य पार्थसे अन्यमें, विशेषण धनुर्धरसे भिन्न अन्यके सम्बन्धका निषेध करता है। 'पार्थ एव धनुर्धरो नान्यः' यह उसका भावार्थ होता है। विशेषणके साथ प्रयुक्त एव अयोगव्यवच्छेदक होता है [विशेषण सङ्गतस्त्वेवकारो अयोगव्यवच्छेदकः] जैसे 'पार्थो धनुर्धर एव' यहाँ विशेषण धनुर्धरके साथ प्रयुक्त 'एव' विशेष्यमें विशेषणके अयोग अर्थात् सम्बन्धाभावका निषेध करता है और 'पार्थ धनुर्धर ही है' इस रूपमें उसमें धनुर्धरत्वका नियमन करता है। इसी प्रकार जब 'एव' क्रियाके साथ अन्वित होता है तब अत्यन्तायोगका व्यवच्छेदक होता है। जैसे 'नीलं कमलं भवत्येव' इस वाक्यमें 'भवति' क्रियाके साथ अन्वित एवकार कमलमें नीलत्वके अत्यन्त असम्बन्धका निषेध कर, किसी विशेष कमलमें नीलके सम्बन्धको नियमित करता है। इस प्रकार एवके तीन प्रकारके प्रयोग होते हैं।

श्रीशंकुकके मतकी न्यूनता—

श्रीशंकुकने सामाजिकमें रसप्रतीतिका उपपादन करनेका प्रयत्न अवश्य किया है, परन्तु वह पर्याप्त रूपसे सन्तोषजनक नहीं बन पड़ा है। उनकी प्रक्रियाके अनुसार सामाजिकको कृत्रिम विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंके साथ कृत्रिम स्थायिभावके सम्बन्धसे नटमें, कृत्रिम राम-सीतादि-विषयक रतिका अनुमान होता है। परन्तु उससे सामाजिककी रसानुभूतिकी समस्या हल नहीं होती है। सामाजिकको रसका साक्षात्कार होता है इसका उपपादन करना चाहिये। रसानुभवमें इस प्रकारकी साक्षात्कारात्मक प्रतीतिका उपपादन अनुमानके द्वारा नहीं किया जा सकता है। अनुमानसे होनेवाला ज्ञान परोक्ष है, साक्षात्कारात्मक नहीं। फिर वह अनुमिति भी कैसी, जिसमें सब कुछ कृत्रिम है। इसलिए अनुमितिवादके आधारपर रसास्वादनका ठीक तरहसे उपपादन नहीं किया जा सकता है। यही अनुमितिवादका सबसे बड़ा दोष है।

भट्टनायकका भुक्तिवाद—

भरतमुनिके तीसरे व्याख्याकार भट्टनायकने सामाजिकको होनेवाली साक्षात्कारात्मक रसानुभूतिके उपपादनके लिए एक नये ही मार्गका अवलम्बन किया है। उसे साहित्यशास्त्रमें 'भुक्तिवाद' नामसे कहा जाता है। उसका आशय यह है कि रसकी 'निष्पत्ति' न अनुकार्य राम आदिमें होती है और न अनुकर्ता नट आदिमें। अनुकार्य और अनुकर्ता दोनों तटस्थ हैं, उदासीन हैं। उनको रसानुभूति नहीं होती है। वास्तविक रसानुभूति सामाजिकको होती है। उसका उपपादन अन्य किसी व्याख्याकारने नहीं किया है। भट्टलोल्लटने मुख्य रूपसे 'तटस्थ' राम आदिमें और गौणरूपसे 'तटस्थ' नटमें रसकी 'उत्पत्ति' मानी है। पर इसमें सामाजिकका स्थान कहीं नहीं आया है। अतएव 'ताटस्थ्येन रसोत्पत्ति' माननेवाले भट्टलोल्लटका सिद्धान्त ठीक नहीं है। श्री शंकुकने 'तटस्थ' नटमें रस की 'अनुमिति' [प्रतीति] मानी है और उसके द्वारा संस्कारवश सामाजिककी रस-चर्वणाका उपपादन करनेका यत्न किया है। परन्तु 'अनुमिति' तो केवल परोक्ष-ज्ञानरूप होती है। साक्षात्कारात्मक रसानुभूतिकी समस्या उसके द्वारा हल नहीं हो सकती है। इसलिए यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। 'न ताटस्थ्येन रस उत्पद्यते, न प्रतीयते' ताटस्थ्यसे अर्थात् अनुकार्यगत या अनुकर्तृगत रूपमें न रसकी उत्पत्ति होती है और न प्रतीति या अनुमिति होती है। यहाँ 'न उत्पद्यते'से भट्टलोल्लटके 'उत्पत्तिवाद'का और 'न प्रतीयते'से शंकुकके 'अनुमितिवाद'का निराकरण किया गया है।

इनके अतिरिक्त रसके विषयमें एक और सिद्धान्त है—'अभिव्यक्तिवाद'। इस सिद्धान्तके मुख्य आचार्य अभिनवगुप्त हैं। उनके मतानुसार सामाजिकमें रसकी 'अभिव्यक्ति' होती है। इन्होंने रसकी

'न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपि तु काव्ये

स्थिति 'तटस्थ' राम या नट आदिमें न मानकर 'आत्मगत' अर्थात् सामाजिकगत मानी है। सामाजिकमें भी रसकी 'उत्पत्ति' या 'अनुमिति' न मानकर उसकी 'अभिव्यक्ति' मानी है। परन्तु भट्टनायकके मतमें यह 'अभिव्यक्तिवाद' भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अभिव्यक्ति' सदा पूर्वसे विद्यमान वस्तुकी ही होती है। रस अनुभूतिस्वरूप है। अनुभूतिकालसे पहले या पीछे उसकी सत्ता नहीं है। 'अभिव्यक्त' होनेवाली वस्तुका अस्तित्व अभिव्यक्तिके पहले भी रहता है और बादको भी। परन्तु रसकी यह स्थिति नहीं है। रस अनुभूतिकालमें ही रहता है, उसके आगे या पीछे नहीं। इसलिए रसकी 'अभिव्यक्ति' माननेवाला सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। 'आत्मगतत्वेन नाभिव्यज्यते' आत्मगत अर्थात् सामाजिकगत रूपसे रस अभिव्यक्त भी नहीं होता है। इस प्रकार भट्टनायकने 'उत्पत्तिवाद', 'अनुमितिवाद' और 'अभिव्यक्तिवाद', तीनोंका खण्डन करके अपने 'भुक्तिवाद'की स्थापना की है और उसीको रसानुभूतिकी समस्याका सबसे सुन्दर समाधान माना है।

भट्टनायकने अपने 'भुक्तिवाद'की स्थापना करनेके लिए शब्दमें स्वीकृत अभिधा और लक्षणा शक्तिके अतिरिक्त 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप दो नये व्यापारोंकी कल्पना की है। उनके मतानुसार अभिधा या लक्षणासे काव्यका जो अर्थ उपस्थित होता है उसको शब्दका 'भावकत्व' व्यापार परिष्कृत कर सामाजिकके उपभोगके योग्य बना देता है। काव्यसे जो अर्थ अभिधा द्वारा उपस्थित होता है वह एक विशेष नायक और विशेष नायिकाकी प्रेम-कथा आदिके रूपमें व्यक्ति-विशेषसे सम्बद्ध होता है। इस रूपमें सामाजिकके लिए उसका कोई उपयोग नहीं होता है। शब्दका 'भावकत्व' व्यापार इस कथामें परिष्कार कर उसमेंसे व्यक्ति-विशेषके सम्बन्धको हटाकर उसका 'साधारणीकरण' कर देता है। उस 'साधारणीकरण'के बाद सामाजिकका उस कथाके साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अपनी रुचि या संस्कारके अनुरूप सामाजिक उस कथाका एक पात्र स्वयं बन जाता है। इस प्रकार असली नायक-नायिका आदिकी जो स्थिति उस कथामें थी, 'साधारणीकरण' व्यापारके द्वारा सामाजिकको लगभग वही स्थान मिल जाता है। यह शब्दका 'भावकत्व' नामक दूसरे व्यापारका प्रभाव हुआ।

भट्टनायकके अनुसार जब इस 'भावकत्व' व्यापारसे काव्यार्थका 'साधारणीकरण' हो जाता है तब शब्दका 'भोजकत्व' नामक तीसरा व्यापार सामाजिकको रसका साक्षात्कारात्मक 'भोग' करवाता है। यही भट्टनायकका 'भोजकत्व' सिद्धान्त है, जो 'भुक्तिवाद' कहलाता है। इस प्रकार भट्टनायकने शब्दमें अभिधा-लक्षणा आदिके अतिरिक्त 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप दो नवीन व्यापारोंकी कल्पना कर सामाजिकको रसानुभूतिका उपपादन करनेका प्रयत्न किया है। मम्मटने उनके सिद्धान्तका उल्लेख प्रकृत प्रकरणमें इस प्रकार किया है—

न तटस्थ रूपसे [अर्थात् नटगत या अनुकार्यगत रूपसे] रसकी प्रतीति [अर्थात् अनुमिति] होती है और न उत्पत्ति होती है [क्योंकि तटस्थगत रसकी उत्पत्ति या अनुमिति माननेसे सामाजिकको रसका आस्वादन नहीं हो सकता है] और न सामाजिकगत रूपसे [आत्मगतत्वेन रसकी] अभिव्यक्ति होती है [क्योंकि 'अभिव्यक्ति' सदा पूर्वसे विद्यमान अर्थकी होती है। रस केवल अनुभूतिस्वरूप ही है। अनुभूतिसे भिन्न कालमें उसकी स्थिति नहीं है। इस प्रकार 'नोत्पद्यते'से भट्टलोल्लटके मतका, 'न प्रतीयते'से श्री शंकुकके मतका तथा 'नाभिव्यज्यते' पदसे आगे दिखलाये जानेवाले अभिनवगुप्तके मतका, सबका ही निराकरण कर दिया गया है। तब भट्टनायकके

नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते' इति भट्टनायकः ।

मतमें सामाजिकको रसास्वादन कैसे होता है यह आगे बतलाते हैं]। अपितु काव्य अथवा नाटकमें [शब्दके] अभिधा [तथा लक्षणा] से भिन्न विभावादिके साधारणीकरणस्वरूप 'भावकत्व' नामक व्यापारसे [विशेष सीता-राम आदिके सम्बन्धके विना 'भाव्यमानः' अर्थात्] साधारणीकृत, [रत्यादि] स्थायी भाव [योगाभ्यास आदि कालमें] सत्त्व [गुण] के उद्रेकसे [ब्रह्मानन्द सदृश] प्रकाश और आनन्दमय अनुभूतिकी [वेद्यान्तर-सम्पर्क-शून्यरूपसे] स्थितिके सदृश [अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार-जन्य आनन्दानुभूतिके सदृश] भोगसे [अर्थात् शब्दके 'भोजकत्व' नामक व्यापारसे 'भुज्यते' अर्थात्] आस्वादित किया जाता है यह भट्टनायकका मत है। [इस मतमें सूत्रके 'निष्पत्तिः' शब्दका अर्थ 'भुक्ति' है और 'संयोग'का अर्थ 'भोज्य-भोजक-भाव-सम्बन्ध' है]।

भट्टनायकके इस 'भुक्तिवाद'को व्याख्याकारोंने सांख्यमतानुयायी सिद्धान्त माना है। इस सिद्धान्तको सांख्य-सिद्धान्तका अनुगामी इस रूपमें कहा जा सकता है कि जैसे सांख्यमें सुख-दुःख आदि वस्तुतः अन्तःकरणके धर्म हैं, आत्माके धर्म नहीं, परन्तु पुरुषका अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध होनेसे पुरुषमें उनकी औपाधिक प्रतीति होती है, उसी प्रकार सामाजिकमें न रहनेवाले रसका भोग उसको होता है। इस सादृश्यके आधारपर ही इस सिद्धान्तको सांख्य-सिद्धान्तका अनुगामी कहा जा सकता है।

भट्टनायकके मतकी न्यूनता—

भट्टनायकने अपनी इस प्रक्रिया द्वारा सामाजिकगत रसानुभूतिके उपपादनका अच्छा प्रयत्न किया है। पर उसमें उन्होंने शब्दमें 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' नामक जिन दो नवीन व्यापारोंकी कल्पना की है वे अनुभव-सिद्ध नहीं हैं और जिस स्थायिभावका 'भोग' बतलाया है वह राम-सीतादि-गत स्थायिभाव है या नटगत या सामाजिकगत, इसका भी स्पष्टीकरण नहीं हुआ है। इसलिए मुख्य रूपसे अप्रामाणिक 'भोजकत्व' व्यापारपर आश्रित होनेसे भट्टनायकका 'भुक्तिवाद' विद्वानोंमें आदर प्राप्त न कर सका।

अभिनवगुप्तका अभिव्यक्तिवाद—

इसलिए भरत-नाट्यशास्त्रके चतुर्थ किन्तु सर्वप्रमुख व्याख्याकार अभिनवगुप्तने 'अभिव्यक्ति-वाद'की स्थापना की है। जिस प्रकार भट्टलोल्लटने उत्तर-मीमांसाके, श्री शंकुकने न्यायके और भट्टनायकने सांख्यके आधारपर अपने-अपने मतोंकी स्थापना की है, उसी प्रकार अभिनवगुप्तने अपने पूर्ववर्ती अलङ्कार-शास्त्रके प्रमुख ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धनके आधारपर अपने 'अभिव्यक्तिवाद' का प्रतिपादन किया है इसलिए उनका मत आलङ्कारिक मत कहा गया है। उन्होंने स्पष्ट रूपसे सामाजिकगत रसानुभूतिके उत्पादनके लिए दूसरे मार्गका अवलम्बन किया है। उसमें पहिली बात तो उन्होंने वह स्पष्ट कर दी है कि सामाजिक-गत स्थायिभाव ही रसानुभूतिका निमित्त होता है। मूल मनःसंवेग अर्थात् वासना या संस्काररूपमें रति आदि स्थायिभाव सामाजिकके आत्मामें स्थित रहता है। वह साधारणीकृत रूपसे उपस्थित विभावादि सामग्रीसे अभिव्यक्त या उद्बुद्ध हो जाता है और तन्मयीभावके कारण वेद्यान्तरके सम्पर्कसे शून्य ब्रह्मास्वादके सदृश परमानन्द रूपमें अनुभूत

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्य्यैर्ममैवैते शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते; न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते; इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको, नियतप्रमातृगत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसंपर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो, विभावादिजीवितावधिः,

होता है। इस मतमें भट्टनायकके समान शब्दमें 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप दो व्यापारोंकी कल्पना नहीं की गयी है, परन्तु 'भावकत्व' व्यापारके स्थानपर 'साधारणीकरण' व्यापार अभिधा तथा लक्षणाके साथ शब्दकी 'व्यञ्जना' नामक तृतीय वृत्ति अवश्य मानी गयी है। अभिनवगुप्तके इस सिद्धान्तको ग्रन्थकारने यहाँ निम्नलिखित रूपमें प्रस्तुत किया है—

लोकमें प्रमदा आदि [अर्थात् प्रमदा, उद्यान, कटाक्ष आदि विभाव, अनुभावादि के देखने] से [उन प्रमदादिमें रहनेवाले रति आदि रूप] स्थायी [भावों]के अनुमान करनेमें निपुण सहृदयोंका, काव्य तथा नाटकमें कारणत्व [कार्यत्व तथा सहकारित्व] आदिको छोड़कर विभावन आदि व्यापार [रत्यादीनां आस्वाद योग्यतानयनरूपाविर्भावनं विभावनम्। अर्थात् रत्यादिको आस्वादयोग्य रूप प्रदान करना 'विभावन-व्यापार' कहलाता है आदि पदसे 'अनुभावन' तथा 'व्यभिचारण' व्यापारका भी संग्रह होता है। इस प्रकारके आस्वाद-योग्य रत्यादिको 'अनुभव विषयीकरणमनुभावनम् अनुभवका विषय बनाना 'अनुभावन' तथा 'काये विशेषेण अभितः रत्यादिनां सञ्चारणं व्यभिचारणम्' शरीरमें रति आदिके प्रभावका सञ्चारण 'व्यभिचारण' व्यापार है]से युक्त होनेसे विभावादि शब्दोंसे व्यवहार्य उन्हीं [प्रमदादि रूप कारण, कार्य, सहकारियों]से [जो] 'वे मेरे ही हैं' या 'शत्रुके ही हैं' या 'तटस्थके ही हैं' अथवा 'ये न मेरे ही हैं', 'न शत्रुके ही हैं,' 'और न तटस्थके ही हैं' इस प्रकारके सम्बन्धविशेषको स्वीकार अथवा परिहार करनेके नियमका निश्चय न होनेसे, साधारण [अर्थात् विशेष व्यक्तिके सम्बन्धसे रहित] रूपसे प्रतीत होनेवाले [उन विभावादि]से ही अभिव्यक्त होनेवाला और सामाजिकोंमें वासनारूपसे विद्यमान रति आदि स्थायी [भाव] नियत प्रमाता [अर्थात् विशिष्ट एक सामाजिक]में स्थित होनेपर भी, साधारणोपाय [अर्थात् व्यक्तिविशेषके सम्बन्धके बिना प्रतीत होनेवाले विभावादि]के बलसे उसी [रसानुभवके] कालमें [मैं ही इसका आस्वादनकर्ता हूँ, या ये विभावादि मेरे ही हैं, इस प्रकारके व्यक्तिगत भावनाओं रूप] परिमित प्रमातृभावके नष्ट हो जानेसे वेद्यान्तरके सम्पर्कसे शून्य और अपरिमित प्रमातृ-भाव जिसमें उदित हो गया है इस प्रकारके [प्रमाता] सामाजिकके द्वारा, समस्त [सामाजिकोंके] हृदयोंके साथ समान रूपसे [व्यक्तिविशेषके सम्बन्धसे रहित साधारण्यसे], अपनी आत्माके समान [आस्वादसे] अभिन्न होनेपर भी, [आस्वादका] विषय होकर, [अर्थात् जैसे आत्म-साक्षात्कारमें चिद्रूपसे अभिन्न आत्माको भी साक्षात्कारका 'विषय' माना जाता है इसी प्रकार रसानुभूतिमें अनुभूतिसे अभिन्न होनेपर भी रसको 'विषय' कहा जा

पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः, पुर इव परिस्फुरन् , हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् , अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः ।

सकता है], आस्वाद मात्र स्वरूप [चर्व्यमाणतैकप्राणः], विभावादिकी स्थिति-पर्यन्त ही रहनेवाला, [इलायची, कालीमिर्च, शकर, इमली, आम आदिको मिलाकर तैयार किये गये प्रपाणक अर्थात्] पनेके रसके समान [अर्थात् प्रपाणककी घटक-सामग्रीके रससे विलक्षण रसके समान] आस्वाद्यमान, साक्षात् प्रतीत होता हुआ-सा, हृदयमें प्रविष्ट होता हुआ-सा, समस्त अङ्गोंका आलिङ्गन करता हुआ-सा, अन्य सबको तिरोभूत करता हुआ-सा, ब्रह्मसाक्षात्कारका अनुभव करता हुआ-सा, अलौकिक आनन्दको प्रदान करनेवाला [चमत्कारकारी] शृङ्गार आदि 'रस' होता है । [यह अभिनवगुप्तका मत है और यह अलङ्कारियोंका सिद्धान्त माना जाता है ।]

अभिनवगुप्तने भरतनाट्यशास्त्रकी 'अभिनवभारती' नामक अपनी व्याख्यामें रसोत्पत्तिके विषयमें बहुत अधिक विस्तारके साथ विचार किया है। उसमें उन्होंने भट्टलोल्लट, श्री शंकुक तथा भट्टनायकके मतोंको दिखलाने तथा उनकी आलोचना करनेके बाद अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है । उसके सारे विवेचनका केन्द्र-बिन्दु सामाजिककी रसानुभूति रही है । इसी कसौटीपर उन्होंने दूसरे मतोंकी परीक्षा की है और इन मतोंके विन्यासके पौर्वापर्यका निर्धारण भी उसी कसौटीपर किया है । सबसे पहले दिये हुए भट्टलोल्लटके मतमें सामाजिककी रसानुभूतिकी कोई चर्चा नहीं है इसलिए खण्डन करने योग्य अथवा अनुपादेयताकी दृष्टिसे उसको सबसे पहले रखा है । अनुमेयतावादी शंकुकके मतमें यद्यपि सामाजिकके साथ रसका सम्बन्ध तो स्थापित किया गया है, परन्तु अनुमितिरूप होनेसे वह साक्षात्कारात्मक नहीं है इसलिए वह भी अधिक उपादेय नहीं है, अतः उसको दूसरा स्थान दिया गया है । भट्टनायकके तीसरे मतमें रसानुभूतिको सामाजिकके साक्षात्कारात्मक अनुभवके रूपमें प्रस्तुत करनेका यत्न किया गया है, इसलिए वह शेष दोनों मतोंसे अधिक उपादेय है इसलिए तीसरे स्थानपर उसको रखा गया है । परन्तु इस सिद्धान्तमें 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप, दो व्यापारोंकी कल्पना की गयी है वह प्रामाणिक नहीं है, इसलिए उसका भी निराकरण कर अभिनवगुप्तने अपने 'अभिव्यक्तिवाद'की स्थापना की है। इस प्रकार इन मतोंकी रसप्रक्रियामें उपादेयताके तारतम्यसे ही अभिनवगुप्तने उनके क्रमका निर्धारण किया है । काव्यप्रकाशकारने इन मतोंके विवेचनको 'अभिनव-भारती'से ही लेकर अपने ग्रन्थमें समाविष्ट किया है ।

रसकी अलौकिकताकी सिद्धि—

अभिनवगुप्तने यहाँ रसको 'अलौकिक' कहा है, अर्थात् वह लौकिक अन्य वस्तुओंसे भिन्न प्रकारका है । उसकी इस अलौकिकताका उपपादन ग्रन्थकारने अगले अनुच्छेदमें किया है । लोकमें पायी जानेवाली अनित्य वस्तुएँ दो प्रकारकी होती हैं—एक 'कार्य' रूप और दूसरी 'ज्ञाप्य' रूप । घट, पट आदि 'कार्य' पदार्थ हैं । ये किसी कारणसे उत्पन्न होते हैं इसलिये 'कार्य' कहलाते हैं और इनका जनक 'कारण' या 'कारक' कहलाता है । दूसरे प्रकारसे ये पदार्थ ज्ञानका 'विषय' या 'ज्ञाप्य' होते हैं । जैसे दीपकके प्रकाशमें घटका ज्ञान होता है । इसलिए दीपकके द्वारा घट 'ज्ञाप्य' है । पूर्वसिद्ध पदार्थका जब किसी साधनके द्वारा ज्ञान होता है तो वह पदार्थ 'ज्ञाप्य' कहलाता है । और जो पदार्थ पूर्वसिद्ध नहीं है, कारणके व्यापारके बाद उसकी उत्पत्ति होती है वह 'कार्य' कहलाता है । संसारके सारे अनित्य पदार्थ 'कार्य' और 'ज्ञाप्य' दो वर्गोंमें ही अवश्य अन्तर्भूत हो जाते हैं । परन्तु रसको न 'कार्य'

स च न कार्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात् । नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात् । अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः ।

कारक-ज्ञापकाभ्यामन्यत् क दृष्टमिति चेत् ? न कचित् दृष्टमित्यलौकिकत्व सिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम् ।

कहा जा सकता है और न 'ज्ञाप्य'। 'कार्य' तो इसलिए नहीं हो सकता है 'कार्य' पदार्थ अपने निमित्त-का नाश हो जानेपर भी बने रहते हैं; जैसे, कुम्हारका बनाया हुआ घड़ा कुम्हारके मर जानेके बाद भी बना रह सकता है। यदि रसको 'कार्य' माना जाय तो उसके निमित्तकारण विभावादि ही होंगे। इसलिए विभावादिके नाश हो जानेके बाद भी उसकी प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु विभावादिके नाशके बाद रसकी प्रतीति नहीं होती है। इसी अभिप्रायसे ग्रन्थकारने 'विभावादिजीवितावधिः' इस विशेषणका प्रयोग ऊपर किया है। इसलिए रसको 'कार्य' नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार रस 'ज्ञाप्य' भी नहीं है। क्योंकि 'ज्ञाप्य' पदार्थ ज्ञान होनेके पूर्व भी विद्यमान होता है और बादको भी विद्यमान रहता है। परन्तु रसकी सत्ता न अनुभवसे पूर्वकालमें रहती है और न अनुभवके बाद। जबतक रसकी अनुभूति होती है तबतक ही उसकी सत्ता रहती है। इसलिए वह 'कार्य' तथा 'ज्ञाप्य', दोनों प्रकारके लौकिक पदार्थोंसे भिन्न है। इसी कारण रस 'अलौकिक' कहा जाता है। इस बातको ग्रन्थकारने अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

और वह [रस] कार्य नहीं है। [क्योंकि 'कार्य' माननेपर] विभावादिका नाश हो जानेपर भी [कुम्भकारकी मृत्यु हो जानेपर भी जैसे घड़ा बना रहता है इस प्रकार] उसकी स्थिति सम्भव हो जायगी। [जो कि होती नहीं है। इसलिये रस 'कार्य' नहीं है]। और उसके पूर्वसिद्ध [अनुभवके पहले विद्यमान] न होनेसे वह 'ज्ञाप्य' भी नहीं है। अपितु विभावादिसे व्यञ्जित और आस्वाद-योग्य [अर्थात् आस्वादकाल-में ही विद्यमान रहता] है।

अलौकिकताकी दूसरी युक्ति—

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आप रसको न 'कार्य' मानते हैं और न 'ज्ञाप्य'। फिर भी यह कह रहे हैं कि वह विभावादिसे व्यञ्जित होकर चर्वणीय होता है। ये दोनों बातें कैसे सङ्गत हो सकती हैं। क्योंकि संसारमें दो ही प्रकारके कारण होते हैं, एक 'कारक' दूसरे 'ज्ञापक'। जब रस 'कार्य' नहीं है तो उसका कोई 'कारक' हेतु नहीं हो सकता है और इसके 'ज्ञाप्य' न होनेसे उसका कोई 'ज्ञापक' हेतु भी नहीं हो सकता है। इन 'कारक' तथा 'ज्ञापक' हेतुओंके अतिरिक्त और कोई तीसरा हेतु होता ही नहीं है तो विभावादि रसके 'व्यञ्जक' कैसे हो सकते हैं? इस प्रश्नका उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि इसीलिए तो हम रसको 'अलौकिक' कहते हैं। लोकमें जो 'कारक' तथा 'ज्ञापक' दो प्रकारके हेतु पाये जाते हैं, रसके 'व्यञ्जक' हेतु विभावादि उन दोनोंसे विलक्षण अतएव 'अलौकिक' हैं। इसलिए यह अलौकिकत्व सिद्धिका भूषण है, दूषण नहीं। पहिले अनुच्छेदमें यह कहा था कि रस न 'कार्य' है न 'ज्ञाप्य', इससे रसकी अलौकिकता सिद्ध होती है। इस अनुच्छेदमें यह कहा है कि रसका हेतु न 'कारक' हेतु है, न 'ज्ञापक' हेतु। यह हेतुकी अलौकिकताको सिद्ध करता है। इस प्रकार हेतुकी अलौकिकतासे भी रसकी अलौकिकता सिद्ध होती है।

इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें कहते हैं—

कारक तथा ज्ञापक [हेतुओं]से अतिरिक्त [व्यञ्जक आदि हेतु] कहाँ पाये

चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम् । लौकिकप्रत्यक्षादि-प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञान, वेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमि-तेतरयोगिसंवेदन-विलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम् ।

जाते हैं यह प्रश्न करो तो [हमारा उत्तर यह है कि] कहीं नहीं पाये जाते हैं यह बात तो अलौकिकत्वकी सिद्धिका भूषण है, दूषण नहीं । [इसलिए रस वस्तुतः न 'कार्य' है और न 'ज्ञाप्य' । वह 'अलौकिक' है] ।

आस्वादकी उत्पत्ति होनेसे उपचारसे उसकी भी उत्पत्ति कही जा सकती है इसलिये [रसको उपचारसे] 'कार्य'भी कहते हैं । और १-लौकिक प्रत्यक्षादि [से भिन्न], तथा २-बिना प्रमाणोंकी सहायताके [प्रमाणताटस्थ्य] से होनेवाले 'मित-योगि-ज्ञान' [अर्थात् बिना प्रमाणोंकी सहायताके योगजसामर्थ्यसे सिद्ध, युञ्जान योगियोंके ज्ञानसे भिन्न] तथा ३-वेद्यान्तरके संस्पर्शसे रहित, स्वात्म [साक्षात्कार] मात्रमें पर्यवसित, परिमितसे भिन्न योगियों [अर्थात् युक्त योगियों] के ज्ञानसे भिन्न, [लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जन्य लौकिक प्रत्यक्ष तथा युञ्जान एवं युक्त दोनों प्रकारके योगियोंके ज्ञानसे विलक्षण] लोकोत्तर अनुभूतिका विषय होता है इसलिए [रसको उपचारसे] 'ज्ञेय' भी कहा जा सकता है [परन्तु वस्तुतः वह न 'कार्य' है और न 'ज्ञाप्य', अपितु अलौकिक है] ।

ऊपर ग्रन्थकारने यह कहा था कि लौकिक पदार्थ 'कार्य' या 'ज्ञाप्य' दोमेंसे किसी एक वर्गमें अवश्य आते हैं, किन्तु रस इन दोनोंमेंसे किसी भी वर्गमें नहीं आता है । इसलिए वह लौकिक पदार्थोंसे भिन्न है । विषयमें एक और भी युक्ति इसी अनुच्छेदके भीतर आ गयी है । वह यह है कि हम लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञानको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—एक अस्मदादिका प्रत्यक्ष, दूसरा मित-योगी अर्थात् अपरिपक्व सविकल्पक समाधिमें स्थित युञ्जान योगियोंका ज्ञान और तीसरा परिमितेतर योगी अर्थात् परिपक्व या युक्त योगियोंका ज्ञान । अस्मदादिका साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी सहायतासे ही होता है । मित-योगियोंका ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी सहायताके बिना [प्रमाणताटस्थ्य] योगज-सामर्थ्यसे ही हो जाता है । और तीसरा परिमितेतर योगी अर्थात् परिपक्व निर्विकल्पक समाधिमें स्थित योगीका ज्ञान वेद्यान्तरके स्पर्शसे रहित केवल आत्मानुभूतिमात्र होता है । रसकी अनुभूति इन तीन प्रकारके ज्ञानोंसे विलक्षण है । वह न तो अस्मदादिके प्रत्यक्षके समान प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उत्पन्न होती है, न 'प्रमाणताटस्थ्य'वाले मित-योगि-ज्ञानका विषय है और न निर्विकल्पक समाधिमें स्थित योगियोंकी वेद्यान्तर-स्पर्शरहित आत्मानुभूतिरूप ही है । इस प्रकार इन तीनों प्रकारकी अनुभूतियोंसे विलक्षण होनेके कारण वह अलौकिक ही है ।

इस अनुच्छेदकी इस बातको कहनेवाली पंक्तिको बहुत ध्यानसे समझनेकी आवश्यकता है । उसमें १ 'प्रत्यक्षादि', २ 'प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमित-योगि-ज्ञान' और ३ वेद्यान्तरस्पर्शरहित—स्वात्ममात्रपर्यवसित-परिमितेतर-योगि-संवेदन, ये तीनों वाक्यांश विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य हैं । रसकी प्रतीति इन तीनों प्रकारके साक्षात्कारात्मक ज्ञानसे विलक्षण है । यह भी उसकी अलौकिकताका एक प्रमाण है । यह ग्रन्थकारका आशय है ।

रसकी अलौकिकताकी तीसरी युक्ति—

विगत प्रकरणमें रसको 'कार्य' तथा 'ज्ञाप्य' और उसके हेतुको कारक तथा ज्ञापक दोनोंसे भिन्न सिद्ध करके उसकी अलौकिकताका उपपादन किया था । अगले अनुच्छेदमें इसीकी सिद्धिके लिए अभिनव

तद्ग्राहकं च[1] न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात् । नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति । न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः ॥

गुप्तने तीसरी युक्ति यह दिखलायी है कि उसका ग्रहण न 'सविकल्पक-ज्ञान'से हो सकता है और न 'निर्विकल्पक-ज्ञान'से, इसलिए भी वह 'अलौकिक' है। 'सविकल्पक-ज्ञान' उसको कहते हैं, जिसमें पदार्थके स्वरूपके अतिरिक्त उसके नाम, उसकी जाति आदिका भी भान होता है। 'नामजात्यादियोजनासहितं ज्ञानं सविकल्पकम् ।' जैसे घट, पट आदि पदार्थोंके ज्ञानमें उनके स्वरूपके साथ वस्तुके नाम, जाति आदिका भी भान होता रहता है। इसलिए 'घटः पटः' आदि ज्ञानको 'सविकल्पक-ज्ञान' कहते हैं। वह शब्द-व्यवहारका विषय होता है। परन्तु रसानुभूति तो स्वसंवेदनमात्र रूप होती है, शब्द-व्यवहारका विषय नहीं होती है, इसलिए उसमें नामजात्यादिके भानका कोई अवसर नहीं है। अतएव रसको 'सविकल्पक-ज्ञान'से ग्राह्य नहीं कह सकते हैं।

'सविकल्पक-ज्ञान'से भिन्न दूसरा 'निर्विकल्पक-ज्ञान' होता है। नामजात्यादि योजनासहित ज्ञानको 'सविकल्पक-ज्ञान' कहते हैं तो नाम, जाति, विशेषण-विशेष्यभाव आदिसे रहित केवल वस्तुमात्रका अवगाहन करनेवाला ज्ञान 'निर्विकल्पक-ज्ञान' कहलाता है। इस 'निर्विकल्पक-ज्ञान'को समझनेके लिए बालक तथा मूक पुरुषके ज्ञानको उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया जाता है। 'बालमूकादि-विज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्' । उदाहरणके लिए, एक घड़ी बालकके सामने रखी है। बालकको इस घड़ीका ज्ञान उसी प्रकारका होता है जिस प्रकारका किसी बड़े आदमीको। उसका गोल डायल, उसपर बने हुए अङ्क और लगी हुई सुइयाँ आदि हमारी ही तरह बालकको भी प्रतीत होती हैं। अन्तर केवल इतना है, बालक उसके नाम, उपयोग आदिको नहीं जानता है और बड़ा व्यक्ति इन सबको जानता है इसलिए बालकका ज्ञान नाम, जाति आदिकी योजनासे रहित होनेसे 'निर्विकल्पक-ज्ञान' कहलाता है और बड़े व्यक्तियोंका ज्ञान 'सविकल्पक-ज्ञान' कहलाता है। बड़े व्यक्तियोंका जो 'सविकल्पक-ज्ञान' होता है वह भी प्रथम क्षणमें 'निर्विकल्पक-ज्ञान' ही होता है। शब्दव्यवहारमें आ जानेसे वह अत्यन्त शीघ्रतासे सविकल्पक-ज्ञानके रूपमें परिणत हो जाता है। इसलिए उसका निर्विकल्पक स्वरूप अनुभवमें नहीं आता है। रसकी प्रतीतिमें विभावादिकी प्रतीति भी होती रहती है इसलिए समूहालम्बनात्मक-ज्ञान होनेसे निर्विकल्पक-ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता है और न वह सविकल्पकका विषय होता है। यह भी रसकी अलौकिकत्वसिद्धिका प्रमाण है। इस बातको ग्रन्थकारने अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

[रसकी प्रतीतिमें] विभावादिके परामर्शकी प्रधानता होनेसे निर्विकल्पक-ज्ञान उसका ग्राहक नहीं हो सकता है और आस्वाद्यमान अलौकिक आनन्दमय [रस]के स्वसंवेदनसिद्ध होनेसे सविकल्पक-ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता है। तथा उभयाभाव स्वरूपका [अर्थात् निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनोंसे भिन्न उस रसका] उभयात्मकत्व [अर्थात् सविकल्पकत्व और निर्विकल्पकत्व] भी पहलेके समान लोकोत्तरताको ही बोधित करता है, विरोधको नहीं। यही श्रीमान् अभिनवगुप्तपादाचार्यका मत है।

१. च प्रमाणं ।

व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुत-रौद्राणाम्, अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृङ्गारस्येव करुण-भयानकयोः, चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव वीर-करुण-भयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः ।

वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशां श्रीः ।
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे ॥२७॥

इत्यादौ ।

काव्यप्रकाशका यह प्रकरण साहित्यशास्त्रके इतिहासमें सामाजिकगत रस-निष्पत्तिके सिद्धान्तका द्योतक है । भरतसूत्रकी व्याख्यामें जो अनेक मत पाये जाते हैं उनका संग्रह काव्यप्रकाशकारने बड़ी सुन्दरताके साथ किया है । यह प्रकरण यद्यपि काव्यप्रकाशकारने 'अभिनवभारती'से लिया है, परन्तु उन्होंने 'अभिनवभारती'के अत्यन्त विस्तृत एवं जटिल विवेचनको संक्षिप्त एवं अपेक्षाकृत सरल रूपमें प्रस्तुत करनेका यत्न किया है । इन मतोंमेंसे अभिनवगुप्तपदाचार्य द्वारा प्रतिपादित मत ही काव्यप्रकाशकारका अभिमत सिद्धान्त-पक्ष है ।

सूत्रमें विभावादिका सम्मिलित निर्देश क्यों ?

सूत्रकी व्याख्यामें एक बात और रह जाती है कि सूत्रकारको प्रत्येक रसके विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदिको अलग-अलग दिखलाना चाहिये था । उन्होंने ऐसा न करके सबका इकट्ठा निर्देश क्यों कर दिया है ? इस प्रश्नका उत्तर ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें यह देते हैं कि—

व्याघ्र आदि विभाव भयानक रसके समान वीर, अद्भुत तथा रौद्र [रस]के [भी हो सकते हैं], अश्रुपात आदि अनुभाव शृङ्गारके समान करुण तथा भयानक रसके [भी अनुभाव हो सकते हैं], चिन्ता आदि व्यभिचारिभाव शृङ्गारके समान; वीर, करुण, तथा भयानकके [भी व्यभिचारिभाव हो सकते हैं], इसलिए उनके अलग-अलग अनैकान्तिक होनेसे [अर्थात् किसी एक ही रसके साथ निश्चित न होनेसे] सूत्रमें [उनको] सम्मिलित रूपसे ही निर्दिष्ट किया गया है ।

विभावादिके अनुक्त होनेपर आक्षेप द्वारा बोध—

इसके बाद एक और शङ्काका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकारने अगले प्रकरणकी अवतारणा की है । प्रश्न यह है कि रसकी उत्पत्तिमें जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावोंकी सम्मिलित रूपसे कारणताका प्रतिपादन सूत्रकारने किया है तब जहाँ इन तीनोंका इकट्ठा वर्णन न होकर किसी एकका, या किन्हीं दोका ही वर्णन हो, वहाँ रसकी निष्पत्ति किस प्रकार होगी ? इस शङ्काको प्रस्तुत करनेके लिए ग्रन्थकारने आगे तीन श्लोक उद्धृत किये हैं । इनमेंसे पहिले श्लोकमें केवल वर्षाकाल रूप उद्दीपन विभावका, दूसरे श्लोकमें वियोगिनी नायिकाके केवल अनुभावोंका और तीसरे श्लोकमें केवल औत्सुक्य आदि व्यभिचारिभावोंका वर्णन किया गया है । इन तीनों श्लोकोंको उद्धृत करनेके बाद शङ्काका स्पष्टीकरण करके उसका निराकरण किया गया है । श्लोकोंका अर्थ इस प्रकार है—

हे मुग्धे ! आकाश भौरोंके समान काले-काले जलसे भरे हुए मेघोंसे आच्छादित हो रहा है । भौरों एवं कोयलोंके कूजनसे दिशाएँ शोभायमान हो रही हैं और पृथ्वी [सन्ताप-दायक होनेसे पत्थर काटनेवाली लोहेकी] टाँकियोंके समान अंकुरों-वाली हो रही है । [ऐसी दशामें तुम्हारा मान अधिक देरतक टिकनेवाला नहीं है] इसलिए प्रियतमके प्रणाम करनेपर मान जाओ । [अपने हठको छोड़ दो] । २७ ।

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं, प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु ।
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-
मभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः ॥ २९ ॥

इत्यादौ ।

दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं-
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किं चाञ्चितभ्रूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं-
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥ ३० ॥

इत्यादौ च ।

इत्यादिमें [केवल मुग्धा दयितारूप आलम्बन विभाव और वर्षा ऋतुके मेघरूप उद्दीपन विभावका ही वर्णन है । शेष अनुभाव व्यभिचारिभाव आदिका आक्षेपसे बोध होता है] । २८ ।

यहाँ वर्षा ऋतुका वर्णन है, उसके भीतर भ्रमरों और कोकिलोंके कूजनकी भी चर्चा की गयी है । साधारणतः वर्षामें कोकिलोंका वर्णन उचित नहीं समझा जाता है । इसलिए कुछ व्याख्याकारोंने इसकी यह व्याख्या की है कि सखीने मुग्धा नायिकाको भयभीत करनेके लिए ही यहाँ कोकिलोंका उल्लेख कर दिया है । दूसरे व्याख्याकारोंने मधुकरोंपर कोकिलका आरोप कर 'मधुकरा एव कोकिलाः मधुकरकोकिलाः' इस प्रकारकी व्याख्या की है । तीसरे व्याख्याकरोंका मत यह है कि वर्षा ऋतुमें भी कोकिलोंका वर्णन अस्वाभाविक नहीं है ।

"परिमृदित मृणाली" इत्यादि अगला श्लोक "मालतीमाधव" नामक नाटकसे लिया गया है । प्रथमाङ्कमें मालतीकी दशाके वर्णनमें यह उक्ति आयी है । उसमें अङ्गग्लानि, पाण्डुता आदि केवल अनुभावोंका वर्णन है, शेष दोका आक्षेप द्वारा बोध होता है ।

उस [मालती]का शरीर मसली हुई मृणालीके समान मलिन हो रहा है । [भोजन आदि जीवनोपयोगी क्रियाओंमें भी] सखियोंकी प्रार्थनापर जैसे-तैसे प्रवृत्ति होती है । और तुरन्त काटे गये हाथीदाँतके टुकड़ेके समान सुन्दर [और पीला पड़ा हुआ] गाल निष्कलङ्क चन्द्रमाकी-सी कान्तिको धारण कर रहा है । २९ ।

इत्यादिमें ।

अगला श्लोक 'अमरुकशतक' से लिया गया है । उसमें मुख्य रूपसे केवल औत्सुक्य आदि व्यभिचारिभावोंका वर्णन किया गया है । शेषका आक्षेप द्वारा बोध होता है ।

दूरसे [नायकको आता हुआ देखकर] उत्सुकतापूर्ण, [परन्तु समीप] आनेपर [कहीं इन्होंने मेरी उत्सुकताको भाँप तो नहीं लिया है, इस लज्जा से] नीचे की हुई, बात करनेपर प्रसन्नतासे खिली हुई, आलिङ्गन [करनेका यत्न] करनेपर [क्रोधके कारण] लाल हुई, वस्त्र पकड़नेपर तनिक भृकुटी चढ़ाये हुये, और चरणोंमें नमस्कार करनेपर आँसुओंसे भरी हुई मानिनीकी आँखें प्रियतमके [परस्त्री-सम्पर्क-रूप] अपराध करनेपर [नानाकार धारण-रूप] प्रपञ्च-रचनामें चतुर हो गई हैं । ३० ।

इत्यादिमें [केवल औत्सुक्य आदि व्यभिचारिभावोंका वर्णन किया गया है] ।

यद्यपि विभावानां, अनुभावानां, औत्सुक्य-व्रीडा-हर्ष-कोप-असूया-प्रसादानां च व्यभिचारिणां केवलानामत्र स्थितिः, तथाऽप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति ॥

तद्विशेषनाह—

[सू० ४४] **शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः ।**
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ २९ ॥

यद्यपि यहाँ [इन तीन श्लोकोंमेंसे पहिले श्लोकमें मुग्धा दयिता-रूप आलम्बन और वर्षा-रूप उद्दीपन] विभावोंकी [दूसरे श्लोकमें अङ्गग्लानि आदि] अनुभावोंकी, और [तीसरे श्लोकमें] औत्सुक्य, लज्जा, प्रसन्नता, कोप, असूया, तथा प्रसाद-रूप केवल व्यभिचारिभावोंकी ही स्थिति है। फिर भी इनके [प्रकृत रतिके बोधमें] असाधारण [लिङ्ग] होनेसे [उनके द्वारा] शेष दोका आक्षेप हो जानेपर [विभाव आदि तीनोंके संयोगसे रस निष्पत्तिके सिद्धान्तका] व्यभिचार नहीं होता है।

उस [रस] के [आठ] भेदोंका वर्णन करते हैं—

[सूत्र ४४]—१ शृङ्गार, २ हास्य, ३ करुण, ४ रौद्र, ५ वीर, ६ भयानक, ७ वीभत्स और ८ अद्भुत—नाट्यमें ये आठ रस माने जाते हैं । २९ ।

रसोंका यह विशेष क्रम क्यों ?

यह कारिका मूल रूपसे भरतमुनिके नाट्यशास्त्रकी कारिका है। मम्मटने उसे भरत-नाट्यशास्त्र अ. ६-१६ से ज्योंका त्यों उतार लिया है। इसमें विशेषतः नाट्यगत आठ रसोंका क्रमशः उद्देश अर्थात् नाममात्रसे कथन किया है। भरतमुनिने इन आठों रसोंका जो इस विशेष क्रमसे कथन किया है उसका विशेष प्रयोजन है। इस प्रकारका उपपादन करते हुए 'अभिनवभारती'में अभिनवगुप्तने लिखा है—

तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृङ्गारः । तदनुगामी च हास्यः । निरपेक्षभावत्वात्तद्विपरीतस्ततः करुणः । तस्तन्निमित्तं रौद्रः । स चार्थप्रधानः । ततः कामार्थयोर्धर्ममूलत्वाद्वीरः । स हि धर्मप्रधानः । तस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात् तदनन्तरं भयानकः । तद्विभावसाधारण्यसम्भावनात्ततो बीभत्सः । वीरस्य पर्यन्तेऽद्भुतः । यद्वीरेण आक्षिप्तं फलमित्यनन्तरं तदुपादानम् । तथा च वक्ष्यते—'पर्यन्ते कर्त्तव्यो नित्यं रसोद्भुतः' इति । ततस्त्रिवर्गात्मक-प्रवृत्तिधर्मविपरीतनिवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफलः शान्तः । तत्र स्वात्मावेशेन रसचर्वणा ।

अर्थात् रति या काम न केवल मनुष्य जातिमें अपितु सभी जातियोंमें मुख्य प्रवृत्तिके रूपमें पाया जाता है। और सबको उसके प्रति आकर्षण होता है, इसलिए सबसे पहिले शृङ्गारको स्थान दिया गया है। हास शृङ्गारका अनुगामी है, इसलिए शृङ्गारके बाद हास्य रसको स्थान दिया गया है। सम्भोग शृङ्गारमें नायक-नायिकाका मिलन होता है। इसलिए उसमें एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है। विप्रलम्भ शृङ्गारमें भी दोनोंको मिलनकी आशा रहती है, अतः वे दोनों सापेक्ष-आशामय-रस हैं।

हास्यसे विपरीत स्थिति करुणरसकी है। इसलिए हास्यके बाद करुणरसको स्थान दिया गया है। अपने प्रियतम बन्धुके वास्तविक विनाश या भ्रमवश ही उसके विनाशका निश्चय हो जानेके बाद करुण रसकी सीमा प्रारम्भ होती है, उसमें पुनर्मिलनकी आशा नहीं रहती है। अतएव करुणरस नैराश्यमय होनेसे निरपेक्ष-रस माना जाता है। भवभूतिने 'तटस्थं नैराश्यात्' कहकर करुणरसके

इसीके निराशात्मक स्वरूपको सूचित किया है। अतः आशामय सापेक्ष भावसे विपरीत नैराश्यमय-निरपेक्ष-रस होनेसे शृङ्गार और उसके अनुगामी हास्यके बाद करुण रसको रखा गया है। करुण रसकी सीमा मरणके बाद प्रारम्भ होती है। मरणका सम्बन्ध प्रायः रौद्ररससे होता है। इसलिए करुणरसका निमित्त रूप होनेसे करुणके बाद उससे सम्बद्ध रौद्ररसको स्थान दिया गया है। यह रौद्ररस अर्थप्रधान होता है। काम और अर्थके धर्ममूलक होनेसे रौद्ररसके बाद वीररस रखा गया है। वह धर्मप्रधान होता है। वीररसका मुख्य कार्य भयभीतोंको अभय प्रदान करना है। इसलिए वीरके साथ उसके विरोधी भयानकरसको स्थान दिया गया है। उस भयानकरसके समान ही बीभत्सरसके विभाव होते हैं। क्योंकि वीररसके प्रभावसे ही बीभत्स दृश्य उपस्थित होते हैं, इसलिए भयानकके बाद बीभत्सरसको रखा गया है। वीरके बादमें अद्भुत होता है। इसीलिए आगे कहा जायगा कि अन्तमें सदा अद्भुतरसको स्थान देना चाहिये। इसलिए वीरके बाद अद्भुतरसको रखा गया है। उसके बाद धर्म-अर्थ-काम-रूप त्रिवर्गके साधनभूत प्रवृत्तिधर्मोंसे विपरीत निवृत्ति धर्मप्रधान और मोक्षफलवाला शान्तरस आता है। यद्यपि शान्तरसकी गणना यहाँ नहीं की गयी है, परन्तु काव्यमें शान्तरस भी माना जाता है। इसलिए सबसे अन्तमें उसको स्थान दिया जा सकता है।

शान्तरसकी स्थिति—

शान्तरसकी स्थितिके विषयमें न केवल आधुनिक विद्वानोंमें, किन्तु प्राचीन विद्वानोंमें भी मतभेद पाया जाता है। इस मतभेदका मुख्य आधार भरतमुनिका यह 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' [६–१६] वाला श्लोक ही है। उसीको यहाँ काव्य-प्रकाशकारने भी रसोंकी संख्याका निरूपण करते हुए उद्धृत किया है। भरतके इसी वचनके आधारपर प्राचीन आचार्योंमें महाकवि कालिदास, अमरसिंह, भामह और दण्डी आदिने भी नाटकके आठ ही रसोंका उल्लेख किया है तथा शान्त-रसका प्रतिपादन नहीं किया है। इसके विपरीत उद्भट, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तने स्पष्ट रूपसे शान्तरसका प्रतिपादन किया है। बड़ौदासे प्रकाशित अभिनवभारती व्याख्यासे युक्त भरत-नाट्यशास्त्रके द्वितीय संस्करणके सम्पादक श्री रामस्वामी शास्त्री शिरोमणिने लिखा है कि शान्तरसकी स्थापना सबसे पहिले भरत-नाट्यशास्त्रके टीकाकार 'उद्भट'ने अपने 'काव्यालङ्कारसार-संग्रह' नामक ग्रन्थमें की है। उसके बाद 'आनन्दवर्धन' तथा 'अभिनवगुप्त' आदिने उसका समर्थन किया है। उद्भटके पहिले शान्तरसकी कोई सत्ता नहीं मानी जाती थी। भरत-नाट्यशास्त्रके छठे अध्यायमें भी शान्तरसका वर्णन पाया जाता है, परन्तु उसके विरोधमें उक्त सम्पादक महोदयका मत है कि वह प्रक्षिप्त या बादका बढ़ाया हुआ है। इस अंशको प्रक्षिप्त माननेके लिए उन्होंने दो हेतु दिये हैं। पहिला हेतु तो यह है कि भरतमुनिने पहिले आठ ही रसोंका उल्लेख किया है तब बादमें नवम रसका वर्णन उनके ग्रन्थमें नहीं होना चाहिये था। अतः यह अंश प्रक्षिप्त है। उनकी दूसरी युक्ति यह है कि शान्तरसवाला यह प्रकरण नाट्यशास्त्रकी कुछ पाण्डुलिपियोंमें नहीं पाया जाता है। इसलिए वे इसको प्रक्षिप्त मानते हैं और शान्त रसकी सत्ता न माननेवाले पक्षके समर्थक हैं।

प्राचीन आचार्योंमें शान्तरसके सबसे प्रबल विरोधी धनञ्जय और धनिक हैं। 'दशरूपक' तथा उसकी टीका, दोनोंमें बड़ी प्रौढताके साथ शान्तरसका खण्डन किया गया है। उनके मतमें नाट्यमें आठ ही रस होते हैं। इसका अर्थ यह है कि नाट्यमें शान्तरस होता ही नहीं है। शान्त-रसको नाट्यमें स्थान न दिये जानेका कारण उसका अनभिनेयत्व है। जैसा कि अभी कहा है, शान्त-रस निवृत्ति-प्रधान है। अभिनयमें प्रवृत्तिका प्राधान्य होता है। निवृत्तिका अभिनय नहीं किया जा

सकता है। इसलिए अभिनयके उपयोगी न होनेसे अभिनय-प्रधान नाट्यमें शान्तरसको स्थान नहीं दिया जाता है। इसकी चर्चा करते हुए 'दशरूपक'के टीकाकारने कुछ विस्तारके साथ इस प्रकार विवेचन किया है :—

शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ।
निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥

इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधाः विप्रतिपत्तयः। केचिदाहुः नास्त्येव शान्तो रसः, तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात्। अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति। अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेतुमशक्यत्वात्। अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। यथा—तथा अस्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्।

यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितं, तत्तु मलयवत्यनुरागेण आप्रबन्धप्रवृत्तेन विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्या च विरुद्धम्। नह्येकानुकार्य-विभावालम्बिनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ। अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वम्।

विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्। अत एव ते चिन्तादयः स्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति। [दशरूपक ४, ३५-३६ ।]

इसका अभिप्राय यह है कि शान्तरसको रस अथवा उसके स्थायिभाव शमको स्थायिभाव माननेमें कई प्रकारके मतभेद पाये जाते हैं। उनमें एक मत यह है कि भरतमुनिने उसके अनुभाव आदिका वर्णन नहीं किया है। अतः उसका लक्षण न किये जानेके कारण शान्तरस नहीं है। दूसरा मत यह है कि वास्तवमें शान्तरस बन ही नहीं सकता है। क्योंकि अनादि कालसे चले आये राग-द्वेषके संस्कारोंका सर्वथा नाश नहीं किया जा सकता है। इसलिए निर्वेदरूप स्थायिभाव तथा शान्तरसका उपपादन नहीं किया जा सकता है। तीसरे विचारकोंका मत है कि वीर-बीभत्स आदि रसोंमें उसका अन्तर्भाव किया जा सकता है। इन तीन मतोंका उल्लेख करनेके बाद ग्रन्थकार कहते हैं कि इनमें कोई मत भी ठीक हो, हमें उसका विचार नहीं करना है। हमारा कहना तो यह है कि नाट्यमें शमको स्थायिभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि समस्त व्यापारोंसे निवृत्तिरूप शमका अभिनय नहीं किया जा सकता है—इसलिए अभिनय-प्रधान नाट्यमें शान्तरसको स्थान नहीं दिया जा सकता है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि यदि नाटकमें शान्तरसका अभिनय नहीं हो सकता है, तो शान्तरस प्रधान "नागानन्द" आदि नाटकोंकी रचना कैसे हुई? इसका उत्तर दशरूपककारने यह दिया है कि नागानन्दमें शान्तरस मानना उचित नहीं है, क्योंकि उसमें नायकका मलयवतीके प्रति अनुरागका वर्णन सारे नाटकमें पाया जाता है और अन्तमें उसको विद्याधरोंके चक्रवर्ती राजा होनेका अवसर प्राप्त होता है। इसलिए नागानन्दका मुख्य रस शान्तरस नहीं है। अपितु दयावीरका उत्साह उसका स्थायिभाव है और वीररसकी उसमें प्रधानता है। वीररस केवल युद्धप्रधान ही नहीं है, उसका स्थायिभाव उत्साह है। वह उत्साह जैसे युद्धके लिए हो सकता है उसी प्रकार दया और धर्मके प्रति भी उत्साह हो सकता है। इसलिए नागानन्दमें दया-वीर प्रधान रस है; शान्तरस नहीं।

किन्तु दशरूपकके इस सारे विवेचनसे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि नाट्यमें शान्तरसकी उपयोगिता नहीं है। उससे शान्तरसका सर्वथा अभाव नहीं माना जा सकता है। विशेषकर इस

अवस्थामें जब कि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त, दोनोंने बड़े विस्तारके साथ शान्तरसकी स्थापना की है। 'अभिनवभारती'में अभिनवगुप्तने लगभग सौ पृष्ठोंमें अत्यन्त विस्तारके साथ शान्तरसका विवेचन किया है। आनन्दवर्धनने भी ध्वन्यालोक, पृष्ठ ४६५ [दिल्ली-संस्करण] में महाभारतका मुख्य रस शान्तरस माना है। इस प्रकार इन दोनों आचार्योंने शान्तरसका प्रबल समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त भरतसूत्रके टीकाकार, भट्टनायकने भी शान्तरसकी सत्ता स्वीकार की है। इसका परिचय 'अभिनवभारती'के प्रथम श्लोककी व्याख्याके प्रसङ्गमें भट्टनायककृत व्याख्याके उद्धृत भागसे प्राप्त होता है। पृष्ठ ३५ [दिल्ली-संस्करण] पर 'शान्तरसोपक्षेपोऽयं भविष्यति' यह भट्टनायकका वचन अभिनवगुप्तने उद्धृत किया है।

इन लेखोंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है भरत-नाट्यशास्त्रके भट्टोद्भट, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त आदि सभी टीकाकार शान्त-रसकी स्थिति मानते हैं। ऐसी दशामें रामस्वामी शास्त्रीका यह कहना कि भरत-नाट्यशास्त्रमें जो शान्तरसका प्रकरण आया है वह प्रक्षिप्त है, सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है। प्राचीन टीकाकारोंके अनुसार भरतमुनि शान्तरसको मानते हैं 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः'। इस वचनका आशय केवल नाट्यमें आठ रसोंका प्रतिपादन करना है। काव्यमें शान्तरस भी हो सकता है। इसीलिए भरतमुनिने आगे चलकर शान्तरसका भी प्रतिपादन किया है। उसको प्रक्षिप्त कहना या न मानना उचित नहीं है। अतः काव्यप्रकाशकारने आगे चलकर 'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः' लिखकर शान्तरसका भी प्रतिपादन किया है।

भक्तिरस—

इन नौ रसोंके अतिरिक्त कुछ लोग भक्तिरसको भी अलग रस मानते हैं। इसकी स्थापना साहित्यिक क्षेत्रमें न होकर धार्मिक क्षेत्रमें की है। साहित्यशास्त्रमें तो इसकी गणना देवादि-विषयक रतिके रूपमें भावोंमें की गयी है। उसे रस नहीं माना है। किन्तु गौडीय वैष्णव उसको अलग रस ही नहीं, अपितु सर्वश्रेष्ठ रस मानते हैं। रूपगोस्वामीने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनील-मणि' नामक ग्रन्थोंमें भक्तिरसका प्रतिपादन बड़े विस्तारके साथ किया है। वे देवता विषयक रतिको तो साहित्यशास्त्रियोंके समान 'भाव' ही कहते हैं, किन्तु भक्तिरसका स्थायिभाव केवल श्रीकृष्ण-विषयक रतिको मानते हैं। श्रीकृष्ण देवता नहीं अपितु साक्षात् भगवान् हैं। इसलिए तद्विषयक रति, देव-विषयक रतिसे सर्वथा भिन्न है। इसीलिए 'भक्तिरस' 'भाव'के अन्तर्गत नहीं अपितु स्वतन्त्र रस है, ऐसा उनका मत है। उसके आलम्बन केवल [राम या] कृष्ण, उद्दीपन भक्तोंका समागम, तीर्थसेवन, नदी या एकान्त पवित्र स्थल आदि; भगवान्‌के नाम तथा लीलाका कीर्तन, गद्गद हो जाना, अश्रुप्रवाह, कभी नाचना, कभी हँसना या कभी रोना आदि तथा मति, ईर्ष्या-वितर्क आदि व्यभिचारिभाव हैं। भक्तिरसके उदाहरणरूपमें 'पद्माकर'के निम्न पद्यको प्रस्तुत किया जा सकता है—

व्याधहुँ ते बेहद असाधु हौं अजामिल लौं,
ग्राह ते गुनाही, कैसे तिनको गिनाओगे,
स्योरी हौं न शूद्र, नहीं केवट कहीं को त्यौं,
न गौतमी-तिया जापै पग धरि आओगे,
रामसौं कहत पद्माकर पुकारि पुनि,
मेरे महा-पापन को पार हू न पाओगे।
झूठो ही कलंक सुनि सीता जैसी सती तजी नाथ,
हौं तो सांचो ही कलङ्की ताहि कैसे अपनाओगे।

इसमें कवि भगवान्‌के सामने अपने अपराधोंको स्वीकार करता है और क्षमाकी याचनाके अभिप्रायसे विनती कर रहा है। भगवान् राम आलम्बन विभाव हैं। तथा भगवद्विषयक रति स्थायिभाव है।

वात्सल्यरस—

इनके अतिरिक्त कुछ लोग 'वात्सल्यरस'को भी अलग रस मानते हैं। साहित्यशास्त्रके आचार्योंमें साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने विशेषतया स्वतन्त्र रसके रूपमें वात्सल्यरसको प्रतिष्ठित किया है। हिन्दी कवियोंमें तुलसी तथा सूरकी रचनाओंमें इस रसका विशेष प्रभाव दिखलाई देता है। इसके उदाहरणके रूपमें निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत किया जा सकता है—

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं,
कबहूँ करताल बजाइके नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं।
कबहूँ रिसिआय कहैं हठिकै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं,
अवधेसके बालक चारि सदा, तुलसी मन मन्दिरमें बिहरैं॥

छोटोंके प्रति स्नेह इसका स्थायिभाव है। छोटे बालक आलम्बन विभाव, बालकोंकी तोतली बोली, सौन्दर्य, क्रीडा आदि उद्दीपन और स्नेहसे गोदमें ले लेना, आलिङ्गन, चुम्बन आदि व्यभिचारी भाव हैं।

किन्तु अधिकांश साहित्यशास्त्रके आचार्य भक्ति और वात्सल्य इन दोनोंको अलग रस नहीं मानते, क्योंकि उनके आधारभूत स्थायिभाव कोई मौलिक स्थायिभाव नहीं हैं। वे सब स्नेहके ही रूपान्तरमात्र हैं। विभिन्न लिङ्गक और समवयस्क व्यक्तियोंका परस्पर स्नेह 'रति' कहलाता है। उत्तम या बड़ेका छोटेके प्रति स्नेह 'वात्सल्य' और छोटेका बड़ेके प्रति स्नेह 'भक्ति' या 'श्रद्धा' कहलाता है। इसी प्रकार समलिङ्ग और समवयस्क व्यक्तियोंका स्नेह 'मैत्री' और चेतनका अचेतनके प्रति स्नेह लोभ कहलाता है। यह सब 'रति'के ही समानान्तर हैं। अलग तात्त्विक मूल स्थायिभाव नहीं है। इसलिए साहित्यशास्त्रियोंने 'भक्ति' तथा 'वात्सल्य'को अलग रस नहीं माना है, अपितु उनकी गणना भावोंमें की है। देवादिविषयक रतिको 'भाव' कहते हैं। इसलिए साहित्यशास्त्रके अनुसार 'भक्ति' एवं 'वात्सल्य' दोनों 'भाव' हैं, रस नहीं। उनको भक्ति-भाव तथा वात्सल्य-भाव कहना चाहिये, रस नहीं कहना चाहिये।

मूलरस—

यद्यपि इस प्रकार विभिन्न आचार्योंने आठसे लेकर ग्यारहतक रसोंकी संख्या मानी है, किन्तु इनमें भी अनेक आचार्योंने प्रधानता और अप्रधानताकी दृष्टिसे अलग-अलग मूल रसोंकी कल्पना की है। स्वयं भरतमुनि आठ रसोंमेंसे, शृङ्गार, रौद्र, वीर, तथा वीभत्स इन चार रसोंको प्रधान मानकर शेष चार रसोंकी उत्पत्ति इन चारसे ही होती है इस बातका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः, बीभत्साच्च भयानकः॥
शृङ्गारानुकृतिर्यातु, सा हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः॥
वीरस्यापि च यत् कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
बीभत्सदर्शनं यत्र ज्ञेयः स तु भयानकः॥

एकरसवाद—

इनके अतिरिक्त अपनी-अपनी दृष्टिसे किसी एक ही विशेष रसको मूल रस माननेकी प्रवृत्ति भी साहित्यशास्त्रमें पायी जाती है। इस विषयमें निम्नलिखित मतोंको उद्धृत किया जा सकता है।

(१) महाकवि भवभूतिने करुणरसको एकमात्र रस बतलाते हुए अपने करुणरस-प्रधान नाटक 'उत्तररामचरित'में लिखा है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त - बुद्बुद - तरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥ ३—उत्तररामचरित

(२) भोजराजने [१२वीं शता०] अपने 'शृङ्गारप्रकाश' नामक ग्रन्थमें शृङ्गाररसको ही एकमात्र मूल रस बतलाते हुए लिखा है—

शृङ्गार - वीर - करुणाद्भुत - रौद्र - हास्य—
बीभत्स - वत्सल - भयानक - शान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः॥

(३) साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने अपने पूर्वज नारायणपण्डितके केवल अद्भुत रसको ही मूल रस माननेका उल्लेख करते हुए लिखा है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वात् सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।

(४) अभिनवगुप्तने शान्तरसको ही एकमात्र मूलरस प्रतिपादन करते हुए 'अभिनवभारती'में लिखा है—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥

आगे ग्रन्थकार इन सारे रसोंके उदाहरण देंगे। इन उदाहरणोंके साथ उस रसका परिचय देनेके लिए उसके लक्षण आदिका भी वर्णन कर दिया जाता तो अच्छा होता, परन्तु काव्य-प्रकाशकारने उसको बिलकुल छोड़कर उदाहरणमात्र दे दिये हैं। साहित्यदर्पणमें नाट्यशास्त्रके आधारपर रसोंका अच्छा परिचय दे दिया है।

रसोंकी सुख-दुःखरूपता—

रसोंकी अलौकिकताके साथ उनकी सुख-दुःख-रूपताका प्रश्न भी प्राचीन साहित्यशास्त्रियोंके लिए एक विवेचनीय प्रश्न रहा है। इस विषयमें प्रायः तीन प्रकारके मत पाये जाते हैं—धनिक, धनञ्जय और विश्वनाथ आदि, सभी रसोंको नितान्त सुख-रूप मानते हैं। इन लोगोंने करुणरसको भी सर्वथा सुखात्मक रस माना है। विश्वनाथने इसका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता॥ सा० द० ३-४, ५॥

तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ, सम्भोगो विप्रलम्भश्च । तत्राद्यः परस्परावलोकन-आलिङ्गन-अधरपान-परिचुम्बनाद्यानन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येक[1] एव गण्यते ।

विश्वनाथ आदिके सुखात्मतावादके विपरीत अभिनवगुप्तने प्रत्येक रसको उभयात्मक रस माना है, अर्थात् प्रत्येक रसमें सुख और दुःख, दोनोंका समावेश रहता है । किन्तु इनमेंसे शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत इन चार रसोंमें सुखकी प्रधानताके साथ दुःखका अनुवेध रहता है । इसके विपरीत रौद्र, भयानक, करुण तथा बीभत्स इन चार रसोंमें दुःखकी प्रधानताके साथ सुखका आंशिक अनुवेध रहता है । केवल शान्तरसको उन्होंने सर्वथा सुखात्मक रस माना है । इस विषयका प्रतिपादन अभिनवगुप्तने अपने 'अभिनवभारती' ग्रन्थके प्रथम अध्यायमें विस्तारपूर्वक किया है ।

रसोंके विषयमें नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्रका मत इन दोनोंसे भिन्न प्रकारका है । उसे हम 'विभज्यवादी' मत कह सकते हैं । विश्वनाथने सभी रसोंको सुखात्मक रस माना है । अभिनवगुप्तने सभी रसोंको उभयात्मक रस माना है । किन्तु रामचन्द्र गुणचन्द्रने न सब रसोंको सुखात्मक ही माना है और न सब रसोंमें सुख-दुःख दोनोंका समावेश ही माना है । उन्होंने रसोंको अलग-अलग दो विभागोंमें विभक्त कर दिया है, जिनमेंसे शृङ्गार, हास्य, वीर अद्भुत और शान्त, इन पाँच रसोंको सर्वथा सुखात्मक और करुण, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक इन चार रसोंको सर्वथा दुःखात्मक रस बतलाते हुए उन्होंने लिखा है—

'तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृङ्गार-हास्य-वीर-अद्भुत-शान्ताः पञ्च सुखात्मानः ।
अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुण-रौद्र-बीभत्सा-भयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः ।'

यही नहीं बल्कि उन्होंने अभिनवगुप्तके उभयात्मकतावाद और अन्योंके सुख-दुःखात्मतावादी सिद्धान्तका खण्डन भी स्पष्ट रूपसे किया है । एकान्त सुखात्मतावादका खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है—

'यत् पुनः सर्वरसानां सुखात्मकत्वमुच्यते तत् प्रतीतिबाधितम् । आस्तां नाम मुख्यविभावोपचितः, काव्याभिनयोपनीतविभावोपचितोऽपि भयानको बीभत्सः, करुणो, रौद्रो वा रसास्वादवतां, अनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति । अत एव भयानकादिभिरुद्विजते समाजः । न नाम सुखास्वादादुद्वेगो घटते ।' नाट्यदर्पण पृ० १५९ ।

अर्थात् जो लोग सब रसोंको नितान्त सुखात्मक मानते हैं उनका वह मत प्रतीतिसे बाधित हो जाता है । मुख्य सिंह-व्याघ्रादि विभावोंसे उत्पन्न भयानक आदिकी बात तो जाने दीजिये [वे तो निश्चित रूपसे क्लेश-दायक, दुःखात्मक होते ही हैं] किन्तु काव्यके अभिनयमें प्राप्त विभावोंसे उत्पन्न भयानक, बीभत्स, करुण या रौद्र रस भी उसके आस्वादन करनेवालोंमें किसी अनिर्वचनीय क्लेश-दशाको उत्पन्न कर देते हैं । इसीलिए भयानक आदि रसोंसे [देखनेवाला] समाज घबड़ाता है । यदि वे भयानक आदि रस सुखात्मक होते तो उससे उद्वेग नहीं होता । इसलिए भयानक आदि रस दुःखात्मक ही हैं, सुखात्मक नहीं ।

शृङ्गाररस और उसके भेद—

उन रसोंमेंसे शृङ्गारके दो भेद होते हैं—(१) सम्भोग [शृङ्गार] और (२) विप्रलम्भ । उनमेंसे पहिला [अर्थात् सम्भोग शृङ्गार] परस्पर अवलोकन, आलिङ्गन, अधरपान, चुम्बन आदि अनन्त प्रकारका [असंख्येय हो जाता है, इसलिए उसके] भेदोंकी गणना सम्भव न होनेसे एक ही गिना जाता है ।

---

१. अनन्तत्वादपरिच्छेद्य एक ।

यथा—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥ ३० ॥

तथा—

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मित-सखीनेत्रोत्सवनन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥ ३१ ॥

[पतिके बराबर अलग पलंगपर लेटी हुई नवोढ़ा नायिकाने] वासगृह [अर्थात् अपने लेटनेके कमरे] को शून्य [अर्थात् सखियोंसे खाली] देखकर अपनी खाटपरसे तनिक-सा उठकर और नींदका बहाना करके लेटे हुए पतिके मुखको बहुत देरतक देखकर [ये सो रहे हैं ऐसा समझकर] निश्शङ्क भावसे चुम्बन कर लेनेसे [उसके] पतिके कपोलपर [प्रसन्नताजन्य] रोमाञ्च देखकर [नायिका यह समझ गयी कि वे जग रहे थे । इसलिए उसका मुख लज्जासे झुक गया । उस] लज्जासे नम्र-मुखवाली बालाको [पकड़कर] हँसते हुए प्रियतम [नायक] ने बहुत देरतक चुम्बन किया ॥३०॥

यह सम्भोग शृङ्गार रसका उदाहरण है । नायक इसका आलम्बन है, शून्य वासगृह उद्दीपन विभाव है । मुख-निर्वर्णन, चुम्बनादि अनुभाव तथा लज्जा हास तथा उससे व्यङ्ग्य हर्षादि व्यभिचारिभाव हैं । रति स्थायिभाव है । उससे सामाजिकको रसकी चर्वणा होती है । साहित्यशास्त्रमें पहिले नारीके अनुरागका वर्णन उचित माना गया है । [पूर्वं रक्ता भवेन्नारी पुमान् पश्चात्तदिङ्गितैः] इसी सिद्धान्तके अनुसार यहाँ सम्भोग शृङ्गारका यह उदाहरण दिया गया है, इसमें नायिकाकी प्रथम अनुरक्ति दिखलायी गयी है ।

मम्मटने यह पद्य 'अमरुक-शतक'से उद्धृत किया है । हिन्दीके महाकवि बिहारीलालने अमरुकके इस पद्यका छायानुवाद एक दोहेमें इस प्रकार किया है—

हीं मिसहा सोयो समुझि मुख चूम्यों ढिग जाय ।
हस्यों, खिसानी, गर गह्यो, रही गले लपटाय ॥

अमरुकके इस लम्बे पद्यके भावको दोहेके छोटेसे कलेवरमें भरकर बिहारीने अपने अद्भुत कौशलका परिचय दिया है । इसीलिए बिहारीके दोहेके विषयमें कहा गया है—

सतसैयाके दोहरे ज्यों नावकके तीर ।
देखतमें छोटे लगें घाव करें गम्भीर ॥

नायककी अनुरक्तिका प्रदर्शन करनेवाला दूसरा उदाहरण आगे देते हैं—

हे सुन्दर नेत्रोंवाली प्रियतमे ! तुम तो बिना कञ्चुकी धारण किये हुए ही बड़ी सुन्दर मालूम होती हो, ऐसा कहकर नायकको उसके बटनको खोलनेके लिए छूते देख शय्याके पास बैठी हुई मुस्कराती हुई, सखीके नेत्रोंकी प्रसन्नतासे आनन्दित हुई अन्य सखियाँ किसी [आवश्यक कामका] झूठा बहाना करके धीरे-धीरे कमरेसे निकल गयीं ॥३१॥

अपरस्तु अभिलाष-विरह-ईर्ष्या-प्रवास-शापहेतुक इति पञ्चविधः ।

यह श्लोक भी अमरुक-शतकसे लिया गया है। सम्पूर्ण रूपसे आलिङ्गन करनेका लोभी अतएव व्यवधान करनेवाली कञ्चुकीको हटानेमें तत्पर नायकका यह वर्णन है। यहाँ मुग्धाक्षी आलम्बन विभाव है। नयन-सौन्दर्य, अङ्ग-शोभा आदि उद्दीपन विभाव हैं। आभाषण और नीविका-संस्पर्श अनुभाव तथा उनकी तुल्यकालतासे अवगत उत्कण्ठा आदि व्यभिचारिभाव हैं। इस सब सामग्रीके द्वारा सामाजिकको रसकी अनुभूति होती है।

हिन्दीके महाकवि बिहारीने पूर्व पद्यके समान अमरुकके इस पद्यका भी अनुवाद अपने इस दोहेमें किया है—

पति रतिकी बतियाँ करीं सखी लखी मुसकाय ।
कै कै सबै टला-टली अली चलीं सुख पाय ॥

अमरुकके लम्बे शार्दूलविक्रीडित छन्दके सम्पूर्ण भावको दोहेके छोटेसे कलेवरमें भर देनेका बिहारीका कौशल यहाँ भी द्रष्टव्य है।

संस्कृतमें मङ्खक-कविने भी अमरुकके इस पद्यका भावानुवाद अपने 'श्रीकण्ठचरित' १५-१५ में इस प्रकार किया है—

सख्योऽथ पक्ष्मलदृशां तदवेक्ष्य तन्त्रं
स्मेराननार्पितकरं शनकैर्निरीयुः ।
तत्कर्पटाञ्चल - समीर - विधूयमानो
दीपोऽपि निर्जगमिषुत्वमिवाललम्बे ।

अमरुकके मूल पद्यमें सखियोंकी उपस्थितिमें नायक, नीविका-संस्पर्श, बटन खोलनेतक पहुँच गया है। यह कुछ अच्छा नहीं लगता है। सभ्यताकी मर्यादाका अतिक्रमण-सा और अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है। इसीलिए मङ्खक कविने उस सबके स्थानपर 'तदवेक्ष्य तन्त्रं' लिखकर तन्त्र शब्दसे ही सब कुछ कह दिया है। और बिहारीने भी 'पति रतिकी बतियाँ कहीं'में उस सबका समावेश करके अपनी 'सुरुचि'का प्रदर्शन किया है।

सम्भोग शृङ्गारके इन दोनों उदाहरणोंमेंसे पहिलेमें नायिका और दूसरेमें नायकका अनुराग दिखलाया गया है। नीचेके हिन्दी पद्यमें सीता और राम दोनोंके युगपत् अनुरागका सुन्दर वर्णन पाया जाता है—

दोऊ जने दोऊको अनूप रूप निरखत,
पावत कहूँ न छवि-सागरको छोर हैं ।
चिन्तामणि केलिकी कलानिके विलासनि सों,
दोऊ जने दोऊनके चित्तनके चोर हैं ।
दोऊ जने मन्द मुसुकानि - सुधा बरसत,
दोऊ जने छकें मोद, मद दोऊ ओर है ।
सीता जू के नैन रामचन्द्रके चकोर भये,
राम-नैन सीता मुखचन्द्रके चकोर हैं ।

इस प्रकार सम्भोग शृङ्गारके दो उदाहरण देकर आगे विप्रलम्भ शृङ्गारका वर्णन करते हैं।

दूसरा [अर्थात् विप्रलम्भ शृङ्गार] अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास तथा शाप [रूप पाँच प्रकारके हेतुओं]से होनेके कारण पाँच प्रकारका होता है।

क्रमेणोदाहरणम्—

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि ।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥३२॥

क्रमशः [उन पाँचोंके] उदाहरण [आगे देते हैं]—

साहित्यदर्पणकार आदि अन्य कुछ आचार्योंने इस विप्रलम्भके चार ही भेद माने हैं—

पूर्वानुराग - मानाख्य - प्रवास - करुणात्मना ।
विप्रलम्भाभिधानोऽयं शृङ्गार स्याच्चतुर्विधः ॥

मम्मटका अभिलाप इसके पूर्वरागका तथा ईर्ष्या मानका नामान्तर है। प्रवास दोनों जगह समान है। शापके स्थानपर यहाँ करुण है। पर विरहका यहाँ कोई उल्लेख नहीं है।

इन पाँचों भेदोंमेंसे सबसे पहिले अभिलाप या पूर्वरागका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पूर्वराग या अभिलापका अभिप्राय उन व्यक्तियोंके राग या अभिलापसे है जिनको समागमका अवसर प्राप्त नहीं हुआ है। समागम हो जानेके बाद जो कादाचित्क समागमका अभाव हो जाता है उसको 'विरह' कहते हैं। यह 'विरह' उन दोनोंमेंसे एकके अनुराग-शून्य होनेपर भी हो सकता है और गुरुजनोंमें लज्जा आदिके कारण समागम न होनेपर भी हो सकता है। इन सबका अन्तर्भाव 'विरह'के भीतर ही होता है। प्रवास-हेतुक और शाप-हेतुक दीर्घतर विरह उस-उस नामके विप्रलम्भ शृङ्गारमें आते हैं। समीप रहनेपर भी मान निमित्तक समागमका अभाव, 'ईर्ष्या' भेदके अन्तर्गत होता है। इस प्रकार यह पाँच प्रकारके विप्रलम्भ शृङ्गारका प्रतिपादन किया है। आगे चलकर ग्रन्थकार इन पाँचों प्रकारके भेदोंके उदाहरण क्रमशः देते हैं। इनमें सबसे पहिले अभिलाप या पूर्वरागका उदाहरण 'मालतीमाधव' नामक नाटकसे उद्धृत करते हैं। 'मालतीमाधव'के प्रथम अङ्कमें मालतीकी प्राप्तिके लिए श्मशान-साधना करनेवाले माधवके अभिलाप या पूर्वरागको महाकवि भवभूतिने अगले श्लोकमें प्रस्तुत किया है।

इस उदाहरणमें प्रेम, प्रणय तथा परिचय शब्दोंका प्रयोग किया गया है। वे सब लगभग एक अर्थके वाचक हैं। किन्तु उनमें थोड़ा-थोड़ा भेद समझना चाहिये, अन्यथा पुनरुक्ति हो जायगी। 'यह मेरा है मैं इसका हूँ' इस प्रकारका पक्षपात-विशेष 'प्रेम' कहलाता है। परस्पर अवलोकनादिसे जो प्रेम प्रकर्षको प्राप्त हो जाता है, जिसमें किसी एकके अनेक अपराध करनेपर भी कमी नहीं आती है, उस प्रकारके अविचल प्रेमको 'प्रणय' शब्दसे सूचित किया गया है और अधिक कालतक साथ रहनेसे जो प्रणयकी दृढ़ता होती है उसे 'परिचय' शब्दसे सूचित किया गया है।

उस सुन्दर नेत्रोंवाली मालतीकी प्रेमसे सनी हुई, प्रणयका स्पर्श करनेवाली तथा परिचयके कारण उद्गाढ़ [अर्थात् गुरुजन आदिके प्रतिबन्धकी भी चिन्ता न करनेवाले] अनुरागसे भरी हुई इस प्रकारकी वे-वे भाव पूर्ण चेष्टाएँ मेरे प्रति हों, जिनकी [इस समय अपने मनमें] कल्पना करनेपर भी तत्क्षण बाह्य इन्द्रियोंको व्यापार-शून्य बना देनेवाला अन्तःकरणका आनन्दमय लय-सा हो जाता है [अर्थात् जिन चेष्टाओंकी कल्पनामात्रसे इस समय सब-कुछ सुध-बुध भूलकर मन आनन्दसागरमें लीन हो जाता है]। ३२।

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
यो मां नेच्छति नागतश्च हहहा कोऽयं विधेः प्रक्रमः ।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्त्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि ॥३३॥

एषा विरहोत्कण्ठिता ।

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥३४॥

यह विप्रलम्भ शृङ्गारके अभिलाप या पूर्वराग भेदका उदाहरण है । इसके बाद विरह या समागमके बाद गुरुजनोंकी लज्जा आदिके कारण समागममें विलम्ब होनेपर विकलताके प्रदर्शन करानेवाला उदाहरण देते हैं । इसमें रातको नायकके आगमनकी प्रतीक्षामें खाटपर लेटी हुई नायिकाकी विकलावस्था या विरहका वर्णन किया गया है । नायिका कह रही है कि—

वे कहीं और [किसी अन्य स्त्रीके पास] चले गये हैं, यह तो [कुत्सित कथा] कुविचार है । [ऐसा तो कभी सम्भव हो ही नहीं सकता है । शायद किसी मित्रके कहनेसे कहीं चले गये हों यह शङ्का भी नहीं बनती है क्योंकि] उनका ऐसा कोई मित्र भी नहीं है जो मुझको न चाहता हो [अर्थात् मेरा अहित चिन्तन करता हो और उनको बहकाकर कहीं ले जाय], फिर भी वे [अब तक] आये नहीं, यह भाग्यका कैसा खेल है ! इस प्रकारकी अनेक कल्पनाओंके हृदयमें व्याप्त हो जानेसे वह बिचारी [बाला] करवटें बदलती हुई [वृत्तः सञ्जातः विवर्तानां पार्श्वपरिवर्तनानां व्यतिकरः सम्बन्धः समूहो वा यस्याः सा वृत्तविवर्तनव्यतिकरा] रातको सो नहीं पा रही है । ३३ ।

[अधिक रात तक गुरुजन आदिके पास बैठे रहनेके कारण, सङ्कोचवश उसका पति उसके पास नहीं आ रहा है । इसलिए] यह विरहोत्कण्ठिता है ।

आगे ईर्ष्या-हेतुक विप्रलम्भ शृङ्गारका तीसरा उदाहरण 'अमरुक-शतक'मेंसे देते हैं । इसमें किसी नवोढ़ाकी सखी उसकी अवस्थाको किसी अन्य सखीको सुनाकर कह रही है—

वह पतिके [अन्यस्त्री-प्रसङ्गरूप] प्रथम अपराधके समय सखियोंके बतलाये बिना हाव-भावसे अङ्गको चलाकर वक्रोक्तियोंसे उलाहना देना नहीं जानती है । इसलिए खुले हुए और चञ्चल अलकोंसे उपलक्षित और [पर्यस्तनेत्रोत्पला परितः अस्ते क्षिप्ते नेत्रोत्पले यया सा पर्यस्तनेत्रोत्पला अर्थात्] आँखोंको इधर-उधर करती हुई वह बिचारी [बाला] स्वच्छ गालोंके किनारेके आँसू टपकाती हुई केवल रोती ही रहती है । ३४ ।

नायकके परस्त्रीके सम्बन्धको देखकर उत्पन्न ईर्ष्याके कारण यह विप्रलम्भ शृङ्गारका उदाहरण दिया गया है । आगे प्रवास-हेतुक विप्रलम्भ-शृङ्गारका उदाहरण देते हैं । यह श्लोक भी 'अमरुक-शतक'से लिया गया है । किसी स्त्रीका पति गुरुजनोंके आदेश आदिके कारण दीर्घ-प्रवासपर विदेश जा रहा है । यह समाचार सुनकर वह अपने जीवनको सम्बोधन करके कह रही है ।

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिताः
गन्तव्ये सति जीवित ! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥३५॥

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥३६॥

हास्यादीनां क्रमेणोदाहरणम् ।

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या
मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे ।
तारस्वनं प्रथितथूत्कमदात् प्रहारं
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥३७॥

हे जीवन [हे प्राणो] प्रियतमके [प्रवासपर] जानेका निश्चयकर लेनेपर [कङ्कण पहिले ही चल दिये अर्थात् मेरे शरीरमें दुर्बलता आ जानेसे कङ्कणोंने अपना स्थान छोड़ दिया और ढीले पड़कर नीचे गिर गये हैं], और प्रियको प्यार करनेवाले आँसू तबसे ही निरन्तर बहे जा रहे हैं। धृति तनिक देर भी नहीं रुकी और चित्तने उनके आगे-आगे जानेका निश्चय कर लिया है। हे प्राणो ! तुम्हें भी जाना ही है, तब प्रिय मित्रका साथ क्यों छोड़ रहे हो। [तुम भी शरीरसे निकल चलो]। ३५।

यह प्रवास-हेतुक विप्रलम्भ शृङ्गारका उदाहरण दिया। आगे शाप-हेतुक विप्रलम्भ-शृङ्गारका उदाहरण कालिदासके मेघदूतसे उद्धृत करते हैं।

पत्थरकी शिलापर गेरू आदि धातुके रङ्गोंसे तुम्हारा चित्र बनाकर मैं जबतक [चित्रमें] अपनेको तुम्हारे चरणोंमें गिरा हुआ करना चाहता हूँ, तबतक आँसू फिर बढ़कर मेरी दृष्टिको आच्छादित कर लेते हैं। [और मैं उस चित्रको पूर्ण नहीं कर पाता हूँ]। निष्ठुर 'दैव' उस [चित्र]में भी हमारे सङ्गमको सहन नहीं करता है ॥३६॥

इस प्रकार सम्भोग-शृङ्गारके दो भेद और विप्रलम्भ-शृङ्गार पाँचों भेदोंके पाँच कुल मिलाकर शृङ्गारके सात उदाहरण ग्रन्थकारने यहाँतक दिखलाये हैं। अब शेष हास्य आदि रसोंका एक-एक उदाहरण आगे दिखलाते हैं।

हास्य आदिके क्रमसे उदाहरण आगे देते हैं।

हास्यरसका उदाहरण

वेश्याने अपने अपवित्र हाथको सिकोड़कर जोरसे थूत्कार करते हुए मन्त्रों के[द्वारा अभिमन्त्रित] जल-बिन्दुओंसे प्रतिपद पवित्र किये हुए मेरे शिरपर [थूकनेका] प्रहार किया है, हाय-हाय मार डाला यह कह कर विष्णुशर्मा रो रहा है ॥ ३७ ॥

हा मातस्त्वरिताऽसि कुत्र किमिदं हा देवताः काऽऽशिषः
धिक् प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ।
इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि ॥३८॥

यह हास्यरसका उदाहरण दिया गया है। विष्णुशर्माकी दशाको देखकर सबको हँसी आती है।

बहुत बे-आबरू होकर तेरे कूचेसे हम निकले।

यहाँ विष्णुशर्मा आलम्बन-विभाव है। रोदन उद्दीपन-विभाव है। स्मित, हसित, अतिहसित आदि अनुभाव हैं। हास स्थायिभाव है।

हिन्दी साहित्यमें पद्माकरका निम्नलिखित पद्य हास्यरसका सुन्दर उदाहरण है—

हँसि हँसि भजै देखि दूलह दिगम्बरको,
पाहुनो जे आवै हिमाचलके उछाह में।
कहै 'पद्माकर' सू काहूको कहै को कहा,
जोई जहाँ देखै सो हँसोई तहाँ राह में॥
मगन भएई हँसै नगन महेस ठाढ़े,
और हँसे वेऊ हँसि-हँसिके उमाह में।
सीसपर गंगा हँसै, भुजनि भुजंगा हँसैं,
हास ही को दंगा भयो नंगाके विवाह में॥

यहाँ महादेवके विवाहका प्रसङ्ग है। हास स्थायिभाव है। महादेव आलम्बन-विभाव हैं। नंगा रूप उद्दीपन-विभाव है। गंगा और साँपोंका हँसना अनुभाव है। इस दृश्यको देखनेके लिए लोगोंकी उत्सुकता आदि व्यभिचारिभाव है। इन सबसे मिलकर हास्यरसकी अभिव्यक्ति हो रही है।

करुणरसका उदाहरण—

आगे करुणरसका उदाहरण देते हैं। यह श्लोक कहाँका है इसका ठीक पता नहीं है। जयन्तभट्टके अनुसार कश्मीरकी राजमाताके मरनेपर भट्टनारायणके विलापका यह वर्णन है। महेश्वरका यह कथन है कि मदालसाके जलकर मर जानेपर यह पुरवासिनी स्त्रियोंका विलाप है।

हे मातः! इतनी जल्दी हमको छोड़कर कहाँ चली गयी। [अकस्मात् वज्रपात सदृश] यह क्या हुआ। [देवताओंकी इतनी पूजा करनेवाली भी इस प्रकार चली गयी और देवता उसको बचा नहीं सके इसलिए] हा, देवताओ [आपकी भक्तिका क्या मूल्य रहा] हे ब्राह्मणो [आप प्रतिदिन उनको चिरंजीवी होनेके आशीर्वाद देते थे। पर आपके] आशीर्वाद कहाँ चले गये। [और उनके चले जानेके बाद भी अबतक बने रहनेवाले हमारे इन] प्राणोंको धिक्कार है। [तुम्हारे अन्त्येष्टि संस्कारके समय] अग्नि वज्र बनकर तुम्हारे शरीरपर गिरा और तुम्हारे [शरीरके साथ सुन्दर तथा स्नेह एवं दयासे पूर्ण] नेत्र भी भस्म हो गये। इस प्रकार उच्च स्वरसे रोनेके कारण भर्राती हुई बीच-बीचमें रुक जाती हुई पुरवासिनी स्त्रियोंकी करुण-ध्वनि, चित्रमें अङ्कित [नर-नारी आदि]को भी रुला रही है। और भित्तियोंके भी टुकड़े करे डालती है॥३८॥

यहाँ मृत राजमाता आलम्बन-विभाव, उसका दाहादि उद्दीपन-विभाव, रोदन अनुभाव, दैन्य, ग्लानि, मूर्च्छा आदि व्यभिचारिभाव हैं। उस सब सामग्रीके द्वारा अभिव्यक्त होकर करुणरस सामाजिकके आस्वादका विषय होता है।

हिन्दीमें श्रीपति-कविका निम्नलिखित पद्य करुणरसके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है—

मातुको मोह, न द्रोह विमातुको, सोच न तातके गात दहेको।
प्रानको छोभ न, बन्धु बिछोह न, राजको लोभ न, मोद रहेको।
एते तै नेक न मानत 'श्रीपति', एते मैं सीय वियोग सहेको।
ता रनभूमि मैं राम कह्यो, मोह सोच विभीषण भूप कहेको॥

यह लक्ष्मणजीके शक्ति लगनेपर रामचन्द्रजीके विलापका प्रसङ्ग है। लक्ष्मणके लिए विलाप करनेसे शोक स्थायिभाव है। लक्ष्मणका निश्चेष्ट शरीर तथा उनका विपुल पराक्रम आदि उद्दीपन विभाव हैं। लक्ष्मण आलम्बन विभाव है। रामचन्द्रका विलाप करना अनुभाव है। ऐसी दशामें भी विभीषणको राजा बनानेका ध्यान होनेसे मति, स्मृति, वितर्क विषादादि सञ्चारिभाव हैं।

करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गारका भेद—

करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गारकी स्थितिके विषयमें कभी-कभी भ्रम हो जाता है। उनकी सीमा अलग-अलग हैं। भ्रमकी सम्भावना मुख्यतः प्रेमियोंके वियोगकी अवस्थाओंमें रहती है। प्रेमियोंका वियोग दो प्रकारका हो सकता है—१. एक स्थायी वियोग, २. अस्थायी वियोग। दोनों प्रेमियोंके जीवनकालमें जो वियोग किसी भी कारणसे होता है वह अस्थायी वियोग होता है और वह विप्रलम्भ-शृङ्गारकी सीमामें आता है। किन्तु दोनों प्रेमियोंमेंसे किसी एककी मृत्यु हो जानेपर जो वियोग होता है, उसमें फिर मिलनेकी कोई आशा या सम्भावना नहीं रहती है। इसलिए वह स्थायी वियोग होता है। वह करुणरसकी सीमामें आता है। इस प्रकार जहाँतक प्रेमियोंके वियोगका सम्बन्ध है, उसमें विप्रलम्भ-शृङ्गार तथा करुण-रसकी सीमा-रेखा 'मृत्यु' है। मृत्युसे पूर्वतक विप्रलम्भ-शृङ्गार और मृत्युके बाद करुण-रसका क्षेत्र होता है।

संस्कृत काव्यों तथा नाटकोंमें ऐसे कथा-प्रसङ्ग भी पाये जाते हैं जहाँ दो प्रेमियोंमेंसे किसी एककी मृत्यु हो जानेपर भी फिर उनका मिलन हो जाता है। कुछ इस प्रकारके उदाहरण भी पाये जाते हैं जिनमें वस्तुतः किसीकी मृत्यु होती तो नहीं है, परन्तु समझ ली जाती है। ये दोनों प्रकारके स्थल भी करुणरसके क्षेत्रमें माने जाते हैं। कुछ लोगोंने मृत्युके बाद फिर समागम होनेकी स्थितिमें करुणविप्रलम्भ नामसे विप्रलम्भके एक अलग भेदकी कल्पना की है, जैसा कि साहित्यदर्पणकारने लिखा है—

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भः॥

इस प्रकारका उदाहरण कादम्बरीमें पुण्डरीक तथा महाश्वेताके वृत्तान्तमें मिलता है। पुण्डरीकके मर जानेके बाद महाश्वेता और कपिञ्जल आदि विलाप कर रहे हैं। इसी बीचमें कोई दिव्य ज्योति आकर पुण्डरीकके मृत शरीरको उठा ले जाती है और महाश्वेताको आश्वासन दे जाती है कि तुम्हारा इससे फिर मिलन होगा। इसमें आकाशवाणीके पूर्वका महाश्वेता आदिका जो विलाप है वह स्पष्ट ही करुणरस है। उसके बाद मिलनकी आशा हो जानेसे विप्रलम्भ कहा जा सकता है। इसीलिए

इसके लिए 'करुण-विप्रलम्भ' नामका प्रयोग इन लोगोंने किया है।

'किञ्चात्राकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव शृङ्गारः, सङ्गमप्रत्याशया रतेरुद्भवात्। प्रथमन्तु करुण एव इत्यभियुक्ता मन्यते।'

परन्तु मम्मट आदि अन्य आचार्योंने 'करुण विप्रलम्भ' नामका शृङ्गारका कोई भेद नहीं माना है। उनके मतमें यह करुण रसकी सीमाके ही अन्तर्गत है। हाँ आकाशवाणीके पश्चात् उसे कथञ्चित् विप्रलम्भ माना जा सकता है। परन्तु यह उदाहरण केवल कविकी कल्पनामात्रसे रचा हुआ है। यथार्थमें तो अन्ततक करुण ही रह सकता है। क्योंकि व्यवहारमें ऐसा तभी हो सकता है जब वास्तवमें मृत्यु न हुई हो और मृत्यु समझ ली गई हो। ऐसे स्थलपर पुनर्मिलन एकदम अप्रत्याशित रूपसे ही होता है इसलिए अन्ततक करुण रसकी मर्यादा रहती है और आकस्मिक पुनर्मिलनपर अद्भुत रसका उदय हो जाता है। 'करुण-विप्रलम्भ' का कोई अवसर नहीं रहता है।

इस प्रकारके उदाहरण जिनमें मृत्यु नहीं हुई है, परन्तु मृत्यु समझ ली गई है, संस्कृत साहित्यमें अनेक पाये जाते हैं और वे सब करुणरसके क्षेत्रमें आते हैं। महाकवि भवभूतिका 'उत्तररामचरित' नाटक इसका सबसे सुन्दर उदाहरण है। रामचन्द्रके आदेशसे लक्ष्मण गर्भवती सीताको बाल्मीकिके आश्रमके पास जङ्गलमें छोड़ आये हैं। उसके बाद रामचन्द्रने, उनको जङ्गली जानवरोंने खा डाला होगा ऐसा समझ लिया है। उत्तररामचरितके करुणरसको सर्वोत्तम स्वरूप प्रदान करनेवाला रामचन्द्रका वह करुण विलाप है, जिसने पत्थरोंको भी रुलाया है—'अपि ग्रावा रोदिति अपि दलति वज्रस्य हृदयम्'। यह सब उसी धारणापर अवलम्बित है और इसीलिए उत्तररामचरित करुण-रस प्रधान नाटक माना गया है। पहिले सीताहरणके बाद भी सीता और रामका वियोग हुआ था, पर वह करुण नहीं अपितु विप्रलम्भका ही उदाहरण है, क्योंकि उससे रामचन्द्रको सीतासे मिलनेकी आशा थी। उत्तररामचरितमें रामचन्द्रने स्वयं इन दोनों वियोगोंका अन्तर इस प्रकारसे बतलाया है—

[1]'उपायानां　　　भावादविरलविनोदव्यतिकरैः
विमर्दैर्वीराणां　　　जनितजगदत्यद्भुतरसः।
वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभूत्
कटुस्तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः॥

पहिला वियोग रिपुघात-पर्यन्त रहनेवाला था इसलिए वह विप्रलम्भ-शृङ्गारका उदाहरण था। पर यह दूसरी बारका वियोग 'निरवधिरयं तु प्रविलयः' है इसलिए वह करुण रसका उदाहरण है।

करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गारका भेद दिखलाते हुए साहित्यदर्पणकारने लिखा है—

[2]शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः सम्भोगहेतुकः॥

अर्थात् करुणरसका स्थायिभाव शोक होता है और विप्रलम्भ शृङ्गारका स्थायिभाव 'रति' होता है, क्योंकि उसमें पुनर्मिलनकी आशा बनी रहती है।

भरत मुनिने विप्रलम्भको 'सापेक्ष' अर्थात् आशामय और करुणको 'निरपेक्ष' अर्थात् निराशामय रस कहकर उनका भेद दिखलाया है।

[3]करुणस्तु शापक्लेशविनपतितेष्टजनविभवनाश-बध-बन्ध समुत्थो 'निरपेक्षभावः'। औत्सुक्य-चिन्तासमुत्थः 'सापेक्षभावो' विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति।

---

१. उत्तररामचरित ३-४४। २. सा. दर्पण ३,२२६। ३. भरतनाट्यशास्त्र ६-५१ पृ० ३०९।

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिनां
अयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥३९॥

यहाँ 'सापेक्ष' और 'निरपेक्ष' शब्दोंका अर्थ क्रमशः 'आशामय' तथा 'नैराश्यमय' करना चाहिये। विप्रलम्भमें पुनर्मिलनकी आशा बनी रहनेसे दुःखमय होनेपर भी उसमें जीवनका आशामय दृष्टिबिन्दु बना रहता है। परन्तु करुणरसमें पुनर्मिलनकी कोई सम्भावना न रहनेसे निराशामय दृष्टिकोण हो जाता है। करुणके इसी नैराश्यमय रूपको भवभूतिने 'तटस्थं नैराश्यात्' कहकर व्यक्त किया है। यहां 'तटस्थ' शब्द उसी 'निराशामय' निरपेक्षभावको सूचित करता है। इसलिए करुण और विप्रलम्भकी सीमा बिलकुल अलग-अलग है।

करुण तथा विप्रलम्भके इस भेदकी विवेचना तो केवल दो प्रेमियोंके वियोगकी दो भिन्न प्रकारकी दशाओंको लेकर करने आवश्यकता पड़ी है। परन्तु इसके अतिरिक्त करुणरसका एक और भी क्षेत्र है, जो विप्रलम्भसे बिलकुल स्वतन्त्र है। वहाँ दोनोंके सङ्करकी कोई सम्भावना ही नहीं है। साहित्यदर्पण आदिमें 'इष्टनाश' और 'अनिष्टप्राप्ति', दोनोंको करुणरसका कारण माना है। इष्टनाशमें तो नायक-नायिकामेंसे किसीका नाश आता है और अनिष्टप्राप्तिमें अन्य पिता-पुत्रादि सम्बन्धियोंकी मृत्यु, वध, बन्धन, विभवनाश आदिका अन्तर्भाव होता है। यह सब करुणका विप्रलम्भसे बिलकुल भिन्न क्षेत्र है।

रौद्ररसका उदाहरण—

इसके आगे काव्यप्रकाशकार क्रमप्राप्त रौद्ररसका उदाहरण 'वेणीसंहार' नाटकके तृतीय अङ्कसे देते है। द्रोणाचार्यके निर्दयतापूर्वक अनुचित ढंगसे वध किये जानेका समाचार जब अश्वत्थामाको मिला तो अपने पिता और कौरव-पाण्डव सबके आचार्यके इस प्रकार अपमानपूर्वक सिर काटे जानेसे क्रुद्ध होकर वह कह रहा है—

हाथमें शस्त्र लिये हुए [उदायुधैः] 'मर्यादाका पालन न करनेवाले' नरपशुओंके सदृश जिन आप लोगोंने [आचार्य द्रोणका शिरश्छेदन रूप] यह महान् पातक किया है, अथवा [कृष्ण आदि जिन्होंने उसका] अनुमोदन किया है, अथवा [भीम, अर्जुन आदिने धृष्टद्युम्नको रोकनेका यत्न न करके जिन्होंने प्रसन्नतापूर्वक खड़े-खड़े इस पापको] देखा है, [नरकासुरके शत्रु] कृष्ण, भीम तथा अर्जुनके सहित उन [धृष्टद्युम्न आदि] के रक्त, चर्बी और मांससे मैं अभी दिशाओंकी बलि [पूजन] करता हूँ। ३९।

यहाँ 'पशुभिः' इस पदसे बलिदान-योग्यता सूचित होती है। 'उदायुधैः' इस पदसे उनके प्रतिकार करनेमें समर्थ होनेपर भी प्रतिकार न करनेसे अत्यन्त दण्डनीयत्व सूचित होता है। कर्त्ता, अनुमन्ता और द्रष्टाके अपराधमें क्रमशः न्यूनता होती है इसलिए दण्डनीयताके क्रमसे इनका उपादान किया गया है। इस दृष्टिसे पहले कर्ता धृष्टद्युम्नका नाम लेना चाहिये था, परन्तु क्रोधातिशयमें क्रम भूलकर पहिले नरकरिपु कृष्णका नाम लिया गया है। इस श्लोकका अर्थ तो रौद्ररसके अनुरूप है, परन्तु उसकी शब्दरचना रौद्ररसके अनुरूप नहीं बन पड़ी है। इससे कविकी अशक्ति द्योतित होती है।

हिन्दीमें पद्माकरका निम्नलिखित पद्य रौद्ररसके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है—

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा-
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।
सौमित्रे ! तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥४०॥

'बारि टारि डारौं कुंभकर्नहिं बिदारि डारौं,
　　　मारौं मेघनादै आज यों बल-अनंत हौं ॥
कहै पद्माकर त्रिकूट ही को ढाहि डारौं,
　　　डारत करेई यातुधानन को अंत हौं ॥
अच्छहिं निरच्छ कपि रुच्छ है उचारौं इत्रि,
　　　तों से तिच्छ तुच्छन को कछुवै न गंत हौं ॥
जारि डारौं लंकहि उजारि डारौं उपवन,
　　　फारि डारौं रावण को तो मैं हनुमंत हौं ॥'

वीररसका उदाहरण—

रौद्ररसके बाद आगे हनुमन्नाटकके एकादश अङ्कसे वीररसका उदाहरण देते हैं । लङ्का-युद्धके समय इन्द्रजित्‌की यह उक्ति है ।

अरे क्षुद्र बन्दरो, तुम मत डरो, [क्योंकि इन्द्रके हाथी] ऐरावतके गण्डस्थलका भेदन करनेवाले [मेरे] ये बाण तुम्हारे शरीरपर गिरनेमें लज्जा अनुभव करते हैं [इसलिए तुम मत डरो, तुम्हारे ऊपर इनका प्रहार नहीं होगा], हे लक्ष्मण, तुम भी हट जाओ, तुम [मेरे] क्रोधके [योग्य] पात्र नहीं हो, [जानते हो] मैं मेघनाद हूँ, [मैं तुम लोगोंसे क्या लड़ूँगा] मैं तो तनिक-सी भौंहें टेढ़ी करने मात्रसे समुद्रको वशमें कर लेनेवाले रामको खोज रहा हूँ ॥ ४० ॥

यहाँ राम आलम्बन विभाव हैं, उनके द्वारा किया गया समुद्रबन्धन उद्दीपन विभाव, क्षुद्र वानर आदिकी उपेक्षा और परम प्रतापशाली रामका अन्वेषण अनुभाव, ऐरावतके गण्डस्थलके भेदनकी स्मृति और 'बाण लज्जित होते हैं' इससे गम्य गर्व व्यभिचारिभाव है। रामसे लड़नेका 'उत्साह' स्थायिभाव है ।

हिन्दीके निम्नलिखित पद्यको वीररसके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है—

क्रुद्ध दशानन बीस भुजानि सो लै कपि रीछ अनी सर बट्टत ।
लच्छन तच्छन रत्त किये दृग लच्छ विपच्छनके सिर कट्टत ॥
मारु पछारु पुकारु दुहूँ दल, रुण्डि झपट्टि दपट्टि लपट्टत ।
रुण्ड लरैं भट मत्थनि लुट्टत जोगिनि खप्पर ठट्ठनि ठट्ठत ॥

यहाँ लङ्काके युद्धमें रीछ वानरोंकी सेना देखकर रावणसे लड़नेका वर्णन है । रावणके हृदयका उत्साह स्थायिभाव है । रीछ तथा वानर आलम्बन हैं । वानरोंकी नाना क्रीड़ाएँ तथा लीलाएँ उद्दीपन विभाव हैं । नेत्रोंका लाल होना, शत्रुओंके सिरोंका काटना अनुभाव है। उग्रता, अमर्ष आदि सञ्चारिभाव हैं ।

कुछ आचार्योंने युद्धवीर, दानवीर और दयावीर भेदसे वीररसके तीन भेद किये हैं ।

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥४१॥

'स च वीरो दानवीरो, धर्मवीरो, युद्धवीरो, दयावीरश्चेति' चतुर्विधः' । लिखकर साहित्य-दर्पणकारने तीनके स्थानपर चार प्रकारका वीररस माना है । उनमेंसे दानवीर बलि आदि, दयावीर जीमूतवाहन आदि और धर्मवीर युधिष्ठिर आदि प्रसिद्ध हैं । दूसरे लोगोंका मत है कि वीर पदका प्रयोग केवल युद्धवीरके लिए ही होता है इसलिए वीररसके अन्य भेद नहीं करने चाहिये । दया या धर्म आदिके विषयमें जो 'उत्साह' होता है उसकी गणना 'भाव'में ही करनी चाहिये ।

भयानकरसका उदाहरण—

आगे शकुन्तलानाटकके प्रथम अङ्कमें राजा दुष्यन्त शिकारके लिए निकले हैं । एक मृगके पीछे उनका रथ दौड़ रहा है । और भयके कारण वह मृग अपनी सारी शक्तिसे आगे-आगे भाग रहा है । उस समय राजा दुष्यन्त अपने सारथिसे उस मृगके भागनेका वर्णन कर रहे हैं—

सुन्दरताके साथ गर्दन घुमाकर पीछे आते हुए [हमारे] रथपर बार-बार दृष्टि डालता हुआ, और बाण लगनेके भयसे अपने पीछेके आधे शरीरको अगले शरीरमें घुसेड़ते हुए, थक जानेसे [हाँफते हुए] खुले हुए मुखसे आधे खाये हुए तृणोंको पृथिवी-पर गिराता हुआ, देखो, यह हरिण [लम्बी-लम्बी छलाँगें मारनेके कारण मानों] आकाशमें अधिक और पृथिवीपर कम चलता है ॥४१॥

यहाँ पीछा करनेवाला राजा या उसका रथ आलम्बन, बाण लगनेका भय और अनुसरण उद्दीपन, गर्दन मोड़ना और भागना आदि अनुभाव और त्रास, श्रम आदि व्यभिचारिभाव हैं । 'शरपतन-भयात्'में भय पदका उपादान करनेसे स्थायिभावकी स्वशब्दवाच्यताका दोष नहीं आता है । क्योंकि शरपतन-भय यहाँ स्थायिभाव नहीं, केवल उद्दीपन है । रथसे या राजासे उत्पन्न भय स्थायिभाव है ।

हिन्दीके निम्नलिखित पद्यको भयानक रसके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है—

रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाहिं
सकैं न विलोकि वेष केसरी किसोरको ।
मीजि-मीजि हाथ धुनि माथ दसमाथ-तिय
'तुलसी' तिलौ न भयौ बाहिर अगारको ॥
राब असबाब डारों मैं न काढ़ो तै न काढ़ु
जियकी परी को सँभारै भंडारको ।
खीजति मँदोवै सविषाद देखि मेघनाद
लुनियत वयो सब याही डाढ़ी जारको ॥

हनुमानजी लङ्काको जला रहे हैं । लङ्काको जलती देखकर मन्दोदरीका भय स्थायिभाव है । हनुमान् आलम्बन विभाव हैं । हनुमान्का भयानक वेष, घर-असबाबका जलना उद्दीपन विभाव हैं । घबड़ाकर भागना । हाथका मींजना, माथा पीटना, असबाबको घरसे काढ़नेके लिए तू-तू मैं-मैं करना आदि अनुभाव है । विषाद, चिन्ता आदि सञ्चारिभाव हैं ।

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥४२॥

बीभत्सरसका उदाहरण—

आगे 'मालतीमाधव'के पञ्चम अङ्कसे बीभत्सरसका उदाहरण देते हैं। श्मशानमें किसी प्रेतको मांस-भक्षणमें लगा हुआ देखकर माधव उसकी बीभत्स चेष्टाओंका वर्णन कर रहा है—

पहिले खालको उखाड़-उखाड़ कर, कन्धे, नितम्ब, पीठ, पिंडली आदि अवयवोंमें ऊँचे उभरे हुए अधिक मात्रामें उपलब्ध, भयंकर-दुर्गन्ध युक्त सड़े हुए मांसको खा चुकनेके बाद, [दूसरा छीन न ले इस दृष्टिसे] चारों ओर देखता हुआ, और दाँत निकाले हुए, भूखा, दरिद्र प्रेत गोदमें रखे हुए मुर्देके हड्डीके भीतर लगे हुए और गढ़ोंमें स्थित [क्रव्य] कच्चे मांसको भी धीरे-धीरे खा रहा है ॥४२॥

यहाँ दरिद्र प्रेत आलम्बन, खालको उखाड़ना और मांसका खाना उद्दीपन, उसको देखनेवालेका नाक बन्द करना, मुँह फेर लेना, थूकना आदि अनुभाव और उद्वेग आदि व्यभिचारिभाव हैं। 'जुगुप्सा' स्थायिभाव है। उनसे सामाजिकमें जुगुप्सा-प्रकृतिक 'बीभत्स' रस अभिव्यक्त होता है।

हिन्दीमें निम्नलिखित पद्यको बीभत्सरसके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है—

सिर पै बैठो काग, आँखि दोऊ खात निकारत।
खींचति जीभहिं स्यार, अति हि आनँद उर धारत॥
गिद्ध जाँघ कँह खोदि खोदि के माँस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि काटि के खान विचारत॥
बहु चील्ह नोंचि ले जात तुच, मोद मढ़्यो सबको हियो।
जनु ब्रह्म भोज जिजमान कोऊ, आजु भिखारिन कँह दियो॥

श्मशानका दृश्य है। राजा हरिश्चन्द्र वहीं पशु-पक्षियोंकी नाना केलियाँ देख रहे हैं। उन्हें देखकर उनके मनमें जो घृणाका भाव उत्पन्न होता है वही—स्थायिभाव है। मुर्दोंकी हड्डी, त्वचा आदि आलम्बन विभाव हैं। कौवोंका आँख निकालना, स्यारका जीभको खींचना, गिद्धका जाँघको खोद-खोद कर मांसका नोचना, कुत्तोंका अँगुलियोंका काटना ये सब उद्दीपन हैं। राजाका इस सबका वर्णन करना अनुभाव है। मोह, स्मृति आदि सञ्चारिभाव हैं। फलतः यहाँ पूर्णरूपेण बीभत्सरस है।

हास्य तथा जुगुप्साका आश्रय—

यहाँ रसगङ्गाधरकारने यह शङ्का उठाई है कि—

ननु क्रोधोत्साह-भय-शोक-विस्मय-निर्वेदेषु प्रागुदाहृतेषु यथालम्बनाश्रययोः सम्प्रत्ययः, न तथा हासे जुगुप्सायां च। तत्रालम्बनस्यैव प्रतीतेः। भयश्रोतुश्च रसास्वादाधिकरणत्वेन लौकिक-हास-जुगुप्सा-श्रयत्वानुपपत्तेः। इति चेत् सत्यम्। तदाश्रयस्य द्रष्टृपुरुषविशेषस्य तत्राक्षेप्यत्वात्। तदनाक्षेपे तु श्रोतुः स्वकान्तवर्णनपद्यादिव रसोद्बोधे बाधकाभावात्।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि काव्यप्रकाशकारने ऊपर रति आदि या शृङ्गार आदि रसोंके जो उदाहरण दिये हैं उनमें स्थायिभावके आश्रय तथा आलम्बन, दोनोंका वर्णन पाया जाता है। जैसे अभी

चित्रं महानेष बतावतारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः ।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥४३॥

भयानकरसके उदाहरणमें भयका आलम्बन अर्थात् जिसको देखकर भयकी उत्पत्ति हो रही है वह राजा या रथ है। और उस भयका आश्रय मृग है। इस प्रकार 'आलम्बन' तथा 'आश्रय'का अलग-अलग बोध होता है। परन्तु हास्य तथा बीभत्सरसके उदाहरणोंमें यह बात नहीं है। उनमें हास तथा जुगुप्साके आलम्बनमात्र, अर्थात् जिसको देखकर हास या जुगुप्साकी उत्पत्ति होती है उसका वर्णन है, परन्तु उनके 'आश्रय' अर्थात् जिसमें हास तथा जुगुप्साका उदय हो रहा है, उस देखनेवाले पुरुषका वर्णन नहीं है। यहाँ पद्यके श्रोताको लौकिक हास या जुगुप्साका आश्रय नहीं माना जा सकता है। वह तो सामाजिकके नाते अलौकिक रसास्वादका आश्रय होता है। लौकिक हास तथा जुगुप्साका आश्रय कोई अन्य होना चाहिये था।

इस शङ्काका उत्तर रसगङ्गाधरकारने यह दिया है कि, हाँ, ठीक है; यहाँ उसके आश्रय रूपमें द्रष्टा पुरुषकी आक्षेपसे उपस्थित माननी चाहिये। परन्तु यदि उसका आक्षेप न किया जाय तो भी पद्यका श्रोता ही उस लौकिक हास या जुगुप्साका आश्रय भी हो सकता है और वही अलौकिक रसास्वादका आश्रय भी हो सकता है। जैसे किसी स्त्रीके अपने पतिका काव्य रूपमें वर्णन किया जाय तो उसकी लौकिक रति आदिका भी उसमें उदय होगा और साथ ही अलौकिक रसास्वादका भी इसी प्रकार यहाँ आश्रयका अलग कथन नहीं हुआ है, इससे रसानुभूतिमें कोई बाधा नहीं हो सकती है।

अद्भुतरसका उदाहरण—

आगे अद्भुतरसका उदाहरण देते हैं। यह वामनावतारको देखकर बलिकी उक्ति है। इसमें चित्र आदि पद विस्मयके वाचक नहीं हैं अपितु सम्बद्ध पदार्थ अथवा उसके अवच्छेदक धर्मके लोकोत्तर महत्त्वके प्रतिपादक हैं। उनको विस्मयार्थक माननेपर तो स्थायिभावकी स्वशब्दवाच्यता दोष-कोटिमें समाविष्ट हो जावेगी। इसलिए महान् माहात्म्यशाली यह पुरुष चित्र अर्थात् लोकोत्तर वस्तु है। इस प्रकारका वाक्यका अर्थ होता है। बलि वामनको देखकर कह रहा है—

यह बड़ा लोकोत्तर अवतार है। यह [अलौकिक] कान्ति और कहाँ [मिल सकती है। इसके उठने-बैठने आदि की] शैली बिलकुल नयी-सी [अलौकिक] है। इसका धैर्य भी लोकोत्तर है और प्रभाव भी अलौकिक है। इसकी आकृति अनिर्वचनीय है और [ब्रह्माकी सृष्टिसे भिन्न] यह अलौकिक रचना है। ४३।

यहाँ वामन आलम्बन, कान्ति तथा गुणातिशयादि उद्दीपन, स्तुति आदि अनुभाव, मति, धृति, हर्षादि व्यभिचारिभाव और 'विस्मय' स्थायिभाव है।

रसगङ्गाधरकारका मतभेद—

रसगङ्गाधरकार इस पद्यमें अद्भुतरस नहीं मानते हैं। उनके मतसे यहाँ विस्मय स्तुतिका अङ्गभूत होनेसे अप्रधान है, इसलिए इसे रसवदलङ्कार ही कहा जा सकता है। उन्होंने लिखा है—

यच्च सहृदयशिरोमणिभिः प्राचीनैरुदाहृतं 'चित्रं महानेष बतावतार' इति। तत्रेदं वक्तव्यं-प्रतीयतां नामात्र विस्मयः। परन्त्वसौ कथंकारं [अद्भुतरस] ध्वनिव्यपदेशहेतुः। प्रतिपाद्यमहापुरुष-विशेषविषयायाः प्रधानीभूतायाः स्तोतृगतभक्तेः प्रकर्षादस्य गुणीभूतत्वात्। यथा महाभारते गीतासु विश्वरूपं दृष्टवतः पार्थस्य 'पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्'। इत्यादौ वाक्य-सन्दर्भे। इत्थं चास्य रसालङ्कारत्वमुचितम्।

एषां स्थायिभावानाह—

[सू० ४५]–रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥३०॥

स्पष्टम् ।

हिन्दीमें पद्माकरका निम्नलिखित पद्य अद्भुतरसका सुन्दर उदाहरण है—

गोपी ग्वालबाल जुरे आपसमें कहैं आली,
कोऊ जसुदाको अवतर्‍यो इन्द्रजाली है।
कहै 'पद्माकर' करे को यों उताली जापै,
रहन न पावै कहूँ एको फन खाली है॥
देखैं देवताली, भई विधिके खुशाली कूदि,
किलकति काली हेरि हँसत कपाली है।
जनमको चाली एरी अद्भुत है ख्याली आजु,
कालीकी फनाली पै नचत बनमाली है॥

श्रीकृष्ण, भयानक कालियानागके सिरपर नाच रहे हैं। ऐसे भयानक दृश्यको देखकर ग्वालबाल चकित रह जाते हैं। यही विस्मय स्थायिभाव है। कालियानागको नाथकर यमुनासे बाहर खदेड़ना आलम्बन है, कृष्णका उसके सिरपर नाचना उद्दीपन है। ग्वालबालोंकी विचित्र लीलाएँ अनुभाव है। अतः पूर्ण अद्भुतरस है।

इस प्रकार ग्रन्थकारने सम्भोग शृङ्गारके दो, विप्रलम्भ शृङ्गारके पाँच और शेष रसोंमेंसे प्रत्येकका एक-एक, कुल मिलाकर सब रसोंके चौदह उदाहरण यहाँ दिये हैं।

स्थायिभाव—

[अब आगे] इन [रसों] के स्थायिभावों को कहते हैं—

[सू० ४५]—१ रति, २ हास, ३ शोक, ४ क्रोध, ५ उत्साह, ६ भय, ७ जुगुप्सा तथा ८ विस्मय [ये आठ, आठों रसोंके क्रमशः] स्थायिभाव कहलाते हैं। ३०।

[कारिकाका अर्थ] स्पष्ट है।

काव्यप्रकाशकारने यहाँ स्थायिभावोंके केवल नामोंका उल्लेख कर दिया है, उनके लक्षण आदि नहीं किये हैं। साहित्यदर्पणकारने इन सब स्थायिभावोंके लक्षण निम्नलिखित प्रकार किये हैं—

रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम् ।
वागादिवैकृतैश्चेतो विकासो **हास** इष्यते ॥ १७६ ॥
इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं **शोक**शब्दभाक् ।
प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः **क्रोध** इष्यते ॥ १७७ ॥
कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानु**त्साह** उच्यते ।
रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं **भयम्** ॥ १७८ ॥
दोषेक्षणादिभिर्गर्हा **जुगुप्सा** विषयोद्भवा ।
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ॥ १७९ ॥
विस्फारश्चेतसो यस्तु स **विस्मय** उदाहृतः ।
शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ॥ १८० ॥

व्यभिचारिणो ब्रूते—

[सू० ४६]–**निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूया मदश्रमाः ।**
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥३१॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च ॥३२॥
सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥३३॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समख्यातास्तु नामतः ॥३४॥

व्यभिचारिभाव—

[स्थायिभावोंके निरूपणके बाद] व्यभिचारिभावोंको कहते हैं—

[सूत्र ४६]—१ निर्वेद, २ ग्लानि, ३ शङ्का, ४ असूया, ५ मद, ६ श्रम, ७ आलस्य, ८ दैन्य, ९ चिन्ता, १० मोह, ११ स्मृति, १२ धृति,—

१३ व्रीडा, १४ चपलता, १५ हर्ष, १६ आवेग, १७ जडता, १८ गर्व, १९ विषाद, २० औत्सुक्य, २१ निद्रा, और २२ अपस्मार—

२३ सोना, २४ जागना, २५ क्रोध, २६ अवहित्था [अर्थात् लज्जा आदिके कारण आकारगोपन], २७ उग्रता, २८ मति, २९ व्याधि, ३० उन्माद, ३१ मरण—

३२ त्रास और ३३ वितर्क, ये नामसे गिनाये हुए ३३ व्यभिचारिभाव [कहलाते] हैं ॥ ३१ ॥

व्यभिचारिभावोंके लक्षण—

ग्रन्थकारने यहाँ इन ३३ व्यभिचारिभावोंके केवल नाम गिना दिये हैं, उनके लक्षण नहीं किये हैं। साहित्यदर्पणकारने तृतीय परिच्छेदमें इनके लक्षण भी दिये हैं, जो निम्नलिखित प्रकार हैं। ये लक्षण भरत-नाट्यशास्त्रके आधारपर दिये गये हैं—

तत्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।
दैन्यचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत् ॥१४२॥
आवेगः संभ्रमस्तत्र हर्षजे पिण्डिताङ्गता ।
उत्पातजे स्रस्तताङ्गे धूमाद्याकुलताग्निजे ॥१४३॥
राज-विद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम् ।
गजादेः स्तम्भकम्पादि पांस्वाद्यकुलतानिलात् ॥१४४॥
इष्टाद्धर्षाः, शुचोऽनिष्टाज्ज्ञेयाश्चान्ये यथायथम् ॥
दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत् ॥१४५॥
खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः ।
सम्मोहानन्दसंभेदो मदो मद्योपयोगजः ॥१४६॥

अमुना चोत्तमः शेते, मध्यो हसति गायति ।
अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति ॥१४७॥
अप्रतिपत्तिर्**जडता** स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूर्णीभावादयस्तत्र ॥१४८॥
शौर्यापराधादिभवं भवेच्चण्डत्वमु**ग्रता** ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जना-ताडनादयः ॥१४९॥
मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः ।
मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥१५०॥
निद्रापगमहेतुभ्यो **विबोधश्चे**तनागमः ।
जृम्भाङ्गभङ्ग-नयन-मीलनाङ्गावलोककृत् ॥१५१॥
स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः ।
कोपावेगभयग्लानि-सुखदुःखादिकारकः ॥१५२॥
मनःक्षेपस्त्व**पस्मारो** ग्रहाद्यावेशनादिजः ।
भूपात-कम्प-प्रस्वेद-फेन-लालादिकारकः ॥१५३॥
गर्वो मदः प्रभाव-श्री-विद्या-सत्कुलतादिजः ।
अवज्ञा-सविलासाङ्ग-दर्शनाविनयादिकृत् ॥१५४॥
शराद्यै**र्मरणं** जीवत्यागोऽङ्ग-पतनादिकृत् ।
आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृम्भासितादिकृत् ॥१५५॥
निन्दाक्षेपापमानादेर**मर्षो**ऽभिनिविष्टता ।
नेत्रराग-शिरःकम्प-भ्रूभङ्गोत्तर्जनादिकृत् ॥१५६॥
चेतः सम्मीलनं **निद्रा** श्रम-क्लम-मदादिजा ।
जृम्भाक्षिमीलनोच्छ्वास-गात्रभङ्गादिकारणम् ॥१५७॥
भय-गौरव-लज्जादे-र्हर्षाद्याकारगुप्ति**रवहित्था** ।
व्यापारान्तरसक्त्यन्यथावभाषणविलोकनादिकरी ॥१५८॥
इष्टानवाप्तेर् **औत्सुक्यं** कालक्षेपासहिष्णुता ।
चित्ततापत्वरा-स्वेद-दीर्घनिःश्वसितादिकृत् ॥१५९॥
चित्तसम्मोह **उन्मादः** काम-शोक-भयादिभिः ।
अस्थानहास-रुदित-गीत-प्रलपनादिकृत् ॥१६०॥
परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः **शङ्का**ऽनर्थस्य तर्कणम् ।
वैवर्ण्य-कम्प-वैस्वर्य-पार्श्वालोकास्यशोषकृत् ॥१६१॥
सदृशज्ञान-चिन्ताद्यैः भ्रूसमुन्नयनादिकृत् ।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते ॥१६२॥
नीति-मार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं **मतिः** ।
स्मेरता-धृति-सन्तोषौ बहुमानश्च तद्भवाः ॥१६३॥
व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत् ।
निर्घात्-विद्युदुल्काद्यै**स्त्रासः** कम्पादिकारकः ॥१६४॥

निर्वेदस्यामङ्गलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताऽभिधानार्थम् । तेन—

[सू० ४७]—**निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।**

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ।।४४।।

धाष्टर्याभावो व्रीडा वदनानमनादिकृद् दुराचारात् ।
हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनःप्रसादो ऽश्रुगद्गदादिकरः ।।१६५।।
असूयान्यगुणर्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता ।
दोषोद्घोष, भ्रूविभेदावज्ञा-क्रोधेङ्गितादिकृत् ।।१६६।।
उपायाभावजन्मा तु विषादः सत्त्वसंक्षयः ।
निश्वासोच्छ्वास-हृत्ताप-सहायान्वेषणादिकृत् ।।१६७।।
ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु सम्पूर्णस्पृहता धृतिः ।
सौहित्य-वचनोल्लास-सहास-प्रतिभादिकृत् ।।१६८।।
मात्सर्य-द्वेष-रागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भत्सर्न-पारुष्य-स्वच्छन्दाचरणादयः ।।१६९।।
रत्यायास-मनस्ताप-क्षुत्पिपासादिसम्भवा ।
ग्लानिर्निष्प्राणता-कम्प-कार्यानुत्साहतादिकृत् ।।१७०।।
ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यता-श्वास-तापकृत् ।
तर्को विचारः सन्देहाद् भ्रू-शिरोङ्गुलि-नर्त्तकः ।।१७१।।

इस प्रकार ३३ व्यभिचारिभावोंके लक्षण साहित्यदर्पणमें दिये गये हैं। काव्यप्रकाशकारने उनके केवल नाम गिनाये हैं। निर्वेद स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभाव, दोनों है—

इस व्यभिचारिभावोंमेंसे 'निर्वेद' स्थायिभाव भी होता है यह बात आगे कहते हैं।

[इन तैंतीस व्यभिचारिभावोंमें सबसे पहिले कहा हुआ] निर्वेद प्रायः अमङ्गल-रूप है इसलिए उसका सबसे पहिले कथन उचित न होनेपर भी उसका प्रथम उपादान उसके व्यभिचारिभाव होनेपर भी [स्थायित्व अर्थात्] स्थायिभावत्वके प्रतिपादनके लिए किया गया है। [अर्थात् यद्यपि यहाँ निर्वेदकी गणना व्यभिचारिभावोंमें की जा रही है, परन्तु यह आगे कहे जानेवाले शान्तरसका स्थायिभाव भी है। अन्य किसी व्यभिचारिभावमें यह बात नहीं पायी जाती है। इसलिए निर्वेदको सबसे पहिले रखा गया है।

शान्तरसका उदाहरण—

इसलिए—

[सू० ४६] निर्वेद जिसका स्थायिभाव है, इस प्रकार शान्तरस भी नवम रस होता है। जैसे [शान्तरसका उदाहरण]—

सांप और मुक्ताहारमें [समबुद्धि रखनेवाले, इसी प्रकार] फूलोंकी सेज और

और पत्थर की शिलामें [समबुद्धि], मणि तथा ढेलेमें, बलवान शत्रु तथा मित्रमें, तिनकेमें अथवा स्त्रियोंके समूहमें, समबुद्धि रखनेवाले मेरे दिन किसी [अर्थात् श्मशान आदि अपवित्र स्थानमें अथवा नैमिषारण्य आदि] पवित्र तपोवनमें शिवका प्रलाप करते हुए व्यतीत होते हैं । ४४ ।

यहाँ मिथ्या प्रतीत होनेवाला जगत् आलम्बन, तपोवनादि उद्दीपन, सर्प और हारादिमें समबुद्धि अनुभाव, धृति, मति और हर्षादि व्यभिचारिभाव तथा निर्वेद स्थायिभावसे सामाजिकमें शान्तरसकी अभिव्यक्ति होती है ।

हिन्दीका निम्नलिखित पद्य शान्त रसका सुन्दर उदाहरण है—

भूखे अघाने रिसाने रसाने हितू अहितून्ह ते स्वच्छ मने हैं ।
दूषन भूषन कञ्चन काँच जू मृत्तिका मानिक एक गने हैं ।
सूल सों फूल सों माल प्रबाल सों 'दास' हिए सम सुक्ख सने हैं ।
राम के नाम सों केवल काम तेई जग जीवन-मुक्ख बने हैं ।

इस पद्यमें जीवन्मुक्त होनेवाले पुरुषका वर्णन है । संसारकी असारता आलम्बन है, शम स्थायी भाव है । संतोंका संग होनेसे, तीर्थयात्रा करनेसे यह भाव उद्दीप्त बनाता है । भूखसे अघाना, शूलको फूल समझना, मोतीको काँच समझना, मिट्टी तथा हीराको एक समझना ये सब अनुभाव हैं । चित्तमें हर्ष, प्रबोध, वितर्क आदि सञ्चारिभाव हैं । अतः पूर्ण शान्तरस है ।

यहाँ काव्यप्रकाशकी 'प्रदीप' नामक व्याख्यामें यह प्रश्न उठाया गया है कि शान्तरसकी भावना तो अनिवार्य है परन्तु 'निर्वेद' को उसका स्थायिभाव नहीं माना जा सकता है उसके स्थान पर शमको उसका स्थायिभाव मानना चाहिए । उनका कहना है कि 'निर्वेद' सब चित्त वृत्तियोंका अभाव रूप होता है अत एव अभाव रूप होनेसे उसको स्थायिभाव नहीं माना जा सकता है । इसके विपरीत निरीहावस्थामें आत्मलीन होनेसे जो आनन्द होता है उसको 'शम' कहते हैं । वह 'शम' भाव रूप है इसलिए शान्तरसका स्थायिभाव शम ही हो सकता है । निर्वेदको व्यभिचारिभाव माना जा सकता है । उन्होंने लिखा है—

अत्र वदन्ति शान्तो नाम रसस्तावदनुभवसिद्धतया दुरपन्हवः । न चैतस्य स्थायी निर्वेदो युज्यते । तस्य विषयेष्वलं-प्रत्ययरूपत्वात् , आत्मावमानरूपत्वाद्वा । शान्तेश्च निखिलविषयपरिहारजनितात्म-मात्रविश्रामानन्दप्रादुर्भावमयत्वानुभवात् । तदुक्तं [कृष्णाद्वैपायनेन] 'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् । तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्' । इति । अत एव सर्वाचित्त-वृत्तिविरामोऽत्र स्थायी इति निरस्तम् । अभावस्य स्थायित्वायोगात् । तस्मात् शमोऽस्य स्थायी । निर्वेदादयस्तु व्यभिचारिणः । स च 'शमो निरीहावस्थायामानन्दः स्वात्मविश्रमात्' इति ।

इस मतका खण्डन अन्य व्याख्याकारोंने किया है । उनका कहना है कि शान्तरसका स्थायी तत्त्वज्ञान-ज्ञान-जन्य निर्वेद ही है । जैसे निरपेक्ष भाव रूप शोकको स्थायिभाव माना जा सकता है इसी प्रकार निर्वेदको भी स्थायिभाव कहा जा सकता है; भरतमुनिने जो 'क्वचिच्छमः' कहा है वहाँ भी 'शम्यते यस्मादितिः शमः' इस व्युत्पत्तिसे निर्वेद ही शम-पद-वाच्य होता है ।

भावका लक्षण—

इस प्रकार नव रसोंका निरूपण कर चुकनेके बाद ग्रन्थकार भावोंका निरूपण प्रारम्भ करते हैं । वैसे तो स्थायिभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंके साथ भी भाव शब्दका प्रयोग होता है । परन्तु ये 'भाव' जिनका निरूपण आगे करने जा रहे हैं, उन भावोंसे भिन्न प्रकारके हैं । भरतमुनिने

[सू० ४८]–रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः ॥३५॥
भावः प्रोक्तः ।

आदिशब्दान्मुनि-गुरु-नृप-पुत्रादिविषया, कान्ताविषया तु व्यक्ता शृङ्गारः ।

उदाहरणम्—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम् ।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥४५॥
हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥४६॥

'भाव' शब्दकी व्युत्पत्ति 'भवन्तीति भावाः' तथा 'भावयन्तीति भावाः' दो प्रकारसे की है। उसका लक्षण इस प्रकार किया है—

विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते ।
वाङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥
वागङ्गामुख - रागेण सत्त्वेनाभिनयेन च ।
कवेश्चान्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ॥
नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावाः विज्ञेयाः नाट्ययोक्तृभिः ॥ ७, २-४ ॥

प्रकृत 'भाव' पदार्थ उससे भिन्न है। काव्यप्रकाशकार उसका लक्षण निम्नलिखित प्रकार करते हैं—

[सू० ४८]—देव आदि विषयक रति [आदि सभी स्थायिभाव], और व्यङ्ग्य व्यभिचारिभाव 'भाव' कहलाते हैं।

आदि शब्दसे मुनि, गुरु, राजा और पुत्रादिविषयक [रतिका संग्रह होता है। पुरुष तथा स्त्रीविषयक रतिको छोड़कर अन्योंके प्रति जो रति है वह सब 'भाव' पद-वाच्य है]। स्त्रीविषयक रति व्यक्त होनेपर शृङ्गार [कहलाती] है।

[भावविषयक] उदाहरण [निम्नलिखित श्लोक है]—

हे भगवन् [महादेव], आपके कण्ठमें सन्निविष्ट कालकूट [विष] भी मेरे लिए महामृतके समान है और आपके शरीरसे भिन्न [अलग रहनेवाला], प्राप्त अमृत भी मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥ ४५ ॥

श्री उत्पलपादाचार्य-विरचित परमेश्वरस्तोत्रावलिमें तेरहवें स्तोत्रमें यह पद्य आया है। इसमें महादेव आलम्बन हैं। ईश पदसे वाच्य अव्याहत ऐश्वर्य उद्दीपन, स्तव अनुभाव, धृति एवं माहात्म्यका स्मरण आदि व्यभिचारिभाव हैं। इनसे स्तावककी रतिका अनुमान कर सकनेवाले सामाजिकोंको 'भाव' रूप रतिका अनुभव होता है। यह पूर्णरूप परिपुष्ट न होनेसे रसरूपताकी प्राप्त नहीं होती है इसलिए 'भाव' पद-वाच्य होती है।

यह उदाहरण देवविषयक रतिका दिया था। अगला उदाहरण मुनि-विषयक रतिका शिशुपालवध नामक काव्यके प्रथम सर्गसे देते हैं। नारदजीके आनेपर कृष्णजी उनका स्वागत करते समय उनकी प्रशंसा करते हुए कह रहे हैं—

आपका दर्शन प्राणियोंकी [वर्तमान, भविष्यत् तथा भूत] तीनों कालोंमें

एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

अञ्जितव्यभिचारी यथा—

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मां संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः ।
नो यावत् परिरभ्य चाटुशतकैराश्वासयामि प्रियां
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥४७॥

अत्र विधिं प्रत्यसूया ।

[सू० ४९]–तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः ।

तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च ।

योग्यताको प्रगट करता है । [क्योंकि] वर्तमानकालमें पापका नाश करता है, भविष्य-में प्राप्त होनेवाले कल्याणका कारण होता है और पूर्वके पुण्यसे प्राप्त होता है ।'॥ ४६ ॥

इस प्रकार [गुरु, राजा, पुत्र आदि विषयक रति आदिके] अन्य उदाहरण भी समझ लेने चाहिये ।

[भावके दूसरे भेद] व्यङ्ग्यव्यभिचारी [का उदाहरण] जैसे—

ओ भाई, आज मैंने क्रोधके कारण स्वप्नमें पराङ्मुखी प्रियतमाको देखा था । 'नहीं-नहीं, मुझे हाथसे मत छूओ', यह कहकर वह रोती हुई चल दी । जबतक मैं आलिङ्गन करके नाना प्रकारकी खुशामदके द्वारा उसको मनानेका यत्न करता हूँ तबतक धूर्त विधाताने मेरी निद्रा भङ्ग कर दी ॥ ४७ ॥

यहाँ विधाताके प्रति 'असूया' [रूप व्यभिचारी-व्यङ्ग्य है । अतः यह भावके दूसरे भेदका उदाहरण है] ।

रसाभास, भावाभासोंका वर्णन—

इस प्रकार रस तथा भावोंका निरूपण कर चुकनेके बाद ग्रन्थकार रसाभास तथा भावा-भासोंका निरूपण करते हैं ।

[सू० ४९]—[उन रस तथा भावोंका] अनुचित रूपसे वर्णन 'रसाभास तथा 'भावाभास' [कहलाता] है ।

तदाभास [का अर्थ] रसाभास तथा भावाभास [है] ।

शृङ्गार आदि रसों अथवा भावोंका अनुचित रूपसे वर्णन क्रमशः 'रसाभास' तथा 'भावाभास' कहलाता है । वह अनौचित्य अनेक प्रकारका हो सकता है । उसका निर्णय सहृदय पुरुषोंकी व्यवस्थाके अनुसार ही हो सकता है; जैसे, रतिके विषयमें ही अनौचित्यके अनेक रूप हो सकते हैं । एक स्त्रीका एक पुरुषके प्रति प्रेम उचित है, परन्तु यदि एक स्त्रीका अनेक पुरुषोंके प्रति प्रेमका वर्णन किया जाय तो वह अनुचित होनेसे 'रसाभास'की कोटिमें आयेगा, जैसा कि कहा भी है—

उपनायकसंस्थायां मुनि-गुरुपत्निगतायाञ्च ।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ॥
अभासत्वं कथितं तथैव तिर्यगादिविषयायाम् ।

तत्र रसाभासो यथा—

स्तुमः कं वामाक्षि ! क्षणमपि विना यं न रमसे
विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे ।
सुलग्ने को जातः शशिमुखि ! यमालिङ्गसि बलात्
तपःश्रीः कस्यैषा मदननगरि ! ध्यायसि तु यम् ॥४८॥

अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तस्याः 'स्तुम' इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपादानं व्यनक्ति ।

भावाभासो यथा—

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी
सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी ।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं
तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥४९॥

अत्र चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिता । एवमन्येऽप्युदाहार्याः ।

इसी प्रकार गुरु आदिको आलम्बन बनाकर हास्य रसका प्रयोग, अथवा वीतरागको आलम्बन बनाकर करुण आदिका प्रयोग, माता-पिता-विषयक रौद्र तथा वीररसका प्रयोग, वीर पुरुषगत भयानकका वर्णन, यज्ञीय पशु आदिको आलम्बन मानकर बीभत्सका, ऐन्द्रजालिक आदि विषयक अद्भुत और चाण्डाल आदि विषयक शान्तरसका प्रयोग भी अनुचित माना गया है, इसलिए वे सब रसाभासके अन्तर्गत होते हैं ।

उनमेंसे रसाभास [बहुनायक-विषयक रतिका उदाहरण], जैसे—

हे सुन्दर नेत्रवाली, जिसके बिना तुमको क्षणभर चैन नहीं पड़ती है ऐसा कौन [भाग्यशाली] है, जिसकी हम [उसके सौभाग्यके लिए] प्रशंसा करें, किसने युद्धरूप यज्ञमें अपने प्राणों [की आहुति] को दिया है जिसको तुम खोज रही हो, ऐसा कौन [भाग्यशाली] शुभ मुहूर्तमें उत्पन्न हुआ है जिसको तुम गाढ़ालिङ्गन करती हो, हे मदन-नगरि, तुम जिसका ध्यान करती रहती हो ऐसी किसकी तपःसम्पत्ति] है ॥ ४८ ॥

यहाँ 'स्तुमः' इत्यादिसे अनुगत अनेक व्यापारोंका वर्णन उस [परकीया या वेश्या नायिका] के अनेक-कामुक-विषय अभिलाषको व्यक्त करता है [इसलिए यह रसाभासका उदाहरण है] ।

भावाभास [चिन्ताके अनौचित्य प्रवर्तित होनेका उदाहरण], जैसे—

वह पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान [सुन्दर] मुखवाली, चञ्चल और बड़ी-बड़ी आँखोंसे युक्त और नव-यौवनके उद्भूत हावभावोंसे इठला रही है सो अब मैं क्या करूँ । उसके साथ किस प्रकार मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करूँ और उसकी स्वीकृति प्राप्त करनेका क्या उपाय है [यह सीताको लक्ष्य करके रावणकी उक्ति है] ॥ ४९ ॥

यहाँ [रावणकी सीताके प्रति] चिन्ता अनौचित्य प्रवर्तित है [अतः भावाभास [है] । इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझ लेने चाहिये ।

[सू० ५०]-भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा ॥३६॥

क्रमेणोदाहरणम् ।

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणाऽऽनतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्संप्रमार्ष्टुं मया
साऽऽश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्या च तद्विस्मृतम् ॥५०॥

अत्र कोपस्य ।

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यो मानपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि ।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणं-
मा भूत्सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥५१॥

भावाभासके इस उदाहरणमें चिन्तारूपी-व्यभिचारिभावको अनौचित्य प्रवर्तित माना है। इसका आशय यह है कि पहले स्त्रीके अनुरागका वर्णन होना चाहिये। यह कामशास्त्र तथा कवि-सम्प्रदायका नियम है। परन्तु यहाँ पहले पुरुषानुरागका वर्णन किया गया है। इसलिए अननुरक्ता सीताके प्रति यह चिन्ताका प्रदर्शन अनौचित्यमय है। अतः यह 'भावाभास'का उदाहरण है।

भावशान्ति आदि चार—

यहाँतक ग्रन्थकारने रस, रसाभास भाव तथा भावाभासोंका वर्णन किया है। भावाभासके साथ ही भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता इन चारका आगे निरूपण करते हैं—

[सू० ५०]—भावकी शान्ति, भावका उदय, भाव-सन्धि तथा भाव-शबलता [ये चार भी भावोंके साथ गिने जाने चाहिये] ॥३६॥

भावशान्तिका उदाहरण—

क्रमशः [उनके] उदाहरण [आगे देते हैं]—

यह श्लोक अमरुकशतकसे लिया गया है। इसमें कोई शठनायक अपनी पत्नीकी कोपशान्ति-का वर्णन अपने मित्रसे कर रहा है।

उस [अन्य स्त्री]के गाढ़-विलेपनवाले स्तनोंके अग्रभागकी मुद्रासे अङ्कित अपनी छातीको चरणोंमें झुकनेके बहानेसे क्यों छिपा रहे हो [कुपित स्वपत्नीके द्वारा], ऐसा कहे जानेपर, 'वह [स्तनाग्रकी मुद्रा मेरे वक्षस्थल पर] कहाँ है'? यह कहकर उस [अन्य स्त्रीके आलिङ्गनके चिह्न] को मिटानेके लिए मैंने एकदम जोरसे उस [स्वपत्नी] का आलिङ्गन कर लिया और उसके सुखके कारण वह [तन्वी] भी उसको भूल गयी ॥५०॥

यहाँ कोप [रूप भाव]की [शान्ति प्रदर्शित की गयी है]।

भावोदयका उदाहरण—

अगला उदाहरण भावोदयका है। यह पद्य भी अमरुकशतकसे लिया गया है।

एक ही पलंगपर [नायकके साथ] लेटी हुई और [नायिकाके सम्बोधन करनेपर उसके अपने नामके स्थानपर उसकी विरोधिनी] सपत्नीका नाम लेनेपर तुरन्त

अत्रौत्सुक्यस्य ।

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः ।
वैदेहीपरिरम्भ एव च मुहुश्चैतन्यमामीलय-
न्नानन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणद्ध्यन्यतः ॥५२॥

अत्रावेगहर्षयोः ॥

रूठी हुई [नायिका] ने, खुशामद करते हुए प्रियतमको भी क्रोधावेशमें फटकार दिया। और [जब] वह चुपचाप हो गया [तो] उसी समय कहीं सो न जाय, इसलिए खूब गर्दन मोड़कर फिर उसको देखने लगी ।५१।

यहाँ [सुरतविषयक] औत्सुक्य [के उदय] का [वर्णन है] ।

यद्यपि इसमें कोपशान्ति भी लक्षित होती है, परन्तु सुरतौत्सुक्यकी प्रधानरूपसे अभिव्यक्ति हो रही है, इसलिए यह भावशान्तिका नहीं, अपितु भावोदयका ही उदाहरण माना गया है ।

भावसन्धिका उदाहरण—

आगे भावसन्धिका उदाहरण देंगे। भावसन्धिका यह उदाहरण महावीरचरित नाटकके द्वितीय अङ्कमें सीताका आलिङ्गन करनेके लिए प्रस्तुत रामकी, परशुरामके आकस्मिक आगमनपर उक्ति-रूपमें है। इसमें आवेग और हर्षकी सन्धिका वर्णन किया गया है—

[प्रसिद्ध] अभिमानशाली, तप तथा पराक्रमके निधिस्वरूप [परशुरामजी] के आगमनसे उनके सत्सङ्गका प्रेम और वीररसका आवेग मुझे [उनकी ओर] खींच रहे हैं। दूसरी ओर हरिचन्दनके समान शीतल और स्निग्ध आनन्ददायक वैदेहीका यह आलिङ्गन चैतन्यको विलुप्त-सा करता हुआ [वहाँ जानेसे] रोक रहा है ।५२।

यहाँ आवेग और हर्षकी [सन्धि] है ।

भावशबलताका उदाहरण—

ऊपर भावसन्धि तथा भावशबलता, ये दो भेद दिखलाये हैं। इनमेंसे जहाँ केवल दो भावोंका योग होता है वहाँ 'भाव-सन्धि' मानी जाती है और जहाँ दोसे अधिक भावोंका योग होता है वहाँ 'भाव-शबलता' मानी जाती है। ऊपरके उदाहरणमें 'आवेग' तथा 'हर्ष' दो भावोंका योग होनेसे उसे 'भाव-सन्धि'के उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है। अगले श्लोकमें अनेक व्यभिचारिभावोंका योग है इसलिए वह 'भावशबलता'के उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया जा रहा है ।

'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं' इत्यादि श्लोक कहाँका है इस विषयमें काव्यप्रकाशके टीकाकारोंमें दो प्रकारके मत पाये जाते हैं। श्रीवत्सलाञ्छन, कमलाकर वैद्यनाथ, भीमसेन आदि अनेक टीकाकारोंने इसे शुक्राचार्यकी कन्याको देखनेपर राजा ययातिकी उक्ति माना है। अन्य व्याख्याकारोंने इसे विक्रमोर्वशीय नाटकके चतुर्थ अङ्कमें उर्वशीको देखकर राजा पुरूरवाकी उक्ति बतलाया है। आज विक्रमोर्वशीय नाटकके जो मुद्रित संस्करण उपलब्ध होते हैं उनमें यह श्लोक नहीं पाया जाता है, परन्तु १८५७ के मुद्रित संस्करणमें पृष्ठ १२२ पर अधिक पाठके रूपसे यह श्लोक पाया जाता है। इसमें आठ व्यभिचारिभावोंका इकट्ठा सम्मिश्रण पाया जाता है। इसलिए यह 'भावशबलता'का उदाहरण है। उन आठों व्यभिचारिभावोंको अलग-अलग दिखलाते हुए इसका अर्थ निम्नलिखित प्रकार लिया जा सकता है—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥५३॥

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां शबलता ।

भावस्थितिस्तूक्ता उदाहृता च ।

---

१. कहाँ यह अनुचित कार्य और कहाँ चन्द्रमाका वंश [तर्क]
२. क्या वह फिर कभी देखनेको मिलेगी [औत्सुक्य]
३. मैंने दोषोंपर विजय प्राप्तके लिए ही शास्त्रोंका अध्ययन किया है [मति]
४. क्रोधमें भी [उसका] मुख कैसा सुन्दर लगता था [स्मरण]
५. [इस व्यवहारसे] विद्वान् एवं धर्मात्मा लोग मुझे क्या कहेंगे ? [शंका]
६. वह तो अब स्वप्नमें भी दुर्लभ हो गयी [दैन्य]
७. अरे मनुआ [हे मन], धीरज रखो [धृति]
८. न जाने कौन सौभाग्यशाली युवक उसके अधरामृतका पान करेगा [चिन्ता] । ५३ ।

यहाँ १. वितर्क, २. औत्सुक्य, ३. मति, ४. स्मरण, ५. शङ्का, ६. दैन्य, ७. धृति, ८. चिन्ता [इन आठ व्यभिचारी भावोंका योग होनेसे उन भावों] की शबलता होती है ।

ध्वन्यालोककारका दृष्टिकोण—

यह श्लोक 'ध्वन्यालोक'के तृतीय उद्योत [पृ० ३०१] में भी उद्धृत हुआ है। परन्तु वहाँ इसे विरोधी रसाङ्गोंके बाध्यत्वेन कथनके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है। इसमें सम संख्यावाले अर्थात् २. औत्सुक्य, ४. स्मरण, ६. दैन्य और ८. चिन्ता ये चार शृङ्गाररसके व्यभिचारिभाव हैं। और विषम संख्याके अर्थात् १. वितर्क, ३. स्मृति, ५. शङ्का, ७. धृति ये चार शान्तरसके व्यभिचारिभाव हैं। इस प्रकार इस एक ही श्लोकमें शान्त तथा शृङ्गार इन दोनों विरोधी रसोंका वर्णन पाया जाता है। परन्तु शान्त तथा शृङ्गार रसका आलम्बन ऐक्यमें तथा नैरन्तर्यमें दोनों प्रकारसे विरोध माना गया है। यहाँ उन दोनोंका आलम्बन एक्य भी है और नैरन्तर्य भी; इसलिए इन दोनोंका एक साथ सन्निवेश दोषाधायक है, यह शङ्का उठ सकती है। इसके समाधानके लिए ध्वन्यालोककारने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि विरोधी रसोंके अङ्गोंके बाध्यत्वेन वर्णित होनेमें दोष नहीं होता है। उसी सिद्धान्तका समन्वय दिखानेके लिए यह उदाहरण दिया गया है। इसमें शान्तरसके व्यभिचारिभावोंका शृङ्गाररसके व्यभिचारिभावोंसे बाध हो जाता है, अर्थात् १. वितर्कका २. औत्सुक्यसे बाध हो जाता है। फिर जब शान्तरसका व्यभिचारिभाव ३. मति आता है तब उसका ४. स्मरणसे बाध हो जाता है। फिर शान्तरसके ५. शङ्कारूप व्यभिचारिभावके आनेपर ६. दैन्यसे उसका बाध हो जाता है। इसी प्रकार शान्तरसके सातवें व्यभिचारिभाव धृतिका शृङ्गाररसके ८. व्यभिचारिभाव चिन्तासे बाध हो जाता है। विरोधी रसाङ्गोंके बाध्यत्वेन सन्निवेश होनेसे यहाँ कोई दोष नहीं है। यह ध्वन्यालोककारका अभिप्राय है।

[सू० ५१]-मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ॥

ते भावशान्त्यादयः । अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् ।

यहाँ एक शङ्का यह हो सकती है कि आपने भावोदय, भाव-शान्ति, भाव-सन्धि, भाव-शबलता आदि सबके उदाहरण दिये, इसी प्रकार भावस्थितिका भी उदाहरण देना चाहिये था । इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

भावस्थिति—

भावस्थिति तो [व्यभिचारी तथाञ्जितः इस ४८वें सूत्रमें] कह चुके हैं । और ['जाने कोपपराङ्मुखी' आदि ४५वें श्लोक द्वारा उसका] उदाहरण भी दे चुके हैं ।

रसवदलङ्कार—

इस प्रकार रस, रसाभास, भाव, भावाभास तथा भावसन्धि आदिका निरूपण करनेके बाद अब यह दिखलाना चाहते हैं कि कहीं मुख्य रसके रहते हुए भी इन भाव-शान्ति आदिकी प्रधानता हो जाती है । उस दशामें ये सब 'रसवदलङ्कार' कहलाते हैं ।

[सू० ५१]-मुख्य रसके विद्यमान होनेपर भी कहीं-कहीं वे [भाव-शान्ति आदि अङ्गित्व अर्थात्] प्रधानताको प्राप्त हो जाते हैं ।

वे अर्थात् भावशान्ति आदि राजासे अनुगत विवाहके लिए जाते हुए भृत्यके समान [अङ्गित्व अर्थात्] प्रधानताको [प्राप्त हो जाते हैं] ।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि जैसे यदि कभी राजाके किसी कृपापात्र भृत्यका विवाह हो और उसकी बरातमें राजा भी सम्मिलित हो तो उस समय राजाकी नहीं अपितु वररूपमें स्थित भृत्यको ही प्रधानता होती है । इसी प्रकार जहाँ विभाव आदिसे व्यक्त स्थायिभावके उद्रेकसे आस्वादन होता है वहाँ रस या रसध्वनि होती है और रसका प्राधान्य होता है । और जहाँ अपने अनुभावों द्वारा व्यक्त व्यभिचारिभावोंके उद्रेकसे आस्वाद होता है वहाँ भावध्वनि होती है । इसी प्रकार जहाँ वस्तु या अलङ्कारकी प्रधानता हो जाती है वहाँ वस्तुध्वनि या अलङ्कारध्वनि मानी जाती है । राजानुगत भृत्यका जो उदाहरण दिया है उसका आशय यह है कि कुछ समयके लिए 'आपाततः' भृत्यकी प्रधानता प्रतीत होते हुए भी जैसे पारमार्थिक प्रधानता राजाकी रहती है, उसी प्रकार रसके सम्पर्कसे 'आपाततः' भावशान्ति आदिकी प्रधानता होते हुए भी अन्तिम प्रधानता तो रसकी रहती है ।

संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि—

यहाँतक असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यका निरूपण किया । अब आगे संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य ध्वनिके १५ भेदोंका वर्णन करेंगे । इस चतुर्थोल्लासमें ध्वनिका निरूपण प्रारम्भ किया था । उसमें पहले ध्वनिके दो भेद किये थे-एक 'अविवक्षितवाच्य-ध्वनि' अर्थात् लक्षणामूलध्वनि और दूसरा 'विविक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' अर्थात् 'अभिधामूलध्वनि' । इनमेंसे 'अविविक्षितवाच्य-ध्वनि अर्थात् 'लक्षणामूलध्वनि'के 'अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य' तथा 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' ये दो भेद किये थे । [और 'विवक्षितान्यपरवाच्य' 'अभिधामूलध्वनि'के 'असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य' तथा 'संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य' ये दो भेद किये थे । इनमेंसे रसादि ध्वनि असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहलाता है । रसादि अर्थात् रस और उनके समान विशेष रूपसे आस्वाद योग्य—२ रसाभास, ३ भाव, ४ भावाभास, ५ भावशान्ति, ६ भावोदय, ७ 'भावसन्धि' और ८ भावशबलता भी इस अंसलक्ष्यक्रम ध्वनिके अन्तर्गत हैं । इसलिए उन सबका निरूपण यहाँतक किया । अब 'अभिधामूल ध्वनि'के दूसरे भेद 'संलक्ष्यक्रम ध्वनिके और भेद करेंगे ।

[सू० ५२]-**अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥ ३७ ॥**
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ।

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः, अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्चेति त्रिविधः ।

तत्र—

[सू० ५३]-**अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ॥ ३८ ॥**
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥

वस्त्वेति अनलङ्कारं वस्तुमात्रम् । आद्यो यथा—

संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यको 'अनुस्वानाभ ध्वनि' भी कहते हैं। इस अनुस्वानाभ या संलक्ष्यक्रम ध्वनिके तीन मुख्य भेद होते हैं। १ 'शब्दशक्त्युत्थ' २ 'अर्थशक्त्युत्थ' और तीसरा 'उभयशक्त्युत्थ'। इनमेंसे 'शब्दशक्त्युत्थ'के दो भेद 'अर्थशक्त्युत्थ'के बारह भेद और 'उभयशक्त्युत्थ'का एक भेद, कुल मिलाकर संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके पन्द्रह भेद हो जाते हैं। इन भेदोंको आगे दिखलाते हैं।

[सू० ५२]-और [अभिधामूल विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनिका] **जो अनुस्वानाभ संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि भेद है वह १ शब्दशक्त्युत्थ, २ अर्थशक्त्युत्थ, ३ उभयशक्त्युत्थ होनेसे तीन प्रकारका कहा गया है।३७।**

एक शब्दशक्तिमूल अनुरणन-रूप [संलक्ष्यक्रम] व्यङ्ग्य, २ अर्थशक्तिमूल अनुरणनरूप [संलक्ष्यक्रम] व्यङ्ग्यध्वनि और उभयशक्तिमूल अनुरणनरूप व्यङ्ग्य इस प्रकार [संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि] तीन तरहका होता है।

शब्दशक्त्युत्थ ध्वनिके दो भेद—

उनमेंसे—

[सू० ५३]-**जहाँ शब्दसे वस्तु अथवा अलङ्कार प्रधान रूपसे प्रतीत होते हैं वह दो प्रकारका शब्दशक्त्युत्थध्वनि [क्रमशः वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि नामसे] कहलाता है।**

वस्तु [ध्वनि] इससे अलङ्काररहित केवल वस्तु [का ग्रहण होता है]।

उपमालङ्कार ध्वनिका उदाहरण—

[उनमेंसे] पहिला [अर्थात् अलङ्कार-ध्वनिका उदाहरण] जैसे—

यह श्लोक किसी राजाकी स्तुतिमें लिखा गया है। इसमें कविने राजाकी इन्द्रके साथ तुलना की है। इन्द्र जैसे मेघोंका उदय कर उनके द्वारा जल-धाराओंसे दावानलके रूपमें वनोंमें प्रज्वलित अग्निको बुझा देता है उसी प्रकार उस राजाने अपने 'काल' अर्थात् काली रश्मियोंवाली अथवा कालयसलौह अर्थात् फौलादसे बनी हुई अथवा कालरूप, करवाल अर्थात् तलवार रूप अम्बुवाह अर्थात् मेघको [अम्बुवाह शब्दका यौगिक अर्थ पानीको वहन करनेवाला होता है। तलवारमें भी एक प्रकारका 'पानी' माना जाता है। इसलिए, पानीदार तलवारकी मेघके साथ उपमा भी अच्छी बन पड़ी है। इस प्रकार अपने करवालरूप महान् अम्बुवाहको] उठाकर कठोर एवं वेगवान् गर्जन करनेवाले राजाने संसारमें शत्रुओंके प्रदीप्त प्रतापको बुझा दिया है। इस रूपमें कविने राजाका वर्णन किया है। श्लोकका अर्थ इस प्रकार है।

उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहं
देवेन येन जठरोर्जितगर्जितेन ।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां
धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः ॥ ५४ ॥

अत्र वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय इत्यत्रोपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद्विभो ! मधुरलीलः ।
मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भवान् ॥ ५५ ।

कठोर एवं उच्चतर गर्जन करनेवाले जिस [इन्द्रदेव-सदृश] आपने कालरूप महान् [पानीदार] तलवारको उठाकर शत्रुओंके तीनों लोकोंमें प्रदीप्त प्रतापको [अपनी खड्गके] धारा-जलसे रण-भूमिमें बिलकुल बुझा दिया । ५६ ।

यहाँ [इन्द्र-पक्ष तथा राजा-पक्षमें] वाक्यकी असम्बद्धार्थकता न हो जाय इसलिए प्राकरणिक [राजन्-पक्ष] और अप्राकरणिक [इन्द्र-पक्ष] के उपमेय-उपमान-भावकी कल्पना की जाती है, इसलिए यहाँ उपमालङ्कार व्यङ्ग्य है ।

शब्दशक्त्युत्थ विरोधाभास अलङ्कारध्वनिके दो उदाहरण—

अगले श्लोकमें 'तिग्मरुचिः' अर्थात् सूर्य और 'अप्रतापः' अर्थात् प्रतापरहित ये दोनों विरोधी विशेषण हैं । परन्तु जब इसका अर्थ यह किया जाता है कि शत्रुओंके प्रति तिग्म अर्थात् तीक्ष्ण प्रतापवाले और मित्रोंके प्रति रुचिर अर्थात् मनोहर प्रतापवाले राजा, तब उस विरोधका परिहार हो जाता है । इसी प्रकार 'विधुः' और 'अनिशाकृत्'में आपाततः विरोध प्रतीत होता है । 'विधुः'का अर्थ चन्द्रमा है, उसे निशाकर या निशाकृत् भी कहा जाता है । परन्तु यहाँ कवि उस 'विधु'को 'अनिशाकृत्' कह रहा है । इसलिए इनमें विरोध उपस्थित होता है । परन्तु जब उसका 'विधुरों अर्थात् शत्रुओंका निशाके समान नाश करनेवाला राजा' यह अर्थ किया जाता है तब उस विरोधका परिहार हो जाता है । इसी प्रकार 'मधुरलीलः'में 'अलीलः', लीलारहित 'मधुः' अर्थात् वसन्त यह अर्थ करनेपर विरोध होता है । परन्तु मधुर अर्थात् आनन्ददायक लीला अर्थात् चेष्टाओंसे युक्त राजा यह अर्थ करनेपर विरोधका परिहार हो जाता है । इसी प्रकार 'मतिमान् अतत्त्ववृत्तिः' जो बुद्धिमान् होनेपर भी 'अतत्त्ववृत्ति' तत्त्वको न ग्रहण करनेवाला है यह अर्थ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है । परन्तु जब मति अर्थात् प्रतिभा तथा मान अर्थात् प्रमाणोंसे तत्त्वका निर्णय करनेवाला राजा यह अर्थ किया जाता है तब उस विरोधका परिहार हो जाता है । इसी प्रकार प्रतिपद् अर्थात् प्रतिपदा तिथि और वह अपक्षाग्रणी शुक्ल पक्ष या कृष्ण पक्षकी अग्रणी नहीं है यह अर्थ परस्पर विरोधी प्रतीत होता है । परन्तु प्रतिपद अर्थात् प्रत्येक स्थानपर पक्ष अर्थात् अपने पक्षके लोगोंका अग्रणी अर्थात् नेता है यह अर्थ करनेपर उस विरोधका परिहार हो जाता है । इसलिए यहाँ विरोधाभास अलङ्कार व्यङ्ग्य है । अर्थ इस प्रकार है—

[शत्रुओंके प्रति] तीव्र तथा [मित्रोंके प्रति] मनोहर प्रतापवाले, [विधुर अर्थात्] शत्रुओंके संहारकर्त्ता, मधुर चेष्टाओंवाले, प्रतिभा तथा प्रमाणोंसे तत्त्वका निश्चय करनेवाले और प्रत्येक स्थानपर अपने लोगोंका नेतृत्व करनेवाले हे प्रभो, [राजन्] आप [अत्यन्त] शोभित होते हैं । ५५ ।

अत्रैकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे **विरोधाभासः** ।

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद ! प्रभो !
अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥ ५६ ॥

अत्रापि **विरोधाभासः** ।

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥ ५७ ॥

अत्र **व्यतिरेकः** ।

यहाँ [तिग्मरुचिरप्रतापः इत्यादि] एक-एक पदके [विच्छेद द्वारा तिग्मरुचिः अप्रतापः इस प्रकार] दो-दो पद बना देनेपर [विरोध-सा प्रतीत होनेसे] विरोधाभास [अलङ्कार व्यङ्ग्य होता] है ।

इसी प्रकार विरोधभास अलङ्कारका एक और उदाहरण देते हैं ।

हे आनन्द-दायक राजन् [समितः] युद्धसे प्राप्त उत्कर्षोंसे अपरिमित [ऐश्वर्य-शाली] आप सुन्दर कीर्ति समूहसे युक्त ['साधुयशोभिः सहितः' होनेपर भी] दुष्टोंके [असतां] शत्रु [अहितः] हैं । ५६ ।

यहाँ भी ['अमितः' तथा 'समितः' पदोंमें एवं 'अहितः' तथा 'सहितः' पदोंमें] विरोधाभास व्यङ्ग्य है ।

यहाँ केवल 'अमितः'–'समितः' तथा 'अहितः'–'सहितः' पदोंमें विरोधाभास पाया जाता है आपाततः, जो 'अमितः' है वह 'समितः' कैसे हो सकता है । अथवा जो 'अहितः' है वह 'सहितः' कैसे हो सकता है । इस प्रकारका विरोध यहाँ प्रतीत होता है । परन्तु विचार करनेपर 'समित्' पदका अर्थ यहाँ 'युद्ध' विदित होता है । उसका पञ्चमी विभक्तिका रूप 'समितः' है । अतः उसका 'समितः' अर्थात् युद्धसे प्राप्त उत्कर्षसे 'अमितः' अर्थात् अत्यन्त उत्कर्षशाली यह अर्थ लेनेपर विरोधका परिहार हो जाता है । इसी प्रकार 'अहितः-सहितः' के विरोधका भी परिहार 'साधुयशोभिः सहितः' 'असतां अहितः असि' इस प्रकारका अन्वय करनेपर हो जाता है । अतः यहाँ भी विरोधाभास अलङ्कारके व्यङ्ग्य होनेसे और उसीका प्राधान्य विवक्षित होनेसे अलङ्कार-ध्वनिका तीसरा उदाहरण है ।

शब्दशक्त्युत्थ व्यतिरेकालङ्कारध्वनिका उदाहरण—

अलङ्कार-ध्वनिके तीन उदाहरणके बाद उसीका एक और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

[तूलिका आदि चित्र-निर्माणकी] सामग्रीके बिना और [किसी] आधार भित्तिके बिना ही नानाकार जगत् रूप-चित्रका निर्माण करनेवाले [अन्य चित्रकारोंसे विलक्षण, वस्तुतः शिरःस्थित चन्द्रमाकी कलासे श्लाध्य परन्तु प्रकृतमें चित्रकारी रूप] कलामें प्रशंसनीय [सिद्धहस्त कलाकार] उन [प्रसिद्ध] शिवको नमस्कार है । ५७ ।

यहाँ व्यतिरेकालङ्कार [व्यङ्ग्य है] ।

दशम उल्लासमें 'उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' यह व्यतिरेकालङ्कारका लक्षण किया गया है । इसका अभिप्राय यह है कि उपमानकी अपेक्षा उपमेयमें गुणोंका आधिक्य वर्णित होनेपर व्यति-रेकालङ्कार होता है । सामान्य चित्रकार तूलिका आदि उपादानोंकी सहायतासे आधारभित्तिपर चित्रका

अलङ्कार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्कारता ।

वस्तुमात्रं यथा—

पंथिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।
उण्णअ पओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥ ५८ ॥
[पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वस ॥ इति संस्कृतम्]

निर्माण करता है। यहाँ तूलिका आदि सामग्रीकी सहायतासे और किसी आधारभित्तिपर ही चित्र बनानेमें समर्थ उपमानभूत अन्य कलाकारोंकी अपेक्षा, बिना सामग्री और बिना आधारके जगत्-रूप चित्रका निर्माण करनेवाले उपमेयभूत शिवका आधिक्य वर्णित होनेसे व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य है।

इस प्रकार ग्रन्थकारने अलङ्कारध्वनिके चार उदाहरण दिये हैं। यहाँपर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि काव्यमें ध्वनि या व्यङ्ग्य अर्थकी सदा प्रधानता होती है और जो प्रधान होता है वही 'अलङ्कार्य' होता है। इसलिए जिन उदाहरणोंमें अलङ्कार व्यङ्ग्य है वहाँ उनकी प्रधानता होनेसे वे 'अलङ्कार' नहीं अपितु 'अलङ्कार्य' होने चाहिये। फिर आप उनको 'अलङ्कार' कैसे कह सकते हैं। इसलिए अलङ्कार-ध्वनि इन पदोंका समन्वय नहीं हो सकता है। ध्वनि 'अलङ्कार' नहीं अपितु 'अलङ्कार्य' ही हो सकता है।

इस शङ्काका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकारने अगली पंक्ति लिखी है। उसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि यह ठीक है कि व्यङ्ग्य अर्थ 'अलङ्कार'-रूप नहीं अपितु सदा 'अलङ्कार्य' ही होता है फिर भी उसको 'ब्राह्मण-श्रमण-न्याय'से अथवा 'भूतपूर्व-न्याय'से अलङ्कार कहा जा सकता है। जैसे कोई ब्राह्मण, बौद्ध या जैन सम्प्रदायकी दीक्षा लेकर 'श्रमण' अर्थात् बौद्ध या जैन भिक्षु बन जाता है। तब भिक्षु बन जानेके बाद उसका ब्राह्मणत्व आदि नहीं रहता है, फिर भी वह पहले कभी ब्राह्मण रहा था इसलिए उस भिक्षु-वेषमें भी उसके लिए यह 'ब्राह्मण भिक्षु' है, इस प्रकारका व्यवहार होता है। यह व्यवहार गौण होता है इसलिए औपचारिक व्यवहार कहा जाता है। इसी प्रकार जब 'अलङ्कार' व्यङ्ग्य हो जानेके कारण प्रधान या 'अलङ्कार्य' हो जाता है तब भी 'ब्राह्मण-श्रमण-न्याय'से या भूतपूर्व गतिसे उसको 'अलङ्कार' कहा जा सकता है। इसी बातको ग्रन्थकारने इस प्रकार कहा है—

[अलङ्कार-ध्वनिके इन उदाहरणोंमें अलङ्कारोंके] व्यङ्ग्य होनेके कारण प्रधान होनेसे 'अलङ्कार्य होने'पर भी 'ब्राह्मण-श्रमण-न्याय'से अलङ्कारत्व होता है।

वस्तुध्वनिके दो उदाहरण—

इस प्रकार अलङ्कार-ध्वनिके चार उदाहरण देकर ग्रन्थकार वस्तु-ध्वनिके दो उदाहरण देते हैं—

वस्तुमात्र [व्यङ्ग्यका उदाहरण] जैसे—

हे पथिक, यहाँ इस पथरीले [पथरीली भूमिवाले] ग्राममें [रातको सोते समय नीचे बिछानेके लिए] तनिक भी बिस्तर नहीं [मिल सकता] है। [क्योंकि पथरीली भूमिमें तृण आदि कुछ पैदा ही नहीं होता है, जिसे बिछानेके काममें लाया जाय। इसलिए यह ग्राम तुम्हारे ठहरने योग्य तो है नहीं] किन्तु यदि उमड़ते हुए बादलोंको देखकर ठहरना चाहो तो ठहर सकते हो। ५८।

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्स्वेति व्यज्यते ।

शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्मै त्वम् ।
यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥ ५९ ॥

अत्र विरुद्धावपि त्वदनुवर्त्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति ध्वन्यते ।

यह तो इस श्लोकका वाच्यार्थमात्र है । पर उसका व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि हे पथिक, पत्थरके समान मूढ़ पुरुषोंके इस ग्राममें अन्य स्त्रीके सम्भोगको निषेध आदि करनेवाला कोई शास्त्र नहीं है, इसलिए यदि तुम मेरे या मेरी सखीके उन्नत-उरोजोंको देखकर रहना चाहो तो रह सकते हो ।

यहाँ यदि तुममें [इस उठते यौवनके] उपभोगकी क्षमता हो तो ठहर जाओ [यह वस्तु व्यक्त होती है । इसलिए यह वस्तुध्वनिका उदाहरण है] ।

वस्तु-ध्वनिका दूसरा उदाहरण आगे देते हैं—

हे राजन्, आप जिसपर नाराज़ हो जाते हैं उसको शनि [ग्रह] और [अशनि] वज्र दोनों नष्ट कर देते हैं । और जिसपर आपकी कृपा-दृष्टि हो जाती है वह महान् दाता [उदार] और स्त्रियोंसे युक्त [अनुदार दाराओंसे अनुगत] शोभित होता है । ५९ ।

यहाँ विरुद्ध [स्वभाववाले शनि तथा अ-शनि] तुम्हारी प्रसन्नताके लिए [तुम्हारे कोप-भाजन व्यक्तिके हननरूप] एक कार्यको करते हैं यह [वस्तुमात्र] ध्वनित होता है ।

इस श्लोकके केवल पूर्वार्द्धमें वस्तु-ध्वनि माना जाता है । श्लोकके उत्तरार्द्धमें विरोधालङ्कार ध्वनि ही माना जाता है ।

हिन्दीमें बिहारीका निम्नाङ्कित दोहा भी शब्द शक्त्युत्थ वस्तु-ध्वनिका सुन्दर उदाहरण है—

चिर जीवौ जोरी जुरे क्यों न सनेह गँभीर ।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधरके बीर ॥

इस दोहेमें कवि राधा और कृष्णकी 'जुगल-जोड़ी' के 'मिलन' और गम्भीर 'स्नेह'-के औचित्यका प्रतिपादन शब्दशक्त्युत्थ ध्वनिके द्वारा कर रहा है । राधा राजा वृषभानुकी पुत्री हैं और कृष्ण हलधर बलरामके भाई हैं । इसलिए दोनोंके उच्चकुलीन होनेके कारण उनकी जोड़ी ठीक ही है । इसलिए उनका गम्भीर 'स्नेह' और परस्पर 'मिलन' सब-कुछ सुन्दर है । यह इस दोहेका भाव है । उसके समर्थनके लिए कविने 'वृषभानुजा' और 'हलधरके बीर' शब्दोंका प्रयोग विशेष अभिप्रायसे किया है । वृषभानुजाका अर्थ वृषभकी अनुजा अर्थात् बैलकी बहिन अर्थात् गाय है और 'हलधरके बीर'का अर्थ 'हलधर', किसानके 'बीर' बैल या साँड़ है । गाय और बैलकी जोड़ीका जुड़ना 'मिलन' और उससे गम्भीर स्नेहका होना उचित ही है । इस प्रकार यहाँ 'वृषभानुजा' और 'हलधरके बीर' शब्दोंका विशेष महत्त्व है । इसलिए यह शब्दशक्त्युत्थ-वस्तु ध्वनिका सुन्दर उदाहरण कहा जा सकता है ।

इस प्रकार संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य-ध्वनिके शब्दशक्त्युत्थ उपभेदके वस्तु-ध्वनि तथा अलङ्कार-ध्वनि रूप दोनों भेदोंको मिलाकर छ उदाहरण ग्रन्थकारने उनके स्वरूपके स्पष्टीकरणके लिए दिए हैं । अब इसी संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य-ध्वनिके अर्थशक्त्युत्थ नामक दूसरे भेदका निरूपण आगे करेंगे ।

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिके बारह भेद—

अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनिके बारह भेद किये गये हैं । इनमेंसे पहले उसके १. स्वतः-सम्भवी, २. कविप्रौढोक्तिसिद्ध और ३. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन भेद किये जाते हैं । इन तीनों भेदोंमें

[सू० ५४]–अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवी स्वतः ॥ ३९ ॥
प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेः तेनोम्भितस्य वा ।
वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥४०॥
वस्त्वलङ्कारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः ।

स्वतः सम्भवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद्बहिरप्यौचित्येन सम्भाव्यमानः । कविना प्रतिभामात्रेण बहिरसन्नपि निर्मितः, कविनिबद्धेन वक्त्रेति वा द्विविधोऽपर इति त्रिविधः । वस्तु वाऽलङ्कारो वाऽसाविति षोढा व्यञ्जकः । तस्य वस्तु वाऽलङ्कारो वा व्यङ्ग्य इति द्वादशभेदोऽर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः ।

वस्तु-ध्वनि तथा अलङ्कार-ध्वनि दो भेद होकर ३×२ = ६ भेद हो जाते हैं । ये छवों भेद व्यङ्ग्य-व्यञ्जक, दोनों होनेसे द्विगुण होकर ६ × २ = १२ बारह भेद बन जाते हैं । जैसे कि—

१. स्वतःसम्भवीमें

१. वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्य	२. वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य—
३. अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्य	४. अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्य

२. कविप्रौढोक्तिसिद्धमें

१. वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्य	२. वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य
३. अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्य	४. अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्य ।

३. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धमें

१. वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्य	२. वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य
३. अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्य	४. अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्य ।

अगली कारिकामें ग्रन्थकार इन बारह भेदोंका निरूपण कर यथाक्रम उनके उदाहरण प्रस्तुत करेंगे ।

[सू० ५४] अर्थशक्त्युद्भव व्यञ्जक अर्थ भी १. स्वतःसम्भवी [अर्थात् लोकमें पाया जानेवाला], २. [केवल] कविकी प्रौढोक्तिमात्रसे सिद्ध अथवा ३. उस [कवि] के द्वारा निबद्ध [वक्ता] की [प्रौढोक्तिमात्र] से [सिद्ध अर्थात् लोकमें न पाया जानेपर भी केवल कविकी कल्पनामात्रसे काव्यमें वर्णित] होता है । वह तीन प्रकारका भी वस्तु तथा अलङ्काररूप [दो प्रकारका होने ३ × २=६] से छ प्रकारका होता है । और क्योंकि वह वस्तु अथवा अलङ्कार [दोनोंको] व्यक्त करता है इसलिए वह अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि [६ × २=१२] बारह प्रकारकी होता है । ३९-४१ ।

स्वतः-सम्भवी [का अर्थ यह है कि वह] केवल [कविके] कथनमात्रसे ही सिद्ध नहीं होता है अपितु उचित रूपसे बाहर संसारमें भी पाया जाता है । और बाहर संसारमें न होनेपर भी कविके द्वारा [अपनी] प्रतिभामात्रसे निर्मित, अथवा कवि-निबद्ध वक्ताके द्वारा [प्रतिभामात्रसे निर्मित] दो प्रकारका और इस प्रकार [कुल मिलाकर] तीन प्रकारका [अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि होता है]। वह [तीनों प्रकारका] व्यञ्जक अर्थ वस्तु अथवा अलङ्काररूप होता है इसलिए [३ × २ = ६] छ प्रकारका हुआ । उससे वस्तु अथवा अलङ्कार [ये दो] व्यङ्ग्य होते हैं । इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि [६ × २ = १२] बारह प्रकारकी होता है ।

क्रमेणोदाहरणम् ।

अलसशिरोमणि धुत्ताणं अग्गिमो पुत्ति धणसमिद्धिमओ ।
इअ भणिएण णअङ्गी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥ ६० ॥
[अलसशिरोमणि धूर्तानामग्रिमः पुत्रि धनसमृद्धिमयः ।
इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र ममैवोपभोग्य इति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

धन्याऽसि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि
विस्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः ! शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥ ६१ ॥

अत्र त्वमधन्या अहम्तु धन्येति **व्यतिरेकालङ्कारः ।**

स्वतःसम्भवीके चार उदाहरण—१ वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्य—

क्रमशः उनके उदाहरण देते हैं—

हे पुत्रि, [वह तुम्हारा प्रस्तावित वर] बड़ा आलसी, धूर्तोंमें अग्रणी और धन समृद्धिसे युक्त है । ऐसा कहनेसे उस नताङ्गीकी आँखें खिल उठीं । ६० ।

यहाँ वह मेरे ही उपभोगके योग्य है यह [कथित] वस्तुसे, वस्तु [रूपमें] व्यङ्ग्य होती है ।

यहाँ नायिकाके प्रसन्न होनेका यह कारण है कि आलसी होनेके कारण ये घरसे निकलकर कहीं नहीं जायँगे इसलिए हर समय उनके साथ रहनेका अवसर मिलेगा । 'धूर्तानां अग्रणी'का अभिप्राय यह है कि वे मूर्ख या साधु नहीं हैं अपितु सब कलाओंको जानते हैं इसलिए उनका सहवास बड़ा आनन्ददायक होगा । 'धनसमृद्धिमयः' इस विशेषणने उसकी जीवन यात्राकी चिन्ताओं से मुक्तिकी सूचना द्वारा उसकी प्रसन्नताकी ओर भी वृद्धि कर दी है । इसीलिए इन तीनों विशेषणों द्वारा अपने भावी प्रियतमका परिचय प्राप्त कर उसकी आँखें प्रसन्नतासे खिल उठीं । यहाँ नायकके विशेषणरूपमें प्रतिपादित वस्तुसे, 'यह केवल मेरे ही उपभोग्य है' यह वस्तु अभिव्यक्त होती है ।

२–स्वतःसम्भवी वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य—

वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यका उदाहरण आगे देते हैं । यह पद्य 'विज्जिका' नामक कवयित्रीका है, यह बात शार्ङ्गधरपद्धतिमें लिखी है । इसमें अपने-अपने रति-सम्भोगकी चर्चा करनेवाली सखियोंमेंसे कोई एक सखी अपनी दूसरी सखीका उपहास करते हुए कह रही है कि—

तुम धन्य [व्यङ्ग्यसे अधन्य] हो जो प्रियके साथ सङ्गम होनेपर भी और सुरतके समय भी नाना प्रकारकी विश्वासयुक्त चापलूसीकी बातें कह लेती हो । हे सखि, सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि प्रियके द्वारा [मेरे] नारेकी ओर हाथ बढ़ाते ही मुझे तो कुछ भी स्मरण नहीं रहता है ॥ ६१ ॥

यहाँ तुम तो धन्य नहीं अपितु मैं धन्य हूँ यह [दूसरी सखीकी अपेक्षा आधिक्य दिखलानेसे] व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य है ।

दर्पान्धगन्धगजकुम्भकपाटकूट—
संक्रान्तिनिघ्नघनशोणितशोणशोचिः ।
वीरैर्व्यलोकि युधि कोपकषायकान्तिः
कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः ॥ ६२ ॥

अत्रो**पमालङ्कारेण** सकलरिपुवलक्षयः क्षणात्करिष्यते इति वस्तु ।

गाढकान्तदशनक्षतव्यथासङ्कटादरिवधूजनस्य यः ।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन् युधि रुषा निजाधरम् ॥ ६३ ॥

अत्र **विरोधालङ्कारेणा**ऽधरनिर्दशनसमकालमेव शत्रवो व्यापादिता इति **तुल्ययोगिता** । मम क्षत्याऽप्यन्यस्य क्षतिर्निवर्ततामिति तद्बुद्धिरुत्प्रेक्ष्यते **इत्युत्प्रेक्षा** च ।

एषूदाहरणेषु स्वतःसम्भवी व्यञ्जकः ।

हिन्दीमें 'दास' कविका निम्नलिखित दोहा भी इसका सुन्दर उदाहरण हो सकता है—

सखि तेरो प्यारो भलो दिन न्यारो है जात ।
मोते नहिं वलवीरको पल विलगाव सुहात ॥

इस दोहेमें राधा अपनी किसी सखीसे कह रही है कि तुम्हारे प्रिय बड़े अच्छे हैं जो कमसे कम दिनमें तुमको छोड़ देते हैं । पर मैं क्या करूँ, मेरे कृष्ण तो मुझे पलभरके लिए भी अलग नहीं रहने देते हैं । यह स्वतः-सम्भवी वस्तु वर्णित है । इससे तेरी अपेक्षा मैं कहीं अधिक सौभाग्यशालिनी हूँ यह व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य है । अतः यह स्वतः-सम्भवी वस्तुसे अलङ्कार ध्वनिका सुन्दर उदाहरण है ।

३—स्वतःसम्भवी अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्य—

युद्धभूमिमें जिसके हाथकी, मद-मत्त गन्ध गजके कपाट सदृश विस्तीर्ण गण्डस्थलमें घुसनेके कारण लगे हुए प्रचुर रक्तसे लाल वर्णकी, तलवारको वीरोंने दुर्गाके क्रोधसे रक्त वर्णवाले कटाक्षके समान देखा । ६२ ।

यहाँ [दुर्गाके कटाक्षके समान इस] उपमा अलङ्कारसे क्षणभरमें समस्त शत्रुओंका नाश कर देगा यह वस्तु व्यक्त होती है ।

४—स्वतःसम्भवी अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्य—

युद्ध [भूमि] में क्रोध [के आवेग] से अपने ओष्ठको चबाते हुए जिस [राजा] ने शत्रुओंकी स्त्रियोंके विद्रुम-दलके सदृश [रक्तवर्ण] ओष्ठोंको पतियोंके द्वारा जोरसे काटे जानेके सङ्कटसे बचा दिया । ६३ ।

यहाँ [अपने ओष्ठके काटनेसे दूसरोंके ओष्ठोंको काटनेके सङ्कटसे बचा दिया इस] विरोध अलङ्कारसे, ओष्ठके चबानेके साथ ही शत्रुओंको मार दिया यह 'तुल्य-योगिता' अलङ्कार, और मेरी [अर्थात् राजाकी ओष्ठदर्शनरूप] क्षतिसे भी [वैरिवधूजन-रूप] अन्योंकी [अधर-दशनरूप] क्षति बच सके इस प्रकारकी उस राजाकी [तद्बुद्धिः] बुद्धिके उत्प्रेक्षित होनेसे 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार भी व्यक्त होता है ।

इन उदाहरणोंमें व्यञ्जक [अर्थ] स्वतःसम्भवी है ।

दशम उल्लासमें विरोधालङ्कारका लक्षण निम्नलिखित प्रकार किया गया है—

[सू० १६६]—विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।

[सू० १६७]—जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः ॥

क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।

जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और द्रव्यवाचक [यदृच्छा-शब्द] चार प्रकारके शब्द, और जात्यादि चार उनके अर्थ माने गये हैं । इन अर्थोंका परस्पर विरोध न होनेपर भी जहाँ उनका विरोध-सा वर्णन किया जाय वहाँ विरोधालङ्कार या विरोधाभास अलङ्कार होता है । जातिका जात्यादि चारोंके साथ, गुणोंका गुण आदि तीनके साथ, क्रियाका क्रिया और द्रव्य दोके साथ, तथा द्रव्यका द्रव्यके साथ, इस प्रकार [४ + ३ + २ + १ = १०] दस प्रकारका विरोध सम्भव होनेसे विरोधाभास अलङ्कारके दस भेद हो जाते हैं ।

तुल्ययोगिता अलङ्कारका लक्षण दशम उल्लासमें निम्नलिखित प्रकार दिया है—

[सू० १५८]—नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ।

नियत अर्थात् केवल प्राकरणिक अथवा केवल अप्राकरणिक अनेक अर्थोंमें एक धर्मका अभिसम्बन्ध होनेपर तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है ।

यहाँ ग्रन्थकारने विरोधालङ्कारसे तुल्ययोगिता अलङ्कार व्यङ्ग्य माना है । इसमें ओष्ठदशन और व्यथामोचनरूप क्रियाओंमें परस्पर विरोध होनेसे विरोधालङ्कार व्यञ्जक अलङ्कार है । और उससे स्वाधरदशन तथा शत्रुव्यापादनरूप दो प्राकरणिक अर्थोंमें एककालिकत्व रूप एक धर्मका सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार व्यङ्ग्य है । यह ग्रन्थकारकी ऊपरकी पंक्तियोंका अभिप्राय है ।

'प्रदीपकार'की व्याख्या—

यहाँ वृत्ति ग्रन्थमें ग्रन्थकारने विरोधालङ्कारसे तुल्ययोगिता अलङ्कारको व्यङ्ग्य माना है । परन्तु काव्यप्रकाशके अनेक टीकाकारोंने 'विरोध' और 'तुल्ययोगिता' अलङ्कारोंकी यहाँ किसी प्रकार सङ्गति नहीं मानी है । उदाहरणके लिए प्रदीपकारने लिखा है कि—

विरोधालङ्कारेण इत्यस्य विरोधाभासालङ्कारेण इत्यर्थस्तु न । विरोधस्यासम्भवात् । किन्तु विरोधगर्भितोऽलङ्कारस्तेनेत्यर्थः । कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्त्यलङ्कारेणेति यावत् । स्वाधरदशनस्य कारणस्य वैरिवधूजनौष्ठदशनव्यथामोचनस्य कार्यस्य च समकालतया निर्दिष्टत्वात् । तुल्ययोगितेति पदस्यापि तुल्ययोगितालङ्कार इत्यर्थस्तु न, 'नियतानां सकृद्धर्मः स पुनस्तुल्ययोगिता' इति १५८ सूत्रेण लक्षितायाः प्रकृतानामप्रकृतानां वा एकधर्मसम्बन्धरूपतुल्ययोगितायाः प्रकृतेऽसम्भवात् । तुल्ययोगितायां धर्मस्य गुणक्रियान्यतररूपस्यैव ग्रहणात् । किन्तु तुल्ययोगिपदस्य अधरो निर्दष्टश्च शत्रवो व्यापादिताश्चेति तुल्यकालं योगः ययोस्तौ तुल्ययोगिनौ तयोर्भावस्तुल्ययोगितेति व्युत्पत्या समुच्चयालङ्कार इत्यर्थः । अधरनिर्दशनवैरिव्यापादनक्रिययौंगपद्यप्रतीते-र्वदन्ति ।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रदीपकारने यहाँ वृत्तिग्रन्थके 'विरोध' तथा 'तुल्ययोगिता' दोनों पदोंको मुख्य रूपसे उस नामके अलङ्कारोंका वाचक न मानकर उनका यौगिक अर्थ करनेका प्रयत्न किया है । और विरोधालङ्कार शब्दसे विरोधगर्भित, कार्य-कारणके पौर्वापर्यविपर्ययरूप अतिशयोक्ति अलङ्कारका, तथा तुल्ययोगिता शब्दसे ओष्ठदशन तथा शत्रुव्यापादनके तुल्यकालमें होनेसे समुच्चयालङ्कारका ग्रहण किया है ।

कैलासस्य प्रथमशिखरे वेणुसम्मूर्च्छनाभिः
श्रुत्वा कीर्तिं विबुधरमणीगीयमानां यदीयाम् ।
स्रस्तापाङ्गाः सरसबिसिनीकाण्डसञ्जातशङ्का-
दिङ्मातङ्गाः श्रवणपुलिने हस्तमावर्त्तयन्ति ॥ ६४ ॥

अत्र वस्तुना येषामप्यर्थाधिगमो नास्ति तेषामप्येवमादिबुद्धिजननेन चमत्कारं करोति त्वत्कीर्तिरिति वस्तु ध्वन्यते ॥

केसेसु वलामोडिअ तेण अ समरम्मि जअसिरी गहिआ ।
जह कन्दराहि विहुरा तस्स दढं कंठअम्मि संठविआ ॥ ६५ ॥

परन्तु यह व्याख्या उचित प्रतीत नहीं होती है। क्योंकि यदि ग्रन्थकारको यही अर्थ अभीष्ट होता तो वे स्वयं ही इस प्रकारकी स्पष्ट वृत्ति लिख सकते थे। ग्रन्थकारको यहाँ कार्यकारणके पौर्वापर्य-विपर्ययरूप अतिशयोक्ति अलङ्कारसे समुच्चयालङ्कारकी व्यङ्ग्यता ही अभिप्रेत थी तो फिर वे उसका स्पष्ट रूपसे उल्लेख कर सकते थे। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है। इसलिए ग्रन्थकारके विरोधालङ्कार और तुल्ययोगिता अलङ्कार शब्दोंकी अतिशयोक्ति तथा समुच्चयालङ्कार-परक व्याख्या करना ग्रन्थकारके अभिप्राय एवं गौरव, दोनोंके प्रतिकूल है। इसलिए यहाँ ओष्ठ-विषयक दशन तथा दशन-मोचनरूप क्रियाओंमें विरोध होनेसे विरोधालङ्कार व्यञ्जक और स्वाधर-दशन तथा शत्रुव्यापादनरूप वीररसके प्रकृत दोनों अनुभावोंमें समकालत्वरूप एक धर्मका अभिसम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार व्यङ्ग्य है, यह मानकर ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुसार ही व्याख्या करनी चाहिये।

५-कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्य—

यहाँ तक स्वतःसम्भवी अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिके चार उदाहरण दिये। अब कविप्रौढोक्ति-सिद्ध अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिके चार उदाहण आगे देते हैं—

कैलाश-पर्वतके प्रथम [अर्थात् सबसे ऊँचे अथवा सबसे निचले] शिखरपर बाँसुरीकी मूर्च्छनाओं [सङ्गीत-विषयक उतार-चढ़ावों] के साथ दिव्य अप्सराओंके द्वारा गायी जानेवाली जिस [राजा] की कीर्तिको सुनकर [कीर्तिके धवलतातिशयके कारण] सरस मृणाल-खण्डकी शङ्का हो जानेसे [दिशाओंके अन्तमें स्थित] दिग्गज अपनी आँखें तिरछी करके [कानोंकी ओर देखनेका प्रयत्न करते हुएसे] श्रोत्र प्रान्तमें [उस मृणाल-खण्डको पकड़नेके लिए अपनी सूँड़रूप] हाथको घुमा रहे हैं। ६४।

यहाँ [कविप्रौढोक्तिसिद्ध, श्लोकमें कल्पित] वस्तुसे जिन [हाथियों] को [गीतके] अर्थका ज्ञान [सम्भव] नहीं है उनकी भी इस प्रकारकी [कीर्तिके धवलता-तिशयके कारण मृणाल-भ्रान्तिरूप] बुद्धिको उत्पन्न करके तुम्हारी कीर्ति चमत्कार-जनक होती है यह वस्तु ध्वनित होती है।

यहाँ व्यङ्ग्य वस्तु और व्यञ्जक-वस्तु, दोनों ही केवल कविकी प्रतिभामात्रसे सिद्ध हैं। संसारमें इस प्रकारकी वस्तु नहीं मिलती है। इसलिए यह 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्यका उदाहरण है। यहाँ 'त्वत्कीर्ति' के स्थानपर कुछ लोग 'तत्कीर्ति' ऐसा पाठ मानते हैं।

[केशेषु बलात्कारेण तेन च समरे जयश्रीर्गृहीता ।
यथा कन्दराभिर्विधुरास्तस्य दृढं कण्ठे संस्थापिताः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र केशग्रहणावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विधुरान् कण्ठे गृह्णन्ति **इत्युत्प्रेक्षा** । एकत्र संग्रामे विजयदर्शनात्तस्यारयः पलाय्य गुहासु तिष्ठन्तीति **काव्यहेतुरलङ्कारः** । न पलाय्य गतास्तद्वैरिणोऽपि तु ततः पराभवं संभाव्य तान् कन्दरा न त्यजन्तीत्य**पह्नुतिश्च** ॥

६—कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य—

उस [स्तूयमान राजा] ने युद्धक्षेत्र [सुरतभूमि] में बलात् केशोंको पकड़कर जयश्रीका इस प्रकार आलिङ्गन किया, जिससे [उसकी रति-क्रीडाको देखकर मदनोन्मत्त] कन्दराओंने उसके शत्रुओंको गलेमें जोरसे लिपटकर रोक लिया । ६५ ।

यहाँ [राजाके द्वारा विजयश्रीके] केशग्रहणके अवलोकन [रूप वस्तु] से मदनोन्मत्त-सी होकर कन्दराएँ [मानों] उसके शत्रुओंके गलेमें लिपट-सी रही हैं यह १. उत्प्रेक्षा [अलङ्कार व्यङ्ग्य है] । अथवा [एकत्र अर्थात्] एक स्थानपर संग्राममें उस [राजा] की विजय [रूप वस्तु] को देखकर, उसके शत्रु भागकर गुफाओंमें रहने लगे इस प्रकार [वस्तुसे] २. काव्यलिङ्ग अलङ्कार [व्यङ्ग्य] है । अथवा शत्रु भागकर [कन्दराओंमें] नहीं गये अपितु उससे हार जानेके डरसे कन्दराएँ [पूर्वसे विद्यमान] उनको नहीं जाने देती हैं यह ३. अपह्नुति [अलङ्कार वस्तुसे] व्यङ्ग्य है ।

यहाँ कवि प्रौढोक्तिसिद्ध, केशग्रहणरूप वस्तुसे १ उत्प्रेक्षा, २ काव्यलिङ्ग तथा ३ अपह्नुति तीन अलङ्कार व्यङ्ग्य माने हैं । इनके लक्षण तथा उनका समन्वय निम्नलिखित प्रकार होता है—

[सू० १३७]—'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' । प्रकृत उपमेयका 'सम' अर्थात् उपमानके साथ सम्भावन अर्थात् 'उत्कटैककोटिक-संशय'को 'उत्प्रेक्षा' कहते हैं । यहाँ भयके कारण शत्रुओंसे निरन्तर कन्दराओंमें घुसे रहने रूप प्रकृत अर्थकी, कन्दराओंने मानों उन शत्रुओंके गलेमें लिपटकर रोक लिया है, इस प्रकारके सम्भावनके कारण उत्प्रेक्षालङ्कार व्यङ्ग्य है ।

[सू० १७४]—'काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता' । जहाँ वाक्यार्थ अथवा पदार्थको अन्यके हेतुरूपमें वर्णित किया जाय वहाँ 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार होता है । इस दूसरे पक्षमें राजाने विजय-लक्ष्मीको अपने वशमें कर लिया है, इसी कारण शत्रु भागकर कन्दराओंमें घुस गये हैं, इस प्रकार प्रथम वाक्यार्थ द्वितीय वाक्यार्थके कारणरूपमें प्रस्तुत किया गया है । इसलिए यहाँ केशग्रहणरूप वस्तुसे काव्यलिङ्ग अलङ्कार व्यङ्ग्य माना है ।

[सू० १४१]—'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सात्वपह्नुतिः' । जहाँ प्रकृत अर्थात् उपमेयको असत्य बतलाकर अन्य अर्थात् उपमानको सत्यतया स्थापित किया जाता है वहाँ 'अपह्नुति' अलङ्कार होता है । इस तीसरी स्थितिमें शत्रुगण भयके मारे भागकर कन्दराओंमें चले गये हैं इस प्रकृत अर्थको असत्य ठहराकर कन्दराएँ पहिलेसे ही अपने भीतर बैठे हुए शत्रुओंको भयके कारण बाहर नहीं आने देती हैं यह अन्य अर्थकी स्थापना की जा रही है अतः अपह्नुति अलङ्कार व्यङ्ग्य है । यही बात ग्रन्थकारने ऊपरकी पंक्तियोंमें लिखी है ।

गाढालिंगणरहसुज्जुअम्मि दइए लहुँ समोसरइ ।
माणंसिणीण माणो पीलणभीअ व्व हिअआहिं ॥ ६६ ॥
[गाढालिङ्गनरभसोद्यते दयिते लघु समपसरति ।
मनस्विन्या मानः पीडनभीत इव हृदयात् ॥ इति संस्कृतम्]
अत्रोत्**प्रेक्षा** प्रत्यालिङ्गनादि तत्र विजृम्भते इति वस्तु ।
जा ठेरं व हसन्ती कइवअणंवुरुहबद्धविणिवेसा
दावेइ भुअणमण्डलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ॥ ६७ ॥
[या स्थविरमिव हसन्ती कविवदनाम्बुरुहबद्धविनिवेशा ।
दर्शयति भुवनमण्डलमखिलमन्यदिव जयति सा वाणी ॥ इति संस्कृतम्]

अत्रोत्**प्रेक्षया** चमत्कारैककारणं नवं नवं जगद् अजडासनस्था निर्मिमीते इति **व्यतिरेकः** ।

एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नो व्यञ्जकः ।

७–कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्य—

प्रियतमके इस [नायिकाके] गाढ आलिङ्गनके लिए उद्यत होते ही [कहीं इन दोनोंके गाढालिङ्गन करते समय मैं बीचमें ही पिस न जाऊँ इस] दब जानेके डरके मारे मानिनीका मान उसके हृदयसे झट निकल भागा ॥ ६६ ॥

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कारसे प्रत्यालिङ्गन आदि वस्तु व्यङ्ग्य हो रही है ।

८–कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्य—

कविके मुख-कमलमें बैठी हुई जो वाणी [नवीन वस्तुके निर्माणमें असमर्थ और जड कमलके ऊपर बैठे हुए] बूढ़े [ब्रह्मा] का उपहास करती हुई-सी समस्त भुवन-मण्डलको अन्य प्रकारका-सा [अलौकिक चमत्कार-जनक] दिखलाती है वह [कवि-वाणी ब्रह्माकी अपेक्षा] सर्वोत्कर्षयुक्त है ॥६७॥

यहाँ [स्थविरमिव हसन्ती इस] उत्प्रेक्षा [अलङ्कार] से, अत्यन्त चमत्कार-जनक [प्रतिक्षण] नये-नये जगत्को चेतन [कवि-मुखरूप] आसनपर बैठी हुई [कवि-वाणी] बनाती है । इस प्रकार [जड़ कमलपर बैठे हुए और नीरस जगत्को उत्पन्न करनेवाले बूढ़े ब्रह्माकी अपेक्षा उत्कृष्ट है यह] व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य है ।

इन [चारों उदाहरणों] में व्यञ्जक [अर्थ] कविप्रौढोक्तिमात्रसे सिद्ध है ।

इस प्रकार अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिके स्वतःसम्भवी तथा कविप्रौढोक्तिसिद्ध, दो भेदोंके चार-चार अवान्तर भेद दिखला देनेके बाद अब कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध नामक तृतीय भेदके भी उसी प्रकारके चार अवान्तर भेद आगे दिखलाये जायँगे । यद्यपि कविनिबद्ध वक्ताकी प्रौढोक्ति भी कवि-प्रौढोक्तिके ही अन्तर्गत हो सकती है, परन्तु उसमें सहृदयोंको कविप्रौढोक्तिसिद्धकी अपेक्षा अधिक चमत्कार अनुभव होता है । कविनिबद्ध वक्तामें रागादिका आवेश होनेसे ही उसकी उक्तिमें अधिक चमत्कार आ जाता है । इसलिए उसको कविप्रौढोक्तिसे अलग ही मानना उचित है ।

जे लंकागिरिमेहलासु खलिआ संभोगखिण्णोरई-
फारुप्फुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिद्दत्तणम् ।
ते एह्लिं मलआनिला विरहिणीणीसाससंपक्किणो
जादा झति सिसुत्तणे वि वहला तारुण्णपुण्णा विअ ॥ ६८ ॥
[ये लङ्कागिरिमेखलासु स्खलिताः सम्भोगखिन्नोरगी-
स्फारोत्फुल्लफणावलीकवलने प्राप्ता दरिद्रत्वम् ।
त इदानी मलयानिला विरहिणीनिःश्वाससम्पर्किणः
जाता झटिति शिशुत्वेऽपि बहलास्तारुण्य पूर्णा इव ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र निःश्वासैः प्राप्तैश्वर्या वायवः किं किं न कुर्वन्तीति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

सहि विरइऊण माणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम् ।
पिअदंसणाविहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरिअम् ॥
[सखि विरचय्य मानस्य मम धीरत्वेनाश्वासम् ।
प्रियदर्शनविश्रृङ्खलक्षणे सहसेति तेनापसृतम् ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र वस्तुनाऽकृतेऽपि प्रार्थने **प्रसन्नेति विभावना**, प्रियदर्शनस्य सौभाग्यबलं धैर्येण सोढुं न शक्यते **इत्युत्प्रेक्षा** वा ।

---

९ कविनिबद्धप्रौढोक्ति सिद्ध वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्य—

[लङ्कागिरि] हेमकूट पर्वतकी तलहटियोंमें [सर्पोंके डरसे] मन्दगतिसे चलनेवाले [स्खलिताः] जो वायु, सम्भोगसे थकी हुई [अतएव प्यासी] सर्पिणियोंके फैली हुई और ऊपर उठी हुई फणावलीके द्वारा भक्षणकर लिये जानेके कारण स्वल्पताको प्राप्त हो गये थे, वे मलयानिल आज [इस वसन्तके समय] शैशवावस्था [वसन्तके आरम्भ] में ही विरहिणियोंके निश्वासोंका सम्पर्क प्राप्तकर तारुण्यमय [प्रबल] तथा प्रचुरताको प्राप्त हो गये हैं। [यह कर्पूरमञ्जरीमें वसन्तवर्णनका श्लोक है] ॥ ६८ ॥

यहाँ निश्वासों [के सम्पर्क] से शक्ति [ऐश्वर्य] प्राप्तकर मलयानिल क्या-क्या न कर डालेंगे यह वस्तु [श्लोकोक्त वस्तुसे व्यक्त होती] है।

१० कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य—

हे सखि, [तेरे द्वारा दिलाया हुआ] धैर्य, मेरे मानको [हे मान, तुम डटे रहना, भागना नहीं, मैं तुम्हारी सहायता करूँगा इस प्रकारका] आश्वासन देकर प्रियतमके दर्शन होनेपर [मानके पैरोंके] डगमगाते ही [उसकी सहायताका दम भरनेवाला धैर्य न जाने कहाँ] सहसा भाग गया ॥६९॥

यहाँ [श्लोकमें प्रतिपादित] वस्तुसे, प्रार्थना [या मनाने] के बिना ही [नायिका या मैं] प्रसन्न हो गयी इस प्रकार [बिना कारणके कार्यके वर्णनरूप] विभावना अलङ्कार, अथवा प्रियतमके दर्शनसे प्राप्त सौभाग्यके बलको धैर्य सहन नहीं कर सकता है यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार [व्यङ्ग्य है] है।

ओल्लोल्लकरअरअक्खएहिं तुह लोअणेसु मह दिण्णं ।
रत्तंसुअं पसाओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ ॥ ७० ॥
[आर्द्रार्द्र करजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्तम् ।
रक्तांशुकं प्रसादः कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते ।। इति संस्कृतम्]

अत्र किमिति लोचने कुपिते वहसि **इत्युत्तरालङ्कारेण** न केवलमार्द्रनखक्षतानि गोपयसि यावत्तेषामहं प्रसादपात्रं जातेति वस्तु ॥

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती ।
अणुदिणमणण्ण कम्मा अङ्गं तणुअं वि तणुएइ ॥ ७१ ॥
[महिला सहस्रभरिते तव हृदये सुभग अमान्ती सा ।
अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तन्वपि तनयति ।। इति संस्कृतम्]

अत्र **हेत्वलङ्कारेणः** तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते इति **विशेषोक्तिः**

---

११ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्य—

तुम्हारे इस [शरीरपर प्रतिनायिकाके सम्भोगकालमें प्रदत्त] बिल्कुल ताजे नख-क्षत तथा दन्त-क्षतोंने [प्रसन्नतासे] लाल रंगका आवरण-पट पुरस्कारमें मेरे नेत्रोंको प्रदान किया है [इसलिए उसको धारण करनेसे ये लाल प्रतीत होते हैं ।] परन्तु ये क्रोधसे आक्रान्त नहीं है। ७० ।

यहाँ तुम आँखें लाल क्यों कर रही हो, इस [प्रश्नके उत्तररूपमें इस श्लोकके उक्त होनेसे] उत्तरालङ्कारसे, तुम केवल अपने ताजे नख-क्षतोंको ही नहीं छिपा रहे बल्कि मेरे ऊपर भी उनकी कृपा हो गयी है [क्योंकि उनके छिपानेके लिए ही तुम मेरा आलिङ्गन आदि कर रहे हो] यह वस्तु [ध्वनित होती है] ।

[सू० १८८] उत्तर श्रुतिमात्रतः ।
प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ।
असकृद् यद् असम्भाव्यमुत्तरं स्यात् तदुत्तरम् ॥

अर्थात् जहाँ प्रतिवचनके श्रवणमात्रसे पूर्व प्रश्न-वाक्यकी कल्पना कर ली जाय वह 'उत्तरालङ्कार' होता है। और जहाँ प्रश्नके होनेपर किसी अर्थकी लोकोत्तरता या दुर्लभता दिखलानेके लिए अनेक बार असम्भाव्य उत्तर दिया जाय वह भी 'उत्तरालङ्कार'का दूसरा भेद होता है। यह 'उत्तरालङ्कार'का लक्षण है ।

१२ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्य—

हे सुभग, अगणित महिलाओंसे भरे हुए तुम्हारे हृदयमें न समा सकनेके कारण वह तन्वी प्रतिदिन सब कामोंको छोड़कर अपने दुबले शरीरको और भी पतला कर रही है ॥७७॥

यहाँ [हेत्वलङ्कार अर्थात्] काव्यलिङ्ग अलङ्कारसे शरीरको कृश करनेपर भी तुम्हारे हृदयमें नहीं रह पाती है [इस प्रकार कारणके होनेपर भी कार्यके न होनेसे] यह विशेषोक्ति [अलङ्कार व्यङ्ग्य] है ।

एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो व्यञ्जकः ।

एवं द्वादश भेदाः ॥

[सू० ५५]-**शब्दार्थोभयभूरेकः ।**

यथा—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा ।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥ ७२ ॥

अत्रोपमा व्यङ्ग्या ।

[सू० ५६]-**भेदा अष्टादशास्य तत् ॥४१॥**

अस्येति ध्वनेः ।

इन [चारों] में व्यञ्जक [अर्थ] कविनिबद्ध वक्ताकी प्रौढोक्तिमात्रसे सिद्ध है।

इस प्रकार [अर्थशक्त्युत्थध्वनिमें] बारह भेद होते हैं।

उभयशक्त्युत्थध्वनिका एक भेद—

इस प्रकार यहाँ संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यके अर्थशक्त्युत्थ-ध्वनिके बारह भेदोंका तथा शब्दशक्त्युत्थके दो भेदोंका पहिले, कुल १२+२ = १४ भेदोंका निरूपण कर चुकनेके बाद अब उभय-शक्त्युत्थ-ध्वनिके एक [संलक्ष्यक्रमके पन्द्रहवें] भेदका निरूपण आगे करते हैं—

[सू० ५५]-[संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनिका] शब्द, अर्थ [उभय] की शक्तिसे सिद्ध [उभयशक्त्युत्थ] एक भेद होता है। जैसे—

[मेघ आदिके आवरणसे रहित] चमकते हुए चन्द्रमासे विभूषित [श्यामा शब्द श्लिष्ट है। उसके दो अर्थ हैं, एक रात्रि, और दूसरा षोडशवर्षीया स्त्री, इस दूसरे पक्षमें उज्ज्वल चन्द्रके आकारवाले शिरके आभूषणको धारण करनेवाली श्यामा अर्थात् षोडशवर्षीया नायिका] कामदेवको उद्दीप्त करनेवाली [श्यामा रात्रि तथा श्यामा नायिका] और चञ्चल तारों [तथा चञ्चल नेत्रों] वाली श्यामा [रात्रि तथा षोडशवर्षीया नायिका] किसको आनन्दित नहीं करती है ॥७२॥

यहाँ [उक्त विशेषणोंसे विशिष्ट श्यामा रात्रिके समान उक्त विशेषणोंसे विशिष्ट षोडशवर्षीया नायिका यह] उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

ध्वनिके अठारह मुख्य भेद—

[सू० ५६]—इस प्रकार उस [ध्वनि] के १८ भेद होते हैं।

इसके [अर्थात्] ध्वनिके [१८ भेद होते हैं]।

यहाँ ध्वनिके अठारह भेद बतलाये गये हैं। इनमेंसे संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यके २ शब्दशक्त्युत्थ + १२ अर्थशक्त्युत्थ + १ उभयशक्त्युत्थ = १५ भेद अभी गिनाये हैं। संलक्ष्यक्रमके इन १५ भेदोंके साथ असंलक्ष्यक्रम एक भेदको मिला देनेसे १५ + १ = १६ भेद तो अभिधामूल या विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनिके होते हैं। इन सोलहके साथ अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूल ध्वनिके अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इन दोनों भेदोंको मिलाकर ध्वनिके १६ + २ = १८ भेद हो जाते हैं। इन्हीं अठारह भेदोंकी गणना ग्रन्थकारने यहाँ दिखलायी है।

ननु रसादीनां बहुभेदत्वेन कथमष्टादशेत्यत आह—

[सू० ५७]–रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते ।

अनन्तत्वादिति । तथा हि-नव रसाः तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ, सम्भोगो विप्रलम्भश्च । सम्भोगस्यापि परस्परावलोकन-आलिङ्गनपरिचुम्बनादि-कुसुमोच्चय-जलकेलि-सूर्यास्तमय-चन्द्रोदय-षड्ऋतुवर्णनादयो बहवो भेदाः । विप्रलम्भस्य अभिलाषादय उक्ताः । तयोरपि विभाव-अनुभाव-व्यभिचारिवैचित्र्यम् । तत्रापि नायकयोरुत्तम-मध्यम-अधमप्रकृतित्वम् । तत्रापि देश-काल-अवस्थादिभेदाः । इत्येकस्यैव रसस्यानन्त्यम् का गणना त्वन्येषाम् । असंलक्ष्य-क्रमत्वन्तु सामान्यमाश्रित्य रसादिध्वनिभेद एक एव गण्यते ।

रसादि असंलक्ष्यक्रम ध्वनिका एक ही भेद माना है—

[प्रश्न]–अच्छा रस आदिके बहुत भेद होनेसे [ध्वनि के] अठारह भेद कैसे होते हैं ? इस [शङ्काके समाधान] के लिए कहते हैं—

[सू० ५७]–रस आदिके अनन्त होनेसे केवल एक ही भेद गिना जाता है। [अर्थात् उनका और अधिक विस्तार नहीं किया जाता है]।

[रसादिके] अनन्त होनेसे [इसकी व्याख्या करते हैं—] जैसे कि [मुख्य रूपसे] नौ रस हैं । उनमेंसे शृङ्गारके दो भेद हैं, एक सम्भोग और दूसरा विप्रलम्भ । सम्भोगके भी परस्पर अवलोकन, आलिङ्गन, चुम्बन आदि, जलकेलि, सूर्यास्तसमय, चन्द्रोदय, तथा षड्ऋतु-वर्णन आदि बहुतसे भेद [हो सकते] हैं । विप्रलम्भके अभिलाप [ईर्ष्या, विरह, प्रवास, शाप] आदि [हेतुक पाँच भेद] बतला चुके हैं । [अनेक उपभेदों सहित] उन दोनोंमें भी विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंका वैचित्र्य [होनेसे अनेक भेद] हैं । उनमें भी फिर [सम्भोग तथा विप्रलम्भ दोनों प्रकारके शृङ्गारोंमें] नायकोंमें उत्तम, मध्यम, अधम प्रकृति [होनेसे भेद हो सकते] हैं । उनमें भी फिर देश, काल, अवस्था आदि [के भेदसे] भेद होते हैं। इस प्रकार एक ही [शृङ्गार] रसके अनन्त भेद हो जाते हैं । अन्य सबकी गिनती करनेकी तो बात ही क्या है । [इन सबमें] असंलक्ष्य-क्रमत्वकी समानताको लेकर रसादि ध्वनिको एक ही भेद माना जाता है । [इस प्रकार ध्वनिके अठारह भेद होते हैं] ।

अठारह ध्वनि-भेदोंका विस्तार—

अब ध्वनिके इन मुख्य अठारह भेदोंका आगे और भी विस्तार होता है । इन मुख्य अठारह भेदोंमें एक उभयशक्त्युत्थ भेद तो केवल वाक्यमें ही रहता है, परन्तु शेष १७ के पदगत तथा वाक्यगत भेद होनेसे १७ × २=३४ भेद हो जाते हैं । और उनमेंसे अर्थशक्त्युत्थके जो १२ भेद गिनाये थे उनके प्रबन्धमें भी होनेसे १२ भेद और हो सकते हैं। उनको और उभयशक्त्युत्थके एक भेदको भी मिला देनेसे १ + ३४ = ३५ + १२ = ४७ भेद होते हैं । इनके अतिरिक्त असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके १ पदांश, २ वर्ण, ३ रचना तथा ४ प्रबन्धगत होनेसे चार भेद और जोड़कर ध्वनिके ४७ + ४ = ५१ भेद हो जाते हैं । ध्वनिके पूर्वोक्त १८ भेदोंके करनेके बाद अब अगले ५१ भेदोंकी संख्याकी दृष्टिसे इन भेदोंका आगे और विभाजन दिखलाते हैं—

[सू० ५८]-**वाक्ये द्व्युत्थः ।**

द्व्युत्थ इति शब्दार्थोभयशक्तिमूलः ।

[सू० ५९]-**पदेऽप्यन्ये ।**

अपिशब्दाद्वाक्येऽपि ।

एकावयवस्थितेन भूषणेन कामिनीव पदद्योत्येन व्यङ्ग्येन वाक्यव्यङ्ग्याऽपि भारती भासते ।

तत्र पदप्रकाश्यत्वे क्रमेणोदाहरणानि—

यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा ।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ॥ ७३ ॥ [१]

अत्र द्वितीयमित्रादिशब्दा आश्वस्तत्व-नियन्त्रणीयत्व-स्नेहपात्रत्वादिसंक्रमितवाच्याः[1]॥

[सू० ५८]—उभयशक्त्युत्थ, [ध्वनि केवल] वाक्य में [होता है] ।

द्व्युत्थ [अर्थात्] शब्दार्थोभयशक्तिमूल [ध्वनि इसका केवल वाक्यगत एक ही भेद होता है] ।

[सू० ५९]—अन्य [सत्रह भेद वाक्यके अतिरिक्त] पदमें भी [होते हैं] ।

'अपि' शब्दसे [अन्य १७ भेद] वाक्यमें भी होते हैं । [इस प्रकार उन सत्रह भेदोंके पदगत तथा वाक्यगत दो भेद होकर १७ × २ = ३४ भेद हो जाते हैं] ।

[पद-द्योत्य ध्वनिसे काव्यका क्या उपकार हो सकता है इसको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं]—जैसे एक ही अवयवमें धारण किये हुए आभूषणसे कामिनी शोभित होती है इसी प्रकार पदसे द्योत्य व्यङ्ग्यसे [श्रोत्रग्राह्य] वाक्य द्वारा व्यङ्ग्य [कविकी स्फोटरूप] वाणी भी शोभित होती है ।

पदद्योत्य लक्षणामूल ध्वनिके १७ उदाहरण—

उनमेंसे पदप्रकाश्य [सत्रह भेदों] के [सत्रह] उदाहरण क्रमसे देते हैं—

सबसे पहिले अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूल ध्वनिके अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि दोनोंके पदद्योत्य उदाहरण क्रमशः देते हैं—

जिसके मित्र, [आश्वस्तत्व आदि धर्मयुक्त] मित्र, और शत्रु [दण्डभाजनत्वादि धर्मयुक्त वास्तविक] शत्रु हैं । और जिसके कृपापात्र [स्नेहपात्रत्वादि धर्मयुक्त वस्तुतः] कृपापात्र हैं वही [सौभाग्यशाली पुरुष] उत्पन्न हुआ है और वही जीता है । ७३ । [१ लक्षणामूल पदद्योत्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य] ।

यहाँ [पुनरुक्तिके भयसे] द्वितीय मित्र आदि शब्द [क्रमशः] १ आश्वस्तत्व, २ नियन्त्रणीयत्व तथा स्नेहपात्रत्व आदि [रूप अर्थान्तरमें] संक्रमित वाच्य हैं ।

हिन्दीमें निम्नलिखित पद्य पद-द्योत्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनिका उदाहरण हो सकता है—

राधा अति गुन आगरी स्वर्ण बरन तनु रंग ।
मोहन तू **मोहन** भयो परसत जाके अङ्ग ॥

---

१. **स्नेहपात्रत्वादिभिरर्थान्तरसंक्रमितवाच्याः ।**

खलववहारा दीसन्ति दारुणा जहवि तहवि धीराणम् ।
हिअअवअस्सवहुमआ ण हु ववसाआ विमुज्झन्ति ॥ ७४ ॥ [२]
[खलव्यवहारा दृश्यन्ते दारुणा यद्यपि तथापि धीराणाम् ।
हृदयवयस्यबहुमता न खलु व्यवसाया विमुह्यन्ति ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र विमुह्यन्तीति ।

लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः ।
तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान् ॥ ७५ ॥ [३ क]

अत्र तदादिपदैरनुभवैकगोचरा अर्थाः प्रकाश्यन्ते ।

यथा वा—

मुग्धे ! मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि ।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥ ७६ ॥ [३ ख]

यहाँ पहला मोहन शब्द सामान्य रूपसे कृष्णका वाचक है। परन्तु दूसरा 'मोहन' शब्द सबको मोहित करनेकी सामर्थ्य आदिसे युक्त 'मोहन'का बोधक होनेसे अर्थान्तरमें संक्रमित हो गया है। इसलिए यह पदद्योत्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनिका उदाहरण है।

२—यद्यपि धूर्तोंके व्यवहार [दूसरोंके इष्टविघातक होनेसे] भयङ्कर [या कठोर] दिखलाई देते हैं तथापि हृदयरूप [सदर्थग्राही] वयस्य [मित्र] द्वारा अनुमोदित धीर पुरुषोंके निश्चय भङ्ग नहीं होते हैं। [दुष्टों द्वारा कार्यमें विघ्न उपस्थित किये जानेपर भी धीर पुरुष अपने निश्चयपर अटल ही रहते हैं। ७४। [२ ल० मू० अत्यतिरस्कृत०]

यहाँ 'विमुह्यन्ति' वह [पद अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य है]।

पदद्योत्य अभिधामूल असंलक्ष्यक्रम ध्वनिके दो उदाहरण—

इस प्रकार अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूल ध्वनिके अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य दोनों भेदोंके पद-प्रकाश्य व्यङ्ग्यस्थलोंके दो उदाहरण देकर अब विवक्षितवाच्य या अभिधामूल ध्वनिके असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यरूप एक भेदके पद-प्रकाश्य दो उदाहरण देते हैं—

[उस नायिकाका] यह [अपूर्व] सौन्दर्य वह कान्ति, वह रूप और वह [अनुभवैकगोचर] बोलनेका ढंग ये सब उस [नायिकाके संयोगके] समय तो सुधाके समान थे परन्तु [उसके वियोगमें] अब तो महान् सन्तापदायक [ज्वर] हो रहे हैं। ७५। [३ क]

यहाँ 'तत्' आदि शब्दोंसे [उस समयके] अनुभवैक-गोचर अर्थ [व्यङ्ग्यरूपसे] प्रकाशित होते हैं। [यह पदद्योत्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य विप्रलम्भ शृङ्गारका उदाहरण है]।

अथवा जैसे—

हे मुग्धे ! तुम इस भोलेपनमें ही सारा समय [यौवन] क्यों बिताने जा रही हो। [तुम्हारा यह भोलापन ठीक नहीं है। इससे तुम्हारे प्रियतम तुम्हारे वश

अत्र भीताननेति। एतेन हि नीचैः शंसनविधानस्य युक्तता गम्यते।

में नहीं आवेंगे। उनके वशीकरणके लिए तो] मान करो, धैर्य रखो [अर्थात् जल्दी मान-भङ्ग न करना], और प्रियतमके प्रति इस सरलताको छोड़ दो। सखीके द्वारा इस प्रकार समझाये जानेपर भयभीत मुख-मुद्रासे [उत्तर देती हुई] उससे बोली कि हे सखि, धीरे बोलो, नहीं तो मेरे हृदयमें बैठे प्राणेश्वर सुन लेंगे। ७३। [३ ख]

यहाँ 'भीतानना' [यह व्यञ्जक-पद है]। इससे धीरे बोलनेका विधान करनेकी युक्तता प्रतीत होती है। [यह असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य पदद्योत्य सम्भोग-शृङ्गारका उदाहरण है]।

यह श्लोक अमरुक-शतकसे लिया गया है। असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यके ये दो उदाहरण पदद्योत्य ध्वनिके प्रदर्शनके लिए दिये गये हैं। इनमेंसे पहिला उदाहरण विप्रलम्भ-शृङ्गारका और दूसरा उदाहरण सम्भोग-शृङ्गारका है। इसी दृष्टिसे इस भेदके दो उदाहरण दिये हैं।

हिन्दीके महाकवि बिहारीलालने अमरुकशतकके इस पद्यका भी अनुवाद अपने दोहेमें बड़ी सफलताके साथ इस प्रकार किया है—

सखी सिखावत मान बिधि, सैननि बरजति बाल।
हरुए कहु मो हिय बसत, सदा बिहारी लाल॥

बिहारीका काव्यकौशल यहाँ भी बड़े सुन्दर रूपमें प्रकट हो रहा है। अमरुकके लम्बे-लम्बे ढाई चरणोंके भावको बिहारीने केवल 'सखी सिखावत मान बिधि' इन तीन शब्दोंमें रखकर अपने अद्भुत चातुर्यका परिचय दिया है। सखीकी सिखायी हुई मानविधिको सुनकर अमरुककी नायिका 'प्रतिवचस्तामाह भीतानना' भयभीत होकर कहती है। पर बिहारीकी नायिका मुँहसे नहीं बोलती है। मुँहसे कही बात तो हृदयमें स्थित प्राणेश्वर सुन ही लेंगे। इसलिए बिहारीकी नायिका 'सैननि बरजति बाल' आँखके इशारेसे ही मना कर रही है। इस 'सैनन बरजति बाल'ने दोहेमें एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। जिसके कारण यहाँ सहृदयतामें बिहारी अमरुकसे कहीं आगे निकल गये हैं। पर इससे भी अधिक चमत्कार 'मो हिय बसत सदा बिहारीलाल' में है। अमरुककी नायिकाके 'प्राणेश्वर' उसके हृदयमें बैठे हैं। ठीक है, यह नायिकाका गौरव है। पर बिहारीकी नायिकाने उन 'बिहारी'जीको बाँधा है, जिनका काम ही सदा 'विहार' करना है। जो एक जगह बँधकर रहते नहीं उन्हीं 'बिहारीलाल'-को सदाके लिए बाँध लेनेमें और भी गौरव है। सब मिलाकर बिहारीका यह छोटा-सा दोहा अमरुक-के विशालकाय श्लोकसे कहीं आगे निकल गया है।

दीरघ दोहा अरथके आखर थोरे आहिं।
ज्यों रहीम नट कुण्डली समिटि कूदि चढ़ि जाहिं॥

रहीमने दोहेकी प्रशंसामें जो यह बात कही है वह बिहारीके दोहोंपर बिलकुल ठीक बैठती है।

बिहारी सतसईके अनुकरणमें लिखी गयी 'रामसतसई' या 'शृङ्गार सतसई'के रचयिताने भी इस श्लोकके भावको अपने दोहेमें भरनेका यत्न किया है। शृङ्गारसतसईका दोहा निम्नलिखित प्रकार है—

हिय लोचनमें भरि रहे सुन्दर नन्दकिसोर।
चलत सयान न बावरी मान धरौं किहि ठौर॥

पर बिहारीके दोहेके सामने यह जम नहीं रहा है।

भावादीनां पदप्रकाश्यत्वेऽधिकं न वैचित्र्यमिति न तदुदाहियते ।

> रुधिरविसरप्रसाधितकरवालकरालरुचिरभुजपरिघः ।
> झटिति भ्रुकुटिविटङ्कितललाटपट्टो विभासि नृप ! भीम ॥ ७७ ॥ [४]

अत्र भीषणीयस्य भीमसेन उपमानम् ।

> भुक्ति-मुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः ।
> कस्य नानन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः ॥ ७८ ॥ [५]

काचित् सङ्केतदायिनमेवं मुख्यया वृत्त्या शंसति ।

भाव आदिके पद-प्रकाश्यत्वमें अधिक वैचित्र्य नहीं होता है इसलिए उनके उदाहरण नहीं दिये हैं ।

पदद्योत्य संलक्ष्यक्रम शब्दशक्त्युत्थ ध्वनिके दो उदाहरण—

इस प्रकार असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य पद-द्योत्य ध्वनिके उदाहरण देनेके बाद अब संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यके शब्दशक्तिमूल भेदमें पद-प्रकाश्य वस्तुसे अलङ्कार ध्वनिका उदाहरण देते हैं—

रक्तप्रवाहसे रँगी हुई तलवारके द्वारा [शत्रु तथा मित्रोंके लिए क्रमशः] भयङ्कर और मनोहर [शत्रुओंकी विजयके निरोधक] भुजार्गलसे युक्त, और तुरन्त ही भृकुटिसे अङ्कित ललाटपट्टवाले हे भयङ्कर [भीम] राजन् ! आप [भीमसेनके समान] शोभित हो रहे हैं । ७७ । [४]

यहाँ [भीषणीय पदमें 'कृत्यल्युटो बहुलम' इस बाहुलकसे कर्तामें अनीयर प्रत्यय होकर भीम पद बना है इसलिए उसका अर्थ] भयङ्कर [राजा]का भीमसेन उपमान है [यह बात भीम इस पदसे ध्वनित होती है । इसलिए यह पदद्योत्य वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यका उदाहरण हुआ] ।

आगे पद-प्रकाश्य वस्तुव्यङ्ग्यका उदाहरण देते हैं—

अन्य लोगोंकी उपस्थितिमें उपनायकके आ जानेपर उसके आगमन-जन्य हर्षको अप्रस्तुत-प्रशंसाके व्याजसे व्यक्त करती हुई नायिका कह रही है—

भुक्ति [अर्थात् कर्मकाण्ड-साध्य स्वर्गादि भोग] और [ज्ञानकाण्ड-साध्य] मुक्तिको प्रदान करनेवाला, नियम [एकान्त अव्यभिचार] से [हितसाधनताका] सम्यक् उपदेश देनेमें तत्पर, सत् [समीचीन], आगम[वेद] किसके लिए आनन्ददायक नहीं होता है । [यह इस श्लोकका वाच्य अर्थ है । व्यङ्ग्य-पक्षमें उसका अर्थ इस प्रकार होगा कि—भुक्ति अर्थात् सुरतभोग और मुक्ति अर्थात् विरहदुःखसे मुक्ति दिलानेवाला तथा एकान्त समादेशनतत्पर अर्थात् एकान्त संकेतस्थानके सेवनकी प्रेरणा देनेमें तत्पर, सत् अर्थात् सुन्दर प्रियका आगमन किस स्त्रीके लिए आनन्द-दायक नहीं होता है] । ७८ । [५]

यहाँ कोई [नायिका] संकेत देनेवाले [उपनायक] को मुख्य [अर्थात् प्रधान] व्यञ्जनावृत्तिसे कह रही है ।

यहाँ व्यङ्ग्य अर्थकी प्रतीति मुख्य रूपसे 'सदागमः' इस पदसे होती है इसलिए यह पद-द्योत्य ध्वनिका उदाहरण माना गया है । उसमें वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्य है ।

सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः ।
आश्चर्यं तव सौकुमार्यमभितः क्लान्ताऽसि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥ ७९ ॥ [६]

अत्र वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्ताऽसीति वस्तु अधुनापदद्योत्यं व्यज्यते ।

तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥ ८० ॥

यहाँ 'मुख्यया वृत्या' इन शब्दोंके अर्थके विषयमें टीकाकारोंमें मतभेद है। वैसे तो मुख्य वृत्ति अभिधा कहलाती है। पर मुख्यका अर्थ प्रधान भी होता है और व्यञ्जना सब वृत्तियोंमें प्रधान है इसलिए मुख्य-वृत्ति शब्दसे कुछ टीकाकार व्यञ्जना-वृत्तिका ग्रहण करते हैं। दूसरे लोग यह कहते हैं कि यह उदाहरण—अभिधा-मूला व्यञ्जनाके दिये जा रहे हैं इसलिए अभिधामूला व्यञ्जना भी मुख्यवृत्ति कही जा सकती है।

पदद्योत्य संलक्ष्यक्रम अर्थशक्त्युत्थ स्वतः सम्भवी ध्वनिके चार उदाहरण—

संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यके शब्दशक्तिमूल भेदके पद-प्रकाश्य भेदोंके दो उदाहरण देनेके बाद अब अर्थशक्तिमूल बारह भेदोंके पद-प्रकाश्य बारह उदाहरण प्रारम्भ करते हैं। सबसे पहिले स्वतः-सम्भवी पद-प्रकाश्य वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्यका उदाहरण देते हैं—

उपपतिके साथ सम्भोग करनेके बाद उसकी श्रान्तिको मिटानेके लिए स्नान करके आई हुई किसी नायिकाके प्रति उसके चौर्य-रतके रहस्यको ताड़ लेनेवाली सखी उससे व्यङ्ग्यपूर्वक कह रही है—

[हे सखि] तुमने सायङ्कालके समय भली प्रकार स्नान [उपासित] किया है [इसलिए श्रमका कोई अवसर नहीं जान पड़ता है। उसपर भी] शरीरमें चन्दनका लेप करवाया है [स्वयं लेप नहीं किया बल्कि किसी अन्यसे करवाया है इसलिए लेपनके श्रमका भी प्रश्न नहीं है] अम्बरमणि [अर्थात् सूर्य] अस्ताचलके शिखरपर पहुँच चुके हैं [अथवा अस्ताचलमौलिं अतिक्रम्य यातः अर्थात् अस्ताचलके शिखरका अतिक्रमण कर अस्त भी हो चुके हैं] और तुम धीरे-धीरे टहलती हुई यहाँतक आयी हो [इसलिए श्रान्तिका कोई कारण प्रतीत नहीं होता है फिर भी] तुम बुरी तरह थक रही हो और [थकावटके कारण] तुम्हारी आँखें मुँदी जा रही हैं; तुम्हारी इस सुकुमारताको देखकर आश्चर्य होता है ॥ ७९ ॥ [६]

यहाँ [श्लोकोक्त अर्थरूप] वस्तुसे पर-पुरुषके साथ सम्भोग करनेके कारण ही इतनी थक रही हो यह बात 'अधुना' पदसे द्योत्य वस्तु रूपमें व्यक्त हो रही है।

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिके स्वतःसम्भवी भेदमें पद-द्योत्य वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य ध्वनिके उदाहरणरूपमें दो पद्योंका युग्म आगे देते हैं—यह पद्य विष्णु-पुराणसे लिये गये हैं—

उन [कृष्ण] के प्राप्त न होनेके महादुःखसे जिसके सारे पापोंका नाश हो गया है। और उन [कृष्ण] के चिन्तनसे उत्पन्न परमानन्दसे जिसके सारे पुण्यसमूहका नाश हो गया है—

चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुछ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका ॥ ८१ ॥ [७]

अत्र जन्मसहस्रैरुपभोक्तव्यानि दुष्कृतसुकृतफलानि वियोगदुःखचिन्तनाह्लादाभ्यामनुभूतानीत्युक्तम् । एवं च अशेष-चयपदद्योत्ये **अतिशयोक्ती** ।

क्षणदाऽसावक्षणदा वनमवनं व्यसनमव्यसनम् ।
बत वीर ! तव द्विषतां पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वम् ॥ ८२ ॥ [८]

अत्र शब्दशक्तिमूलविरोधाङ्गेनार्थान्तरन्यासेन विधिरपि त्वामनुवर्त्तते इति सर्व-पदद्योत्यं वस्तु ।

[इस प्रकार पुनर्जन्मके हेतुभूत समस्त पाप तथा पुण्यरूप कर्मोंका नाश हो जानेपर पुनर्जन्मका कारण न रहनेसे और] परब्रह्मस्वरूप जगत्के उत्पादक [विष्णु भगवान्] का ध्यान करती हुई, मूर्च्छित हो जानेसे ['नास्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते' इस उपनिषद् वाक्यके अनुसार] कोई गोपकन्या मुक्तिको प्राप्त हो गयी ॥ ८०-८१ ॥ [७]

यहाँ सहस्रों जन्मोंमें भोगने योग्य पुण्य तथा पापके फल [कृष्णके] वियोगके दुःख तथा [चिन्ता] ध्यानके आनन्दसे ही अनुभव कर लिये, यह कहा गया है । इस प्रकार 'अशेष' तथा 'चय' पदसे द्योत्य दो अतिशयोक्ति [अलङ्कार व्यङ्ग्य] हैं ।

आगे स्वतःसम्भवी अलङ्कारसे पद-द्योत्य वस्तुध्वनिका उदाहरण देते हैं—

हे वीर [राजन्], तुम्हारे विमुख हो जानेपर सभी कुछ तुम्हारे शत्रुओंके विपरीत हो गया है [क्षणदा अर्थात् सुखादिके देनेवाली] आनन्ददायिनी रात्रि उनके लिए निरानन्दमयी [अक्षणदा], वन [उनका 'अवन' अर्थात्] रक्षास्थान [दूसरे पक्षमें वनके विपरीत अ-वन] और [अवीनां असनं अव्यसनम् दूसरे पक्षमें व्यसन-विरोधी] भेड़-बकरी चराना उनका [अव्यसन] जीवन बितानेका साधन [व्यसन] पेशा बन गया है । ८२ । [८]

यहाँ [क्षणदा-अक्षणदा इत्यादि शब्दोंकी शक्तिसे प्रतीत होनेवाले शक्तिमूलक] विरोधके [अङ्ग] उपपादक [तुम्हारे पराङ्मुख हो जानेसे सब ही पराङ्मुख हो गया इस] अर्थान्तरन्यास [अलङ्कार] से, विधि भी तुम्हारा [तुम्हारी इच्छाका] अनुसरण करता है यह 'सर्व' पद द्योत्य वस्तु [व्यङ्ग्य है] ।

[सू० १६५] सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥

सामान्यका विशेषसे अथवा विशेषका सामान्यसे समर्थन होनेपर 'अर्थान्तरन्यास' होता है । यह 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कारका लक्षण किया गया है । यहाँ 'त्वयि' तुम्हारे विपरीत हो जानेपर, इस विशेष अर्थसे सबका पराङ्मुख हो जाना इस सामान्य अर्थका समर्थन मान कर अर्थान्तरन्यास-अलङ्कार कहा है ।

प्रधान पुरुषके विरुद्ध हो जानेपर अन्य सबका भी विपरीत हो जाना लोकसिद्ध अर्थ है । इसलिए स्वतःसम्भवी अर्थान्तरन्यास अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्यका यह उदाहरण दिया गया है । इसमें मुख्य रूपसे सर्व पदकी द्योतकता है । इसलिए इसको पद-द्योत्य ध्वनि माना है ।

तुह वल्लहस्स गोसम्मि आसि अहरो मिलाणकमलदलो ।
इअ णववहुआ सोऊण कुणइ वअणं महिसँमुहम् ॥८३॥ [९]
[तव वल्लभस्य प्रभाते आसीदधरो म्लानकमलदलम् ।
इति नववधूः श्रुत्वा करोति वदनं महीसम्मुखम् ॥ इति संस्कृतम]

अत्र रूपकेण त्वयाऽस्य मुहुर्मुहुः परिचुम्बनं तथा कृतं येन म्लानत्वमिति मिलाणादिपदद्योत्यं **काव्यलिङ्गम्** ।

एषु स्वतःसम्भवी व्यञ्जकः ।

राईसु चंदधवलासु ललिअमप्फालिऊण जो चावम् ।
एकच्छत्तं विअ कुणइ भुअणरज्जं विजंभंतो ॥८४॥ [१०]
[रात्रिषु चन्द्रधवलासु ललितमास्फाल्य यश्चापम् ।
एकच्छत्रमिव करोति भुवनराज्यं विजृम्भमाणः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र वस्तुना येषां कामिनामसौ राजा स्मरस्तेभ्यो न कश्चिदपि तदादेशपराङ्मुख इति जाग्रद्भिरुपभोगपरैरेव तैर्निशाऽतिवाह्यते इति भुअणरज्जपदद्योत्यं वस्तु प्रकाश्यते ।

निशितशरधियाऽर्पयत्यनङ्गो दृशि सुदृशः स्वबलं वयस्यराले ।
दिशि निपतति यत्र सा च तत्र व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्थाः॥८५॥[११]

सवेरे तुम्हारे पतिका अधरोष्ठ मुर्झाये हुए कमल-दलके समान हो रहा था । [सखीके मुखसे] यह सुनकर नववधूने मुख नीचा कर लिया ॥ ८३ ॥ [९]

यहाँ [ओष्ठ कमलदल था इस] रूपकसे तुमने वार-वार इतना अधिक उसका चुम्बन किया जिससे म्लानत्व हो गया, यह म्लानादि पदद्योत्य काव्यलिङ्ग [व्यङ्ग्य] है ।

इन [चारों उदाहरणों]में स्वतःसम्भवी व्यञ्जक है ।

अर्थशक्त्युत्थ कविप्रौढोक्तिसिद्ध पदद्योत्य ध्वनिका उदाहरण—

चन्द्रमासे उज्ज्वल धवलवर्ण रात्रियोंमें प्रकट होता हुआ [विजृम्भमाणः] जो [कामदेव बाण आदिका प्रयोग किये बिना केवल] धनुषकी टङ्कारमात्रसे सारे संसारपर एकच्छत्र राज्य-सा करता है । ८४ ॥ [१०]

यहाँ जिन कामी [स्त्री-पुरुषोंका] यह कामदेव राजा है उनमेंसे कोई भी उसकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता है । और वे सब [सारी रात] जागते हुए और उपभोग करते हुए ही सारी रात बिताते हैं यह बात [भुअणरज्ज] 'भुवनराज्य' पदसे द्योत्य हो रही है । ८४ ।

१२—कामदेव नवयौवनकी अवस्थामें [कामिनियोंके कटाक्षको [अपना] तीक्ष्ण बाण मानकर [उनके प्रहारको सफल बनानेके लिए] अपनी [सारी] शक्ति दे देता है इसलिए वह [कामिनियोंकी दृष्टि] जिस ओर पड़ता है वहाँ इकट्ठी ही [एक साथ ही कामकी] सब अवस्थाएँ प्रकट हो जाती हैं । ८५ । [११]

अत्र वस्तुना युगपदवस्थाः परस्परविरुद्धा अपि प्रभवन्तीति व्यतिकरपदद्योत्यो विरोधः ।

वारिज्जन्तो वि पुणो सन्दावकदत्थिएण हिअएण ।
थणहरवअस्सएण विसुद्धजाई ण चलइ से हारो ॥८६॥१२॥
[वार्यमाणोऽपि पुनः सन्तापकदर्थितेन हृदयेन ।
स्तनभरवयस्येन विशुद्धजातिर्न चलत्यस्या हारः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र विशुद्धजातित्वलक्षणहेत्वलङ्कारेण हारोऽनवरतं कम्पमान एवास्ते इति णचलइपदद्योत्यं वस्तु ॥

यहाँ [श्लोक वर्णित] वस्तुसे परस्पर विपरीत [हँसना-रोना आदि कामकी उपर्युक्त] अवस्थाएँ एक साथ प्रकट हो जाती हैं यह 'व्यतिकर' पदसे द्योत्य विरोध [अलङ्कार व्यङ्ग्य] है ।

कामकी दस अवस्थाएँ निम्नलिखित मानी गई हैं—

दृङ्-मनः सङ्ग-सङ्कल्पा जागरः कृशताऽरतिः ।
ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ॥

कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध पदद्योत्य अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्यका उदाहरण देते हैं—

विपरीत सुरतके कालमें नायिकाके वक्षःस्थलपर स्तन-स्पर्श-प्रतिबन्धक हारके कारण जब स्तनोंका पूर्ण स्पर्श नहीं हो पाता है, सन्तापसे खिन्न होकर नायक उसको बार-बार बीचमेंसे हटानेका प्रयत्न करता है, परन्तु वह हार फिर उसके स्तनोंके ही ऊपर आ जाता है, मानों मित्र स्तनोंकी अतिपीड़नसे रक्षा करनेके लिए ही उच्च शुद्ध जातिके मोतियोंसे बना हुआ हार अपने मित्रोंको छोड़कर नहीं जाता है और स्तनोंके ऊपर निरन्तर हिल रहा है; यह इस श्लोकका भाव है । शब्दार्थ इस प्रकार है—

[स्तनके स्पर्शमें निरन्तर बाधा पड़नेके कारण] सन्तापसे व्याकुल हृदय [नायक] के द्वारा हटाया जानेपर भी विशुद्ध जाति [के मोतियों] का [बना हुआ इस विपरीत सुरतमें प्रवृत्त नायिकाका] हार अपने मित्र स्तनोंसे [स्तनोंको छोड़कर] नहीं हटता है । [बराबर स्तनोंपर ही झूल रहा है] ।८६। [१२]

यहाँ विशुद्धजातित्व रूप हेतु [होनेके कारण काव्यलिङ्ग] अलङ्कारसे हार [हटानेपर भी निरन्तर स्तनोंके ऊपर] झूल रहा है । यह चलन-पदद्योत्य वस्तु व्यक्त होती है ।

यहाँ 'स्तनभरवस्येन न चलति' इस वाक्यांशमें 'वयस्येन'में या साधारणतः तृतीयाके स्थानपर पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग होना चाहिये था । परन्तु कविने 'अव्यथन'में पञ्चम्यर्थमें ही यहाँ तृतीयाका प्रयोग किया है । इसलिए 'वयस्येन न चलति'का अर्थ 'वयस्यतो न चलति' होता है । इस प्रकारके प्रयोगका समाधान पाणिनिके 'अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्तरि तृतीयायाः' ५-४-४६ इस सूत्रके आधारपर किया जा सकता है । इस सूत्रमें 'अव्यथन'का अर्थ 'अचलन' है । उस 'अचलन' आदि अर्थमें तृतीयासे तसि—प्रत्ययका विधान किया गया है, इसलिए यहाँ भी 'अव्यथन' अर्थमें 'वयस्येन न चलति' इस तृतीया विभक्तिके प्रयोगका उपपादन किया जा सकता है ।

सो मुद्धसामलङ्गो धम्मिल्लो कलिअललिअणिअदेहो ।
तीए खंधाहि बलं गहिअ सरो सुरअसङ्गरे जअइ ॥८७॥ [१३]
[स मुग्धश्यामलाङ्गो धम्मिल: कलितललित निजदेहः ।
तस्याः स्कन्धाद्बलं गृहीत्वा स्मरः सुरतसङ्गरे जयति ॥इति संस्कृतम्]

अत्र रूपकेण मुहुर्मुहुराकर्षणेन तथा केशपाशः स्कन्धयोः प्राप्तः यथा रतिविरतावप्यनिवृत्ताभिलाषः कामुकोऽभूदिति खंधपदद्योत्या **विभावना**—

एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः ।

यह कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्यका उदाहरण दिया गया है। यहाँ रूपकालङ्कारसे विभावना अलङ्कार व्यङ्ग्य बतलाया है। इसमें सुरत-सङ्गर पदसे सुरतके ऊपर 'सङ्गर' अर्थात् युद्धका आरोप किया गया है। इसीलिए नायिकाके स्कन्ध अर्थात् कन्धेपर सेनाके 'स्कन्ध' अर्थात् छावनीका आरोप किया गया है। यह 'स्कन्ध' शब्द छावनी तथा कन्धा दोनों अर्थोंका वाचक होनेसे और 'बल' पद शक्ति तथा सेना दोनोंका वाचक होनेसे शिलष्ट हैं। जैसे युद्धमें पराजित होनेके कारण लौटते हुए सेनापतिको यदि किसी अन्य स्कन्धावार या छावनीसे सेनाकी कुमक मिल जाती है तो वह फिर युद्धके लिए उद्यत हो जाता है। इसी प्रकार नायिकाका सुन्दर और श्यामल स्वरूपवाला जो धम्मिल अर्थात् केशपाश है वही 'स्मर' कामदेव है। सुरतकी पूर्वावस्थामें बार-बार आकर्षणके कारण खुलकर वह केशपाश नायिकाके कन्धोंके ऊपर गिर गया है। उससे नायकको वह नायिका और भी सुन्दर लगने लगती है। और थोड़ी देरमें उसका सुरताभिलाष पुनः उद्दीप्त हो उठता है। मानों स्मर उस स्कन्धावारसे नवीन बल या सैन्य प्राप्त कर फिर युद्धके लिए उद्यत हो जाता है। इस प्रकार उस नायिकाके स्कन्धोंसे बलको प्राप्त करके नायिकाका केशपाश-रूप स्मर, सुरत-संग्राममें विजयी या सर्वोत्कर्षशाली प्रतीत होता है। यह इस श्लोकका भाव है। शब्दार्थ निम्नलिखित है—

१४ [एक बारके सुरत-सम्भोगके बाद दुबारा फिर] **अपने सुन्दर स्वरूपको प्राप्त हुआ सुन्दर और श्यामल [नायिकाका] वह केश-पाश [रूप कामदेव] उस [नायिका] के स्कन्धसे बल प्राप्तकर सुरत-समरमें सर्वोत्कर्षको प्राप्त होता है ॥ ८७ ॥ [१३]**

यहाँ [धम्मिल-रूप कामदेव इस] रूपक [अलङ्कार] से, बार-बार खींचे जानेसे केशपाश इस सुन्दर रूपसे कन्धोंपर गिरा है कि जिससे [एक बार] सुरतके समाप्त हो जानेपर भी कामुकका [सम्भोगका] अभिलाष पूर्ण नहीं हुआ [वह पुनः सम्भोगके लिए तैयार] यह 'स्कन्ध' पदसे विभावना अलङ्कार द्योतित होता है।

इन [चारों श्लोकों] में [व्यञ्जक अर्थ] कविकी प्रौढोक्तिमात्रसे निष्पन्न है।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध पदद्योत्य ध्वनिके चार उदाहरण—

आगे कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध पदद्योत्य वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्यका उदाहरण देते हैं—

वृद्धा परवधूके प्रति अनुरक्त अपने पतिके प्रति खण्डिता नायिकाकी यह उक्ति है। जैसे पूर्णिमाका चन्द्रमा जब निकलता है उस समय रात्रिके प्रारम्भमें थोड़ी देरके लिए रक्त वर्ण होता है फिर बादको उस प्रकारका रक्त वर्ण नहीं रहता है। इसी प्रकार यह नायक भी क्षणिक अनुराग रखनेवाला है। इसलिए नायिका उसको उलाहना देती हुई कह रही है कि—

णवपुण्णिमामिअंकस्स सुहअ को तं सि भणसु मह सच्चम् ।

का सोहग्गसमग्गा पओसरअणिव्व तुह अज्ज ॥८८॥ [१४]

[नवपूर्णिमा मृगाङ्कस्य सुभग कस्त्वमसि भण मम सत्यम् ।

का सौभाग्यसमग्रा प्रदोषरजनीव तवाद्य ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र वस्तुना मयीवान्यस्यामपि प्रथममनुरक्तस्त्वं न तत, इति णवेत्यादि-पओसेत्यादिपदद्योत्यं वस्तु व्यज्यते ।

सहि णवणिहुवणसमरम्मि अंकवालीसहीए णिविडाए ।

हारो णिवारियो व्विअ उच्छेरन्तो तदो कहं रमिअम् ॥८९॥ [१५]

[सखि नवनिधुवनसमरेऽङ्कपालीसख्या निविडया ।

हारो निवारित एवोच्छ्रियमाणस्ततः कथं रमितम् ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र वस्तुना हारच्छेदानन्तरमन्यदेव रतमवश्यमभूत् तत्कथय कीदृगिति **व्यतिरेकः** कहंपदगम्यः ।

१५—हे सुभग, सच बतलाओ कि नवीन [सद्यः उदित हुए] पूर्णिमाके चन्द्रमाके तुम कौन लगते हो [जो उसीके समान क्षणिक अनुरक्त होते हो और बादको तुम्हारा वह अनुराग न जाने कहाँ चला जाता है]। और प्रदोषरजनीके समान आज सम्पूर्ण सौभाग्ययुक्त तुम्हारी [क्षणिक अनुरागशालिनी नायिका] कौन है ॥ ८८ ॥ [१४]

यहाँ [श्लोकोक्त] वस्तुसे मेरे समान अन्यमें भी पहले] तुम अनुरक्त हुए थे, बादको [अनुरक्त] नहीं [रहे] यह णव [नव] इत्यादि और 'पओस' [प्रदोष] इत्यादि पदसे द्योत्य वस्तु व्यङ्ग्य है।

'प्रदोषो रजनीमुखम्' इस कोशके अनुसार रात्रिका प्रारम्भिक भाग 'प्रदोष' कहलाता है। प्रदोष पदसे यहाँ नायिकाका स्वरूप तथा चरित्रादिविषयक मालिन्य और नव पूर्णिमामृगाङ्क पदसे नायकका क्षणिकानुरागित्व तथा कलङ्कित्व आदि व्यक्त होता है।

आगे कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यका उदाहरण देते हैं—किसी नवोढा नायिकाकी अत्यन्त विश्वस्त प्रिय सखी, उससे सुरत-वृत्तकी चर्चा करते हुए कह रही है कि—

१६—हे सखि, प्रथम बारके [नवीन] सुरत समरमें गाढ आलिङ्गन [अङ्कपाली परीरम्भे] रूप सखीने स्तनोंके ऊपर झूलता हुआ [और आलिङ्गनमें बाधक] हार तो [तोड़कर] हटा ही दिया फिर तुमने कैसे रमण किया [यह तो तनिक बतलाओ] ॥८९॥ [१५]

यहाँ हारके टूट जानेके बाद [प्रौढ़ा स्त्रियोंके सुरतसे भी अधिक आनन्ददायक] कुछ अन्य ही प्रकारका सम्भोग अवश्य हुआ होगा। सो बतलाओ, वह कैसा था? इस [प्रश्न] से [उस सम्भोगका अन्य प्रौढा स्त्रियोंके सम्भोगसे अधिक आल्हाद-दायकत्व रूप] व्यतिरेक [अलङ्कार] 'कहं' [कथम्] पदसे व्यक्त होता है। [इसलिए यह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे अलङ्कार-व्यङ्ग्यका उदाहरण है]।

पविसन्ती घरवारं विवलिअवअणा विलोइऊण पहम् ।
खंधे घेत्तूण घणं हाहा णट्ठोत्ति रुअसि सहि किंति ॥९०॥ [१६क]

[प्रविशन्ती गृहद्वारं विवलितवदना विलोक्य पन्थानम् ।
स्कन्धे गृहीत्वा घटं हा हा नष्ट इति रोदिपि सखि किमति ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र **हेत्वलङ्कारेण** सङ्केतनिकेतनं गच्छन्तं दृष्ट्वा यदि तत्र गन्तुमिच्छसि तदा अपरं घटं गृहीत्वा गच्छेति वस्तु किंतिपदद्योत्यम् ।

यथा वा—

विहलंखलं तुमं सहि दट्ठूण कुडेण तरलतरदिट्ठिम् ।
वारप्फंसमिसेण अ अप्पा गुरुओत्ति पाडिअ विहिण्णो ॥९१॥[१६ख]

[विश्रृङ्खलां त्वां सखि दृष्ट्वा कुटेन तरलतरदृष्टिम् ।
द्वारस्पर्शमिषेण चात्मा गुरुक इति पातयित्वा विभिन्नः ॥ इति संस्कृतम्]

आगे कविबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे वस्तुकी व्यञ्जनाका उदाहरण देते हैं। जल भरनेके बहाने संकेतस्थानको जाकर भी वहाँ प्रच्छन्न कामुकको न पाकर वापिस आयी नायिका जब अपने घरके दरवाजेके भीतर घुसने लगी तब उसने प्रच्छन्न कामुकको संकेतस्थानकी ओर जाते हुए देखा। तो उसने जानबूझकर घड़ेको गिराकर फोड़ दिया ताकि उसे दुबारा पानी लानेके लिए जानेका अवसर मिल जाय। और दिखलानेके लिए रोने लगी कि हाय मेरा घड़ा फूट गया। उसकी सखी इस बातको ताड़ गयी। वह उससे कहती है कि तुम रोती क्यों हो। जाओ, दूसरा घड़ा लेकर दुबारा पानी भर लाओ। मैं तुम्हारे घरवालोंसे तुम्हारे दुबारा जानेका समाधान कर दूँगी। यह इस श्लोकका गूढ़ अभिप्राय है। शब्दार्थ इस प्रकार है—

१६—कन्धेपर घड़ा लिये हुए घरके दरवाजेमें घुसते हुए और मुख फेरकर मार्गको देखते हुए [घड़ेको गिराकर] हाय-हाय घड़ा फूट गया ऐसा कहकर क्यों रो रही है।९०। [१६ क]

यहाँ [घड़ा फूट गया इसलिए रो रही है इस प्रकारके कार्यकारण-भावमूलक] काव्यलिङ्ग [हेतु] अलङ्कारसे, यदि [दुबारा फिर] वहाँ जाना चाहती हो तो दूसरा घड़ा लेकर चली जाओ यह वस्तु 'किंति' [किमिति] इस पदसे द्योत्य है।

ग्रन्थकारने इसको 'पदद्योत्य' कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्यके उदाहरण-रूपमें प्रस्तुत किया है। परन्तु यह सब अर्थ केवल कवि-कल्पनामात्रसे ही सिद्ध नहीं है अपितु लोकमें उस प्रकारका व्यवहार भी पाया जाता है। इसलिए इसको पदद्योत्य स्वतःसम्भवी अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्यका उदाहरण भी माना जा सकता है। अतः यह उदाहरण ठीक नहीं है। इस प्रकारकी शङ्का इस उदाहरणके सम्बन्धमें उठायी जा सकती है। इसलिए ग्रन्थकारने इसी कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्यका दूसरा उदाहरण भी आगे दिया है।

अथवा जैसे—

१७—हे सखि, तुमको व्याकुल और अत्यन्त चञ्चलदृष्टि देखकर और अपनेको भारी [अतएव तुम्हारे लिए कष्टदायक] मानकर द्वारके स्पर्शके बहानेसे घड़ेने अपने आपको गिराकर फोड़ डाला [तुमने नहीं फोड़ा है]।९१। [१६ख]

अत्र नदीकूले लतागहने कृतसङ्केतमप्राप्तं, गृहप्रवेशावसरे पश्चादागतं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारोपघातव्याजेन बुद्धिपूर्वं व्याकुलतया[1] त्वया घटः स्फोटित इति मया चिन्तितम् , तत्किमिति नाश्वसिषि, तत्समीहितसिद्धये व्रज, अहं ते श्वश्रूनिकटे सर्वं समर्थयिष्ये इति द्वारस्पर्शनव्याजेन **इत्यपह्नुत्या** वस्तु ।

जोह्लाइ महुरसेण अ विइण्ण तारुण्ण उस्सुअमणा सा ।
वुड्ढाविण वोढव्विअ परवहुआ अहह हरइ तुह हिअअम् ॥९२॥ [१७]

ज्योत्स्नया मधुरसेन च वितीर्णतारुण्योत्सुकमनाः सा ।
वृद्धापि नवोढेव परवधूरहह हरति तव हृदयम् ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र **काव्यलिङ्गेन** वृद्धां परवधूं त्वमस्मानुज्झित्वाऽभिलषसीति त्वदीयमाचरितं वक्तुं न शक्यमित्याक्षेपः परवधूपदप्रकाश्यः ।

एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः । वाक्यप्रकाश्ये तु पूर्वमुदाहृतम् । शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवस्तु पदप्रकाश्यो न भवतीति पञ्चत्रिंशद्भेदाः ।

यहाँ नदीके किनारे लताकुञ्जमें संकेत-स्थान नियत करके [समयपर वहाँ] न पहुँचनेवाले [बादमें नायिकाके वहाँ प्रतीक्षा करनेके बाद वापिस आ जानेपर] घरमें घुसते समय पीछे-पीछे आते हुए [उपपति]को देखकर फिर नदीपर जानेके लिए व्याकुल होनेके कारण तुमने जानबूझकर घड़ा फोड़ दिया यह मैं समझ गयी [मया चिन्तितम्], किन्तु तुम घबड़ाती क्यों हो, अपने कार्यकी सिद्धिके लिए निश्चिन्त होकर जाओ। तुम्हारी सासके सामने मैं सब समाधान कर दूँगी यह [वस्तु] 'द्वारके स्पर्शके बहानेसे' इस अपह्नुति [अलङ्कार] से व्यक्त होती है।

यहाँ अचेतन घटमें 'अपने आपको गिराकर फोड़ दिया' इस प्रकार चेतनधर्मका अध्यारोप किया गया है। अतः तन्मूलक अपह्नुतिकी प्रौढोक्तिसिद्धता होनेसे यह कविनिबद्धवक्तृप्रौढौक्तिसिद्ध अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्यका उदाहरण है। अलङ्कारसे अलङ्कारकी व्यक्तिका उदाहरण आगे देते हैं—

१८—चाँदनी और मधु [अर्थात् वसन्त तथा मद्य] के रससे जिसमें तारुण्यकी उमङ्ग आ गयी है वह वृद्धा परवधू भी नवोढाके समान तुम्हारे [मन] को हरण कर रही है यह बड़े आश्चर्यकी बात है।९२। [१७]

यहाँ [पर वधू होनेमात्रसे ही वह तुम्हारे हृदयको हरण कर रही है इस] काव्यलिङ्ग अलङ्कारसे तुम हमको [अर्थात् हमारी सरीखी नवयौवनाको] छोड़कर बूढ़ी परवधूको चाह रहे हो, तुम्हारे इस आचरणको क्या कहा जाय यह समझमें नहीं आता है, यह आक्षेप [अलङ्कार] 'वधू' पदसे प्रकाशित होता है।

इन [चारों उदाहरणोंमें व्यञ्जक अर्थ] कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसे सिद्ध है। [इस प्रकार ध्वनि-काव्यके सत्रह भेदोंके पदद्योत्य सत्रह उदाहरण यहाँ दिये गये हैं]। वाक्यसे प्रकाश्य [इन सत्रह भेदों] के उदाहरण पहिले दिये जा चुके हैं। [इस प्रकार यहाँतक ३४ प्रकारके ध्वनिकाव्यके उदाहरण दिये जा चुके हैं] शब्द

1. व्याकुलया ।

[६०]-प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥४२॥

यथा गृध्रगोमायुसंवादादौ—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसङ्कुले ।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥९३॥
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥९४॥

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरमिदं वचनम् ।

तथा अर्थ उभयकी शक्तिसे उत्थित [ध्वनि तो केवल वाक्यसे द्योतित होनेके कारण] पद-प्रकाश्य नहीं होता है इसलिए [उक्त ३४ भेदोंके साथ इसके एक भेदको और बढ़ा देनेसे ध्वनिके] ३५ भेद होते हैं ।

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिके प्रबन्धगत बारह भेद—

ध्वनिकाव्यके ५१ मुख्य भेद दिखलाने हैं । उनमेंसे यहाँतक पैंतीस भेदोंका विस्तार दिखलाया गया है । आगे उसका और विस्तार दिखलायेंगे । ये जो पैंतीस भेद दिखलाये हैं इनमेंसे अर्थशक्त्युथ ध्वनि १२ वाक्यद्योत्य तथा १२ पदद्योत्य भेद दिखलाये जा चुके, इनके अतिरिक्त उसके १२ प्रबन्ध-द्योत्य भेद भी होते हैं । इनको मिलाकर ३५ + १२=४७ भेद हो जाते हैं । प्रबन्धगत १२ भेदोंको आगे कहते हैं—

[सू० ६०]—अर्थशक्युत्थ [ध्वनि] के प्रबन्धमें भी [बारह भेद और] होते हैं ।

जैसे [महाभारतके शान्तिपर्व अ० १५३ में दिये हुए] गिद्ध और शृगालके संवादके आदिमें [प्रबन्धगत अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि इस प्रकार पायी जाती है]—

महाभारतके शान्तिपर्वके १५३वें अध्यायमें मरे हुए बालकको देखकर, दिनमें ही मृतमांसके भक्षणमें समर्थ गिद्ध, उस बालकके सम्बन्धियोंको बालकको छोड़कर घर लौट जानेकी प्रेरणा करता हुआ कह रहा है—

१—गिद्धों तथा सियारोंसे भरे हुए, ठठरियोंसे परिपूर्ण, वीभत्स और सब प्राणियोंके लिए भयङ्कर श्मशानमें ठहरना व्यर्थ है । ९३ ।

[कालधर्म अर्थात्] मृत्युको प्राप्त हुआ कोई व्यक्ति वह चाहे [किसीका प्रिय] मित्र हो या शत्रु हो, फिर जीवित नहीं हो सकता है [या नहीं हुआ है], सब प्राणियोंकी [एक दिन] यही गति [होनी] है ।९४ ।

[केवल] दिनमें [देखने और उस मांसभक्षणमें] समर्थ गिद्धका [मृत बालकके सम्बन्धी] पुरुषोंको बिदा करने-परक यह वचन है ।

इसके विपरीत रात्रिमें देख सकने और गिद्ध आदिके विघ्नोंसे रहित निश्चिन्त होकर भक्षण करनेमें समर्थ शृगाल यह चाहता है कि ये लोग अभी सूर्यास्त होनेतक यहाँ बैठे रहें ताकि उनके रहनेसे गिद्ध आदि इस बालकके मृत शरीरको न खा सकें और सूर्यास्तके बाद गिद्ध आदिके असमर्थ हो जानेसे साराका सारा मुझे निश्चिन्त होकर खानेको मिल जाये । इसलिए वह उस मृत बालकके सम्बन्धियोंको समझाता हुआ कह रहा है—

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत सांप्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्त्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥९५॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात् कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥९६॥

इति निशि विजृम्भमाणस्य गोमायोर्जनव्यावर्त्तननिष्ठं च वचनमिति । प्रबन्ध एव प्रथते । अन्ये त्वेकादश भेदा ग्रन्थविस्तरभयान्नोदाहृताः । स्वयन्तु लक्षणतोऽनुसर्त्तव्याः । अपिशब्दात् पदवाक्ययोः ।

[६१]–पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः ।

तत्र प्रकृत्या यथा—

अरे मूर्खो [अभीसे क्यों भागे जा रहे हो] देखो, अभी सूर्य स्थित है। अभी इसको प्रेम करो। यह मुहूर्त बहुतसे विघ्नोंसे पूर्ण है। [इस विघ्नमय मुहूर्तके टल जानेपर] कदाचित् यह फिर जी उठे। ९५।

सोनेके समान वर्णवाले और यौवनको [भी] न पहुँचे हुए इस बालकको गिद्धके कहनेसे हे मूर्खो, तुम निःशङ्क होकर कैसे छोड़े जाते हो। ९६।

[विशेष रूप] रात्रिमें समर्थ होनेवाले शृगालका [मृत बालकके सम्बन्धी] लोगोंको रोकने-परक यह वचन है। यह [इस प्रकारका अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि] प्रबन्धमें ही प्रतीत होता है। [प्रबन्धगत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके बारह भेदोंमेंसे यहाँ केवल एक भेदका उदाहरण दिया है] ग्रन्थके विस्तारके भयसे शेष ग्यारह भेदोंके उदाहरण नहीं दिये गये हैं। लक्षणके अनुसार स्वयं समझ लेने चाहियें। ['प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः' इस सूत्र ६० में आये हुए] 'अपि' शब्दसे [यह सूचित होता है कि अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि] पद तथा वाक्य में भी [होता है]।

आधार-भेदसे रसादि ध्वनिके चार भेद—

इस प्रकार यहाँतक ध्वनि-काव्यके ३५+१२=४७ भेद गिनाये जा चुके हैं। ध्वनिके मुख्य ५१ भेदोंमें चार भेदोंकी अभी कमी रह गयी है। उनकी गणना अगले सूत्रमें करते हैं। रसादिमें ध्वनिका पहले केवल एक ही भेद गिना गया था। उसके पदगत तथा वाक्यगत भेदोंकी गणना उसीके अन्तर्गत आ गयी है। परन्तु उनके अतिरिक्त १ पदके एक-देश में अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग आदि २ दीर्घसमासादि रूप, रचना अथवा वैदर्भी आदि रीति-रूप रचनामें, ३ वर्णोंमें और अपि शब्दसे ४ प्रबन्धमें भी हो सकता है। इस प्रकार १ पदैकदेश, २ रचना, ३ वर्ण और ४ प्रबन्धगत रसादिके चार और भेदोंको मिलाकर ध्वनिके कुल ४७+४=५१ भेद हो जाते हैं। उन्हींको आगे दिखलाते हैं—

[सू० ६१]—१ पदके एक-देश [प्रकृति प्रत्यय आदि] २ रचना और ३ वर्णों [और अपि शब्दसे ४ प्रबन्धमें] भी रस आदि [असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि] होता है।

धातुरूप प्रकृति द्वारा रसकी व्यञ्जकता—

उनमेंसे [तिङन्त पदकी] प्रकृतिसे [रसकी व्यञ्जकता] जैसे—

रइकेलिहिअणिअसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वईपरिचुंविअं जअइ ॥९७॥
[रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र जयतीति न तु शोभते इत्यादि । समानेऽपि हि स्थगनव्यापारे लोकोत्तरेणैव व्यापारेणास्य पिधानमिति तदेवोत्कृष्टम् ।

यथा वा—

प्रेयान् सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवानाद्यावन्न यात्युन्मनाः ।
तावत्प्रत्युतपाणिसंपुटगलन्नीवीनिबन्धं धृतो
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ॥९८॥

रतिक्रीडाके समय [पार्वतीके] वस्त्रका अपहरण [कर उनको नंगी] करनेवाले और [पार्वतीके द्वारा] करकिसलयोंसे मूँदी हुई आँखोंवाले, शिवका पार्वतीके द्वारा परिचुम्बित [करके ढका गया] तीसरा नेत्र सर्वोत्कर्ष युक्त है ॥९७॥

यहाँ जयति यह [जि धातुका प्रयोग रसका विशेष रूपसे व्यञ्जक है । इसलिए कविने उसीका प्रयोग किया है, न कि उसके समानार्थक] शोभते आदि [का प्रयोग रसका व्यञ्जक] नहीं है । [यहाँ शिवजीके तीनों नेत्रोंके] बन्द करनेका व्यापार समान होनेपर भी [चुम्बनरूप] लोकोत्तर व्यापारसे इस [तृतीय-नेत्र] को बन्द किया गया है यही उसका [अन्योंकी अपेक्षा] उत्कृष्टत्व है । [इसीके कारण यहाँ 'जयति' पदका प्रयोग किया गया है । यह धातुरूप प्रकृतिके व्यञ्जकत्वका उदाहरण है] ।

प्रातिपदिक द्वारा रसकी व्यञ्जकता—

पदैकदेशके रूपमें तिङन्त पदके एकदेश अर्थात् जि धातुके द्वारा रसव्यञ्जकत्वका उदाहरण 'रतिकेलि' आदि अभी दिया था । अब सुबन्त पदके एकदेश अर्थात् प्रातिपदिकके व्यञ्जकत्वका उदाहरण आगे देते हैं । इसमें 'पदानि' इस पदके एकदेश 'पद' इस प्रातिपदिक रूप अंशसे सम्भोग-शृङ्गारकी विशेष रूपसे अभिव्यक्ति होती है ।

अथवा जैसे [प्रातिपदिक रूप प्रकृतिके व्यञ्जकत्वका दूसरा उदाहरण]--

नायिकाने [मैं सत्य कहता हूँ कि मैं अब कभी किसी अन्य स्त्रीके पास नहीं जाऊँगा इस प्रकारकी] शपथ-पूर्वक [पूर्वापराधकी क्षमाप्राप्तिके लिए नायिकाके] पैरों-पर झुके हुए उस अत्यन्त प्रेमास्पद प्रियतमको फटकार दिया, जिससे खिन्न होकर [बिचारा चल दिया परन्तु] जबतक दो-तीन पग भी न जा पाया था कि तबतक [सम्भोगके उत्कट अभिलाषके कारण] खुली जा रही नीवी [लँहगेकी गाँठ] को [प्रणाम करनेके लिए जोड़े हुए] हाथोंमें थामे हुए और प्रणाम करते हुए दौड़कर उसको रोक लिया । अहो प्रेमकी बड़ी विचित्र गति है ॥ ९८ ॥

अत्र पदानीति न तु द्वाराणि ।

तिङ्सुपोर्यथा—

पथि पथि शुकचञ्चूचारुराभाङ्कुराणां
दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च ।
नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा
पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा ॥९९॥

अत्र किरतीति किरणस्य साध्यमानत्वम् । निवृत्तेति निवर्त्तनस्य सिद्धत्वं तिङा सुपा च । तत्रापि क्तप्रत्ययेनाऽतीतत्वं द्योत्यते ।

यहाँ [दो तीन] 'पग' न कि [दो तीन] द्वार, इस [कथन] से [नायिकाके उत्कट सम्भोगाभिलाष और उसके द्वारा सम्भोग-शृङ्गार रसकी अभिव्यक्ति होती है, इसलिए यह प्रातिपदिकरूप पदैकदेश या प्रकृतिकी रस-व्यञ्जकताका उदाहरण है] ।

प्रत्ययांश द्वारा सम्भोग-शृङ्गारकी व्यञ्जकता—

यहाँ पदैकदेशकी रसव्यञ्जकताके उदाहरण दे रहे हैं। पदका लक्षण पाणिनि मुनिने 'सुप्तिङन्तं पदम्' अर्थात् सुबन्त और तिङन्तको पद कहते हैं इस प्रकारका किया है। इन दोनों प्रकारके सुबन्त और तिङन्त पदोंके प्रकृति भाग अर्थात् धातु तथा प्रातिपदिककी रस-व्यञ्जकताके दो उदाहरण दिखला दिये। अब उन दोनोंके प्रत्ययांशकी रस-व्यञ्जकताका उदाहरण आगे देते हैं।

तिङ् सुप् [रूप प्रत्ययके व्यञ्जकत्व] का [उदाहरण] जैसे—

[वसन्त ऋतुके कारण] प्रत्येक मार्गमें तोतोंकी चोंचके समान [लाल-लाल नवीन] उगे हुए अंकुरोंकी सुन्दर कान्ति [दिखलाई दे रही] है, चारों ओर लताओंको नचानेवाला वायु [वह रहा] है, कामदेव हर एक पुरुषके ऊपर बाणोंका प्रहार कर रहा है और प्रत्येक नगरमें मानिनियोंके मानकी चर्चा समाप्त हो गयी है ॥ ९९ ॥

यहाँ 'किरति' इससे [तिङन्त क्रियापदमें क्रियाके सदा साध्य रूप होनेसे तिङ रूप प्रत्ययांश द्वारा कामदेवके बाणोंके किरण अर्थात्] विक्षेपकी साध्यमानता, और और 'निवृत्ता' इस [सुबन्तपद] से [मानिनियोंकी मानचर्चा होके] समाप्त हो चुकनेका सिद्धत्व [क्रमशः] तिङ और सुप प्रत्ययोंसे [व्यक्त होता है] और उसमें भी 'विनिवृत्ता' इस [पदमें, भूतार्थक] क्त-प्रत्यय से [मानचर्चाका] अतीतत्व द्योतित होता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि अभी कामदेवने पुरुषोंके ऊपर अपने बाण चलाये भी नहीं हैं, शीघ्र चलायेगा अर्थात् पुरुषोंमें तो अभी कामवासनाका उदय भी नहीं हो पाया है, परन्तु स्त्रियाँ उसके बहुत पहले ही अपनी मानचर्चा भूलकर सम्भोगके लिए आतुर हो उठी हैं। यह बात 'किरति' के तिङ्, और 'विनिवृत्ता'के सुप-प्रत्यय, और विशेषकर क्त-प्रत्ययसे द्योतित होती है। क्योंकि क्त-प्रत्यय 'भूते' इस सूत्रसे भूतकालके अर्थमें ही होता है। इसलिए 'विनिवृत्ता' पदके क्त-प्रत्ययसे मानचर्चा अब कहीं नहीं रही, वह अतीतका विषय बन चुकी, यह बात द्योतित होती है। उधर पुरुषोंके साथ 'किरति' पदके प्रयोगसे और क्रियाके साध्य रूप होनेसे पुरुषोंपर कामदेवकी बाणोंका प्रहार अभी 'साध्य' है, अर्थात् 'आगे होगा' यह बात प्रतीत होती है।

यथा वा—

> लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
> निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।
> परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
> स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना ॥१००॥

अत्र लिखन्निति न तु लिखतीति । तथा आस्ते इति, न त्वासित इति अपि तु प्रसादपर्यन्तमास्ते इति । भूमिमिति न तु भूमाविति, न हि बुद्धिपूर्वकमपरं किञ्चिल्लिखतीति तिङ्सुब्विभक्तीनां व्यङ्ग्यम् ।

सम्बन्धस्य यथा—

> गामारुहम्मि गामे वसामि णअरट्ठिइं ण जाणामि ।
> णाअरिआणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि ॥१०१॥

प्रत्ययांश द्वारा विप्रलम्भ-शृङ्गारकी व्यञ्जना—

सुप् तथा तिङ् रूप प्रत्ययांश द्वारा सम्भोग-शृङ्गारकी व्यञ्जनाका उदाहरण दिया था । अब विप्रलम्भ-शृङ्गारकी अभिव्यक्तिका उदाहरण देते हैं । यह श्लोक अमरुकशतकका है । उसमें बहुत दिनोंसे नायकसे रूठी हुई नायिकाको मनानेके लिए उसकी सखी उसको समझाते हुए कह रही है कि—

अथवा [प्रत्यय द्वारा विप्रलम्भ-शृङ्गारकी व्यञ्जकता] जैसे—

तुम्हारे प्राणप्रिय बाहर सिर झुकाये [निरुद्देश्यभावसे] भूमिको कुरेद रहे हैं [उनके दुःखसे दुःखी तुम्हारी सारी] सखियाँ भोजन भी त्याग बैठी हैं और हर समय रोते रहनेसे उनकी आँखें सूज गयीं हैं [न केवल हम लोगोंकी यह अवस्था है अपितु] पिंजड़ेके तोतोंने हँसना और पढ़ना सब कुछ छोड़ दिया है [तुम्हारे सारे प्रिय सम्बन्धियोंकी तो तुम्हारे मानके कारण यह दुर्दशा हो रही है] और तुम्हारी यह अवस्था है [कि तुम मान छोड़नेका नाम ही नहीं ले रही हो] । हे कठोरहृदये, अब तो मानको छोड़ दो ॥१००॥

यहाँ 'लिखन्' यह [कहा है] न कि 'लिखति' यह [लिखन् इस शतृप्रत्ययसे लिखन् क्रियाकी अप्रधानतासे उसके अतात्पर्यविषयत्व तथा अबुद्धिपूर्वकत्वकी सूचना मिलती है । अर्थात् कुछ लिख नहीं रहा है अपितु किंकर्त्तव्यविमूढ अवस्थामें यों ही बैठा हुआ जमीन कुरेद रहा है] उसी प्रकार 'आस्ते' बैठा हुआ है यह [कहा है] न कि 'आसितः' बैठ गया यह [कहा है इससे प्रारब्ध कामकी असमाप्तता-बोधक वर्तमानकालिक तिङ् प्रत्ययसे] तुम्हारे प्रसन्न होनेतक इसी प्रकार बैठा रहेगा यह बात ध्वनित होती है । और 'भूमिम्' भूमिको यह [कहा है] न कि 'भूमौ' अर्थात् भूमिपर यह [इससे यों ही जमीनको कुरेद रहा है] बुद्धि-पूर्वक और कुछ [विशेष बात] नहीं लिख रहा है । यह तिङ्-सुप् विभक्तियोंसे व्यङ्ग्य है ।

सम्बन्ध [अर्थात् षष्ठी विभक्तिके रसव्यञ्जकत्व] का [उदाहरण] जैसे—

[ग्रामरुहास्मि ग्रामे वसामि नगरस्थितिं न जानमि ।
नागरिकाणां पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र नागरिकाणामिति षष्ठ्याः ।

'रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीत्' इति कालस्य । एषा हि भग्नमहेश्वरकार्मुकं दाशरथिं प्रति कुपितस्य भार्गवस्योक्तिः ।

वचनस्य यथा—

ताणँ गुणग्गहणाणं ताणुक्कंठाणं तस्स पेम्मस्स ।
ताणँ भणिआणं सुन्दर ! एरिसिअँ जाअमवसाणम् ॥१०२॥

[तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः ।
तासां भणितीनां सुन्दरेदृशं जातमवसानम् ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र गुणग्रहणादीनां बहुत्वं प्रेम्णश्चैकत्वं द्योत्यते ।

मैं ग्राममें पैदा हुई हूँ, गाँवमें रहती हूँ, और नागरिकोंकी बातें नहीं जानती हूँ, परन्तु नागरिकाओंके पतियोंको वशमें कर लेती हूँ; मैं तो जो हूँ सो हूँ ही ॥१०१॥

यहाँ 'नागरिकाणां' इस षष्ठी विभक्तिकी [रसव्यञ्जकता है] ।

यहाँ 'नागरिकाणां पतीन्' इस सम्बन्धसे नागरिकाओंके पतियोंके चातुर्यका और उनको भी अपने वशमें कर लेनेसे अपने चातुर्यातिशयका बोधन व्यङ्ग्य है । 'षष्ठी चानादरे' २-३-३८ सूत्रसे अनादरार्थमें षष्ठी होनेसे तुम्हारी सरीखी नागरिकताका दम भरनेवालियोंके सामने उनके देखते-देखते उनके पतियोंको अपने वशमें कर लेती हूँ इस प्रकार अपना उत्कर्ष व्यङ्ग्य है ।

प्रत्ययांश द्वारा रौद्ररसकी अभिव्यक्ति—

ये दो उदाहरण प्रत्ययांशकी शृङ्गाररसव्यञ्जकताके दिये हैं । आगे प्रत्ययांश द्वारा रौद्ररसकी व्यञ्जकताका उदाहरण देते हैं—

'क्षत्रियकुमार [रामचन्द्र] सुन्दर था' । यहाँ ['आसीत्' पदसे सूचित भूत] कालकी [रौद्ररस व्यञ्जकता है] । यह [महावीरचरित नामक नाटकमें] शिवधनुषको तोड़ देनेवाले रामचन्द्रके प्रति कुपित हुए परशुरामका वचन है ।

यहाँ कुपित हुए परशुरामके इस वचनसे धनुष तोड़नेके पहिले रामचन्द्र रमणीय था, अब नहीं है, यह प्रतीत होता है । उससे क्षणभरमें ही इसको मार डालूँगा इस प्रकारका परशुरामका क्रोधातिशय सूचित होता है । इसलिए तिङन्त 'आसीत्' पदके प्रत्ययांश लङ्-लकारसे रौद्र-रस व्यङ्ग्य है ।

वचनकी व्यञ्जकताका उदाहरण—

वचन [बोधक प्रत्ययरूप अंशकी रसव्यञ्जकता] का [उदाहरण] जैसे—

हे सुन्दर, उन [पूर्वकालिक] गुण ग्रहणोंकी, उन उत्कण्ठाओंकी, उस प्रेमकी और [उस समयके] उन वचनोंकी आज इस प्रकारकी परिसमाप्ति हुई है ॥१०२॥

यहाँ गुणग्रहण आदिका बहुत्व [नानाविधत्व] और प्रेमका [सदा समान रूपमें रहनेसे] एकविधत्व [क्रमशः बहुवचन तथा एकवचनसे] द्योत्य है ।

पुरुषव्यत्ययस्य यथा—

> रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे ! चेतः ! प्रमुच्य स्थिर-
> प्रेमाणं　महिमानमेणनयनामालोक्य　किं　नृत्यसि ।
> किं　मन्ये　विहरिष्यसे बत　हतां　मुञ्चान्तराशामिमा-
> मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवाराान्निधौ ॥१०३॥

अत्र प्रहासः ।

पूर्वनिपातस्य यथा—

> येषां　दोर्बलमेव　दुर्बलतया　ते　सम्मतास्तैरपि
> प्रायः　केवलनीतिरीतिशरणैः　कार्यं　किमुर्वीश्वरैः ।
> ये क्ष्माशक्र ! पुनः　पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा-
> स्ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥१०४॥

अत्र पराक्रमस्य प्राधान्यमवगम्यते ।

[प्रत्ययांशरूप] पुरुषके परिवर्तनका [रस व्यञ्जकत्वका उदाहरण] जैसे—

[किसी सुन्दरीको देखकर कुछ कालके लिए क्षुब्ध हुए किसी विरक्त पुरुषकी अपने मनके प्रति यह उपहास-परक उक्ति है । वह अपने मनको सम्बोधन करके कह रहा है कि—] चपलनयना सुन्दरीकी इच्छा करनेवाले अरे दुष्ट मन ! [परमात्माके] स्थिर प्रेमको छोड़कर इस अत्यन्त चञ्चल मृगनयनीको देखकर क्यों नाच रहा है ? क्या तू सोचता है कि मैं इसके साथ विहार करूँगा ? अरे अभागे, इस आन्तरिक अभिलाषको छोड़ दे । यह [स्त्री अथवा सम्भोगकी इच्छा] संसारसागरमें [डुबानेके लिए] गलेमें बाँधी गयी पत्थरकी शिला है ॥१०३॥

यहाँ [पुरुष-व्यत्ययसे] प्रहास [व्यङ्ग्य है] ।

श्लोकके तृतीय चरणमें 'किं मन्ये विहरिष्यसे' यह प्रयोग है । इसका अभिप्राय 'त्वं मन्ये अहं विहरिष्ये' होता है । यहाँ 'त्वम्' मध्यम पुरुषके साथ 'मन्ये' इस उत्तम पुरुषका और 'अहं' इस उत्तम पुरुषके साथ 'विहरिष्यसे' इस मध्यम पुरुषकी क्रियाका प्रयोग किया गया है । साधारण नियमके अनुसार 'त्वम् मन्यसे' 'अहं विहरिष्ये' इस प्रकारका प्रयोग होना चाहिये था । परन्तु पाणिनि मुनिने 'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तमैकवच्च' १-४-१०६ सूत्रसे प्रहासके द्योत्य होनेपर 'मन्यति' अर्थात् मन धातुके उपपद रहते पुरुषव्यत्ययका विधान कर मध्यम पुरुषके स्थानपर उत्तम पुरुषका और उत्तम पुरुषके स्थानपर मध्यम पुरुषका प्रतिपादन भी किया है । इसीके अनुसार यहाँ पुरुषका व्यत्यय किया गया है और उस पुरुष-व्यत्ययसे प्रहास व्यङ्ग्य है ।

पूर्वनिपातका [रस-व्यञ्जकताका उदाहरण] जैसे—

हे राजन् ! जिन [राजाओं] के पास केवल बाहु-बल ही है [नीति-बल नहीं है] वे भी दुर्बल माने जाते हैं, और केवल नीति-मार्गका अवलम्बन करनेवाले [बाहु-बलसे रहित] उन [दूसरे प्रकारके] राजाओंसे भी क्या लाभ [केवल नीति-बलपर

विभक्तिविशेषस्य यथा—

प्रधानाध्वनि धीर धनुर्ध्वनिभृति
विधुरैरयोधि तव दिवसम् ।
दिवसेन तु नरप भवानयुद्ध
विधिसिद्ध-साधुवादपदम् ॥१०५॥

अत्र 'दिवसेन' इति अपवर्गे तृतीया फलप्राप्तिं द्योतयति ।

आश्रित रहनेवाले राजा भी श्रेष्ठ नहीं कहे जा सकते हैं] किन्तु हे पृथ्वीन्द्र पराक्रम और नीति [दोनों] को स्वीकार कर सुन्दर रूपसे आचरण करनेवाले [जो राजा होते हैं वे ही राजा प्रशंसाके योग्य होते हैं परन्तु] संसारमें आपके समान पवित्र वे राजा दो-तीनसे अधिक नहीं निकलेंगे ॥१०४॥

यहाँ [पूर्वनिपात] से पराक्रमका प्राधान्य सूचित होता है ।

यहाँ 'पराक्रम-नय-स्वीकारकान्तक्रमाः' इस समस्त पदमें 'पराक्रम' तथा 'नय' पदोंमेंसे 'नय' पदके अल्पाचतर अर्थात् कम स्वर-वर्णवाला होनेके कारण 'अल्पाचतरम्' २-२-३४ इस सूत्रसे पूर्वनिपात होकर 'नय-पराक्रम' पद बनना चाहिये था । परन्तु 'अभ्यर्हितञ्च' इस वार्तिकसे पराक्रमको अभ्यर्हित अर्थात् श्रेष्ठ मानकर उसका पूर्वनिपात किया गया है । इसलिए यहाँ पराक्रम शब्दके पूर्वनिपातसे उसका अभ्यर्हितत्व अर्थात् प्राधान्य व्यङ्ग्य है ।

विभक्तिकी व्यञ्जकताका उदाहरण—

विभक्तिविशेष [की रसव्यञ्जकता]का [उदाहरण] जैसे—

हे धीर राजन्, धनुषोंकी टङ्कारसे युक्त समरमार्गमें तुम्हारे [विधुरैः] शत्रुओंने सारे दिन युद्ध किया [पर विजय नहीं मिली], किन्तु ब्रह्मा और सिद्ध-गणोंके साधुवादके साथ आपने एक ही दिनमें [विजय कर] युद्ध समाप्त कर दिया ॥ १०५ ॥

यहाँ 'दिवसेन' यह अपवर्ग-तृतीया फल प्राप्तिको सूचित करती है ।

यहाँ पूर्वार्द्धमें तव 'विधुरैः दिवसं अयोधि' और उत्तरार्द्धमें 'भवान् दिवसेन अयुद्ध' ये प्रयोग किये गये हैं । इनमेंसे 'दिवसं अयोधि'में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' २-३-५ इस सूत्रसे अत्यन्त-संयोगमें द्वितीया विभक्ति हुई है । इसलिए उससे शत्रुओंका युद्धमें दिवसभरका अत्यन्त संयोग अर्थात् सारे दिन युद्धमें लगे रहनेपर भी विजय-प्राप्त न कर सकना सूचित होता है । दूसरी ओर 'दिवसेन अयुद्ध'में 'अपवर्गे तृतीया' २-३-६ इस सूत्रसे अपवर्ग अर्थात् फल-प्राप्ति अर्थमें तृतीया विभक्ति हुई है । इसलिए यहाँ तृतीया विभक्तिसे विजयरूप फलकी प्राप्ति सूचित होती है । इसलिए यह श्लोक विभक्तिरूप पदैक-देशकी रसव्यञ्जकताका उदाहरण है ।

आगे क-रूप तद्धित-प्रत्ययकी रसव्यञ्जकताका उदाहरण देते हैं । यह श्लोक मालतीमाधव नाटकके प्रथम अङ्कसे लिया गया है । 'कथितमेव मालतीधात्र्या लवङ्गिकया' इस गद्यांशके बाद निम्नलिखित श्लोक दिया गया है । इसके अन्तमें 'अङ्ककैस्ताम्यतीति' यह वाक्यांश आया है । उसमें 'अङ्ककैः' पदमें जो क-प्रत्यय रूप तद्धितका प्रयोग हुआ है वह अनुकम्पा अर्थमें हुआ है । इसलिए यहाँ अनुकम्पाके द्योतक क-प्रत्यय रूप तद्धितसे विप्रलम्भ-शृङ्गाररस व्यक्त होता है । इस अभिप्रायसे ग्रन्थकारने यह उदाहरण दिया है । श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभी-तुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात् कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठाललितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥१०६॥

अत्र अनुकम्पावृत्तेः क-रूपतद्धितस्य ।

परिच्छेदतीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥१०७॥

अत्र प्र-शब्दस्योपसर्गस्य ।

कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया
किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विषः ।
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्
न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम् ॥१०८॥

[वलभी] छज्जेपरके ऊँचे झरोखोंमें खड़ी होकर पासकी, नगरीकी सड़कपर बार-बार घूमते हुए साक्षात् कामदेवके समान माधवको देख-देखकर गाढ़ उत्कण्ठाके कारण अत्यन्त खिन्न [मालती] अनुकम्पनीय अङ्गोंसे मुरझायी जा रही है ।१०६।

यहाँ अनुकम्पा-सूचक क-रूप तद्धितका [विप्रलम्भशृङ्गार-व्यञ्जकत्व] है ।

उपसर्गकी व्यञ्जकता—

प्रकृतिके एकदेश उपसर्गकी विप्रलम्भ-शृङ्गार-व्यञ्जकताका उदाहरण आगे देते हैं, यह श्लोक भी मालतीमाधव नाटकके प्रथम अङ्कसे लिया गया है। इसमें माधव अपने मित्र मकरन्दसे अपनी काम अवस्थाका वर्णन करते हुए कहता है कि—

कोई अद्भुत [प्रकारका कामज] विकार, जिसकी व्यापकता [अथवा समाप्ति] का कोई ठिकाना नहीं है, जो किसी प्रकार शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता है, जो इस जन्ममें और कभी अनुभवमें नहीं आया, और विवेकका समूल नाश करके महान् अज्ञानको बढ़ाकर दुर्लंघ्य हो गया है इस प्रकारका कोई अनिर्वचनीय [कामज] विकार अन्तःकरणको विवेकशून्य [जड़] बना रहा है और सन्ताप दे रहा है ॥१०७॥

यहाँ ['प्रध्वंस'पदमें] प्र-शब्दरूप उपसर्गका [विप्रलम्भ व्यञ्जकत्व है] ।

निपातकी व्यञ्जकता—

आगे निपातकी रसव्यञ्जकताका उदाहरण देते हैं—

[हे राजन्] आपने अहङ्कारकी ओर मुख किया नहीं कि अधिक क्या कहें उसके साथ ही हमारे शत्रु मारे गये । अन्धकार [संसारमें] तभीतक रहता है जबतक सूर्य उदयाचलके शिखरपर नहीं आता है ॥१०८॥

अत्र तुल्ययोगिताद्योतकस्य 'च' इति निपातस्य ।

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परां
अस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम् ।
वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद् यस्यैकवाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥१०९॥

अत्र 'असौ' इति, 'भुवनेषु' इति, 'गुणैः' इति, सर्वनाम-प्रातिपदिक-वचनानां, न त्वदिति न मदिति अपितु 'अस्मद्' इत्यस्य सर्वाक्षेपिणो 'भाग्यविपर्ययात्' इत्यन्यथा सम्पत्तिमुखेन, न त्वभावमुखेनाभिधानस्य ।

तरुणिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे ।
अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ॥११०॥

यहाँ [गर्वाभिमुख होने अर्थात् युद्धमें प्रवृत्त होने और शत्रुओंके वधकी समकालताके द्योतक] तुल्ययोगिता [अलङ्कार] के सूचक 'च' इस निपातकी [वीररसव्यञ्जकता है]।

अनेक प्रत्ययांशोंकी वीररसव्यञ्जकता—

आगे अनेक पदैकदेशोंके वीररसव्यञ्जकत्वका उदाहरण देते हैं। यह श्लोक राघवानन्द नामक नाटकसे लिया गया है। उसमें विभीषण रावणसे कह रहा है कि—

वह रामचन्द्र अपने पराक्रम तथा गुणोंसे [तीनों] लोकोंमें अत्यन्त प्रसिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं। परन्तु यदि आप [जैसा कि अहङ्कारवश आप कह रहे हैं] एक वाणके प्रहारसे पंक्तिबद्ध [सात] विशाल ताल-वृक्षोंमें उत्पन्न [सात] छिद्रोंसे निकलते हुए सात स्वरोंसे वायु जिसके यशका गान कर रहा है उसको नहीं जानते हैं तो यह हमारे दुर्भाग्यसे ही है ॥१०९॥

यहाँ 'असौ' इस [सर्वनाम], 'भुवनेषु' इस [प्रातिपदिक], और 'गुणैः' इस [में [बहुवचनरूप] सर्वनाम, प्रातिपदिक और वचनका, [क्रमशः व्यञ्जकत्व है। इसी प्रकार 'अस्मद्भाग्यविपर्ययात्'में 'त्वत्' या 'मत्' न कहकर 'अस्मत्' पदके प्रयोगसे] केवल तुम्हारे या मेरे नहीं अपितु सबका अन्तर्भाव कर लेनेवाले 'अस्मत्' इस पदका और 'भाग्यविपर्ययात्' इस पदसे [अन्यथासम्पत्ति अर्थात्] भाग्यके उलट जाने न कि अभाग्यसे [अभावमुखेन] इस प्रकारसे [व्यङ्गार्थ-बोधन द्वारा] कथनका [व्यञ्जकत्व है]।

अनेक प्रत्ययांशोंकी शृङ्गारव्यञ्जकता—

इसमें अनेक पदांशोंसे वीररसकी अभिव्यञ्जना होती है। इसी प्रकार आगे अनेक पदांशों द्वारा शृङ्गाररसकी अभिव्यञ्जनाका उदाहरण देते हैं—

नवयौवनके उदय होनेपर [नायिकाकी] भौंहोंके, कामदेवके धनुषके समीप बैठ कर [गुरु-स्वरूप कामदेवके धनुषसे कलाओंको] पढ़नेपर भयभीत [चकित] हिरणके समान चञ्चल नेत्रवाली यह [नायिका] समस्त सुन्दरियोंकी शिरोभूषणताको प्राप्त हो रही है ॥ ११० ॥

अत्र इमनिज्-अव्ययीभाव-कर्मभूताधाराणां स्वरूपस्य ।

तरुणत्वे इति, धनुषः समीपे इति, मौलौ वसतीति, त्वादिभिस्तुल्ये एषां वाचकत्वे अस्ति कश्चित्स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारी स एव व्यञ्जकत्वं प्राप्नोति ।

एवमन्येषामपि बोद्धव्यम् ।

वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूपनिरूपणे उदाहरिष्यते अपिशब्दात्प्रबन्धेषु नाटकादिषु ।

यहाँ [तरुणिमनिमें] इमनिच् [प्रत्यय, 'अनुमदनधनुः' इस पदमें 'मदनधनुषः समीपे इति अनुमदनधनुः' इस प्रकारका] अव्ययीभाव [समासका, और 'मौलि' इस पदमें] कर्मभूत आधार [इन तीनों]के स्वरूपका [शृङ्गारव्यञ्जकत्व] है ।

[तरुणिमनि इस इमनिच्-प्रत्ययान्तके स्थानपर] 'तरुणत्वे' इस [प्रयोगमें], ['अनुमदधनु' इस अव्ययीभाव समासके स्थानपर] धनुषः समीपे [धनुषके पास] इस [प्रयोगमें] और ['मौलिमधिवसति' इसमें 'उपान्वध्याङ्वसः' सूत्रसे आधारकी कर्मसंज्ञा करके उसमें द्वितीया विभक्तिका प्रयोग करनेके स्थानपर] 'मौलौ वसति' इस [प्रयोग]में [किये गये] 'त्व' आदि [प्रत्ययोंके] साथ [इमनिज्-प्रत्यय, अव्ययीभाव समास और कर्मभूतका आधारका] वाचकत्व समान होनेपर भी [अर्थात् 'तरुणिमनि-पदसे' जो अर्थ प्रतीत होता है वही अर्थ 'तरुणत्वे' पदसे भी प्रतीत हो सकता है फिर भी इन प्रयोगोंमें] स्वरूपकी कुछ विशेषता है, जिससे उनमें [अधिक] चमत्कार प्रतीत होता है । वह ही व्यञ्जकत्वको प्राप्त होता है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'तरुणिमनि' पदके स्थानपर उसके समानार्थक होनेसे 'तरुणत्वे' पदका प्रयोग भी किया जा सकता था, परन्तु कविने उसका प्रयोग न करके उसके स्थानपर 'तरुणिमनि' पदका प्रयोग किया है । इसका कारण यह है कि 'इमनिज्'-प्रत्ययसे पदमें सुकुमारता प्रतीत होती है, इसलिए उस पदसे नायिकाके तारुण्यमें भी सौकुमार्यकी अभिव्यक्ति होती है । इसके विपरीत 'तरुणत्वे' पदके अक्षरोंमें सुकुमारताके स्थानपर प्रौढ़ता पायी जाती है इसलिए उसके प्रयोगसे नायिकाके यौवनमें कुछ कठोरताकी अभिव्यक्ति होने लगती है । इस कारण कविने तारुण्यमें भी सौकुमार्यके अतिशयके बोधनके लिए 'तरुणिमनि' इस 'इमनिज्' प्रत्ययान्त पदका प्रयोग किया है ।

इसी प्रकार 'अनुमदनधनु' इस पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभाव समासमें उत्तरपदरूप मदनधनुकी अप्रधानताके प्रकाशन द्वारा भ्रूलताके वशीकरण-सामर्थ्यके अतिशयकी अभिव्यक्ति होती है । इसी प्रकार 'मौलिमधिवसति' इस कर्मविभक्तिके प्रयोगसे कर्मीभूत समस्त ललनाओंकी अभिव्याप्तिके सूचन द्वारा नायिकाके सौन्दर्यातिशयकी अभिव्यक्ति होती है । 'मौलौ' इस प्रकारके सप्तम्यन्त प्रयोग करनेपर एक देशमें भी आधारताका सम्भव होनेसे सकलललनाओंकी व्याप्ति सूचित नहीं हो सकती है । इस प्रकार यहाँ इमनिज्-प्रत्यय, कर्मविभक्ति तथा अव्ययीभाव-समास आदिके द्वारा काव्यमें विशेष चमत्कार आ गया है । इसलिए यहाँ उनकी ही व्यञ्जकता मानी गयी है ।

इसी प्रकार [प्रकृति-प्रत्यय आदि] अन्योंकी भी [व्यञ्जकता] समझ लेनी चाहिये ।

वर्णों तथा रचनाके व्यञ्जकत्वके उदाहरण गुणोंके स्वरूपके निरूपणके अवसर-पर [अष्टम उल्लासमें] देंगे । [सूत्र ६१में] 'अपि' शब्दके प्रयोगसे नाटकादि प्रबन्धोंमें [भी रसादि-व्यञ्जकता समझनी चाहिये] ।

एवं रसादीनां पूर्वगणितभेदाभ्यां सह षड्भेदाः ।

[सूत्र ६२]-**भेदास्तदेकपञ्चाशत् ।**

व्याख्याताः ।

इस प्रकार रस आदि [ध्वनि] के पहले गिनाये हुए [पदप्रकाश्य तथा वाक्य-प्रकाश्यरूप] दो भेदोंके साथ, [१ पदांश, २ वर्ण, ३ रचना तथा ४ प्रबन्धगत चार 'पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि' भेदोंको मिलाकर कुल] छ भेद होते हैं ।

ध्वनिभेदोंका उपसंहार—

[सू० ६२]—इस प्रकार [ध्वनिकाव्यके] इक्यावन भेद होते हैं ।

[इन इक्यावन भेदोंकी] व्याख्या की जा चुकी है ।

ध्वनिकाव्यके इन मुख्य ५१ भेदोंकी गणना इस प्रकार की गयी है । सबसे पहले ध्वनिके 'अविवक्षितवाच्य' तथा 'विवक्षितान्यपरवाच्य' अर्थात् लक्षणामूल तथा अभिधामूल ये दो भेद होते हैं । इनमेंसे 'अविवक्षितवाच्य' अर्थात् 'लक्षणामूल' ध्वनिके भी 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' तथा 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' ये दो भेद हो जाते हैं ।

'विविक्षितान्यपरवाच्य' या 'अभिधामूल' ध्वनिके भी पहिले असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य तथा संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य, दो भेद होते हैं । इनमेंसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके अनेक भेद हो सकनेके कारण आगे उनका विस्तार न करके एक ही भेद माना गया है । इस प्रकार यहाँतक लक्षणामूल ध्वनिके (१) अर्थान्तर संक्रमितवाच्य और (२) अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य तथा अभिधामूलका (३) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ये तीन भेद होते हैं ।

अभिधामूलके संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेदके पहिले शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ तथा उभय-शक्त्युत्थ ये तीन भेद किये गये हैं । उनमेंसे शब्दशक्त्युत्थके वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि ये दो भेद किये गये हैं । अर्थशक्त्युत्थके स्वतःसम्भवी चार भेद, कविप्रौढोक्तिसिद्ध चार भेद तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध चार भेद, कुल मिलाकर बारह भेद किये गये हैं । और उभयशक्त्युत्थ-ध्वनिका एक भेद कुल मिलाकर संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके २ + १२ + १=१५ भेद किये गये हैं । इनके साथ पिछले तीन भेदोंको मिला देनेसे ध्वनिके यहाँतक १५+३=१८ भेद हो जाते हैं ।

इन १८ भेदोंमेंसे एक उभयशक्त्युत्थ भेद है । वह तो केवल वाक्यमें रहता है, शेष १७ भेद पदगत तथा वाक्यगत दो प्रकारके होनेसे १७ × २ = ३४ बन जाते हैं । उनके भीतर जो अर्थ-शक्त्युत्थके बारह भेद हैं वे पद तथा वाक्यके अतिरिक्त प्रबन्धगत भी हो सकते हैं इसलिए उनको और जोड़ देने ३४ + १२ = ४६ तथा एक उभयशक्त्युत्थको मिलाकर ३४ + १२ + १=४७ भेद हो जाते हैं ।

इन सैंतालीस भेदोंमें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यभेद एक ही माना गया है । वह पदगत तथा वाक्य-गतरूपसे तो इस गणनामें आ चुका है । परन्तु उसके अतिरिक्त वह १ पदांश, २ वर्ण, ३ रचना, तथा ४ प्रबन्धमें भी हो सकता है । इसलिए पूर्वोक्त ४७ भेदोंके साथ इन चार भेदोंको और जोड़ देनेसे कुल ४७ + ४=५१ भेद हो जाते हैं । इन्हींका निर्देश ग्रन्थकारने 'भेदास्तदेकपञ्चाशत्' लिख-कर इस ६२वें सूत्रमें किया है ।

ध्वनिभेदोंका सङ्कर तथा संसृष्टि—

ये ५१ तो ध्वनिके मुख्य भेद हुए । परन्तु इन भेदोंके परस्पर मिलनेसे उनके संसृष्टि तथा

[सूत्र ६३]-**तेषां चान्योन्ययोजने ॥४३॥**

सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया।

न केवलं शुद्धा एवैकपञ्चाशद्भेदा भवन्ति, यावत्तेषां स्वप्रभेदैरेकपञ्चाशता संशयास्पदत्वेन, अनुग्राह्यानुग्राहकतया, एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधेन सङ्करेण, परस्परनिरपेक्षरूपया एकप्रकारया संसृष्ट्याचेति चतुर्भिर्गुणने—

[सूत्र ६४]-**वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (१-०-४-०-४)**

शुद्धभेदैः सह-

[सूत्र ६५]-**शरेषुयुगखेन्दवः (१-०-४-५-५) ॥४४॥**

सङ्करकृत और भेद भी हो सकते हैं। 'मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' अर्थात् इनमेंसे किन्हीं दो या अधिक भेदोंकी एक ही उदाहरणमें परस्पर निरपेक्षरूपसे तिल-तण्डुल-न्यायसे स्थितिको 'संसृष्टि' कहते हैं। और अनेक भेदोंकी परस्पर सापेक्षरूपसे स्थितिको 'सङ्कर' कहते हैं। यह सङ्कर तीन प्रकारसे होता है। एक अङ्गाङ्गिभाव-सङ्कर दूसरा एकाश्रयानुप्रवेश-सङ्कर और तीसरा सन्देह-सङ्कर। इस प्रकार इन शुद्ध ५१ भेदोंको परस्पर मिलानेपर तीन प्रकारके सङ्कर तथा एक प्रकारका संसृष्टिसे उनकी संख्याका और भी अधिक विस्तार हो सकता है। उस विस्तारको ग्रन्थकार आगे दिखलाते हैं—

[सू० ६३]—उन [शुद्ध इक्यावन भेदों] को एक-दूसरेके साथ मिलानेपर तीन प्रकारके सङ्कर तथा एक प्रकारकी संसृष्टिसे [और भी भेद हो सकते हैं]।

[ध्वनिकाव्यके] न केवल शुद्ध इक्यावन भेद ही होते हैं अपितु अपने इक्यावन भेदोंके साथ [मिलनेपर], [१] सन्देहास्पद होनेसे [सन्देह-सङ्कर] [२] अनुग्राह्य-अनुग्राहकरूपसे [अङ्गाङ्गिभाव-सङ्कर] और [३] एक व्यञ्जकमें अनुप्रवेश होनेसे [एकाश्रयानुप्रवेश-सङ्कर] इस प्रकार तीन तरहके सङ्कर और परस्पर निरपेक्षरूप [स्थितिसे] एक प्रकारकी संसृष्टि इस तरह [५१ × ५१=२६०१ को] चारसे गुणा करने पर—

[सू० ६४]-[५१×५१=२६०१×४=] १०४०४ [भेद होते हैं]

शुद्ध [५१] भेदोंके साथ [सङ्कर तथा संसृष्टिकृत इन १०४०४ भेदोंको जोड़नेसे]—

[सू० ६५]—[१०४०४ + ५१ = १०४५५ भेद हो जाते हैं।

यहाँ 'वेदखाब्धिवियच्चन्द्रा,' इस ६४वें सूत्रमें वेद आदि पद संख्या विशेषके बोधक हैं। वेद चार हैं इसलिए वेद पद ४ संख्याका, ख अर्थात् आकाश शून्यरूप होनेसे शून्य संख्याका, अब्धि अर्थात् सागर चार होनेसे अब्धि पद चार संख्याका, वियत् अर्थात् आकाश ० संख्याका, और चन्द्र पद १ संख्याका बोधक माना जाता है। इस प्रकार वेद [४] ख [०] अब्धि [४] वियत् [०] चन्द्र [१] पदोंसे ४०४०१ यह संख्या उपस्थित होती है। परन्तु 'अङ्कानां वामतो गतिः' इस सिद्धान्तके अनुसार संख्याके अङ्कोंकी गणना बायीं ओरसे की जाती है। अर्थात् हिन्दी वर्णमालाकी लिखावट दाहिनी ओरसे बायीं ओरको चलती है। परन्तु संस्कृतमें इस प्रकार सङ्केतों द्वारा निर्दिष्ट अङ्कोंको बायीं ओरसे दाहिनी ओरको लिखा जाता है। इसलिए वेद [४] ख [०] अब्धि [४] वियत् [०] चन्द्र [१]

पदोंसे बोधित [४०४०१] संख्याको जब अङ्कोंमें लिखा जायगा तब उसकी लिखावट बायीं ओरसे प्रारम्भ होकर दाहिनी ओरको चलेगी। इसलिए 'वेदखाब्धिवियच्चद्राः'वाली संख्याको इस प्रकारसे अङ्कोंमें लिखनेपर यह संख्या १०४०४ बनती है।

इसी प्रकार ६५वें सूत्रमें शर अर्थात् कामदेवके पाँच बाण होनेसे शर पद ५ अङ्कका, सतयुग आदि चार युग होनेसे युग पद ४ अङ्कका, ख पद ० अङ्कका, और इन्दु पद १ अङ्कका बोधक होता है। इसलिए शर [५] इषु [५] युग [४] ख [०] और इन्दु [१] से १०४५५ संख्या उपस्थित होती है।

इस प्रकार काव्यप्रकाशके अनुसार ध्वनिके सङ्कर, संसृष्टि तथा शुद्ध सब भेदोंको मिलाकर कुल १०४५५ भेद बनते हैं।

लोचनकारके अनुसार ध्वनिके ३५ भेदोंकी गणना—

ध्वन्यालोककी 'लोचन' टीकामें द्वितीय उद्योतकी ३१ वीं कारिका तथा तृतीय उद्योतकी तेंतीसवीं कारिकाकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्तने दो जगह ध्वनिके प्रभेदोंकी गणनाकी है। पहली जगह 'एवं ध्वनिप्रभेदान् प्रतिपाद्य' इस मूल ग्रन्थकी व्याख्या करते हुए ध्वनिके पैंतीस भेदोंकी गणना इस प्रकारकी है:—

'अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ मूलभेदौ। आद्यस्य द्वौ भेदौ, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्च। द्वितीयस्य द्वौ भेदौ, अलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च। प्रथमोऽनन्तभेदः। द्वितीयो द्विविधः, शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। पश्चिमस्त्रिविधः कविप्रौढोक्तिकृतशरीरः, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीरः, स्वतःसम्भवी च। ते च प्रत्येकं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्धेति द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूलः। आद्याश्चत्वारो भेदा इति षोडशः मुख्यभेदाः। ते च पदवाक्यप्रकाशत्वेन प्रत्येकं द्विविधा वक्ष्यन्ते। अलक्ष्यक्रमस्यतु वर्ण-पद-वाक्य-सङ्घटना-प्रबन्धप्रकाश्यत्वेन पञ्चत्रिंशद् भेदाः।'

अर्थात् ध्वनिके अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] और विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ये दो मूल भेद हैं। उनमेंसे प्रथम अर्थात् अविवक्षितवाच्यके अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ये दो भेद होते हैं। द्वितीय अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिके असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ये दो भेद होते हैं। इनमें से प्रथम असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [रसादि-ध्वनि] के अनन्त भेद हो सकते हैं, इसलिए वह सब एक ही माना जाता है। दूसरे अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल इस प्रकार दो भेद होते हैं। इनमेंसे अन्तिम अर्थात् अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन भेद होते हैं। इन तीनों भेदोंमेंसे प्रत्येक, व्यङ्ग्य और व्यञ्जक दोनोंमें उक्त भेद [वस्तु और अलङ्कार] नीतिसे चार भेद होकर कुल बारह प्रकारकी अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि होती है। इन बारह भेदोंमेंसे पहिले चार भेद अर्थात् अविवक्षितवाच्यके दो भेद, तीसरा असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य और चौथा शब्दशक्त्युत्थ भेद मिला देनेसे बारह और चार मिलकर सोलह भेद हुए। ये सब पदगत और वाक्यगत होनेसे दो प्रकारके होकर ३२ भेद हुए। असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य पद और वाक्यके अतिरिक्त वर्ण, सङ्घटना तथा प्रबन्धमें भी प्रकाश्य होनेसे उसके तीन भेद और जुड़कर ध्वनिके कुल ३५ भेद हो जाते हैं। इनमें जहाँ 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्धेति' लिखा है वहाँ कुछ पाठ भ्रष्ट हो गया जान पड़ता है।

लोचन तथा काव्यप्रकाशके भेदोंकी तुलना—

ऊपर दिये हुए विवरणके अनुसार लोचनमें ध्वनिके ३५ शुद्ध उपभेद दिखलाये हैं और 'काव्य-प्रकाश' तथा साहित्यदर्पण आदिमें उनके स्थानपर ५१ भेद दिखलाये गये हैं। इस प्रकार 'लोचन' तथा 'काव्य-प्रकाश' आदिके भेदोंमें १६ भेदोंका अन्तर है। अर्थात् काव्य-प्रकाश आदिमें लोचनसे सोलह भेद अधिक दिखलाये गये हैं। यह सोलहों भेदोंका अन्तर विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधा-मूल ध्वनिके भेदोंमें ही हुआ है, जिनमेंसे मुख्य भेद तो अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके भेदोंमें है। लोचनकारने अर्थ शक्त्युद्भव ध्वनिके बारह भेद दिखलाकर उनके पद और वाक्यगत भेद दिखलाये हैं। इस प्रकार अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के २४ भेद हो जाते हैं। 'काव्यप्रकाशकार'ने पद और वाक्यके अतिरिक्त प्रबन्धमें भी अर्थशक्त्युद्भवके बारह भेद माने हैं, जो लोचनकारने नहीं दिखलाये हैं। इस प्रकार लोचनके मतमें अर्थशक्त्युद्भवके २४ भेद और 'काव्यप्रकाश'के अनुसार ३६ भेद होते हैं। अर्थात् बारह भेदोंका अन्तर तो इसमें है। इसके अतिरिक्त शब्दशक्त्युत्थ ध्वनिके लोचनकारने केवल पदगत और वाक्यगत ये दो ही भेद किये हैं, वस्तु और अलङ्कार व्यङ्ग्यके भेदसे भेद नहीं किये हैं। काव्यप्रकाशमें शब्दशक्त्युत्थके वस्तु और अलङ्कारव्यङ्ग्य भेदसे दो भेद करकेफिर उनके पदगत तथा वाक्यगत भेद किये हैं। अतः काव्यप्रकाशमें शब्दशक्त्युत्थके चार भेद होते हैं और लोचनमें केवल दो भेद। अतः दो भेदोंका अन्तर यहाँ आता है। इसके अतिरिक्त लोचनमें उभयशक्त्युत्थ नामका कोई भेद परिगणित नहीं किया है। काव्यप्रकाशमें उभयशक्त्युत्थको भी एक भेद माना गया है। इसलिए काव्यप्रकाशमें यह एक भेद यह बढ़ जाता है। इस प्रकार शब्दशक्त्युत्थके वस्तु तथा अल-ङ्कारके दो भेद, अर्थशक्त्युत्थके प्रबन्धगत बारह भेद, और उभयशक्त्युत्थका एक भेद यह सब मिलाकर २+१२+१=१५ भेद तो संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यके अन्तर्गत काव्यप्रकाशमें अधिक दिखलाये हैं। और सोल-हवाँ भेद असंलक्ष्मक्रमकी गणनामें अधिक है। असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रस आदि ध्वनिका वैसे तो'लोचन' तथा काव्यप्रकाश दोनों जगह एक ही भेद माना है। परन्तु लोचनमें उस असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यके १. 'पद', २. वाक्य, ३. वर्ण, ४. संघटना तथा ५. प्रबन्धमें व्यङ्ग्य होनेसे पाँच भेद माने जाते हैं। काव्यप्रकाशमें इन पाँचोंके अतिरिक्त पदैकदेश अर्थात् प्रकृति-प्रत्ययादिगत एक भेद और माना है। अतः काव्यप्रकाशमें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके भेदोंमें भी एक भेद अधिक होनेसे लोचनकी अपेक्षा कुल सोलह भेद अधिक हो जाते हैं। इसलिए जहाँ लोचनमें ध्वनिके शुद्ध ३५ भेद दिखलाये हैं, वहाँ काव्यप्रकाशमें ध्वनिके शुद्ध ५१ भेद दिखलाये गये हैं। काव्यप्रकाश तथा लोचनकारकी ध्वनिभेदोंकी गणनामें यह मुख्य भेद है।

संसृष्टि तथा सङ्करभेदसे लोचनकारकी गणना—

न केवल इन शुद्ध भेदोंकी गणनामें ही यह अन्तर पाया जाता है अपितु उन शुद्ध भेदोंका संसृष्टि तथा सङ्करभेदसे जब आगे विस्तार किया जाता है तो उस विस्तारमें भी 'लोचन' तथा साहित्यशास्त्रके विविध ग्रन्थोंमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भेद पाया जाता है। लोचनकारने गुणीभूतव्यङ्ग्य, अलङ्कार तथा ध्वनिके अपने भेदोंके साथ ध्वनिभेदोंकी संसृष्टि तथा सङ्करसे ध्वनिके ७४२० भेद दिखलाये हैं। 'काव्यप्रकाशकार'ने केवल ध्वनिके इक्यावन शुद्ध भेदोंकी संसृष्टि तथा सङ्करसे १०४०४ भेद किये हैं। और साहित्यदर्पणकारने सङ्कर तथा संसृष्टिकृत ५३०४ तथा ५१ शुद्ध भेदोंको जोड़कर ५३५५ भेद दिखलाये हैं। लोचनकारने अपने मतानुसार ७४२० ध्वनिभेदोंकी गणना इस प्रकार करायी है।

पूर्वे ये पञ्चत्रिंशद्भेदा उक्तास्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि मन्तव्याः । स्वप्रभेदास्तावन्तः । अलङ्कार इत्येकसप्ततिः । तत्र सङ्करत्रयेण संसृष्ट्या च गुणने द्वे शते चतुरशीत्यधिके [२८४] । तावता पञ्चत्रिंशतो मुख्यभेदानां गुणने सप्त सहस्राणि चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि [७४२०] भवन्ति ।

लोचन० उद्योत ३०, का. ४३

काव्यप्रकाशकारने १०४५५ ध्वनिभेदोंका प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

भेदास्तदेकपञ्चाशत् तेषां चान्योन्ययोजने ।
सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ॥

वेदखाब्धि वियच्चन्द्रा [१०४०४] शरेषुयुगखेन्दवः [१०४५५]

काव्यप्रकाश चतुर्थोल्लास, सू० ६२-६५,

साहित्यदर्पणकारने ध्वनिभेदोंका वर्णन निम्नलिखित प्रकारसे किया है—

तदेकमेकपञ्चाशद्भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः ।
सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।

वेदखाग्निशराः [५३०४] शुद्धैरिषुबाणाग्निसायकाः [५३५५]

साहित्यदर्पण चतुर्थ परिच्छेद १२ ।

इन तीनोंमें यद्यपि लोचनकार सबसे अधिक प्राचीन और सबसे अधिक प्रामाणिक हैं, परन्तु इस विषयमें उनकी गणना सबसे अधिक चिन्त्य है । उन्होंने ध्वनिके शुद्ध ३५ भेद, उतने ही [३५ ही] गुणीभूत व्यङ्ग्यके, और अलङ्कारोंको मिलाकर एक भेद, इस प्रकार कुल ७१ भेदोंकी संसृष्टि तथा सङ्कर दिखलानेके लिए ७१ को चारसे गुणा कर ७१×४ = २८४ भेद किये हैं । और फिर उनको शुद्ध पैंतीस भेदोंसे गुणा करके २८४×३५ = ७४२० भेद दिखलाये हैं । इसमें सबसे बड़ी त्रुटि तो यही दिखलाई देती है कि २८४ और ३५ का गुणा करनेसे गुणनफल ९९४० होता है, परन्तु लोचनकार उसके स्थानपर केवल ७४२० लिख रहे हैं । यह गणनाकी प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली त्रुटि है । इसके अतिरिक्त और भी विशेष बात इस प्रसङ्गमें चिन्तनीय है ।

लोचनकी एक और चिन्त्य गणना—

लोचनकारने 'पूर्वे ये पञ्चत्रिंशद्भेदा उक्तास्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि मन्तव्याः ।' लिखकर जितने ध्वनिके भेद होते हैं उतने ही भेद गुणीभूतव्यङ्ग्यके भी माने हैं । परन्तु काव्यप्रकाशने इस विषयका प्रतिपादन कुछ भिन्न प्रकारसे किया है । वे लिखते हैं—

'येषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ।'

यथायोगमिति—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा ।
ध्रुवंध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ॥

[ध्व०—२,२९]

इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ।' सू० ६७

तथाहि— स्वतःसम्भवि-कविप्रौढोक्तिसिद्ध-कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यालङ्काराणां पदवाक्यप्रबन्धगतत्वेन निरूपतया वस्तुव्यङ्ग्यालङ्कारस्य नवविधत्वमिति ध्वनिप्रभेदसंख्यैकपञ्चाशतो नवन्यूनेन [५१ – ९ = ४२] अष्टानां भेदानां प्रत्येकं द्विचत्वारिंशद् [४२] विधत्वमिति मिलित्वा ४२×८=३३६ । गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य षट्त्रिंशदधिकत्रिंशद्भेदाः [३३६]'

काव्यप्रकाश-टीका [सू० ६७] ।

इसके अनुसार काव्यप्रकाशकारने ध्वनिके अर्थशक्त्युद्भव भेदके अन्तर्गत वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यके स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन भेद, और उनमेंसे प्रत्येकके पद, वाक्य तथा प्रबन्धगत होनेसे ३ × ३ = ९ वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यके कुल नौ भेद दिखलाये थे। इन नौ प्रकारोंमें केवल ध्वनि ही होता है, गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं। जैसा कि ध्वन्यालोककी ऊपर उद्धृत कारिकासे सिद्ध होता है। अतः ध्वनिके ५१ भेदोंमेंसे इन नौको कम करके ५१ − ९ = ४२ भेद होते हैं। इसलिए कुल मिलाकर ४२×८ = ३३६ गुणीभूतव्यङ्ग्यके शुद्ध भेद होते हैं। यह काव्यप्रकाशकारका आशय है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि काव्यप्रकाशकारने ध्वन्यालोककी ऊपर उद्धृत की हुई [२,२९] कारिकाके आधारपर वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यके नौ भेदोंको कम करके गुणीभूत व्यङ्ग्यके भेद माने हैं। क्योंकि जहाँ वस्तुसे अलङ्कारव्यङ्ग्य होता है, वहाँ ध्वन्यालोककी उक्त कारिकाके अनुसार 'ध्रुवं ध्वन्यङ्गता' ध्वनि ही होती है, गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं। लोचनकारने इस ओर ध्यान नहीं दिया है। न केवल इस गणनामें अपितु वस्तु तथा अलङ्कार व्यङ्ग्यके भेदसे गणना करनेका ध्यान भी उनको नहीं रहा है। इसलिए अर्थशक्त्युद्भवके जो बारह भेद उन्होंने दिखलाये हैं, उनमें भी त्रुटि रह गयी है। उभयशक्त्युद्भवको भी जो लोचनकार छोड़ गये हैं वह सब चिन्त्य है।

काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पणकी गणनाका भेद—

काव्यप्रकाशकारने ध्वनिके ५१ शुद्ध भेदोंकी संसृष्टि तथा सङ्करके द्वारा १०४०४ भेद बनाये हैं। परन्तु साहित्यदर्पणकारने उन्हीं ५१ भेदोंके संसृष्टि तथा सङ्करके द्वारा केवल ५३०४ भेद तथा शुद्ध भेदोंको मिलाकर ५३५५ भेद बनाये हैं। साहित्यदर्पणकारने लिखा है—

तदेवमेकपञ्चाशद् भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः।
सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया॥
वेदखाग्निशराः [५,३०४] शुद्धैरिषुबाणाग्निसायकाः [५३५५]

अर्थात् ध्वनिके ५१ भेदोंके तीन प्रकारके सङ्कर तथा एक प्रकार की संसृष्टिके द्वारा ५३०४ भेद होते हैं। उनके साथ शुद्ध ५१ भेदोंको मिला देनेसे ५३५५ भेद होते हैं अर्थात् काव्यप्रकाशमें जहाँ ध्वनिके १०४५५ भेद किये हैं वहाँ साहित्यदर्पणकारने केवल ५३५५ भेद माने हैं।

इस संख्याभेदका कारण—

साहित्यदर्पण तथा काव्यप्रकाशकी गणनामें जो इतना भेद पाया जाता है उसका कारण उनकी गणना-प्रक्रियाका भेद है। साहित्यदर्पणकारने सङ्कलन-प्रक्रियाका अवलम्बन किया है और काव्यप्रकाशकारने गुणन-प्रक्रियाका अवलम्बन किया है। इस प्रक्रियाभेदके कारण ही उनकी गणनामें इतना भेद आ गया है।

गुणनप्रक्रिया—

काव्यप्रकाशकारने यहाँ जो ध्वनिभेदोंकी गणना की है वह गुणन-प्रक्रियाके अनुसार की है। गुणन-प्रक्रियाका अभिप्राय यह है कि ध्वनिके शुद्ध ५१ भेद जब एक-दूसरेके साथ मिलते हैं तो उस मिलनेसे उनमेंसे प्रत्येकके इक्यावन-इक्यावन भेद हो जाते हैं। इस प्रकार इक्यावन भेदोंमेंसे प्रत्येकके ५१ भेद होनेसे उनकी एक प्रकारकी संसृष्टिके ५१×५१ = २६०१ भेद हो जाते

हैं। तीन प्रकारके सङ्कर तथा एक प्रकारकी संसृष्टिको मिलाकर चारसे इस २६०१ को गुणा कर देनेपर २६०१×४ = १०४०४ संख्या आती है। इस प्रकार गुणन-प्रक्रियाका अवलम्बन कर काव्य-प्रकाशकारने यहाँ ध्वनिके १०४०४ भेद तथा उनके साथ शुद्ध ५१ भेदोंको जोड़कर कुल १०४०४ + ५१ = १०४५५ ध्वनिभेद माने हैं।

सङ्कलनप्रक्रिया—

परन्तु साहित्यदर्पणकारने इस गुणनप्रक्रियाका अवलम्बन न करके सङ्कलन-प्रक्रियाका अवलम्बन किया है। उनका आशय यह है कि ५१ शुद्ध भेदोंको परस्पर मिलानेसे प्रत्येक भेदके इक्यावन-इक्यावन भेद हो जाते हैं। परन्तु उनकी कुल संख्या निकालते समय ५१-५१ का गुणा करना उचित नहीं है। क्योंकि पहले भेदका अन्य भेदोंके साथ मिश्रण करनेपर जो इक्यावन भेद बनते हैं उनमें और दूसरे भेदका अन्य भेदोंके साथ मिश्रण करनेपर जो ५१ भेद बनते हैं इनमेंसे एक भेद दोनों जगह समान रहता है। जैसे—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यके संसृष्टिकृत जो ५१ भेद बनेंगे उनमें—अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यके सम्मिश्रणसे एक भेद बनेगा। इसी प्रकार फिर जब अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यका अन्य भेदोंके साथ सम्मिश्रण होगा तब उन भेदोंमें अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य तथा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यके सम्मिश्रणसे एक भेद अवश्य बनेगा। यह भेद अभी पहली गणनामें आ चुका है। इसलिए सम्पूर्ण ध्वनिभेदोंकी गणना करते समय इस भेदकी दुबारा गणना न हो जाय इसलिए इस भेदको निकालकर द्वितीय प्रकारके भेदकी संसृष्टिमें ५१ के स्थानपर केवल ५० ही भेद मानने चाहिये। इस पद्धतिसे आगे चलनेपर तृतीय भेदकी संसृष्टिके ४९, चौथे भेदकी संसृष्टिसे ४८ भेद होंगे। इस क्रमसे एक-एक भेदका ह्रास होते हुए अन्तिम ५१वें भेदकी संसृष्टिके ५१ भेदोंमेंसे केवल एक भेद गणनामें सम्मिलित करने योग्य रह जायगा। अन्य सब भेदोंका अन्तर्भाव पहिले भेदोंकी संसृष्टिके भेदोंमें हो चुका है। इस प्रकार संसृष्टिके कुल भेदोंकी गणनाके लिए ५१-५१ का गुणा न करके एकसे लेकर इक्यावन तककी संख्याओंका जोड़ या सङ्कलन करना चाहिये। एकसे इक्यावनतककी संख्याओंका जोड़ १३२६ होता है। इसलिए साहित्यदर्पणकारने सङ्कलन-प्रक्रियाका अवलम्बन कर, ध्वनिके एकसे इक्यावनतकके जोड़ १३२६ को संसृष्टिकृत तथा उससे तिगुने अर्थात् ३९७८ सङ्करकृत भेद, कुल मिलाकर १३२६ + ३९७८ = ५३०४ ध्वनि भेद माने हैं।

सङ्कलनकी लघु प्रक्रिया—

एको राशिर्द्विधा स्थाप्य एकमेकाधिकं कुरु।
समेनार्धेनसमो गुण्य एतत् सङ्कलितं लघु॥

अर्थात् एकसे लेकर जहाँतकका जोड़ लगाना हो उस अन्तिम एक राशिको दो जगह लिखो। उसमेंसे एकमें एक संख्या और जोड़ दो। ऐसा करनेसे उनमेंसे एक सम और दूसरी विषम संख्या बन जावेगी। इसमें सम संख्याको आधा करके उससे विषम संख्याको गुणा कर देनेसे एकसे लेकर उस संख्या तकका योगफल निकल आवेगा। जैसे यहाँ एकसे लेकर ५१ तकका जोड़ करना है तो इक्यावनको ५१-५१ दो जगह रखकर और उनमें एकमें १ संख्याको जोड़कर ५१-५२ संख्याएँ हुई। इनमें सम संख्या ५२ को आधा करके ५२ ÷ २ = २६ अर्थात् २६ से विषम संख्या अर्थात् ५१ को गुणा कर देनेसे एकसे इक्यावनतकका जोड़ ५१×२६ = १३२६ आता है। यह सङ्कलनकी लघु प्रक्रिया कहलाती है। इससे किसी भी संख्यातकका जोड़ सरलतासे निकल आता है।

इसी सङ्कलन-प्रक्रियाका अवलम्बन कर साहित्यदर्पणकारने १३२६ संसृष्टिके तथा उससे तिगुने ३९७८ सङ्करके कुल मिलाकर ५३०४ ध्वनिके सङ्कर संसृष्टि-कृत भेद माने हैं।

काव्यप्रकाशकी द्विविधशैली—

काव्यप्रकाशकारने यहाँ ध्वनिभेदोंकी गणना करते समय गुणन-प्रक्रियाका अवलम्बन किया है उसका उपपादन करते हुए टीकाकारोंने यह प्रतिपादन किया है कि ध्वनिके मुख्य इक्यावन भेदोंकी संसृष्टिके समय प्रत्येक भेदके ५१-५१ भेद ही गिने जाने चाहिये। उनमें एक-एक भेदको क्रमशः कम नहीं करना चाहिये। क्योंकि अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यकी अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यके साथ संसृष्टि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यकी अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यके साथ संसृष्टि ये दोनों बिलकुल भिन्न हैं। उनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके चमत्कारकी अनुभूति सहृदयोंको होती है। इसलिए इन दोनोंको परस्पर विलक्षण ही मानना चाहिये। इसलिए प्रत्येक भेदकी संसृष्टिके ५१-५१ भेद ही होते हैं। इसलिए संसृष्टिके कुल भेदोंकी गणनामें ५१-५१ का गुणा ही करना चाहिये तदनुसार काव्यप्रकाशकारने गुणन-प्रक्रियाका अवलम्बन कर ५१×५१×४ = १०४०४ भेद निकाले हैं। और वे उचित हैं।

परन्तु दशम उल्लासमें विरोधालङ्कारका निरूपण करते हुए काव्यप्रकाशकारने इसी प्रकारके भेदोंकी गणनाके अवसरपर गुणन-प्रक्रियाके स्थानपर सङ्कलन-प्रक्रियाका अवलम्बन किया है। जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य इन चारोंका वास्तविक विरोध न होनेपर भी विरोधका वर्णन होनेपर विरोधाभास अलङ्कार होता है। इन चारोंका चारोंके साथ विरोध हो सकता है इस दृष्टिसे विरोधके ४×४ = १६ भेद होने चाहिये थे। परन्तु वहाँ ग्रन्थकारने जातिका तो जाति आदि चारोंके साथ विरोध माना है, पर आगे गुणका तीनके साथ, क्रियाका दोके साथ, और द्रव्यका केवल द्रव्यके साथ ही विरोध गणना करने योग्य मानकर उसके १६ के स्थानपर केवल १० भेद माने हैं—

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः।
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ॥ सू० १६७ ॥

इस प्रकार विरोधालङ्कारके प्रसङ्गमें जातिका चारके साथ, गुणका तीनके साथ, क्रियाका दोके साथ और द्रव्यका केवल एकके साथ विरोध मानकर और एकसे चारतककी संख्याको जोड़कर सङ्कलन-प्रक्रियाके अनुसार ही, भेदोंकी कुल दश संख्या मानी है। परन्तु ध्वनिके भेदोंकी गणनाके प्रसङ्गमें इससे भिन्न प्रकारकी नीतिका अवलम्बनकर ध्वनिके मुख्य इक्यावन भेदोंकी संसृष्टि होनेपर प्रत्येक भेदके ५१-५१ प्रकारके ही संसृष्टिकृत भेद मानकर और ५१×५१ का गुणा करके गुणन-प्रक्रियाके अनुसार ही भेदोंकी कुल संख्या निर्धारित की है। इस प्रकार काव्यप्रकाशमें स्थलभेदसे गुणन तथा सङ्कलनकी द्विविध प्रक्रियाका अवलम्बन किया गया है।

दो भिन्न स्थलोंपर ग्रन्थकारने जो दो भिन्न प्रक्रियाओंका अवलम्बन किया है उसका उपपादन इसी प्रकार किया जा सकता है कि ध्वनिके भेदोंमें दो समान भेदोंको दोनों प्रकारकी संसृष्टियोंमें विलक्षण चमत्कार अनुभव होता है, परन्तु विरोध स्थलमें इस प्रकारका चमत्कार अनुभव नहीं होता है। इस ध्वनिस्थलमें अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यकी अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यके साथ संसृष्टिसे जो चमत्कार-प्रतीत होता है, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यकी अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यके साथ संसृष्टि होनेपर उससे विलक्षण चमत्कारका अनुभव होनेसे इन दोनोंको अलग-अलग भेद माना है। परन्तु जातिका गुणके साथ और गुणका जातिके साथ जो विरोध है उसमें कोई विलक्षणता न होनेसे उनको अलग भेद नहीं माना है।

तत्र दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

खणपाहुणिआ देअर जाआए सुहअ किंपि दे भणिआ ।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई ॥१११॥

क्षणप्राघुणिका देवर जायया सुभग किमपि ते भणिता ।
रोदिति गृहपश्चाद्भागवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी ॥ इति संस्कृतम्]

अत्रानुनयः किमुपभोगलक्षणेऽर्थान्तरे संक्रमितः, किमनुरणनन्यायेनोपभोगे एव व्यङ्ग्ये व्यञ्जक इति सन्देहः ।

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥११२॥

अत्र लिप्तेति पयोदसुहृदामिति च अत्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोः संसृष्टिः । ताभ्यां सह रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्यानुग्राह्यानुग्राहकभावेन, रामपदलक्षणैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चार्थान्तरसंक्रमितवाच्य-रसध्वन्योः सङ्करः ।

[इस प्रकार ध्वनिकाव्यके भेदोंका विस्तारपूर्वक निरूपण करनेके बाद उनमेंसे] दिग्दर्शन करानेके लिए कुछ उदाहरण देते हैं—

हे देवर, तुम्हारी पत्नीने [क्षण] उत्सवकी पाहुनी [अर्थात् घरके किसी उत्सव के अवसरपर अतिथिरूपमें आयी हुई] उससे कुछ कह दिया है [जिससे दुःखी होकर] वह एकान्त [शून्य] पिछवाड़ेके वलभी-गृहमें रो रही है । उस विचारीको मना लो ।

यहाँ 'अनुनय' [यह शब्द] क्या उपभोगरूप अर्थान्तरमें संक्रमित [होनेसे यह लक्षणामूल अविवक्षितवाच्यध्वनिका भेद] है, अथवा संलक्ष्यक्रम [अनुरणन-न्याय]की रीतिसे [रोदन निवर्तक अनुनय ही वाच्यार्थ है और उससे] उपभोगरूप व्यङ्ग्यमें ही व्यञ्जक [होनेसे अभिधामूलध्वनि] है यह सन्देह [होनेसे सन्देहसङ्कर] है ।

स्निग्ध एवं श्यामल कान्तिसे आकाशको व्याप्त करनेवाले और बलाका [बक-पंक्ति] जिसके पास विहार कर रही है ऐसे सघन मेघ [भले ही उमड़ें], छोटे-छोटे जलकणोंसे युक्त [शीतल मन्द] समीर [भले ही बहे], और मेघोंके मित्र मयूरोंकी आनन्दभरी कूकें भी चाहे कितनी ही [श्रवण-गोचर] हों, मैं तो कठोर-हृदय राम हूँ, सब कुछ सह लूँगा । परन्तु [अति सुकुमारी वियोगिनी] सीताकी क्या दशा होगी । हा देवि, धैर्य रखना ।११२।

यहाँ 'लिप्त' और 'पयोदसुहृदां' इन दोनोंमें अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योंकी संसृष्टि है । उन दोनोंके साथ 'रामोऽस्मि' इस अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यका अङ्गाङ्गिभावसे [सङ्कर], तथा 'राम' पदरूप एक व्यञ्जक [पद] में अनुप्रवेशके कारण अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य ध्वनि तथा रसध्वनिका [एकाश्रयानुप्रवेशरूप] सङ्कर है ।

एवमन्यदप्युदाहार्यम् ॥

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिनिर्णयो नाम चतुर्थोल्लासः ॥४॥

यहाँ 'लिप्त' लिपा हुआ अर्थका वाचक शब्द है। परन्तु कान्तिसे लीपना नहीं होता इसलिए लिप्तपद अत्यन्ततिरस्कृत होकर 'व्याप्त' अर्थको बोधन करता है। इसी प्रकार चेतन धर्म सौहार्द अर्थात् 'मित्रत्व'के अचेतन मेघों सम्भव न होनेसे वह भी अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य रूपसे 'सुखदायक' अर्थ व्यक्त करता है। अतः अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनिके दो स्थानोंपर निरपेक्ष रूपसे स्थित होनेसे उन दोनोंकी संसृष्टि होती है। 'रामोऽस्मि'में राम पद अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्वरूप अर्थान्तरमें संक्रमित है। उसका अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि भेदोंके साथ अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है। और उसी अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनिका रस ध्वनिके साथ एकाश्रयानुप्रवेशरूप सङ्कर पाया जाता है।

इसी प्रकार [संसृष्टि, सङ्कर आदिके] अन्य उदाहरण भी समझने चाहिये।

६३वें सूत्रमें त्रिविध सङ्कर और एक प्रकारकी संसृष्टि द्वारा ध्वनिभेदोंके विस्तारका वर्णन किया था। उसीकी दृष्टिसे ध्वनिभेदोंकी संसृष्टि और त्रिविध सङ्करके उदाहरण दिखलानेके लिए १. 'क्षणप्राघुणिका' तथा २. 'स्निग्धश्यामल' आदि १११ तथा ११२वें दो श्लोक यहाँ उद्धृत किए हैं। इनमेंसे प्रथम श्लोकमें दो ध्वनिभेदोंका सन्देह-सङ्कर दिखलाया गया है और दूसरे श्लोकमें १ 'अङ्गाङ्गिभाव-सङ्कर', २ एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर तथा ३ संसृष्टि इन तीनके उदाहरण दिखलाये गये हैं। इस प्रकार इन दो श्लोकोंमें ही त्रिविध सङ्कर और एक प्रकारकी संसृष्टि चारोंके उदाहरण दिखला दिये गये हैं।

इनमेंसे प्रथम श्लोकमें लक्षणामूल अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अभिधामूल संलक्ष्यक्रम वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्य ध्वनि, इन दोनों ध्वनिभेदोंमेंसे कौन-सा भेद माना जाय इसका कोई विनिगमक न होनेसे दो ध्वनिभेदोंका 'सन्देह-सङ्कर' है।

'स्निग्धश्यामल' आदि दूसरे श्लोकमें 'लिप्त' तथा 'पयोदसुहृदां' इन दोनों पदोंमें अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि परस्पर निरपेक्षभावसे स्थित है। अतः उन दोनों भेदोंकी संसृष्टि है। 'रामोऽस्मि' इस पदमें 'राम' पद अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्व आदि रूप अर्थान्तरमें संक्रमित है। 'लिप्त' तथा 'पयोद-सुहृदां' पदोंका अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि इस 'रामोऽस्मि'के अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनिका उपकारक है। इसलिए यहाँ पूर्वोक्त दो अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनियोंका इस तीसरे अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनिके साथ अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव अथवा अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है। इसी अर्थान्तरसंक्रमित 'राम' पदमें दुःखपात्रताकी लक्षणा द्वारा व्यज्यमान राज्यत्याग, जटा-वल्कल धारण, पितृशोकादिसे व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होनेवाले शोक, आवेश, धैर्य, निर्वेदादि व्यभिचारिभावोंसे परिपुष्ट विप्रलम्भ प्रकाशित होता है। इसलिए 'राम' पदमें अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि तथा रसध्वनिका 'एकाश्रयानु-प्रवेश' सङ्कर है। इस प्रकार इन दो श्लोकों द्वारा ग्रन्थकारने ४ भेदोंके उदाहरण संक्षेपमें प्रस्तुत किये हैं।

काव्यप्रकाशमें 'ध्वनि-निर्णय' नामक चौथा उल्लास समाप्त हुआ

श्रीमदाचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि विरचितायां काव्यप्रकाशदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां चतुर्थ उल्लासः समाप्तः।

पञ्चम उल्लासः

एवं ध्वनौ निर्णीते गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदानाह—

[सूत्र ६६]–अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥४५॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।

अथ काव्यप्रकाश दीपिकायां पञ्चम उल्लासः ।

उल्लास सङ्गति—

प्रथम उल्लासमें काव्यके तीन भेद बतलाये थे—(१) ध्वनिकाव्य, (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य और (३) चित्रकाव्य । इनमेंसे जहाँ वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारी होता है उसको ध्वनिकाव्य कहा जाता है और वह सबसे उत्तम काव्य माना जाता है । इस ध्वनिकाव्यका भेदोपभेद-सहित विस्तारपूर्वक निरूपण गत चतुर्थ उल्लासमें किया जा चुका है । अब इस पञ्चम उल्लासमें काव्यके दूसरे भेद अर्थात् गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप मध्यम काव्यके भेदोंका निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

गुणीभूत व्यङ्ग्यके आठ भेद—

इस प्रकार [चतुर्थ उल्लासमें] ध्वनि [काव्यरूप उत्तम काव्य] का निरूपण हो जानेपर [अब उसके बाद काव्यके दूसरे भेद] गुणीभूतव्यङ्ग्यके भेदोंको कहते हैं—

गुणीभूत व्यङ्ग्यके आठ भेद माने गये हैं । अगले सूत्रमें इन आठों भेदोंके नाम गिनाते हैं—

[सूत्र ६६]—(१) अगूढ [व्यङ्ग्य], (२) इतरका अङ्ग [भूत व्यङ्ग्य], (३) वाच्यसिद्धिका अङ्ग [भूत व्यङ्ग्य], (४) अस्फुट [अर्थात् गूढ व्यङ्ग्य], (५) सन्दिग्ध-प्राधान्य, (६) तुल्य—प्राधान्य [व्यङ्ग्य], (७) काकुसे आक्षिप्त [व्यङ्ग्य] और (८) असुन्दर [व्यङ्ग्य] इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य [रूप मध्यम काव्य]के आठ भेद बतलाये गये हैं ।

व्यङ्ग्यका चमत्कार कहाँ—

ये जो गुणीभूत व्यङ्ग्य-काव्यके आठ भेद गिनाये हैं इनमें अगूढ व्यङ्ग्य अर्थात् स्फुट व्यङ्ग्य और अस्फुट व्यङ्ग्य अर्थात् गूढ व्यङ्ग्य दोनों ही प्रकारके काव्योंकी गणना गुणीभूतव्यङ्ग्यमें की गयी है । इसका कारण यह है कि ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्योंका भेद सहृदयोंके अनुभवके आधारपर किया जाता है । सहृदयमात्र संवेद्य व्यङ्ग्य होनेपर ही ध्वनिकाव्य होता है । सहृदयसे भिन्न सामान्य व्यक्ति भी जिस व्यङ्ग्यको अनायास ग्रहण कर लें वह अत्यन्त स्पष्ट होनेसे वाच्यार्थके समान ही हो जाता है इसलिए उस अगूढ व्यङ्ग्यकी प्रधानता न होनेसे उसको गुणीभूत व्यङ्ग्य माना जाता है । इसी प्रकार जिस व्यङ्ग्यकी प्रतीति सहृदयोंको भी सरलतासे न हो सके वहाँ भी व्यङ्ग्यका चमत्कार नहीं रहता है इसलिए उस अस्फुट या गूढव्यङ्ग्यको भी गुणीभूत व्यङ्ग्य माना जाता है । जहाँ सहृदयोंको व्यङ्ग्यकी प्रतीति होती है उसको ध्वनिकाव्य कहते हैं । गुणीभूत व्यङ्ग्यके चमत्कारका निरूपण कामिनी-कुच-कलश-न्यायसे किया गया है ।

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो,
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः ।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्
सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः ॥

कामिनीकुचकलशवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव ।

अगूढं यथा—

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्यतप्त-
सूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ ।
काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि
जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि ॥११३॥ [१क]

अत्र 'जीवन्' इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य !

अर्थात् न तो आन्ध्र देशकी स्त्रियोंके कुचकलशके समान अत्यन्त स्पष्ट रूपसे प्रकाशमान अगूढ व्यङ्ग्य शोभा देता है, और न गुजराती स्त्रीके स्तनोंके समान अत्यन्त अप्रकाशित बिल्कुल दिखलाई न देनेवाला गूढ व्यङ्ग्य चमत्कारजनक होता है। किन्तु महाराष्ट्र देशकी स्त्रीके कुचकलशके समान न बहुत अस्पष्ट और न बहुत स्पष्ट, केवल सहृदयमात्र संवेद्य व्यङ्ग्यार्थ ही शोभित होता है। इस उपमाको ध्यानमें रखकर ही ग्रन्थकार कहते हैं कि—

[महाराष्ट्रकी] कामिनीके कुचकलशके समान [अंशतः] गूढ [व्यङ्ग्य] चमत्कारजनक होता है इसलिए [आन्ध्री स्त्रीके कुचके समान] अगूढ [व्यङ्ग्य] तो अत्यन्त स्पष्ट होनेसे वाच्य-सा प्रतीत होनेके कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य ही होता है।

१—अगूढ-व्यङ्ग्य [का प्रथम उदाहरण] जैसे—

शत्रुओं द्वारा की जानेवाली [पाण्डु-पुत्रोंकी तिरस्कृति] निन्दा [कानोंमें] आकर गरमकी हुई सुइयोंके समान जिसके कानोंमें चुभती है, वह मैं [अर्जुन] आज [बृहन्नला रूपमें] करधनी गूँथनेका काम कर रहा हूँ। मैं तो इस समय [जीवित रहते हुए भी] मृत-कल्प हूँ, क्या करूँ [कुछ कर नहीं सकता हूँ। शत्रुओंके मुखसे पाण्डवोंकी निन्दा सुनता हूँ, पर एक वर्ष तो अज्ञातवासमें काटना ही है इसलिए यह सब सुनकर भी कुछ कर नहीं पाता हूँ]।११३। [१क]

प्राचीन टीकाकारोंने इस श्लोकका अर्थ भिन्न प्रकारसे किया है। सुधासागर नामक टीकाके लेखकने लिखा है कि कीचकके द्वारा किये गये पराभवका निवेदन करनेवाली द्रौपदीके प्रति बृहन्नलाके रूपमें अर्जुनकी यह उक्ति है। उद्योतकारका कहना है कि बृहन्नलाकी दशामें किसीने अर्जुनसे यह कहा है कि तुम अपने अभ्युदयके लिए यत्न क्यों नहीं करते हो, उसके उत्तरमें अर्जुनकी यह उक्ति है। उन लोगोंके अनुसार श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

जिस [अर्जुन] का शत्रु [उसके डरके कारण] स्वयं अपनेको धिक्कारता हुआ [कृततिरस्कृतिः और शरणमें] आकर [अपने अपराधके प्रायश्चित्तरूपमें] गरम सुईसे अपने कानोंको छेद लेते थे वही मैं आज करधनी गूँथनेका काम कर रहा हूँ। इसलिए मैं आज बड़ा निन्दित जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। पर कर क्या सकता हूँ।

इस अर्थके अनुसार श्लोकके पूर्वार्धमें अर्जुनने अपनी पूर्वावस्थाका वर्णन किया है कि पूर्वावस्थामें जिसके शत्रु भी उसकी शरणमें आकर गरम शलाकाओंसे अपने कान छेदकर प्रायश्चित्त करते थे। शरणागतका तप्त शलाकाओंसे स्वयं कर्णवेधन करना उस समयका आचार था यह उन

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा
गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदीर्घिकासु ।
एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-
पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बि विम्बम् ॥११४॥ [१ख]

अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य ।

अत्रासीत् फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगाक्षि ! राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥११५॥ [१ग]

टीकाकारोंका अभिप्राय है । परन्तु दूसरे व्याख्याकारोंने इसकी व्याख्यामें शत्रुओंके कर्णवेधनकी बात नहीं लिखी है और न उसमें अर्जुनकी पूर्वावस्थाका वर्णन माना है । द्रौपदीने जब कीचकके द्वारा किये जानेवाले अपने अपमानकी चर्चा अर्जुनसे की तो उसको सुनकर बृहन्नलारूपधारी अर्जुनको ऐसा दुःख हुआ मानों किसीने गरम शलाका उसके कानोंमें घुसेड़ दी हो । परन्तु प्रतिज्ञाबद्ध होनेके कारण वह कुछ कर नहीं सकता था । अपनी इसी विवशताका प्रदर्शन अर्जुनने इस श्लोकमें किया है ।

यहाँ 'जीवन' यह [पद निन्दित जीवन रूप] अर्थान्तरमें संक्रमितवाच्य [ध्वनिके अत्यन्त अगूढ होनेसे गुणीभूत व्यङ्ग्य] का [उदाहरण है] ।

अगूढ व्यङ्ग्यका दूसरा उदाहरण—

लक्षणामूलध्वनिके अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य भेदके गुणीभूत होनेका उदाहरण दिया है । अब इसी लक्षणामूलाध्वनिके अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक भेदके गुणीभूत होनेका उदाहरण देते हैं—

खिले हुए लाल कमलोंके परागसे पीले अङ्गवाले भौंरे घरकी बावड़ियोंमें मधुर स्वरमें गा रहे हैं और गुड़हल [या दुपहरिया] के फूलके समान [अत्यन्त रक्तवर्ण] उदयाचलका स्पर्श करनेवाला सूर्यका यह बिम्ब शोभित हो रहा है ।११४। [१ख]

यहाँ ['उदयाचलचुम्बि बिम्बम्'में सूर्यमें वक्त्रसंयोग व्यापार रूप चुम्बनके बाधित होनेसे 'चुम्बि' पद सामान्य संयोगरूप अर्थका बोधक हो जाता है अतः] अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य 'चुम्बन'का [स्पष्ट होनेसे अगूढ व्यङ्ग्यत्व है] ।

अगूढ व्यङ्ग्यका तीसरा उदाहरण—

इस प्रकार लक्षणामूलध्वनिके दोनों भेदोंके अगूढ व्यङ्ग्यके दो उदाहरण देकर आगे अभिधामूलध्वनिके अर्थशक्तिमूल भेदमें अगूढ व्यङ्ग्यका ही तीसरा उदाहरण देते हैं । 'बालरामायण'में अयोध्याको लौटते समय रामचन्द्रजी सीताके प्रति कह रहे हैं—

[हे सीते !] यहाँ नागपाशसे [हम दोनों भाइयोंको] बाँधा गया था । और [उसी युद्धभूमिके दूसरे स्थलपर] यहाँ तुम्हारे देवर [लक्ष्मण] के वक्षःस्थलपर शक्तिके लगनेपर हनुमान द्रोणाचलको लाये थे । यहाँ लक्ष्मणके दिव्य बाणोंने मेघनादको दूसरे लोक [यमपुर] पहुँचाया था । और हे मृगाक्षि ! यहाँ [युद्ध-भूमिके चौथे स्थलमें] किसीने राक्षसपति [रावण] के कण्ठवनको काटा था ।११५। [१ग]

अत्र 'केनाप्यत्र'इत्यर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य । 'तस्याप्यत्र' इति युक्तः पाठः । अपरस्य रसादे, र्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य, अङ्गं रसादि अनुरणनरूपं वा ।
यथा—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥११६॥ [२क]

अत्र शृङ्गारः करुणस्य ।

यहाँ 'केनापि' किसीने इस अर्थशक्तिमूल [अनुरणनरूप] संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यका [अगूढ होनेसे गुणीभाव है। इसलिए] यहाँ [केनाप्यत्र' के स्थानपर] 'तस्याप्यत्र' यह पाठ होना उचित था।

२. अपराङ्ग-रूप गुणीभूत व्यङ्ग्यके आठ उदाहरण—

इस प्रकार यहाँतक गुणीभूत व्यङ्ग्यके प्रथम भेद अगूढ व्यङ्ग्यके तीन उदाहरण दिये। इस प्रथम भेदका निरूपण समाप्त करनेके बाद इसी गुणीभूत व्यङ्ग्यके दूसरे भेद 'अपराङ्ग-व्यङ्ग्य' के आठ उदाहरण देते हैं। अपराङ्गव्यङ्ग्यका अभिप्राय यह है कि जहाँ वाक्यका तात्पर्यविषयीभूत प्रधान अर्थ अन्य रसादि, या वाच्यादि अर्थ हो। और दूसरा व्यङ्ग्य, रसादि अथवा संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य वस्तु या अलङ्कारादि व्यङ्ग्य उसका अङ्ग हो उसको अपराङ्ग-व्यङ्ग्यरूप गुणीभूत व्यङ्ग्य कहा जाता है। इस प्रकारके आठ उदाहरण आगे देते हैं। इनमेंसे पहिले उदाहरणमें वाक्यार्थी-भूत प्रधान रस करुण है, और उसका अङ्ग शृङ्गाररस है। अतः उसमें शृङ्गाररस गुणीभूत है। अतः वह 'अपराङ्गव्यङ्ग्य'का उदाहरण है।

[अपरस्य अर्थात्] अन्य रसादिका अथवा वाक्यके तात्पर्यविषयीभूत अन्य वाच्यका अङ्ग रसादि अथवा संलक्ष्यक्रम [अनुरणनरूप वस्तु अलङ्कार आदि] होनेपर [अपराङ्ग नामक गुणीभूत व्यङ्ग्यका द्वितीय भेद होता है]। जैसे—

प्रथम उदाहरण—

यह [मेरी रशना] करधनीको खींचनेवाला, पीन स्तनोंका मर्दन करनेवाला, नाभि, उरु तथा जघनस्थलका स्पर्श करनेवाला तथा नीवी [नारे] को खोलनेवाला [मेरे पतिका अत्यन्त प्रिय] हाथ है।११६। [२क]

यहाँ शृङ्गार [रस] करुण [रस] का [अङ्ग है]।

यह श्लोक महाभारतके स्त्रीपर्वके २४वें अध्यायमेंसे लिया गया है। उसमें रणभूमिमें कटकर गिरे हुए भूरिश्रवाके हाथको देखकर विलाप करती हुई उसकी पत्नी कह रही है। इसलिए इस श्लोकका मुख्य रस तो करुणरस है। परन्तु उसमें वह स्त्री रतिकालमें होनेवाले उस हाथके विविध कार्योंका स्मरण कर रही है इसलिए उससे शृङ्गाररस भी अभिव्यक्त होता है। परन्तु वह स्मर्यमाण शृङ्गार-प्रसङ्ग प्रकृत करुणरसका अङ्ग ही है। अतः यह अपराङ्गरूप गुणीभूत व्यङ्ग्यका उदाहरण है।

द्वितीय उदाहरण—

इस प्रकार जहाँ एक रस दूसरे रसका अङ्ग है इस प्रकारका वह उदाहरण दिया गया है। अब आगे इस प्रकारका उदाहरण देते हैं जिसमें रस, भावका अङ्ग होनेसे गुणीभूत हो गया है। अगले

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्त्तितालक्तक-
व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम् ।
स्पर्धाबन्धसमृद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः
कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ॥११७॥ [२ख]

अत्र भावस्य रसः ।

श्लोकका भाव यह है कि रूठी हुई पार्वतीको मनानेके लिए शिवजी उनके चरणोंपर झुक रहे हैं। उस समय उनके मस्तकपर स्थित तृतीय नेत्रकी कान्ति पार्वतीके चरणोंपर पड़कर महावरका काम कर रही है। और क्रोधके कारण अत्यन्त लाल होनेसे उसके साथ स्पर्धा करनेवाली पार्वतीके नेत्रोंकी लालकान्ति उससे पराजित होकर मानों तुरन्त ही भाग जाती है। अर्थात् शिवजीको पादावनत देखकर पार्वतीका क्रोध एकदम दूर भाग जाता है। इसमें कविकी पार्वती-विषयक भक्ति प्रधान अर्थ है। देवविषयक रति होनेके कारण 'रतिर्देवादिविषया भावः' इस लक्षणके अनुसार वह भक्ति या रति 'भाव' रूप है। श्लोकमें शृङ्गाररसका भी वर्णन है परन्तु वह प्रधान नहीं अपितु भक्ति 'भाव'का अङ्ग है। इसलिए यह अपराङ्गव्यङ्ग्यका दूसरा उदाहरण है। श्लोकका शब्दार्थ इस प्रकार है—

कैलासवासी [शिवजी] के ललाटस्थ [तृतीय] नेत्रकी कान्तिसे महावरकी [व्यक्तता या] शोभा जिसमें सम्पादित की गयी है इस प्रकारकी पार्वतीके चरणोंके नाखूनोंकी वह द्युति, तुम्हारी सदा रक्षा करे [पार्वतीके क्रोधसे आरक्त नेत्रोंकी आरक्तताको जीतनेके लिए स्पर्धाबन्ध] शर्त बदनेके कारण और भी अधिक बढ़ी हुई जिस [पादनखद्युति] के द्वारा [पार्वतीके क्रोधसे] आरक्त नेत्रोंकी लाल कमल [कोकनद] का अनुकरण करनेवाली सरस कान्ति [पराजित कर दिये जानेसे] तुरन्त भगा दी जाती है। [अर्थात् पार्वतीके मानापनोदनके लिए चरणोंपर झुके हुए शिवजीके तृतीय नेत्रकी द्युतिसे और भी अधिक आरक्त हुई पार्वतीकी नखद्युतिसे मानों पराजित होकर क्रोधारक्त नेत्रोंकी लाल कान्ति तुरन्त भाग जाती है। अर्थात् पार्वतीका क्रोध शान्त हो जाता है]।११७। [२ख]

यहाँ [पार्वतीविषयक भक्तिरूप] 'भाव'का [महादेवनिष्ठ पार्वतीविषयक सम्भोग-शृङ्गाररूप] रस [अङ्ग है]।

इसका अभिप्राय यह है कि इस श्लोकका मुख्य वाक्य 'गिरिभुवः सा पादनखद्युतिः वः सदा त्रायताम्' यह है। इससे कविके पार्वतीविषयक भक्तिरूप 'भाव'की अभिव्यक्ति होती है। वह प्रधान 'भाव' है। उसके साथ पार्वतीके मानापनोदनके लिए शिवजीके जिस व्यापारका वर्णन है वह सम्भोग-शृङ्गारका अभिव्यञ्जक है। उससे अभिव्यक्त शृङ्गाररस यहाँ प्रधानभूत भक्ति'भाव'का अङ्गमात्र है, प्रधान नहीं। अतः रसके 'भाव'का अङ्ग होनेके कारण यह श्लोक अपराङ्गरूप गुणीभूत-व्यङ्ग्यका उदाहरण हो जाता है।

तृतीय उदाहरण—

इस द्वितीय उदाहरणमें यह दिखलाया गया था कि 'रस' 'भाव'का अङ्ग हो गया है। अगला तृतीय उदाहरण इस प्रकारका दिखलाते हैं, जिसमें एक 'भाव' दूसरे 'भाव'का अङ्ग होता है। जयन्त भट्टारककृत दीपिका टीकामें यह श्लोक 'पञ्चाक्षरी' नामक कविके द्वारा भोजराजकी स्तुतिमें लिखा हुआ बतलाया गया है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधयः
तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्ताऽसि तुभ्यं नमः ।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुवः
तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥११८॥ [२ग]

अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य ।

बन्दीकृत्य नृपद्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः ।
अस्माकं सुकृतैर्दृशोर्निपतितोऽस्यौचित्यवारान्निधे
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥११९॥ [२घ]

अत्र भावस्य रसाभास—भावाभासौ प्रथमार्धद्वितीयार्धद्योत्यौ ।

चारों ओर बड़े ऊँचे-ऊँचे पहाड़ और विस्तीर्ण सागर दिखलाई पड़ते हैं। उन [जैसे भयङ्कर] इन [भारी वस्तुओं] को [अपने आप] धारण करती हुई भी [हे पृथ्वि !] तुम घबड़ाती नहीं हो, ऐसी [अद्भुत साहसमयी] तुमको [श्रद्धाभावसे मेरा] नमस्कार है। इस प्रकार आश्चर्यसे [अभिभूत हुआ] मैं जबतक बार-बार पृथिवीकी यह स्तुति कर रहा था तबतक इस [पृथिवी] को भी धारण करनेवाले तुम्हारे [राजा भोजके] भुजकी याद आ गयी [जो उसके भी भारको धारण किये हुए हैं] तब [पृथिवीकी स्तुतिपरक मेरी] वाणी बन्द हो गयी ॥११८॥ [२ ग]

यहाँ पृथिवीविषयक [कविनिष्ठ] रतिरूप 'भाव' [कविनिष्ठ] राजविषयक रति-रूप [दूसरे] 'भाव'का [अङ्ग है। इसलिए यह अपराङ्गव्यङ्ग्यका उदाहरण है]।

चतुर्थ उदाहरण—

इस प्रकार इस तृतीय उदाहरणमें एक 'भाव' दूसरे 'भाव'का अङ्ग है यह दिखलाया था; अगला उदाहरण इस प्रकारका देते हैं जिसमें राजविषयक रतिरूप 'भाव' प्रधान है और श्लोकके पूर्वार्द्धसे द्योत्य 'शृङ्गाराभास' तथा उत्तरार्द्धसे द्योत्य 'भावाभास' उसके अङ्ग हैं।

हे राजन् ! आपके सैनिक शत्रुओंकी स्त्रियोंको बन्दी बनाकर [उनके] पतियोंके सामने [उनकी पर्वाह न करके] उनको [बलात्] आलिङ्गन करते हैं, [सैनिकोंकी इस धृष्टतापर स्त्रियोंके नाराज़ होनेपर उनको प्रसन्न करनेके लिए] प्रणाम करते हैं, [उनसे बचनेके लिए स्त्रियोंके इधर-उधर हटनेपर] उनको चारों ओरसे पकड़ लेते हैं, और [धृष्टतापूर्वक बलात् उनका] चुम्बन करते हैं। और तुम्हारे शत्रु इस प्रकार [कहकर] तुम्हारी स्तुति करते हैं कि हे औचित्यके वारिधि ! [उचित कार्यके करने-वाले हे राजन् !] हमारे [पूर्वजन्मके] पुण्योंसे हमें आपके दर्शन हुए हैं इसलिए [अब आपके दर्शनसे] हमारी सारी विपत्तियाँ मिट गयी हैं ॥११९॥ [२ घ]

यहाँ पूर्वार्द्ध [में सैनिकोंका अननुरक्त पर-स्त्रीविषयक शृङ्गाराभास] और उत्तरार्द्ध [में शत्रुनिष्ठ राजविषयक रतिरूप भावाभास] से द्योत्य 'रसाभास' तथा भावाभास [कविनिष्ठ राजविषयक रतिरूप] भावके [अङ्ग हैं]।

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात् ॥१२०॥ [२ङ]

अत्र भावस्य भावप्रशमः ।

साकं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते ।
अन्याभिधायि तव नाम विभो ! गृहीतं केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥१२१॥ [२च]

अत्र त्रासोदयः ॥

इसका अभिप्राय यह है कि श्लोकके पूर्वार्द्धमें राजाके सैनिकोंका शत्रुकी स्त्रियोंके साथ जो शृङ्गारका वर्णन है वह अनौचित्यसे प्रवर्तित होनेके कारण रसाभास है, क्योंकि अनुरक्त स्त्रीके प्रति रतिसे तो रसनिष्पत्ति हो सकती है, किन्तु अननुरक्त शत्रुकी स्त्रियोंके प्रति प्रदर्शित रतिसे यहाँ 'रसाभास' ही व्यक्त होता है, रस नहीं ।

इसी प्रकार श्लोकके उत्तरार्धमें शत्रु लोग प्रकृत राजाकी स्तुति करते हुए बतलाये गये हैं । किसी शत्रुकी अपने शत्रुके प्रति रति या उसके द्वारा की जानेवाली स्तुतिको भी अनौचित्यसे प्रवर्तित होनेके कारण 'भावाभास' ही कहा जा सकता है ।

परन्तु इस श्लोकमें 'रसाभास' तथा 'भावाभास' दोनों ही अप्रधान या अङ्गभूत हैं । अङ्गी या प्रधानभूत यहाँ कवि-निष्ठ राजविषयक रति है । कवि राजाकी स्तुति कर रहा है । इसलिए कविकी राजाविषयक रति ही यहाँ मुख्य है । शेष उपरिनिर्दिष्ट रसाभास या भावाभास, दोनों उसके अङ्ग हैं । इसलिए यह अपराङ्ग व्यङ्ग्यरूप गुणीभूत व्यङ्ग्यका उदाहरण है ।

पञ्चम उदाहरण—

आगे भावशान्तिके भावका अङ्ग होनेका उदाहरण देते हैं—

[हे राजन् ! तुम्हारी अनुपस्थिति में] निरन्तर तलवार चलाने, भौंहें चढ़ाकर डराने और बार-बार गरजनेके द्वारा तुम्हारे वैरियोंका बड़ा अभिमान दिखलाई देता था, परन्तु तुम्हें देखते ही वह [मद] पलभरमें न जाने कहाँ उड़ गया ॥१२०॥ [२ङ]

यहाँ [वैरियोंके मदरूप] भावका प्रशम [भावशान्ति कविनिष्ठ राजविषयक रति-रूप] 'भाव'का [अङ्ग है । इसलिए यह भी अपराङ्ग व्यङ्ग्यका पाँचवाँ उदाहरण है] ।

षष्ठ उदाहरण—

आगे भावोदयकी अङ्गताका उदाहरण देते हैं—

हे राजन ! तुम्हारा शत्रु मित्रोंके सहित मृगनयनीके साथ जैसे ही मद्यपानकी लीलामें प्रवृत्त हुआ कि [श्लेषसे] अन्य अर्थका वाचक तुम्हारा नाम किसीने ले लिया जिससे वहाँ [उस मधुपानगोष्ठीमें] बड़ी विषम अवस्था हो गयी । [तुम्हारे नामको सुनकर सब लोग घबड़ा गये,इधर-उधर भागने लगे] ।१२१। [२च]

यहाँ त्रास [रूप भाव] का उदय [कविनिष्ठ राजविषयक रतिरूप 'भाव'का अङ्ग है । इसलिए यह भी अपराङ्ग व्यङ्ग्यरूप गुणीभूत व्यङ्ग्यका छठा उदाहरण हुआ ।

सप्तम उदाहरण—

आगे भावशान्तिकी अपराङ्गताका उदाहरण देते हैं । शिवजीकी प्राप्तिके लिए तपस्या करती हुई पार्वतीके सामने कपट वेष धारणकर उपस्थित हुए शिवजीका इस पद्यमें वर्णन है । यह पार्वती मेरे ही लिए ऐसी कठोर तपस्या कर रही है यह देखकर उनके मनमें एक बार यह भाव उत्पन्न होता

असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः ।
प्रमोदं वो दिश्यात्कपटबटुवेषापनयने
त्वरा-शैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥ १२२ ॥ [२छ]

अत्रावेगधैर्ययोः सन्धिः ।

पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर हहहा व्युत्क्रमः कासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कञ्चित्फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ॥ १२३ ॥ [२ज]

है कि क्यों न मैं इसके सामने अपने कपट वेषको हटाकर अपने-आपको प्रकट कर दूँ कि मैं ही तो वह शिव हूँ जिसके लिए तुम तपस्या कर रही हो। दूसरी ओर फिर अज्ञात रूपमें अपने प्रति पार्वतीकी अनुरागभरी बातें सुननेकी इच्छासे वह अपने सङ्कल्पको रोक लेते हैं। इस प्रकार शिवजीके त्वरा और शैथिल्यरूप भावोंकी सन्धि है। और यह भावसन्धि कविनिष्ठ शिव-भक्तिरूप 'भाव'का अङ्ग हो रही है इसलिए यह अपराङ्ग-व्यङ्ग्यका सातवाँ उदाहरण है। श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

[पार्वतीकी कोमल अवस्थाके] उस कालमें [पार्वती द्वारा की जानेवाली] तपकी कठोरता [असहभाव असहनीयता] को [देखकर द्रवीभूत हुए अतएव] न सह सकनेवाले [अर्थात् तुरन्त इच्छापूर्तिके लिए उद्यत] साथ ही पार्वतीकी [शिवानुरागपरक] विश्वस्त रूपसे की जानेवाली बातों [कथानां] का रस लेनेवाले [अतएव पार्वतीके तपकी दुःसहताको देखकर अपने] कपटपूर्ण ब्रह्मचारीके वेषके छोड़नेके लिए त्वरा और [उस अनुरागचर्चाके रसास्वादके कारण उस वेषके परित्याग करनेके लिए] शैथिल्यसे एक साथ ही अभियुक्त हुए [स्मरहर] शिवजी तुम्हें आनन्द प्रदान करें।१२२। [२छ]

यहाँ आवेग [त्वरा] और धैर्य [शैथिल्य] का सन्धि [कविनिष्ठ शिवविषयक रतिरूप 'भाव'का अङ्ग है। अतः यह अपराङ्ग व्यङ्ग्यका सातवाँ उदाहरण है]।

अष्टम उदाहरण—

आगे 'भावशबलता'के भावाङ्ग होनेपर अपराङ्ग-व्यङ्ग्यरूप गुणीभूत व्यङ्ग्यका आठवाँ उदाहरण देते हैं। इस उदाहरणमें किसी राजाकी स्तुति करता हुआ कवि जङ्गलमें रहनेवाले उसके शत्रुकी कन्याकी अवस्थाका वर्णन कर रहा है। यह कन्या वनमें फल-फूल बीनने गयी थी। वहाँ किसी कामुकसे उसका सम्बन्ध हो गया। उस समयकी कन्याकी बातोंका वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

१. [कामुक पुरुष एकान्तमें उसको पकड़ना चाहता है तो कन्या उससे मना करती हुई कहती है] अरे कोई देख लेगा।　　[शङ्का]

२. [फिर भी कामुक पास आ जाता है तो कन्या कहती है] अरे चपल हट जा [इससे रागानुविद्ध असूया सूचित होती है]　　[असूया]

३. [कहीं निराश होकर चला ही न जाय इसलिए कन्या कहती है] जल्दी क्या है [इतने अधीर क्यों हो रहे हो]　　[धृति]

अत्र शङ्काऽसूयाधृतिस्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता ।

एते च रसवदाद्यलङ्काराः ।

---

४. [फिर उसको स्मरण आता है कि] मैं कुमारी हूँ [मेरा यह प्रेम-व्यापार उचित नहीं है] [स्मृति]

५. [पर शीघ्र ही वह कामावेशमें परवश होकर कहती है] मुझे हाथका सहारा दो [पकड़ लो] [श्रम]

६. [आत्मसमर्पण कर देनेपर दैन्य प्रकट करती है] हा-हा [दैन्य]

७ [फिर उसको बोध होता है और कहती है कुमारी कन्याका यह आचरण कुलमर्यादा आदिका] अतिक्रमण है [विबोध]

८ [जब कामुक निराश होकर चल देता है तब औत्सुक्यवश कहती है] अरे तुम कहाँ जाते हो ['क्वासि' में 'असि' पद 'त्वं' पदके अर्थमें है । क्वासि यासि अर्थात् 'त्वं क्व यासि' यह अर्थ अभिप्रेत है] [औत्सुक्य]

हे राजन् [आपके डरसे भागकर] जङ्गलमें रहनेवाले आपके शत्रुकी [भोजनके लिए] फल और पत्तोंको तोड़ती हुई कन्या [अपने किसी कामुकसे] इस प्रकार कहती है ।१२३। [२ञ]

यहाँ [पश्येत् कश्चित्से] (१) शङ्का ['चल चपल रे' इससे], (२) असूया ['का त्वरा' इससे], (३) धृति ['अहं कुमारी' इससे], (४) स्मृति, ['हस्तालम्बं वितर' इससे], (५) श्रम ['हहहा' इससे], (६) दैन्य [व्युत्क्रमः इससे], (७) विबोध और ['क्वासि यासि' इससे], (८) औत्सुक्य [इन आठ भावोंकी] शबलता है [और वह कवि-निष्ठ स्तूयमान राजविषयक रतिका अङ्ग है] ।

रसवदादि अलङ्कार—

चतुर्थ उल्लासके आरम्भमें असंलक्ष्य क्रम-व्यङ्ग्य ध्वनिके निरूपणमें रसके साथ रसाभाव, भाव, भावाभास और भावशान्ति आदिकी चर्चा करते हुए ग्रन्थकारने लिखा था कि जहाँ अन्य वाक्यार्थ-की प्रधानता होनेपर रसादि उसके अङ्ग होते हैं वहाँ गुणीभूत-व्यङ्ग्यमें रसके अन्यका अङ्ग होनेपर (१) 'रसवत्', भावके अन्यका अङ्ग होनेपर (२) प्रेय, रसाभास तथा भावाभासके अन्यका अङ्ग होनेपर (३) ऊर्जस्वित्, और भावशान्ति आदिके अङ्ग होनेपर समाहित आदि अलङ्कार होते हैं । उनके उदाहरण गुणीभूत व्यङ्ग्यके निरूपणके समय देंगे । अपनी इस प्रतिज्ञाके अनुसार ही ग्रन्थकारने अपराङ्ग व्यङ्ग्य नामक गुणीभूत व्यङ्ग्यके निरूपणके प्रसङ्गमें उस प्रकारके आठ उदाहरण दिये हैं । अपनी उस पूर्व उक्तिका स्मरण दिलाते हुए ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें कहते हैं कि—

ये ही [पूर्वकथित] रसवदादि अलङ्कार हैं ।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्राचीन आचार्योंके मतमें—

गुणीभूतो रसो रसवत्, भावस्तु प्रेयः, रसाभासभावाभासौर्जस्वित् , भावशान्तिः समाहितः ।

इन चारको ही रसवत् अलङ्कारोंमें गिना गया है । भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलत्वको अलङ्कार नहीं माना गया है । तब आपको भी पाँच उदाहरण रसवदादिके देने चाहिए थे । आपने भावोदयादिके तीन अधिक उदाहरण किसलिए दिये हैं । इस शङ्काका समाधान ग्रन्थकार यह करते हैं कि यद्यपि स्पष्ट रूपसे चारको ही रसवदादि अलङ्कारोंमें गिना गया है, परन्तु जहाँ भावशान्तिको समाहित अलङ्कार बतलाया गया है वहाँ उस समाहित पदको भावोदय आदि शेष तीनका भी उपलक्षण

यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि, तथाऽपि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम् ।

यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषयः, यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्गययोः स्वप्रभेदादिभिः सह सङ्करः संसृष्टिर्वा नास्ति तथाऽपि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति कचित्केनचिद् व्यवहारः ।

माना जा सकता है, क्योंकि उनमें भी परोत्कर्षकत्वरूप अलङ्कारका लक्षण पाया जाता है। इसलिए कोई व्याख्याकार यह भी कह सकते हैं कि इन तीनोंकी भी रसवदादि अलङ्कारोंमें गणना की जानी चाहिये। उनका यह कथन नितान्त निराधार नहीं कहा जा सकता है इसलिए हमने उनके भी उदाहरण यहाँ दे दिये हैं। अपने इसी भावको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

यद्यपि [महिमभट्ट या भामह आदि प्राचीन आचार्योंने] भावोदय, भावसन्धि और भावशबलत्वको [रसवदादि] अलङ्कार नहीं कहा है फिर भी [अन्य रसवदादि अलङ्कारोंके समान इनसे भी अन्यका उत्कर्ष होता है, इसलिए लक्षणकी समानता से] कोई [व्याख्याकार उनको भी समाहित अलङ्कारके अन्तर्गत रसवदाद्यलङ्कार] कह सकता है [लक्षणकी समानताके कारण वह कथन निराधार नहीं होगा] इसलिए हमने [यहाँ रसवदादि अलङ्कारोंके प्रसङ्गमें उन तीनोंको भी] कहा है।

प्राधान्येन व्यपदेश—

ऊपर ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्गयके जो भेद दिखलाये हैं उनमें अन्य भेदोंका सङ्कर [नीर-क्षीरन्यायसे मिश्रण] या संसृष्टि [तिल-तण्डुलन्यायसे मिश्रण] भी प्रायः रहती है, परन्तु उन सङ्कीर्ण या संसृष्टि भेदोंमेंसे जिसकी प्रधानता होती है उसी नामसे उस भेदका निर्देश किया जाता है। जो कम चमत्कारजनक या गौण होता है उसके नामसे नहीं। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें कहते हैं—

यद्यपि ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलेगा जिसमें ध्वनि या गुणीभूतव्यङ्गयका अपने प्रभेदादिके साथ [नीर-क्षीरन्यायसे मिश्रणरूप अङ्गाङ्गिभाव, एकाश्रयानुप्रवेश या सन्देहरूप त्रिविध] सङ्कर अथवा [तिल-तण्डुलन्यायसे मिश्रणरूप] संसृष्टि न हो, फिर भी प्रधानताके अनुसार नामकरण किया जाता है इस [नियम] के अनुसार कहीं किसी विशेष [नाम]से व्यवहार होता है [अर्थात् दो या अधिक भेदोंके एक उदाहरणमें होनेपर भी जो प्रधान या अधिक चमत्कारजनक होता है उसके अनुसार उसका नामकरण या व्यवहार होता है]।

शब्दशक्तिमूल अलङ्कारध्वनिकी वाच्याङ्गताका उदाहरण—

यहाँतकके उदाहरणोंमें एक असंलक्ष्यक्रम रसादि ध्वनि दूसरे व्यङ्गय भावादि ध्वनिका अङ्ग हो रहा है। अतः ये रसवदलङ्कारोंके उदाहरण थे। रसवदलङ्कारोंके विशेष महत्त्वके कारण ही उनके उदाहरण इतने विस्तारके साथ दिये गये थे। अब आगे इसी अपराङ्ग व्यङ्गयके दो उदाहरण ग्रन्थकार और दे रहे हैं। इनमें क्रमशः संलक्ष्यक्रम व्यङ्गय अलङ्कारध्वनि तथा वस्तुध्वनि, वाच्यका अङ्ग हो रहा है। वस्तुध्वनि यों तो व्यङ्गय है, परन्तु वह वाच्यका अङ्ग बन गया है इसलिए ये दोनों अपराङ्ग व्यङ्गयरूप गुणीभूत व्यङ्गयके उदाहरण हैं।

इनमें पहले उदाहरणमें कवि किसी भिक्षुकके मुखसे रामचन्द्रजीके साथ उसके साम्य वर्णन करा रहा है। इसमें उपमालङ्कार व्यङ्गय है, साथमें श्लेषालङ्कार भी है। श्लेषमुखसे भिक्षुक कहता है कि—

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम् ।
कृतालङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाऽऽप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥ १२४ ॥ [२झ]

अत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाच्याङ्गतां नीतः ॥

[रामचन्द्रजी कनकमृगकी तृष्णामें जनस्थानमें उसके पीछे घूमते फिरे थे तो उनके समान मैं भी कनक] सोनेकी मृगतृष्णामें [धनकी प्राप्तिके लिए] विवेकशून्य होकर जनस्थान [अर्थात् नगरोंमें और रामचन्द्रके पक्षमें दण्डकारण्यके स्थान विशेष] में मारा-मारा फिरा और [धनाढ्योंके सामने धनकी याचना करते हुए] आँखोंमें आँसू भरे हुए पगपगपर बार-बार [कुछ धन] 'दीजिये' यह [वै] निश्चयपूर्वक बकता फिरा। [रामचन्द्रजी भी सीताहरणके बाद रोते हुए और बार-बार पग-पगपर वैदेहीका नाम लेकर पुकारते फिरते थे]। और [काभर्तुः] धूर्त धनिकोंके मुखकी भावभङ्गियों [वदनपरिपाटीषु, इशारों] पर [उनके इच्छानुसार घटना अलं अत्यर्थं] सारा व्यवहार किया। [रामचन्द्रजीने भी लङ्काभर्त्तुः रावणकी वदनपरिपाटी दश-मुखोंकी पंक्तिपर इषुघटना बाणोंका प्रयोग किया था। इस प्रकार रामके समान सारे कार्य करके] मैंने रामत्व [रामसदृशत्व] को तो प्राप्त कर लिया, परन्तु कुशल-वसुता [कुशलं प्रचुरं वसु धनं यस्य तस्य भावः कुशलवसुता] बड़ा धनिकत्व [रामचन्द्रके पक्षमें कुश-लवौ सुतौ यस्याः सा कुशलव-सुता जानकी] को प्राप्त नहीं कर सका। १२४ ।[२झ]

यहाँ रामके साथ [भिक्षुकका] उपमानोपमेयभाव शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य है [उसको 'मयाप्तं रामत्वं' कहकर] वाच्यार्थका अङ्ग बना दिया गया है। [इस-लिए यह वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्यरूप गुणीभूत व्यङ्ग्यका उदाहरण बन गया है]।

इस श्लोकमें भिक्षुकका रामचन्द्रके साथ उपमानोपमेयभाव शब्दशक्तिके द्वारा व्यङ्ग्यरूपसे स्वयं ही प्रतीत हो रहा है। परन्तु कविने अन्तिम चरणमें 'मयाप्तं रामत्वं' कहकर उस व्यङ्ग्य उपमानोपमेयभावको वाच्य 'मयाप्तं रामत्वं'का अङ्ग बना दिया है। इसलिए यह श्लोक गुणीभूत व्यङ्ग्यका उदाहरण बन गया है अन्यथा यह उत्तम ध्वनिकाव्य होता।

क्षेमेन्द्रकृत 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में यह पद्य भट्ट वाचस्पतिके पद्यके रूपमें उद्धृत हुआ है। यद्यपि यह पद्य हनुमत्कविके बनाये 'हनुमन्नाटक'के दशम अङ्कमें भी पाया जाता है, परन्तु इससे इस पद्यको भट्ट वाचस्पतिका पद्य माननेमें कोई बाधा नहीं होती है, क्योंकि हनुमन्नाटकके लेखकने अपने नाटकमें अन्य कवियोंके पद्य भी अनेक स्थानोंपर दे दिये हैं। उदाहरणके लिए कालिदासके 'अभि-ज्ञानशाकुन्तलके प्रथमाङ्कका 'ग्रीवाभङ्गाभिरामं', राजशेखरकृत 'बालरामायण'के षष्ठ अङ्कका 'सद्यः पुरीपरिसरेऽपि' तथा मुरारि कविके 'अनर्घराघव'के तृतीयाङ्कका 'समन्तादुत्तालैः सुरसहचरी' इत्यादि पद्य भी हनुमन्नाटकमें हैं।

अर्थशक्तिमूल वस्तुध्वनिकी वाच्याङ्गताका उदाहरण—

ऊपर शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य अलङ्कार ध्वनिकी वाच्याङ्गताका उदाहरण दिया था, अब अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य वस्तुध्वनिकी वाच्याङ्गताका उदाहरण आगे देते हैं—

आगत्य सम्प्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गी–
मम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः ।
एनां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते
तन्वङ्गि ! पादपतनेन सहस्ररश्मिः ॥ १२५ ॥ [२ञ]

अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः ॥

हे तन्वङ्गि ! कहीं और [सूर्यपक्षमें द्वीपान्तरमें और नायकपक्षमें दूसरी प्रेयसीके घर] रात बिताकर आनेवाला यह सहस्ररश्मि [सूर्य] अब सबेरेके समय आकर वियोगसे सङ्कुचित देहवाली इस कमलिनीको पादपतन [सूर्यपक्षमें किरणोंके संस्पर्श और नायकपक्षमें प्रणाम] के द्वारा प्रसन्न [सूर्यपक्षमें विकसित और नायक पक्षमें चाटुकारिता द्वारा प्रसन्न] कर रहा है ।१२५। [२ञ]

यहाँ अर्थशक्तिमूल वस्तुध्वनिरूप नायक व्यवहार [वाच्यभूत] निरपेक्ष रवि तथा कमलिनीके व्यवहारपर अध्यारोप द्वारा ही स्थित होता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ रवि-कमलिनीका व्यवहार तो वाच्यभूत है और नायक-नायिकाका व्यवहार व्यङ्ग्य है। वह वाच्यभूत रवि-कमलिनी व्यवहारपर आरोपित होकर ही स्थित होता है, उसके विना नहीं बन सकता है। अतः वह वस्तुभूत व्यङ्ग्य अर्थ वाच्यका अङ्ग होता है। इसलिए वह भी गुणीभूत व्यङ्ग्यके तीसरे भेद अपराङ्ग व्यङ्ग्यका उदाहरण है।

वाच्याङ्ग और वाच्यसिद्धयङ्ग व्यङ्ग्यका भेद—

यहाँतक ग्रन्थकारने गुणीभूत व्यङ्ग्यके 'अपराङ्ग व्यङ्ग्य' नामक द्वितीय भेदके दस उदाहरण दिये हैं। इनमेंसे अन्तिम दो उदाहरणोंमें क्रमशः अलङ्कार-ध्वनि तथा वस्तु-ध्वनि वाच्यका अङ्ग हो रहा है, यह बात दिखलायी है। इसलिए इन दोनोंको वाच्याङ्ग-व्यङ्ग्यका उदाहरण माना है। अभी 'वाच्यसिद्धयङ्ग-व्यङ्ग्य' नामसे गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्यका जो तीसरा भेद माना गया है उसके दो उदाहरण आगे देंगे। यहाँ शङ्का होती है कि 'वाच्याङ्ग-व्यङ्ग्य' और 'वाच्यसिद्धयङ्गव्यङ्ग्य'में क्या अन्तर है? ग्रन्थकारने इसे स्पष्ट नहीं किया है और न उनके टीकाकारोंने इस ओर ध्यान दिया है। परन्तु इस अन्तरको दिखलाना आवश्यक है, उसके विना पाठककी जिज्ञासा शान्त नहीं होती है।

यह अन्तर वस्तुतः वाच्यार्थकी निरपेक्षता और सापेक्षताके ऊपर निर्भर है। यदि वाच्यार्थको अन्य किसीकी अपेक्षा न होनेपर भी व्यङ्ग्यार्थ उसका अङ्ग बन जाता है तो वह निरपेक्ष वाच्यका अङ्ग होनेसे केवल 'वाच्याङ्ग-व्यङ्ग्य' कहलायेगा। यदि वाच्य सापेक्ष है, उसे अपनी सिद्धिके लिए दूसरे अर्थकी अपेक्षा है तो जो व्यङ्ग्य अर्थ सापेक्ष वाच्यार्थकी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए उसका अङ्ग बनता है; वह वाच्यसिद्धिका अङ्ग होनेसे 'वाच्यसिद्धयङ्ग व्यङ्ग्य' कहलाता है। यह बात काव्य प्रकाशकारने इस १२५वें श्लोककी वृत्तिमें प्रयुक्त 'निरपेक्ष' पदसे सूचित की है। इस श्लोकमें सूर्य तथा कमलिनीके वृत्तान्तका वर्णन है। वह वाच्यार्थ है। उसके साथ नायक-नायिका-व्यवहारकी प्रतीति भी व्यङ्ग्यरूपसे हो रही है। परन्तु उसके आधार नायक-नायिका वहाँ नहीं हैं इसलिए वह प्रतीति व्यङ्ग्य होनेपर भी मुख्य नहीं है। इधर रवि-कमलिनी-व्यवहार वाच्यरूप और पूर्ण है, उसे किसी अन्यकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी व्यङ्ग्य नायक-नायिका-व्यवहारसे उस वाच्यार्थमें चमत्कारकी वृद्धि हो जाती है, इसलिए वह वाच्याङ्गताका उदाहरण है।

वाच्यसिद्ध्यङ्गं यथा—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥१२६॥ [३क]

अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत् ।

यथा वा—

गच्छाम्यच्युत ! दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
किं त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः सम्भावयत्यन्यथा ।
इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा-
माश्लिष्यन्पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः ॥ १२७ ॥ [३ख]

अत्राच्युतादिपदव्यङ्ग्यमामन्त्रणेत्यादिवाच्यस्य ।

आगे जो उदाहरण वाच्यसिद्ध्यङ्ग-व्यङ्ग्यके देंगे उनमें वाच्यार्थ सापेक्ष है। व्यङ्ग्यार्थकी सहायताके बिना उसकी सिद्धि नहीं होती है। उनमें व्यङ्ग्यार्थ, सापेक्ष वाच्यकी सिद्धिका अङ्ग है। अतः वे 'वाच्यसिद्ध्यङ्ग-व्यङ्ग्य'के उदाहरण हैं। यही इनका भेद है।

वाच्यसिद्ध्यङ्ग-व्यङ्ग्यके दो उदाहरण—

गुणीभूत व्यङ्ग्यरूप मध्यम-काव्यका तीसरा भेद वाच्यसिद्ध्यङ्ग-व्यङ्ग्य है। उसके दो उदाहरण आगे देते हैं—

वाच्यसिद्ध्यङ्ग [व्यङ्ग्यका उदाहरण] जैसे—

मेघरूप सर्पसे उत्पन्न विष [विष शब्दका अर्थ जल भी होता है और हालाहल विष भी] वियोगिनियोंको बलपूर्वक [जबर्दस्तीसे] चक्कर, बेचैनी, उदासीनता [अलसहृदयता] ज्ञान और चेष्टाका अभाव [प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः] मूर्च्छा, अन्धापन [तमः] शारीरिक दुर्बलता और मरणको उत्पन्न कर देता है ॥१२६॥ [३क]

यहाँ [विष पदसे] हालाहल व्यङ्ग्य है, वह [मेघपर आरोपित] सर्परूप वाच्यार्थकी सिद्धिका उपकारक है [इसलिए वह वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्यका उदाहरण है]।

अथवा जैसे—

हे अच्युत [सम्भोग द्वारा स्खलित होकर तृप्त न करनेवाले कृष्ण] क्या आपके दर्शनमात्रसे [सम्भोगेच्छाकी] तृप्ति हो सकती है ? उल्टे एकान्त स्थानमें स्थित हम दोनोंको देखकर दुष्ट पुरुष कुछ और ही प्रकारकी [हमारे सम्भोगादिकी] कल्पना करने लगते हैं। [पर यहाँ मिला कुछ भी नहीं] इसलिए मैं जाती हूँ। इस प्रकार ['अच्युत' अर्थात् स्खलित न होनेवाले] इस सम्बोधनकी शैलीसे [अपनी इच्छापूर्तिकी ओरसे निराश और कृष्णके पास] व्यर्थ बैठनेके खेदसे अलसायी हुई गोपीका आलिङ्गन कर रोमाञ्चित शरीरवाले कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ॥१२७॥ [३ख]

यहाँ 'अच्युत' आदि पदसे व्यङ्ग्य अर्थ [इस प्रकारके] सम्बोधन इत्यादि वाच्य [की सिद्धि]का[अङ्ग हो गया है। इसलिए यह वाच्यसिद्ध्यङ्ग-व्यङ्ग्यका उदाहरण है]।

यहाँ वाच्य सिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्यके दो उदाहरण दिये हैं। इन दोनोंका भेद यह है कि पहले उदाहरणमें वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ जिन पदोंका है उन दोनोंका वक्ता एक ही अर्थात् कवि ही है। परन्तु दूसरे उदाहरणमें व्यञ्जक 'अच्युत' पदकी वक्त्री गोपी है और वह व्यङ्ग्यार्थ जिस वाच्यकी

एतच्चैकत्र एकवक्तृगतत्वेन, अपरत्र भिन्नवक्तृगतत्वेन इत्यनयोर्भेदः ।

अस्फुटं यथा—

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ॥ १२८ ॥ [४]

अत्रादृष्टो यथा न भवसि वियोगभयं च यथा नोत्पद्यते तथा कुर्या इति क्लिष्टम् ।

सन्दिग्धप्राधान्यं यथा—

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ १२९ ॥ [५]

सिद्धिका अङ्ग होता है उस सम्बोधनरूप अर्थके वाचक 'आमन्त्रण' पदका वक्ता कवि है इस प्रकार इस द्वितीय उदाहरणमें वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों भिन्नवक्तृगत है। पहिले उदाहरणमें वाच्य और व्यङ्ग्य, दोनोंका वक्ता कवि है। अर्थात् प्रथम उदाहरणमें दोनों एकवक्तृगत है और दूसरे उदाहरणमें दोनोंके अलग-अलग वक्ता हैं। यह इन दोनों उदाहरणोंका भेद है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें कहते हैं—

यह [वाच्यसिद्ध्यङ्गता] एक जगह [अर्थात् 'भ्रमिमरतिं' इत्यादि पहले उदाहरणमें वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों अर्थोंके] एकवक्तृगत और दूसरी जगह [अर्थात् 'गच्छाम्यच्युत' इत्यादि दूसरे उदाहरणमें वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थोंके] भिन्न-वक्तृगत है, यह इन दोनों उदाहरणोंका अन्तर है।

४. अस्फुट व्यङ्ग्यका उदाहरण—

आगे गुणीभूत व्यङ्ग्यके चौथे भेद 'अस्फुट व्यङ्ग्य'का उदाहरण देते हैं—

अस्पष्ट [व्यङ्ग्यका उदाहरण] जैसे—

[आपका] दर्शन न होनेपर दर्शनकी उत्कण्ठा रहती है और दर्शन होनेपर वियोगका भय रहता है। इसलिए आपका दर्शन न होने और होने, दोनों ही अवस्थाओंमें आपसे सुख नहीं मिलता है।१२८। [४]

यहाँ [कहनेवाली नायिकाका अभिप्राय यह है कि] आप ऐसा [उपाय] करिये जिससे आप न तो अदृष्ट हों और न आपके वियोगका भय हो [अर्थात् सदा मेरे पास रहें] यह [व्यङ्ग्य अर्थ है। परन्तु उसका समझना सहृदयोंके लिए भी अत्यन्त] क्लिष्ट है।

५. सन्दिग्धप्राधान्यका उदाहरण—

आगे गुणीभूत व्यङ्ग्यके पञ्चम भेद सन्दिग्धप्राधान्यका उदाहरण देते हैं—

सन्दिग्धप्राधान्य [का उदाहरण] जैसे—

यह श्लोक कुमारसम्भवसे लिया गया है। पार्वतीको देखकर शिवजीकी जो अवस्था हुई उसका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

चन्द्रमाके उदयके आरम्भमें समुद्रके [उद्वेलित हो उठने] के समान अधीर होकर शिवजीने बिम्ब फलके समान [रक्तवर्ण] अधरोष्ठसे युक्त पार्वतीके मुखपर अपनी [तीनों] आँखें गड़ा दीं।१२९। [५]

अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं, किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः ।

तुल्यप्राधान्यं यथा—

> ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये
> जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥ १३० ॥ [६]

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षणात्क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम् ।

काकाक्षिप्तं यथा—

> मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
> दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
> सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
> सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥ १३१ ॥ [७]

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादिव्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम् ।

यहाँ [शिवजी पार्वतीके मुखका] चुम्बन करना चाहते थे यह व्यङ्ग्य [प्रधान है] अथवा वाच्यरूप नेत्रोंका व्यापार [अर्थात् देखना प्रधान है] यह सन्देहास्पद है। [इसलिए यह सन्दिग्ध-प्राधान्य-व्यङ्ग्यका उदाहरण है]।

६. तुल्यप्राधान्य गुणीभूत व्यङ्ग्यका उदाहरण—

तुल्यप्राधान्य [रूप गुणीभूत व्यङ्ग्यका उदाहरण] जैसे—

ब्राह्मणके अपमान [करनेके स्वभाव अथवा क्रिया] का परित्याग करना आपके ही लिए कल्याणकारक है। क्योंकि ऐसा करनेसे [जामदग्न्य] परशुराम तुम्हारे मित्र बने रहेंगे अन्यथा [वह परशुराम तुमसे] नाराज़ हो जायँगे।१३०। [६]

महावीरचरित नाटकके द्वितीयाङ्कमें रावणको लक्ष्यमें रखकर रावणके मन्त्री माल्यवान्‌के पास परशुरामने जो सन्देश भेजा है उसमें यह श्लोक दिया गया है।

यहाँ [नाराज़ हो जानेपर] परशुराम [ने जैसे सारे क्षत्रियोंका नाश कर दिया था। उसी प्रकार] सारे क्षत्रियोंके समान राक्षसोंका भी क्षणभरमें नाश कर देगा, इस व्यङ्ग्यका और वाच्य [नाराज हो जायँगे] का समान ही प्राधान्य है। [इसलिए यह गुणीभूत व्यङ्ग्यका उदाहरण है]।

७. काकाक्षिप्त व्यङ्ग्यका उदाहरण—

काकुसे आक्षिप्त [गुणीभूत व्यङ्ग्यका उदाहरण] जैसे—

यदि आपका [अर्थात् मेरा नहीं] राजा किसी शर्तपर [कौरवोंके साथ] सन्धि कर ले तो क्या मैं क्रोधसे युद्धभूमिमें समस्त कौरवोंका नाश नहीं करूँगा ? [अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार] दुःशासनकी छातीसे [उसका] रक्तपान न करूँगा ? और [अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार] गदासे दुर्योधनकी जाँघें नहीं तोड़ूँगा ? [अर्थात् युधिष्ठिर भले ही सन्धि कर लें, पर मैं तो कौरवोंका नाश अवश्य करूँगा]।१३१। [७]

यहाँ 'अवश्य नाश करूँगा' यह व्यङ्ग्य काकुसे आक्षिप्त होनेके कारण वाच्य निषेध [न मथ्नामि] के साथ-साथ ही प्रतीत [स्थित] होता है।

असुन्दरं यथा—

वाणीरकुणङ्गुड्डीणसउणकोलाहलं सुणन्तीए ।
घरकम्मवावडाए वहुए सीअन्ति अङ्गाइं ॥ १३२ ॥
[वाणीरकुञ्जोड्डीन-शकुनिकुलकोलाहलंशृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥ इति संस्कृतम्] [८]

अत्र दत्तसङ्केतः कश्चिल्लतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् सीदन्त्यङ्गानीति वाच्यं सचमत्कारम् ॥

[सू० ६७]-एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥ ४६ ॥

---

८. असुन्दर व्यङ्ग्यका उदाहरण—

[गुणीभूत व्यङ्ग्यके आठवें भेद] असुन्दर व्यङ्ग्य [का उदाहरण] जैसे—

बेत [वाणीरकी लताओं] के कुञ्जमें उड़ते हुए पक्षियोंके कोलाहलको सुनकर घरके काममें लगी हुई वधूके अङ्ग शिथिल हो रहे हैं ।१३२। [८]

यहाँ [जिसके साथ कुञ्जमें मिलनेका समय निश्चित किया था इस प्रकारका] 'दत्तसङ्केत कोई [अर्थात् प्रेमी पुरुष नियत समयपर] लतागृहमें प्रविष्ट हो गया' इस व्यङ्ग्यसे 'वधूके अङ्ग शिथिल हो रहे हैं' यह वाच्य अधिक चमत्कारजनक है। [अतः यह गुणीभूत व्यङ्ग्यके असुन्दर व्यङ्ग्य नामक आठवें भेदका उदाहरण है]।

गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्यके भेदोंका विस्तार—

इस प्रकार गुणीभूत व्यङ्ग्यके आठ भेद बतलाये गये हैं। ऊपर ध्वनिकाव्यके ५१ भेद दिखलाये गये थे। ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्यका भेद वस्तुतः व्यङ्ग्यकी प्रधानता और अप्रधानताके कारण ही होता है अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्य अर्थका प्राधान्य होता है वहाँ 'ध्वनिकाव्य' अर्थात् उत्तम-काव्य, और जहाँ उसका अप्राधान्य होता है वहाँ 'गुणीभूत-व्यङ्ग्य-काव्य' या मध्यम-काव्य कहा जाता है। इसलिए जैसे व्यङ्ग्यके प्रधान होनेपर ध्वनि-काव्यरूप उत्तम काव्यके ५१ भेद दिखलाये गये थे उसी प्रकार गुणीभूत व्यङ्ग्य-रूप मध्यम-काव्यके भी वे ५१ भेद होने चाहिये। परन्तु जहाँ वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है, वहाँ वस्तुकी अपेक्षा अलङ्कारका सदा प्राधान्य होनेके कारण उसको गुणीभूत नहीं माना जाता है। उसको सदा ध्वनि-काव्य ही माना जाता है। इस बातका समर्थन करनेके लिए ग्रन्थकारने ध्वन्यालोककी कारिका आगे उद्धृत की है। वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यके पहिले (१) स्वतःसम्भवी, (२) कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा (३) कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध तीन भेद किये थे। फिर उनके पदगत, वाक्यगत तथा प्रबन्धगत तीन भेद होकर वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यके ३×३ = ९ भेद, ध्वनि-काव्यके ५१ शुद्ध भेदोंमेंसे कम कर देनेसे गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्यके ५१–९ = ४२ भेद रह जाते हैं।

इसी बातको ग्रन्थकारने इस प्रकार कहा है—

[सू० ६७] इनके [अर्थात् गुणीभूत व्यङ्ग्यके मुख्य भेदोंके] अवान्तर भेद यथासम्भव पहले [कहे हुए ध्वनिभेदों] के समान समझ लेने चाहिये ।४६।

'यथायोगं'का आशय यह है कि गुणीभूत-व्यङ्ग्यमें जिन भेदोंके बननेमें कोई कठिनाई नहीं है उनको तो ध्वनिभेदोंके समान बना लेना चाहिये और जिन भेदोंके बननेमें बाधा उपस्थित होती है उनको छोड़ देना चाहिये। ध्वनिके प्रकरणमें ध्वनिके मुख्य ५१ भेद किये थे। उसी शैलीसे

यथायोगमिति--

'व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा ।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्' ।।

इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूत-व्यङ्ग्यत्वम् ।।

यदि गुणीभूत व्यङ्ग्यके भी भेद किये जायँ, तो उसके आठ भेदोंमेंसे प्रत्येक भेदके उसी प्रकार ५१ भेद बनने चाहिये । परन्तु आगे ध्वन्यालोकका श्लोक उद्धृत कर ग्रन्थकारने यह दिखलाया है कि उनमें ९ भेद गुणीभूत व्यङ्ग्यमें सम्भव नहीं है । इसलिए गुणीभूत व्यङ्ग्यके प्रत्येक भेदके ५१−९ = ४२ अवान्तर भेद होते हैं और आठों भेदोंके सब अवान्तर भेदोंको मिलाकर ४२×८ = ३३६ भेद हो जाते हैं । इसी बातको आगे लिखते हैं—

'यथायोगं' [इसका अभिप्राय यह है कि]—

जब वस्तुमात्रसे अलङ्कारोंकी अभिव्यक्ति होती है, तब उन [अलङ्कारों] की निश्चित रूपसे [ध्वन्यङ्गता] ध्वनि व्यवहार-प्रयोजकता ही होती है, क्योंकि [काव्य-लक्षणमें अलङ्कारका समावेश होनेके कारण वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यवाले उदाहरणोंमें] काव्य [पद] का व्यवहार उस [अलङ्कार] के आश्रित होता है । [अर्थात् वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य होनेपर गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं, ध्वनिकाव्य ही माना जाता है ।]

[तदनुसार] ध्वनिकार [श्री आनन्दवर्धनाचार्य] द्वारा प्रतिपादित इस शैलीसे जहाँ वस्तुमात्रसे अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व नहीं होता है ।

ध्वनिकाव्यके ५१ भेद—

चतुर्थ उल्लासमें ध्वनिकाव्यके ५१ भेद इस प्रकार किये गये थे—लक्षणामूलध्वनिके दो भेद [अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य], अभिधामूल ध्वनिके १६ भेद [१ असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य] संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके (क) शब्दशक्त्युत्थ, (ख) अर्थशक्त्युत्थ, (ग) उभयशक्त्युत्थ तीन मुख्य भेदोंमेंसे शब्दशक्त्युत्थ ध्वनिके वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनिरूप दो भेद + अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिके १२ भेद + उभयशक्त्युत्थका एक भेद । अर्थात् असंलक्ष्यक्रमका १ + और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यके १५ = १६ अभिधामूल + २ लक्षणामूल = १८ ध्वनिके भेद हुए । ये सब भेद पदगत तथा वाक्यगत भेदसे दो-दो प्रकारके हो जाते हैं । इस प्रकार १८×२ = ३६ भेद बने । इनमें अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिके जो बारह भेद हैं वे प्रबन्धगत भी होते हैं; उनको जोड़ देनेसे ३६ + १२ = ४८ भेद हुए । इनमें असंलक्ष्यक्रमका जो एक भेद दिखलाया है वह पदगत, पदांशगत, वाक्यगत और अर्थगत, चार प्रकारका हो सकता है । उनमेंसे एककी गणना ऊपरके ४८ भेदोंमें आ चुकी है । इसलिए तीन भेद इसमें और जोड़नेपर ४८ + ३ = ५१ ध्वनि-भेद हो जाते हैं ।

इनमें अर्थशक्त्युत्थके जो १२ भेद दिखलाये थे वे निम्नलिखित प्रकार दिये गये थे—

स्वतःसम्भवी	कविप्रौढोक्तिसिद्ध	कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध
१ वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्य	५ वस्तुसे वस्तु	९ वस्तुसे वस्तु
२ वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य	६ वस्तुसे अलङ्कार	१० वस्तुसे अलङ्कार
३ अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्य	७ अलङ्कारसे वस्तु	११ अलङ्कारसे वस्तु
४ अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्य	८ अलङ्कारसे अलङ्कार	१२ अलङ्कारसे अलङ्कार

गुणीभूत व्यङ्ग्यके ४२ भेद—

सामान्यतः ये ५१ भेद गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्यके भी होने चाहिये। किन्तु, जैसा कि ध्वन्यालोकके आधारपर अभी ग्रन्थकारने लिखा है, वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य होनेपर गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं होता। इसलिए स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध, और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यके इन तीन भेदोंके पदगत, वाक्यगत तथा प्रबन्धगत रूपसे प्रत्येकके तीन भेद होकर कुल ३ × ३ = ९ भेद हो जाते हैं। ध्वनिकाव्यके ५१ भेदोंमेंसे यदि इन नौ भेदोंको कम कर दिया जाय तो बचे हुए ५१ − ९ = ४२ भेद गुणीभूत-व्यङ्ग्यके आठ अवान्तर भेदोंमेंसे प्रत्येक भेदके और आठोंको मिलाकर ४२ × ८ = ३३६ गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्यके शुद्ध भेद हो सकते हैं। उनकी संसृष्टि-सङ्कर आदिसे उनका और भी विस्तार हो जाता है, जिसे हम संक्षेपमें आगे दिखलावेंगे।

संसृष्टि और सङ्कर—

आगे उद्धृत की जानेवाली ध्वन्यालोककी कारिकाके आधारपर ध्वनि तथा गुणीभूत-व्यङ्ग्य तथा वाच्य अलङ्कारोंकी संसृष्टि तथा सङ्करकृत भेदोंके प्राचुर्यके दिखलानेके लिए ग्रन्थकारने अगली कारिका लिखी है। परन्तु यह कारिका कुछ अस्पष्ट और कठिन-सी हो गयी है। इसलिए उसको समझने तथा समझाने, दोनोंके लिए विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता है।

सबसे अधिक क्लिष्टता कारिकाके 'सालङ्कारैः' पदके कारण है। टीकाकारोंके अनुसार 'सालङ्कारैः' यह पद यहाँ वाच्यालङ्कारों तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य, दोनोंका ग्राहक है। गुणीभूत व्यङ्ग्य, उस वाक्यमें जो प्रधानभूत अर्थ होता है उसका उत्कर्षाधायक होता ही है, इसलिए काव्यकी शोभाका जनक होनेसे उसको भी 'अलङ्कार' कहा जा सकता है और उपमा आदि वाच्य अलङ्कारोंके लिए तो अलङ्कार पदका प्रयोग होता ही है। इसलिए कारिकामें आये हुए 'सालङ्कारैः' पदसे उपमादि वाच्यालङ्कार तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य इन दोनों अर्थोंका ग्रहण यहाँ अभिप्रेत है। इस प्रकार यहाँ 'सालङ्कारैः' इस पदके ये दो भिन्न अर्थ हैं।

'प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते' इस नियमके अनुसार दोनों अर्थोंके लिए यहाँ दो बार 'सालङ्कारैः' पदका प्रयोग होना चाहिये और हुआ भी है। परन्तु 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इस सूत्रके अनुसार उनमेंसे एकका लोप होकर एक ही 'सालङ्कार' पद शेष रह गया है। उसीसे दोनों अर्थ निकलते हैं। गुणीभूत व्यङ्ग्यके लिए 'सालङ्कारैः' शब्दका प्रयोग माननेपर अलङ्कार शब्दमें भावप्रधान-निर्देश मानकर 'अलङ्कार'का अर्थ 'अलङ्कारत्व' या 'अलङ्कृति' या 'शोभा' होगा। गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्यमें व्यङ्ग्य अर्थ स्वयं गुणीभूत होनेपर भी प्रधान अर्थका शोभा-जनक होता है। इसलिए गुणीभूत व्यङ्ग्यके भेदोंको स्वयं 'अलङ्कृति युक्त' या 'सालङ्कार' कहा जा सकता है। इस पक्षमें कारिकाके 'सालङ्कारैः तैः'का अर्थ 'तैरेव अलङ्कारैः' अर्थात् 'शोभाजनकैः गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदैः' होगा।

दूसरे पक्षमें 'सालङ्कारैः' पदका अर्थ 'अलङ्कारसहितैस्तैः' अर्थात् 'उपमादिवाच्यालङ्कारसहितैश्च गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदैः'। यह हो जाता है। इसी बातको सूत्रकी वृत्तिमें 'तैरेव अलङ्कारैः, अलङ्कारयुक्तैश्च तैः' इन पदोंसे ग्रन्थकारने निर्दिष्ट किया है। उनके साथ 'ध्वनेः' अर्थात् ध्वनिके भेदोंकी संसृष्टि अर्थात् तिल-तण्डुल-न्यायसे मिश्रण तथा सङ्कर अर्थात् नीर-क्षीर-न्यायसे मिश्रण द्वारा योग हो सकता है। इस प्रकार यहाँ तीन तत्त्व उपस्थित हैं—(१) ध्वनिके भेद, (२) गुणीभूत व्यङ्ग्यके भेद जो स्वयं अलङ्कार रूप हैं और (३) वाच्य अलङ्कार। इन तीनोंकी 'संसृष्टि' तथा विविध 'सङ्कर'से भेदोंकी बहुत अधिक संख्या हो जाती है। इसी बातको ग्रन्थकार अगले सूत्र और उसकी वृत्तिमें इस प्रकार कहते हैं—

[सू० ६८]-**सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्करैः ।**

सालङ्कारैरिति । तैरेवालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः । तदुक्तं ध्वनिकृता—

स गुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः ।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा ।। इति ।।

[सू० ६९]-**अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्यातिभूयसी ।। ४७ ।।**

एवमनेन प्रकारेण अवान्तरभेदगणनेऽतिप्रभूतरा गणना । तथा हि—शृङ्गारस्यैव भेद-प्रभेदगणनायामानन्त्यं, का गणना तु सर्वेषाम् ।

[सू० ६८]—[काव्यशोभाजनक] १ अलंकृतिरूप उन्हीं [गुणीभूत व्यङ्ग्यके भेदों], और २ [उपमादि वाच्य] अलङ्कारोंके साथ ३ ध्वनिके भेदोंकी संसृष्टि [अर्थात् तिल-तण्डुलन्यायसे निरपेक्ष मिश्रण] और सङ्कर [अर्थात् क्षीर-नीर-न्यायसे सापेक्ष मिश्रण] रूपसे योग होता है ।

'सालङ्कारैः' इस [पद] से [एकशेष द्वारा दो अर्थ बोधित होते हैं ।] १ अल-ङ्कृति [शोभायुक्त] रूप उन [गुणीभूत व्यङ्ग्य भेदों], उन्हींके साथ, २ [उपमादि रूपवाच्य] अलङ्कारोंके सहित [३ ध्वनिके भेदोंकी संसृष्टि तथा सङ्कर रूपसे योग होता है] जैसा कि ध्वनिकार [आनन्दवर्धनाचार्य]ने कहा है—

वह [ध्वनि उपमादि वाच्य] १ अलङ्कारों सहित, [अलंकृति अर्थात् शोभायुक्त] २ गुणीभूत व्यङ्ग्यके [भेदोंके] साथ और ३ अपने [ध्वनिके] अवान्तर भेदोंके साथ [अर्थात् १ ध्वनिभेद, २ गुणीभूत व्यङ्ग्यके भेद और ३ वाच्यालङ्कार इन तीनोंके साथ] सङ्कर तथा संसृष्टि द्वारा और भी अनेक प्रकार [के भेदों] से [विशिष्ट होकर] अत्यन्त प्रकाशित होता है । यह [ध्वनिकारने कहा है] ।

[सू० ६९]—इस प्रकार एक-दूसरेके मिश्रणसे भेदोंकी संख्या बहुत अधिक हो जायगी ।

सङ्कर-संसृष्टि आदि सहित गणना—

इस प्रकारसे अवान्तर भेदोंकी गणना करनेसे [ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्यके भेदोंकी] की गणना बहुत अधिक बढ़ जाती है । जैसे अकेले शृङ्गारके भेद-प्रभेदोंकी गणना ही अनन्त हो जाती है फिर सबकी गणनाकी तो बात ही क्या ।

संसृष्टि-सङ्करसे भेदोंका विस्तार—

५१ ध्वनिभेदोंके त्रिविध सङ्कर तथा एक प्रकारकी संसृष्टि द्वारा भेदोंका विस्तार करते समय काव्यप्रकाशकारने गुणनप्रक्रियाका अवलम्बन कर ५१ × ५१ = २६०१ × ४ = १०४०४ सङ्कर तथा संसृष्टिकृत भेद किये थे । उनके साथ ५१ शुद्ध भेदोंको मिलाकर १०४०४ + ५१ = १०४५५ भेद ध्वनिकाव्यके सङ्कर और संसृष्टि-जन्य माने थे ।

यदि इसी प्रक्रियाका यहाँ अवलम्बन करें तो गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यके प्रत्येक भेदके ४२ × ४२ × ४ = ७०५६ सङ्कर तथा संसृष्टि अन्य भेद बनेंगे । उनके साथ शुद्ध भेदोंको मिला देनेपर ७०५६ × ४२ = ७०९८ भेद, गुणीभूत व्यङ्ग्यके प्रत्येक अवान्तर भेदके बनेंगे । इसलिए आठों अवान्तर भेदोंको मिलाकर गुणीभूत व्यङ्ग्यके ७०९८ × ८ = ५६७८४ भेद बन जायँगे ।

सुधासागरकारका मत—

गुणीभूत व्यङ्ग्यके प्रत्येक अवान्तर भेदके शुद्ध भेद हमने ५१ – ९ = ४२ बतलाये हैं। परन्तु सुधासागरकारने ४२ के स्थानपर ४५ शुद्ध भेद माने हैं। फिर ४५ × ४५ = २०२५ × ४ ८१०० प्रकारके संसृष्टि सङ्कर भेदोंके साथ ४५ शुद्ध भेदोंको मिलाकर ८१०० + ४५ = ८१४५ भेद माने हैं। फिर इनको ध्वनिके पूर्वोक्त १०४५५ भेदोंके साथ गुणा करके १०४५५ × ८१४५ = ८५१५५९७५ प्रकारकी संसृष्टि और इस संख्याको चारसे गुणा करके ८५१५५९७५ × ४ = ३४०६२ ३९०० भेद ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्यके भेदोंके सङ्कर तथा संसृष्टिजन्य भेद माने हैं।

सुधासागरकारने गुणीभूत व्यङ्ग्यके जो ८१४५ भेद दिखलाये हैं वे गुणीभूत व्यङ्ग्यके आठ भेदोंमेंसे प्रत्येक भेदके बनते हैं। आठों अवान्तर भेदोंके कुल मिलाकर कितने भेद बनेंगे इसकी ओर ध्यान नहीं दिया है। यदि आठों भेदोंको मिलाकर फिर ध्वनि-काव्यके भेदोंके साथ सङ्कर और संसृष्टि की जाय तो यह संख्या अठगुनी हो जायगी।

सुधासागरकारकी भूल—

सुधासागरकारके इस मतमें एक आपत्ति यह है कि उन्होंने गुणीभूत व्यङ्ग्यके मूल ४५ भेद मानकर यह सब गणना की है। परन्तु वह संख्या ४५ नहीं ४२ होनी चाहिये। 'वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य होनेपर ध्वनिकाव्य ही होता है, गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं होता है' ध्वन्यालोककारके इस कथनके अनुसार ध्वनिकाव्यके ५१ भेदोंमेंसे वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यवाले ९ भेदोंको निकाल देनेपर गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्यके ४२ ही मूल भेद निकलेंगे, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यके नौ भेद बनते हैं। पहिले स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन प्रकारके भेद वस्तुसे अलङ्कार-व्यङ्ग्य ध्वनिके होते हैं। फिर उन तीनोंके पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत तीन-तीन भेद होकर वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य ध्वनिके नौ भेद बन जाते हैं। गुणीभूत व्यङ्ग्यमें जब वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यकी गणना नहीं होती तो ध्वनिके ५१ भेदोंमेंसे इन नौको कम कर देनेपर ५१ – ९ = ४२ गुणीभूत व्यङ्ग्यके भेद रहते हैं। सुधासागरकारने जो ४५ भेद माने हैं वे ठीक नहीं है। उन्होंने ५१ मेंसे ९ के बजाय केवल ६ भेद कम किये हैं। वह युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता है।

४२ भेदोंका गुणनप्रक्रियासे विस्तार—

सुधासागरकारने जैसे ४५ भेदोंका आगे विस्तार किया है इसी प्रकार यदि ४२ मूल भेद मानकर विस्तार किया जाय तो ४२ × ४२ = १७६४ × ४ = ७०५६ गुणीभूत व्यङ्ग्यके सङ्कर संसृष्टि अन्य और उनके साथ शुद्ध ४२ भेदोंको मिला देनेपर ७०५६ + ४२ = ७०९८ भेद, गुणीभूत व्यङ्ग्यके प्रत्येक अवान्तर भेदके बनेंगे। इनको ध्वनिभेदोंके साथ गुणन करनेपर १०४५५ × ७०९८ = ७४२०९५९० प्रकारकी ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्यके भेदोंकी केवल संसृष्टि बनेगी। सङ्कर संसृष्टि दोनों भेद बनानेके लिए इस संख्याको ४ से गुणा करना होगा। यह संख्या तब ७४२०९५९०×४ = २९६८३८३६० हो जायगी। वह संख्या गुणीभूत व्यङ्ग्यके प्रत्येक भेदकी ध्वनि भेदोंके साथ सङ्कर तथा संसृष्टिसे बनेगी। यदि आठों भेदोंकी सङ्कर-संसृष्टिकी गणना की जाय तो यह संख्या फिर अठगुनी होकर २९६८३८३६०×८ = २३७४७०६८८० हो जायगी। सुधासागरकारने अन्तिम दो गुणन नहीं किये हैं।

सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः, व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथा हि किञ्चिद्वाच्यतां सहते किञ्चित्त्वन्यथा। तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं चेति। अविचित्रं वस्तुमात्रम् विचित्रं त्वलङ्काररूपम्। यद्यपि प्राधान्येन तदलङ्कार्यं, तथापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तथोच्यते।

सङ्कलनप्रक्रियासे विस्तार—

यह ऊपर दिखलाया हुआ भेदोंका विस्तार गुणनप्रक्रियाके अनुसार है। हम ध्वनिभेदोंके विस्तारके प्रकरणमें यह लिख आये हैं साहित्यदर्पणकारने ध्वनिभेदोंके विस्तारमें सङ्कलन-प्रक्रियाका अवलम्बन किया है। यदि उसी सङ्कलनप्रकियाका यहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्यके भेदोंके विस्तारमें भी अवलम्बन किया जाय तो परिणाम भिन्न निकलेगा। उस दशामें गुणीभूत व्यङ्ग्यके ४२ भेदोंका सङ्कर निकालनेके लिए १ से ४२ तक संख्याओंको जोड़ना होगा। सङ्कलनकी संक्षिप्त प्रक्रियाके अनुसार ४२ + १ = ४३×$\frac{४२}{२}$ अर्थात् ४३×२१ = ९०३×४ = ३६१२ सङ्कर तथा संसृष्टिकृत + ४२ = ३६५४ भेद ही गुणीभूत व्यङ्ग्यके प्रत्येक भेदके बनेंगे। इनको ध्वनिके १०४५५ भेदोंके साथ गुणा करनेपर १०४५५×३६५४ = ३८२०२५७० ध्वनि गुणीभूत व्यङ्ग्यके प्रत्येक भेदके साथ संसृष्टिकृत भेद होंगे। इस संख्याको ४ से गुणा करनेपर ३८२०२५७० × ४=१५२८१०२८० भेद सङ्कर तथा संसृष्टिकृत होंगे। गुणीभूत व्यङ्ग्यके आठ भेदोंकी दृष्टिसे इस संख्याको ८ से गुणा करनेपर १५२८१०२८०×८ = १२२२४८२२४० भेद हो जायँगे।

यह सब विस्तार बड़ा लम्बा और श्रम-साध्य है। बहुत उपयोगी भी नहीं है। इसलिए ग्रन्थकारने उसको नहीं दिखलाया है, 'अन्योऽन्ययोगादेवं स्याद् भेदसंख्यातिभूयसी' लिखकर इस अनुपयुक्त प्रसङ्गको समाप्त कर दिया है।

व्यञ्जनाकी अपरिहार्यता—

इस प्रकार यहाँतक ग्रन्थकारने ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्यके भेदोपभेदोंका वर्णन किया। अब आगे इस पञ्चम उल्लासके शेष भागमें वे व्यञ्जनावृत्तिकी अपरिहार्यताका प्रतिपादन करेंगे और यह दिखलावेंगे कि ध्वनिके जितने भी भेद हैं उनकी प्रतीति केवल व्यञ्जनाके द्वारा ही हो सकती है। व्यञ्जनाके अतिरिक्त उनकी प्रतीतिका और कोई मार्ग नहीं है। इसी दृष्टिसे वे पहिले ध्वनिके वाच्यता-सह और वाच्यता असह दो भेद करते हैं। वाच्यता-सहके भी विचित्र तथा अविचित्र दो भेद करके विचित्रको 'अलङ्कार-ध्वनि' तथा अविचित्रको 'वस्तु-ध्वनि'के अन्तर्भूत करते हैं। तीसरा रसादि ध्वनि वाच्यता-असह है वह कभी वाच्य नहीं हो सकता है, सदा व्यङ्ग्य ही होता है। इसलिए उसके लिए व्यञ्जनावृत्तिका मानना अनिवार्य है। इस प्रकार व्यञ्जनावृत्तिकी सिद्धिके लिए पहली युक्ति देते हुए वे लिखते हैं कि—

संक्षेपसे [सङ्कलनेन] व्यङ्ग्यके तीन प्रकारके होनेसे इस ध्वनिके भी तीन भेद होते हैं। जैसे कि [उन तीन प्रकारके व्यङ्ग्योंमेंसे] कोई [वस्तु तथा अलङ्काररूप दो प्रकारका ध्वनि] वाच्यताको सहन कर सकता है [अर्थात् वस्तुध्वनि और अलङ्कार-ध्वनिके रूपमें जो अर्थ व्यङ्ग्यरूपसे प्रतीत होता है वह अर्थ अन्य दशामें वाच्य भी हो सकता है] और कोई [रसध्वनि] अन्य प्रकारका [अर्थात् वाच्यताका सहन न करनेवाला, कभी वाच्य न हो सकनेवाला] होता है। उनमेंसे वाच्यताको सहन करने वाला [व्यङ्ग्यार्थ भी] विचित्र तथा अविचित्र [दो प्रकारका] होता है। अविचित्र वस्तु-

रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाऽभिधीयेत। न चाभिधीयते। तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे तस्याऽप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते, इति निश्चीयते। तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव। मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः॥

अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतावाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं व्यङ्ग्यं विना लक्षणैव न भवतीति प्राक् प्रतिपादितम्।

मात्र और विचित्र अलङ्कार रूप [कहलाता है]। यद्यपि [व्यङ्ग्य होनेके कारण] प्रधान होनेसे वह [व्यङ्ग्यार्थ] अलङ्कार्य होता है [अलङ्कार नहीं] फिर भी [अन्यत्र उपमादि वाच्य अलङ्कारके रूपमें भी देखा जा चुका है। इसलिए भूतपूर्व गति अथवा] ब्राह्मण-श्रमण-न्यायसे उस प्रकार [अलङ्कार नामसे] कहा जाता है।

रसप्रतीतिके लिए व्यञ्जना अनिवार्य—

[तीसरा] रसादि रूप अर्थ तो स्वप्नमें भी वाच्य नहीं हो सकता है। [क्योंकि उसको यदि वाच्य कहा जाय तो] वह या तो रसादि शब्दसे अथवा शृङ्गारादि शब्दसे [ही] अभिधाशक्तिसे [वाच्यरूपमें] कहा जा सकता है। परन्तु [इन दोनों शब्दोंसे अभिधाशक्तिके द्वारा] कहा नहीं जाता है। [क्योंकि] उन [रसादि अथवा शृङ्गारादि शब्दों]का प्रयोग होनेपर भी विभावादिका प्रयोग न होनेपर उसकी अनुभूति न होने, और उन [वाचक रसादि या शृङ्गारादि शब्दों]के प्रयोग न होनेपर भी विभावादिका प्रयोग होनेपर उस [रसादि]की अनुभूति होनेसे, विभावादिके कथनके द्वारा ही उस [रसादि] की प्रतीति होती है यह बात अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध होती है [निश्चीयते]। इसलिए वह [रसादि ध्वनि या अर्थ सदा] व्यङ्ग्य ही होता है। [वाच्य कभी भी नहीं होता है]। और [जैसा कि दूसरे उल्लासमें २५वें एवं २६वें सूत्र द्वारा कहा जा चुका है] मुख्यार्थ—बाध आदि [लक्षणाके प्रयोजक हेतुओं] के न होनेसे वह लक्षणीय [लक्षणा-गम्य] भी नहीं [हो सकता] है [इसलिए रसादि-प्रतीति व्यङ्ग्य ही है]।

लक्षणामूल ध्वनिमें व्यञ्जना अनिवार्य—

इस प्रकार अभिधामूल ध्वनिमें असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादिरूप अर्थकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जना-वृत्तिका मानना अपरिहार्य है इस बातके कहनेके बाद ध्वनिके अन्य जो भेद माने गये हैं उनमें भी व्यञ्जनाके द्वारा ही व्यङ्ग्य अर्थकी प्रतीत हो सकती है। अन्य किसी वृत्तिसे काम नहीं चल सकता है इस बातका प्रतिपादन करनेके लिए पहले लक्षणामूल ध्वनिके अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यरूप दोनों भेदोंमें व्यञ्जनाकी अनिवार्यता दिखलाते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

[अविवक्षित वाच्य या लक्षणामूल ध्वनिके] अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य [दोनों भेदों] में वस्तु मात्ररूप व्यङ्ग्यके बिना लक्षणा ही नहीं हो सकती है यह पहले [सू० २४, २५ में] प्रतिपादन कर चुके हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य लक्षणामूल ध्वनिका 'त्वामस्मि वच्मि' इत्यादि और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य लक्षणामूल ध्वनिका 'उपकृतं बहु तत्र' इत्यादि दोनों उदाहरण सं० २३, २४ पर पहिले दिये जा चुके हैं। उनमेंसे पहिले उदाहरणमें 'वच्मि' आदि पद उपदेश आदि रूप

शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम् ॥

अर्थान्तरमें संक्रान्त हो जाते हैं और दूसरे उदाहरणमें 'उपकृतं' आदि पद अपने अर्थको बिलकुल छोड़कर 'अपकृतं' आदि अर्थोंका द्योतन कराते हैं। इनमें व्यङ्ग्य प्रयोजनकी प्रतीति ही लक्षणाका आधार है। यदि वह व्यङ्ग्य प्रयोजन न हो तो उसमें लक्षणा ही न हो सकेगी। और उस व्यङ्ग्य प्रयोजनका बोध अभिधा या लक्षणा द्वारा नहीं होता है। यह बात 'नभिधा समयाभावात् हेत्वाभावान्न लक्षणा' इत्यादि सू० २४–२५ में कह चुके हैं। अतः लक्षणामूल ध्वनिके अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य दोनों भेदोंमें प्रयोजनकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जना वृत्तिका मानना अनिवार्य है।

अभिधामूल शब्दशक्त्युत्थ ध्वनिमें व्यञ्जना अनिवार्य—

इस प्रकार लक्षणामूल ध्वनिके दोनों भेदोंमें व्यञ्जना वृत्तिकी अपरिहार्यताको दिखलानेके बाद अभिधा ध्वनिके भेदोंमें व्यञ्जना वृत्तिकी अनिवार्यता दिखलानेका उपक्रम करते हैं। अभिधामूल ध्वनिके पहले दो भेद होते हैं—(१) असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य और (२) संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य। इनमेंसे असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादि ध्वनिमें व्यञ्जनावृत्तिकी अनिवार्यता अभी दिखला चुके हैं। इसलिए संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यमें व्यञ्जनाकी अनिवार्यता दिखलानेका कार्य शेष रह जाता है। उसीका विवेचन आगे करेंगे।

संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यके (१) शब्दशक्त्युत्थ, (२) अर्थशक्त्युत्थ, (३) उभयशक्त्युत्थ ये तीन भेद किये थे। उनमेंसे पहले शब्दशक्त्युत्थ भेदको लेते हैं। जहाँ अनेकार्थक शब्दका प्रकरणादिवशात् एकार्थमें नियन्त्रण हो जानेपर भी अन्य अर्थकी प्रतीति होती है उसे शाब्दीव्यञ्जना या शब्दशक्त्युत्थ-ध्वनि कहते हैं। यह वस्तु और अलङ्काररूपसे दो प्रकारका होता है। यहाँ अभिधाका एकार्थमें नियन्त्रण हो जानेसे अन्य अर्थकी प्रतीति अभिधासे नहीं हो सकती है। उसके लिए व्यञ्जना-व्यापार मानना ही होगा। इसी प्रकार इस स्थलपर प्रतीत होनेवाले प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थोंका उपमानोपमेय-भाव आदि अलङ्कार भी व्यञ्जनावृत्तिसे ही बोधित होता है। इसलिए शब्दशक्तिमूलक ध्वनिमें भी [उदाहरण सं० ५४-५७ दोनों में] व्यञ्जनाका मानना अनिवार्य है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें कहते हैं—

[अभिधामूल ध्वनिके शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थरूप तीनों भेदोंमेंसे] शब्द शक्तिमूल [भेद] में अभिधाके [संयोगादि द्वारा एकार्थमें] नियन्त्रण हो जानेसे अनभिधेय जो दूसरा अर्थ प्रतीत होता है उसका और उसके साथ [वाच्य प्राकरणिक अर्थका जो उपमानोपमेय भावादि प्रतीत होता है उस] उपमादि अलङ्कारका व्यङ्ग्यत्व निर्विवाद है।

अभिधामूल अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिमें व्यञ्जनाकी अनिवार्यता—

अभिहितान्वयवादमें व्यञ्जना—इस प्रकार लक्षणामूल ध्वनिके दोनों भेद, अभिधामूलके असंलक्ष्यक्रम रसादि ध्वनि, और संलक्ष्यक्रम ध्वनिके शब्दशक्त्युत्थ वस्तु तथा अलङ्काररूप भेदोंमें व्यञ्जनावृत्तिकी अनिवार्यताका उपपादन करके अब अभिधामूल ध्वनिके अर्थशक्त्युत्थ १८ भेदोंमें भी व्यञ्जनावृत्तिकी अपरिहार्यताका उपपादन करते हैं।

अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षासन्निधियोग्यतावशात्परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम् ।

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिमें व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिके पहिले वाच्यार्थकी उपस्थिति आवश्यक है। पहिले वाच्यार्थकी प्रतीति हो जानेके बाद उससे फिर व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति होती है इसीलिए उसे 'अर्थशक्त्युत्थ' ध्वनि कहा जाता है। वाक्यसे अर्थकी प्रतीति कैसे होती है इसका विवेचन यद्यपि व्याकरण, न्याय और मीमांसा आदि अनेक शास्त्रोंमें किया गया है, किन्तु वाक्य-विचारमें मीमांसकोंको ही प्रधान माना जाता है। वैयाकरणोंको केवल 'पदज्ञ' और नैयायिकोंको 'प्रमाणज्ञ' कहा जाता है। वाक्योंका विचार मुख्य रूपसे मीमांसकोंका क्षेत्र है इसलिए उनको 'वाक्यज्ञ' कहा जाता है। अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिके विवेचनमें पहिले वाक्यार्थ ज्ञानकी आवश्यकता होती है। और वह मीमांसकोंका क्षेत्र है। इसलिए ग्रन्थकारने अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिके भेदोंमें व्यञ्जनाकी अपरिहार्यता सिद्ध करनेके इस प्रकरणको मीमांसक-मतकी आलोचनासे ही प्रारम्भ किया है।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, मीमांसकोंके दो मुख्य सम्प्रदाय हैं—एक 'अभिहितान्वयवाद' और दूसरा 'अन्विताभिधानवाद'। 'अभिहितान्वयवाद'के संस्थापक आचार्य कुमारिलभट्ट हैं। और 'अन्विताभिधानवाद'के प्रतिपादक उनके शिष्य प्रभाकर हैं। ग्रन्थकार मम्मट यहाँ यह दिखलानेका यत्न करेंगे कि इन दोनों मतोंमें 'वाक्यार्थ' ही अभिधासे उपस्थित नहीं होता है तब उससे जो व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है वह अभिधासे प्रतीत हो सकता है इसकी तो चर्चा ही व्यर्थ है।

उसमेंसे भी पहिले कुमारिलभट्टके 'अभिहितान्वयवाद'को लेते हैं। 'अभिहितान्वयवाद'में तो अभिधा शक्तिसे केवल पदार्थोंकी उपस्थिति होती है। पदार्थोंके परस्पर-संसर्गरूप वाक्यार्थकी प्रतीति भी अभिधासे नहीं होती है, उसके लिए 'तात्पर्याख्या' शक्ति अलग मानी जाती है। तब व्यङ्ग्य अर्थ, जिसकी प्रतीति वाक्यार्थकी भी प्रतीतिके बाद होती है, उसको अभिधा वृत्तिसे बोध्य या वाच्य कैसे कहा जा सकता है! इसलिए 'अभिहितान्वयवाद'में व्यङ्ग्यार्थके बोधके लिए व्यञ्जनावृत्तिका मानना अनिवार्य है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें इस प्रकार लिखते हैं—

[अभिधामूल ध्वनिके दूसरे भेद] अर्थशक्तिमूल [ध्वनि] में भी जहाँ [व्यक्तिमें सङ्केतग्रह माननेपर आनन्त्य तथा व्यभिचार दोष आ जानेके कारण व्यक्तिरूप] विशेष अर्थमें संकेत करना सम्भव [उचित] न होनेसे सामान्य [अर्थात् जाति] रूप पदार्थोंका परस्पर-संसर्गरूप विशेष, पदोंसे न उपस्थित होनेपर भी, आकांक्षा सन्निधि और योग्यताके कारण वाक्यार्थ [रूपमें तात्पर्या नामक अन्य शक्तिसे उपस्थित] होता है उस 'अभिहितान्वयवाद'में [वाक्यार्थबोधके भी बादमें उपस्थित होनेवाले] व्यङ्ग्य अर्थके अभिधेय माननेकी तो बात ही कहाँ उठती है!

अर्थात् कुमारिलभट्टके अभिहितान्वयवादमें व्यङ्ग्यार्थके बोधनके लिए व्यञ्जना-वृत्तिको माननेके अतिरिक्त कोई और मार्ग नहीं हो सकता है। इसलिए उन अभिहितान्वयवादियोंके लिए व्यञ्जना-वृत्तिका मानना अनिवार्य है।

इस अनुच्छेदकी वाक्य-रचना कुछ क्लिष्ट-सी हो गयी है। सरलतया अर्थ समझनेके लिए उसके पद-विन्यासमें थोड़ा-सा अन्तर कर लेना उचित होगा। 'सामान्यरूपाणां पदार्थानां विशेषरूपः परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि आकांक्षा-सन्निधि-योग्यतावशात् वाक्यार्थः' इस क्रमसे पदोंका अन्वय

कर लेनेपर उनका अर्थ सरलतासे समझमें आ जाता है। यथा-स्थित क्रमसे अर्थ करनेपर अर्थका समझना कठिन हो जाता है। इसलिए हमने 'अर्थक्रमानुरोधेन पाठक्रममनादृत्यैव' अर्थक्रमको ध्यानमें रखकर ही इसका अनुवाद किया है।

अन्विताभिधानवादमें व्यञ्जना—

प्रभाकरके 'अन्विताभिधानवाद'में यद्यपि अन्वित पदार्थोंकी ही अभिधा द्वारा उपस्थिति होती है, इसलिए वाक्यार्थबोधके लिए 'तात्पर्याख्या' शक्तिकी आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु उनके यहाँ भी अभिधा द्वारा सामान्य रूपसे अन्वित पदार्थोंकी ही उपस्थिति हो सकती है। किसी विशेष अर्थके साथ अन्वित अर्थकी उपस्थिति नहीं होती है। क्योंकि एक ही शब्दका अनेकों शब्दोंके साथ भिन्न-भिन्न रूपमें प्रयोग होता है।

किसी एक ही विशेष अर्थके साथ सम्बद्ध रूपसे शब्दका सङ्केतग्रह मान लेनेपर अन्य विशेष अर्थोंके साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। विशेष व्यक्तिके साथ सङ्केतग्रह माननेपर आनन्त्य और व्यभिचार दोष हो जानेके कारण अभिहितान्वयवादमें ही जब व्यक्तिमें सङ्केतग्रह न मानकर जातिमें सङ्केतग्रह मानना अनिवार्य हो गया था, तब 'अन्विताभिधानवाद'में भी विशेष अर्थके साथ अन्वित रूपमें सङ्केतग्रह मानना सम्भव नहीं है। इसलिए यदि 'अन्विताभिधानपक्ष' माना भी जाय तो भी केवल सामान्यरूपसे अन्वित मात्रमें सङ्केतग्रह हो सकता है। विशेषके साथ अन्वित रूपमें सङ्केतग्रह नहीं हो सकता है।

परन्तु वाक्यार्थ तो विशेष अर्थोंका परस्पर सम्बन्धरूप होता है। इसलिए विशेष अर्थोंका सम्बन्ध-विशेषरूप वाक्यार्थ उनके यहाँ भी अभिधा शक्तिसे उपस्थित नहीं हो सकता है। तब उस 'विशेषरूप' वाक्यार्थसे भी आगे बढ़े हुए उसके भी बाद प्रतीत होनेवाले—'अतिविशेषभूत' व्यङ्ग्य अर्थकी प्रतीति अभिधासे हो सकती है यह तो कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इसलिए 'अन्विता-भिधानवाद'में भी 'निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं' इत्यादि उदाहरणोंमें निषेध-रूप वाच्यार्थसे प्रतीत होनेवाले, विधिरूप व्यङ्ग्य अर्थकी प्रतीति करानेके लिए व्यञ्जना वृत्तिका मानना अनिवार्य है। इस प्रकार प्रभाकरके 'अन्विताभिधानवाद'में भी व्यञ्जनावृत्तिकी अपरिहार्यताका उपपादन करते हुए ग्रन्थकार अगले प्रकरणका प्रारम्भ करते हैं।

किन्तु इस प्रकरणका प्रारम्भ उन्होंने बहुत दूरसे किया है। इसलिए यह प्रकरण लम्बा हो गया है और प्रकृत प्रसङ्गमें उसकी सङ्गति जोड़नेके लिए हमें विशेष ध्यान देना होगा। प्रकरणके आरम्भमें सङ्केतग्रहका प्रकार दिखलाया है। यहाँ पृष्ठ २२२ के 'ये ऽप्याहुः' से लेकर पृष्ठ २२५ पर दिये 'इत्यन्विताभिधानवादिनः'तक सङ्केतग्रहका प्रकार ही दिखलाया गया है। इसके भी दो भाग हैं। पहिला भाग पृष्ठ २२४ पर 'इति विशिष्टा एव पदार्थाः वाक्यार्थः, न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्'तक समाप्त होता है। और दूसरा भाग उसके बाद प्रारम्भ होता है। प्रथम भागमें सामान्य रूपसे अन्वित अर्थ ही पदों द्वारा उपस्थित होता है। 'विशिष्ट एव पदार्थाः वाक्यार्थः' यह बात सिद्ध की है। 'विशिष्टाः'का अर्थ 'अन्विताः' है। अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है यही 'अन्विताभिधानवाद'का मोटा रूप है। प्रथम भागमें इसी मोटे-रूपमें 'अन्विताभिधानवाद' का प्रतिपादन किया है। उसीके साथ 'न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्' अर्थात् 'पहिले अनन्वित रूपसे उपस्थित होनेवाले' पदार्थोंका 'वैशिष्ट्य' अर्थात् बादमें होनेवाला 'अन्वय' वाक्यार्थ नहीं है। यह लिखकर अभिहितान्वयवादका खण्डन करते हुए इस प्रथम भागका उपसंहार किया है। उसके बाद अगले अनुच्छेदमें 'अन्विताभिधानवादके सूक्ष्म रूपकी विवेचना की है। यह विवेचना 'इत्यन्विताभिधानवादिनः'पर समाप्त होती है।

यह सब वस्तुतः इस प्रकरणकी अवतरणिकामात्र है। यहाँका मुख्य विषय यह है कि 'अन्विताभिधानवाद'में भी निषेधसे विधि या विधिसे निषेधरूप व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जना माननी ही होगी। इस मुख्य विषयका प्रतिपादन पृष्ठ २२६ के 'तेषामपि मते' से आरम्भ होता है। इस प्रकार इस लम्बे प्रकरणका विश्लेषण कर लेनेके बाद इसको पढ़ा जायगा तो उसको हृदयङ्गम करनेमें सरलता होगी इसी दृष्टिसे हमने यह विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत कर दिया है।

इस प्रकरणका आरम्भ सङ्केतग्रहके प्रकारके निरूपणसे हुआ है इसलिए ग्रन्थके अनुवादके पहिले सामान्यरूप उसका निरूपण भी हम आगे दे रहे हैं। इससे पंक्तियोंके समझनेमें सरलता होगी।

सङ्केतग्रहका आधार—

इस प्रकार 'अभिहितान्वयवाद'में व्यञ्जनाशक्तिकी अपरिहार्यताका उपपादन करनेके बाद प्रभाकराभिमत 'अन्विताभिधानवाद'में भी व्यञ्जनाशक्तिकी अपरिहार्यताका उपपादन करनेके लिए पहिले ग्रन्थकार अगली दो कारिकाओं द्वारा शक्ति-ग्रहका प्रकार दिखलाते हुए अन्वित अर्थमें ही शक्तिग्रह होता है यह सिद्ध करनेका यत्न करेंगे। 'अमुक शब्दसे अमुक अर्थ समझना चाहिये' इस प्रकारके शक्तिग्रहके सामान्यतः निम्नलिखित उपाय बतलाये गये हैं—

> शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-
> कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
> वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति
> सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, वाक्यशेष विवृति अर्थात् व्याख्या और सिद्ध अर्थात् ज्ञात पदके सान्निध्यसे शक्तिग्रह होता है। इन सबमें मुख्य साधन व्यवहार है। क्योंकि अन्य सभी साधनोंमें पदोंके प्रयोग और उनके अर्थज्ञानकी आवश्यकता होती है इसलिए वे बड़े व्यक्तियोंके लिए सङ्केतग्रहके साधन हो सकते हैं। छोटे बालकके लिए संकेतग्रहका एकमात्र साधन व्यवहार है। बिलकुल प्रारम्भमें बालकको अपनेसे बड़े 'उत्तम-वृद्ध' माता-पिता आदि और 'मध्यम-वृद्ध' भाई आदि अथवा भृत्य आदिके व्यवहारसे ही सङ्केतका ग्रहण होता है। 'उत्तम वृद्ध' पिता आदि 'मध्यम वृद्ध' भाई या भृत्य आदिसे कहते हैं कि 'गामानय' गौको ले आओ। 'मध्यमवृद्ध' सास्नादिमान् गो व्यक्तिको ले आता है। पासमें बैठा हुआ बालक 'गाम्' और 'आनय' इनमेंसे किसी भी शब्दके अर्थ नहीं जानता है। परन्तु पिताके मुखसे निकले हुए इन शब्दोंको वह सुनता है और उसके बाद होनेवाली 'मध्यमवृद्ध'की क्रियाको देखता है। इससे पहली बात तो वह यह अनुमान करता है कि 'मध्यमवृद्ध'ने जो क्रिया की है वह उत्तमवृद्धके वाक्यके अर्थको समझ कर की है। इसलिए 'सास्नादिमान् पिण्डका आनयन' ही उस अखण्ड वाक्यका अखण्ड अर्थ है। अर्थात् सम्पूर्ण वाक्यके अर्थका अनुमान तो बालकको हो जाता है, परन्तु अलग-अलग शब्दोंके अर्थका ज्ञान इस दशामें उसको नहीं होता है। उसके बाद फिर 'गाम् नय, अश्वमानय' 'गायको ले जाओ, अश्वको ले आओ' आदि वाक्योंके प्रयोग और उनके अनुसार होनेवाली क्रियाओंको देखकर शनैः शनैः बालकको अलग-अलग शब्दोंके अर्थका ज्ञान हो जाता है। यही व्यवहारतः शक्तिग्रहकी प्रक्रिया है। इसी प्रक्रियाका वर्णन आगे उद्धृत की हुई दो कारिकाओं और उनकी व्याख्यामें किया गया है। इन कारिकाओंका अर्थ समझनेके लिए निम्नलिखित बातोंको विशेष रूपसे हृदयङ्गम कर लेना चाहिये।

येऽप्याहुः—

शब्दवृद्धाभिधेयाँश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥ १ ॥
अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम् ।
अर्थापत्त्याऽवबोधेत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥ २ ॥

इति प्रतिपादितदिशा—

---

(१) प्रत्येक वाक्यके कर्तारूपमें 'बालः' पदका अध्याहार करना होगा।

(२) 'शब्द-वृद्ध-अभिधेयाँश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति' इस प्रथम श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'प्रत्यक्ष' शब्दसे चाक्षुष एवं श्रावण प्रत्यक्षके कारणभूत चक्षु तथा श्रोत्रका ग्रहण करना चाहिये। और 'पश्यति' शब्दसे 'शृणोति'का भी ग्रहण समझना चाहिये। क्योंकि 'वृद्ध' और 'अभिधेय'का तो चक्षुसे दर्शन हो सकता है, परन्तु 'शब्द'का ग्रहण चक्षुसे न होकर श्रोत्रसे ही होता है, इसलिए शब्दके पक्षमें 'प्रत्यक्षेण पश्यति'की सङ्गति लगानेके लिए उसका अर्थ 'शृणोति' अर्थात् 'श्रोत्रेण गृह्णाति' करना चाहिये।

(३) 'वृद्ध' शब्दसे 'उत्तमवृद्ध' पिता आदि तथा 'मध्यमवृद्ध' भाई या भृत्य आदि दोनोंका ग्रहण करना चाहिये।

'येऽप्याहुः' यहाँसे लेकर आगे २२४ पृष्ठपर आये हुए 'इति विशिष्टा एवं पदार्था वाक्यार्थः, न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्'तक सारा एक वाक्य है। अर्थात् 'येऽप्याहुः' से लेकर 'वैशिष्ट्यम्' तक एक साथ मिलाकर 'अन्विताभिधानवादियों'के सिद्धान्तको मोटे रूपसे उपस्थित किया गया है। उसके बाद फिर 'इत्यन्विताभिधानवादिनः'तक उसके सूक्ष्म रूपका विवेचन किया गया है। उसके बाद फिर अन्विताभिधानवादका खण्डन है।

अब 'अन्विताभिधानवाद'के पूर्वपक्षकी स्थापना करनेवाले ग्रन्थ-भागकी व्याख्या इस प्रकार होगी:—

और जो [अन्विताभिधानवादी] यह कहते हैं कि—

यहाँ ['अत्र' अर्थात् व्यवहारतः शक्तिग्रहकी प्रक्रियामें बालक, उत्तमवृद्धके द्वारा उच्चारण किये हुए] शब्द [को 'प्रत्यक्षेण पश्यति' अर्थात् श्रोत्रसे सुनता है, मध्यम] 'वृद्ध' तथा 'अभिधेय' [अर्थात् गवानयनादिरूप क्रिया] को प्रत्यक्ष [अर्थात् चाक्षुष प्रत्यक्षके हेतुभूत चक्षु] से [पश्यति—देखता] ग्रहण करता है। [और उसके बाद मध्यमवृद्धरूप] श्रोताके ज्ञानको क्रियाके द्वारा [अर्थात् मध्यम-वृद्धने उत्तमवृद्धके कहे हुए वाक्यका अर्थ समझकर ही इस प्रकारका व्यापार किया है यह बात] अनुमानसे वह जानता है।१।

[उत्तमवृद्धके द्वारा कहे गये वाक्य और उसके अर्थमें वाच्य-वाचक-भाव-सम्बन्ध-के बिना मध्यमवृद्धको उसके अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता था, इसलिए इन दोनोंका वाच्य-वाचक-भाव-सम्बन्ध अवश्य है इस प्रकारकी] अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति [प्रमाण] से [वाच्य-वाचक-भावरूप] दोनों प्रकारकी शक्तिको जानता है। इस प्रकार [प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्तिरूप] तीन प्रमाणोंसे [शब्द तथा अर्थके वाच्य-वाचक-भावरूप] सम्बन्धको [बालक] जानता है।२।

अन्विताभिधानवादका उपपादन—

यह इन दोनों कारिकाओंका अर्थ हुआ। इन कारिकाओंमें यह दिखलाया गया है कि सङ्केत-ग्रहमें प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति इन तीन प्रमाणोंका उपयोग होता है यही 'सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम्'का अर्थ है। सङ्केतग्रहमें इन तीनों प्रमाणोंका उपयोग निम्नलिखित प्रकार होता है—

१ प्रत्यक्ष—व्यवहारमें उत्तमवृद्ध और मध्यमवृद्धको बालक चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष देखता है। यह चाक्षुप प्रत्यक्ष हुआ। उसके बाद उत्तमवृद्धके द्वारा कहे हुए वाक्यको अपने कानोंसे सुनता है। यह 'श्रावण प्रत्यक्ष' हुआ। फिर जब मध्यमवृद्ध गायको लाता है तो गायको भी बालक चक्षुसे देखता है। यह 'अभिधेय' अर्थका चाक्षुप प्रत्यक्ष हुआ। इस प्रकार 'शब्दका' श्रावण प्रत्यक्षसे और 'वृद्ध' तथा 'अभिधेय'का चाक्षुप प्रत्यक्षसे ग्रहण होता है। यही बात प्रथम कारिकाके 'शब्द-वृद्ध-अभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति' इस पूर्वार्द्ध भागसे कही गयी है।

२ अनुमान—इस प्रकार शब्द, वृद्ध और अभिधेयका प्रत्यक्ष करनेके बाद बालकको अनुमान प्रमाणका उपयोग करना होता है। उत्तमवृद्धके वाक्यको सुननेके बाद जब मध्यमवृद्ध गवानयनमें प्रवृत्त होता है तो उसकी चेष्टाको देखकर बालक यह अनुमान करता है कि मध्यमवृद्धकी यह चेष्टा उत्तमवृद्धके वाक्यको सुननेके बाद हुई है इसलिए उत्तमवृद्धके वाक्यके अर्थको समझकर ही की गयी है। इसलिए चेष्टारूप 'लिङ्ग'से बालक श्रोता अर्थात् मध्यमवृद्धके 'प्रतिपन्नत्व' अर्थात् ज्ञानका 'अनुमान' करता है। इस प्रकार सङ्केतग्रहमें 'अनुमान'रूप दूसरे प्रमाणका उपयोग भी सिद्ध होता है। इसी बातको प्रथम कारिकाके 'श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया' इस वाक्यके द्वारा कहा गया है।

३ अर्थापत्ति—सङ्केतग्रहमें सहायता देनेवाला तीसरा प्रमाण 'अर्थापत्ति' है। 'अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिः' यह 'अर्थापत्ति' प्रमाणका लक्षण है। 'अनुपपद्यमान' अर्थको देखकर उसके 'उपपादक' अर्थकी कल्पना करनेको 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जैसे 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुंक्ते' देवदत्त मोटा हो रहा है परन्तु दिनमें नहीं खाता है। ऐसा देखकर या सुनकर यह स्वयं ही समझ लिया जाता है कि वह रात्रिमें खाता होगा। यहाँ दिनमें न खानेवाले देवदत्तका 'पीनत्व' अर्थात् मोटापन 'अनुपपद्यमान' अर्थ है और रात्रिभोजन उसका 'उपपादकीभूत' अर्थ है। रात्रिभोजनके बिना दिवा अभुञ्जानका पीनत्व बन ही नहीं सकता है। इसलिए पीनत्वकी अन्यथा अर्थात् रात्रिभोजनके बिना—अनुपपत्ति होनेसे वही अन्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति रात्रिभोजनमें प्रमाण होती है।

यहाँ सङ्केतग्रहणमें 'गामानय' आदि प्रयोगों और उनके अर्थोंके वाच्य-वाचक-भाव-सम्बन्धका ग्रहण इसी 'अर्थापत्ति' प्रमाणसे होता है। उत्तमवृद्धके वाक्यको सुननेके बाद जब मध्यमवृद्ध गवानयनमें प्रवृत्त होता है तब बालक यह अनुमान करता है कि मध्यमवृद्धने उत्तमवृद्धवाक्यके अर्थको जानकर ही गवानयनरूप क्रिया की है। यह ज्ञान अनुमान द्वारा होता है यह बात ऊपर कही जा चुकी है।

इसके बीचमें 'गामानय' आदि वाक्य और उसके अर्थका जो वाच्य-वाचक-भाव-सम्बन्ध है उसका ग्रहण 'अर्थापत्ति' के द्वारा होता है। यदि वाक्यमें वाचकता, और अर्थमें वाच्यता अर्थात् शक्ति न होती तो वाक्यसे अर्थका बोध नहीं हो सकता था। यहाँ अर्थावबोध' 'अनुपपद्यमान' अर्थ है। और वाच्य-वाचक-भाव-सम्बन्ध उसका 'उपपादकीभूत' अर्थ है। अनुपपद्यमान अर्थावबोधको देखकर उसके 'उपपादकीभूत' वाच्य-वाचक-भावकी कल्पना अर्थापत्तिके द्वारा होती है। इस प्रकार अर्थापत्ति

देवदत्त गामानयेत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगाद्देशाद्देशान्तरं सास्नादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धेनयति सति 'अनेनास्माद्वाक्यादेवंविधोऽर्थः प्रतिपन्न' इति तच्चेष्टयाऽनुमाय, तयोरखण्डवाक्यवाक्यार्थयोरर्थापत्त्या वाच्यवाचकभावलक्षणं सम्बन्धमवधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते।

परतः चैत्र 'चैत्र गामानय', 'देवदत्त अश्वमानय' 'देवदत्त गां नय' इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्त तं तमर्थमवधारयतीति, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारिवाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव सङ्केतो गृह्यते इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थो न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम् ॥

भी सङ्केतग्रहमें सहायक होती है। इसी बातको द्वितीय कारिकामें 'अन्यथानुपपत्त्या तु बोधेच्छक्ति द्वयात्मिकां अर्थापत्त्या' इस भाषामें कहा गया है। और 'अवबोधेत सम्बन्ध त्रिप्रमाणकम्' द्वारा यह कहा गया है कि इस प्रकार तीनों प्रमाणोंकी सहायतासे सङ्केतका ग्रहण होता है।

यहाँ बालक तीनों प्रमाणों द्वारा सङ्केतका ग्रहण करता है यह बात कही गयी है। यद्यपि बालक न अनुमानकी प्रक्रिया जानता है न अर्थापत्तिकी, किन्तु उसके द्वारा ज्ञात न होनेपर भी ये प्रमाण उसके ज्ञानमें सहायक होते ही हैं, इसलिए यह बात असङ्गत नहीं है।

अन्विताभिधानवादका उपपादन—

[इन दोनों कारिकाओंमें प्रतिपादित] इस शैलीसे—

'देवदत्त गायको लाओ' इस प्रकार 'उत्तमवृद्ध' [पिता आदि]के द्वारा वाक्यके प्रयोगके बाद मध्यमवृद्धको सास्नादिमान अर्थ [गाय] को एक स्थानसे दूसरे स्थानको ले जाते हुए देखकर 'इसने [अर्थात् मध्यमवृद्धने] उत्तमवृद्धद्वारा कहे गये ['गामानय'] इस वाक्यसे यह [गवानयनरूप] अर्थ समझा' यह बात उस [मध्यमवृद्ध] की [गवानयन रूप] चेष्टासे अनुमान करके अखण्ड वाक्य और अखण्ड वाक्यार्थ दोनोंके वाच्य-वाचक-भावरूप सम्बन्धको 'अर्थापत्ति' द्वारा निश्चय करके बालक उस अखण्ड वाक्य और अखण्ड वाक्यार्थ [के वाचक-वाच्य-भाव-सम्बन्ध] का ज्ञान प्राप्त करता है।

उसके बाद, 'चैत्र गायको लाओ', 'देवदत्त घोड़ेको लाओ', 'देवदत्त गायको ले जाओ' इस प्रकारके वाक्योंका प्रयोग होनेपर उस-उस शब्दके उस-उस अर्थको निश्चय करता है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकसे प्रवृत्ति तथा निवृत्तिका करनेवाला वाक्य ही प्रयोगके योग्य होता है इसलिए वाक्यमें स्थित अन्वित पदोंका ही अन्वित पदार्थोंके साथ सङ्केत गृहीत होता है। [केवल अर्थात् अनन्वित पदार्थोंका सङ्केतग्रह नहीं होता है] इसलिए 'अन्वय विशिष्ट' [परस्परान्वित] पदार्थ ही वाक्यार्थ हैं। [केवल अनन्वित] पदार्थोंका [बादमें प्रतीत होनेवाला] वैशिष्ट्य [अर्थात् सम्बन्ध वाक्यार्थ] नहीं [होता है]।

'विशिष्टा एव पदार्थाः वाक्यार्थः' और 'न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्' ये दोनों वाक्य क्रमशः 'अन्विताभिधानवाद' तथा 'अभिहितान्वयवाद'के सिद्धान्तके प्रदर्शक हैं। 'अन्विताभिधानवाद'में वाक्यसे परस्पर अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थके रूपमें उपस्थित हैं। और 'अभिहितान्वयवाद'में पहिले पदोंके द्वारा केवल पदार्थ उपस्थित होते हैं, बादको उनका परस्पर अन्वय या सम्बन्ध होता है। यहाँ ग्रन्थकार 'अन्विताभिधानवाद'के सिद्धान्तको प्रस्तुत कर रहे हैं, इसलिए 'विशिष्टा एव पदार्थाः वाक्यार्थः' इस वाक्य द्वारा उनका मत दिखलाया गया है। और 'न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्' इस वाक्य द्वारा

यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चयीन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः सङ्केतगोचरः तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिनः ।

'अभिहितान्वयवाद'का खण्डन किया है । 'विशिष्टाः पदार्थाः'का अर्थ 'अन्वित पदार्थ' और 'पदार्थानां वैशिष्ट्यम्'का अर्थ केवल अनन्वित-पदार्थोंका बादको होनेवाला अन्वय है । इसका सारांश यह हुआ कि अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थके रूपमें उपस्थित होते हैं । केवल पदार्थोंकी उपस्थितिके बाद उनका अन्वय नहीं होता है अतः, 'अन्विताभिधानवाद' ही ठीक है, 'अभिहितान्वयवाद' नहीं ।

विशेषान्वितमें शक्तिग्रहका उपपादन—

काव्यप्रकाशका यह प्रकरण बड़ा कठिन प्रकरण है । पर इतनी व्याख्यासे यहाँतकका भाग सम्भवतः स्पष्ट हो गया होगा । अगली पंक्तियाँ इससे भी अधिक कठिन हैं । इसलिए इन पंक्तियोंका अर्थ लगानेसे पहिले हम उनका अभिप्राय स्पष्ट कर रहे हैं ।

ग्रन्थकारने अभी यह दिखलाया था कि व्यवहारतः शक्तिग्रहकी जो प्रक्रिया मानी जाती है उसके अनुसार 'गामानय' आदिको सुनकर होनेवाले 'गवानयन' आदि व्यवहारके द्वारा अन्वित पदार्थमें ही सङ्केतग्रह या शक्तिग्रह हो सकता है, केवल पदार्थमें नहीं । इसलिए 'अन्विताभिधानवाद' ही ठीक है । यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह अन्वय या सम्बन्ध किसके साथ गृहीत होता है । किसी विशेष अर्थके साथ या सामान्य अर्थके साथ ? विशेष अर्थके साथ अन्वित अर्थमें शक्तिग्रह नहीं हो सकता है । क्योंकि 'गामानय'के व्यवहारसे जो शक्तिग्रह होता है वह यदि 'गोविशिष्ट आनयन'में माना जाय तो 'अश्वमानय'में उससे अर्थज्ञान नहीं हो सकेगा । इसी प्रकार प्रत्येक शब्द भिन्न-भिन्न वाक्योंमें भिन्न-भिन्न शब्दोंके साथ प्रयुक्त होता है । किसी एक अर्थके साथ अन्वित रूपमें शक्तिग्रह माननेपर अन्य वाक्योंमें प्रयुक्त इसी शब्दसे अर्थ-बोध नहीं हो सकेगा । इसलिए किसी विशेष अर्थके साथ अन्वित अर्थमें संकेतग्रह नहीं हो सकता है । केवल सामान्य रूपसे अन्वित अर्थमें सङ्केतग्रह माना जा सकता है । पर उससे तो 'अन्विताभिधानवाद' सिद्ध नहीं होता है । 'अन्विताभिधानवाद'के लिए विशेषके साथ अन्वित अर्थमें संकेतग्रह होना चाहिये । सामान्य अन्वयसे काम नहीं चलेगा ।

इस प्रश्नका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकारने अगला अनुच्छेद लिखा है । उसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि एक ही पदके भिन्न-भिन्न वाक्योंमें भिन्न-भिन्न शब्दोंके साथ प्रयुक्त होनेसे किसी विशेष अर्थके साथ अन्वित रूपसे सङ्केतग्रह मानना सम्भव नहीं है, सामान्य रूपसे अन्वित अर्थमें ही सङ्केत ग्रह मानना होगा ; फिर भी 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इस सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक सामान्यका पर्यवसान विशेषमें अवश्य होता है । बिना विशेषके कोई सामान्य नहीं रहता है । इसलिए सामान्य रूपसे अन्वित अर्थका पर्यवसान भी विशेषमें होता है । वाक्यमें अन्वित पदार्थ सामान्य नहीं, विशेष होते हैं । अतः विशेषके साथ अन्वित अर्थमें सङ्केतग्रह माननेमें कोई हानि नहीं है । यह अन्विताभिधानवादियोंका मत है । इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार लिखते हैं—

यद्यपि ['गामानय' इत्यादि वाक्यसे भिन्न 'देवदत्त अश्वमानय' इत्यादि] दूसरे वाक्योंमें प्रयुक्त हुए 'आनय' आदि पद भी प्रत्यभिज्ञा [तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा] के बलसे 'ये वे ही पद हैं' [जो पहले वाक्यमें प्रयुक्त हुए थे] यह निश्चित हो जाता है । इसलिए सामान्यतः अन्य पदार्थके साथ अन्वित पदार्थमें ही सङ्केतग्रह

तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः सङ्केतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तरगतोऽसङ्केतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा ॥

होता है [विशेषमें अन्वित रूपसे नहीं] फिर भी परस्पर सम्बद्ध [व्यातिषक्त] पदार्थोंके ['तथाभूत' अर्थात्] विशेष रूप ही होनेसे [निर्विशेषं न सामान्यम्' इस नियमके अनुसार] सामान्यसे अवच्छादित होनेपर [भी] वह [सङ्केतग्रह] विशेष रूप [में] ही [परिणत] हो जाता है। यह अन्विताभिधानवादियोंका मत है।

अन्विताभिधानवादमें व्यञ्जना अनिवार्य—

उनके मतमें भी सामान्यविशेष रूप पदार्थ सङ्केतका विषय होता है इसलिए [कर्मत्वादिरूप सामान्य विशेष अर्थसे भिन्न, उसके भी बादमें प्रतीत होनेवाला] वाक्यार्थके अन्तर्गत 'अतिविशेष' रूप अर्थ [अर्थात् गो-अश्व आदि व्यक्तिविशेषके साथ सम्बद्ध आनयन] असङ्केतित होनेसे वाच्यार्थ न होनेपर भी जहाँ [अर्थात् अन्विताभिधानवादमें] पदार्थरूपमें प्रतीत होता है वहाँ [उस वाक्यार्थबोधके भी बाद प्रतीत होनेवाले] 'निःशेषच्युत' इत्यादिमें [वाच्य निषेधसे व्यङ्ग्य] विध्यादि [के वाच्य होने] की चर्चा तो दूर ही है।

इस प्रसंङ्गमें ग्रन्थकारने (१) सामान्य, (२) सामान्यविशेष, (३) अतिविशेष इन तीन शब्दोंका प्रयोग किया है। इनमें 'सामान्य' शब्दका अर्थ साधारण रूपसे अन्वितत्वमात्र है। 'सामान्यविशेष'का अर्थ 'कर्मत्वादिरूपसे अन्वितत्व' और 'अतिविशेष'का अर्थ गो-अश्वादि व्यक्तिविशेषके साथ अन्वितत्व है। व्यञ्जनावादी पक्षमें यह कहा गया था कि यदि अन्विताभिधान माना भी जाय तो अधिकसे अधिक 'सामान्य' रूपसे अन्वित अर्थमें सङ्केतग्रह माना जा सकता है। परन्तु उससे तो काम नहीं चल सकता है। जैसे किसीको घड़ा मँगाना अभीष्ट है। वह 'घड़ा ले आओ' कहनेके स्थानपर किसीको 'वस्तु ले आओ' कहे तो उससे लानेवाला व्यक्ति 'घड़ा ले आओ' यह अर्थ नहीं समझ सकेगा। यद्यपि 'वस्तु' शब्दसे सभी वस्तुओंका ग्रहण हो सकता है। इस दृष्टिसे 'वस्तु' शब्द घड़ेका भी ग्राहक होना चाहिये। किन्तु 'वस्तु ले आओ' इस वाक्यमें सामान्य रूपसे घटके ग्राहक, 'वस्तु' शब्दसे काम नहीं चलता है। उसके लिए विशेषरूपसे घट शब्दका ही प्रयोग करना होगा। इसी प्रकार सामान्यरूपसे अन्वित अर्थमें सङ्केतग्रह माननेसे काम नहीं चल सकता है यह व्यञ्जनावादी पक्षका अभिप्राय था।

इस दोषका समाधान करनेके लिये अन्विताभिधानवादीने सामान्य रूपसे अन्वितमें सङ्केतग्रह न मानकर 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इस नियमके अनुसार 'सामान्य-विशेष'में संकेतग्रह माना था। इस 'सामान्य-विशेष'का अभिप्राय यह है कि यद्यपि 'गामानय' आदि वाक्यों 'आनय' आदि पदार्थोंका केवल सामान्यतः अन्वित पदार्थमें नहीं अपितु कर्मत्व आदि रूप 'सामान्य-विशेष' रूपसे अन्वित अर्थमें ही संङ्केतग्रह होता है। इसलिए जब उसके साथ 'गाम' या 'अश्व' ये विशेष शब्द प्रयुक्त होते हैं तब उससे सामान्य रूपसे अन्वित अर्थकी प्रतीति न होकर 'सामान्य-विशेष' अर्थात् कर्मत्वादिरूपसे अन्वित अर्थकी प्रतीति होती है। 'गां आनय' इस वाक्यमें कर्मभूत 'गां' पद सामान्य-विशेष है। इसलिए 'आनय' पद उस 'सामान्य-विशेष'से अन्वित अर्थका बोधक होता है। जब उसके स्थानपर अश्वं 'आनय' वाक्य बोला जाता है तब 'आनय' पद कर्मभूत 'अश्व'से अन्वित 'आनय'का बोधक

अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्त्वन्विताभिधाने अन्वित-

हो जाता है, क्योंकि उस वाक्यमें कर्मत्वेन अन्वित अश्व ही 'सामान्य-विशेष' होता है। इस प्रकार 'सामान्यमात्र'में सङ्केतग्रह माननेमें जो दोष आता था वह 'सामान्य-विशेष'में संङ्केतग्रह माननेसे दूर हो जाता है।

इसको 'सामान्य-विशेष' इसलिए कहा है कि 'गां आनय', 'अश्वं आनय' आदिमें यद्यपि 'आनय'का सम्बन्ध 'गां', 'अश्वं' आदि विशेष पदार्थोंके साथ होता है किन्तु वे 'गां' और 'अश्वं' पद 'आनय' क्रियाके साथ उन दोनोंमें समान रूपसे रहनेवाले 'कर्मत्व'रूपसे ही अन्वित होते हैं। सकर्मक 'आनय' क्रियाको 'कर्म'की आवश्यकता है इसलिए कभी 'गां' और कभी 'अश्वं' उसके कर्मके रूपमें उसके साथ अन्वित होते हैं। यहाँ 'गां' 'अश्वं' पद विशेष होते हुए भी अपने व्यक्ति रूपसे नहीं अपितु केवल 'कर्मत्व' रूप सामान्य सम्बन्धसे ही अन्वित होते हैं। इसलिए ग्रन्थकारने इनके लिए 'सामान्य-विशेष' शब्दका प्रयोग किया है और सामान्यमात्रमें सङ्केतग्रह न मानकर 'सामान्य-विशेष'-में सङ्केतग्रह माना है।

इस प्रकार 'सामान्य' और 'सामान्य-विशेष' शब्दोंकी व्याख्या हो गयी। तीसरा शब्द 'अति-विशेष' है। ऊपरके वाक्योंमें 'गां' 'अश्वं' पद विशेष होते हुए भी दोनोंमें रहनेवाले सामान्य 'कर्मत्व' रूपमें ही वे 'आनय'के साथ 'अन्वित' होते हैं। यह उनका 'सामान्य-विशेष' रूप है, 'गोत्व' और 'अश्वत्व' या गौ और अश्व आदि विशेष व्यक्तिको यहाँ 'अति विशेष' शब्दसे कहा गया है। यह 'अति विशेष' रूप वाक्यार्थमें प्रतीत होता है। परन्तु उसमें सङ्केतग्रह नहीं होता है, क्योंकि व्यक्तिमें सङ्केतग्रह माननेपर आनन्त्य तथा व्यभिचार दोष आ जायँगे यह बात पहिले कही जा चुकी है। अतः वाक्यार्थमें भासनेपर भी व्यक्ति रूप 'अतिविशेष' अर्थ असङ्केतित अर्थ होनेसे वह वाच्यार्थ नहीं हो सकता है। उसका बोध अभिधाके अतिरिक्त किसी अन्य शक्तिसे मानना पड़ेगा। अतः 'अन्विताभिधानवाद' माननेपर भी उस 'अतिविशेष' अर्थके बोधनके लिए 'तात्पर्याख्या' या इसी प्रकारकी कोई अन्य शक्ति माननी होगी। जब वाक्यार्थके बोधके लिए ही अभिधाशक्तिसे भिन्न शक्तिकी आवश्यकता होती है तब वाक्यार्थबोधके भी बादमें उपस्थित होनेवाले व्यङ्ग्यार्थका बोध अभिधासे हो सकता है यह कहना सर्वथा असङ्गत है। यह इस अनुच्छेदका अभिप्राय हुआ।

अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवादकी समानता—

यों तो 'अन्विताभिधानवाद'के संस्थापक प्रभाकरने 'अभिहितान्वयवाद'के विरोधमें अपने सिद्धान्तकी स्थापना की है, किन्तु जब विगत अनुच्छेदमें दिखलायी हुई पद्धतिसे उसका विश्लेषण किया जाता है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अभिहितान्वयवाद'के समान ही 'अन्विताभिधानवाद'में भी वाक्यार्थरूप 'अतिविशेष' अर्थका बोध अभिधाशक्तिसे नहीं बनता है, उसके लिए कोई दूसरी शक्ति माननी ही होगी। अतः दोनों पक्षोंमें ही जब वाक्यार्थ अभिधा द्वारा बोधित नहीं होता है तब व्यङ्ग्यार्थके अभिहित होनेकी तो चर्चा ही कहाँ हो सकती है। इसी बातको अगले अनुच्छेदमें कहते हैं।

अभिहितान्वयवादमें अनन्वित अर्थ [वाच्य होता है] और अन्वितानिधानवाद-में [सामान्य रूपसे] पदार्थान्तरमात्रसे अन्वित अर्थ [वाच्यार्थ होता है] अन्वित-विशेष तो [अभिहितान्वयवाद या अन्विताभिधानवाद दोनों ही मतोंमें] वाच्य नहीं होता है। इसलिए [अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद] दोनों ही सिद्धान्तोंमें वाच्यार्थसे भिन्न [अपदार्थ-पदार्थ या वाच्यार्थसे भिन्न] ही वाक्यका अर्थ होता है

विशेषस्त्ववाच्य एव इत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव वाक्यार्थः ॥

[तब उसके भी बाद प्रतीत होनेवाला व्यङ्ग्यार्थ तो वाच्य हो ही नहीं सकता है। अतः उस व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिके लिए इन दोनों सिद्धान्तोंमें व्यञ्जनाका मानना अपरिहार्य ही है।]

मीमांसकके एकदेशीका व्यञ्जनाविरोधी पूर्वपक्ष—

काव्यप्रकाशके प्रारम्भमें शब्दप्रधान प्रभु शब्द, अर्थप्रधान सुहृत्शब्द तथा रसप्रधान कान्ता-शब्द इन तीन प्रकारके शब्दोंकी चर्चा आयी थी। उसके अनुसार वेदको शब्दप्रधान प्रभुशब्द या राजाज्ञाके समान माना गया था। राजाज्ञामें शब्दोंका सीधा और एकमात्र वाच्यार्थ ही ग्रहण किया जाता है। उसमें लक्षणाका अवसर कम और व्यञ्जनाका अवसर तो कोई होता ही नहीं है। इसी प्रकार वेदोंमें भी मुख्य रूपसे सीधा वाच्यार्थ ही ग्रहण किया जा सकता है। उनमें भी लक्षणाका अवसर कम और व्यञ्जनाके प्रयोगका अवसर बिलकुल नहीं हो सकता है। इसलिए मीमांसक जो वेदपर ही अपना सब-कुछ निछावर किये हुए हैं, अभिधा-लक्षणाके अतिरिक्त वृत्तिव्यञ्जनाके माननेका विरोधी है। इसलिए मीमांसक होनेके नाते मुकुलभट्टने 'अभिधावृत्तिमातृका' नामक अपने ग्रन्थमें अभिधा तथा लक्षणाका ही प्रतिपादन किया है और अन्तमें लक्षणाका भी अभिधामें ही अन्तर्भाव करके एक ही अभिधावृत्तिका प्रतिपादन किया है और उसके दस भेद माने हैं। इस प्रकार मीमांसक मुख्य रूपसे व्यञ्जनाके विरोधी हैं। इसलिए ग्रन्थकार यहाँ विशेषरूपसे उन्हींके मतमें व्यञ्जना-को अलग वृत्ति माननेकी अपरिहार्यताका प्रदर्शन करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। ऊपरके प्रकरणमें उन्होंने मीमांसकोंके सबसे प्रमुख आचार्य कुमारिलभट्टके 'अभिहितान्वयवाद' तथा प्रभाकरके अभिमत 'अन्विताभिधानवाद' सिद्धान्तोंमें व्यञ्जनावृत्तिकी अपरिहार्यताका प्रतिपादन किया था आगे फिर वे किसी मीमांसकैकदेशीके 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इस तीसरे मतकी चर्चा प्रारम्भ करते हैं।

'नैमित्तिकानुसारेण-निमित्तानि-कल्प्यन्ते' इस मतका अभिप्राय यह है कि व्यञ्जनावादी जिस अर्थको 'व्यङ्ग्यार्थ' कहते हैं वह भी शब्दसे ही प्रतीत होता है। शब्दके अतिरिक्त उसका और कोई निमित्त तो उपलब्ध होता ही नहीं है। इसलिए शब्दको ही उसका निमित्त मानना होगा। निमित्त, जैसा कि ऊपर रसकी अलौकिकत्व-सिद्धिके प्रसङ्गमें पृष्ठ ११० पर कहा जा चुका, कारक और ज्ञापक-रूप दो ही प्रकारका होता है। शब्द कारकरूप निमित्त नहीं हो सकता है। इसलिए व्यङ्ग्यार्थके प्रति शब्दका निमित्तत्व भी कारकत्व रूप नहीं अपितु ज्ञापकत्व या बोधकत्वरूप ही होगा। शब्द तथा व्यङ्ग्यार्थका यह बोध्य-बोधक भावरूप निमित्त-नैमित्तिक भाव, बिना शक्तिके नहीं हो सकता है। और शब्दमें अर्थका बोधन करानेवाली अभिधाशक्ति ही है इसलिए शब्दसे व्यङ्ग्यार्थकी जो प्रतीति होती है वह भी शब्दके अभिधा-व्यापार द्वारा ही होती है। इसलिए व्यञ्जना आदिकी कल्पनाका प्रयास बिलकुल व्यर्थ है। यह 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इस पूर्वपक्षकी पंक्तिका अभिप्राय है।

व्यञ्जनावादीकी ओरसे इसका खण्डन—

इसका उत्तर व्यञ्जनवादी यह देते हैं कि गत अनुच्छेदमें कहे युक्तिक्रमके अनुसार शब्दसे जो व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है उससे शब्दमें उसका केवल ज्ञापकत्वरूप निमित्तत्व ही बनता है। वह ज्ञापकत्व-रूप निमित्तत्व भी तब बन सकता है जब शब्दका उस अर्थके साथ सङ्केतग्रह हो। आपके मतानुसार

यद्प्युच्यते 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि' कल्प्यन्ते इति,

तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वंवा ? शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वं, ज्ञापकत्वन्तु अज्ञातस्य कथं, ज्ञातत्वं च सङ्केतेनैव, स चान्वितमात्रे । एवं च निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इत्यविचारिताभिधानम् ।

संकेत केवल सामान्य रूपसे अन्वितमात्रमें गृहीत होता है विशेषमें सङ्केतग्रह नहीं होता है। इसलिए निमित्तरूप शब्दका जबतक प्रतीत होनेवाले व्यङ्ग्यरूप विशेष अर्थके साथ निश्चित रूपसे सम्बन्ध या सङ्केतका ग्रहण न हो तबतक उससे अभिधा द्वारा नैमित्तिक व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति ही कैसे हो सकती है। ऊपर लिखे युक्तिक्रमके अनुसार विशेषरूप व्यक्तिके साथ अन्वित रूपमें जब शक्तिग्रह ही नहीं बनता है तब व्यङ्ग्यार्थके साथ संकेतग्रह माननेका अवसर ही कहाँ ? इसलिए शब्दसे अभिधा व्यापार द्वारा व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति असम्भव है।

इसी पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षको ग्रन्थकारने अगली पंक्तियोंमें इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

[पूर्वपक्ष] और [मीमांसकैकदेशी द्वारा] जो यह कहा जाता है कि 'नैमित्तिक [कार्य] के अनुसार निमित्त [कारण] की कल्पना की जाती है'।

[उत्तरपक्ष]—उस [सिद्धान्त] में [शब्दका] निमित्तत्व कारकत्वरूप है या ज्ञापकत्वरूप ? शब्द [अर्थका] प्रकाशक होता है [उत्पादक नहीं होता] इसलिए कारकत्व नहीं [बनता है केवल ज्ञापकत्व बन सकता है]। और वह [ज्ञापकत्व] भी [शब्दसे अर्थका] ज्ञान हुए बिना कैसे बनेगा [ज्ञापकत्वन्तु अज्ञातस्य कथम्]। और ज्ञान-संकेतग्रहसे ही होता है। वह [संकेत] केवल [सामान्यरूपसे] अन्वितमात्रमें ही होता है [विशेषमें नहीं होता है]। इसलिए शब्द [रूपनिमित्त] का [नियत निमित्तत्वं] विशेषके साथ संकेत जबतक न माना जाय तबतक [उससे नैमित्तिक] विशेष अर्थकी प्रतीति ही कैसे हो सकती है [अर्थात् नहीं हो सकती है]। इसलिए नैमित्तिक [कार्य] के अनुसार निमित्त [कारण] की कल्पना की जाती है यह कहना अविवेकपूर्ण है।

भट्टलोल्लटका पूर्वपक्ष—

भरतनाट्यसूत्रोंके व्याख्याकार भट्टलोल्लट भी कुमारिलभट्टके अनुयायी मीमांसक थे इसलिए वे भी व्यञ्जनावृत्तिको नहीं मानते थे। उनका कहना यह है जैसे एक ही बार छोड़ा हुआ बाण पहिले शत्रुके कवचका भेदन करता है। फिर उसके वक्षस्थलका विदारण करता है और फिर उसके प्राणोंका विमोचन करता है। इसी प्रकार एक ही बार उच्चारण किया हुआ शब्द एक ही व्यापारसे पहिले वाच्य, फिर लक्ष्य और व्यङ्ग्य कहे जानेवाले तीनों अर्थोंका बोधक हो सकता है। इसके लिए शब्दमें अलग-अलग अनेक शक्तियोंको माननेकी आवश्यकता नहीं है।

व्यङ्ग्य कहे जानेवाले अर्थकी प्रतीति अभिधा द्वारा ही हो सकती है। इसी मतके समर्थनमें भट्टलोल्लटनने दूसरी युक्ति यह दी है कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात् जिस अर्थके बोधन करानेके लिए शब्दका प्रयोग किया जाता है वही उस शब्दका अर्थ होता है। इसलिए जहाँ केवल वाच्यार्थके बोधनके लिए शब्दका प्रयोग किया गया है वहाँ उतना ही उसका अर्थ होगा। और जहाँ उसके अतिरिक्त लक्ष्य या व्यङ्ग्य कहे जानेवाले अन्य अर्थके बोधनके लिए शब्दका प्रयोग किया गया वहाँ वह अन्यार्थ ही उस शब्दका वाच्यार्थ होगा। इस प्रकार सभी अर्थ अभिधा द्वारा उपस्थित हो

ये त्वभिदधति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार' इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ' इति च विधिरेवात्र वाच्य इति,

तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानां प्रियाः ।

सकते हैं। इसलिए किसी भी अर्थके बोधनके लिए व्यञ्जना आदिके माननेकी आवश्यकता नहीं है। भट्टलोल्लटके इसी मतको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें लिखते हैं कि—

और जो भट्टलोल्लट आदि] यह कहते हैं कि [व्यङ्ग्यार्थके बोधनमें] यह बाणके [१ कवचछेदन, २ उरोविदारण और ३ प्राणविमोचनरूप व्यापारके] समान [आवश्यकतानुसार लम्बा खिंचकर वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य कहे जानेवाले सभी अर्थोंका बोध करानेवाला] दीर्घ-दीर्घतर [अभिधा] व्यापार ही है [इसलिए व्यञ्जनाका मान व्यर्थ है] और जिस अभिप्रायसे शब्द [बोला गया] है वही उसका अर्थ है इसलिए यहाँ [निःशेषच्युतचन्दनस्तनतटं इत्यादिमें, निषेधसे] विधिरूप अर्थ ही वाच्य है। [अतएव उसके बोधनके लिए भी व्यञ्जनाके माननेकी आवश्यकता नहीं है]।

भट्टलोल्लटके मतका खण्डन—

यह भट्टलोल्लटका पूर्वपक्ष हुआ। इसका खण्डन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि—

[जो लोग यह बात कहते हैं] वे मूर्ख भी तात्पर्यबोधक युक्ति [अर्थात् 'यत्परः शब्दः शब्दार्थः' इस युक्ति] के तात्पर्यको नहीं समझते हैं [इसीलिए ऐसा कहते हैं]।

इस पंक्तिमें ग्रन्थकारने भट्टलोल्लटके मतका खण्डन करते हुए केवल इतना लिख दिया है कि वे भट्टलोल्लटादि 'तात्पर्य-वाचो-युक्ति'के अभिप्रायको नहीं समझते हैं। क्यों नहीं समझते हैं इसका उपपादन आगे करेंगे। पंक्तियाँ कठिन हैं इसलिए पहले उनका भाव समझ लेना ठीक होगा। व्यञ्जनाविरोधी भट्टलोल्लटादिने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस तात्पर्यवाचो-युक्तिका यह अभिप्राय निकाला है कि लक्ष्य-व्यङ्ग्य सब अर्थोंको वाच्यार्थ ही मान लेना चाहिये, पर इसका यह अभिप्राय नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' जैसे वैदिक वाक्योंमें कहीं केवल होम-क्रियाका विधान अभिप्रेत होता है। कहीं 'दध्ना जुहोति' जैसे वाक्योंमें होमके पूर्व वाक्यसे प्राप्त होनेके कारण केवल दधिरूप साधनद्रव्यका विधान अभिप्रेत होता है। कहीं 'सोमेन यजेत्' जैसे वाक्योंमें सोम और याग, दोनोंके अप्राप्त होनेसे दोनोंका विधान अभिप्रेत होता है। कहीं 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' जैसे वाक्योंमें केवल लोहितत्वका विधान अभिप्रेत होता है।

इस प्रकार वैदिक विधिवाक्योंमें जहाँ जितना अंश प्रमाणान्तरसे अप्राप्त होता है, उतने ही अंशका विधान अभिप्रेत होता है। जैसे अग्नि दग्धका दहन नहीं करता है। अदग्धका ही दहन करता है। इसी प्रकार वैदिक विधिवाक्य प्राप्तका प्रापण। ज्ञातका ज्ञापन नहीं करते हैं, अप्राप्तका ही विधान करते हैं। इस स्थितिमें जिस अप्राप्त अंशके बोधनमें विधिवाक्यका तात्पर्य होता है वही उस विधि-वाक्यका विधेय या प्रतिपाद्य अर्थ होता है। यह 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस वाक्यका अर्थ है। लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ सब, शब्दका वाच्यार्थ ही होता है यह इस वाक्यका तात्पर्य नहीं है। यदि यही तात्पर्य होता तो 'कुमारिलभट्ट' लक्षणावृत्तिको क्यों मानते? इसलिए भट्टलोल्लट आदि जो लोग 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस तात्पर्यवाचो युक्तिके आधारपर व्यङ्ग्यार्थको वाच्यार्थ सिद्ध करना चाहते हैं वे उसके अभिप्रायको नहीं समझते हैं। स्वयं अपने शास्त्रके ही वचनोंका ठीक भाव न समझनेके कारण उनको 'मूर्ख' ही कहना चाहिये, इस अभिप्रायसे उनको 'देवानां प्रिय' अर्थात् मूर्ख कहा गया है।

मूर्ख इस अर्थमें 'देवानां प्रिय'का प्रयोग—

इस वाक्यमें ग्रन्थकारने भट्टलोल्लट आदिके लिए 'देवानां प्रियः' इस विशेषणका प्रयोग किया है। 'देवानां प्रिय इति च मूर्खे' इस वार्तिकके अनुसार यद्यपि संस्कृत साहित्यमें यह शब्द मूर्ख अर्थमें रुढ हो गया है, परन्तु वह सदासे इस गर्हित अर्थका बोधक नहीं रहा है, उसके पीछे एक इतिहास है। 'देवानां प्रियः'का सीधा अर्थ देवताओंका प्रिय है, इसी सुन्दर अर्थके कारण बौद्ध मतानुयायी सम्राट् अशोकने अपने नामके आगे उपाधिरूपसे उसका प्रयोग प्रारम्भ किया था। पर बादमें धार्मिक विद्वेषवश इस शब्दका प्रयोग मूर्ख अर्थमें किया जाने लगा। 'देवानां प्रिय इति च मूर्खे' लिखकर वार्तिककारने उस शब्दको मूर्ख अर्थमें रुढ कर दिया है। अशोकका समय विक्रमपूर्व चतुर्थ शताब्दीमें है और वार्तिककार कात्यायनका समय विक्रमपूर्व तृतीय शताब्दीमें पड़ता है।

इसी प्रकारकी दशा 'असुर' शब्दकी भी हुई है। 'असुर' शब्द ऋग्वेदमें परमात्माके नाम या विशेषणके रूपमें अनेक स्थानोंपर प्रयुक्त हुआ है। वैदिक धर्मसे निकली हुई आर्योंकी दूसरी शाखा पारसी धर्मके नामसे कही जाती है, उसके धर्मग्रन्थोंमें परमात्माको 'महान् असुर' 'अहुरमज्द' नामसे कहा गया है। परन्तु बादमें इस शब्दका प्रयोग कुत्सित अर्थमें पाया जाता है। संस्कृत-साहित्यके बहुत बड़े भागमें 'असुर' शब्द राक्षस अर्थका वाचक हो गया है। कुछ विद्वानोंका विचार है कि 'असुर' शब्दके इस अर्थभेदका कारण धार्मिक विद्वेष ही है।

भूतं भव्याय—

पिछली पंक्तियोंमें यह कहा गया था कि भट्टलोल्लट आदिने 'तात्पर्यवाचो युक्ति'का अभिप्राय ठीक नहीं समझा है। तब उसका क्या ठीक अर्थ है इसको बतलानेका भार ग्रन्थकारपर आ जाता है। इसी दृष्टिसे ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें उसके ठीक अभिप्रायका प्रदर्शन करेंगे। इस प्रकरणमें ही 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः। तथा 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' इत्यादि दो विशेष वाक्य ग्रन्थकारने उद्धृत किये हैं। ये दोनों कठिन वाक्य हैं। इनका ठीक अर्थ समझे बिना अगली पंक्तियोंका भाव ठीक समझमें नहीं आयेगा इसलिए पहले उनका अर्थ समझ लेना आवश्यक है। 'भूत–भव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते। यह वाक्य उनमेंसे दूसरा वाक्य है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'। [मीमांसा १, १-२१] तथा 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' [मीमांसा १-१-२२] आदि मीमांसा-सूत्रोंके अनुसार सारा वेदभाग क्रियार्थक ही है। जो क्रियार्थक नहीं है वह अनर्थक हो जाता है। इसलिए वेदमें वर्णित 'यूपं' 'आहवनीय' आदि अक्रिया-रूप सिद्ध पदार्थों-की आनर्थक्यसे रक्षाके लिए किसी विधिवाक्य या निषेधवाक्यके साथ एकवाक्यता द्वारा उनको क्रियाका अङ्ग बनाया जाता है। इसी बातको व्यक्त करनेवाला 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' यह मीमांसा-का दूसरा प्रसिद्ध वाक्य है जिसे यहाँ ग्रन्थकारने उद्धृत किया है। उसका अभिप्राय यह है कि 'भूतं' अर्थात् सिद्धरूप या अक्रियारूप तथा 'भव्य' अर्थात् साध्य या क्रियारूप दोनों प्रकारके अर्थोंके 'समुच्चारणे' अर्थात् वाक्यमें एक साथ बोले जानेपर या साथ साथ प्रतिपादन किये जानेपर उन दोनोंमेंसे 'भूत' अर्थात् सिद्ध पदार्थ, 'भव्याय' अर्थात् साध्य क्रियाके लिए अर्थात् क्रियाके अङ्गरूपमें उपदिष्ट होता है। इसलिए क्रियाभाग या विधि निषेधके प्रधान होनेसे विधिवाक्योंमें सिद्ध पदार्थका कथन होनेपर भी क्रियारूप विधि अंशकी ही प्रधानता होती है। यह 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' और 'भूतं भव्याय उपदिश्यते' आदि मीमांसावाक्योंका अर्थ है।

इसको और अधिक स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए वाक्य-रचनाके नियमपर दृष्टि डाल लेना

सुविधाजनक होगा। लौकिक वाक्योंकी रचना 'उद्देश्य' और 'विधेय' दो भागोंको मिलाकर होती है। प्रत्येक वाक्यमें एक कर्ता और एक क्रिया अवश्य होती है। राम-श्याम आदि कोई सुबन्त पद वाक्यमें कर्ताके रूपमें प्रयुक्त होता है और 'गच्छति' 'पठति' आदि कोई तिङन्त पद क्रियारूपमें प्रयुक्त होता है। वाक्यमें आये हुए कर्तृपदको 'उद्देश्य' और क्रियापदको 'विधेय' कहा जाता है और वाक्यमें विधेयांशका ही सदा प्राधान्य रहता है। यह लौकिक वाक्योंकी स्थिति है।

वैदिक वाक्योंमें भी सदा क्रियाभागका ही प्राधान्य रहता है। यह बात 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' आदि मीमांसासूत्रमें कही गयी है। इसीका प्रतिपादन यहाँ 'भूतं भव्याय उपदिश्यते' इत्यादि वाक्यमें किया गया है। निरुक्तकार यास्कने भी 'भावप्रधानमाख्यातम्। सत्त्वप्रधानानि नामानि'। तद्यत्र उभे भावप्रधाने भवतः' लिखकर इसी नियमकी पुष्टिकी है। 'आख्यात' अर्थात् तिङन्तपदमें 'भाव' अर्थात् क्रियाका प्राधान्य होता है। उसी धातुसे बने 'नाम' पदमें द्रव्यका प्राधान्य होता है। और वाक्यमें जहाँ नाम और आख्यात दोनों होते हैं वहाँ 'भाव' अर्थात् क्रियाका प्राधान्य होता है। यह निरुक्तके इस उद्धरणका अभिप्राय है। यही मीमांसाके 'भूतं भव्याय उपदिश्यते' आदि वाक्यका अभिप्राय है।

'लोहितोष्णीषाः'—

इसी अनुच्छेदमें 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' यह दूसरा विधिवाक्य ध्यान देने योग्य है। यह वाक्य कर्मकाण्डके ग्रन्थोंमें 'श्येनयाग'के प्रकरणमें आया है। 'श्येनयाग' एक 'विकृति-याग' है। 'ज्योतिष्टोमयाग' उसका 'प्रकृतियाग' है। 'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः' जिस यागमें समस्त अङ्गोंका वर्णन किया गया हो वह 'प्रकृतियाग' होता है। उसे प्रधानयाग भी कह सकते हैं। प्रकृतियागके साथ अनेक 'विकृतियाग' भी वर्णित होते हैं। उनमें सारे विधिविधानोंका वर्णन नहीं किया जाता, केवल विशेष-विशेष नवीन अङ्गोंका वर्णन किया जाता है। शेष सारी प्रक्रिया 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस नियमके अनुसार 'प्रकृतियाग'के समान ही की जाती है।

'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' यह वाक्य 'ज्योतिष्टोमयाग'के विकृतिभूत 'श्येनयाग'में आया है। उसमें साधारणतः ऋत्विक्-प्रचरणका विधान प्रतीत होता है। परन्तु 'ज्योतिष्टोम' रूप 'प्रकृतियाग'में भी इसी आशयका 'सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति' इस वाक्यके द्वारा ऋत्विक् प्रचरणका विधान किया हुआ है। 'श्येनयाग'में 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्याः' इस नियमके अनुसार ऋत्विक् प्रचरण स्वयं प्राप्त हो जाता है। वहाँ उसको दुबारा विधान करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार 'उष्णीष' अर्थात् 'पगड़ी'का विधान भी ज्योतिष्टोम यागवाले वाक्यमें आये हुए 'सोष्णीषाः' पदसे किया जा चुका है। विकृतियागमें उसके भी विधानकी आवश्यकता नहीं है। अतः विकृतिभूत 'श्येनयाग'में जो यह 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' वाक्य आया है उसमें न तो ऋत्विक-प्रचरणका विधान अभिप्रेत है और न 'उष्णीष'का। केवल उष्णीषके 'लौहित्य' लाल रङ्गका विधान अभिप्रेत है। अर्थात् 'श्येनयाग'में ऋत्विजोंके उष्णीष लालरङ्गके होने चाहिये। उतना ही उस वाक्यका अभिप्राय है। 'तत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह वाक्य इसी अर्थको सूचित करता है। इसीलिए ग्रन्थकारने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस 'तात्पर्यवाचोयुक्ति' का अर्थ स्पष्ट करते हुए इस वाक्यको यहाँ उद्धृत किया है।

इसी बातको ग्रन्थकार आगे इस प्रकार कहते हैं—

तथा हि—भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियानिर्वर्त्तकस्वक्रियाभिसम्बन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति । ततश्चादग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधीयते । यथा ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात्सिद्धे 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयं हवनस्यान्यतः सिद्धेः । 'दध्ना जुहोति' इत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम् ।

जैसे कि—[भूत] 'सिद्ध और [भव्य क्रियारूप] साध्यके साथ-साथ पठित होनेपर सिद्धपदार्थ क्रियाके लिए [क्रियाके अङ्गरूपमें] कहा जाता है । इस नियमके अनुसार क्रिया पदार्थके साथ अन्वित होनेवाले कारक पदार्थ [कर्ता, कर्म कारण आदिरूप सिद्ध द्रव्य प्रधान क्रियाके अङ्ग होनेके कारण] प्रधान क्रियाकी सम्पादक अपनी [अङ्गभूत] क्रियाके सम्बन्धसे साध्य-जैसे हो जाते हैं । इसलिए 'अदग्ध दहन-न्यायसे [अर्थात् जैसे काष्ठ आदिमें जितना भाग बिना जला होता है अग्नि उतने ही भागको जलाता है, जले हुएको नहीं जलाता है, इस युक्तिसे विधिवाक्योंमें] जितना [भाग प्रमाणान्तरसे] अप्राप्त होता है उतनेका ही विधान किया जाता है । जैसे [लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति] 'लाल पगड़ीवाले ऋत्विक् घूमते हैं' इसमें ऋत्विक् प्रचरणके प्रमाणान्तरसे सिद्ध होनेके कारण 'लोहितोष्णीषत्व मात्र' [अर्थात् उष्णीषके भी केवल लौहित्य] का विधान किया जाता है और 'दध्नाजुहोति' इत्यादि [विधि] में होमके अन्य प्रमाणसे सिद्ध होनेसे दध्यादिके करणत्व मात्रका विधान किया जाता है ।

'लोहितोष्णीषाः' वाले वाक्यके समान दूसरा 'दध्ना जुहोति' वाक्य भी यहाँ ग्रन्थकारने उद्धृत किया है । यह वाक्य अग्निहोत्रके प्रकरणमें आया है । 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह इस प्रकरणका उत्पत्ति वाक्य है । उसमें 'होम'का विधान किया हुआ है । अतः 'दध्ना जुहोति' वाक्यमें केवल दधिरूप करण या साधनका विधान है, होमका नहीं । यह इस वाक्यका अभिप्राय है । यह बात 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियमके अनुसार निकलती है । इसलिए 'तात्पर्यवाचोयुक्ति'की व्याख्या ग्रन्थकारने इस वाक्यमें भी प्रस्तुत किया है ।

द्रव्यकी गौण साध्यता—

इसी अनुच्छेदमें 'कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः'के साथ दिया हुआ 'प्रधान क्रियानिर्वर्तक स्वक्रियाभिसम्बन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति' यह अंश भी कुछ व्याख्याकी अपेक्षा रखता है । द्रव्य सिद्ध पदार्थ होता है, साध्य नहीं । किन्तु कभी-कभी यह भी साध्य जैसा प्रतीत होता है । द्रव्यकी यह साध्यता केवल गौण-साध्यता ही होती है । 'घटमानय'में आनयन अर्थात् 'समीप देशसंयोग' प्रधान क्रिया है । उसकी निर्वतक अर्थात् हेतुभूत, घटकी 'स्पन्द' क्रिया है । उसकी दृष्टिसे घट साध्य होता है । जब घटका आनयन होता है तब सबसे पहिले 'नोदनादभिघाताद्वा कर्मोत्पद्यते' घटमें कर्म होता है । उस कर्मसे विभाग, और विभागसे पूर्वदेश संयोगका नाश होकर उत्तरदेश संयोग होता है । इसमें घटमें विभागको उत्पन्न करनेवाला जो कर्म है वह अप्रधान क्रिया है । उसीको 'स्पन्द' कहा जाता है । घट स्वरूपतः सिद्ध है किन्तु स्पन्दाश्रयत्वेन पूर्वसिद्ध नहीं है । घटमें 'नोदन' अर्थात् ज्ञानपूर्वक की हुई क्रिया अथवा 'अभिघात' अर्थात् टक्कर आदिसे उत्पन्न क्रियाके होनेपर वह 'स्पन्द'-का आश्रय बनता है । इस प्रकार घट स्वरूपतः सिद्ध रहनेपर भी उस 'नोदन' या 'अभिघात'रूप क्रियाके द्वारा 'स्पन्दाश्रयत्वेन' साध्य होता है । इसी बातको यहाँ प्रधान क्रिया [आनयन] की निवर्तक [हेतुभूत]

क्वचिदुभयविधिः, क्वचित् त्रिविधिरपि यथा 'रक्तं पटं वय' इत्यादौ एकविधिर्द्वि-विधिस्त्रिविधिर्वा । ततश्च यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यमित्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे । एवं हि 'पूर्वो धावति' इत्यादावपराद्यर्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात् ।

स्वक्रिया [नोदन या अभिघातजन्य स्पन्द] के सम्बन्धसे घट आदि सिद्ध पदार्थ साध्य जैसे प्रतीत होते हैं, इस वाक्यसे कहा है । इस वाक्यको यहाँ देनेका अभिप्राय यह है कि भूत पदार्थ कभी मुख्य-साध्य नहीं होते हैं । उनमें जो साध्यता प्रतीत होती है वह गौण होती है । मुख्य रूपसे क्रिया ही साध्य होती है । इसलिए लौकिक-वैदिक दोनों प्रकारके वाक्योंमें क्रियाभागकी ही प्रधानता होती है ।

कहीं दोका विधान भी होता है । [जैसे, 'सोमेन यजेत्' यहाँ सोम और याग दोनोंके अप्राप्त होनेसे दोनोंका विधान होता है] । कहीं तीनका भी विधान होता है । जैसे, 'रक्तं पटं वय' 'लाल कपड़ा बुनो'; यहाँ [आवश्यकताके अनुसार कभी केवल [बुनने] एकका विधान अथवा [कभी पट और वयन] दोका, अथवा [कभी रक्त, पट, वयन] तीनका भी विधान हो सकता है । इसलिए [जहाँ] जो विधेय होता है [वहाँ] उसमें ही तात्पर्य होता है [यह 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'का अभिप्राय है] ।

उपात्त शब्दके अर्थमें ही तात्पर्य व्यञ्जनावादी पक्ष—

इस प्रकार मीमांसकोंने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस वाक्यका यह अर्थ निर्णय किया है कि सिद्ध पदार्थोंका विधान अनर्थक होनेसे मुख्य रूपसे साध्यभूत क्रियांशका ही विधान किया जाता है । जहाँ कहीं यागादि क्रिया अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध होती है वहाँ उनके उद्देश्यसे दधि आदि द्रव्योंका भी विधान किया जाता है । किन्तु प्रत्येक दशामें जो विधेय होता है उसीमें वाक्यके अन्य पदोंका तात्पर्य होता है । परन्तु जिस अर्थमें तात्पर्य होता है उसका वाचक शब्द, वाक्यमें अवश्य उपात्त होता है । इसका फलितार्थ यह निकला कि वाक्यमें उपात्त किसी एक शब्दके अर्थमें ही वाक्यके अन्य पदोंका तात्पर्य होता है । शब्दतः अनुपात्त अर्थमें तात्पर्य नहीं होता है । व्यङ्ग्यार्थका वाचक कोई शब्द वाक्यमें उपात्त नहीं होता है । इसलिए 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह नियम उसपर लागू नहीं होता है । अतः व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति अभिधासे सम्भव न होनेसे उसकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जनावृत्ति माननी ही होगी । भट्टलोल्लट आदिने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'का नियम लगाकर उसे अभिधाका विषय माननेका जो यत्न किया है वह युक्तिसङ्गत नहीं है और न यह मीमांसकोंके सिद्धान्तोंके अनुकूल ही है । उन्होंने इस विषयमें जिस नीतिका अवलम्बन किया है उससे यह प्रतीत होता है कि वे अपने शास्त्रके रहस्यको भी नहीं समझते हैं । इसीलिए उन्हें 'देवानां प्रियः'की उपाधि प्राप्त हुई है, इसी बातको व्यञ्जनावादीकी ओरसे ऊपर लिखा गया है ।

इसलिए जो शब्द [वाक्यमें] उपात्त [पठित या श्रुत] है उसके ही अर्थमें [वाक्यका] तात्पर्य हो सकता है, न कि [शब्दके उपात्त न होनेपर भी किसी प्रकारसे] प्रतीत होनेवाले अर्थमात्रमें । [यदि वाचक शब्दके ग्रहण किये विना किसी प्रकारसे प्रतीत होनेवाले अर्थमात्रमें तात्पर्य माना जाय तो] इस प्रकार 'पूर्वो धावति' पहिला [घोड़ा या आदमी] दौड़ता है इत्यादिमें [पहले शब्दके सापेक्ष होनेसे उसके साथ ही 'दूसरा' यह अर्थ भी प्रतीत हो सकता है । और यदि प्रतीतमात्रमें तात्पर्य माना जाय तो यहाँ 'पूर्व' पदका] कहीं 'अपर' आदि अर्थमें भी तात्पर्य होने लगेगा । [अर्थात् 'पूर्वो धावति' का 'अपरो धावति' यह तात्पर्य भी हो सकेगा] ।

यत्तु 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इत्यत्र 'एतद्गृहे न भोक्तव्यम्' इत्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इत्युच्यते ।

तत्र चकार एकवाक्यतासूचनार्थः ।

इसलिए जो शब्द वाक्यमें आये हैं उनमेंसे ही किसीके अर्थमें वाक्यका तात्पर्य हो सकता है। जो शब्द वाक्यमें आया ही नहीं है उसके अर्थमें तात्पर्य नहीं हो सकता है। व्यञ्जनावादी जिस अर्थको व्यङ्ग्य कहना चाहते हैं उसका वाचक कोई शब्द वाक्यमें उपात्त न होनेसे उसमें तात्पर्य नहीं हो सकता है। इसलिए 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस युक्तिके आधारपर भट्टलोल्लट जो व्यङ्ग्यार्थको तात्पर्य विषय मानकर वाच्यार्थ कहना चाहते हैं वह युक्तिसङ्गत नहीं है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस वाक्यका ठीक अर्थ न समझनेके कारण ही भट्टलोल्लट उसको वाच्यार्थ कह रहे हैं।

'विषं भक्षय'में तात्पर्यनिर्णय —

व्यञ्जनाविरोधी पूर्वपक्ष—इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँतक यह सिद्ध किया कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियमके अनुसार उसी अर्थमें तात्पर्य माना जा सकता है जिसका वाचक कोई शब्द वाक्यमें उपस्थित हो। जिसका वाचक कोई शब्द वाक्यमें उपस्थित नहीं है और अन्य किसी प्रकारसे जिस अर्थकी प्रतीतिमात्र हो जाती है उसमें यह तात्पर्यनिर्णायक-नियम नहीं लगता है। अन्यथा 'पूर्वो धावति'का कभी 'अपर' अर्थमें भी तात्पर्य होने लगेगा।

इसपर पूर्वपक्षी अर्थात् मीमांसक भट्टलोल्लटकी ओरसे यह शङ्का हो सकती है कि यदि वाक्यान्तर्गत उपात्त शब्दोंके अर्थमें ही वाक्यका तात्पर्य हो सकता है तो 'विष भले ही खा ले पर इसके घरमें भोजन मत कर' यहाँ शत्रुके घरमें भोजन करना विष-भक्षणसे भी बुरा है इसलिए 'इसके घर भोजन नहीं करना चाहिये' इसमें तात्पर्य है, और वही वाक्यका अर्थ है। परन्तु उस अर्थका वाचक कोई शब्द वाक्यमें उपात्त नहीं है। तब व्यञ्जनावादीकी यह बात कैसे मानी जा सकती कि उपात्त शब्दके अर्थमें ही तात्पर्य होता है। इस शङ्काको उठाकर ग्रन्थकारने आगे उसका समाधान किया है। अगली पंक्तिमें इसी पूर्वपक्षको इस प्रकार दिया है—

और जो 'विष [भले ही] खा लेना पर इसके घरमें भोजन मत करना' यहाँ ['विषं भक्षय' आदि वाक्यका] 'इसके घर भोजन नहीं करना चाहिये इस [अर्थ] में तात्पर्य होता है। और यही यहाँ वाक्यार्थ कहलाता है [परन्तु इसका कोई वाचक शब्द 'विषं भक्षय' आदि वाक्यमें उपात्त नहीं है। तब यह अर्थ कैसे हो गया ?

व्यञ्जनावादी सिद्धान्तपक्ष—व्यञ्जना-विरोधी भट्टलोल्लटकी इस आपत्तिका उत्तर ग्रन्थकारने 'विषं भक्षय, मा चास्य गृहे भुंक्थाः' इन दो वाक्योंकी एकवाक्यता मानकर यह दिया है कि यहाँ 'विषं भक्षय' इस वाक्यका जो तात्पर्य है वह 'मा चास्य गृहे भुंक्थाः' इस उपात्त शब्दके अर्थमें ही है। अनुपात्त शब्दके अर्थमें नहीं है। इसी बातको अगली पंक्तिमें इस प्रकार लिखा है—

उस ['विषं भक्षय, मा चास्य गृहे भुंक्थाः' आदि उदाहरण] में ['मा चास्य' के साथ प्रयुक्त] 'चकार' [दोनों वाक्योंकी] एकवाक्यताके सूचनार्थ है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि चकारसे सूचित एकवाक्यताके आधारपर जब इन दोनों वाक्योंको एक वाक्य मान लिया जाता है तब उसके प्रथम भाग 'विषं भक्षय'का जो यह तात्पर्य निकलता है कि शत्रुके गृहमें भोजन करना विष-भक्षणसे भी बुरा होता है इसलिए 'इसके घरमें मत खाओ', यह, उपात्त शब्दके अर्थमें ही होता है, अनुपात्त शब्दके अर्थमें नहीं।

न चाख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभाव इति—

विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति 'विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुंक्थाः' इत्युपात्तशब्दार्थे एव तात्पर्यम् ।

व्यञ्जनाविरोधी पूर्वपक्ष—व्यञ्जनावादी पक्षने जो यह समाधान किया है वह उक्त दोनों वाक्योंकी एकवाक्यता मान कर किया है । परन्तु व्यञ्जनाविरोधी पक्षका यह कहना है कि 'एक तिङ्वाक्यम्' इस नियमके अनुसार एक-एक तिङन्त पदसे युक्त होनेसे ये दोनों स्वतन्त्र वाक्य हैं, उनकी एकवाक्यता ही नहीं बनती है । जैसे 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः' अर्थात् दो या अधिक गौण पदार्थ परस्पर सम्बद्ध न होकर किसी प्रधानके साथ ही सम्बद्ध होते हैं । इसी प्रकार दो प्रधान अर्थोंका भी परस्पर अङ्गाङ्गि-भाव-सम्बन्ध नहीं हो सकता है । इसलिए इन दोनों वाक्योंकी एक-वाक्यता सम्भव न होनेसे उस एकवाक्यताके आधारपर जो विष-भक्षण-वाक्यका उपात्त शब्दके अर्थमें तात्पर्य दिखलानेका यत्न किया था वह भी असङ्गत है । इसी बातको ग्रन्थकी अगली एक पंक्तिमें इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

दो तिङन्त [क्रियापदोंसे घटित] वाक्योंमें [दोनोंके प्रधान स्वतन्त्र वाक्य होनेसे] अङ्ग-अङ्गिभाव नहीं हो सकता है । [इसलिए यहाँ दोनों वाक्योंकी जो एक-वाक्यता व्यञ्जनावादी सिद्ध करना चाहता है वह नहीं बन सकती है] ।

जिसमें एक तिङन्त या क्रिया-पद हो उसको एक वाक्य कहते हैं । इस दृष्टिसे इस वाक्यमें 'भक्षय' और 'भुंक्थाः' दो क्रियापद होनेसे इनको एक वाक्य नहीं अपितु दो वाक्य कहना होगा, इसलिए यहाँ इन दोनों वाक्योंका अङ्गाङ्गिभाव-सम्बन्ध असम्भव होनेसे दोनोंको मिलाकर एक वाक्य नहीं बन सकता है, फलतः 'मा चास्य'में आया हुआ 'चकार' इन दोनोंकी एकवाक्यताका सूचक नहीं है । इस प्रकार इनमें तात्पर्य नहीं है । यह पूर्वपक्षीका कथन है इस वाक्यमें उपात्त शब्दोंके अर्थमें तात्पर्य नहीं है ।

व्यञ्जनावादी सिद्धान्तपक्ष—व्यञ्जनाविरोधी भट्टलोल्लटादि द्वारा उठायी गयी इस शङ्काका समाधान ग्रन्थकारने यह किया है कि यहाँ 'विषं भक्षय' इसको यदि अलग वाक्य माना जाय तो इस वाक्यका अर्थ सर्वथा अनुपपन्न हो जाता है । यह वाक्य 'सुहृद्वाक्य' है कोई मित्र अपने मित्रको विष खानेकी सलाह नहीं दे सकता है । इसलिए विष-भक्षणका आदेश देनेवाला यह वाक्य यदि स्वयंमें पूर्ण वाक्य माना जाय तो उसका अर्थ सङ्गत नहीं होता है । इसलिए उसका 'मा चास्य गृहे भुंक्थाः' इस दूसरे वाक्यके साथ सम्बन्ध मानना आवश्यक हो जाता है । इसलिए विषभक्षण-वाक्य स्वयं अनुपपन्नार्थ होनेके कारण दूसरे वाक्यका अङ्ग बन जाता है । अङ्गाङ्गि-भाव सम्बन्ध होनेसे दोनोंकी एकवाक्यता बन जाती है और एकवाक्यता हो जानेपर 'उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यम्' इस नियमकी सङ्गति बन जाती है ।

व्यञ्जनावादीकी इसी युक्तिको ग्रन्थकारने अगली पंक्तिमें इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

विषभक्षण-वाक्य [अर्थात् 'विषं भक्षय' इस वाक्य] के 'सुहृद्वाक्य होनेके कारण [उसको स्वतन्त्र पूर्णवाक्य माननेपर उसके मुख्यार्थके अनुपपन्न होनेसे लक्षणा द्वारा अगले वाक्यमें] उसकी अङ्गताकी कल्पना करनी चाहिये । इस प्रकार 'इसके घरमें भोजन करना विष-भक्षणसे भी अधिक बुरा है' इसलिए इसके घर बिलकुल भोजन नहीं करना चाहिये । यह ['विषं भक्षय' इस वाक्यका तात्पर्य होता है और वह 'मा चास्य गृहे भुंक्थाः' इस] उपात्त शब्दके अर्थमें ही तात्पर्य है ।

यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः, ततः कथं 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः', 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी'इत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न न वाच्यत्वम् ? कस्माच्च लक्षणा ? लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः। किमिति च श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम् ? इत्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम् ।

इस प्रकार ग्रन्थकारने अपने व्यञ्जनावादी सिद्धान्तपक्षकी ओरसे यह सिद्ध किया कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इसके अनुसार जो तात्पर्यका निर्णय किया जाता है वह वाक्यमें उपात्त शब्दके अर्थमें ही हो सकता है। वाक्यमें अनुपात्त शब्दके अर्थमें तात्पर्यका निश्चय नहीं हो सकता है। व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिस्थलमें जो व्यङ्ग्यार्थ होता है उसका वाचक कोई पद वाक्यमें उपात्त नहीं होता है अतएव उस व्यङ्ग्यार्थको 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस सिद्धान्तके अनुसार तात्पर्यार्थ नहीं माना जा सकता है। इसलिए वह अभिधा द्वारा उपस्थित नहीं होता है। उसके लिए अलग व्यञ्जनावृत्तिका मानना अपरिहार्य है।

व्यङ्ग्यार्थके बोधके लिए अभिधासे भिन्न और वृत्ति माननी ही होगी इसका उपपादन करनेके लिए ग्रन्थकार और भी युक्ति आगे देते हैं।

और यदि [यह कहा जाय कि] शब्दके श्रवणके बाद जितना भी अर्थ प्रतीत होता है उस सबमें शब्दका केवल अभिधा-व्यापार ही [कार्य करता] है तो 'हे ब्राह्मण, तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है', 'हे ब्राह्मण, तुम्हारी [अविवाहिता] कन्या गर्भिणी हो गयी है' इत्यादि [वाक्यों] में [उनके सुनसे उत्पन्न होनेवाले क्रमशः] हर्ष तथा शोकादिको भी वाच्य क्यों नहीं मानते हो ? और लक्षणाको भी क्यों मानते हो ? [उसके माननेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि] लक्षणीय अर्थमें भी [इच्छानुसार दूरतक खिचनेवाले] दीर्घ-दीर्घतर अभिधा-व्यापारसे ही [लक्ष्यार्थकी भी] प्रतीति सिद्ध हो जानेसे। [व्यञ्जनाके समान लक्षणाका मानना भी अनावश्यक है। भट्टलोल्लट आदि मीमांसक व्यञ्जना तो नहीं मानते हैं, परन्तु लक्षणा मानते हैं इसलिए उनपर यह आक्षेप किया गया है]। और [आपके मीमांसा दर्शनमें माने हुए] श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्या [इन छ प्रमाणोंके समवाय] में पूर्व-पूर्वकी बलवत्ता क्यों मानी जाती है ? [अर्थात् यदि शब्द-श्रवणके बाद प्रतीत होनेवाले सभी अर्थोंकी प्रतीति अभिधासे ही हो जाती है तो न लक्षणाकी आवश्यकता रहती है और न श्रुति आदि प्रमाणोंकी प्रबलता-दुर्बलताका निश्चय हो सकता है]। इसलिए अन्विताभिधानवादमें भी [निःशेषच्युतचन्दनं इत्यादि उदाहरणोंमें निषेधरूप वाच्यार्थसे प्रतीत होनेवाले] विधिकी व्यङ्ग्यता सिद्ध होती है।

बलाबलाधिकरण—

श्रुति, लिङ्ग आदि षट् प्रमाणोंकी प्रबलता-दुर्बलताके जिस प्रसङ्गकी चर्चा यहाँ ग्रन्थकारने की है वह मीमांसा-दर्शनका एक प्रमुख सिद्धान्त है। उसका उपयोग बहुत जगह किया जाता है इसलिए उसको तनिक विस्तारसे समझ लेना उचित होगा। मीमांसाके इस प्रकरणको 'बलाबलाधिकरण' कहते हैं। उसका थोड़ा-सा विवेचन हम आगे दे रहे हैं।

मीमांसा-दर्शनमें वेदको १. विधि, २. मन्त्र, ३. नामधेय, ४. निषेध और ५. अर्थवाद इन पाँच भागोंमें विभक्त किया गया है। इनमेंसे विधिके भी १. उत्पत्तिविधि, २. विनियोगविधि, ३. अधिकार-

विधि, ४. प्रयोगविधि ये चार भेद किये गये हैं। इनमेंसे अङ्ग और प्रधानके सम्बन्ध अर्थात् अङ्गाङ्गि-भावकी बोधक विधि 'विनियोगविधि' कहलाती है। इस विनियोगविधिके सहकारी १. श्रुति, २. लिङ्ग, ३ वाक्य, ४ प्रकरण, ५ स्थान और ६ समाख्या ये छ प्रमाण माने गये हैं। इनकी सहायतासे विनियोगविधि द्वारा प्रधान और अप्रधानके अङ्गाङ्गिभावका निर्णय होता है। परन्तु कहीं ऐसा भी हो सकता है कि इनमेंसे दो या अधिक प्रमाणोंके एक ही वाक्यमें प्रयोगका अवसर आ जाय और उनमेंसे एक प्रमाण किसीको प्रधान बतलाता हो और दूसरे प्रमाणके अनुसार किसी अन्यकी प्रधानता सिद्ध होती हो। तब अन्तमें निर्णय किस आधारपर किया जाय इसके लिए मीमांसा-दर्शनके तृतीया-ध्यायके तृतीय पादमें चौदहवाँ सूत्र निम्नलिखित प्रकार लिखा गया है—

श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यं—

अर्थविप्रकर्षात्। मीमांसा-दर्शन ३-३-१४

इसका अभिप्राय यह है कि श्रुति, लिङ्ग आदि छ प्रमाणोंमेंसे यदि अनेक प्रमाणोंके एक स्थानपर इकट्ठे प्रवृत्त होने और उनमें विरोध होनेका अवसर आ जाय तो उनमेंसे उत्तर-उत्तरको दुर्बल और पूर्व-पूर्वको प्रबल समझना चाहिये। इसी आधारपर गुण-प्रधान-भावका निर्णय करना चाहिये। इसीका नाम 'बलाबलाधिकरण' है।

१. श्रुतिप्रमाण—

इनमेंसे सबसे पहिला और सबसे अधिक प्रबल प्रमाण 'श्रुति' है। 'श्रुति'का लक्षण 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः' इस प्रकार किया गया है। अर्थात् अपने अर्थके बोधन और प्रामाण्यके लिए किसी अन्यकी अपेक्षा न करनेवाला शब्द प्रमाण 'श्रुति' कहलाता है। इस श्रुतिप्रमाणके भी १ विधात्री, २ अभि-धात्री और ३ विनियोक्त्री ये तीन भेद किये गये हैं। इनमेंसे लिङाद्यात्मिका श्रुतिको 'विधात्री श्रुति', 'व्रीहिभिर्यजेत्' आदिको 'अभिधात्री श्रुति', और जिसके श्रवणमात्रसे सम्बन्धकी प्रतीति हो जाती उसको 'विनियोक्त्री श्रुति' कहा जाता है।

विनियोक्त्री श्रुतिके फिर १ विभक्तिरूपा, २ एकाभिधानरूपा और ३ एकपदरूपा ये तीन भेद किये हैं। इनमेंसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति'में द्वितीया विभक्तिसे, 'व्रीहिभिर्यजेत्'में तृतीया विभक्तिसे, 'आहवनीये जुहोति'में सप्तमी श्रुतिसे, व्रीहि तथा आहवनीय अग्निकी यागके प्रति अङ्गता बोधित होती है। ये विभक्ति श्रुतिके उदाहरण हैं। 'पशुना यजेत्'में 'आङोनाऽस्त्रियाम्' अष्टाध्यायीके इस सूत्रसे तृतीया विभक्तिके एकवचनमें 'टा'के स्थानपर अस्त्रीलिङ्ग अर्थात् पुल्लिङ्ग में 'ना' होकर 'पशुना' यह रूप बना है। इसलिए इस 'ना'से एकवचन तथा 'पुंस्त्व' दोनों सूचित होते हैं। और उसीसे करण-कारकका बोध होता है। अर्थात् तीनोंकी उपस्थिति एक ही प्रत्ययरूप अंशसे होती है। इसलिए पुंस्त्व तथा एकत्वकी कारकाङ्गताका निर्णय समानाभिधान-श्रुतिसे होता है। इसी प्रकार 'यजेत्'में दो अंश हैं—एक प्रकृति रूप 'यज' धातु और दूसरा प्रत्ययांश। प्रत्ययांशमें भी दो भाग हैं। एक है साधारण आख्यातत्वमात्र और दूसरा लिङत्वरूप विशेष भाग। इनमेंसे लिङंशसे 'शाब्दीभावना' या प्रवर्तना बोधित होती है और आख्यातांशसे संख्या आदिका बोध होता है। उस संख्याका प्रकृति भाग यज धातुसे बोधित यागके साथ अङ्गरूपसे अन्वय होता है। इसमें यागरूप एक अंश प्रकृतिसे और संख्या-रूप दूसरा अंश प्रत्यय द्वारा बोधित होता है। प्रकृति तथा प्रत्यय मिलकर पद बन जाते हैं। इसलिए यह अन्वय एकपदरूप श्रुतिसे होता है।

यह 'श्रुति', लिङ्ग आदि उत्तरवर्ती प्रमाणोंकी अपेक्षा अधिक बलवती होती है। क्योंकि इसको अपने अर्थ या अङ्ग-प्रधान-भावके बोधनमें किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं होती है। यह तुरन्त अङ्ग-प्रधान-भावका निर्णय कर देती है। 'लिङ्ग' आदि अन्य प्रमाण सीधे, निरपेक्ष रूपसे अङ्ग-प्रधान भावका निर्णय नहीं कर सकते हैं। उन्हें अपने समर्थनमें श्रुतिकी कल्पना करनी होती है। उससे निर्णय होनेमें विलम्ब होता है। इसलिए अन्य सब प्रमाणोंकी अपेक्षा 'श्रुति' सबसे प्रबल प्रमाण है। श्रुतिकी प्रबलताके कारण ही 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस वाक्यमें इन्द्र देवतावाली 'ऐन्द्री' ऋचाका गार्हत्याग्निकी स्तुतिमें विनियोग होता है। अन्यथा इन्द्रदेवताके लिङ्ग अर्थात् चिह्नसे युक्त होनेके कारण 'ऐन्द्री' ऋचासे इन्द्रकी ही स्तुति होनी चाहिये थी।

२. लिङ्गप्रमाण—

दूसरा प्रमाण 'लिङ्ग' है। 'लिङ्ग'का अर्थ 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इस लक्षणके अनुसार 'सामर्थ्य' ही किया जाता है। सामर्थ्यका अर्थ 'रूढि' है। आगे 'समाख्या' नामक छठा प्रमाण आयेगा उसका अर्थ यौगिक-शब्द होगा। इसलिए 'रूढि' रूप 'लिङ्ग' प्रमाण, यौगिक शब्दरूप 'समाख्या' प्रमाणसे भिन्न है।

इस रूढिरूप लिङ्गप्रमाणकी वाक्यप्रमाणकी अपेक्षा प्रबलताके कारण 'बर्हिर्देवसदनं दामि' देवताओंके या विद्वानोंके बैटने योग्य 'बर्हि' अर्थात् कुशको काटता हूँ। इस वाक्यमें 'बर्हि' शब्दसे रूढ 'कुश' अर्थ ही लिया जाता है। कुशके सदृश 'उलप' आदि अन्य घासका ग्रहण 'बर्हि' पदसे नहीं किया जाता है। यह लिङ्ग प्रमाण अपने उत्तरवर्ती वाक्यादि अन्य प्रमाणोंसे अधिक बलवान् है। इसलिए 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' इस मन्त्रकी पुराडाशके सदन करणमें जो अङ्गता होती है वह वाक्यसे नहीं अपितु लिङ्गसे मानी जाती है।

३. वाक्यप्रमाण—

तीसरा प्रमाण 'वाक्य' है। 'वाक्य'का अर्थ 'समभिव्याहार' या सहोच्चारण है। 'यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इस वाक्यमें 'पर्ण' और 'जुहु'का सहोच्चारण या समभिव्याहार होनेके कारण 'वाक्य'से 'पर्णता'की 'जुहु'के प्रति अङ्गता प्रतीत होती है। यज्ञमें अवत्त-हवि अर्थात् काटकर डाले जानेवाली हलुआ आदि जैसी हविकी आहुति देनेवाली चम्मचको 'जुहु' कहते हैं। वह 'जुहु' सदा पर्ण अर्थात् पत्तेकी ही बनायी जानी चाहिये। यह इसका अभिप्राय है।

यह 'वाक्य' रूप तृतीय प्रमाण अपने उत्तरवर्ती 'प्रकरण' आदि अन्य प्रमाणोंकी अपेक्षा बलवान् होता है। इसलिए 'इन्द्राग्नी इदं हविः' यह दर्शयाग [अमावास्याके दिन किये जानेवाले विशेष याग] के साथ पठित होनेसे समभिव्याहाररूप 'वाक्य' प्रमाणके द्वारा केवल दर्श-यागका अङ्ग होता है। प्रकरणसे पूर्णमास अर्थात् पूर्णिमाके दिन किये जानेवाले यागका भी अङ्ग हो सकता था। परन्तु वाक्यके बलवान् होनेसे वह केवल दर्शयागका अङ्ग होता है।

४. प्रकरणप्रमाण—

चौथा प्रमाण 'प्रकरण' है। 'उभयाकांक्षा प्रकरणम्' यह 'प्रकरण' प्रमाणका लक्षण है। यह प्रकरण-प्रमाण अपने उत्तरवर्ती स्थान आदि प्रमाणोंकी अपेक्षा बलवान् होता है। इसलिए 'अक्षैर्दीव्यति, राजन्यं जिनाति' इत्यादि। अभिषेचनीयके साथ पठित होनेपर भी 'स्थान'-प्रमाणसे अभिषेचनके अङ्ग न होकर 'प्रकरण'के प्रबल होनेसे राजसूयके अङ्ग माने जाते हैं।

५. स्थानप्रमाण—

पाँचवा प्रमाण 'स्थान' है। देशकी समानताका नाम 'स्थान' है। यह दो प्रकारका होता है—एक पाठसादेश्य और दूसरा अनुष्ठानसादेश्य। यह 'स्थान' प्रमाण अपने उत्तरवर्ती 'समाख्या' प्रमाणसे अधिक बलवान् होता है। इसलिए 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' यह मन्त्र पाठ-सादेश्यके कारण सान्नाय्य-पात्रों अर्थात् दूध-दहीके पात्रोंके शोधनका अङ्ग होता है। 'पौरोडाशिक' इस समाख्यासे पुरोडाश-पात्रोंके शोधनका अङ्ग नहीं होता है।

६. समाख्याप्रमाण—

छठा प्रमाण 'समाख्या' है। समाख्या 'यौगिक' शब्दको कहते हैं। यह 'समाख्या' वैदिकी तथा लौकिकी भेदसे दो प्रकारकी होती है। 'हौतृचमस' इस वैदिकी समाख्यासे 'होता' चमस-भक्षणका अङ्ग होता है।

इन छ प्रमाणोंमें जो पूर्व-पूर्वके बलीयस्त्वका निश्चय किया गया है, इसका कारण यह है कि श्रुतिके निरपेक्ष होनेसे सबसे पहले उससे अर्थकी प्रतीति हो जाती है इसलिए वह सबसे बलवान् है। अन्य प्रमाणोंमें अर्थकी प्रतीतिमें जितना-जितना विलम्ब होता है उसी अनुपातसे उनको दुर्बल कहा गया है। मीमांसकोंके पूर्वकथनके अनुसार यदि शब्दप्रमाणके बाद जितना अर्थ प्रतीत होता है वह सब एक ही अभिधा-व्यापारसे बोधित होता है, यह माना जाय, तो उस अर्थकी प्रतीतिमें पौर्वापर्य आदिका कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। उस दशामें इन सब प्रमाणोंमें जो बलाबलका निर्धारण किया गया है यह सब नहीं बनता है। इसलिए यह सिद्धान्त ठीक नहीं है।

नित्यानित्य दोषव्यवस्थासे भी व्यञ्जनाकी सिद्धि—

यहाँतक ग्रन्थकारने मीमांसक-मतका खण्डन कर व्यञ्जनावृत्तिको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया था। अब आगे साहित्यशास्त्रकी प्रक्रियासे व्यञ्जनावृत्तिको सिद्ध करनेके लिए कुछ युक्तियाँ देते हैं। इनमेंसे पहिली युक्ति है यह है कि 'कुरु रुचिम्' इन शब्दोंको यदि उलटकर 'रुचिं-कुरु' यह पाठ कर दिया जाय तो इसमें 'चिकु' शब्दके योनि-स्थित 'भगनासा'का वाचक हो जानेसे अश्लीलता दोष आ जाता है। परन्तु यहाँ असभ्य भगनासा अर्थ 'रुचि' और 'कुरु' दोनोंमेंसे किसी पदका वाच्यार्थ नहीं है। जब अश्लील अर्थ वाच्य नहीं है और अभिधाको छोड़कर और कोई अर्थबोधक वृत्ति नहीं है तो असभ्यार्थकी प्रतीति हो ही नहीं सकती है। उस दशामें इस प्रकारके प्रयोग काव्यमें वर्जित नहीं ठहराये जा सकते हैं। परन्तु सभी सहृदय व्यक्ति इस प्रकारके प्रयोगोंको असभ्यार्थका व्यञ्जक मानकर वर्जनीय ठहराते हैं। अतः अभिधाके अतिरिक्त व्यञ्जनाको भी अलग अर्थबोधक वृत्ति अवश्य मानना चाहिये।

दूसरी युक्ति यह है कि साहित्यशास्त्रमें दोषप्रकरणमें नित्यदोष और अनित्यदोष, दो प्रकारके दोष माने गये हैं। 'असाधुपदत्व' आदि दोष प्रत्येक रसके अपकर्षक होते हैं, इसलिए वे 'नित्यदोष' माने गये हैं। परन्तु 'श्रुतिकटुत्व' आदि दोष करुण-शृङ्गार आदि कोमल रसोंमें ही दोष माने जाते हैं। वीर, रौद्र, भयानक आदि रसोंमें उनको दोष नहीं माना जाता है इसलिए वे 'अनित्यदोष' कहलाते हैं। यदि वाच्य-वाचक-भावसे अतिरिक्त व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव न माना जाय तो यह नित्य तथा अनित्यदोषकी व्यवस्था भी नहीं बन सकती है। व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भावको अलग माननेपर व्यञ्जनावृत्तिसे द्योत्य भिन्न-भिन्न रसोंके अनुकूल या प्रतिकूल होनेके आधारपर नित्य-अनित्यदोषोंकी व्यवस्था बन सकती है। इसलिए व्यञ्जनावृत्तिको मानना आवश्यक है। इसी बातको ग्रन्थकार अगले दो अनुच्छेदोंमें इस प्रकार लिखते हैं—

किञ्च 'कुरु रुचिम्' इति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्त्तिनि कथं दुष्टत्वम् ? नह्यत्रासभ्योऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेति एवमादि अपरित्याज्यं स्यात् ।

यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेयते तदाऽसाधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात् । न चानुपपन्नं सर्वस्यैव विभक्ततया प्रतिभासात् । वाच्यवाचकभावव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकताश्रयणे तु व्यङ्ग्यस्य बहुविधत्वात् क्वचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यत एव विभागव्यवस्था ।

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां
समागमप्रार्थनया कपालिनः ।

इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम् ?

'कुरु रुचिम्' इन पदोंको उलट देनेसे काव्यमें [रुचिं कुरु इस पाठमें अश्लीलता दोष आ जानेसे] दुष्टता क्यों हो जाती है ? यहाँ असभ्य [योन्यंकुर या भगनासारूप] अर्थ अन्य पदार्थोंके साथ अन्वित नहीं है इसलिए वाच्यार्थ भी नहीं है । इस कारण [यदि उसको व्यङ्ग्य न माना जाय तो] इस प्रकारके प्रयोग [काव्यमें] परित्याज्य नहीं होंगे ।

और यदि वाच्य-वाचक-भावसे भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव नहीं माना जाता है तो असाधुपदत्व [च्युतसंस्कारत्व] आदि नित्य दोष हैं और कष्टत्व [श्रुतिकटुत्व] आदि अनित्य दोष हैं । इस प्रकारका [दोषोंका] विभाग भी नहीं बन सकता है । परन्तु [वह विभाग] अनुपपन्न नहीं है [होता ही है] । समस्त सहृदयोंको [नित्यदोष तथा अनित्य दोषोंके] विभक्त रूपसे [अलग-अलग] प्रतीत होनेसे [उस विभागको मानना ही होगा] । वाच्यवाचक-भावसे भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भावको स्वीकार करनेपर तो व्यङ्ग्यके अनेक प्रकारके होनेसे कहीं ही किसीके औचित्यके कारण विभाग-व्यवस्था बन ही जाती है । [इसलिए व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भावको मानना ही चाहिए] ।

गुणव्यवस्थाके द्वारा व्यञ्जनाकी सिद्धि—

[और यदि व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भावको न माना जाय तो कालिदासके 'कुमार सम्भवमें' आये हुए] अब कपाल धारण करनेवाले [दरिद्र और बीभत्स रूप शिव] के समागमकी इच्छाके कारण [चन्द्रमाकी सुन्दर कला और उससे भी अधिक सुन्दर तुम पार्वती] दो जने शोचनीय हो गये ।

इत्यादि [श्लोक] में [शिवके वाचक] 'पिनाकी' आदिकी अपेक्षा 'कपाली' आदि पदोंमें अधिक काव्यानुगुणत्व क्यों माना जाता है ?

यह श्लोकका केवल आधा भाग है जो कुमार सम्भवसे लिया गया है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥

इस श्लोकमें शिवकी प्राप्तिके लिए तपस्या करनेवाली पार्वतीकी परीक्षा करनेके लिए ब्रह्मचारीका वेष धारण करके आये हुए शिवजी पार्वतीकी शिव-समागमकी इच्छाका उपहास करते

अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ । न हि 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति । प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरण-वक्तृ-प्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते । तथा च 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति, कर्मकरणान्निवर्तामहे इति, सांध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति, संतापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थस्तत्र तत्र प्रतिभाति ।

हुए कह रहे हैं कि पहिले तो यह सुना था कि अकेली चन्द्रमाकी सुन्दर कला ही उस 'कपाली'के समागमकी इच्छा करती थी। अब उसके साथ तुम भी जुड़ गई हो। पहिले अकेली चन्द्रकला ही शोचनीय थी अब तुम दोनोंकी दशा शोचनीय हो गई है। इसमें शिवके वाचक 'पिनाकी' आदि अन्य सब शब्दोंको छोड़कर कविने 'कपाली' शब्दका ही विशेष रूपसे प्रयोग किया है। उसका विशेष कारण है। उससे जिन दरिद्रता, बीभत्सता आदि अनेक गुणोंका वैशिष्ट्य प्रतीत होता है वह शिवजीके वाचक 'पिंनाकी' आदि अन्य शब्दोंसे व्यक्त नहीं होता है। उसीके आधारपर शोचनीयताका औचित्य व्यक्त होता है। यदि इस व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भावको न माना जाय तो वाचकरूपसे सभी शब्दोंका समान ही स्थान होनेसे इस विशेष पदके प्रयोगमें कोई विलक्षण चमत्कार नहीं होना चाहिये था। परन्तु वह चमत्कार सब सहृदयोंको अनुभव-गोचर होता है। इसलिए वाच्य-वाचक-भावसे भिन्न व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भाव अवश्य मानना चाहिये।

संख्याभेदसे वाच्य-व्यङ्ग्यका भेद—

[व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भावकी सिद्धिमें] और भी [हेतु यह है कि—]वाच्यार्थ सब ज्ञाताओंके प्रति एकरूप ही होता है इसलिए उसका स्वरूप निश्चित है। क्योंकि 'सूर्य छिप गया' [गतोऽस्तमर्कः] इत्यादिमें वाच्यार्थ कहीं भी बदलता नहीं है [अपितु सब जगह एक-सा ही रहता है]। परन्तु उस-उस प्रकरणके, वक्ता, बोद्धा आदिकी सहायतासे प्रतीयमान अर्थ अलग-अलग हो जाता है। जैसे कि 'सूर्य छिप गया' [इस वाक्यका यदि लुटेरे या लड़ाकू व्यक्ति प्रयोग करते हैं तो] इससे (१) शत्रुको लूटनेका समय आ गया यह, [अर्थ उसके साथियोंको प्रतीत होता है। यदि दूती नायिकासे कहती है तो नायक पास] (२) अभिसरणकी तैयारी करो यह, [यदि सखी नायिकासे कहती है तो] (३) तुम्हारे पति आते ही होंगे यह, [इसी प्रकार कहीं] (४) काम समाप्त करते हैं यह, [कहीं] (५) सन्ध्याकालीन विधि करना चाहिए यह, [कहीं] (६) दूर मत जाना यह, [कहीं] (७) गायोंको घरमें ले जाओ यह, [कहीं] (८) अब गर्मी नहीं रही यह, [कहीं] (९) दुकान बढ़ाओ [विक्रेय वस्तुओंको समेटना चाहिये] यह, [और कहीं] (१०) अबतक भी प्राणनाथ नहीं आये यह इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थलोंपर [तत्र-तत्र] अनन्त प्रकारका व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत होता है। [इसलिए वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थकी संख्यामें भेद होनेसे भी व्यङ्ग्यार्थको वाच्यसे भिन्न मानना होगा]।

साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे यहाँतक व्यञ्जना-साधक चार हेतु दिये जा चुके हैं। आगे वाच्य और व्यङ्ग्यके १ स्वरूपभेद, २ प्रतीतिभेद, ३ कालके भेद, ४ आश्रयभेद, ५ निमित्तभेद, ६ कार्यभेद, ७ संख्याभेद और ८ विषयभेदसे भी वाच्य अर्थसे व्यङ्ग्य अर्थका भेद सिद्ध करते हैं।

वाच्यव्यङ्ग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना,

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥१३३॥

इत्यादौ संशय–शान्त–शृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चयरूपेण,

कथमवनिप ! दर्पो यन्निशातासिधारा—
दलनगलितमूर्ध्नां विद्विषां स्वीकृता श्रीः ।
ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता
त्रिदिवमपगताङ्गैर्वल्लभा कीर्तिरेभिः ॥१३४॥

इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वरूपस्य,

स्वरूपभेदसे वाच्य-व्यङ्ग्यके भेदके तीन उदाहरण—

१. 'निःशेषच्युतचन्दनस्तनटं' इत्यादि [पूर्वोद्धृत उदाहरण सं० २] में वाच्य और व्यङ्ग्यके [क्रमशः] निषेध और विधिरूप होनेसे [स्वरूपभेद १]—

२. [कार्य-अकार्यके विचारमें निपुण] हे आर्यो, आप पक्षपात छोड़कर और विचार करके यह बात प्रमाणसहित [समर्याद] बतलाइये कि क्या पहाड़ोंके मध्य भागोंका [नितम्बों] का सेवन करना चाहिये अथवा कामवासनासे मुस्कराती हुई सुन्दरियोंके नितम्बोंका सेवन करना चाहिये [इस प्रकारके संशय होनेपर जो कर्त्तव्य हो सो आप लोग बतलाइये] ॥ १३३ ॥

इत्यादिमें [वाच्यार्थके] संशय [रूप होने] और [व्यङ्ग्यार्थ] के शान्त [रस प्रधान व्यक्तिके लिए पर्वत-नितम्बोंका] और शृङ्गारी [व्यक्तिके लिए विलासिनियोंके नितम्बोंके सेवन] में किसी एकके निश्चयरूप [स्वरूपभेद २]—

३. हे राजन्, यह अभिमान आप क्यों कर रहे हैं कि तीक्ष्ण तलवारकी धारसे जिनके शिर गिरा दिये उन शत्रुओंकी लक्ष्मी आपने ले ली है। क्या सिर कटे हुए ये [शत्रु] जिसके सारे शत्रु मारे जा चुके हैं ऐसे आपकी प्रियतमा कीर्तिको [अपहरण करके अपने साथ] स्वर्ग नहीं ले गये हैं ॥ १३४ ॥

इत्यादिमें [वाच्य और व्यङ्ग्यके क्रमशः] निन्दा तथा स्तुतिरूप होनेसे स्वरूपके [भेद होनेसे वाच्य और व्यङ्ग्य अलग-अलग हैं। स्वरूपभेद ३]।

यहाँ वाच्यार्थ तो यह है कि आपने शत्रुओंके सिर काट डाले और उनकी लक्ष्मी छीनकर अपने अधीन कर ली। यह ठीक है परन्तु इसपर आपके घमण्ड करनेका कोई कारण नहीं है। आपने जब उनकी लक्ष्मीका हरण किया उस समय शत्रु मर चुके थे और आप पूर्णरूपसे सदेह और सशक्त थे। ऐसी दशामें मरे हुए व्यक्तियोंकी सम्पत्तिको छीन लेनेमें कौन बड़ी बात है। पर आपके शत्रु आपसे कहीं आगे हैं। क्योंकि वे मर जाने और सिर कट जानेके बाद भी और आपके सदेह एवं सशक्तरूपमें सामने खड़े रहनेपर भी आपके देखते-देखते वे आपकी 'वल्लभा' कीर्तिको अपने साथ लेकर स्वर्ग चले गये। यह श्लोकका वाच्यार्थ है जो स्पष्टतः निन्दारूप है। पर उससे 'आपने अपने समस्त शत्रुओंका का नाश कर दिया है और आपकी कीर्ति स्वर्गतक व्याप्त हो रही है' यह प्रशंसा व्यङ्ग्य है। इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्यके स्वरूपमें भेदके तीन उदाहरण देकर वाच्यार्थसे व्यङ्ग्यार्थको अलग सिद्ध कर व्यञ्जनाकी अनिवार्यताका प्रतिपादन किया है।

पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः कालस्य, शब्दाश्रयत्वेन शब्द-तदेकदेश-तदर्थ-वर्ण-संघटनाश्रयत्वेन च आश्रयस्य, शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्य-सहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य, बोद्धृमात्रविदग्धव्यपदेशयोः, प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च करणात् कार्यस्य, गतोऽस्तमर्क इत्यादौ प्रदर्शितनयेन संख्यायाः,

कस्स वा ण होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वणं अहरं ।
सभमरपडमग्घाइणि वरिअवामे सहसु एण्हिं ॥१३५॥
[कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमर पद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥इति संस्कृतम् ।]

इत्यादौ सखीतत्कान्तादिगतत्वेन विषयस्य च भेदेऽपि यद्येकत्वं, तत्कचिदपि नीलपीतादौ भेदो न स्यात् ।

वाच्य और व्यङ्ग्यके भेद-साधक सात और कारण—

[वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थकी] प्रतीतिके आगे-पीछे होनेसे (१) कालका [भेद भी दोनोंका भेद-साधक है]। [वाच्यके केवल] शब्दमें आश्रित होने [तथा व्यङ्ग्य अर्थके] शब्द, उसके एकदेश, उसके अर्थ, वर्ण, और सङ्घटना आदिके आश्रित होनेसे (२) आश्रयका, [भेद भी दोनोंका भेद-साधक है] । [वाच्यार्थके] केवल शब्दानुशासन [व्याकरण तथा कोश आदि] के ज्ञानसे और [व्यङ्ग्यार्थके] प्रकरण आदिकी सहायता, प्रतिभाकी निर्मलताके सहित व्याकरण कोशादि [तेन च] के ज्ञानसे प्रतीति होती है इसलिए (३) निमित्तका, [भेद भी वाच्य-व्यङ्ग्यके भेदका साधक है] । [केवल वाच्यार्थ-मात्रके ज्ञानसे उसके ज्ञाताको केवल सामान्य प्रकारका] 'बोद्धा' [कहा जाता है और व्यङ्ग्यार्थका अनुभव करनेवालेको सहृदय] 'विदग्ध' [कहा जाता इस प्रकार इन] दोनों (४) संज्ञाओंका [भेद भी वाच्य-व्यङ्ग्यके भेदका साधक है] । [वाच्यार्थ ज्ञान] केवल प्रतीतिमात्रको करनेवाला [और व्यङ्ग्यार्थका ज्ञान] चमत्कारका जनक होता है इस लिए (५) कार्यका [भेद भी वाच्य-व्यङ्ग्यका भेद-साधक है] और 'सूर्य छिप गया' इत्यादिमें पूर्वप्रदर्शित रीतिसे [वाच्य और व्यङ्ग्यकी] (६) संख्याका [भेद भी वाच्य और व्यङ्ग्यका भेद-साधक है । तथा]—

[परपुरुषके द्वारा उत्पादित दन्तक्षतके कारण] प्रियाके व्रण-युक्त अधरको देखकर किसको क्रोध नहीं होता है । इसलिए भौंरे सहित कमलको सूँघनेवाली और मना करनेपर भी न माननेवाली अब उसका फल भोग ॥ १३५ ॥

इत्यादि [उदाहरण] में [वाच्यार्थके] सखी [विषयक] तथा [व्यङ्ग्यार्थके] उसके पतिसे सम्बद्ध रूपसे [प्रतीत होनेसे वाच्य व्यङ्ग्य अर्थके] (७) विषयका] भेद होनेपर [अर्थात् इतने भेदोंके होनेपर] भी यदि [वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थका] भेद न माना जाय तो फिर नीले-पीले आदि [पदार्थों] में कहीं भी भेद नहीं रहेगा ।

'कस्य वा न भवति रोषो' इत्यादि श्लोक वाक्य किसी दुष्टा स्त्रीकी सखी उससे कह रही है । स्त्रीके अधरपर पर-पुरुषकृत दन्तक्षतका चिह्न बना हुआ है । इसको देखकर पतिका नाराज होना स्वाभाविक है । उससे बचानेके लिए उसकी सखी इस वाक्य द्वारा प्रबन्ध कर रही है । स्त्रीका पति कहीं समीप ही है । और वह इस वाक्यको भली प्रकार सुन सकता है पर सखी ऐसा प्रकट करती हुई

उक्तं हि—"अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च"—इति । वाचकानामर्थापेक्षा व्यञ्जकानान्तु न तदपेक्षत्वमिति न वाचकत्वमेव व्यञ्जकत्वम् । किं च वाणीरकुडंगेत्यादौ प्रतीयमानमर्थमभिव्यज्य वाच्यं स्वरूपे एव यत्र

कि मानो उसे पतिकी उपस्थितिका कोई ज्ञान ही नहीं है, स्त्रीसे यह श्लोक कह रही है । इसके वाच्यार्थका विषय यद्यपि वह स्त्री है । परन्तु सखीका मुख्य लक्ष्य स्त्रीको उपदेश देना नहीं है । अपितु उसके पतिको यह सुनाना है कि इसने ऐसा कमलका फूल सूँघ लिया था जिसमें भौंरा बैठा हुआ था । सूँघते समय इसकी असावधानीसे भौंरेने इसके अधरमें काट लिया है उसीका यह चिह्न बन गया है । यह परपुरुषके दन्त-क्षतका चिह्न नहीं हैं । इस प्रकार वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थमें विषयका भेद होनेसे भी व्यङ्ग्यार्थको वाच्यार्थसे भिन्न मानना होगा । इसी बातको कहते हैं ।

कहा भी है कि—

[घट-पट आदिमें घटत्व-पटत्व आदि] विरुद्ध धर्मोंकी [दो भिन्न धर्मियोंमें] प्रतीति और [उन दोनोंके] कारणोंका भेद ही [पदार्थोंके] भेदका कारण होता है ।

वाचक और व्यञ्जक शब्दोंका भेद—

इस प्रकार यहाँतक वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थका १०. प्रकारका भेद दिखलाकर व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जनावृत्तिकी अनिवार्यताका उपपादन किया है । अब आगे यह दिखलाते हैं कि न केवल वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थमें ही भेद होता है अपितु वाचक और व्यञ्जक शब्दोंमें भी भेद होता है ।

वाचक शब्दोंको अर्थकी अपेक्षा होती है [अर्थात् वाचक शब्द केवल संकेतित अर्थका ही बोध करा सकते हैं] । पर व्यञ्जक शब्दोंको उसकी आवश्यकता नहीं होती है । [अर्थात् वे बिना सङ्केतग्रहके किसी भी अर्थका बोध करा सकते हैं] । इसलिए वाचकत्व ही व्यञ्जकत्व नहीं है । [अर्थात् वाचकत्व और व्यञ्जकत्व दोनों अलग-अलग हैं] ।

अतात्पर्य विषयीभूत अर्थकी व्यङ्ग्यता—

'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियमका आश्रय लेकर भट्टलोल्लट आदिने व्यङ्ग्यार्थको तात्पर्य-विषयीभूत होनेसे वाच्यार्थ सिद्ध करनेका यत्न किया था । उसका अत्यन्त विस्तारके साथ खण्डन पहिले कर चुके हैं । परन्तु अब यह दिखलाते हैं कि कहीं-कहीं ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति तो होती है परन्तु वह तात्पर्य विषयीभूत अर्थ नहीं होता है । जैसे गुणीभूत व्यङ्ग्यके 'असुन्दर व्यङ्ग्य' नामक भेदमें व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति तो होती है परन्तु वह वाच्यार्थकी अपेक्षा असुन्दर है, इसलिए आस्वादकी चरम विश्रान्ति व्यङ्ग्यमें नहीं अपितु वाच्यमें ही होती है । अतः इन उदाहरणोंसे व्यङ्ग्यार्थको तात्पर्य-विषयीभूत अर्थ नहीं कहा जा सकता है । यदि व्यञ्जनाको अलग वृत्ति न माना जायगा तो इस अतात्पर्य-विषयीभूत अर्थकी प्रतीति कैसे होगी ? इसलिए भी व्यञ्जनाका मानना आवश्यक है । इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेद में लिखते हैं—

और 'वाणीरकुञ्जोड्डीन' इत्यादि [असुन्दर व्यङ्ग्यके उदाहरण सं० १३२ पृ० २११] में ['दत्तसङ्केतःकश्चिल्लतागृहं प्रविष्टः' इस] प्रतीयमानअर्थको प्राप्त कराके [व्यङ्ग्यकी अपेक्षा वाच्यके ही अधिक चमत्कारयुक्त होनेसे] वाच्य अपने स्वरूपमें ही जहाँ विश्रान्त होता है [अर्थात्-चरम आस्वादका विषय वाच्य ही होता है व्यङ्ग्य नहीं] वहाँ [उस] गुणीभूत व्यङ्ग्य [रूप मध्यम काव्य] में [वाच्यपेक्षया अधिक चमत्कारयुक्त

विश्राम्यति तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्येऽतात्पर्यभूतोऽप्यर्थः स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवतरन् कस्य व्यापारस्य विषयतामवलम्बतामिति ॥

न होनेसे] अतात्पर्य-विषयीभूत अर्थ भी जो अपने [वाचक] शब्दसे अभिहित न होकर ही प्रतीति-गोचर हो रहा है वह [व्यञ्जना-व्यापारको छोड़कर और] किस व्यापारका विषय हो सकता है। [अर्थात् उसकी प्रतीति केवल व्यञ्जनासे ही हो सकती है। अन्य किसीसे सम्भव नहीं, इसलिए भी व्यञ्जनावृत्तिका अलग मानना आवश्यक है]।

यहाँतक ग्रन्थकारने व्यञ्जनावृत्तिकी पृथक् सत्ता सिद्ध करनेके लिए जो युक्तियाँ दी हैं उनका सारांश निम्नलिखित प्रकार है —

(१) लक्षणामूलध्वनिके १ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा २ अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य दोनों भेदोंमें व्यङ्ग्यार्थके बिना लक्षणा ही नहीं हो सकती है इसलिए उनमें व्यञ्जनाका मानना अनिवार्य है।

(२) अभिधामूलध्वनिके असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेदमें रसादि ध्वनि कभी भी स्वशब्द-वाच्य नहीं होता है अतः उसे व्यङ्ग्य ही मानना होगा।

(३) अभिधामूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके शब्दशक्त्युत्थ भेदमें अभिधाका प्रकरणादिवश एकार्थमें नियन्त्रण हो जानेसे अप्राकरणिक अर्थ और उसके साथ उपमानोपमेय-भाव आदिकी प्रतीति व्यञ्जनासे ही सम्भव है, अभिधासे नहीं। अतः व्यञ्जनाका मानना आवश्यक है।

(४) अभिधामूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके अर्थशक्त्युत्थ भेदमें 'अभिहितान्वयवाद'में जहाँ वाक्यार्थ ही अभिधाका विषय न होकर 'तात्पर्याख्यावृत्ति'से प्रतीत होता है, वहाँ व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति तो अभिधासे हो ही नहीं सकती है। उसकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जनाका मानना अनिवार्य है।

(५) 'अन्विताभिधानवाद'में भी सामान्यरूपसे अन्वित पदार्थमें ही संकेतग्रह होता है। विशेषमें अन्वितका संकेतग्रह नहीं होता है। इसलिए वहाँ भी अतिविशेष रूप वाक्यार्थकी प्रतीति अभिधासे नहीं हो सकती है। तब उसके भी बादमें प्रतीत होनेवाले व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति अभिधासे माननेका प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः 'अन्विताभिधानवाद'में भी व्यञ्जनाका मानना अनिवार्य है।

(६) 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इस नियमके अनुसार भी व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति शब्दसे अभिधा द्वारा तबतक नहीं मानी जा सकती है जबतक कि शब्दका उसके साथ संकेतग्रह न हो। संकेतग्रह केवल सामान्यरूपसे अन्वितके साथ है, विशेषके साथ नहीं, अतः अतिविशेष रूप वाक्यार्थकी ही प्रतीति जब अभिधासे नहीं हो सकती है तब उसके भी बाद होनेवाली व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति अभिधासे सम्भव ही नहीं है। अतः व्यञ्जनाका अपलाप असम्भव है।

(७) भट्टलोल्लट आदि 'यत्परः शब्द स शब्दार्थः' इस नियमके आधारपर व्यङ्ग्यार्थको अभिधागम्य बतलाते हैं। परन्तु वे 'यत्परः शब्द स शब्दार्थः' इस नियमका अर्थ ही नहीं समझे हैं। इस नियमका अभिप्राय इतना ही है कि विधिवाक्योंमें मुख्य रूपसे क्रियाका विधान होता है। 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते'। इसका यही अभिप्राय है कि जहाँ क्रिया अन्य प्रमाणसे प्राप्त होती है वहाँ गुणका, या कहीं गुण या क्रिया दोनोंका, और कहीं तीनोंका भी विधान होता है। 'अदग्ध-दहन-न्याय'से जहाँ जितना अंश अप्राप्त होता है, उतनेका विधान होता है। यही 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'का तात्पर्य होता है। भट्टलोल्लट आदि जो इस 'तात्पर्यवाचो युक्ति' का यह अर्थ लेना चाहते हैं कि जहाँ व्यङ्ग्यार्थके बोधनमें वक्ताका तात्पर्य होता है वहाँ वही अर्थ शब्दका वाच्यार्थ होता है, अतः व्यञ्जनाको अलग वृत्ति माननेकी आवश्यकता नहीं है, यह कल्पना असङ्गत

है। इस असत्कल्पनाका कारण 'तात्पर्यवाचो युक्ति'के अभिप्रायको न समझना ही है। इस नियमके आधारपर सभी अर्थोंको वाच्यार्थ मान लिया जाय तो लक्षणा आदिकी आवश्यकता नहीं रहेगी। दूसरी बात यह है कि इसके अनुसार वाक्यमें उपात्त किसी विशेष शब्दके अर्थमें ही वाक्यके शेष शब्दोंका तात्पर्य माना जा सकता है। वाक्यमें अनुपात्त शब्दके अर्थमें वाक्यका तात्पर्य नहीं हो सकता है। किन्तु व्यञ्जना द्वारा जिस अर्थकी प्रतीति होती है उसका वाचक कोई भी शब्द वाक्यमें नहीं होता है। अतः उसके विषयमें 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' वाला नियम लागू नहीं होता है। अतः व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जनाका मानना अनिवार्य है।

(८) 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधा व्यापारः'के अनुसार दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार मानकर 'भट्टलोल्लट'ने जो व्यङ्ग्यार्थको अभिधाका ही विषय सिद्ध करनेका यत्न किया है, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि उस दशामें—

क—लक्षणाशक्तिकी भी आवश्यकता नहीं रहेगी।

ख—'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः', 'कन्या ते गर्भिणी जाता' इत्यादिमें हर्ष, शोक आदि भी वाच्य कहलाने लगेंगे।

ग—श्रुति, लिङ्ग आदि छ प्रमाणोंके बलाबलका जो सिद्धान्त मीमांसामें स्थापित किया गया है, वह व्यर्थ हो जायगा। मीमांसक होनेके नाते भट्टलोल्लट इन तीनों बातोंको मान नहीं सकते हैं। अतः दीर्घ-दीर्घतर अभिधा व्यापार माननेसे काम नहीं चलेगा। व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिके लिए व्यंजना-का मानना अनिवार्य है।

(९) यदि वाच्यार्थसे भिन्न व्यङ्ग्यार्थको अलग न माना जाय तो—

क—(रुचिं कुरु) आदि वाक्योंमें असभ्यार्थकी प्रतीतिसे जो अश्लीलता दोष माना जाता है वह नहीं बनेगा।

ख—नित्यदोष तथा अनित्यदोषकी व्यवस्था नहीं बनेगी।

ग—कपाली और पिनाकी शब्दोंकी वाच्यार्थकी समानता होते हुए भी विशेष स्थलपर विशेष शब्दके प्रयोगसे जो चमत्कार आ जाता है उसका उपपादन नहीं हो सकेगा।

(१०) वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिमें (१) संख्या, (२) स्वरूप, (३) काल, (४) आश्रय, (५) निमित्त, (६) व्यपदेश, (७) कार्य, (८) विषय आदिका भेद होनेसे भी व्यङ्ग्यार्थको वाच्यार्थसे भिन्न मानना आवश्यक है। साहित्यदर्पणकारने इन भेदकोंका संग्रह इस प्रकार कर दिया है—

स्वरूप-संख्या-निमित्त-कार्य-प्रतीति-कालानाम्।
आश्रय-विषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः॥

(११) न केवल वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ ही अलग हैं। अपितु इनके कारणभूत वाचक तथा व्यञ्जक शब्द भी अलग हैं। वाचक शब्दोंको अर्थकी अपेक्षा होती है किन्तु व्यञ्जक शब्दोंको अर्थकी अपेक्षा नहीं रहती है। निरर्थक अवाचक शब्द भी व्यञ्जक हो सकते हैं। अतः व्यञ्जनावृत्ति अलग ही माननी होगी।

(१२) असुन्दर व्यङ्ग्य नामक गुणीभूत व्यङ्ग्यके भेदमें व्यङ्ग्य अर्थकी प्रतीति होते हुए भी वाच्यार्थके ही चमत्कारयुक्त होनेसे उसीमें चरम विश्रान्ति होती है। ऐसे स्थलोंपर उस व्यङ्ग्यार्थको तात्पर्यविषयीभूत अर्थ भी नहीं कहा जा सकता है। अतः उसकी प्रतीति व्यञ्जनासे ही माननी होगी। अभिधासे काम नहीं चलेगा।

व्यङ्ग्यार्थकी लक्षणागम्यताका निषेध—

इस प्रकार यहाँतक ग्रन्थकारने एक दर्जनसे भी अधिक युक्तियोंके द्वारा यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि अभिधासे व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीत नहीं हो सकती है। अतः व्यञ्जना अभिधासे भिन्न ही है। अब आगे ग्रन्थकार उनके मतका खण्डन करने जा रहे हैं जो लक्षणासे ही व्यञ्जनाका भी काम निकालना चाहते हैं। इस मतके अनुसार पहिले पूर्वपक्ष उपस्थित करते हुए ग्रन्थकारने यह लिखा है कि—व्यञ्जनावादीने अपनी व्यञ्जनाकी सिद्धिके लिए संख्या, प्रतीति, काल और व्यपदेश आदिका भेद दिखलाकर व्यङ्ग्यार्थकी वाच्यार्थसे जो विशेषताएँ बतलायी हैं, वे सब लक्षणामें भी पायी जाती हैं। इसलिए व्यञ्जनाको अलग माननेकी आवश्यकता नहीं है। लक्षणासे व्यञ्जनाका कार्य निकालनेवाले इस मतकी युक्तियोंको निम्नलिखित प्रकार सङ्कलित किया जा सकता है—

(१) व्यञ्जनाको अलग वृत्ति सिद्ध करनेके लिए इस विषयमें व्यञ्जनावादीने सबसे मुख्य बात यह कही है कि वाच्यार्थ नियतरूपसे एक ही होता है और व्यङ्ग्यार्थ नाना हो सकते हैं। अतः व्यञ्जनाको अलग वृत्ति मानना चाहिये। इसके उत्तरमें लक्षणावादीका कहना है कि यह बात लक्ष्यार्थके विषयमें भी लागू होती है। राम शब्दका वाच्यार्थ निम्नलिखित तीनों उदाहरणोंमें एक ही है। पर उसका लक्ष्यार्थ तीनों जगह भिन्न-भिन्न है। इनमें पहिला श्लोक अभी पीछे उद्धृत किये गये उदाहरण सं० ११२ पृ० १९४ पर दिया जा चुका है। इसमें 'राम'पदका वाच्यार्थ दाशरथी राम ही है। परन्तु लक्षणा द्वारा वह पद अर्थान्तरमें संक्रान्त होकर 'अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्व-धर्म-विशिष्ट राम' अर्थका बोधक हो गया है। इस प्रकार इस उदाहरणमें 'राम'पदका लक्ष्यार्थ, वाच्यार्थसे भिन्न, 'अत्यन्त दुःखसहिष्णु राम' है।

दूसरा उदाहरण कुन्तकके 'वक्रोक्तिजीवित'से दिया गया है। यहाँ ग्रन्थकारने उसका एक ही चरण उद्धृत किया है। पूरा श्लोक निम्नलिखित प्रकार है—

प्रत्याख्यानरुपा कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः।
व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदां साक्षिणा
रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम् ॥

इसमें 'राम' शब्द 'निष्करुणत्व' आदि धर्म-विशिष्ट राम अर्थको लक्षणासे बोधित करता है।

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्।

यह तीसरा उदाहरण जिस श्लोकसे लिया गया है वह पूरा श्लोक भी पीछे उदाहरण सं० १०९ पृष्ठ १८४ पर उद्धृत किया जा चुका है। यहाँ भी 'राम' शब्द अर्थान्तरमें संक्रमित होकर 'खर-दूषणादि-निहन्ता राम' का बोध लक्षणासे कराता है। इस प्रकार इन तीनों ही उदाहरणोंमें राम शब्दका वाच्यार्थ तो एक ही दाशरथी राम है परन्तु लक्ष्यार्थ भिन्न-भिन्न है। इससे स्पष्ट है कि व्यङ्ग्यार्थके समान लक्ष्यार्थमें भी नानात्व रहता है। अतः इस आधारपर व्यञ्जनाको अलग मानना उचित नहीं है।

(२) व्यङ्ग्यार्थको सहृदयत्वादि, विदग्धत्वादि विशेष व्यपदेशका हेतु बतलाकर व्यञ्जनाको पृथक् वृत्ति सिद्ध करनेका यत्न किया था। परन्तु लक्षणावादीके मतमें वह भी उचित नहीं है। क्योंकि व्यङ्ग्यार्थके समान लक्ष्यार्थ भी अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य आदि रूप विशेष व्यपदेशका हेतु हो सकता है। अतः लक्षणासे भिन्न व्यञ्जना नहीं है।

ननु—

'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति,

'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्' इति',

'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्',

इत्यादौ लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति तदवगमश्च शब्दार्थायत्तः प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम ?

---

(३) तीसरी बात यह कही गई थी कि वाच्यार्थकी प्रतीति केवल शब्दसे होती है और व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जनाके रूपमें शब्द तथा अर्थ दोनोंसे हो सकती है। अतः व्यञ्जनाको अलग वृत्ति मानना चाहिये। इसके विषयमें लक्षणावादीका कहना है कि यह बात लक्ष्यार्थके विषयमें भी लागू है। लक्ष्यार्थकी प्रतीति भी शब्द तथा अर्थ दोनोंसे हो सकती है। इसलिए इस आधारपर भी व्यञ्जनाको अलग माननेकी आवश्यकता नहीं है।

(४) व्यङ्ग्य अर्थकी प्रतीतिमें प्रकरणादिसे सहायता मिलती है इसलिए वह वाच्यार्थसे भिन्न है। यह जो चौथी विशेषता व्यङ्ग्यार्थमें बतलायी गयी थी वह भी लक्ष्यार्थमें घट सकती है। ऐसी दशामें व्यञ्जनाका काम लक्षणासे निकल सकता है फिर व्यञ्जनावृत्तिको माननेकी क्या आवश्यकता है ?

लक्षणावादीकी इन सब युक्तियोंका खण्डन ग्रन्थकार आगे क्रमशः करेंगे। इस पूर्वपक्षकी सबसे प्रथम युक्तिका ग्रन्थकारने यह उत्तर दिया है कि यद्यपि लक्ष्यार्थमें नानात्व हो सकता है परन्तु अनेकार्थक शब्दके वाच्यार्थके समान वह प्रायः नियतस्वरूप ही होता है। मुख्यार्थसे असम्बद्ध अर्थ लक्षणा द्वारा बोधित नहीं हो सकता है। इसलिए वह नियत सम्बन्धवाला ही होता है। परन्तु व्यङ्ग्यार्थ कहीं नियतसम्बन्ध भी होता है, कहीं अनियतसम्बन्ध और कहीं सम्बन्ध-सम्बन्धवाला अर्थात् परम्परित सम्बन्धवाला भी होता है। इसलिए वह लक्षणासे भिन्न होता है। दूसरी बात यह है कि लक्ष्यार्थकी प्रतीतिके लिए मुख्यार्थबाध आदिका होना अनिवार्य है पर व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति उसके बिना भी हो सकती है। इसलिए व्यञ्जना लक्षणासे भिन्न है।

लक्ष्यार्थसे व्यङ्ग्यार्थका प्रथम भेद—

[प्रश्न] क—'रामोऽस्मि सर्वं सहे' 'मैं तो कठोर-हृदय राम हूँ इसलिए सब कुछ सह लूँगा'। इसमें [कठोर-हृदय राम]

ख—'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्' अपने जीवनका मोह करनेवाले इस रामने प्रेमके अनुरूप कार्य नहीं किया इसमें [मिथ्या प्रेमका दम्भ करनेवाला राम]

ग—और 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्' [वह दया आदि गुणोंसे युक्त राम अपने पराक्रम आदि गुणोंसे संसारमें अत्यन्त प्रसिद्ध है]।

इत्यादि में (१) लक्षणीय अर्थ भी यद्यपि नाना प्रकारसे हो सकता है। (२) [व्यञ्जनाके समान यह भी अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य आदि विविध प्रकारके] विशेष व्यवहारका हेतु है। (३)—उसकी प्रतीति भी [व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिके समान] शब्द और हो सकता अर्थ दोनोंके अधीन होती है। और [यह भी] (४) प्रकरण आदिकी अपेक्षा रखता है। इसलिए [उस लक्षणीय अर्थसे भिन्न] यह प्रतीयमान [व्यङ्ग्यार्थ] कौन-सी नयी वस्तु है ? [अर्थात् लक्ष्यार्थसे भिन्न व्यङ्ग्यार्थ कुछ नहीं है। अतः लक्षणासे भिन्न व्यञ्जनावृत्तिके माननेकी आवश्यकता नहीं है। यह पूर्वपक्ष हुआ]।

उच्यते लक्षणीयस्यार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव । न खलु मुख्येनार्थेनाऽनियतसम्बन्धो लक्षयितुं शक्यते । प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविशेषवशेन नियतसम्बन्धः अनियतसम्बन्धः सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते ।

न च—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि ।
मा पहिअ ! रतिअन्धअ ! सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥१३६॥

[श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायां मम निमंक्ष्यसि ॥ इति संस्कृतम्]

इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ मुख्यार्थबाधः तत्कथमत्र लक्षणा ?

[उत्तरमें] कहते हैं कि—[आपके कथनानुसार] लक्षणीय अर्थ नानाविध होनेपर भी वह अनेकार्थक शब्दके वाच्यार्थके समान नियतरूप ही होता है, क्योंकि मुख्यार्थके साथ सम्बन्ध न रखनेवाला अर्थ लक्षणा द्वारा बोधित नहीं किया जा सकता है। [इसके विपरीत प्रतीयमान] व्यङ्ग्यार्थ तो प्रकरण आदि विशेषके कारण (१) कहीं नियत-सम्बन्ध, (२) कहीं अनियतसम्बन्ध और (३) कहीं परम्परित सम्बन्धवाला [इस रूपसे तीन प्रकारका] द्योतित होता है। [यह लक्ष्यार्थसे व्यङ्ग्यार्थका पहिला भेद है। जिसके कारण व्यङ्गार्थको लक्ष्यार्थ नहीं कहा जा सकता है।

लक्ष्यार्थसे व्यङ्ग्यार्थका द्वितीय भेद—

लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थका दूसरा भेद यह है कि लक्ष्यार्थकी प्रतीति मुख्यार्थबाधके बिना नहीं हो सकती है। परन्तु व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिके लिए मुख्यार्थबाधका होना अनिवार्य नहीं है। इसी बातको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। यहाँ उदाहरणरूपमें जो श्लोक आगे दिया जा रहा है उसको कहनेवाली कोई दुश्चरित्रा स्त्री है। अपने यहाँ ठहरनेवाले किसी पथिकको रात्रिमें अपने तथा अपनी सासका सोनेका स्थान दिखलाती हुई कहती है कि तुम दिनमें अच्छी तरह देख लो कि यहाँ मैं सोती हूँ और यहाँ मेरी सास सोती है। तुमको रतौंधी आती है। कहीं ऐसा न हो कि रातमें तुम मेरी खाटपर गिर पड़ो। यह इस श्लोकका सीधा वाच्यार्थ है और उसका बाध भी नहीं होता है। परन्तु कहनेवालीका तात्पर्य इतना ही नहीं है। वह तो पथिकको रात्रिमें अपनी खाटपर आनेका निमन्त्रण दे रही है। यहाँ वाच्यार्थ निषेधरूप होनेपर भी व्यङ्ग्यार्थ विधिरूप है। इसलिए वह वाच्यार्थसे भिन्न है। और उसकी प्रतीति मुख्यार्थबाधके बिना हो रही है। इसलिए वह लक्ष्यार्थसे भी भिन्न है! उसको न वाच्यार्थ कहा जा सकता है और न लक्ष्यार्थ ही कहा जा सकता है। अतः उसकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जनावृत्तिका मानना आवश्यक है। इसी बातको आगे लिखते हैं—

और न—

हे रतौंधी आनेवाले पथिक ! दिनमें अच्छी तरह देख लो कि यहाँ सासजी लेटती हैं और यहाँ मैं लेटती हूँ। [रतौंधीके कारण देख न सकनेसे रातको] कहीं मेरी खाटपर न गिर पड़ना ॥१३६॥

इत्यादि अभिधामूलध्वनि [के उदाहरण] में [न] मुख्यार्थबाध ही है [श्लोकमें पहिले दिये 'न' का अन्वय यहाँ होता है]। तब यहाँ लक्षणा कैसे हो सकती है ? [अर्थात् यहाँ मुख्यार्थका बाध न होनेसे लक्षणा नहीं है बिना लक्षणाके ही व्यङ्ग्यार्थ-प्रतीति हो रही है। अतः वह लक्ष्यार्थसे भिन्न ही होता है]।

लक्षणायामपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयितव्यमिति प्रतिपादितम् ।

यथा च समयसव्यपेक्षाऽभिधा । तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसमयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा, अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः ।

न च लक्षणात्मकमेव ध्वननम् । तदनुगमेन तस्य दर्शनात् । न च तदनुगतमेव अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात् । न चोभयानुसार्येव अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः । न च शब्दानुसार्येव अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेः ।

लक्ष्यार्थसे व्यङ्ग्यार्थका तीसरा भेद—

इसपर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि लक्षणाका बीज अन्वयानुपपत्ति ही नहीं अपितु नागेशभट्ट आदिके मतानुसार 'तात्पर्यानुपपत्ति' भी लक्षणाका बीज है । प्रकृत उदाहरणमें यद्यपि अन्वयानुपपत्ति नहीं है तथापि तात्पर्यकी अनुपपत्तिके कारण मुख्यार्थका बाध माना जा सकता है । और उस रूपमें यहाँ दूसरे अर्थकी प्रतीति लक्षणा द्वारा ही मानी जा सकती है । इस आपत्तिको ध्यानमें रखकर ग्रन्थकारने इसीके साथ दूसरा हेतु भी जोड़ दिया है कि—

लक्षणामें भी [फल या प्रयोजनके बोध करानेके लिए] व्यञ्जनाका आश्रय अवश्य लेना होगा । यह बात [द्वितीय उल्लासमें "फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया" इस २३वें सूत्रमें] प्रतिपादित कर चुके हैं ।

चौथा भेद, लक्षणा अभिधाकी पुच्छभूता—

और जैसे अभिधा संकेतग्रहकी अपेक्षा करती है, इसी प्रकार लक्षणा भी मुख्यार्थबाध आदि तीन [(१) मुख्यार्थबाध, (२) तद्योग अर्थात् लक्ष्यार्थका मुख्यार्थके साथ सम्बन्ध और (३) रूढि तथा प्रयोजन इन दोनोंमेंसे कोई एक]के सम्बन्ध विशेषकी अपेक्षा करती है । [उनके विना अपने अर्थका बोध नहीं करा सकती है] इसलिए [विद्वान्] उसे अभिधाकी पुच्छभूत कहते हैं ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जैसे मुख्यार्थबाध आदिके आश्रित होनेके कारण लक्षणा अभिधासे भिन्न मानी जाती है, उसी प्रकार मुख्यार्थबाध आदिकी अपेक्षा न रखनेके कारण व्यञ्जनाको भी लक्षणासे भिन्न मानना चाहिये । इस प्रकार यहाँतक व्यञ्जनाको लक्षणासे भिन्न सिद्ध करनेके लिए तीन हेतु दिये जा चुके हैं । आगे उसी बातको सिद्ध करनेके लिए और भी हेतु देते हैं ।

लक्ष्यार्थसे व्यङ्ग्यार्थके चार और भेद—

और [निम्नांकित चार कारणोंसे भी] व्यञ्जना लक्षणारूप नहीं है, क्योंकि (१) उस [लक्षणा] के बाद [व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीत] देखी जाती है । (२) उस [लक्षणा] के बिना अभिधाके अवलम्बनसे भी उस [अभिधामूला व्यञ्जना] का सम्भव होनेसे । (३) और न [अभिधा तथा लक्षणा] दोनोंकी अनुगामिनी ही [व्यञ्जना] है । क्योंकि अवाचक [निरर्थक] वर्णोंके द्वारा भी वह [व्यञ्जना] देखी जाती है । [अर्थात् वाचक तो पद होते हैं केवल वर्ण किसी अर्थके वाचक नहीं होते हैं परन्तु वे भी किसी अर्थविशेषके व्यञ्जक हो सकते हैं । (४) और [अभिधा तथा लक्षणाका सम्बन्ध तो केवल शब्दतक ही सीमित है । परन्तु] व्यञ्जना केवल शब्दानुसारिणी ही नहीं है । अशब्दस्वरूप [नेत्रप्रान्तसे अवलोकन] कटाक्ष आदिसे भी उस [अभिप्रायविशेषकी अभिव्यञ्जनाके] प्रसिद्ध होनेसे ।

इति, अभिधा-तात्पर्य-लक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्त्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्नवनीय एव ।

तत्र 'अत्ता एत्थ' इत्यादौ नियतसम्बन्धः, 'कस्स वा ण होइ रोसो' इत्यादावनियतसम्बन्धः।

विपरीअरए लच्छी वह्मं दट्ठूण णाहिकमलट्ठं ।
हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झत्ति ढक्केइ ॥ १३७ ॥

इस प्रकार अभिधा, तात्पर्य और लक्षणात्मक तीनों व्यापारोंके बाद होनेवाला [अतः इन तीनों व्यापारोंसे भिन्न] ध्वनन [व्यञ्जन, गमन] आदि नामक व्यापारको अस्वीकार नहीं किया जा सकता है [उसका मानना सब प्रकारसे अनिवार्य ही है]।

पूर्वोक्त नियत अनियत सम्बन्धके तीन उदाहरण—

पिछले पृष्ठ २५० पर लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थका भेद बतलाते हुए लिखा था कि लक्ष्यार्थ नानाविध होनेपर भी अनेकार्थक शब्दके अर्थके समान ही नियतरूप होता है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ नियत-सम्बन्ध, अनियत-सम्बन्ध, और सम्बद्ध-सम्बन्ध तीन प्रकारका होता है। यह बात वहाँ कह तो दी थी, पर उदाहरण द्वारा उसका स्पष्टीकरण नहीं किया जा सका था। इसलिए अब ग्रन्थकार सिंहावलोकन न्यायसे उसको उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हैं। नियतसम्बन्ध और अनियतसम्बन्ध पदोंकी दो प्रकारकी व्याख्या टीकाकारोंने की है। कुछके अनुसार नियतसम्बन्धका अर्थ प्रसिद्ध सम्बन्ध और अनियत-सम्बन्धका अर्थ अप्रसिद्ध सम्बन्ध होता है। दूसरोंके अनुसार नियतसम्बन्धका अर्थ वाच्य-व्यङ्ग्यकी समान-विषयता और अनियतसम्बन्धका अर्थ दोनोंकी भिन्न-विषयता है। उदाहरण दोनों दशाओंमें एक ही हैं। 'अत्ता अत्र निमज्जति' में वाच्यार्थमें खाटपर गिर पड़नेका निषेध किया जा रहा है। पर व्यङ्ग्य अर्थमें उसे खाटपर आनेका निमन्त्रण दिया जा रहा है। इस प्रकार वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ, दोनों एक-दूसरेके विपरीत हैं। इसलिए उन दोनोंका विरोध-सम्बन्ध है। यह विरोध-सम्बन्ध प्रसिद्ध सम्बन्ध है। इसलिए प्रथम व्याख्याके अनुसार यह नियतसम्बन्ध या प्रसिद्ध सम्बन्धवाले व्यङ्ग्यका उदाहरण हुआ। इसके विपरीत 'कस्य वा न भवति रोसो' [उदाहण सं० १२५] अनियतसम्बन्धके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है। यहाँ वाच्यार्थका नायिकासे सम्बन्ध है और व्यङ्ग्यार्थका सम्बन्ध नायक, पड़ोसिन, उपपति, सपत्नी, सास, उपपतिकी स्त्री आदि अनेकसे हो सकता है। इस वाच्यार्थका व्यङ्ग्यार्थके साथ कोई नियत या प्रसिद्ध सम्बन्ध नहीं दिखलाया जा सकता है। इसलिए प्रथम व्याख्याके अनुसार यह अनियतसम्बन्धका उदाहरण है।

दूसरे व्याख्याकारोंने नियतसम्बन्धसे वाच्य तथा व्यङ्ग्यकी समान-विषयता तथा अनियतसम्बन्धसे दोनोंकी भिन्न-विषयताका ग्रहण किया है। 'अत्ता अत्र' इत्यादि पहिले उदाहरणमें वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों अर्थोंका विषय या बोद्धव्य एक ही व्यक्ति पथिक है इसलिए वह नियत-सम्बन्धका उदाहरण है। और 'कस्य वा न भवति रोसो' इत्यादिमें वाच्यार्थका विषय सखी तथा व्यङ्ग्यार्थका विषय नायक, पड़ोसिन, उपपति, सपत्नी, सास, उपपतिकी स्त्री आदि अनेक हैं। इस प्रकार वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थोंका विषयभेद होनेसे यह अनियत-सम्बन्ध व्यङ्ग्यका उदाहरण है। इसीको आगे कहते हैं—

उन [तीन प्रकारके व्यङ्ग्यार्थों]मेंसे 'अत्तापत्थ' इत्यादि [उदाहरण सं० १३६] में [व्यङ्ग्यार्थ] नियतसम्बन्धवाला और 'कस्य वा न भवति रोसो' इत्यादि [उदाहरण सं० १३५] में अनियतसम्बन्धवाला है। [सम्बन्ध-सम्बन्ध अर्थात् परम्परित सम्बन्धवाले व्यङ्ग्यका उदाहरण अगला श्लोक है]।

[विपरीतरते लक्ष्मी ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम् !
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति ॥ इति संस्कृतम्]

इत्यादौ सम्बद्धसम्बन्धः । अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयः, तेन पद्मस्य सङ्कोचः, ततो ब्रह्मणः स्थगनं, तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेन अनिर्यन्त्रणं निधुवनविलसितमिति ।

परम्परित सम्बन्धका उदाहरण—

[विष्णुजीके साथ] विपरीत रतिके समय [उनकी] नाभिके कमलमें बैठे हुए ब्रह्माको देखकर [कामके आवेगसे व्याकुल] लक्ष्मी [स्वयं अपने व्यापारसे हट तो न सकीं, पर मेरे इस व्यापारको ब्रह्माजी न देख सकें इसलिए कमलको बन्द कर देनेके लिए] विष्णुजीके दाहिने नेत्र [सूर्य]को ढँक देती है ।१३७।

इत्यादि [उदाहरण]में [वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थका सम्बद्ध-सम्बन्ध अर्थात्] परम्पराकृत सम्बन्ध है । यहाँ 'हरि'पदसे [विष्णुके] दाहिने नेत्रकी सूर्यरूपता व्यक्त होती है । उसको बन्द कर देनेसे सूर्यका अस्त होना, और उससे कमलका बन्द होना, उससे ब्रह्माजीका [कमलके भीतर] बन्द हो जाना, और उसके हो जानेपर गोप्य अङ्गों [और उसके साथ ही गोप्य व्यापार]के न देखे जानेसे निर्विघ्न सुरतविलास यह [सब परम्परित सम्बन्धसे व्यङ्ग्य] है ।

लक्षणासे भिन्न व्यञ्जनासाधक युक्तियोंका सारांश—

'ननु रामोऽस्मि सर्वं सहे' पृष्ठ २४९ से लेकर 'विपरीत रते लक्ष्मी' इत्यादि उदाहरण सं० १३७ तक ग्रन्थकारने यह सिद्ध किया है कि व्यञ्जनाका काम लक्षणासे भी नहीं निकल सकता है । इसलिए उसे लक्षणासे भिन्न पृथक् वृत्ति ही मानना होगा । इसमें उन्होंने निम्नलिखित छ युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं जिनका कि सारांश इस प्रकार है—

१—लक्ष्यार्थकी प्रतीतिके लिए मुख्यार्थका बाध होना आवश्यक है परन्तु 'अत्ता अत्र निमज्जति' आदि उदाहरणसंख्या १३६ में मुख्यार्थका बाध नहीं होता है । फिर भी निषेधपरक वाच्यार्थसे, विधिपरक 'निमन्त्रण'रूप व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत होता है । यह लक्षणाका विषय नहीं हो सकता है । इसलिए व्यञ्जनाको लक्षणासे भिन्न ही मानना होगा ।

२—अभिधा जिस प्रकार संकेतग्रहकी अपेक्षा रखती है । इसी प्रकार लक्षणा मुख्यार्थबाध आदि हेतुओंके बिना नहीं हो सकती है । इसलिए उसको अभिधाकी 'पुच्छभूत' कहा गया है । व्यञ्जना इन सब बन्धनोंसे मुक्त है । इसलिए यह लक्षणाके अन्तर्गत नहीं हो सकती है । उसे लक्षणासे भिन्न स्वतन्त्र वृत्ति ही मानना होगा ।

३—अभिधा और लक्षणा दोनोंमें यद्यपि एक ही शब्दसे अनेक अर्थोंकी प्रतीति हो सकती है, परन्तु वह सब नियतसम्बन्धवाला अर्थ ही होता है । पर व्यञ्जनासे जिन विभिन्न अर्थोंकी प्रतीति होती है वे नियतसम्बन्धवाले भी होते हैं और अनियतसम्बन्धवाले भी होते हैं, तथा परम्परित सम्बन्धवाले भी होते हैं । 'अत्ता अत्र निमज्जति' (१३६) में व्यङ्ग्यार्थ नियतसम्बन्ध अर्थात् एक व्यक्तिविषयक अथवा प्रसिद्ध सम्बन्धवाला है । 'कस्य वा न भवति रोषो' [१३५] में व्यङ्ग्यार्थ अनियतसम्बन्धवाला अर्थात् वाच्यार्थसे भिन्नविषयक अथवा अप्रसिद्ध सम्बन्धवाला है । और 'विपरीत रते' [१३७] आदिमें परम्परित सम्बन्धसे व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति होती है । इसलिए व्यञ्जनाको अभिधा और लक्षणा दोनोंसे भिन्न मानना होगा ।

४—व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति लक्ष्यार्थके साथ नहीं अपितु उसके बाद होती है। अतः व्यञ्जनाको लक्षणासे भिन्न ही मानना होगा।

५—केवल लक्षणामूलक ही नहीं अपितु अभिधामूलक व्यङ्ग्यार्थकी भी प्रतीति होती है। इसलिए भी व्यञ्जना लक्षणासे भिन्न है।

६—अभिधामूलक और लक्षणामूलक व्यञ्जनाओंको छोड़कर कहीं निरर्थक वर्ण आदिसे और कहीं शब्दसे भिन्न कटाक्षादि व्यापारोंसे भी व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति होती है। इसलिए व्यञ्जनाको लक्षणासे भिन्न स्वतन्त्र वृत्ति मानना अनिवार्य है।

इस प्रकार यहाँ व्यञ्जनाको लक्षणासे भिन्न सिद्ध करनेके लिए छ युक्तियाँ दी हैं। इसके पूर्व व्यञ्जनाको अभिधासे भिन्न सिद्ध करनेके लिए ग्रन्थकार एक दर्जनसे भी अधिक युक्तियाँ दे चुके हैं। इस प्रकार यहाँतक डेढ़ दर्जन (१८) युक्तियों द्वारा ग्रन्थकारने व्यञ्जनाको अभिधा और लक्षणा दोनोंसे भिन्न तीसरी वृत्ति सिद्ध करनेका यत्न किया है।

उनके इस सारे प्रयत्नका केन्द्रबिन्दु मीमांसकोंका विरोध है। अभिहितान्वयवादी कुमारिल-भट्ट, अन्विताभिधानवादी प्रभाकर भट्ट, दीर्घ-दीर्घतर अभिधाव्यापारवादी भट्टलोल्लट और 'अभिधा-वृत्तिमातृका' वाले मुकुलभट्ट सभी मीमांसक हैं और वे सभी व्यञ्जनाके विरोधी हैं। इसलिए यहाँतक ग्रन्थकारने बड़े विस्तारके साथ उन सबके मतोंका खण्डन करके व्यञ्जनाकी सिद्धि की है तथा उसमें अपूर्व सफलता प्राप्त की है।

व्यञ्जनाका आग्रह क्यों—

परन्तु इतनेसे ग्रन्थकारका कार्य समाप्त नहीं हुआ है। वे व्यञ्जनाकी प्रतिष्ठा करनेका यत्न कर रहे हैं। इसके लिए उन्हें बड़ा कड़ा सङ्घर्ष करना है। केवल साहित्यशास्त्रमें, और उसके भी अनेक सम्प्रदायोंमेंसे केवल ध्वनिसम्प्रदायमें व्यञ्जनावृत्तिकी सत्ता मानी गयी है। शेष बड़े-बड़े दार्शनिक और साहित्यिक सम्प्रदाय व्यञ्जनावृत्तिको नहीं मानते हैं। मीमांसक, वेदान्ती, नैयायिक और वैयाकरण सभी व्यञ्जनाविरोधी हैं। पर ध्वनिवादी आचार्योंके अनुसार साहित्यशास्त्रकी गाड़ी व्यञ्जनाके बिना एक पग भी नहीं चल सकती है। यहाँ सीधी तरहसे अभिधा द्वारा बातको कहना केवल फूहड़पन है। उसमें कोई चमत्कार नहीं, कोई रस नहीं। ऐसी नीरस शुष्क उक्ति सहृदयोंके कामकी चीज नहीं है। नैयायिक और वैयाकरण, मीमांसक और वेदान्ती इस नग्न यथार्थवादसे भले ही सन्तुष्ट हो जाँय, पर साहित्यशास्त्र तो रस-प्रधान शास्त्र है। रसास्वादके बिना सहृदयकी तृप्ति नहीं होती है और उस रसाभिव्यक्तिके लिए व्यञ्जना आवश्यक है। इसलिए कविगण सीधी तरहसे बात न कहकर, व्यञ्जना द्वारा ही बातको कहना अधिक पसन्द करते हैं। कवियोंकी वर्णनशैलीके विषयमें किसीने लिखा है—

> व्यङ्ग्यप्रधानाभिनवैव भङ्गी मुख्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः।
> वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम्॥

अपनी इस वक्रोक्ति और मुख्यार्थबाधवाली शैलीपर उन कवियोंको गर्व है। उनका कहना है जब वेदोंने भगवान्‌की स्तुति की है तो उसने भगवान्‌को वैयाकरण या नैयायिक, मीमांसक या वेदान्ती नहीं कहा है। अपितु बार-बार 'कवि' कहकर ही उनकी स्तुति की है—

> स्तोतुं प्रवृत्ता श्रुतिरीश्वरं हि न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा।
> ब्रूते तु तावत् कविरित्यभीक्ष्णं काष्ठा ततः सा कविता परा नः॥

इस कवित्वकी कसौटी, और काव्यका 'प्राण' 'व्यञ्जना' है। इसलिए यहाँ आचार्य मम्मटने इस व्यञ्जनाकी सिद्धिके लिए इतना आग्रह और इतना प्रबल प्रयत्न किया है। पर अभी तो वे केवल मीमांसकोंसे निपट पाये हैं; वेदान्ती, वैयाकरण, और नैयायिक आदिसे निपटना अभी शेष है। इसलिए इस उल्लासके शेष भागमें वे इन तीनों मतोंका खण्डनकर व्यञ्जनाकी स्थापना करनेका यत्न करेंगे।

एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा—

अगले अनुच्छेदमें ग्रन्थकार 'अखण्डार्थतावाद'की चर्चा उठाकर उसमें भी व्यञ्जनावृत्तिकी मान्यताका प्रतिपादन करेंगे। यह अखण्डार्थताका सिद्धान्त वेदान्ती और वैयाकरण दोनों मानते हैं। इसलिए इस एक ही सिद्धान्तकी आलोचना द्वारा उन्होंने वेदान्ती तथा वैयाकरण दोनोंके व्यञ्जना-विरोधी मतकी एक साथ ही आलोचना कर दी है। इस प्रक्रियासे लेखमें तो कुछ लाघव तो हो गया है, परन्तु ग्रन्थकी पंक्तियाँ अस्पष्ट और क्लिष्ट हो गयी हैं। टीकाकार भी यहाँ चक्करमें पड़ जाते हैं कि यह किसके मतकी आलोचना की जा रही है। 'सारबोधिनी' और 'बालबोधिनी' टीकाकारोंने इसे वेदान्तियोंकी आलोचनापरक माना है और प्रभाकरने इसे वैयाकरणोंकी आलोचनापरक माना है। पर वास्तवमें ग्रन्थकारने यहाँ एक ही तीरसे दो निशाने मारे हैं। इस अखण्डार्थतावादकी आलोचना द्वारा उन्होंने वेदान्तियों और वैयाकरणों दोनोंके मतोंकी आलोचना कर दी है। इनकी यह एक ही क्रिया 'द्व्यर्थकरी' हो गयी है।

वेदान्तियोंका अखण्डार्थतावाद—

(१) शब्दबोधकी प्रक्रियामें साधारणतः 'पदार्थसंसर्गबोध'को 'वाक्यार्थ' कहा जाता है। वाक्यमें प्रयुक्त हुए पदोंसे पहिले 'पदार्थों'की उपस्थिति होती है। उसके बाद उन पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध होता है। इसी 'पदार्थसंसर्गको' वाक्यार्थ कहा जाता है। इसलिए सभी वाक्य साधारणतः 'पदार्थ-संसर्गगोचरप्रतीति'को उत्पन्न करते हैं।

परन्तु वेदान्तियोंने एक प्रकारके ऐसे वाक्योंकी भी कल्पना की है, जो संसर्गविषयक प्रतीतिको नहीं कराते हैं। ऐसे वाक्योंको वे 'अखण्डार्थ-वाक्य' कहते हैं। वेदान्त-ग्रन्थोंमें 'संसर्गगोचरप्रमितिजनकत्वं अखण्डार्थत्वम्' यह अखण्डार्थका लक्षण किया गया है। इस श्रेणीमें मुख्य रूपसे लक्षण-वाक्य आते हैं। लक्षण-वाक्योंको अखण्डार्थ-वाक्य माननेका मुख्य आधार, प्रश्न और प्रतिवचनके सारूप्यका सिद्धान्त है। जिस विषयमें प्रश्न किया जाय उसी विषयमें उत्तर दिया जाय यह एक सामान्य सिद्धान्त है। प्रश्न कुछ किया जाय, उत्तर कुछ और ही दिया जाय तो यह उचित नहीं है। किसी पदार्थके स्वरूपकी जिज्ञासा होनेपर लक्षण-वाक्य द्वारा उसका उत्तर दिया जाता है। जैसे कोई पूछे कि आकाशमें 'कतमश्चन्द्रः' चन्द्रमा कौन-सा है? तो उत्तर देनेवाला कहता है कि 'प्रकृष्ट-प्रकाशश्चन्द्रः' जो सबसे अधिक प्रकाशमान है वह चन्द्रमा है। यहाँ चन्द्रमाके स्वरूपके विषयमें प्रश्न है तो उत्तर भी स्वरूपमात्रविषयक ही होना चाहिये। इसलिए 'प्रकृष्टः प्रकाशश्चन्द्रः' इस उत्तर-वाक्यको केवल स्वरूपपरक मानना चाहिये, संसर्गपरक नहीं। अर्थात् इससे पदार्थसंसर्गका बोध नहीं होता है। सामान्य वाक्योंके समान इसको भी यदि 'संसर्गगोचरप्रमिति'का जनक मान लिया जाय तब तो 'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे'वाली बात हो जायगी। प्रश्न स्वरूपविषयक है। उत्तर संसर्गविषयक हो, यह उचित नहीं है। अतः यह वाक्य, संसर्गका नहीं स्वरूपमात्रका बोधक होनेसे अखण्डार्थ वाक्य कहलाता है। इसी प्रकार सारे लक्षणपरक वाक्य, 'संसर्गगोचरप्रमिति' के

जनक होनेसे 'अखण्डार्थ' वाक्य कहलाते हैं। 'तत्त्वमसि', 'सोऽयंदेवदत्तः' आदि वाक्योंको भी वेदान्ती अखण्डार्थ वाक्य ही मानते हैं। यह अखण्डवाक्यकी एक व्याख्या है।

(२) परन्तु दूसरे व्याख्याकारोंने 'अखण्डार्थ वाक्य'की व्याख्या प्रकारान्तरसे की है। साधारणतः क्रिया-कारक-भावको स्वीकार कर उत्पन्न होनेवाले शाब्दबोधको 'सखण्डबोध' कहा जाता है, क्योंकि उसमें वाक्यका क्रिया-कारक आदि रूपमें अनेक खण्डोंमें विश्लेषण किया जा सकता है। उससे भिन्न अर्थात् जिसमें क्रिया-कारकभाव आदि रूप खण्डोंमें वाक्य या वाक्यार्थका विभाग न किया जा सके उसको 'अखण्डवाक्य' या 'अखण्डवाक्यार्थ' कहा जाता है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस वेदान्त-सिद्धान्तमें यह सारा जगत् और उसमें दिखलाई देनेवाला नानात्व ही मिथ्या है। इसलिए उनके सिद्धान्तमें धर्म-धार्मि-भाव तथा क्रिया-कारक भाव आदि भी मिथ्या हैं। अतएव उनके यहाँ पारमार्थिक रूपमें अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना आदिकी सत्ता नहीं मानी जाती है। पर व्यावहारिक रूपमें अभिधा और लक्षणाकी सत्ता मानते हैं। लक्षणाके साहित्य आदि अन्य शास्त्रोंमें केवल 'उपादानलक्षणा' तथा 'लक्षण लक्षणा' ये दो ही भेद माने गये हैं। इनके ही दूसरे नाम क्रमशः 'अजहल्लक्षणा' तथा 'जहल्लक्षणा' रखे गये हैं। पर वेदान्तियोंने 'तत् त्वमसि' इत्यादि महावाक्योंके अर्थके लिए 'अभिधा' और 'अजहल्लक्षणा' तथा 'जहल्लक्षणा' इन तीनोंसे अतिरिक्त 'जहदजहल्लक्षणा' नामक एक चौथा व्यापार भी माना है। उसको वे 'भागत्यागलक्षणा' भी कहते हैं। इस प्रकार वेदान्तियोंके मतमें परमार्थमें तो ब्रह्मको छोड़कर और सब कुछ ही मिथ्या है। न अभिधा है, न लक्षणा और न व्यञ्जना। न अखण्ड वाक्य है, न सखण्ड वाक्य। पर व्यवहारकालमें 'व्यवहारे भट्टनयः' के अनुसार यहाँ उनको अखण्डवाक्य तथा अखण्डवाक्यार्थतावादी कहा गया है।

वेदान्तानुसारिणी अखण्डवाक्यकी इन दोनों व्याख्याओंमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'नेह नास्ति किञ्चन', 'तत् त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्योंसे अखण्डबुद्धि ही उत्पन्न होती है। उस अखण्डबुद्धिसे निर्ग्राह्य परब्रह्म ही उन वाक्योंका अर्थ होता है। अतएव वही उन वाक्योंका वाच्यार्थ कहलाता है। और वे वाक्य ही अखण्ड ब्रह्मके वाचक होते हैं। यह काव्यप्रकाशकी 'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः, 'वाक्यमेव च वाचकं इत्याहुः' इस पूर्वकी पंक्तिका अर्थ है।

इसके खण्डनमें ग्रन्थकारने 'तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थ कल्पना कर्त्तव्यैव' यह जो पंक्ति लिखी है उसका आशय यह है कि 'व्यवहारे भट्टनयः' इस सिद्धान्तके अनुसार वेदान्ती भी व्यवहारदशामें जगत्की दृश्यमान् स्थितिको स्वीकार करते ही हैं। इसलिए उनको भी पद-पदार्थ आदिकी कल्पना करनी ही होगी। और उस दशामें 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि उदाहरणोंमें निषेधवाक्यसे जो विधिरूप अर्थ प्रतीत होता है उसको व्यञ्जनाका विषय मानना ही होगा।

इस प्रकार इस पंक्ति द्वारा ग्रन्थकारने वेदान्त-सिद्धान्तमें भी व्यञ्जनाकी अपरिहार्यताका प्रतिपादन किया है। कुछ व्याख्याकारोंके अनुसार इस पंक्तिमें केवल वैयाकरणोंके अखण्डवाक्यार्थता-सिद्धान्तकी ही आलोचना की गयी है। परन्तु यह ठीक नहीं है। पंक्तिमें आया हुआ 'अविद्यापदपतितैः' शब्द विशेष रूपसे वेदान्तमतकी ओर संकेत कर रहा है।

वैयाकरणोंका अखण्डार्थतावाद—

वेदान्तियोंके समान वैयाकरण भी अखण्डार्थतावादी हैं। अन्तर इतना है कि वेदान्तियोंके अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वके स्थानपर वैयाकरण एकमात्र 'स्फोट'रूप 'शब्दब्रह्म'को मानते हैं। इन अखण्डार्थतावादी वैयाकरणोंके सिद्धान्तकी आलोचना आगे देते हैं?

'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः, वाक्यमेव च वाचकम्' इति येऽप्याहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः पद-पदार्थकल्पना कर्त्तव्यैवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव ।

यह है कि पदमें वर्ण और वाक्यमें पदोंको अलग-अलग नहीं माना जा सकता है। वैयाकरण-भूषण में लिखा है—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्वयवा न च ।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ ३८८ ॥

भर्तृहरिने भी अपने 'वाक्यपदीय' नामक ग्रन्थमें इसी विषयका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् 'ब्राह्मणकम्बले' ।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः ॥
उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

अर्थात् जैसे ब्राह्मणका कम्बल 'ब्राह्मणकम्बल' इस पदमें समस्त पदका तो अर्थ है, परन्तु ब्राह्मण शब्दका कोई अलग अर्थ नहीं है। इसी प्रकार किसी भी वाक्यमें उसके अलग अलग पदोंका कोई अर्थ नहीं होता है। समष्टिरूपसे ही वाक्यका अर्थ होता है। इसीको 'अखण्डवाक्यार्थताका सिद्धान्त' कहते हैं। वैयाकरण लोग इधर तो इस अखण्डवाक्यार्थताके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं और उधर प्रत्येक पदके प्रकृति-प्रत्यय आदिका भी विभाग करते हैं। इस विरोधाभासका उपपादन करनेके लिए ही भर्तृहरिने दूसरा श्लोक लिखा है। उसका अभिप्राय यह है कि यह प्रकृति-प्रत्यय आदिका विभाग तो केवल बालकोंकी शिक्षाके लिए किया जाता है। 'शाखा-अरुन्धति-न्याय' से बालकोंको समझानेके लिए पहिले असत्य मार्गका अवलम्बनकर बादको सत्यतक पहुँचाया जाता है। वैयाकरण सिद्धान्तके पक्षमें मूल ग्रन्थका 'अविद्यापदपतितैः' शब्द इसी 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा'की ओर संकेत कर रहा है। इस प्रकार अखण्डवाक्यार्थका सिद्धान्त वेदान्त और व्याकरण, दोनों मतोंमें समान रूपसे माना गया है। इसलिए ग्रन्थकारने दोनों मतोंकी आलोचना एक साथ ही कर दी है। पंक्तियोंका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

जो [वेदान्ती या वैयाकरण] यह कहते हैं कि 'अखण्डबुद्धिसे ग्राह्य वाक्यार्थ ही वाच्य होता है और [अखण्ड] वाक्य ही [उसका] वाचक होता है'। उनको भी अविद्या की स्थितिमें [व्यवहारकालमें] आकर पद-पदार्थकी कल्पना करनी ही होगी। इसलिए उनके पक्षमें भी उक्त ['निःशेषच्युत चन्दनं' इत्यादि] उदाहरण [सं० २] में विधि आदिको व्यङ्ग्य मानना होगा।

नैयायिक महिमभट्टका मत—

इस प्रकार यहाँतक मीमांसक, वेदान्ती तथा वैयाकरण-मतमें व्यञ्जनाके विपरीत जो कुछ युक्तियाँ दी जा सकती थीं, उनका खण्डन कर व्यञ्जना-वृत्तिके सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है। अब व्यञ्जना-विरोधी एक महिमभट्टका मत और रह जाता है जिसकी आलोचना आवश्यक है। महिमभट्ट न्यायाचार्य थे, उन्होंने मुख्यतः न्यायकी प्रक्रियाका अवलम्बनकर व्यञ्जनाको अनुमान

ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते, यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गात्। एवं च सम्बन्धाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन, च त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपः पर्यवस्यति।

प्रमाणके अन्तर्गत करनेका प्रयत्न किया है। उनके ग्रन्थका नाम 'व्यक्तिविवेक' है। इसमें उन्होंने ध्वनिको सामान्य रूपसे भी अनुमानके अन्तर्गत सिद्ध किया है और उसके उदाहरणोंको भी अलग-अलग लेकर उसमें प्रतीत होनेवाले व्यङ्ग्यार्थको अनुमानका विषय सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। यह मत मुख्य रूपसे न्यायकी अनुमान-प्रक्रियापर आधारित है इसलिए इस मतको हम न्याय-मत कह सकते हैं। इस मतकी आलोचनाके लिए पहिले इस सिद्धान्तका उपपादन करते हैं।

[पूर्वपक्ष] वाच्यसे असम्बद्ध अर्थ तो प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि [यदि वाच्यसे असम्बद्ध अर्थकी प्रतीति हो तो] जिस किसी भी शब्दसे जो कोई भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा। इस प्रकार [व्यङ्ग्य और व्यञ्जकका] सम्बन्ध अनिवार्य होनेसे व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव [प्रतिबन्ध अर्थात्] व्याप्तिके बिना निश्चय ही नहीं हो सकता है। इसलिए व्याप्ति-युक्त और नियतधर्मी [अर्थात् पक्ष] में रहनेसे [अर्थात् व्याप्ति तथा पक्षधर्मतायुक्त होनेसे पक्षसत्त्व सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तिरूप] तीन रूपोंवाले [धूमादिरूप हेतुके समान] लिङ्ग से, लिङ्गी [अर्थात् वह्नि आदिके समान साध्य] का जो अनुमान उसी रूपमें [व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भावका भी] पर्यवसान होता है।

यहाँ महिमभट्ट व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भावको न्यायकी प्रक्रियाके अनुसार अनुमानके अन्तर्गत करनेका यत्न करते हैं। इसलिए अनुमानकी प्रक्रियाको समझ लेना आवश्यक है। अनुमानकी प्रक्रियामें 'व्याप्ति' और 'पक्षधर्मता' दो अंश मुख्य हैं। 'हेतु' और 'साध्य'के साहचर्य-नियमको 'व्याप्ति' कहते हैं। जैसे 'जहाँ-जहाँ धुँआ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है'। यह धूम और अग्निका साहचर्य-नियम 'व्याप्ति' कहलाता है। व्याप्तिके ग्रहण हुए बिना अनुमान नहीं हो सकता है। इसलिए व्याप्ति 'अनुमान-' का सबसे मुख्य भाग है। अनुमानका दूसरा मुख्य भाग 'पक्षधर्मता' है। 'सन्दिग्ध-साध्यवान् पक्षः' यह 'पक्ष' का लक्षण किया गया है। जिसमें साध्य सन्दिग्ध अवस्थामें रहता है उसको 'पक्ष' कहते हैं। जैसे जबतक पर्वतमें वह्निकी सिद्धि नहीं हो जाती है तबतक 'सन्दिग्ध साध्यवान्' होनेसे इस अनुमानमें पर्वत 'पक्ष' कहलाता है। धूमरूप 'हेतु'का इस पक्षमें रहना आवश्यक है। अन्यथा 'व्याप्ति'का ज्ञान रहनेपर भी पर्वतपर वह्निकी सिद्धि नहीं हो सकती है। धूमादिरूप 'लिङ्ग'की पर्वत-रूप पक्षमें स्थितिको ही 'पक्षधर्मता' कहा जाता है। इस प्रकार अनुमानके लिए 'व्याप्ति' तथा 'पक्षधर्मता'की अनिवार्य रूपसे आवश्यकता है। इन्हीं दोनों बातोंको मूल ग्रन्थमें क्रमशः 'व्याप्तत्वेन' तथा 'नियतधर्मिनिष्ठत्वेन' इन दो पदोंसे सूचित किया है।

इसके साथ अनुमानमें जो 'लिङ्ग' या 'हेतु' होता है उसमें १. पक्षसत्त्व, २. सपक्षसत्त्व, ३. विपक्ष-व्यावृत्तत्व, ये तीन धर्म भी अनिवार्य माने गये हैं। इनमेंसे 'सन्दिग्ध साध्यवान् पक्षः' 'निश्चितसाध्यवान् सपक्षः', 'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः' ये पक्ष, सपक्ष, और विपक्षके लक्षण किये गये हैं। जहाँ साध्य वह्नि आदि सन्दिग्ध अवस्थामें रहते हैं उसको 'पक्ष' कहते हैं। जैसे कि वह्नि-विषयक अनुमान-में पर्वत 'पक्ष' है। जिसमें साध्य निश्चित रूपसे रहता है उसको 'सपक्ष' कहते हैं, जैसे उसी अनुमानमें 'महानस' या 'रसोईघर' 'सपक्ष' है। क्योंकि महानसमें साध्य वह्निकी निश्चित रूपसे सत्ता रहती है। और जहाँ साध्यका अभाव निश्चित रूपसे रहता है उसको 'विपक्ष' कहते हैं। जैसे तालाब या महाह्रद

तथा हि—

भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारीओ तेण ।
गोलाणईकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण ॥ १३८ ॥
[भ्रम धार्मिक विश्वस्तः स श्वाद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥ इति संस्कृतम् ॥]

'विपक्ष' है। क्योंकि उसमें साध्य वह्निका अभाव निश्चित रूपसे रहता है। जो शुद्ध हेतु होता है उसको पक्ष तथा सपक्षमें अवश्य रहना चाहिये तथा विपक्षमें उसका सदैव अभाव रहना चाहिये। ये ही 'पक्षसत्त्व', 'सपक्षसत्त्व' तथा 'विपक्षव्यावृतत्व' लिङ्गके तीन रूप कहलाते हैं। इन तीन रूपोंसे युक्त हेतु ही शुद्ध हेतु कहलाता है। इनमेंसे किसी भी एक धर्मकी न्यूनता हो जानेपर हेतु हेतु नहीं रहता अपितु 'हेत्वाभास' कहलाने लगता है। इन्हीं तीनों रूपोंका निर्देश यहाँ ग्रन्थकार-ने 'त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानं अनुमानम्' कहकर किया है। इस प्रकार 'व्याप्ति' तथा 'पक्षधर्मता' युक्त एवं 'त्रिरूपविशिष्ट' लिङ्गसे लिङ्गीका जो ज्ञान होता है वह अनुमान कहलाता है और व्यङ्ग्य अर्थकी प्रतीति भी 'व्याप्ति' [सम्बन्धात्] और पक्षधर्मता [नियतधर्मिनिष्ठत्वेन] के बिना नहीं होती है। इसलिए व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भावकी प्रतीति भी अनुमान रूप ही ठहरती है। यह महिमभट्टके पूर्वपक्षका युक्तिक्रम हुआ। उसीको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।

जैसे कि—

हे पण्डितजी ! [धार्मिक] अब आप निडर होकर भ्रमण करें। गोदावरीके कछारकी कुञ्जमें रहनेवाले उस दुष्ट [अभिमानी] सिंहने आज उस कुत्तेको [जो आपको तंग किया करता था] मार डाला ॥ १३८ ॥

यह श्लोक 'गाथासप्तशती'के द्वितीय शतकमें आया हुआ ७५वाँ श्लोक है। गोदावरी नदीके किनारे किसी उद्यानमें किसी स्त्रीने अपना निवासस्थान बना रखा था जहाँ उसका उपपति उससे मिलने आता था। कोई दूसरे पण्डितजी उसी उद्यानमें अपने पूजा-पाठके लिए फूल आदि लेने और भ्रमण करनेके लिए आते थे। इनके आनेसे उस स्त्रीके कार्यमें विघ्न पड़ता था। इसलिए उसने इस प्रकार-का उपाय निकाला कि जिससे पण्डितजी उधरका आना-जाना बन्द कर दें। इसी दृष्टिसे उसने इस श्लोक द्वारा पण्डितजीको सिंह द्वारा कुत्तेको मारे जानेकी सूचना दी है। वह जानती है कि पण्डितजी बड़े डरपोक आदमी हैं। बागमें जो कुत्ता रहता था उससे ही वे इतना डरते थे तो सिंहका नाम सुनकर वह उधरका आना-जाना अवश्य ही भूल जायँगे। इसीलिए उसने पण्डितजीको यह सूचना दी कि गोदावरीके किनारेके कुञ्जमें रहनेवाले सिंहने उस कुत्तेको आज मार डाला है। यहाँ वाच्यार्थ 'भ्रम धार्मिक'विधि रूप है, पर व्यङ्ग्यार्थ निषेधमें पर्यवसित होता है। स्त्री कह तो यह रही है कि पण्डितजी अब आप निश्चिन्त होकर भ्रमण करें। पर उसका अभिप्राय यह है कि अब इधर भूलकर भी आनेका विचार न करना, नहीं तो जो दशा आज सिंहने कुत्तेकी की है वही दशा किसी दिन आपकी भी हो सकती है। व्यञ्जनावादी इस निषेधरूप अर्थको व्यङ्ग्यार्थ मानते हैं। परन्तु महिमभट्ट उसको अनुमिति अर्थात् अनुमान-जन्य प्रतीतिका विषय मानते हैं।

हम ऊपर यह दिखला चुके हैं कि अनुमानके मुख्य रूपसे दो अङ्ग होते हैं—एक 'व्याप्ति' तथा दूसरा 'पक्षधर्मता'। इनमेंसे व्याप्तिके भी दो रूप होते हैं—एक अन्वय-व्याप्ति, दूसरी व्यतिरेक-व्याप्ति। अन्वय-व्याप्ति धूम और वह्नि जैसे भाव-पदार्थोंकी होती है और व्यतिरेक-व्याप्ति वन्ह्यभाव तथा धूमाभाव जैसे

अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति। यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः।

अभाव पदार्थोंकी होती है। 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' यह अन्वय-व्याप्ति है। इसके विपरीत 'यत्र यत्र वन्ह्यभावः तत्र तत्र धूमाभावः' यह व्यतिरेक-व्याप्ति है। महिमभट्ट यहाँ गोदावरी-तीरपर पण्डितजीके न जाने अर्थात् भ्रमणाभावके बोधके लिए व्यतिरेक-व्याप्तिका आश्रय लेते हैं। गोदावरीका किनारा आप जैसे भीरुओंके लिए भ्रमण योग्य नहीं है यह बात सिद्ध करनी है। श्लोकमें विधिरूपसे 'भ्रम' 'भ्रमण करो' यह कहा है। साथमें ही गोदावरी-तीरपर सिंहके रहनेकी सूचना भी दी गयी है। पण्डितजी जैसे भीरु व्यक्तिका भ्रमण तो तब बन सकता था जब भयका कारण वहाँ न होता। परन्तु वहाँ सिंहरूप भयका कारण विद्यमान है। इसलिए यहाँ 'भयकारणोपलब्धि' रहनेसे साधनाभाव अर्थात् 'भयकारणानुपलब्धि'का अभाव अर्थात् 'भयकारणोपलब्धि पाया जाता है। उससे साध्य, विधिरूप भ्रमणका अभाव, अर्थात् भ्रमणका निषेध, भ्रमणाभाव ही सिद्ध हो सकता है। इसको अनुमान-वाक्यके रूपमें इस प्रकार कहा जा सकता है—

१ गोदावरी-तीरं भीरुभ्रमणायोग्यं—[प्रतिज्ञा या साध्य]

२ भयकारणसिंहोपलब्धेः—[हेतु या साधन]

३ यद्यत् भीरुभ्रमणयोग्यं तत्तद्भयकारणाभाववत् यथा गृहम्—[व्यतिरेक-व्याप्ति सहित उदाहरण]

४ न चेदं तीरं तथा भयकारणाभाववत् सिंहोपलब्धेः—[उपनय]

५ तस्मात् भीरुभ्रमणायोग्यम् [निगमन]

इस प्रकारके पञ्चावयव-वाक्यसे अनुमान द्वारा महिमभट्ट भ्रमण-निषेधको सिद्ध करते हैं और उसके लिए व्यञ्जनावृत्ति माननेवाले व्यञ्जनावादीके सिद्धान्तका खण्डन करते हैं। इसी बातको ग्रन्थकारने इस प्रकार दिखलाया है—

यहाँ [भ्रम धार्मिक इत्यादि श्लोकमें गोदावरीतीरवर्ती] घरमें [रहनेवाले] कुत्तेके न रहनेसे विहित भ्रमण, [हेतु या लिङ्ग] गोदावरी-तीरपर सिंहके रहनेके ज्ञानके द्वारा भ्रमणके अभाव [साध्य] का अनुमान कराता है। जो जो भीरुओंका भ्रमण होता है वह वह भयकारणके अभावके ज्ञानपूर्वक होता है [यह व्याप्ति है]। और गोदावरीके किनारे [भयके कारण] सिंहकी उपलब्धि [अर्थात् साधनाभाव] है। इसलिए [साध्य भीरुभ्रमणकी व्यापिका जो भयकारणके अभावकी उपलब्धि उसके विरुद्ध जो भयकारण उसकी उपलब्धि अर्थात् अभाव साधक सिंहोपलब्धिरूप] व्यापक विरुद्ध [अर्थात् व्यतिरेक-व्याप्ति] की प्रतीति होती है। [इसलिए व्यतिरेकि अनुमानके द्वारा भ्रमण-निषेधकी प्रतीति हो जाती है। उसके लिए व्यञ्जनाकी आवश्यकता नहीं है। यह पूर्वपक्ष हुआ]।

महिमभट्टके अनुमानका खण्डन—

इस प्रकार यहाँतक महिमभट्टके मतानुसार अनुमान द्वारा भ्रमण-निषेधको सिद्ध करनेकी प्रक्रिया दिखलायी है। आगे ग्रन्थकार यह दिखलाते हैं कि महिमभट्ट द्वारा प्रस्तुत किया गया यह हेतु, हेतु नहीं अपितु 'हेत्वाभास है'। पाँच प्रकारके हेत्वाभासोंमेंसे (१) अनैकान्तिक, (२) विरुद्ध, और (३) स्वरूपासिद्ध तीन प्रकारके हेत्वाभासोंके लक्षण महिमभट्टके इस हेतुमें पाये जाते हैं।

अत्रोच्यते–भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियाऽनुरागेण, अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः । शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि । गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः, अपि तु वचनात् । न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च । तत्कथमेवं-विधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः ।

प्रत्येक शुद्ध हेतुमें १ पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, ३ विपक्षव्यावृतत्व इन तीनों रूपोंका होना आवश्यक है। यदि उनमेंसे किसी एक भी धर्मकी न्यूनता हो जाती है तो वह हेतु, हेतु नहीं रह जाता है अपितु 'हेत्वाभास' बन जाता है। जो हेतु पक्षमें न पाया जाय अर्थात् पक्षसत् न हो वह 'स्वरूपासिद्ध' नामक 'हेत्वाभास' कहलाता है और जो हेतु 'विपक्षव्यावृतत्व' धर्मसे रहित है वह 'अनैकान्तिक हेत्वाभास' कहलाता है। यहाँ महिमभट्टने सिंहोपलब्धि'को 'भीरुभ्रमणायोग्यत्व' सिद्ध करनेके लिए हेतुरूपमें प्रस्तुत किया है। किन्तु यह अनैकान्तिक हेतु है। 'जहाँ-जहाँ भीरु-भ्रमण होता हो, वहाँ-वहाँ भयके कारणका अभाव हो, इस प्रकारकी कोई व्याप्ति भी नहीं है। क्योंकि युद्धादिमें भयके कारणोंको जानते हुए भी राजाकी आज्ञासे भीरु सैनिक आदिको जाना ही पड़ता है। इसी प्रकार कहीं प्रभुकी आज्ञासे, कहीं गुरुकी आज्ञासे और कहीं प्रियाके अनुरागसे भयके कारणके होते हुए भी भीरुकी भी प्रवृत्ति पायी जाती है। इसलिए यह हेतु 'अनैकान्तिक' है।

इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि गोदावरी-तीर यहाँ 'पक्ष' है। उसमें 'सिंहोपलब्धि'-रूप हेतुका निश्चित रूपसे होना आवश्यक है। यदि अनुमान करनेवाले पण्डितजीने गोदावरी-तीर-रूप पक्षमें सिंहको देखा होता तब तो उसको 'पक्षसत्' हेतु कहा जा सकता था। परन्तु पण्डितजीने उसे देखा तो नहीं है। केवल उस स्त्रीके कथनसे ही उनको उसका ज्ञान हो रहा है। परन्तु जो वचन कहा जाय वह प्रमाण ही हो, इस प्रकारकी कोई व्याप्ति न होनेसे वचनमात्रको प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसलिए गोदावरी-तीरपर सिंहकी सत्ता निश्चित नहीं है। फलतः 'यो हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः' इस लक्षणके अनुसार 'सिंहोपलब्धि' रूप हेतुके गोदावरी-तीर-रूप 'पक्ष'-में निश्चित रूपसे गृहीत न होनेसे यह हेतु 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास हो जाता है। इस प्रकार हेतुके 'अनैकान्तिक' तथा 'स्वरूपासिद्ध' होनेसे अनुमान द्वारा भ्रमण-निषेधका ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः उसके ज्ञानके लिए व्यञ्जना-वृत्ति अवश्य माननी चाहिये। यह सिद्धान्त-पक्ष हुआ। इसी बातको ग्रन्थकार आगे लिखते हैं—

इस [पूर्वपक्षके होने] पर [उसके खण्डनके लिए] कहते हैं कि—भीरु भी प्रभुकी अथवा गुरुकी आज्ञासे, अथवा प्रियाके अनुरागसे अथवा इसी प्रकारके किसी अन्य कारणसे भयका कारण होनेपर भी घूमता है। इसलिए यह हेतु (१) 'अनैकान्तिक' [हेत्वाभास] है। और कुत्तेसे डरनेपर भी वीर होनेसे सिंहसे नहीं डरता है। इसलिए (२) 'विरुद्ध' [हेत्वाभास] भी है। [तीसरा दोष यह है कि] गोदावरीके किनारे सिंहका होना प्रत्यक्षसे तथा अनुमान निश्चित नहीं हुआ है किन्तु वचनसे। अर्थके साथ [वचन का] प्रतिबन्ध [अर्थात् वचनसे जिस अर्थकी प्रतीति हो वह अर्थ अवश्य होना ही चाहिये इस प्रकारका नियम या व्याप्ति] न होनेसे वचनका प्रामाण्य नहीं है। इसलिए [पक्षमें हेतुके न होनेसे] (३) स्वरूपासिद्ध ['हेत्वाभास'] भी है। तो इस प्रकार के [त्रिदोषग्रस्त] हेतुसे साध्यकी सिद्धि किस तरह [अनुमान द्वारा] हो सकती है? [अर्थात् अनुमान द्वारा सिद्धि नहीं हो सकती है।]

तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोगे एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि ।

व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम् । नचात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम् । एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तद् अदूषणम् ॥

इति श्रीकाव्यप्रकाशे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णभेदनिर्णयो नाम पञ्चम उल्लासः ॥ ५ ॥

इसी प्रकार 'निःशेषच्युत' इत्यादि [उदाहरण सं० २] में जिन चन्दनके छूट जाने आदिको [महिमभट्टने अनुमानके गमक] अनुमापक रूपमें [हेतुके रूपमें] दिया है वे अन्य कारणोंसे भी हो सकते हैं। इसीलिए यहाँ [उक्त श्लोकमें] स्नानके कार्य-रूपमें कहे गये हैं। इसलिए उपभोगमें ही [उनकी] व्याप्ति नहीं है। अतः 'अनैकान्तिक' [हेत्वाभास] है [इसलिए भी वे अनुमापक नहीं हो सकते हैं यह चौथा दोष है]।

और [निःशेषच्युत आदि श्लोकमें] व्यञ्जनावादीने 'अधम' पदकी सहायतासे ही इन [चन्दनच्युति आदि] का व्यञ्जकत्व बतलाया है। परन्तु वह अधमत्व [वचनमात्रके उक्त होनेके कारण प्रत्यक्ष या अनुमान] प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। तो [पूर्ववत् स्वरूपासिद्ध होनेके कारण] उससे अनुमान कैसे हो सकता है? [अर्थात् अनुमान द्वारा साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। परन्तु व्यञ्जनावादीके मतसे यह बात नहीं है। उसके यहाँ तो] 'व्याप्तिके बिना भी इस प्रकारके अर्थसे इस प्रकारका [व्यङ्ग्य] अर्थ प्रकाशित होता है' [सामान्य रूपसे] यह कहनेवाले व्यञ्जनावादीके मतमें वह दोष नहीं होता है।

इस प्रकार ग्रन्थकारने इस उल्लासमें बड़े विस्तारके साथ व्यञ्जना-वृत्तिकी स्थापनाका प्रयत्न किया है। इस प्रयत्नमें उन्होंने शब्दबोधकी प्रक्रियापर विचार करनेवाले सभी दार्शनिक मतोंकी आलोचना की है। क्योंकि व्यञ्जना-वृत्तिकी आवश्यकता कोई भी दार्शनिक नहीं मानता है केवल साहित्य-शास्त्री, और उनमेंसे भी ध्वनिवादी आनन्दवर्धनके अनुयायी ही व्यञ्जना-वृत्तिकी सत्तापर विशेष बल देते हैं। इसलिए ग्रन्थकारको अन्य साहित्य-शास्त्रियोंके मतकी भी आलोचना करनी पड़ी है। इस प्रकार इस उल्लासमें 'अभिहितान्वयवाद' और 'अन्विताभिधानवाद' आदि माननेवाले मीमांसकों, उसके बाद व्यञ्जनाको न माननेवाले साहित्यशास्त्रियों, 'अखण्डवाक्यार्थतावादी' वेदान्तियों और वैयाकरणों और अन्तमें नैयायिक महिमभट्टकी अनुमान-प्रक्रियाका खण्डन कर ग्रन्थकारने आनन्दवर्धनकी अभिमत व्यञ्जनावृत्तिकी यहाँ स्थापना की है।

काव्य-प्रकाशमें 'ध्वनिगुणीभूत व्यङ्ग्य सङ्कीर्ण भेदनिर्णय' नामक पञ्चम उल्लास समाप्त हुआ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
काव्यप्रकाशदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
पञ्चम उल्लासः समाप्तः

अथ षष्ठ उल्लासः

[सू० ७०]-शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिश्चित्रार्थशब्दयोः ॥४८॥

न तु शब्दचित्रेऽर्थस्याचित्रत्वं, अर्थचित्रे वा शब्दस्य ।

अथ काव्यप्रकाश-दीपिकायां हिन्दी व्याख्यायां षष्ठ उल्लासः

उल्लाससङ्गति—

प्रथम उल्लासमें १ ध्वनिकाव्य, २ गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य तथा ३ चित्रकाव्य नामसे काव्यके तीन भेद दिखलाये गये थे। इनमेंसे व्यङ्ग्यप्रधान ध्वनिकाव्य रूप उत्तम काव्यका चतुर्थ उल्लासमें तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य-रूप मध्यम काव्यका पञ्चम उल्लासमें भेदोपभेद सहित विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है। अब व्यङ्ग्यार्थ-रहित चित्रकाव्य नामक अधम काव्यके भेदोंका निरूपण इस षष्ठ उल्लासमें कर रहे हैं। चित्रकाव्यके शब्दचित्र तथा अर्थचित्र, दो प्रकारके भेद होते हैं। इन दोनों भेदोंका एक-एक उदाहरण आगे दिखलायेंगे। यद्यपि चित्रकाव्यके इन दोनों भेदोंके उदाहरण भी प्रथम उल्लासमें ही दिये जा चुके थे, इसलिए दुबारा इसके विवेचनकी आवश्यकता नहीं थी, किन्तु जब ध्वनि-काव्य और गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यका विवेचन अलग-अलग उल्लासोंमें किया गया है तो चित्रकाव्यका विवेचन भी एक अलग उल्लासमें किया जाना चाहिये। ऐसा मानकर ग्रन्थकारने चित्रकाव्यके विवेचनके लिए यह षष्ठ उल्लास प्रारम्भ किया है।

चित्रकाव्यके जो शब्दचित्र तथा अर्थचित्र ये दो भेद किये गये थे उसका आशय यह नहीं है कि शब्दचित्रमें अर्थका और अर्थचित्रमें शब्दका कोई उपयोग नहीं। वास्तवमें तो दोनोंमें दोनोंका ही उपयोग होता है, जैसे कि शब्दचित्रका उदाहरण 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छ०' इत्यादि प्रथम उल्लासमें दिया गया था। उसमें गङ्गाका अन्य नदियोंसे अधिक उत्कर्ष वर्णित होनेके कारण व्यतिरेकरूप अर्थालङ्कार भी होनेसे अर्थचित्रता भी है। और 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्' इत्यादि अर्थचित्रके उदाहरणमें 'मानदमात्ममन्दिरात्'में मकारकी आवृत्ति होनेसे वृत्यनुप्रासरूप शब्दालङ्कारके भी होनेसे शब्दचित्रत्व भी रहता है। परन्तु 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस नियमके अनुसार उनमेंसे जहाँ जिसकी प्रधानता होती है उसके आधारपर उसका नामकरण किया जाता है। सबसे पहिले इसी बातको ग्रन्थकार निम्नलिखित प्रकार कहते हैं—

[सू० ७०]—शब्दचित्र तथा अर्थचित्र [नामसे] जो दो प्रकारके [चित्र] काव्य पहिले [प्रथम उल्लासमें] कहे गये हैं उनमें शब्दचित्र तथा अर्थचित्र शब्दोंका प्रयोग [स्थिति] गुण-प्रधान भावसे होता है। [अर्थात् दोनोंमें दोनोंकी प्रकारकी चित्रताकी स्थिति सम्भव होनेपर भी शब्द और अर्थकी चित्रतामेंसे जहाँ जिसकी प्रधानता होती है उसके आधारपर उसको शब्दचित्र या अर्थचित्र कहा जाता है। दूसरेकी भी गौण स्थिति रहती है]।

न कि शब्दचित्रमें अर्थ-चित्रताका अभाव, अथवा अर्थचित्रमें शब्द [के चित्रत्व] का [अभाव होता है]।

आगे ग्रन्थकारने 'भामह'के 'काव्यालङ्कार'से तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। इन श्लोकोंमें 'भामह'ने यह प्रतिपादन किया है कि कुछ लोग रूपक आदि अर्थालंकारोंको ही प्रधान अलंकार मानते हैं, शब्दालङ्कारोंको अलङ्कार नहीं मानते हैं। दूसरे लोग रूपकादि अर्थालङ्कारोंकी प्रतीति अर्थ-

तथा चोक्तम्—

"रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥
रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः ॥" इति ॥

शब्दचित्रं यथा—

प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभः
तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः ।
उदयति ततो ध्वान्तध्वंसक्षमः क्षणदामुखे
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥ १३९ ॥

प्रतीतिके बाद होती है इसलिए उनको बाह्य या गौण अलङ्कार कहते हैं और शब्दालङ्कार—जिसे 'सौशब्द्य' भी कहा जाता है—की प्रतीति काव्यके सुनते ही होती है इसलिए उसीको प्रधान अलङ्कार मानते हैं। किन्तु 'भामह' अपने सिद्धान्त-मतका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हमको तो शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार भेदसे दोनों ही इष्ट हैं। इसी शैलीसे ग्रन्थकारने यहाँ चित्रकाव्यमें शब्दचित्र तथा अर्थचित्र दोनोंका समन्वय किया है। इसलिए प्रमाणरूपमें 'भामह'के वचन उद्धृत करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि—

[जैसा कि] प्राचीन आचार्य [भामह ने] कहा भी है—

अन्योंने नाना प्रकारके रूपकादि [अर्थालङ्काररूप] अलङ्कार प्रतिपादन किये हैं। [अर्थात् इनके मतमें अर्थालङ्कार ही मुख्य अलङ्कार हैं। क्योंकि] सुन्दर होनेपर भी [जैसे] बिना अलङ्कारके सुन्दरियोंका मुख शोभित नहीं होता है [इसी प्रकार बिना अर्थालङ्कारोंके सुन्दर शब्दोंवाला काव्य भी अच्छा नहीं लगता है]।

दूसरे लोग रूपकादि अर्थालङ्कारोंको [क्योंकि उनकी प्रतीति अर्थज्ञानके बाद होती है इसलिए] बाह्य अलङ्कार कहते हैं। और सुबन्त और तिङन्त पदोंकी व्युत्पत्ति [विशेषेणानुप्रासादिरूपेण उत्पत्ति सन्निवेश] को ही वाणीका [वास्तविक अन्तरङ्ग] अलङ्कार मानते हैं [क्योंकि काव्यके सुनते ही शब्दालङ्कारोंकी प्रतीति हो जाती है अतः शब्दालङ्कार ही अन्तरङ्ग कहलाते हैं]।

इस [सुबन्त तिङन्त पदोंकी व्युत्पत्ति या सुन्दर सन्निवेश] को ही वे 'सौशब्द्य' नामसे कहते हैं [वह सुनते ही चमत्कार को उत्पन्न करता है इसीलिए उसीको मुख्य अलङ्कार नामसे कहते हैं] अर्थसौन्दर्य [अर्थव्युत्पत्ति] तो इस प्रकारका [सद्यः चमत्कारजनक] नहीं होता है [उसकी प्रतीति तो अर्थज्ञानके बाद होती है इसलिए अर्थालङ्कार गौण या बाह्य अलङ्कार कहलाते हैं] हम [भामह] को तो शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारके भेदसे दोनों ही इष्ट हैं।

शब्दचित्र [का उदाहरण] जैसे—

[उदय होते समय चन्द्रमा] पहिले लाल रंगका, उसके बाद सोनेके समान

अर्थचित्रं यथा—

ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र
क्षोभाय पक्ष्मलदृशामलकाः खलाश्च ।
नीचाः सदैव सविलासमलीकलग्ना
ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति ॥ १४० ॥

यद्यपि सर्वत्र काव्येऽन्ततो विभावादिरूपतया पर्यवसानं, तथापि स्फुटस्य रसस्यानुपलम्भादव्यङ्ग्यमेतत्काव्यद्वयमुक्तम् । अत्र च शब्दार्थालङ्कारभेदाद् बहवो भेदाः । ते चालङ्कारनिर्णये निर्णेष्यन्ते ॥

इति श्रीकाव्यप्रकाशे शब्दार्थचित्रनिरूपणं नाम षष्ठ उल्लासः ॥६॥

[पीत] कान्तिवाला, उसके बाद विरहसे पीड़ित सुन्दरीके कपोलकी [श्वेत] कान्तिवाला उदय होता है । उसके बाद रात्रिके प्रारम्भमें ताजे मृणालदण्डके समान [अत्यन्त श्वेत] कान्तिवाला होकर अन्धकारके नाश करनेमें समर्थ होता है ॥१३९ ॥

अर्थचित्र [का उदाहरण] जैसे—

सघन पलकोंवाली सुन्दरियोंके केश और दुष्ट पुरुष, जो विलासपूर्वक सदैव अलीक [केश-पक्षमें ललाट, तथा खल-पक्षमें मिथ्या भाषण]में लगे हुए, कुटिलता [केश-पक्षमें टेढ़ेपन और खल-पक्षमें दुष्टता]के समान कालेपनको नहीं छोड़ते हैं, दिखलाई देते ही किसके चित्तमें क्षोभ उत्पन्न नहीं करते हैं । [अर्थात् कामिनियोंके काले और घुँघराले केश और उन्हींके समान काले और कुटिल वृत्तिके दुष्ट पुरुष देखनेवालोंके हृदयको क्षुब्ध कर देते हैं] ॥ १४० ॥

इनमेंसे पहिले उदाहरणमें अनुप्रासरूप शब्दालङ्कारकी प्रधानताके कारण उसको शब्दचित्र और दूसरे उदाहरणमें समुच्चय, उपमा तथा श्लेष आदि अर्थालङ्कारोंके प्रधान होनेसे उसको अर्थचित्र कहा है ।

यद्यपि सभी काव्योंमें [वर्णित सभी पदार्थोंका रसके] विभावादि रूपमें पर्यवसान होता है [इसलिए सभीमें व्यङ्ग्यका सम्बन्ध रहता है इसलिए ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दो ही काव्य मानने चाहियें] फिर भी [चित्र-काव्यके इन दोनों उदाहरणोंमें] स्पष्ट रूपसे रसकी प्रतीति न होनेसे इन दोनों काव्योंको व्यङ्ग्य-रहित [अधम] काव्य कहा गया है ।

इनमें भी शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारोंके भेदसे बहुत-से भेद हो सकते हैं । अलंकारोंके निर्णयके अवसरपर [दशम उल्लासमें] उनका निर्णय कहेंगे ।

काव्यप्रकाशमें शब्दचित्र तथा अर्थचित्रका निरूपण करनेवाला
षष्ठ उल्लास समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
काव्यप्रकाशदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
षष्ठ उल्लासः समाप्तः ।

सप्तम उल्लासः

काव्यस्वरूपं निरूप्य दोषाणां सामान्यलक्षणमाह—

[सू० ७१]–मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥ ४९ ॥

हतिरपकर्षः । शब्दाद्या इत्याद्यग्रहणाद्वर्णरचने ।

विशेषलक्षणमाह—

[सू० ७२]–दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम् ॥५०॥
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत्क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत्समासगतमेव ॥५१॥

अथ काव्यप्रकाशदीपिकायां सप्तम उल्लासः

उल्लास सङ्गति—

प्रथम उल्लासमें काव्यका लक्षण किया गया था। उसके बाद छठे उल्लासतक काव्यके भेदोपभेद आदिका वर्णनकर काव्यलक्षणकी ही व्याख्या करनेका प्रयत्न किया गया था। काव्य-लक्षणमें 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलंकृती पुनः क्वापि' ये पद भी थे। इनमेंसे 'अदोषौ' पदकी व्याख्याके लिए पहले दोषोंके स्वरूपका स्पष्टीकरण होना चाहिये। इसलिए ग्रन्थकार दोषोंका निरूपण करनेके लिए इस सप्तम उल्लासको प्रारम्भ कर रहे हैं। इसमें भी सामान्य लक्षणके बाद ही विशेष लक्षण करना उचित होगा, इसलिए दोषका सामान्य लक्षण करते हैं—

[सू० ७१]—मुख्यार्थका अपकर्ष जिससे होता है उसको दोष कहते हैं। [मुख्यार्थ पदका अभिप्राय यहाँ वाच्यार्थ नहीं है, रस है] और रस मुख्य [अर्थ] है। [इसलिए मुख्यतः रसके अपकर्षजनक कारणको दोष कहते हैं। परन्तु] उसका [रसका] आश्रय होनेसे वाच्य [अर्थ] भी [मुख्य अर्थ कहलाता] है। [इसलिए रसके साथ चमत्कारी वाच्यार्थका अपकर्ष-कारक भी दोष कहलाता है। उसको अर्थदोष कहते हैं]। शब्दादि [रस तथा वाच्यार्थ] इन दोनोंके [बाधनमें] उपकारक [सहायक] होते हैं इसलिए उनमें भी वह [दोष] रहता है [और वह पददोष कहलाता है]।

[कारिकामें आये हुए] 'हति' [शब्दका अर्थ विनाश नहीं अपितु] अपकर्ष है। 'शब्दाद्याः' यहाँ आद्य पदके ग्रहणसे वर्ण और रचना[का ग्रहण होता है]।

[इस प्रकार दोषका सामान्य लक्षण कर चुकनेके बाद] विशेष लक्षण कहते हैं—

[सू० ७२]—१. श्रुतिकटु, २. च्युतसंस्कार, ३. अप्रयुक्त, ४. असमर्थ, ५. निहितार्थ, ६. अनुचितार्थ, ७. निरर्थक, ८. अवाचक, ९. तीन प्रकारका अश्लील, १०. सन्दिग्ध, ११. अप्रतीत, १२. ग्राम्य, १३. नेयार्थ [ये १३ दोष पदगत एवं समासगत दोनों प्रकारके होते हैं और] १४. क्लिष्ट, १५. अविमृष्टविधेयांश, १६. विरुद्धमतिकृत् [ये तीन दोष] केवल समासमें ही होते हैं ॥ ५०-५१ ॥

(१) श्रुतिकटु परुषवर्णरूपं दुष्टं यथा—

अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः ।
आलिङ्गितः स तन्वङ्ग्या कार्तार्थ्यं लभते कदा ॥ १४१ ॥

अत्र कार्तार्थ्यमिति ।

(२) च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनं यथा—

एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डर-
प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते ।
तन् पल्लीपतिपुत्रि ! कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना-
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः ॥ १४२ ॥

अत्रानुनाथते इति । 'सर्पिषो नाथते' इत्यादाविवाशिष्येव नाथतेरात्मनेपदं विहितम्—'आशिषि नाथः' इति । अत्र तु याचनमर्थः । तस्मात् 'अनुनाथति स्तनयुगम्' इति पठनीयम् ।

---

१. कठोर वर्णरूप दुष्ट [रसापकर्षक पद] श्रुतिकटु [कहलाता] है । जैसे—

कामदेवके मङ्गलगृहरूप कटाक्षोंकी परम्परासे उमङ्गयुक्त [उपलक्षणे तृतीया] कृशाङ्गीसे आलिङ्गित वह [युवा] कब कृतार्थताको प्राप्त होगा ॥१४१॥

यहाँ कार्तार्थ्य यह [पद श्रुतिकटु है] ।

२. व्याकरणके संस्कारसे हीन [अर्थात् जो पद व्याकरणके नियमके अनुकूल न हो वह] च्युतसंस्कार [दोषयुक्त कहलाता] है । जैसे—

हे [भीलोंके] छोटेसे ग्रामके स्वामीकी पुत्रि ! यह [तुम्हारा स्तन] थोड़े पके हुए तेंदू [तिन्दुक] के फलके समान बीचमें काला और चारों ओर गौरवर्ण, शबरयुवकके मर्दन [स्पर्श] करने योग्य दिखलाई दे रहा है यह बड़े आनन्दकी बात है । इसलिए अपने गण्डस्थलके अभयदानकी प्रार्थनासे अत्यन्त नम्र होकर हाथियोंका समूह तुमसे यह भीख माँगता है कि तुम इस स्तनयुगलको पत्तोंसे मत आवृत करो ॥१४२॥

इसका अभिप्राय यह है कि यदि शबरयुवक तुम्हारे इस खुले हुए स्तनयुगलकी ओर देखेंगे तो वे हमारे गण्डस्थलके भेदनको भूलकर उसीके स्पर्शमें तत्पर हो जायँगे और कुछ समयके लिए हमारे गण्डस्थलोंको अभयदान मिल जायगा । इसलिए हाथियोंका समूह यह प्रार्थना कर रहा है कि अपने स्तनोंको पत्तोंसे न ढको । इसमें याचनाके अर्थमें 'अनुनाथते' पदका प्रयोग किया गया है । परन्तु नाथ धातु परस्मैपदी धातु है, उसका 'अनुनाथति' प्रयोग होना चाहिये था । 'आशिषि नाथः' २।३।५५ सूत्रसे आशीः अर्थमें नाथ धातुसे आत्मनेपदका विधान है याचनार्थमें नहीं ।

यहाँ 'अनुनाथते' यह [पद च्युतसंस्कार दोषका उदाहरण है] । 'सर्पिषो नाथते' मेरे पास घी हो इत्यादि आशीः अर्थमें ही नाथ धातुसे आत्मनेपदका विधान 'आशिषि नाथः' सूत्रसे किया गया है । परन्तु यहाँ [प्रकृत उदाहरणमें] तो याचन-अर्थ [में आत्मनेपदका प्रयोग किया गया] है । इसलिए [यहाँ च्युत-संस्कारत्व दोष हो जाता है । उसको बचाना है तो] 'अनुनाथति स्तनयुगं' यह पाठ रखना चाहिये ।

(३) अप्रयुक्तं तथाऽऽम्नातमपि कविभिर्नादृतम् यथा—

यथाऽयं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते ।
तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथ वा ॥ १४३ ॥

अत्र दैवतशब्दो 'दैवतानि पुंसि वा' इति पुंस्याम्नातोऽपि न केनचित् प्रयुज्यते ॥

(४) असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः यथा—

तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्कृतिः ।
सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम् ॥ १४४ ॥

अत्र हन्तीति गमनार्थम् ॥

---

३. [कोश आदिमें] उस अर्थमें [तथा] पढ़ा हुआ होनेपर भी कवियों द्वारा न अपनाया हुआ [शब्द-प्रयोग] अप्रयुक्त [दोष] है। जैसे—

यह [आदमी] तो हर समय भयंकर आचरण करता हुआ दिखलाई देता है। इससे प्रतीत होता है कि इसका उपास्य-देवता कोई राक्षस या पिशाच है ॥१४३॥

यहाँ 'दैवतानि पुंसि वा' दैवत शब्द विकल्पसे पुलिङ्ग होता है, इस प्रकार [अमरकोशमें] पठित होनेपर भी किसी [महाकवि] के द्वारा [पुंल्लिंगमें] प्रयुक्त नहीं किया गया है। [इसलिए इसमें अप्रयुक्तत्व दोष है]।

४. जो उस रूपमें [उपसंदानोपजीवी रूपमें] पढ़ा गया है, परन्तु [उस उपसंदान अर्थात् अन्य किसीकी सहायता न होनेसे किसी विशेष स्थलपर] उस अर्थमें उसकी शक्ति नहीं है, उसको असमर्थ कहते हैं। जैसे—

अन्य तीर्थोंमें स्नानके द्वारा पुण्यका संचय करके यह अब श्रद्धापूर्वक गंगा [स्नान करने] को जा रहा है ॥१४४॥

यहाँ हन्ति यह गमनार्थमें [असमर्थ] है।

अप्रयुक्तत्व और असमर्थत्व इन दोनोंमें उस अर्थमें उस शब्दका कोश आदिमें पाठ होनेपर भी उनके प्रयोगको दोष कहा गया है, इसका कारण पहली जगह तो कवियों द्वारा किसी विशेष अर्थमें प्रयोगका न अपनाया जाना है। दूसरी जगह उस अर्थमें शक्तिका न होना है। यहाँ शंका यह उपस्थित होती है कि जब उस अर्थमें कोशादिमें शब्द पढ़ा गया है, तब उसमें उस अर्थको बोधन करानेकी शक्ति नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है। व्याकरण कोशादि तो शक्तिग्राहक प्रमाण हैं। जब उन्होंने उस अर्थमें शब्दका पाठ किया है तो उसमें शक्ति न होनेका प्रश्न कहाँसे आ जाता है। इसका समाधान यह है कि कोशादिने किसी विशेष स्थितिमें किसी विशेष उपपदके साथ होनेपर ही उस अर्थमें पाठ किया है। उस स्थितिमें उसमें सामर्थ्य मानी जाती है। उससे भिन्न स्थलमें अर्थात् विशेष उपपद आदिके अभाव में वह असमर्थ हो सकता है। जैसे धातुपाठमें **'हन हिंसागत्योः'** इस रूपमें हन् धातुका गति अर्थ भी बतलाया गया है। परन्तु यह गति अर्थ उपसन्दानोपजीवी है अर्थात् अन्य उपपदोंके योगमें ही होता है। उपसन्दान अर्थात् उपपदोंके सहकारसे पद्धति, **जङ्घा,** आदि शब्दोंमें हन् धातु गति अर्थका बोधक होता है। परन्तु यहाँ अन्य उपपद्के बिना केवल **हन्** धातुका प्रयोग किया गया है। अतः वह गमनार्थमें असमर्थ है।

(५) निहतार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तं, यथा—

यावकरसार्द्रपादप्रहारशोणितकचेन दयितेन ।
मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिचुम्बिता सहसा ॥ १४५ ॥

अत्र शोणितशब्दस्य रुधिरलक्षणेनार्थेनोज्ज्वलीकृतत्वरूपोऽर्थो व्यवधीयते ।

(६) अनुचितार्थं यथा—

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते
प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या ।
प्रयान्ति तामाशुगतिं यशस्विनो
रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः ॥ १४६ ॥

अत्र पशुपदं कातरतामभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थम् ।

(७) निरर्थकं पादपूरणमात्रप्रयोजनं चादिपदम् यथा—

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते ! मम हि गौरि !
अभिवाञ्छितं प्रसिद्ध्यतु भगवति ! युष्मत्प्रसादेन ॥ १४७ ॥

अत्र हि-शब्दः ।

५. जो [शब्द] दोनों अर्थोंका वाचक होनेपर भी [अपेक्षाकृत] अप्रसिद्ध अर्थमें प्रयुक्त हो वह 'निहतार्थ' होता है । जैसे—

महावरसे गीले चरणके प्रहारसे जिसके बाल कुछ लाल-लाल-से लगने लगे हैं, उस प्रियतमने [पादप्रहारसे इनके रक्त निकल आया है, ऐसा समझकर] उस भोली नायिकाको भयसे विह्वल देखकर सहसा उसका चुम्बन कर लिया ॥ १४५ ॥

यहाँ शोणित शब्दके रुधिररूप [अधिक प्रसिद्ध] अर्थसे [कम प्रसिद्ध] उज्ज्वलत्व [चमकना] रूप अर्थ दब जाता है । [इसलिए यह निहतार्थ दोष है] ।

६. अनुचितार्थ [दोषका उदाहरण] जैसे—

[ज्ञानकाण्डके अनुयायी] तपस्वी लोग जिस [मुक्तिरूप] गतिको [अनेक जन्म-परम्पराके प्रयत्नके बाद] बहुत देरमें प्राप्त कर पाते हैं और [कर्मकाण्डके अनुयायी] याज्ञिक लोग प्रयत्नपूर्वक [कर्म द्वारा] जिसको प्राप्त करना चाहते हैं, युद्धरूप अश्वमेध यज्ञमें पशुके समान मारे गये [लोकमें] यशकी प्राप्ति करनेवाले वीर उस गतिको तुरन्त ही प्राप्त कर लेते हैं । ॥ १४६ ॥

यहाँ पशु-पद [मारे जानेवालेकी] कातरता [भयत्रस्तता]का व्यञ्जक है । इसलिए [वीरताके वर्णनमें] अनुचितार्थ है ।

७. केवल पादपूर्तिमात्रके लिए प्रयुक्त च आदि पद निरर्थक होते हैं । जैसे—

खिले हुए कमलके केसरके चूर्ण [पराग] के समान गौर कान्तिवाली हे भगवती पार्वति ! आपकी कृपासे मेरा मनोरथ पूर्ण हो ॥ १४७ ॥

यहाँ हि शब्द [केवल पादपूर्तिके लिए प्रयुक्त हुआ है] ।

(८) अवाचकं यथा—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥ १४८ ॥

अत्र जन्तुपदमदातर्यर्थे विवक्षितं तत्र च नाभिधायकम् ।

यथा वा—

हा धिक् सा किल तामसी शशिमुखी दृष्टा मया यत्र सा
तद्विच्छेदरुजाऽन्धकारितमिदं दग्धं दिनं कल्पितम् ॥
किं कुर्मः कुशले सदैव विधुरो धाता न चेत्तत्कथं
तादृग्यामवतीमयो भवति मे नो जीवलोकोऽधुना ॥ १४९ ॥

८. अवाचक [दोषका उदाहरण] जैसे—

[किरातार्जुनीयके प्रथम सर्गमें युधिष्ठिरको युद्धके लिए प्रेरित करती हुई द्रौपदी उनसे कह रही है कि] जिसका क्रोध कभी व्यर्थ नहीं जाता है और जो दूसरोंकी आपत्तियोंका नाश कर सकता है, उसके अधीन मनुष्य स्वयं ही हो जाते हैं। और [आपके समान] जिसको कभी क्रोध ही नहीं आता है, ऐसे तुच्छ व्यक्तिके मित्र होनेसे कोई उसका आदर नहीं करता है और न शत्रु होनेसे उसका कोई भय करता है ॥१४८॥

यहाँ 'जन्तु' पद अदाता अर्थमें विवक्षित है, पर उसका वाचक नहीं है।

मनुष्य दो ही प्रकारसे वशवर्ती हो सकते हैं, या तो भयसे या लोभसे। श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'अवन्ध्यकोप' शब्दसे भय और 'आपदां विहन्तुः'से धनादिके द्वारा दूसरोंके दुःखोंका नाश करनेके सामर्थ्यका निर्देश किया है। इसलिए उत्तरार्द्धमें 'जन्तु' पदका अदाता अर्थमें प्रयोग किया गया है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। परन्तु यह अर्थ यों ही कर लिया गया है। वस्तुतः यह अर्थ वक्ताको अभिप्रेत नहीं है। युद्धके लिए प्रेरित करते समय दानकी चर्चा व्यर्थ ही है। इसलिए पूर्वार्द्धमें 'विहन्तुरापदां'का अर्थ धनादिसे आपत्तियोंका नाश करना नहीं अपितु अपनी शक्तिसे दूसरोंकी विपत्तियोंका निराकरण ही विवक्षित अर्थ है। अतः उत्तरार्द्धमें 'जन्तु'पद अदाता अर्थका नहीं अपितु अमर्षशून्य व्यक्तिकी तुच्छताका सूचक है। इस कारण यह अवाचकत्व दोषका ठीक उदाहरण नहीं बनता है। ग्रन्थकार भी प्रथम व्याख्याको बहुत उचित नहीं समझते हैं। इसलिए उन्होंने इसी अवाचकत्व दोषका दूसरा उदाहरण भी दिया है।

अथवा [अवाचकत्व दोषका उदाहरण] जैसे—

[हा धिक्] बड़े दुःखकी बात है कि जब [जहाँ] मैंने उस चन्द्रमुखी [उर्वशी] को देखा था वह अँधेरी रात [तामसी] थी। [उस अँधेरी रातमें चन्द्रमुखीका दर्शन स्वयं एक आश्चर्य है। उससे भी बड़ा आश्चर्य यह है कि] उसके वियोग-दुःखने इस अभागे दिनको अन्धकारमय बना दिया है। [हम तो चाहते हैं कि इस वियोगमय दिनके स्थानपर हमारे लिए वही अँधेरी रात सदा बनी रहे। किन्तु] क्या करें, इष्ट कार्यमें विधाता सदैव प्रतिकूल रहता है, नहीं तो मेरे लिए यह जीवन, वही अँधेरी रातमय क्यों नहीं हो जाता है [जिससे मैं सदैव उस चन्द्रमुखीको देखता रह सकूँ] ॥ १४९ ॥

अत्र दिनमिति प्रकाशमयमित्यर्थेऽवाचकम् ।

यच्चोपसर्गसंसर्गादर्थान्तरगतम् यथा—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः ।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥ १५० ॥

अत्र दधदित्यर्थे विदधदिति ।

(९) त्रिधेति व्रीडाजुगुप्साऽमंगलव्यञ्जकत्वाद् यथा—

[विक्रमोर्वशीय नाटकमें यह पुरुरवाकी उक्ति है] इसमें 'दिन' यह पद [तामसीके विपरीत] प्रकाशमय इस अर्थका अवाचक है। [क्योंकि दिन-पद रविसंयुक्त कालका दिनत्वेन रूपेण वाचक है, प्रकाशमयत्वका नहीं। वास्तवमें यह उदाहरण भी बहुत सुन्दर नहीं बन पड़ा है। तामसीके साथ उधर रात्रि-पदका प्रयोग नहीं किया है। इसी प्रकार इधर प्रकाशमय शब्द या अर्थकी आवश्यकता नहीं है। दिन स्वयं प्रकाशमय है। अतः प्रकाशमय शब्दसे उसके कथन करनेकी आवश्यकता नहीं है]।

और जो उपसर्गके सम्बन्धसे अन्य अर्थका बोधक हो जाता है [वह भी अवाचक पद होता है] जैसे—

अपने स्वामी [शिवजी]के नृत्त [पदार्थाभिनयो नृत्यं, नृत्तं ताललयाश्रयं]का अनुकरण करते समय अपने शरीरके निर्मल सौन्दर्यकी बावड़ीमें उत्पन्न हुए कमलकी शोभाको धारण करनेवाला वह चरण जिसमें जंघाकाण्ड ही लम्बे नाल [मृणालदण्ड]के समान है, जो नखकिरणों रूप केसरकी पंक्तिसे नतोन्नत [करालः] है, जो ताजी लगायी हुई महावरकी प्रभाके विस्ताररूप नवीन पत्तोंसे युक्त, तथा सुन्दर नूपुरों रूप भ्रमरसे युक्त है, इस प्रकारका पार्वती देवीका प्रथम बार ऊपर उठा हुआ [नाट्यारम्भे ऊर्ध्वोक्षिप्तः पादो दण्डपादः] चरण सबसे अधिक उत्कर्षशाली है ॥ १५० ॥

यहाँ 'दधत्' धारण करते हुए इस अर्थमें 'विदधत्' यह [अवाचक] है।

अवाचकत्वके तीनों उदाहरणोंमेंसे यह उदाहरण तो ठीक है। परन्तु पहिले दोनों उदाहरण ठीक नहीं बने।

इनमें ग्रन्थकारने जबरदस्ती खींचातानी करके दोष निकालनेका यत्न किया है। मम्मट अपने इस दोष-दर्शनके लिए बदनाम हैं। यहाँतक किसी आलोचकने उन्हें 'काव्याली' काव्यश्रेणीरूप कुलाङ्गनापर बलात्कार करनेवाला 'यवन'तक कह डाला है—

काव्यप्रकाशो यवनो काव्याली च कुलाङ्गना ।
अनेन प्रसभाकृष्टा कष्टमेषाश्नुते दशाम् ॥

[५०वें सूत्रमें आये हुए त्रिधाश्लील पदमें] त्रिधा १. व्रीडा, २. जुगुप्सा और ३. अमंगलके व्यञ्जक होनेसे [कहा गया] है। जैसे—

साधनं सुमहद्यस्य यन्नान्यस्य विलोक्यते ।
तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहेतारालितां भ्रुवम् ॥ १५१ ॥ [१]

लीलातामरसाहतोऽन्यवनितानिःशङ्कदष्टाधरः
कश्चित्केसरदूषितेक्षण इव व्यामील्य नेत्रे स्थितः ।
मुग्धा कुड्मलिताननेन ददती वायुं स्थिता यत्र सा
भ्रान्त्या धूर्त्ततयाऽथ वा नतिमृते तेनानिशं चुम्बिता ॥ १५२ ॥ [२]

मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशाद्
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽद्य जातः ।
रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे कं हरेदेश बर्ही ॥ १५३ ॥ [३]

जिस [राजा]का 'साधन' [सेना व लिंग] इतना बड़ा है जैसा किसी अन्यका नहीं दिखलाई देता है, उस [शत्रुपराभव-विषयक तथा सुरत-विषयक] बुद्धिशाली [राजा या नायक]की [कामावेशसे या क्रोधावेशसे] टेढ़ी हुई भौंहोंको [नायिकाविशेषके अतिरिक्त] और कौन सह सकता है ॥ १५१ ॥ [१]

यहाँ साधनं आदि श्लोकमें 'साधन' शब्द पुरुषके लिङ्गका वाचक भी हो सकता है। इसलिए यह व्रीडा या लज्जाव्यञ्जक होनेके कारण अश्लील पद है।

दूसरी स्त्री [सपत्नी]ने निःशंक भावसे [अधरपान करते समय] जिसके अधरोष्ठमें काट लिया है, ऐसा कोई [नायक, अपनी पत्नीके पास पहुँचकर अलङ्कार-रूपमें] शोभाके [लिए हाथमें पकड़े गये] लाल कमलसे पिटनेपर मानों उसकी परागसे आँखें भर गयी हों इस प्रकार दोनों आँखें बन्द करके खड़ा हो गया। [नायिकाने यह समझकर कि इनकी आँखमें धूल पड़ गयी है इसलिए] वह भोली-भाली बिचारी मुखको गोल [कलीके समान] बनाकर खड़ी होकर [उसकी आँख] फूँकने लगी। तब भ्रान्तिसे अथवा धूर्तताके कारण [क्षमाप्रार्थनाके रूपमें] नमस्कार किये बिना ही [धूर्त नायकने] चिरकालतक उसका चुम्बन कर लिया ॥ १५२ ॥ [२]

[यहाँ वायु शब्दका प्रयोग जुगुप्साका व्यञ्जक है क्योंकि उसका अर्थ अपानवायु भी हो सकता है। इसलिए यह जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलताका उदाहरण है।]

यह अगला श्लोक विक्रमोर्वशीय नाटकसे लिया गया है। उर्वशीके वियोगमें राजा पुरूरवा कह रहे हैं कि—

मन्द-मन्द वायुसे बिखरा हुआ सघन और सुन्दर मयूर-पिच्छ मेरी प्रिया [उर्वशी]के अदृश्य हो जानेसे [विनाशात्-णश अदर्शने] प्रतिद्वन्द्वी-विहीन हो गया है। [नहीं तो] फूलोंसे अलंकृत और रतिकालमें खुले हुए बन्धनवाले सुन्दर केशोंसे युक्त [उर्वशीके] केशपाशके रहते यह मयूर किसको मुग्ध कर सकता था]। [अथवा अपने बर्हींका अभिमान करनेवाला यह बर्ही, उसके सामने 'कं उदकं हरेत्,' पानी भरता] ॥ ॥ १५३ ॥ [३]

एषु साधन–वायु–विनाशशब्दा व्रीडादिव्यञ्जकाः ।

(१०) सन्दिग्धं यथा—

आलिङ्गितस्तत्रभवान् सम्पराये जयश्रिया ।
आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ॥ १५४ ॥

अत्र वन्द्यां किं हठहृतमहिलायां किंवा नमस्यामिति सन्देहः ।

(११) अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम् । यथा—

सम्यग्ज्ञानमहाज्योतिर्दलिताशयताजुषः ।
विधीयमानमप्येतन्न भवेत्कर्म बन्धनम् ॥ १५५ ॥

इन [तीनों अश्लीलताव्यञ्जक उदाहरणों]में साधन [लिंगका वाचक होनेसे व्रीडाका], वायु [शब्द अपानवायुका बोधक होनेके कारण जुगुप्साका] और विनाश शब्द [मृत्युका बोधक होनेसे अमंगलका, इस प्रकार] व्रीडा आदिके व्यंजक हैं।

१०. सन्दिग्ध [दोषका उदाहरण] जैसे—

युद्धभूमि [संपराये]में जयश्रीसे आलिंगित [अर्थात् अनायास ही विजय प्राप्त करनेवाले] आप [हमारे द्वारा प्रस्तुत की गयी] प्रशंसा या नमस्कारके योग्य आशीर्वाद-की परम्पराको सुनकर [हम लोगोंपर] कृपा करें ॥ १५४ ॥

यहाँ 'वन्द्यां'से क्या जबरदस्ती कैद की गयी स्त्रीपर [यह अर्थ सप्तमीका रूप मानकर करना चाहिये] अथवा [द्वितीयाका रूप मानकर] नमस्कार करने योग्य [उत्तम आशीःपरम्परा] को [सुनकर यह अर्थ करना चाहिये] यह सन्देह होता है।

यहाँ युद्धमें विजय प्राप्तिके बाद हठात् पकड़ी हुई—बन्दी बनायी हुई किसी स्त्रीके द्वारा प्रस्तुत की जानेवाली आशीः अर्थात् मुझे छोड़ दो, भगवान् तुमको इसी प्रकार सदा शत्रुओंपर विजय देंगे, इस प्रकारके वचनोंको सुनकर उस बन्दी बनायी हुई स्त्रीपर उसको मुक्त करने रूप कृपा करें, यह अर्थ भी हो सकता है। उस दशामें स्त्रीलिंग 'वन्दी' शब्दका सप्तमीके एकवचनमें 'वन्द्यां' यह रूप होगा। और दूसरा अर्थ माननेपर स्त्रीलिंग 'वन्द्या' शब्दका द्वितीयाके एकवचनमें 'वन्द्यां' यह रूप होता है इसलिए यहाँ 'वन्द्यां'को वन्दी शब्दका सप्तमीके एकवचनका रूप माना जाय अथवा 'वन्द्या' शब्दका द्वितीयाके एकवचनका रूप माना जाय यह सन्देह हो जाता है, अतः यह सन्दिग्ध दोषका उदाहरण है।

११. अप्रतीत—जो केवल [किसी विशेष] शास्त्रमें प्रसिद्ध है [अर्थात् किसी विशेष शास्त्रका पारिभाषिक शब्द है, उसका प्रयोग साधारण रूपमें करना अप्रतीत दोष कहलाता है]। जैसे—

तत्त्वज्ञान [आत्मज्ञान]की महाज्योतिसे जिसके कर्म-संस्कारों [आशेरते फल-पर्यन्तमिति आशयाः कर्मसंस्काराः]का नाश हो गया है, उस [जीवन्मुक्त पुरुष]के द्वारा किया जानेवाला यह [शुभाशुभ] कर्म उसके बन्धनका कारण नहीं होता है ॥ १५५ ॥

अत्राशयशब्दो वासनापर्यायो योगशास्त्रादावेव प्रयुक्तः ।

(१२) ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम् । यथा—

राकाविभावरीकान्तसंक्रान्तद्युति ते मुखम् ।
तपनीयशिलाशोभा कटिश्च हरते मनः ॥ १५६ ॥

अत्र कटिरिति ।

(१३) नेयार्थं—

निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् ।
क्रियन्ते सांप्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ॥

इति यन्निषिद्धे लाक्षणिकम् । यथा—

शरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरीप्रियम् ।
करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातनातिथिम् ॥ १५७ ॥

यहाँ 'आशय' शब्द वासना [कर्मसंस्कार]के वाचक रूपमें योगशास्त्र आदिमें ही प्रयुक्त होता है । [लोकमें नहीं, यहाँ अतः 'आशय' शब्दका प्रयोग अप्रतीत दोष है] ।

१२. ग्राम्य—जो शब्द केवल लोकमें प्रयुक्त होता है । जैसे—

पूर्णिमाके चन्द्रमामें [अथवा से] जिसकी कान्ति संक्रान्त हो रही है [अर्थात् पूर्णिमाके चन्द्रमाने जिसकी कान्ति प्राप्त की है अथवा जिसने पूर्णिमाके चन्द्रमासे कान्ति प्राप्त की है], इस प्रकार तुम्हारा मुख, और सोनेकी शिलाके समान सौन्दर्यवाली तुम्हारी कमर [मेरे] मनको मुग्ध कर रही है ॥ १५६ ॥

यहाँ कटि [कमर] यह [शब्द ग्राम्य है] ।

१३. नेयार्थ—

'नेयः रूढि, प्रयोजनाभावे कविना कल्पितोऽर्थः यत्र' जहाँ रूढि और प्रयोजनरूप लक्षणाके हेतुओंके न होनेपर भी कवि अपनी इच्छासे यों ही लक्षणासे शब्दका प्रयोग कर दे, वहाँ नेयार्थत्व दोष होता है । कुमारिल भट्टने तन्त्रवार्त्तिकमें लिखा है—

कुछ रूढ लक्षणाएँ होती हैं जो वाचक शब्द [अभिधान]के समान सामर्थ्यसे [अर्थका बोध कराती हैं], और कुछ इस समय [प्रयोजनवश] की जाती हैं । [ये दोनों रूढि तथा प्रयोजनवती लक्षणाएँ तो उचित हैं । परन्तु रूढि तथा प्रयोजन इन दोनोंके अभावमें स्वेच्छापूर्वक] कोई लक्षणा अशक्तिके कारण नहीं करनी चाहिये । [अर्थात् इस प्रकारकी लक्षणाके करनेपर 'नेयार्थत्व' दोष हो जाता है] ।

इनके अनुसार जो निषिद्ध लक्षणवाला पद है [वह नेयार्थ] । जैसे—

हे कृशांगि ! तुम्हारा मुख शरत्कालके चमकते हुए चन्द्रमाके भी चपत लगा रहा है । चन्द्रमाका भी तिरस्कृत कर रहा है] ॥ १५७ ॥

अत्र चपेटापातनेन निर्जितत्वं लक्ष्यते ।

अथ समासगतमेव दुष्टमिति सम्बन्धः । अन्यत्केवलं समासगतं च ।

(१४) क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता यथा—

अत्रिलोचनसम्भूतज्योतिरुद्गमभासिभिः ।
सदृशं शोभतेऽत्यर्थं भूपाल ! तव चेष्टितम् ॥ १५८ ॥

अत्राऽत्रिलोचनसम्भूतस्य चन्द्रस्य ज्योतिरुद्गमेन भासिभिः कुमुदैरित्यर्थः ।

यहाँ थप्पड़ लगानेसे 'तिरस्कृत कर दिया है,' यह अर्थ लक्षणासे [कविको अभीष्ट] है [परन्तु यहाँ लक्षणाके प्रयोजक हेतुओंके अभावमें की गयी लक्षणा दूषित है]।

सूत्र ५१ में नेयार्थके बाद 'अथ' शब्दका प्रयोग करके—'अथ भवेत्क्लिष्टं । अविमृष्ट विधेयांश-विरुद्धमतिकृत समासगतमेव' ॥ लिखा है । इसका अभिप्राय यह है कि 'अथ' शब्दके पहले नेयार्थतक जो पददोष दिखलाये थे वे 'केवल' अर्थात् असमस्त पदगत और समस्त पदगत, दोनों रूपोंमें पद-दोष होते हैं । किन्तु अब आगे गिनाये गये क्लिष्ट, अविमृष्ट विधेयांश और विरुद्धमतिकृत ये तीन दोष समासरहित एक पदमें नहीं होते । समासगत ही होते हैं या फिर वाक्यगत होते हैं । अर्थात् ये तीनों दोष अकेले एक पदमें न रहकर पद-समुदायमें ये ही रहते हैं । वह पदसमुदाय (१) समस्त पदरूप भी हो सकता है और (२) वाक्यरूप भी हो सकता है । इसीलिए साहित्यदर्पणकार तथा वामन आदिने भी इनको केवल समासगत दोष न मानकर पदगत तथा वाक्यगत दोष भी मानते हैं ।

[सूत्र ५१ में कहे हुए] 'अथ'का 'समासगतमेव'के साथ सम्बन्ध है, अर्थात् [पहिले कहे हुए] अन्य [श्रुतिकटु आदि दोष] केवल [असमस्त] पदगत और समासगत [दोनों प्रकारके पददोष] होते हैं ।

१४. क्लिष्ट [दोष वह है] जिससे अर्थकी प्रतीति [साक्षात् न होकर] व्यव-धानसे होती है, जैसे—

हे राजन् ! आपका चरित्र अत्रि मुनिके नेत्रके-से उत्पन्न ज्योति [अर्थात् चन्द्रमा]के उदय होनेसे खिलनेवाले [कुमुद]के समान शोभित हो रहा है ॥१५॥

यहाँ 'अत्रि मुनिके नेत्रसे उत्पन्न चन्द्रमाकी ज्योतिके उदयसे खिलनेवाले कुमुदों-से' यह अर्थ है [जो व्यवधानसे प्रतीत होता है । अतः यहां क्लिष्टत्व दोष है] ॥

अगला दोष 'अविमृष्ट विधेयांश' है । प्रत्येक वाक्यमें दो भाग होते हैं, एक उद्देश भाग और दूसरा विधेय भाग । राम जाता है इस वाक्यमें 'राम' उद्देश भाग है और 'जाता है' यह विधेय भाग है । इन दोनों भागोंमेंसे विधेयांश प्रधान माना जाता है । इसलिए प्रत्येक वाक्यकी रचना करते समय इस बातका ध्यान रखना चाहिये, कि वाक्यमें विधेयांशका प्राधान्य अक्षुण्ण बना रहे । जहाँ इस बातका ध्यान नहीं रखा जाता और असावधानतासे इस प्रकारकी वाक्य-रचना कर दी जाती है, जिसमें विधेयांशका यह प्राधान्य नष्ट हो जाता है तो उसी स्थानपर अविमृष्ट विधेयांश दोष हो जाता है । इस प्रकारकी वाक्य-रचना प्रायः विधेयांशको समासमें डाल देनेसे हो जाती है । क्योंकि समासमें कहीं पूर्वपदार्थका प्राधान्य होता है, कहीं उत्तरपदार्थका और कहीं अन्य पदार्थका । विधेय पदके उससे भिन्न स्थलपर आ जानेसे उसका प्राधान्य नष्ट हो जाता है । इसलिए अविमृष्ट विधेयांशको समासगत दोष कहा जाता है । इसीके उदाहरण आगे देते हैं—

(१५) अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत् यथा—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलद्रक्तसंसक्तधारा-
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम् ।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः ॥ १५९ ॥

अत्र मिथ्यामहिमत्वं नानुवाद्यम्, अपि तु विधेयम् ।

यथा वा—

स्रस्तां नितम्बादवरोपयन्ती पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम् ।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य ॥ १६० ॥

अत्र द्वितीयत्वमात्रमुत्प्रेक्ष्यम् । मौर्वीं द्वितीयामिति युक्तः पाठः ।

---

१५. अविमृष्ट विधेयांश जहाँ विधेयांशका विचार नहीं किया गया अर्थात् प्राधान्य निर्देश नहीं किया गया वहाँ अविमृष्ट विधेयांश [दोष] होता है । जैसे—

हनुमन्नाटकके अष्टमांकमें रामचन्द्रजीकी सेनाके द्वारा लंकाके घेर लिये जाने और मन्त्रियों आदि द्वारा उसकी रक्षाका प्रयत्न करनेका परामर्श देनेपर रावण कहता है, कि—

औद्धत्यपूर्वक निरन्तर काटे गये [एकके बाद दूसरे गले अर्थात्] कण्ठसे बहती हुई अविच्छिन्न रक्तधारासे धोये हुए शिवजीकी चरणोंकी कृपासे प्राप्त विजय [के वरदान]से संसारमें मिथ्या महत्त्वको प्राप्त हुए मेरे इन [दश] शिरोंका, और कैलासको उठानेकी इच्छाके आवेशके सूचक उत्कट अभिमानसे गर्वित मेरी इन भुजाओंका क्या यही फल है, कि इस नगरीकी रक्षामें [मुझे] प्रयास करना पड़े ॥१५९॥

यहाँ मिथ्या महिमाशालित्व उद्देश्य [अनुवाद्य] नहीं अपितु विधेय है । [इसलिए उसकी प्रधानताकी रक्षाके लिए उसे समासमें नहीं डालना चाहिये था । समासमें आ जानेसे उसकी प्रधानता नष्ट हो जानेसे अविमृष्ट विधेयांश दोष हो गया है] ।

[पहिले श्लोकमें विधेय पदके बहुव्रीहि समासमें अन्तर्भूत होनेसे अविमृष्ट विधेयांश होनेका उदाहरण दिया था । अगले श्लोकमें कर्मधारय समासमें उसके अन्तर्भावका उदाहरण देते हैं । यह श्लोक कुमारसम्भवके तीसरे सर्गसे लिया गया है । इसमें पार्वतीका वर्णन करते हुए कवि कहता है]—

अथवा जैसे—

[धरोहरको रखनेके] उचित स्थानको पहिचाननेवाले कामदेवके द्वारा [पार्वतीके नितम्बस्थलके पास] धरोहररूपमें रखी हुई; [अपने] धनुषकी दूसरी प्रत्यंचाके समान मौलश्रीके फूलोंकी मालारूप, और नितम्बोंपरसे [बारबार] खिसक पड़नेवाली करधनीको बार-बार चढ़ाती हुई [पार्वती दिखलाई दीं] ।

यहाँ [मौर्वीके] द्वितीयत्वमात्रकी उत्प्रेक्षा है [इसलिए वह विधेय है । उसको समासमें रख दिया गया है जो उचित नहीं है । अतः दोष है] 'मौर्वीं द्वितीयां' यह पाठ होना चाहिये [तब दोष नहीं रहेगा] ।

यथा वा—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।

वरेषु यद्बालमृगाक्षि ! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥१६१॥

अत्रालक्षिता जनिरिति वाच्यम् ।

यथा वा—

आनन्दसिन्धुरतिचापलशालिचित्त-सन्दाननैकसदनं क्षणमप्यमुक्ता ।

या सर्वदैव भवता तदुदन्तचिन्तातान्तिं तनोति तव सम्प्रति धिग् धिगस्मान् ॥१६२॥

अत्र न मुक्तेति निषेधो विधेयः—

अथवा जैसे [समासगत अविमृष्ट विधेयांशका दूसरा उदाहरण]—

हे मृगशावकके समान नेत्रवाली [जिस शिवकी प्राप्तिके लिए इतना कठोर तपश्चरण कर रही हो उनका] शरीर तीन नेत्रवाला [विरूपाक्ष] है, उनके जन्मका कोई पता नहीं, और [दरिद्रताके कारण] नग्नतासे ही उसके धनकी सूचना मिल जाती है [तो फिर] वरोंमें जो [रूप, कुल तथा धन] देखा जाता है उनमेंसे कोई एक भी गुण तीन आँखवाले [शिव]में है ? [जो तुम उसके लिए व्याकुल हो रही हो] ॥१६१॥

यहाँ [समस्त पदके स्थानपर] 'अलक्षिता जनिः' यह [व्यस्त] कहना चाहिये ।

यहाँ जिसके जन्मका कुछ पता नहीं इस रूपमें जन्मकी अलक्ष्यता विधेय है । इसलिए अलक्ष्यता पदको समासमें नहीं रखना चाहिये । उसे समासमें रखनेसे अविमृष्ट विधेयांश दोष हो गया है । यह भी बहुव्रीहि समासका उदाहरण था, आगे नञ समासमें अविमृष्ट विधेयांशका उदाहरण देते हैं । निषेधार्थक नञ दो प्रकारका है, एक 'प्रसज्य प्रतिषेध' नञ, दूसरा 'पर्युदास' नञ । 'प्रसज्य प्रतिषेध' निषेध करनेके लिए प्रयुक्त होता है, अर्थात् जहाँ निषेधकी प्रधानता होती है वहाँ 'प्रसज्य प्रतिषेध'का और प्रतिषेधकी अप्रधानतामें, सदृश पदार्थके बोधके लिए 'पर्युदास'का प्रयोग होता है—

द्वौ नञौ समाख्यातौ पर्युदास-प्रसज्यकौ ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥

नञ किसी अन्य पदके साथ समस्त हो जानेपर सदा 'पर्युदास' बन जाता है, उसमें प्रतिषेधकी प्रधानता नहीं रहती है। अतः प्रतिषेधकी प्रधानता होनेपर यदि पर्युदास अर्थात् समासगत नञका प्रयोग किया जाता है, तो वहाँ अविमृष्ट विधेयांश दोष हो जाता है, जैसे अगले श्लोकमें 'अमुक्ता' पदके प्रयोगसे दोष आ गया है । यहाँ १६२, १६३, १६४ तीन उदाहरणोंमें नञ समासका प्रयोग दिखलाया गया है ।

जो आपके लिए [कभी] आनन्दका सागर थी, और आपके अत्यन्त चंचल चित्तके बाँध रखनेका एकमात्र स्थान थी, जिसको आप एक क्षणके लिए भी नहीं छोड़ते थे आज उनके समाचार जाननेकी चिन्ता आपको हर समय क्लेश देती रहती है । इससे हम लोगोंको बार-बार धिक्कार है ॥१६२॥

यहाँ 'न मुक्ता' यह निषेध विधेय है । [अतः समासरहित प्रसज्य प्रतिषेध नञका ही प्रयोग होना चाहिये था, परन्तु यहाँ 'अमुक्ता' इस रूपसे समास करके पर्युदास नञ बना दिया है इसलिए अविमृष्ट विधेयांश दोष हो गया है] ।

यथा—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी ॥१६३॥

इत्यत्र, न त्वमुक्ततानुवादेनान्यदत्र किञ्चिद्विहितम् ।

यथा—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।
अगृध्नुराददे सोऽर्थानसक्तः सुखमन्वभूत ॥ १६४ ॥

इत्यत्र अत्रस्तत्वाद्यनुवादेनात्मनो गोपनादि ।

[प्रसज्य प्रतिषेध रूपमें नञ्का उचित प्रयोग] जैसे—

यह तो उमड़ता हुआ नवीन मेघ है, उद्धत निशाचर नहीं है। यह इन्द्रधनुष है, उस [राक्षस] का दूर [कान तक] खींचा हुआ धनुष नहीं है। यह मूसलधार वर्षा हो रही है [उस राक्षसकी] बाणोंकी पंक्ति नहीं है, और सोनेकी कसौटी [पर खींची गयी रेखा] के समान सुन्दर यह बिजलीकी रेखा है, मेरी प्रियतमा उर्वशी नहीं है ॥१६३॥

इसमें [समासरहित प्रसज्य प्रतिषेध 'नञ्'का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार पहले श्लोकमें भी प्रसज्य प्रतिषेधका ही प्रयोग करना चाहिये था। क्योंकि 'अमुक्ता' इस रूपमें पर्युदासका प्रयोग तो तभी हो सकता था जब 'अमुक्ता'का अनुवाद करके अन्य किसीका विधान किया जाता। परन्तु] 'अमुक्ता'का अनुवाद करके अन्य किसीका विधान यहाँ नहीं किया गया है। [अपितु अमुक्तत्व ही विधेय है। अतः प्रसज्य प्रतिषेध ही होना चाहिये था। समस्त 'अमुक्ता' पदका प्रयोग दूषित है]।

[पर्युदास नञ्के प्रयोगका उचित उदाहरण] जैसे—

उस [राजा दिलीप] ने निडर होकर अपनी रक्षा की, नीरोग [अनातुरः] रहकर धर्मका आचरण किया, लोभरहित होकर धनको ग्रहण किया, और आसक्ति-रहित होकर सुखका भोग किया ॥१६४॥

यहाँ अत्रस्तत्वादिको [अनुवाद] उद्देश बनाकर अपनी रक्षा आदि [क्रियाओं]का विधान किया है [अतः अत्रस्त आदि पदोंमें पर्युदास नञ्का प्रयोग ठीक है]।

यहाँ समासगत 'अविमृष्ट-विधेयांश' दोषके उदाहरणरूप में नञ् समासकी चर्चा चल रही है। नञ्का जब कभी समास होगा तब नञ्का 'प्रसज्य प्रतिषेध'वाला रूप समाप्त होकर पर्युदासात्मक रूप ही रह जायगा। प्रसज्य प्रतिषेध तथा पर्युदास नञ्के लक्षण निम्नलिखित प्रकार किये गये हैं—

अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्य प्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ् ॥

प्रसज्य प्रतिषेधमें प्रतिषेधकी प्रधानता होती है और क्रियाके साथ नञ्का सम्बन्ध होता है।

(१६) विरुद्धमतिकृद्यथा—

सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः ।
अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे ॥ १६५ ॥

अत्र कार्यं विना मित्रमिति विवक्षितं, अकार्ये मित्रमिति तु प्रतीतिः ।

यथा वा—

चिरकालपरिप्राप्तलोचनानन्ददायिनः ।
कान्ता कान्तस्य सहसा विदधाति गलग्रहम् ॥ १६६ ॥

अत्र कण्ठग्रहमिति वाच्यम् ।

यथा वा—

न त्रस्तं यदि नाम भूतकरुणासन्तानशान्तात्मनः
तेन व्यारुजता धनुर्भगवतो देवाद्भवानीपतेः ।

इसके विपरीत—

प्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥

पर्युदासमें प्रतिषेधकी प्रधानता नहीं रहती है और नञ्का सम्बन्ध क्रियाके साथ न होकर उत्तरपदके साथ होता है । ऊपरके तीन उदाहरणोंमें से १६३वें श्लोकमें प्रसज्य प्रतिषेधरूपमें और १६४वें श्लोकमें 'पर्युदास'रूपमें नञ्का उचित प्रयोग हुआ है । १६२वें श्लोकमें 'अमुक्ता' यह 'पर्युदास' नञ्का प्रयोग अनुचित रूपसे किया गया है ।

१६. विरुद्धमतिकृत् [दोषका उदाहरण] जैसे—

चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल [निर्दोष] व्यवहार करनेवाला और निःस्वार्थ मित्र वह एक ही है [अद्वितीय है] । उसका क्या वर्णन किया जाय ॥१६५॥

यहाँ बिना कार्यके मित्र [अर्थात् अपने निजी स्वार्थके बिना निःस्वार्थ मित्र] यह अर्थ विवक्षित है । परन्तु [अकार्यमित्र पदसे अकार्य] बुरे काममें सहायक [अकार्य मित्र] यह प्रतीति होती है । [अतः यह प्रयोग विरुद्धमतिकारी होनेसे दूषित है] ।

अथवा [विरुद्धमतिकृत्का दूसरा उदाहरण] जैसे—

बहुत दिनोंके बाद मिले हुए नेत्रोंको आनन्द देनेवाले पतिके गलेमें पत्नी तुरन्त ही लिपट जाती है ॥१६६॥

यहाँ [गलग्रह पदसे कण्ठग्रह ऐसा कहना चाहिये था, 'गला दबोच लेना', 'गर्दनिया-अर्धचन्द्र देकर निकाल देना'से अनिष्ट अर्थोंकी प्रतीति होती है]

अथवा [इसी विरुद्धमतिकारिताका तीसरा उदाहण] जैसे—

उस [रामचन्द्र]ने धनुष तोड़ते समय जीवोंपर अपार दयाके कारण शान्त-स्वरूप भगवान् शिव [भवानीपति] से डर नहीं माना तो न सही, परन्तु मदान्ध

तत्पुत्रस्तु मदान्धतारकवधाद्विश्वस्य दत्तोत्सवः
स्कन्दः स्कन्द इव प्रियोऽहमथ वा शिष्यः कथं विस्मृतः ॥ १६७ ॥

अत्र भवानीपतिशब्दो भवान्याः पत्यन्तरे प्रतीतिं करोति ।

यथा वा—

गोरपि यद्वाहनतां प्राप्तवतः सोऽपि गिरिसुतासिंहः ।
सविधे निरहङ्कारः पायाद्वः सोऽम्बिकारमणः ॥ १६८ ॥

अत्राम्बिकारमण इति विरुद्धां धियमुत्पादयति ।

श्रुतिकटु समासगतं यथा—

सा दूरे च सुधासान्द्रतरङ्गितविलोचना ।
बर्हिनिर्ह्रादनार्होऽयं कालश्च समुपागतः ॥ १६९ ॥

एवमन्यदपि ज्ञेयम् ।

तारकासुरके वधसे संसारको आह्लादित करनेवाले उनके पुत्र स्कन्दको, अथवा स्कन्दके समान ही प्रिय शिष्य मुझ [परशुराम] को कैसे भुला दिया ॥१६७॥

यहाँ ['भवस्य शिवस्य पत्नी भवानी' इस व्युत्पत्तिके अनुसार शिव-पार्वतीका पति-पत्नी सम्बन्ध भवानी शब्दसे ही प्रतीत होता है, फिर भवानीके साथ पति शब्द जोड़नेसे] भवानीपति शब्द भवानी [पार्वती] के दूसरे पतिकी प्रतीति कराता है। [इसलिए यह विरुद्धमतिकारी होनेसे दोष है]।

अथवा [इसी विरुद्धमतिकारिताका चौथा उदाहरण] जैसे—

जिनकी सवारी बने हुए [नान्दी] बैलके पास वह [अत्यन्त क्रूर] पार्वतीका सिंह भी अहंकार त्याग देता है वे अम्बिकारमण [शिवजी] तुम्हारी रक्षा करें ॥१६८॥

यहाँ अम्बिकारमण पद [अम्बिका अर्थात् माताके साथ रमण करनेवाला जार आदि रूप] विरुद्धमतिको उत्पन्न करता है।

सूत्र ७२में क्लिष्टत्व, अविमृष्ट विधेयांश, और विरुद्धमतिकृत् इन तीन दोषोंको समासगतमेव— समासगत ही कहा था। इसलिए इन तीनोंके समासगत ही उदाहरण यहाँ दिये गये। इन तीनों ही दोषोंको समासगत कहनेका अभिप्राय यह है कि श्रुतिकटु आदि अन्य दोष समासगत और पदगत दोनों प्रकारके होते हैं। उनके पदगत उदाहरण दे चुके हैं। उनके प्रतिनिधिरूपमें एक श्रुतिकटु दोषका समासगत उदाहरण दिखलाते हैं—

समासगत श्रुतिकटु [का उदाहरण] जैसे—

अमृतकी भरी [तरंगित] उज्ज्वल नेत्रवाली वह [सीता] दूर है, और मयूरोंके केकारवको करानेवाला यह [वर्षाका] समय आ गया है ॥१६९॥

[यहाँ बर्हिनिर्ह्रादनार्ह यह समस्त पद श्रुतिकटु है]। इसी प्रकार अन्य [दोषोंके समासगत उदाहरण] भी समझ लेने चाहिये।

(७४) अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥५२॥

केचन न पुनः सर्वे, क्रमेणोदाहरणम्—

सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितॄनताप्र्सीत् सममंस्त बन्धून् ।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च ॥ १७० ॥

स रातु वो दुश्च्यवनो भावुकानां परम्पराम् ।
अनेडमूकताद्यैश्च द्यतु दोषैरसम्मतान् ॥ १७१ ॥

अत्र दुश्च्यवन इन्द्रः, अनेडमूको मूकबधिरः ।

सायकसहायबाहोर्मकरध्वजनियमितक्ष्माधिपतेः ।
अब्जरुचिभास्वरस्ते भातितरामवनिप श्लोकः ॥ १७२ ॥

अत्र सायकादयः शब्दाः खड्गाब्धिभूचन्द्रयशःपर्यायाः शराद्यर्थतया प्रसिद्धाः ।

---

१. वाक्यगत श्रुतिकटु

[सूत्र ७४]—च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक [इन तीन पददोषों] को छोड़कर ये सब दोष वाक्यमें भी होते हैं और कुछ पदांशमें भी होते हैं ।

[पदके अंशमें केचन] कुछ ही [दोष होते हैं] सब नहीं । [वाक्यगत उक्त दोषोंके] क्रमशः उदाहरण [आगे देते हैं], जैसे—

उस [राजा दशरथ]ने वेदोंका अध्ययन किया, [यज्ञों द्वारा] देवताओंका पूजन किया, पितरोंको [श्राद्ध-तर्पण आदिसे] तृप्त किया, बन्धु-बान्धवोंका [दान आदि द्वारा] सम्मान किया, [कामक्रोधादिरूप] शत्रुओंके षड्वर्गको विजय किया, नीतिशास्त्रका आनन्द लिया, और शत्रुओंका समूल नाश कर दिया ॥१७०॥

यह सारा श्लोक श्रुतिकटु पदोंसे भरा हुआ है, इसलिए यह वाक्यगत श्रुतिकटु दोषका उदाहरण है । श्रुतिकटुके बाद दूसरा च्युतसंस्कार दोष छोड़कर तीसरे वाक्यगत अप्रयुक्त दोषका उदाहरण देते हैं ।

२. वाक्यगत अप्रयुक्तत्व—

वह इन्द्र [दुश्च्यवन] तुमको कल्याण-परम्परा प्रदान करे और [तुम्हारे] शत्रुओंका गूँगा-बहिरापन आदि दोषोंसे नाश करे ॥१७१॥

यहाँ दुश्च्यवन पद इन्द्र [अर्थमें अप्रयुक्त] और अनेडमूक [पद] गूँगा-बहिरापन [अर्थमें अप्रयुक्त] है । [अनेक पदोंमें होनेसे यह वाक्यगत अप्रयुक्तत्व दोष है ।]

३. वाक्यगत निहतार्थता—

आगे वाक्यगत निहतार्थ दोषका उदाहरण देते हैं—

[सायक, खड्ग] खड्गसे युक्त बाहुवाले और समुद्रसे परिवेष्टित पृथिवीके स्वामी हे राजन् ! आपका यश चन्द्र [अब्जश्चन्द्रः] के समान अत्यन्त प्रकाशमान हो रहा है ॥१७२॥

कुविन्दस्त्वं तावत्पटयसि गुणग्राममभितो
यशो गायन्त्येते दिशि दिशि च नग्नास्तव विभो ! ।
शरज्ज्योत्स्नागौरस्फुटविकटसर्वाङ्गसुभगा
तथापि त्वत्कीर्त्तिर्भ्रमति विगताच्छादनमिह ॥ १७३ ॥

अत्र कुविन्दादिशब्दोऽर्थान्तरं प्रतिपादयन् उपश्लोक्यमानस्य तिरस्कारं व्यनक्तीत्यनुचितार्थः ।

यहाँ सायक आदि [सायक, मकरध्वज, क्षमा, अब्ज और श्लोक] शब्द [क्रमशः] खड्ग, समुद्र, पृथिवी, चन्द्रमा और यशके पर्यायरूप [में प्रयुक्त हुए] हैं [किन्तु लोकमें] बाण आदि [क्रमशः बाण, कामदेव, सहन करना, कमल और पद्य] अर्थमें प्रसिद्ध हैं। [अतः सायक आदि शब्दोंका खड्ग आदि अर्थमें प्रयोग निहतार्थत्व दोषसे ग्रस्त है]।

४. वाक्यगत अनुचितार्थत्व—

आगे वाक्यगत अनुचितार्थ दोषका उदाहरण देते हैं। इस श्लोकमें राजाकी स्तुति है, परन्तु उसके साथ जुलाहेके वाचक कुविन्द शब्द तथा 'पटं करोषि' इस अर्थकी बोधक 'पटीयसि' क्रियाके द्वारा जुलाहा-परक दूसरे अर्थकी भी अभिधामूलक व्यञ्जना द्वारा प्रतीति होती है। और उन दोनों अर्थोंका उपमानोपमेयभाव होनेसे राजाकी जुलाहेके साथ उपमा सारे वाक्यसे प्रतीत होती है जो हीनोपमा होनेके कारण अनुचित है। इसलिए यह वाक्यगत अनुचितार्थ दोषका उदाहरण है। अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

[कु अर्थात् पृथिवीको विन्दति प्राप्नोति इति कुविन्दः] पृथिवीको [विजय द्वारा] प्राप्त करनेवाले हे राजन् [दूसरे पक्षमें कुविन्द जुलाहा] आप अपने [शौर्य दानादि] गुणसमुदाय [जुलाहेके पक्षमें गुणपदका अर्थ सूत होगा] को चारों ओर [पटु करोषि पटयसि, ऐसा दानी, ऐसा विद्वान्, ऐसा पराक्रमी राजा है, इत्यादि रूपमें] प्रकाशित कर रहे हैं [जुलाहेके पक्षमें—जुलाहेके रूपमें आप सूतसे चारों ओर कपड़े तैयार कर रहे हैं] और ये चारण [नग्न पदका राजा पक्षमें चारण और जुलाहे-पक्षमें वस्त्रहीन अर्थ होता है। नग्नो वन्दिक्षपणयोः पुंसि त्रिषु विवाससि] सारी दिशाओंमें आपका यश गाते फिरते हैं। फिर भी शरत्कालकी चाँदनीके समान गौर उज्ज्वल और विशाल सर्वाङ्गोंसे सुन्दर तुम्हारी कीर्ति [विगताच्छादन, निरावरण, उन्मुक्त] नंगी-सी घूमती फिर रही है ॥१७३॥

यहाँ कुविन्द आदि शब्द [कुविन्द अर्थात् जुलाहा, गुण सूत्र, पटयसि पटु करोषि, विगताच्छादन वस्त्ररहित नंगी आदि रूप] अन्यार्थका प्रतिपादन करते हुए स्तूयमान राजाके तिरस्कारको सूचित करते हैं। इसलिए [यह सारा श्लोक-वाक्य] अनुचितार्थ है।

ऊपर यह दिखलाया है कि इस श्लोकका अर्थ राजा व जुलाहा, दोनों पक्षोंमें लगता है। राजा पक्षमें 'कुविन्द' आदि शब्दोंका जो अर्थ किया है वह उनकी प्रशंसाका सूचक है। किन्तु

प्राभ्रभ्राडविष्णुधामाप्य विषमाश्वः करोत्ययम् ।
निद्रां सहस्रपर्णानां पलायनपरायणम् ॥ १७४ ॥

अत्र प्राभ्रभ्राड्–विष्णुधाम–विषमाश्व–निद्रा–पर्ण–शब्दाः प्रकृष्टजलद–गगन–सप्ताश्व–सङ्कोच–दलानामवाचकाः ।

भूपतेरुपसर्पन्ती कम्पना वामलोचना
तत्तत्प्रहरणोत्साहवती मोहनमादधौ ॥ १७५ ॥

अत्रोपसर्पण–प्रहरण–मोहनशब्दा व्रीडादायित्वादश्लीलाः ।

उससे जो जुलाहा पक्षवाला अर्थ निकलता है वह राजाके लिए अपमानजनक है । अतः यह सारा श्लोकवाक्य अनुचित हो गया है । इस कारण इसे वाक्यगत अनुचितार्थ दोषके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है ।

५. वाक्यगत अवाचकत्व—

आगे वाक्यगत अवाचकत्व दोषका उदाहरण देते हैं ।

यह [विषम संख्याके घोड़ोंवाला सप्ताश्व] सूर्य [विष्णुधाम] आकाशमें पहुँच [उदित हो] कर, प्रकृष्ट मेघोंसे शोभायमान [प्राभ्रभ्राड्] सहस्रदल कमलोंकी निद्राको भागनेके लिए उद्यत कर देता है । [कमलोंको खिला देता है] ॥१७४॥

यहाँ प्राभ्रभ्राड्, विष्णुधाम, विषमाश्व, निद्रा, पर्ण शब्द [क्रमशः] प्रकृष्ट मेघ, आकाश, सप्ताश्व, और दल अर्थोंके अवाचक हैं । [अतः यह वाक्यगत अवाचकत्व दोषका उदाहरण है]

इसमें विष्णुधाम आदि शब्द आकाशादिके लिए प्रयुक्त किये गये हैं किन्तु वे शब्द साक्षात् रूपसे उन अर्थोंके वाचक नहीं हैं, लक्षणा द्वारा परम्परित रूपसे ही उन अर्थोंके वाचक होते हैं । यह साक्षाद् अवाचकत्व दोष अनेक पदोंमें है इसलिए यह वाक्यगत अवाचकत्व दोषका उदाहरण है ।

६. वाक्यगत अश्लीलत्व दोष—

आगे वाक्यगत त्रिविध अश्लीलताके तीन उदाहरण देते हैं । इनमें सबसे पहले व्रीडाजनक अश्लीलताका उदाहरण देते हैं । इसमें राजाकी सेनाका वर्णन है कि नाना प्रकारके शस्त्रोंके प्रयोगमें उत्साहवती और आगे बढ़ती हुई, शत्रुओंके प्रति वक्रदृष्टिवाली राजाकी सेनाने शत्रुओंको वशमें कर लिया, उनपर मोहनमन्त्रका प्रयोग कर दिया । इसमें सेनाके लिए 'कम्पना' शब्दका प्रयोग किया है, इसका अर्थ शत्रुओंको कँपा देनेवाली सेना भी होता है, और सुरतमें कम्पनशीला नायिका भी होता है । इसी प्रकार प्रहरण और मोहन शब्द भी सुरतलीलासे सम्बन्ध रखनेवाले शब्द हैं । इसलिए उनसे व्रीडाकी अभिव्यक्ति होनेसे यह वाक्यगत अश्लीलताका उदाहरण है ।

[शत्रुओंके प्रति] वक्रदृष्टि और [दूसरे पक्षमें सुन्दर नेत्रोंवाली] और उन [विशेष विशेष प्रहरण] अस्त्र-शस्त्रोंके प्रयोगके लिए उत्साहवती राजाकी आगे बढ़ती हुई सेनाने [शत्रुको] वशमें कर लिया [या चकित कर दिया] ॥१७५॥

यहाँ उपसर्पण, प्रहरण, मोहन शब्द व्रीडाजनक होनेसे अश्लील हैं ।

तेऽन्यैर्वान्तं समश्नन्ति परोत्सर्गञ्च भुञ्जते
इतरार्थग्रहे येषां कवीनां स्यात्प्रवर्त्तनम् ॥ १७६ ॥

अत्र वान्त—उत्सर्ग—प्रवर्तनशब्दा जुगुप्सादायिनः ।

पितृवसतिमहं व्रजामि तां सह परिवारजनेन यत्र मे ।
भवति सपदि पावकान्वये हृदयमशेषितशोकशल्यकम् ॥ १७७ ॥

अत्र पितुर्गृहमित्यादौ विवक्षिते श्मशानादिप्रतीतावमङ्गलार्थत्वम् ।

सुरालयोल्लासपरः प्राप्तपर्याप्तकम्पनम् ।
मार्गणप्रवणो भास्वद्—भूतिरेष विलोक्यताम् ॥ १७८ ॥

वाक्यगत व्रीडाजनक अश्लीलताका उदाहरण देनेके बाद अब वाक्यगत जुगुप्साजनक अश्लीलताका उदाहरण है ।

अन्य कवियोंके अर्थका अपहरण करनेमें जिन कवियोंकी प्रवृत्ति होती है [जो कवि प्रवृत्त होते हैं] वे अन्योंके वमनको और अन्योंके पुरीष [विष्ठा] को खाते हैं ।

यहाँ वान्त, उत्सर्ग, प्रवर्तन शब्द [प्रवर्तनं प्रवृत्तिः पुरीषोत्सर्गश्च] जुगुप्सा-दायक [होनेसे अश्लील] हैं ।

मैं अपने परिवारके [पुत्र आदि] लोगोंके साथ उस पितृगृह [पीहर] को जाती हूँ, जिस पवित्र कुलमें पहुँचते ही हृदय शोकके सारे कील-काँटोंसे रहित हो जायेगा ॥१७७॥

यहाँ [पितृवसति शब्दसे] पितृगृह [पीहर] अर्थ विवक्षित होनेपर भी [पितृ-वसतिका अर्थ श्मशान भी होता है, पावकान्वय शब्दसे पवित्र करनेवाले कुलमें, यह अर्थ विवक्षित है परन्तु श्मशान पक्षमें चिताग्निके साथ अन्वय सम्बन्ध होनेपर, यह अर्थ भी प्रतीत होता है, कि चितामें जल जानेसे सारे कष्ट मिट जायेंगे, इत्यादि] श्मशानकी प्रतीति होनेपर [वाक्यगत] अमंगलार्थत्व [होनेसे वाक्यगत अमंगलजनक अश्लीलता दोष है]।

७. वाक्यगत सन्दिग्धत्व—

आगे वाक्यगत सन्दिग्धत्वका उदाहरण देते हैं । इस श्लोकके दो अर्थ हो सकते हैं, एक राजा-परक, दूसरा भिक्षुक-परक । राजा-परक अर्थमें सुरालयका अर्थ देवताओंका घर, कम्पनाका अर्थ सेना, मार्गणप्रवणका अर्थ बाणप्रहारमें चतुर, और भास्वद्भूतिका अर्थ ऐश्वर्यशाली होगा । पर दूसरे पक्षमें सुरालयका अर्थ मद्यशाला (मयखाना), कम्पनाका अर्थ शराबके नशेमें काँपता हुआ मार्गणप्रवणका अर्थ भीख माँगता हुआ और भास्वद्भूतिका अर्थ राख लगाये हुए होगा । इन दोनों अर्थोंमेंसे यहाँ कौन-सा अर्थ विवक्षित है, यह निश्चय न होनेसे यह वाक्यगत सन्दिग्ध दोषका उदा-हरण है । अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

देवताओंके घर [या मद्यालय] में प्रसन्न रहनेवाले, प्रचुर सेनासे युक्त [और ज्यादा चढ़ा जानेके कारण नशेमें] काँपते हुए ऐश्वर्यशाली [दूसरे पक्षमें राख लपेटे] और बाणप्रहारमें निपुण [दूसरे पक्षमें भीख माँगनेवाले] इस राजाको [अथवा भिखमंगे] को देखो ॥१७८॥

अत्र किं सुरादिशब्दा देवसेना-शर-विभूत्यर्था किं मदिराद्यर्था इति सन्देहः ।

तस्याधिमात्रोपायस्य तीव्रसंवेगताजुषः ।
दृढभूमिः प्रियप्राप्तौ यत्नः स फलितः सखे ॥ १७९ ॥

अत्राधिमात्रोपायादयः शब्दाः योगशास्त्रमात्रप्रयुक्तत्वादप्रतीताः ।

ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः ।
करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा ॥ १८० ॥

अत्र गल्लादयः शब्दा ग्राम्याः ।

यहाँ सुरादि [सुर-सुरा, कम्पना-कम्पनः, मार्गण, और भूति] आदि शब्द क्या [क्रमशः] देव, सेना, बाण और विभूतिके वाचक हैं, अथवा शराब आदि परक हैं यह सन्देह होनेसे [यह वाक्यगत सन्दिग्धत्व दोषका] उदाहरण है ।

८. वाक्यगत अप्रतीतत्व—

आगे वाक्यगत अप्रतीतत्व दोषका उदाहरण देते हैं । इसमें आये हुए अधिमात्रोपाय, तीव्र संवेग, और दृढभूमि शब्द योग दर्शनके विशेष शब्द हैं । योगशास्त्रमें योगसाधकोंके नौ भेद किये हैं। जिनमें तीन भेद उपायोंके उत्कर्षापकर्षके आधारपर, मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रोपाय हैं । फिर इन तीनों प्रकारके साधकोंकी वैयक्तिक क्षमताके आधारपर मृदुसंवेग, मध्यसंवेग और तीव्र संवेग ये तीन भेद किये गये हैं । इस प्रकार साधक योगी नौ प्रकारके होते हैं । इस रूपमें अधिमात्रोपाय और तीव्रसंवेग शब्दोंका प्रयोग योगमें हुआ है । इसी प्रकार योगका अभ्यास दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर और श्रद्धापूर्वक सेवित होनेसे दृढभूमि होता है, इस रूपमें दृढभूमि शब्दका प्रयोग किया गया है । योगदर्शनको जिसने पढ़ा है उसीको उन शब्दोंके अर्थका परिज्ञान हो सकता है, अन्यको नहीं । इसलिए निम्नलिखित श्लोकमें इन शब्दोंका प्रयोग वाक्यगत अप्रतीतत्व दोषका कारण बन गया है ।

हे सखे ! [इन नौ प्रकारके साधकोंमें] अधिमात्रोपाय और तीव्रसंवेगवाले उस साधक योगीका [तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः] अभ्यास [स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः] दृढभूमि होकर प्रिय [आत्मसाक्षात्कार अथवा समाधि आदि] को प्राप्त कर, सफल हो गया । ॥१७९॥

इसमें अधिमात्रोपाय आदि [अनेक] शब्द केवल योगशास्त्रमें प्रसिद्ध होनेसे अप्रतीत [दोषग्रस्त] हैं । [अतः यह वाक्यगत अप्रतीतत्व दोषका उदाहरण है] ।

९. वाक्यगत ग्राम्यत्व दोष—

आगे वाक्यगत ग्राम्यत्व दोषका उदाहरण देते हैं—

यह मनुष्य खान-पान तो सदा ऐसा-वैसा ही करता है [अर्थात् बहुत अच्छा खाता-पीता नहीं है, किन्तु] गालोंमें पान भरकर बोलता अच्छा है ॥१८०॥

यहाँ गल्ल [भल्लं खादनं] आदि [अनेक], शब्द ग्राम्य है । [अतः यह वाक्यगत ग्राम्यत्व दोषका उदाहरण

वस्त्रवैदूर्यचरणैः क्षतसत्त्वरजःपरा ।

निष्कम्पा रचिता नेत्रयुद्धं वेदय साम्प्रतम् ॥ १८१ ॥

अत्राम्बररत्नपादैः क्षततमा अचला भूः कृता नेत्रद्वन्द्वं बोधयेति नेयार्थता ।

धम्मिलस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकाम कुरङ्गशावाक्ष्याः ।

रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥ १८२ ॥

अत्र धम्मिल्लस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यतीति सम्बन्धे क्लिष्टत्वम् ।

१०. वाक्यगत नेयार्थता दोष—

आगे वाक्यगत नेयार्थ दोषका उदाहरण देते हैं—

[सोती हुई स्त्रीको जगाती हुई उसकी सखी कह रही है कि सूर्यकी किरणोंसे पृथिवीके अन्धकारका नाश हो गया है, इसलिए तुम अपनी आँखें खोलो]।

[वस्त्रवैदूर्य = अम्बरमणि अर्थात्] सूर्यकी किरणों [चरणैः] से [निष्कम्पा = अचला] पृथिवीका [रजोगुण और सत्त्वगुणसे भिन्न अर्थात् तम अर्थात्] अन्धकार नष्ट हो गया है। इसलिए [नेत्रयुद्ध अर्थात् नेत्रद्वन्द्व अर्थात्] दोनों आँखें [वेदय] खोलो ॥१८१॥

यहाँ अम्बरमणि [सूर्य] की किरणोंसे पृथ्वीका अन्धकार दूर हो गया है, इसलिए नेत्र खोलो, यह [अर्थ क्लिष्ट कल्पनासे रूढ या प्रयोजनरूप उचित कारणोंके बिना की गयी लक्षणासे निकलता है, इसलिए] नेयार्थता [दोष] है।

११. वाक्यगत क्लिष्टता दोष—

आगे वाक्यगत क्लिष्टत्वका उदाहरण देते हैं—

इस मृगशावक-नयनीके अपूर्व बन्धनचातुर्यसे बँधे [जूड़े] केशपाश की शोभाको देखकर किसका मन प्रसन्न [या अनुरक्त, मोहित] नहीं होता है ॥१८२॥

यहाँ केशपाशकी शोभाको देखकर किसका मन प्रसन्न नहीं होता है [इन पदोंका दूरान्वय होनेके कारण] यह सम्बन्ध क्लिष्ट है। [अतः यह वाक्यगत क्लिष्टत्वका उदाहरण है]।

१२. वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश दोष—

समासगत अविमृष्टविधेयांशके अनेक उदाहरण दिये थे। उनमें विधेय भागको समासके अन्तर्गत कर देनेसे उसकी प्रधानताके नष्ट हो जानेके कारण अविमृष्टविधेयांश दोष हो गया था। परन्तु विधेयकी प्रधानताका नाश इसके अतिरिक्त अन्य स्थितिमें भी हो सकता है। "उद्देशमनुक्त्वैव विधेयं नाप्युदीरयेत्" इस नियमके अनुसार वाक्य-रचनामें पहिले उद्देशका और बादमें विधेयका प्रयोग करना चाहिये। इस नियमके विपरीत पहिले विधेयका और बादको उद्देशका कथन करनेपर भी विधेयका प्राधान्य नहीं रहता है इसलिए वहाँ भी अविमृष्टविधेयांश दोष हो सकता है। उस दशामें वह वाक्यगत दोष ही होता है। जैसे "न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः" इसमें "न्यक्कार" विधेय है और "अयम्" उद्देश्य है। परन्तु "न्यक्कार" पदका प्रयोग पहले कर दिया गया है, इसलिए इसमें अविमृष्टविधेयांश दोष हो गया है।

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥ १८३ ॥

अत्रायमेव न्यक्कार इति वाच्यम् । उच्छूनत्वमात्रं चानुवाद्यं, न वृथात्वविशेषितम्—अत्र च शब्दरचना विपरीता कृतेति वाक्यस्यैव दोषो न वाक्यार्थस्य ।

इसी दृष्टिसे आगे वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश दोषके उदाहरणरूपमें इस श्लोकको उद्धृत किया है । यह हनुमन्नाटकके चतुर्दश अंकमें रावणकी उक्ति है—

[संसारमें] मेरे शत्रु हों यही [बड़ा भारी] अपमान है, उसमें भी यह साधु । वह भी यहाँ [लंकामें] ही है [और मेरी नाकके नीचे ही] राक्षस कुलका नाश कर रहा है, [यह सब देखकर भी] रावण जी रहा है, यह आश्चर्यकी बात है । इन्द्रको जीतनेवाले मेघनादको धिक्कार है । कुम्भकर्णको जगानेसे क्या [लाभ] हुआ । और [दूसरोंकी बात क्या कही जाय] स्वर्गकी उस छोटी-सी गउंटियाको लूटकर व्यर्थ ही गर्वसे फूली हुई मेरी इन भुजाओंका ही क्या फल है ॥१८३॥

यहाँ [अयं उद्देश और न्यक्कार विधेय है, इसलिए 'उद्देशमनुक्त्वैव विधेयं नाप्युदीरयेत्' इस सिद्धान्तके अनुसार उद्देशको पहिले और विधेयको पीछे करके] 'अयमेव न्यक्कारः' यह ही मेरा अपमान है, इस प्रकार कहना चाहिये था । [उस नियमका उल्लंघन करनेसे श्लोकके प्रथम चरणमें वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश दोष है । और चतुर्थ चरणमें 'उच्छूनत्वमात्र' उद्देश है तथा वृथात्व विधेय है, इसलिए वृथात्वको समासमें न रखकर अलग रखना चाहिये था । उस नियमका उल्लंघन होनेसे यहाँ भी अविमृष्टविधेयांश दोष है । इसीको कहते हैं कि चतुर्थ चरणमें] केवल उच्छूनत्वमात्र ही उद्देश [अनुवाद्य] है, न कि वृथात्व विशिष्ट [उच्छूनत्व । अपितु वृथात्व विधेय है] परन्तु [दोनों स्थलोंमें] शब्दरचना उल्टी कर दी है, इसलिए यह वाक्यका ही दोष है । वाक्यार्थगत दोष नहीं है ।

अविमृष्टविधेयांश दोषका तीसरा रूप—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे' इत्यादि श्लोकके प्रथम चरणमें उद्देश तथा विधेयके व्युत्क्रमके कारण तथा चतुर्थ चरणमें विधेयके समासान्तर्गत गुणीभावके कारण हुए अविमृष्टविधेयांश दोषको दिखलाया था । इनसे भिन्न एक अन्य हेतुसे भी यह दोष हो सकता है, यह बात आगे दिखायेंगे । इसमें 'यत्' और 'तत्' शब्दका—अप-प्रयोग इस दोषका प्रमुख कारण होता है । इसलिए इस प्रसंगमें 'यत्' और 'तत्' शब्दोंके प्रयोगके विषयमें विस्तारपूर्वक विवेचन किया है । इस विवेचनमें इन दोनों शब्दोंके प्रयोगके विषयमें निम्नलिखित नियमोंकी स्थापना की गयी है ।

१. "यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः" इस नियमके अनुसार यत् शब्दके प्रयोगके साथ तत् शब्दका प्रयोग अवश्य होना चाहिये । यह सामान्य नियम है, परन्तु इसके दो अपवाद भी हैं जो निम्नलिखित प्रकार हैं—

यथा वा—

अपाङ्गसंसर्गितरङ्गितं दृशोर्भ्रुवोररालान्तविलासि वेल्लितम् ।

विसारिरोमाञ्चनकञ्चुकं तनोस्तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः ॥ १८४ ॥

अत्र योऽसाविति पदद्वयमनुवाद्यमात्रप्रतीतिकृत् ।

तथा हि प्रकान्तप्रसिद्धाऽनुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते ।

(अ) जहाँ (१) प्रकान्त अर्थात् प्रकरणप्राप्त, (२) प्रसिद्ध तथा (३) अनुभूत अर्थके द्योतनके लिए तत् शब्दका प्रयोग होता है, वहाँ यत् शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं होती है।

(ब) जहाँ उत्तरवाक्य अर्थात् बादके वाक्यमें यत् शब्दका प्रयोग होता है, वहाँ पूर्व वाक्यमें तत् शब्दकी प्रतीति स्वयं सामर्थ्यसे हो जाती है, इसलिए वहाँ तत् शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं होती है।

२. पहिले वाक्यमें प्रयुक्त यत् शब्द तत् शब्दकी आकांक्षा अवश्य रखता है, अर्थात् जहाँ पहले वाक्य-में यत् शब्दका प्रयोग हो वहाँ उत्तरवाक्यमें तत् शब्दका प्रयोग अवश्य होना चाहिये।

३. तत् शब्दके समानार्थक रूपमें इदम्, एतद् और अदस् शब्दोंका प्रयोग भी हो सकता है। परन्तु यत् शब्दके साथ अव्यवहित रूपसे उनका प्रयोग नहीं होना चाहिये। यत् शब्दके साथ अव्यव-धानसे प्रयुक्त तत्, या इदम्, अदस् आदि शब्द केवल प्रसिद्धिमात्रके सूचक होते हैं, और विधेयके स्थानपर उद्देशकी प्रतीति कराते हैं।

साधारणतः यत् पद उद्देशका और तत् शब्द या उसके समानार्थक इदम्, एतत् और अदस् शब्द विधेयांशके बोधक होते हैं। परन्तु यत् शब्दसे अव्यवहित रूपमें 'योऽसौ' इत्यादि रूपमें प्रयुक्त अदस् आदि शब्द उद्देशकी प्रसिद्धिमात्रके बोधक होते हैं, विधेयांशके बोधक नहीं होते। इसलिए ऐसे प्रयोगोंके स्थलमें वस्तुतः विधेयांशका अभाव ही हो जाता है। और उसके कारण वहाँ अविमृष्ट-विधेयांश दोष हो जाता है। यह इस दोषके होनेका तीसरा कारण है। इसीका उदाहरण आगे देते हैं। और इसीके विवेचनके प्रसंगमें ग्रन्थकारने यत् तत् शब्दोंके प्रयोगके विषयमें विस्तारपूर्वक विचार किया है।

अथवा [तीसरे प्रकारके अविमृष्टविधेयांश दोषका उदाहरण] जैसे—

हे सुन्दरि, जो [तुम्हारे प्रियतम] आँखोंकी चंचल चितवनको नेत्रोंके किनारे पहुँचा [कर कटाक्ष बना] देते हैं, और भौंहोंके कुटिल कोनेपर भावपूर्ण [विलासी] नर्तन [उत्पन्न कर देते हैं] तथा सारे शरीरमें फैला हुआ रोमांचका कुर्ता पहिना देते हैं तुम्हारे वही [प्रियतम] आ गये हैं ॥१८४॥

यहाँ 'यः', 'असौ' ये दोनों पद [अव्यवधानसे प्रयुक्त होनेके कारण अनुवाद्य] उद्देशमात्रकी प्रतीति करानेवाले [हो गये] हैं। [अतः विधेयकी प्रतीति करानेवाला पद न होनेसे यहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष हो गया है]।

[इसी प्रसंगमें यत् और तत् शब्दके प्रयोग सम्बन्धी नियमोंका प्रतिपादन करते हैं], जैसे कि—(१) प्रक्रान्त [प्रकरणसे प्राप्त], (२) प्रसिद्ध तथा (३) अनुभूत अर्थ-विषयक तत् शब्द, यत् शब्दके प्रयोगको अपेक्षा नहीं रखता है।

क्रमेणोदाहरणम्—

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥ १८५ ॥

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥१८६॥

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षिताऽसि ॥ १८७ ॥

---

१. प्रक्रान्त अर्थमें तत् शब्दका प्रयोग—

केवल नीति [का अवलम्बन करना] कायरता है, और [केवल] पराक्रम [का अवलम्बन करना] हिंस्र जन्तुओं [श्वापद]का व्यापार है। इसलिए उस राजा [अतिथि] ने उन दोनोंको मिलाकर [ही विजयरूप] सिद्धिका अनुसन्धान किया ॥१८५॥

यह श्लोक रघुवंशके सत्रहवें सर्गका ४२वाँ श्लोक है। उसमें अतिथि नामक राजाका वर्णन है। यहाँ प्रयुक्त हुआ तत् शब्दका प्रथमा विभक्तिका 'सः' यह पद, प्रकरण प्राप्त प्रक्रान्त अर्थका बोधक है, अतः उसके साथ यत् शब्दका प्रयोग नहीं किया है।

२. प्रसिद्धार्थमें तत् शब्दका प्रयोग—

कपाल धारण करनेवाले [भयंकर और दरिद्र शिव] के समागमकी प्रार्थनाके कारण [पहिले तो अकेली चन्द्रमाकी कला ही शोचनीय—तरस खाने योग्य थी, परन्तु उसीके साथ पार्वतीके भी जुड़ जानेसे] अब चन्द्रमाकी वह सुन्दर कला और संसारके नेत्रोंको [आह्लाददायिनी] कौमुदीरूप तुम दोनों तरस खाने योग्य [शोचनीय] हो गयी हो ॥१८६॥

यह श्लोक कुमारसम्भवसे लिया गया है, इसमें "कला च सा कान्तिमती" यहाँ 'सा' शब्दका प्रयोग प्रसिद्धार्थमें हुआ है, इसलिए उसके साथ 'यत्' शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है। आगे अनुभूतार्थमें प्रयुक्त हुए तत् शब्दका प्रयोग दिखलानेके लिए रत्नावली नाटिकासे एक पद्य उद्धृत करते हैं। वासवदत्ताके आगमें जलकर मर जानेका समाचार सुनकर राजा उदयन कह रहे हैं—

३. अनुभूतार्थमें तत् शब्दका प्रयोग—

[अपने वासस्थानमें लगी हुई भयंकर अग्निको देखकर] भयके कारण अस्त-व्यस्त वस्त्रवाली, काँपती हुई, और [रक्षाके स्थान अथवा सहायता देनेवालेकी खोजमें] उन [पूर्वानुभूत सुन्दर] व्याकुल नेत्रोंको चारों ओर दौड़ाती हुई तुमको धूमसे अन्धे हुए अग्निने [तुम्हारी दयनीय अवस्थाको] देखा [भी] नहीं और सहसा जला ही डाला ॥१८७॥

यहाँ 'ते लोचने' में जो 'ते' शब्दका प्रयोग किया गया है वह उन नेत्रोंके व्यापार और सौन्दर्यकी उदयन द्वारा की गयी पूर्वानुभूतिका सूचक है। इसलिए यहाँ भी 'तत्' शब्दके साथ 'यत्' शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है। 'यत्' और 'तत्' शब्दके प्रयोगके विषयमें 'यत्तदोर्नित्य सम्बन्धः'

यच्छब्दस्तूत्तरवाक्यानुगतत्वेनोपात्तः सामर्थ्यात्पूर्ववाक्यानुगतस्य तच्छब्दस्योपादानं नापेक्षते यथा—

साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके ।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः ॥ १८८ ॥

प्रागुपात्तस्तु यच्छब्दस्तच्छब्दोपादानं विना साकांक्षः । यथा तत्रैव[1] श्लोके आद्यपादयोर्व्यत्यासे ।

द्वयोरुपादाने तु निराकांक्षत्वं प्रसिद्धम् ।

अनुपादानेऽपि सामर्थ्यात्कुत्रचिद्[2] द्वयमपि गम्यते यथा—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां-
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥ १८९ ॥

इस सामान्य नियमके बाद उसके अपवादरूपमें पहिला नियम यह हुआ कि प्रकान्त, प्रसिद्ध, और अनुभूतार्थक 'तत्' शब्दके साथ 'यत्' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं होती है ।

तत् शब्दके प्रयोगका दूसरा अपवाद—

२. उत्तरवाक्यमें अन्वित [अनुगत] रूपमें पठित 'यत्' शब्द [तत् शब्दकी आक्षेप द्वारा बोध करानेकी] सामर्थ्य होनेसे पूर्ववाक्यमें अनुगत रूपसे 'तत्' शब्दके उपादानकी अपेक्षा नहीं करता है । जैसे—

इन कमलोंने यह अच्छा ही किया कि अपनेसे अधिक सौन्दर्यवाले चन्द्रमाके [उदयपर उसके] सामने बन्द हो गए। परन्तु उसको भी जीत लेनेवाले सुन्दरीके मुखके रहते, उदय होकर उस [चन्द्रमा] ने साहसका [अनुचित] कार्य किया है [यहाँ द्वितीय चरणमें 'यत्' है, प्रथम चरणमें तत् नहीं है] ॥१८८॥

[परन्तु] पहले प्रयुक्त किया हुआ 'यत्' शब्द तो 'तत्' शब्दके प्रयोगके बिना साकांक्ष रहता है । [उसके लिए 'तत्' शब्दका प्रयोग अवश्य होना चाहिये] । जैसे इसी श्लोकमें प्रथम और द्वितीय चरणके क्रम बदल देनेपर [प्रथम चरणमें 'यत्' शब्दका प्रयोग हो जानेपर द्वितीय चरणमें 'तत्' शब्दका प्रयोग अनिवार्य हो जायगा] ।

['यत्' तथा 'तत्' शब्द] दोनोंका ग्रहण होनेपर ['यत्' शब्दकी] निराकांक्षता तो [यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः इस नियमके अनुसार] प्रसिद्ध [ही] है ।

कहीं-कहीं [यत् और तत् दोनोंका] ग्रहण न होनेपर भी सामर्थ्यवश दोनोंका ज्ञान हो जाता है । जैसे—

[मालतीमाधव नाटकके प्रारम्भमें अपनी निन्दा करनेवाले आलोचकोंको लक्ष्यमें रखकर महाकवि भवभूति कह रहे हैं कि–] यहाँ [इस संसारमें अथवा नाट्यरचनाके विषयमें] जो कोई भी हमारी निन्दा या तिरस्कार करते हैं [कि भवभूतिकी

---

१. अत्रैव । २. क्वचिद् । ३. उत्पत्स्यतेऽस्ति ।

अत्र य उत्पत्स्यते तं प्रति, इति ।

एवं च तच्छब्दानुपादानेऽत्र साकांक्षत्वम् । न चासाविति तच्छब्दार्थमाह ।

> असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः ।
> वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः ॥ १९० ॥

अत्र हि न तच्छब्दार्थप्रतीतिः ।

रचना-शैली क्लिष्ट है । उसका बनाया हुआ महावीरचरित किसी कामका नहीं] वे कुछ [अनिर्वचनीय विद्या] जानते होंगे [जिससे वे अपनेको बड़ा भारी विद्वान् समझकर हमारी निन्दा करते हैं, परन्तु वे वस्तुतः मूर्ख हैं, यह व्यंजनासे प्रतीत होता है । अथवा वे कुछ ही जानते हैं इस कारण वे अधिक नहीं समझते यह अर्थ प्रतीत होता है] उनके लिए यह [मालतीमाधवरूप] रचनाका प्रयत्न नहीं किया जा रहा है । [तब आप किसके लिए इसकी रचना कर रहे हैं, इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं कि] इस कालकी कोई सीमा नहीं है, और पृथिवी भी अत्यन्त विस्तृत है, इसलिए [इस विस्तीर्ण पृथिवीके किसी देशमें और इस अनन्तकालमें] कोई मेरे समान धर्मका [मेरे प्रयासको समझनेवाला] उत्पन्न होगा ही ॥ १८९ ॥

यहाँ [पूर्वार्द्धमें 'ये' 'ते' इस रूपमें 'यत्' 'तत्' दोनोंका उपादान होनेसे निराकांक्षता हो जाती है । उत्तरार्द्धमें दोनोंमेंसे किसीका भी उपादान न होनेसे दोनोंका सामर्थ्यवश] जो उत्पन्न होगा, उसके प्रति [यह प्रयत्न है] यह प्रतीति होती है ।

इस प्रकार यत्, तत् शब्दके प्रयोग-सम्बन्धी नियम यहाँतक दिखलाये गये । यह नियम उदाहरण सं० १८४ की विवेचनाके प्रकरणमें प्रसंगतः दिखला दिये हैं । इसलिए अपनी इस विवेचनाको मुख्य विषयसे जोड़ते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि—

इस प्रकार यहाँ ['अपाङ्गसंसर्गि' इत्यादि उदाहरण सं० १८४ में विधेयांशके बोध करानेके लिए] 'तत्' शब्दका उपादान न होनेसे 'यत्' शब्दका साकांक्ष है [अतः अविमृष्टविधेयांश दोष हो जाता है] । यदि यह कहा जाय कि यहाँ 'तत्' शब्दके अर्थमें अदस्के 'असौ' पदका प्रयोग तो है, उसीसे यत् शब्दकी आकांक्षाकी निवृत्ति हो जानी चाहिये । इसका निराकरण करते हैं कि] यहाँ 'असौ' यह शब्द भी 'तत्' शब्दके अर्थका बोधक नहीं है । क्योंकि—

वायु जिसके सुन्दर केसरों [वसन्तपक्षमें मौलश्रीके वृक्षों तथा हनुमान् पक्षमें उनके बालों] का चुम्बन [स्पर्श] कर रहा है, उज्ज्वल चन्द्रमण्डल जिस [वसन्त] का नायक है [हनुमान् पक्षमें प्रसन्न जो ताराके पति सुग्रीव उनके मण्डल-दलके नेता] और वियुक्त [रामा] अर्थात् वियोगिनी स्त्रियों [हनुमान् पक्षमें वियोगी राम] के द्वारा कातर दृष्टिसे देखे जानेवाले हनुमान्‌के समान यह वसन्त आ गया है ॥१९०॥

यहाँ [प्रयुक्त हुए प्रत्यक्षबोधक 'असौ' शब्दसे परोक्षबोधक] 'तत्' शब्दके अर्थकी प्रतीति नहीं होती है ।

यह श्लोक हनुमन्नाटकके षष्ठ अंकमें पाया जाता है, परन्तु यह उन्हींका बनाया हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि हनुमन्नाटकमें बहुतसे पद्य अन्य कवियोंके भी नाटककारने अपने नाटकमें समाविष्ट कर लिये हैं । जैसे शाकुन्तला नाटकके प्रथम अंकमें आया हुआ 'ग्रीवाभङ्गा-

प्रतीतौ वा—

करवालकरालदोःसहायो युधि योऽसौ विजयार्जुनैकमल्लः ।

यदि भूपतिना स तत्र कार्ये विनियुज्येत ततः कृतं कृतं स्यात् ॥ १९१ ॥

अत्र स इत्यस्यानर्थक्यं स्यात् ।

अथ—

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश ! निखिलं भवद्वपुः ।

आत्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम् ॥ १९२ ॥

इति इदंशब्दवद् अदः शब्दस्तच्छब्दार्थमभिधत्ते इति उच्यते, तर्ह्यत्रैव वाक्यान्तरे उपादानमर्हति न तत्रैव । यच्छब्दस्य हि निकटे स्थितस्तच्छब्दः प्रसिद्धिं परामृशति । यथा—

भिरामं' आदि पद्य हनुमन्नाटकके चतुर्थ अंकमें पाया जाता है। बालरामायणके षष्ठ अंकका 'सद्यः पुरीपरिसरे' इत्यादि तथा अनर्घराघवके तृतीय अंकका 'समन्तादुत्तालैः सुरसहचरी' इत्यादि पद्य हनुमन्नाटकमें पाये जाते हैं।

'तत्' शब्दके पर्याय रूपमें 'असौ' पदका प्रयोग नहीं हो सकता है। इसके दिखलानेके लिए पहला उदाहरण 'असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः' आदि [१९०] अभी दिया था। उसमें प्रयुक्त 'असौ' पद ग्रन्थकारके मतसे 'तत्' शब्दके अर्थका वाचक नहीं हो सकता है। यदि कोई यह कहे कि वहाँ भी 'असौ' पद 'तत्' शब्दके अर्थका वाचक हो सकता है, तो उसके निराकरणके लिए आगे और युक्ति देते हैं कि—

अथवा ['असौ' शब्दसे 'तत्' शब्दके अर्थकी] प्रतीति माननेपर—

जो यह [कर्ण] तलवारसे युक्त भयंकर भुजाओंकी सहायतासे युद्धमें विजय प्राप्त करनेमें अर्जुनका अद्वितीय प्रतिद्वन्द्वी है, उसको यदि राजा [दुर्योधन सेनापतिके] कार्यपर नियुक्त कर दें, तो सब काम हो जाय ॥१९१॥

यहाँ [योऽसौ रूपसे अव्यवधानसे 'असौ' का प्रयोग होनेपर] 'सः' इसका प्रयोग अनर्थक हो जायगा। [इसलिए यत्के साथ अव्यवधानसे प्रयुक्त 'असौ' पद 'तत्' शब्दके अर्थका वाचक नहीं होता है]।

और यदि [यह कहा जाय कि]—

हे परमात्मन् [जो पुरुष] इस समस्त पदार्थ-समूह [प्रमेयमात्र] को निःसन्देह [अविकल्पं] रूपसे आपका शरीर [आपसे अभिन्न] समझता है, नित्य आनन्दस्वरूप [अद्वैतका साक्षात्कार करनेवाले] उसके लिए आत्मरूपसे परिपूर्ण संसारमें किसका भय हो सकता है? [अर्थात् उसे किसीसे भय नहीं होता है] ॥१९२॥

इसमें प्रयुक्त 'इदं' शब्दके समान 'अदस्' शब्द भी 'तत्' शब्दके अर्थका वाचक हो सकता है [यह कहा जाय] तो, यहाँके समान भिन्न वाक्यमें उसका प्रयोग होना चाहिये [यत् शब्दसे अव्यवहित रूपमें] वहीं [उसी वाक्यमें] नहीं। [क्योंकि] यत् शब्दके समीपमें [अव्यवहितरूपसे] स्थित ['इदम्', 'अदस्', 'एतद्' आदि शब्द] प्रसिद्धिके बोधक होते हैं [विधेयभागके बोधक नहीं होते हैं] जैसे—

यत्तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः ।
दीव्यताऽक्षैस्तदाऽनेन नूनं तदपि हारितम् ॥ १९३ ॥

इत्यत्र तच्छब्दः ॥

ननु कथं—

कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्त्ते !
धुर्यां लक्ष्मीमथ मयि भृशं धेहि देव ! प्रसीद ।
यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ ! नम्रस्य तन्मे
भद्रं भद्रं वितर भगवन् ! भूयसे मङ्गलाय ॥ १९४ ॥

अत्र यद्यदित्युक्त्वा तन्मे इत्युक्तम् ?

उच्यते यद्यदिति येन केनचिद्रूपेण स्थितं सर्वात्मकं वस्त्वाक्षिप्तम् । तथाभूतमेव तच्छब्देन परामृश्यते ।

[वेणीसंहारमें युधिष्ठिरकी निन्दा करते हुए भीमसेन सहदेवसे कह रहे हैं कि—] इस राजा [युधिष्ठिर] का जो अत्यन्त उग्र और व्यापक [ऊर्जित] क्षात्र तेज था, उस समय जुआ खेलते हुए यह उसको भी हार गया ॥१९३॥

यहाँ ['यत् तदूर्जितं' इस रूपमें यत्‌के साथ अव्यवहित रूपमें पठित] तत् शब्द [केवल प्रसिद्धिमात्रका परामर्शक है]।

कमलाकर भट्टने लिखा है, कि यह श्लोक किरातार्जुनीयमें इन्द्रके प्रति अर्जुनका वाक्य है, परन्तु यह ठीक नहीं है । यह किरातका नहीं, वेणीसंहारका ही श्लोक है ।

अगला श्लोक महावीरचरित नाटकके प्रथम अंकसे उद्धृत किया गया है । उसमें सूत्रधार सूर्यकी स्तुति कर रहा है । श्लोकके तृतीय चरणके आरम्भमें 'यद्यत् पापं' इस रूपमें एक साथ दो बार यत् शब्दका प्रयोग हुआ है, परन्तु उसी चरणके अन्तमें 'तन्मे' यहाँ तत् शब्दका एक ही बार प्रयोग हुआ है । इसपर यह शंका हो सकती है कि दो बार प्रयुक्त यत् शब्दोंकी आकांक्षा-निवृत्तिके लिए 'तत्' शब्दका प्रयोग भी दो बार करना चाहिये था । इसका समाधान ग्रन्थकार यह करते हैं कि वहाँ 'यद्यत्' शब्दोंसे समष्टिरूपसे समस्त पापोंका एक साथ ग्रहण किया गया है, इसलिए एक ही तत् शब्दसे उसकी निवृत्ति हो सकती है । यही बात प्रश्नोत्तरके रूपमें कहते हैं—

प्रश्न—तो फिर,

हे विश्वमूर्ते, आप अनन्त कल्याणोंके निधान हैं । हे देव, कृपा करके [इस अभिनयके प्रारम्भमें इसको सफल बनानेकी] सर्वश्रेष्ठ सामर्थ्य या सम्पत्ति मुझे प्रदान करें । हे जगन्नाथ, मेरे जो-जो पाप [अभिनयकी सफलताके विरोधी बाधाएँ] हैं, उन सबको दूर करें, मुझ विनीतको । [नाटककी सम्पूर्ण सफलतारूप] प्रचुर मंगलके लिए शुभ-शुभ प्रदान करें ॥१९४॥

इसमें 'यद्यत्' [दो बार यत्] कहकर 'तन्मे' [एक ही बार तत् कैसे] कहा है ?

उत्तर—कहते हैं, कि 'यद्यत्' इससे जिस किसी रूपमें स्थित सम्पूर्ण वस्तुप्रतीति होती है । और उसी प्रकारकी [समष्टि] तत् शब्दसे गृहीत होती है ।

यथा वा—

किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
मात्रा स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा ।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥ १९५ ॥

अत्रार्यस्येति तातस्येति च वाच्यं, न त्वनयोः समासे गुणीभावः कार्यः । एवं समासान्तरेष्वप्युदाहार्यम् ॥

विरुद्धमतिकृद्यथा—

श्रितक्षमा रक्तभुवः शिवालिङ्गितमूर्तयः ।
विग्रहक्षपणेनाद्य शेरते ते गतासुखाः ॥ १९६ ॥

अत्र क्षमादिगुणयुक्ताः सुखमासते इति विवक्षिते हता इति विरुद्धा प्रतीतिः ।

इस प्रकार यहाँतक समासगत अविमृष्टविधेयांशका विचार करनेके बाद अब समासमें ही वाक्यगत अर्थात् अनेक समस्त पदोंमें स्थित अविमृष्टविधेयांश दोषका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

अथवा [विधेयांशका समासमें डाल देनेसे अविमृष्टविधेयांश] जैसे—

[रामके वनवासकी आज्ञा दिये जानेके विषयमें सोचते हुए लक्ष्मण अपने मनमें यह तर्क-वितर्क कर रहे हैं कि] क्या [विनयी और रामके प्रति भक्ति रखनेवाला] वह भरत [राज्यके] लोभमें पड़ गया है, जिससे [रामके वनवासरूप] यह कार्य माता कैकेयीके द्वारा] किया [करवाया] गया । अथवा क्या मेरी मँझली माता [कैकेयी] ही स्त्रीकी [स्वाभाविक] क्षुद्रतापर पहुँच गयी [और उसने स्वयं यह कार्य किया] । [इन दो शंकाओंके बाद लक्ष्मणके मनमें स्वयं दूसरा विकल्प आता है कि] नहीं मेरी सोची हुई ये दोनों बातें मिथ्या हैं, क्योंकि मेरे बड़े भाई [गुरु भरत], आर्य [रामचन्द्र] के अनुज ठहरे [वे ऐसा कार्य नहीं कर सकते हैं] और माताजी [दशरथ सरीखे मेरे] पिताकी पत्नी हैं [वे भी ऐसा अनुचित कार्य नहीं कर सकतीं । इसलिए मैं समझता हूँ कि यह [अनुचित कार्य इन लोगोंने नहीं अपितु] विधाताने ही किया है ॥१९५॥

यहाँ [आर्यानुजके स्थानपर] आर्यस्य [अनुजः] यह और [तातकलत्रंके स्थानपर] तातस्य [कलत्रं] यह कहना चाहिये था । इनको समासमें रखकर गुणीभाव नहीं करना चाहिये था । इसी प्रकार और समासोंमें भी उदाहरण देख लेने चाहिये ।

[वाक्यगत] विरुद्धमतिकृत् [का उदाहरण] जैसे—

[शान्तिपूर्ण सामनीतिका आश्रय लेनेवाले राजाओंका वर्णन करते हुए कवि कह रहा है कि] क्षमाका आश्रय लेनेवाले जिनपर सारी प्रजा [भू] अनुरक्त है [प्रेम करती है] कल्याणसे परिवेष्टित वे राजा युद्धका परित्याग कर देनेसे [सब दुःखोंसे मुक्त होकर] निश्चिन्त सोते हैं ॥१९६॥

यहाँ क्षमा आदि गुणोंसे युक्त राजा सुखसे रहते हैं यह [बात कवि] कहना चाहता है परन्तु उससे [श्रितक्षमाः पृथिवीपर पड़े हुए, जिन्होंने शरीरसे निकलते

पदैकदेशे यथासम्भवं क्रमेणोदाहरणम्—

अलमतिचपलत्वात्स्वात्स्वप्नमायोपमत्वात्
परिणतिविरसत्वात्संगमेनाङ्गनायाः ।
इति यदि शतकृत्वस्तत्त्वमालोचयाम-
स्तदपि न हरिणाक्षीं विस्मरत्यन्तरात्मा ॥ १९७ ॥

अत्र त्वादिति ।

यथा वा—

तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरलभ्य एव ।
अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यै बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥ १९८ ॥

अत्र द्ध्यै ब्ध्यै इति कटु ।

हुए रक्तसे भूमि रँग दी है, शिवा अर्थात् शृगाली जिनके शरीरको खा रही है, इस प्रकारके वे राजा विग्रह अर्थात् युद्धमें मारे जानेके कारण सब दुःखोंसे मुक्त होकर सो रहे हैं इस अर्थकी प्रतीतिके कारण] मार गये यह विरुद्धप्रतीति होती है।

इस प्रकार पदगत तथा वाक्यगत रूपमें पूर्वोक्त दोषोंके उदाहरण देनेके बाद जैसा कि सूत्र ७४में 'पदस्यांशेऽपि केचन' कहा था, उनमेंसे जो कोई दोष पदके 'अंश'में हो सकते हैं, उनके उदाहरण देनेके लिए अगले प्रकरणका आरम्भ करते हैं।

पदांशदोष, १ श्रुतिकटु—

पदके एक देशमें [होनेवाले दोषोंके] यथासम्भव उदाहरण क्रमसे [देते हैं]—

अत्यन्त अस्थिर, स्वप्न और मायाके समान [क्षणिक भ्रान्तिरूप] होनेके कारण, और अन्तमें नीरस [दुःखदायक] होनेके कारण स्त्रीका संग नहीं करना चाहिये। इस प्रकार यदि सौ बार तत्त्वका विचार करें, तो भी अन्तरात्मा उस हरिणाक्षीको भूल नहीं पाती है ॥१९७॥

यहाँ [अनेक बार प्रयुक्त हुआ पंचमीका] 'त्वात्' यह [पदांश श्रुतिकटु है]

अथवा [पदांशगत श्रुतिकटुका दूसरा उदाहरण देते हैं] जैसे—

[कुमारसम्भवके तृतीय सर्गमें कामदेवके प्रति इन्द्रका कथन है कि] इसलिए तुम जाओ, तुमको अपने कार्यमें सफलता प्राप्त हो, और देवताओंका [तारकासुरको मारनेके लिए शिवके पुत्रकी प्राप्तिरूप] कार्य करो। यह [शिवके पुत्रकी प्राप्तिरूप] कार्य [शिव और पार्वतीके विवाहरूप] दूसरे कार्यके होनेपर ही हो सकता है। इसलिए हे कामदेव! जैसे बीजसे उत्पन्न होनेवाला अंकुर निकलनेसे पहिले [कारणभूत] जलकी अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार [शिवके पुत्रके प्राप्तिरूप] यह कार्य भी अपनी सिद्धि [लब्धि] के कारण [शिवपार्वतीके विवाहकी] अपेक्षा करता है। [उसके बिना नहीं हो सकता है। इसलिए तुम शिवका पार्वतीसे विवाह करानेका प्रयत्न करो ॥१९८॥

यहाँ [सिद्ध्यैका] 'द्ध्यै' और [लब्ध्यैका] 'ब्ध्यै' यह [दोनों पदांश] श्रुतिकटु है।

अश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ १९९ ॥

अत्र मत्ताशब्दः क्षीवार्थे निहतार्थः ॥

आदावञ्जनपुञ्जलिप्तवपुषां श्वासानिलोल्लासित-
प्रोत्सर्पद्विरहानलेन च ततः सन्तापितानां दृशाम् ।
सम्प्रत्येव निषेकमश्रुपयसा देवस्य चेतोभुवो
भल्लीनामिव पानकर्म कुरुते कामं कुरङ्गेक्षणा ॥ २०० ॥

अत्र दृशामिति बहुवचनं निरर्थकम् । कुरङ्गेक्षणाया एकस्या एवोपादानात् ।

---

२. पदांशगत निहतार्थ—

पदांशगत श्रुतिकटु दोषका उदाहरण देकर आगे पदांशगत निहतार्थका उदाहरण देते हैं। कुमारसम्भवके प्रथम सर्गमें हिमालयका वर्णन करते हुए कवि कह रहा है कि—हिमालय पर्वतके किन्हीं भागोंमें धातु अर्थात् गैरिकका आधिक्य है। वहाँ गेरुकी लाल कान्ति जब आकाशमें मेघोंपर पड़ती है, तो वे मेघ सन्ध्याकालीन मेघोंके समान लाल-लाल हो जाते हैं। इन लाल मेघोंको देखकर अप्सराओंको सन्ध्याकाल हो जानेका भ्रम हो जाता है, और वे सन्ध्याकाल हुआ समझकर सन्ध्याकालके समय धारण किये जानेवाले आभूषण आदिको धारण करने लगती हैं। इस प्रकार हिमालयकी धातुमत्ता अकालसन्ध्याके समान अप्सराओंकी प्रसाधनविधिकी सम्पादिका है।

जो [हिमालय] मेघों [बलाहक] के खण्डोंमें अप्सराओंकी प्रसाधनविधिको सम्पादन करानेवाली लालिमाका आधान करके अप्सराओंकी प्रसाधनविधिका सम्पादन करानेवाली अकालसन्ध्याके समान [गैरिक आदि] धातुमत्ताको अपने शिखरोंपर धारण करता है ॥१९९॥

यहाँ मत्ता [रूप पदका एक देश] उन्मत्त [क्षीव] अर्थमें [प्रसिद्ध है। यहाँ मतुप् प्रत्ययके अर्थमें पठित है। यह पदैकदेश] निहतार्थ है।

३. पदांशगत निरर्थकत्व—

इस प्रकार पदके एक देशमें निहतार्थका उदाहरण देकर पदैकदेशमें निरर्थकत्वका उदाहरण देते हैं। इसमें सुन्दरियोंकी आँखोंको कामदेवका भाला मानकर उनके पानकर्मका वर्णन किया गया है। भाले आदिको तेज करनेके लिए पहले उसमें मिट्टी लपेटकर अग्निमें तपाया जाता है, और उसको पानीमें बुझाया जाता है। यही प्रक्रिया कामदेवकी भल्ली [भाला] रूप सुन्दरियोंके नेत्रोंमें की जा रही है। सुन्दरियाँ आँखोंमें जो अञ्जन लगाती हैं, वही भल्लियोंका पंकलेपन हुआ, फिर विरहानलमें उनको सन्तप्त करके अश्रुजलमें बुझाया जाता है। इसीको कवि कहता है, कि—

सबसे पहिले अञ्जनपुञ्जसे भली प्रकार लेप करके, निःश्वासवायुसे प्रज्वलित किये हुए विरहानलसे तपाये नेत्रोंको कामदेवकी भल्लियोंके पानकर्ममें बुझानेके समान मृगनयनी तुरन्त ही आँसुओंके जलमें बुझाती हैं ॥२००॥

यहाँ 'दृशां' यह बहुवचन निरर्थक है। क्योंकि एक ही कुरंगेक्षणाका ग्रहण [वाक्यमें] होनेसे [दृशां यह बहुवचन निरर्थक है]।

न च—

अलसवलितैः प्रेमार्द्रार्द्रैर्मुहुर्मुकुलीकृतैः
क्षणमभिमुखैर्लज्जालोलैर्निमेषपराङ्मुखैः ।
हृदयनिहितं भावाकूतं वमद्भिरिवेक्षणैः,
कथय सुकृती कोऽयं मुग्धे त्वयाद्य विलोक्यते ॥२०१॥

इत्यादिवद् व्यापारभेदाद्बहुत्वम् , व्यापाराणामनुपात्तत्वात् । न च व्यापारेऽत्र दृक्शब्दो वर्त्तते ।

अत्रैव 'कुरुते' इत्यात्मनेपदमप्यनर्थकम् । प्रधानक्रियाफलस्य कर्त्रसम्बन्धे कर्त्रभिप्रायक्रियाफलाभावात् ।

और न—

हे मुग्धे ! यह तो बतलाओ कि अलसाये हुए, प्रेमसे परिपूर्ण, कुछ मिचे हुए, तनिक देरको सामने आये और फिर लज्जाके कारण चंचल हुए, हृदयके भीतरके छिपे हुए भावको व्यक्त करते हुए एवं अपलक नेत्रोंसे तुम आज किस सौभाग्यशालीको देख रही हो ॥२०१॥

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे 'अलसवलितैः' इत्यादि इस श्लोकमें एक ही नायिकाका वर्णन होनेपर भी 'ईक्षणैः' यह बहुवचनका प्रयोग उसके नेत्रोंके लिए किया गया है, और उसमें कोई दोष नहीं होता है, इसी प्रकार 'आदावञ्जनपुञ्जलिप्तवपुषां' आदि श्लोक सं० २०० में भी एक ही कुरङ्गेक्षणाका वर्णन होनेपर भी 'दृशाम्' यह बहुवचनका प्रयोग अनुचित या निरर्थक नहीं है। यह पूर्वपक्षीका भाव है। इसका उत्तर ग्रन्थकारने यह किया है कि 'अलसवलितैः' इत्यादि उदाहरण २०१ में जो एक ही नायिकाके नेत्रोंके लिए बहुवचनका प्रयोग किया है वह उन नेत्रोंके विविध व्यापारोंके आधारपर किया गया है। परन्तु उदाहरणसं २०० से इस प्रकार अनेक व्यापारोंको प्रदर्शित नहीं किया गया है अतः वहाँ बहुवचनका प्रयोग निरर्थक ही है।

इत्यादिके समान व्यापारभेदके कारण बहुवचन हुआ है। यह भी, व्यापारोंका ग्रहण होनेसे नहीं कहा जा सकता है। और न दृक् शब्द यहाँ व्यापार अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

और इसी [उदाहरण २००] में "कुरुते" यह आत्मनेपद भी निरर्थक है [उभयपदी कृ धातुका आत्मनेपदमें वहीं प्रयोग करना चाहिये, जहाँ प्रधान क्रियाका फल कर्त्तामें रहता हो। यह बात 'स्वरितेञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' ३-३-७३ इस सूत्रमें कही गयी है। यहाँ कामदेवके जगद्विजयरूप कार्यके] कर्त्तासे असम्बद्ध होनेपर, क्रियाफलके कर्त्रभिप्रायमें न होनेसे [आत्मनेपदका प्रयोग भी निरर्थक ही है]।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'स्वरितेञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' १-३-७२ इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार उभयपदी धातुओंमें क्रियाफलके कर्तृगामी होनेपर आत्मनेपदका प्रयोग करना चाहिये, और उससे भिन्न अवस्थामें अर्थात् क्रियाफल जहाँ कर्तृ-गामी न हो वहाँ परस्मैपदका प्रयोग करना चाहिये। 'जैसे यजमानो यजते' यहाँ यजनक्रियाका फल स्वर्गप्राप्तिरूप है, वह कर्तृगतत्वेन इष्ट होनेसे यहाँ आत्मनेपद होता है। परन्तु 'ऋत्विजो यजन्ति' यहाँ स्वर्गरूप मुख्य फल कर्ता अर्थात्

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्त्तिकेयो विजेयः
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः ।
अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥ २०२ ॥

अत्र विजेय इति कृत्यप्रत्ययः क्तप्रत्यार्थेऽवाचकः ।

अतिपेलवमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः ।
परमार्थतः स हृदयं वहति पुनः कालकूटघटितमिव ॥ २०३ ॥

अत्र पेलवशब्दः

ऋत्विक्‌में नहीं अपितु यजमानमें अभीष्ट होता है, इसलिए यहाँ 'यजन्ति' इस परस्मैपदका ही प्रयोग किया जाता है । यद्यपि यज्ञ करानेसे ऋत्विजोंको भी दक्षिणारूप फलकी प्राप्ति होती है, परन्तु वह मुख्य फल नहीं है । अतएव उसके होनेपर भी स्वर्गप्राप्तिरूप मुख्य फलके यजमानगत होनेसे यहाँ परस्मैपद ही होता है । इसी प्रकार प्रकृत उदाहरणमें नेत्रोंके वर्णित पान-कर्मसे होनेवाला कामदेवका जगद्विजय-रूप फल कर्तृ-निष्ठ न होनेसे उसमें आत्मनेपदका प्रयोग निरर्थक है ।

४. पदांशगत अवाचकत्व दोष—

[आगे पदके एक देशमें अवाचकत्व दोषका उदाहरण देते हैं—राजशेखरकृत बालरामायण नाटकके द्वितीय अंकमें परशुरामके प्रति रावणकी यह उक्ति है]—

त्रिपुरविजयी [शिवजी] तुम्हारे धनुर्विद्याके आचार्य हैं, तुमने [इस विद्यामें शिवजीके पुत्र] कार्त्तिकेयको [भी] जीत लिया है । अपने शस्त्रसे खाली किया [फेंका] हुआ समुद्र तुम्हारा घर है । और यह भूमि [क्षत्रियोंका नाशकर काश्यप ब्राह्मणको दी तुम्हारे द्वारा दी हुई] भिक्षारूप है । यह सब कुछ ठीक है [उससे तुम्हारा गौरव प्रतीत होता है] फिर भी [अपनी माता] रेणुकाका गला काटनेवाले तुम्हारे फरसेकी बराबरी करनेमें मेरी तलवार लज्जित होती है ॥२०२॥

यहाँ [विजेय इस पदमें यत् रूप] कृत्य प्रत्यय, क्त प्रत्यय [विजितः प्रयोग]के अर्थमें अवाचक है ।

ग्रासप्रमाणा भिक्षा स्यात् अग्रं ग्रासचतुष्टयम् ।
अग्रं चतुर्गुणं प्राहुर्हन्तकारं द्विजोत्तमाः ।

'भिक्षा'का परिमाण एक ग्रासका होता है । चार ग्रासवाली भिक्षाको 'अग्र' कहते हैं । और चार 'अग्र' अर्थात् १६ ग्रासकी भिक्षाका नाम 'हन्तकार' है । यह 'हन्ताकार'की व्याख्या मार्कण्डेय पुराणमें की गयी है ।

५. पदांशगत अश्लीलता—

दुष्ट पुरुष अत्यन्त कोमल 'संक्षिप्त' और बहुत धीरे-धीरे बोलता है, परन्तु वस्तुतः उसका हृदय कालकूट विषसे भरा हुआ-सा होता है ॥२०३॥

यहाँ [पेलव शब्दका एकदेश] पेल शब्द [लाट देशकी भाषामें वृषण अण्डकोष-रूप गुह्यांगका वाचक होनेसे व्रीडाव्यंजक अश्लीलताका उदाहरण है] ।

य: पूयते सुरसरिन्मुखतीर्थ सार्थ-
स्नानेन शास्त्रपरिशीलनकीलनेन ।
सौजन्यमान्यजनि रूर्जितमूर्जितानां
सोऽयं दृशोः पतति कस्यचिदेव पुंसः ॥२०६॥

अत्र पूय शब्दः ।

विनयप्रणयैककेतनं सततं योऽभवदङ्ग ! तादृशः ।
कथमद्य स तद्वदीक्ष्यतां तदभिप्रेतपदं समागतः ॥ २०५ ॥

अत्र प्रेतशब्दः ॥

कस्मिन्कर्मणि सामर्थ्यममस्य नोत्तपतेतराम् ।
अयं साधुचरस्तस्मादञ्जलिर्बध्यतामिह ॥ २०५ ॥

अत्र किं पूर्वं साधुः, उत साधुषु चरतीति सन्देहः ।

जो गङ्गोत्री [सुरसरिन्मुख] तीर्थमें स्नानसे, शास्त्रके अध्ययन और दृढीकरणसे पवित्र होता है। सौजन्यके कारण पूज्य धन्य जीवनवाला और बलवानोंसे भी अधिक बलवान् वह [पुरुष] किसी [सौभाग्यशाली] पुरुषके ही दृष्टिगोचर होता है ॥२०४॥

यहाँ 'पूयते' का एक देश—पूय शब्द [मवादका वाचक होनेसे जुगुप्साव्यञ्जक अश्लील है, अतः यह भी पदैकदेशगत अश्लीलताका उदाहरण है]

हे मित्र [अंग, पहिले] जो सदा विनय तथा प्रेमका घर बना रहता था, वह अपने अभिप्रेतपदको पाकर अब उस रूपमें कैसे दिखलाई दे सकता है। [अर्थात् अवस्थाके अनुसार उसमें परिवर्तन हो जाना अनिवार्य है] ॥२०५॥

यहाँ [अभिप्रेत शब्दका एकदेश] प्रेत शब्द [भूत-प्रेत या मृत व्यक्तिका वाचक होनेसे अमंगलव्यञ्जक अश्लीलताका उदाहरण है]।

पदांशगत सन्दिग्धत्व—

इस प्रकार पदांशगत त्रिविध अश्लीलताके तीन उदाहरण देकर अब पदांशगत सन्दिग्धत्वका उदाहरण देते हैं—

ऐसा कौन-सा कार्य है, जिसमें इस पुरुषका सामर्थ्य खूब न चलता हो। यह सज्जनों या साधुओंके साथ रहनेवाला [महापुरुष] है, इसलिए इसको नमस्कार करना चाहिये [इसके आगे हाथ जोड़ना चाहिये] ॥ २०६ ॥

यहाँ [साधु शब्दसे "भूतपूर्व चरट्" इस सूत्रसे चरट् प्रत्यय करके पूर्वभूतः साधुः साधुचरः इस व्युत्पत्तिसे] पहले साधु था, यह अर्थ है, अथवा [साधुषु चरतीति साधुचरः इस व्युत्पत्तिसे] साधुओंमें रहता है, यह अर्थ है, यह सन्देह है [अतः पदांशगत सन्दिग्धत्व दोषका उदाहरण है]।

आगे पदांशगत नेयार्थताका उदाहरण देते हैं। इस उदाहरणमें गीर्वाण अर्थात् देवताके अर्थमें 'वचोबाण' शब्दका प्रयोग किया है। 'वचः' शब्दसे 'गीः' शब्दकी लक्षणा बिना उचित हेतुओंके की गयी है, इसलिए पदांशगत नेयार्थताका उदाहरण हो जाता है।

किमुच्यतेऽस्य भूपालमौलिमालामहामणेः ।
सुदुर्लभं वचोबाणैस्तेजो यस्य विभाव्यते ।। २०७ ।।

अत्र वचःशब्देन गीःशब्दो लक्ष्यते । अत्र खलु न केवलं पूर्वपदं, यावदुत्तरपदमपि पर्यायपरिवर्तनं न क्षमते । जलध्यादावुत्तरपदमेव वडवानलादौ पूर्वपदमेव ।।

यद्यप्यसमर्थस्यैवाप्रयुक्तादयः केचन भेदाः तथाप्यन्यैरलङ्कारिकैर्विभागेन प्रदर्शिता इति, भेदप्रदर्शनेनोदाहर्त्तव्या इति च विभज्योक्ताः ।

[सू० ७५]–प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम् ।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम् ।। ५३ ।।

[वचोबाण—गीर्वाण] देवता भी जिसके तेज [प्रताप] को [अपने लिए] दुष्प्राप्य समझते हैं । राजाओंके मुकुट-मालाओंके महामणिरूप इस [प्रस्तुत] राजाका क्या वर्णन किया जाये ॥ २०६ ॥

यहाँ [वचोबाण प्रयोगमें] 'वचः' शब्दसे 'गीः' शब्द लक्षित होता है । [परन्तु उस लक्षणाके करनेमें रूढि या प्रयोजनमेंसे कोई हेतु नहीं है, अतः यहाँ पदांशगत नेयार्थता दोष है] । यहाँ न केवल पूर्वपद अपितु उत्तरपद भी शब्दपरिवर्त्तनके सहन करने योग्य नहीं है । [अर्थात् गीर्वाणमें 'गीः' और 'वाण' दोनों ही शब्द परिवर्तनको सहन नहीं करते हैं । अर्थात् चाहे उत्तरपद 'वाण'को हटाकर उसके स्थानपर 'शर' रख दिया जाय तो 'गीःशर' पद देवताका वाचक नहीं होगा । इसी प्रकार पूर्वपद 'गीः'को हटाकर उसका वाचक 'वचः' शब्द रख देनेपर 'वचोबाण' शब्द भी देवताका वाचक नहीं हो सकता । इसलिए यहाँ नेयार्थता दोष है] । जलधि आदिमें तो उत्तरपद ही, और वडवानल आदिमें पूर्वपद ही परिवर्तनका असह है । [अर्थात् जलधि आदिमें पूर्वपद बदला जा सकता है, जलधिके स्थानपर उदधि, वारिधि, आदि प्रयोग हो सकते हैं । उत्तरपद नहीं बदला जा सकता है । और वड़वानलमें उत्तरपद बदलकर बड़वाग्नि किया जा सकता है, परन्तु पूर्वपद बदलकर अश्वानल नहीं किया जा सकता हैं] ।

यद्यपि अप्रयुक्त्वादि [आदि पदसे अवाचकत्व, निहतार्थकता और नेयार्थकत्वका ग्रहण करना चाहिये] कुछ दोष असमर्थके ही भेद हैं, परन्तु अन्य अलंकारिकोंने उनको अलग दिखलाया है, इसलिए, और उनका परस्पर भेद दिखलाना चाहिये इसलिए [हमने] भी अलग-अलग करके उनका निरूपण किया है ।

वाक्यगत दोष—

इस प्रकार यहाँतक पद, वाक्य, तथा पदैकदेशमें रहनेवाले १६ सामान्य दोषोंका निरूपण कर चुकनेके बाद आगे केवल वाक्यमें रहनेवाले २० दोषोंका निरूपण प्रारम्भ करते हैं । सबसे पहिले उनका उद्देश अर्थात् नाममात्रसे कथन करते हैं—

[सूत्र ७५] १. प्रतिकूल-वर्णता, २. उपहत-विसर्गता, ३. विसन्धि, ४. हतवृत्तता ५. न्यूनपदता, ६. अधिकपदता, ७. कथितपदता, ८. पतत्प्रकर्षता, ९. समाप्त पुनरात्तता । ५३ ।

अर्थान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम् ।
अपदस्थपदसमासं संकीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम् ॥ ५४ ॥
भग्नप्रक्रममक्रमममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा ।

रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते तद्विपरीतं प्रतिकूलवर्णम् ।

यथा शृङ्गारे—

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम् ।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्त्तिमुद्धर ॥ २०८ ॥

रौद्रे यथा—

१०. अर्थान्तरैक-वाचकता, ११. अभवन्मत-सम्बन्ध १२. अमतयोग, १३. अन-भिहितवाच्यता, १४. अस्थानपदता, १५. अस्थानसमासता, १६. संकीर्णता, १७. गर्भि-तता, १८. प्रसिद्धि-विरोध, २०. भग्न-प्रक्रमता, २१. अमतपरार्थता [ये २१ प्रकारके] वाक्यदोष [अथवा २१ प्रकारके वाक्य ही दूषित] होते हैं ।

१. प्रतिकूलवर्णता—

१. वर्णोंका रसानुगुणत्व [अष्टम उल्लास]में कहा जायगा । उसके विपरीत [अर्थात् जिस रसमें जिन वर्णोंका प्रयोग विहित है, उसके विपरीत वर्णोंका प्रयोग] प्रतिकूल वर्ण [वाक्यदोष] होता है । जैसे शृंगार रसमें—

हे कलकण्ठि ! [दूती अथवा नायिकाकी सखी] प्रबल उत्कण्ठासे कण्ठतक भरे हुए मुझको थोड़ी देरके लिए शंखके समान [उतार-चढ़ाव युक्त] गर्दनवाली [कम्बु-कण्ठी प्रियतमा] के कण्ठालिंगन करनेका अवसर दो,] और [इस प्रकार मेरे गलेमें] अटके हुए प्राणों [कण्ठके क्लेश]को बचाओ ॥ २०७ ॥

शृंगार रसमें श्रुतिकटु होनेसे टवर्गका प्रयोग वर्जित माना गया है, जैसा ८वें उल्लासमें सूत्र ९९वें में अ-टवर्गा इत्यादि दिखलाएँगे । कविने इस श्लोकमें अनेक बार इसका प्रयोग कर दिया है, इसलिए प्रतिकूल वर्णोंके प्रयोगके कारण यह वाक्य दूषित हो गया है ।

रौद्र रसमें [प्रतिकूलवर्णताका उदाहरण] जैसे—

यह श्लोक वेणीसंहार नाटकके तृतीय अङ्कमें आया है । द्रोणाचार्यके शस्त्र डाल देनेके बाद धृष्टद्युम्नने उनके बाल पकड़कर उनका सिर काट डाला । इस समाचारको सुनकर उनका पुत्र अश्वत्थामा क्रोधावेशमें समस्त क्षत्रियोंके नाश करनेकी घोषणा करता है । इसके साथ ही वह इसी प्रकारकी पूर्वघटनाका सम्बन्ध जोड़ देता है । कुरुक्षेत्रके मैदानमें ही कुछ समय पूर्व कार्तवीर्य सहस्रा-र्जुनने परशुरामके पिताके बालोंको पकड़कर उनका अपमान किया था, परशुरामके पिता जामदग्न्य ब्राह्मण थे, और उनका अपमान करनेवाला कार्तवीर्य अर्जुन क्षत्रिय था, इसलिए परशुरामने अपने पिताके इस अपमानका बदला लेनेके लिए समस्त क्षत्रियोंके नाशकी प्रतिज्ञा कर ली और उसको पूर्ण करके ही दम लिया । इस प्रकारकी स्थिति उस समय भी थी । क्षत्रिय धृष्टद्युम्नने ब्राह्मण द्रोणाचार्यका अपमान किया था इसलिए उनका पुत्र अश्वत्थामा पूर्व इतिहासके साथ सादृश्य दिखला कर जो कार्य परशुरामने किया था, उसीकी पुनरावृत्ति करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए कहता है, कि—

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन्ह्रदाः पूरिताः
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः ।
तान्येवाहितहेतिघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः कोपनः ॥ २०९ ॥

अत्र हि विकटवर्णत्वं दीर्घसमासत्वं चोचितम् ।

यथा—

प्रागप्राप्तनिशुम्भशाम्भवधनुर्द्वेधाविधाविर्भव-
त्क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धः क्षणात् ।
उज्ज्वालः परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथि-
र्येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते ॥ २१० ॥

यह [कुरुक्षेत्रका मैदान] वही देश है, जिसमें [परशुराम]ने शत्रुओंके रक्त-रूप जलसे तालाबोंको भर दिया था, और क्षत्रिय द्वारा पिताजीके केशोंका पकड़ा जाना उसी प्रकारका अपमान है [जैसा कि कार्तवीर्य अर्जुनने परशुरामके पिता जामदग्न्यके केश पकड़ कर किया था] और [अपने विरोधमें] शस्त्र उठानेवाले शत्रुको खा जानेवाले [घस्मर] वे ही उत्तम [गुरूणि] शस्त्र मेरे पास हैं। इसलिए [समस्त क्षत्रियोंका विनाशरूप] जो [कार्य उस समय] परशुरामने किया था, उसीको आज क्रुद्ध हुआ द्रोणका पुत्र [मैं या यह अश्वत्थामा] कर [ने जा] रहा है ॥ २०८ ॥

यहाँ [रौद्र रस होनेके कारण उसके अनुरूप] विकट वर्णों तथा दीर्घ समासोंका होना उचित था [परन्तु कविने न तो लम्बे समासोंका ही प्रयोग किया है, और न कठोर वर्णोंका, अतः यहाँ प्रतिकूल-वर्णता दोष है] ।

प्रतिकूलवर्णता का प्रत्युदाहरण—

इस श्लोकके प्रतिकूल-वर्णता दोषके स्पष्टीकरणके लिए ग्रन्थकार प्रत्युदाहरण रूपमें अगला श्लोक उद्धृत करते हैं, जिसमें रौद्र रसके वर्णनमें उसके अनुरूप दीर्घसमास तथा कठोर वर्णोंका प्रयोग किया गया है। यह श्लोक दोषका उदाहरण नहीं है, अपितु रसानुगुण रचनाके कारण रौद्ररसकी रचनाके आदर्शरूपमें प्रत्युदाहरणरूपसे प्रस्तुत किया गया है। श्लोक महावीरचरित नाटकके द्वितीय अंकमें शिवधनुषके तोड़ दिये जानेके बाद क्रुद्ध हुए परशुरामकी रामचन्द्रके प्रति उक्ति है। परशुराम रामचन्द्रसे कह रहे हैं कि—

[अरे क्षत्रियकुमार] जिस [शिवधनुष]को पहले कभी झुकाया [निशुम्भ] भी न जा सका था उसके दो टुकड़े [तेरे द्वारा] कर दिये जानेसे उत्पन्न क्रोधसे भयंकर [मुझ] परशुरामके बलिष्ठ-बाहु [भुज-स्तम्भ] द्वारा चलाया गया, ऐसा जिस [का आधा भाग प्रसन्न होकर शिवजी अपने प्रिय शिष्य इस परशुराम अर्थात् मुझको दे देने]के कारण भगवान् महादेव खण्डपरशु नामसे कहे जाते हैं, आग उगलता हुआ [उज्ज्वालः] वह तीव्र [अशिथिलः] परशु तेरे कण्ठरूप आसनका अतिथि होता है [अर्थात् शीघ्र ही अभी तेरी गर्दनपर बैठता है ॥ २०९ ॥

यत्र तु न क्रोधस्तत्र चतुर्थपादाभिधाने तथैव शब्दप्रयोगः ॥

उपहत उत्वं प्राप्तो लुप्तो वा विसर्गो यत्र तत् । यथा—

धीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र सः ।
यस्य भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभाविताः ॥ २११ ॥

इस श्लोकको ग्रन्थकारने रौद्ररसकी रचनाके आदर्शरूपमें प्रस्तुत किया है। श्लोकके तीन चरणोंकी रचनामें दीर्घ समास तथा विकट वर्णोंका प्रयोग होनेसे उनकी रचना रौद्ररसके अनुरूप कही जा सकती है। परन्तु चतुर्थ चरणकी रचनामें तो वह बात नहीं है, तब इसको रौद्ररसकी रचनाका आदर्श कैसे माना गया है। इस प्रकारकी सम्भावित शंकाको मनमें रखकर उसके समाधानके लिए ग्रन्थकारने अगली पंक्ति लिखी है। उसका अभिप्राय यह है कि श्लोकके तीन चरणोंमें रामचन्द्रके प्रति परशुरामका क्रोधरूप रौद्ररसका स्थायिभाव विद्यमान रहता है इसलिए उनकी रचना इस प्रकार की है। परन्तु चतुर्थ चरणमें परशुरामको अपने गुरु शिवजीका स्मरण हो आया और उससे उनके क्रोधका शमन हो जाता है। इसलिए वहाँ रचनामें उग्रताका न होना दोष नहीं, अपितु उचित ही है। इसी बातको कहते हैं—

और जहाँ [चतुर्थ चरणमें गुरु महादेवके स्मरण हो जानेके कारण] क्रोध [रौद्ररसका स्थायिभाव] नहीं रहता है, वहाँ चतुर्थ पादमें उसी प्रकारके [शिथिल] शब्दोंका प्रयोग [किया गया] है [और वह उचित ही है।]

२. उपहतविसर्गता—

इस प्रकार प्रतिकूलवर्णता दोषका निरूपण करनेके बाद २. उपहतविसर्गताके (क) विसर्गके ओत्व तथा (ख) विसर्ग लोप दोनों भेदोंके एक ही श्लोकमें उदाहरण दिखलाते हैं—

उपहत अर्थात् (क) उत्व [अथवा ओ रूपता]को प्राप्त [विसर्ग], तथा (ख) लोपको प्राप्त विसर्ग [अर्थात्] जहाँ [विसर्गको ओ हो जाता है या जहाँ विसर्गोंका लोप हो जाता है, उपहतविसर्गताके ये दो भेद होते हैं। उन दोनोंके उदाहरण] जैसे—

इस संसारमें [अत्र] वही राजा [धीरः] पण्डित, [विनीतः] सुशिक्षित, चतुर, और सुन्दर है, जिसके सेवक बलका अभिमान करनेवाले [अर्थात् बलवान्] उसके भक्ति और बुद्धिसे प्रभावित हों ॥ २११ ॥

यहाँ श्लोकमें पूर्वार्द्धमें धीरो, विनीतो, निपुणो और नृपो इन चारों पदोंमें विसर्गोंका ओ रूप हो गया है। पहले तीन स्थलोंमें 'हशि च' इस सूत्रसे और अन्तिममें 'अतोरोरप्लुतादप्लुते' इस सूत्रसे विसर्गस्थानीय रु को उ और गुण होकर ओ हो गया है। उत्तरार्द्धमें 'भृत्याः', 'बलोत्सिक्ताः' और 'भक्ताः' इन प्रथमाके बहुवचनके प्रयोगोंके अन्तमें विसर्ग थे, परन्तु उनको 'ससजुषो रुः' ८-२-६६ सूत्रसे रु होकर 'भो भगो अघोऽपूर्वस्य योऽशि' ८-३-१७ सूत्रसे य होकर 'हलि सर्वेषाम्' ८-३-२२ इस सूत्रसे य का लोप हो जाता है। इस प्रकार यहाँ विसर्गोंका लोप और पूर्वार्द्धमें विसर्गोंकी ओत्व करके अनेक बार एक साथ ही प्रयुक्त किया गया है। इसलिए उपहत-विसर्गताके क्रमशः ओत्व-विसर्गता और लुप्त-विसर्गतारूप दोनों भेदोंमें वाक्यदोष होते हैं।

विसन्धि सन्धेर्वैरूप्यम्विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च । तत्राद्यं यथा—

राजन् ! विभान्ति भवतश्चरितानि तानि
इन्दोर्द्युतिं दधति यानि रसातलेऽन्तः ।
धीदोर्बले अतितते उचितानुवृत्ती
आतन्वती विजयसम्पदमेत्य भातः ॥ २१२ ॥

३. विसन्धि—

आगे विसन्धिरूप चतुर्थ वाक्यदोषका निरूपण करते हैं । जहाँ सन्धि होनी चाहिये वहाँ सन्धि न होना विसन्धिदोष कहलाता है । सन्धिस्थलमें सन्धि न करनेके तीन कारण हो सकते हैं । उनमें पहिला कारण तो वाक्यमें सन्धिको नित्य न मानकर वक्ताकी इच्छा विवक्षाके आधीन माना जाना है ।

संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु, सा विवक्षामपेक्षते ॥

इस नियमके अनुसार वाक्यमें सन्धि करना, या न करना वक्ताकी इच्छाके अधीन होनेसे सन्धि न की जाय यह सन्धि न करनेका कारण हो सकता है । दूसरे दो भेद शास्त्रीय नियमसे प्राप्त होते हैं । एक तो वह जहाँ प्रगृह्य संज्ञा हो जानेके कारण सन्धि नहीं होता है । दूसरे वे स्थल जहाँ विसर्गोंका लोप आदि होनेके बाद गुण आदि रूप सन्धि प्राप्त होता है, परन्तु इसके प्राप्त होनेपर लोप आदि असिद्ध हो जाता है । इनमेंसे विवक्षाधीन विसन्धि तथा प्रगृह्यसंज्ञा निमित्तक विसन्धि इन दो भेदोंका एक सम्मिलित उदाहरण और असिद्धिहेतुक विसन्धिका एक अलग उदाहरण ग्रन्थकारने प्रस्तुत किया है—

इसके अतिरिक्त वाक्यमें अश्लीलताका आ जाना और संधि होकर क्लिष्ट रूप बन जाना यह दोनों भी विसन्धिदोषके ही भेद हैं । इस प्रकार विसन्धि अर्थात् सन्धिवैरूप्यके भेदोंका निरूपण आगे करते हैं—

विसन्धि [अर्थात् संधिवैरूप्य तीन प्रकारका होता है, एक सन्धिका] विश्लेष, अश्लीलता और कष्टता । उनमेंसे पहिला [अर्थात् संधि विश्लेष भी तीन प्रकारका होता है । उनमेंसे विवक्षाधीन तथा प्रगृह्यसंज्ञा निमित्तक दो प्रकारका संधि-विश्लेषका एक ही उदाहरण आगे दिखलाते हैं] जैसे—

हे राजन् ! आपके वे [लोकोत्तर] चरित्र जो रसातल [के गहन अन्धकार]में भी चन्द्रमाके समान [प्रकाशमान] कान्तिको धारण करते हैं, अत्यन्त शोभित होते हैं । और आपके अत्यन्त प्रसिद्ध एवं उचित कार्यमें लगे बुद्धि-बल तथा बाहुबल, दोनों विजयसम्पत्तिका विस्तार करते हुए अत्यन्त शोभित हो रहे हैं ॥ २११ ॥

इस श्लोकमें प्रथम और द्वितीय चरणके बीचमें 'तानि इन्दोः'में 'अकः सवर्णे दीर्घः' इस सूत्रसे प्राप्त होनेवाला दीर्घ, कविने विवक्षाधीन मानकर नहीं किया है । परन्तु इस सन्धिके न करनेके कारण कविकी अशक्ति सूचित होती है । कविको यहाँ इस प्रकारके पदोंका प्रयोग करना चाहिये था, जिनमें प्राप्त सन्धिको करनेमें उसको कोई कठिनाई न होती । परन्तु उसको इस प्रकारके पद न मिल सके । जो पद मिले हैं, उनमें प्राप्त सन्धि यदि कर दी जाय तो छन्दोभंग हो जाता है, इसलिए उसने उनमें प्राप्त सन्धि नहीं किया है । इस स्थितिमें सन्धि न करनेका कारण कविकी अशक्ति ही है । अतएव इस प्रकारकी संधिको विवक्षाधीन मानकर काव्यमें यदि एक बार भी सन्धिविश्लेष किया जाय, तो वह कविकी अशक्तिका सूचक होनेसे दोष हो जात

यथा वा—

तत उदित उदारहारहारिद्युतिरुच्चैरुदयाचलादिवेन्दुः ।
निजवंश उदात्तकान्तकान्तिर्वत मुक्तामणिवच्चकास्त्यनर्घः ॥ २१३ ॥

संहितां न करोमीति स्वेच्छया सकृदपि दोषः । प्रगृह्यादिहेतुकत्वे त्वसकृत् ॥

वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः ।
अयमुत्तपते पत्री ततोऽत्रैव रुचिङ्कुरु ॥ २१४ ॥

अत्र सन्धावश्लीलता ॥

श्लोकके उत्तरार्धमें, 'धीदोर्बले'+'अतितते' के बीच तथा 'अतितते' और 'उचितानुवृत्ती'के बीच "एचोऽयवायावः" सूत्रसे प्राप्त अयादेश एवं 'उचितानुवृत्ती', 'आतन्वती'के बीच "इकोयणचि" सूत्रसे प्राप्त यणादेशरूप सन्धि, तीनों स्थलोंपर "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" इस सूत्रसे प्रगृह्यसंज्ञा और उसके परिणामरूप प्रकृतिवद्भाव हो जानेके कारण नहीं होती है। यह प्रगृह्यसंज्ञा निमित्तक सन्धि विश्लेष यहाँ इकट्ठा तीन बार आ पड़ा है। इसलिए कविकी अशक्तिका सूचक होनेसे दोष है।

तीसरे प्रकारके असिद्धिमूलक संधिविश्लेषका उदाहरण अगला श्लोक दिया है। उस श्लोकमें 'ततः'+'उदित'के बीच 'उदितः'+'उदात्त'के बीच, तथा उत्तरार्द्धमें 'निजवंशे+उदात्त'के बीचके विसर्ग तथा 'ए' का लोप हो जानेके बाद जो रूप प्रयुक्त हुए हैं, उनमें तीनों जगह "आद्गुणः" इस सूत्रसे गुण प्राप्त है, परन्तु इस गुणके प्रति "पूर्वत्रासिद्धम्" से लोपके असिद्ध हो जानेसे गुण नहीं होता है। इस असिद्धि-मूलक सन्धिविश्लेषके एक ही श्लोकमें तीन बार आ जानेसे दोष है।

[पतिम्वरा कन्याके प्रति सखि कह रही है कि] अत्युन्नत उदयाचलसे उदय हुए विशुद्ध मुक्ताहार-सदृशी मनोहारिणी कान्तिसे युक्त चन्द्रमाके समान, उसी राजवंश-से उत्पन्न हुआ अत्यन्त चमकते हुए मुक्ताहार [धारण करनेके कारण] से मनोहर कान्तिवाला अत्युत्तम एवं आकर्षक सौन्दर्यसे युक्त यह राजा उत्तम बाँस से उत्पन्न बहुमूल्य मणिके समान शोभित हो रहा है। ॥२१३॥

अपनी इच्छासे सन्धि न करूँ 'इस' दृष्टिसे एक बार [का किया हुआ सन्धि-विश्लेष] भी दोष है। प्रगृह्यादि [अर्थात् प्रगृह्य संज्ञा निमित्तक अथवा असिद्धिमूलक संधिविश्लेषण] तो अनेक बार होनेपर दोष होता है।

अश्लीलताजन्य विसन्धि-दोष—

इस प्रकार तीन तरहके सन्धिविश्लेषके उदाहरण देकर अब विसन्धिदोषके दूसरे भेद सन्धि-की अश्लीलताका उदाहरण देते हैं—

वेगसे आकाशमें उड़कर भयंकर चेष्टासे चलता हुआ यह बाज [श्येनाख्यो विहगः पतत्री इति शाश्वतः] उत्तप्त हो रहा है। [इससे इस कुञ्जमें नायककी उपस्थिति सूचित होती है। इसलिए तुम] यहाँ ही इच्छा [मनोकामना पूर्ण] करो ॥२१४॥

यहाँ ['चलण्डामर' इस पदका एक देश 'लण्डा' यह अंश पुरुषके लिंगका तथा 'रुचिंकुरु' का एक देश 'चिंकु' पद स्त्रीकी योनिका सूचक है, इसलिए यहाँ] सन्धिमें अश्लीलता है।

उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः ।

नात्रार्जु युज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक् ।। २१५ ।।

(५) हतं लक्षणाऽनुसरणेऽप्यश्रव्यं, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु, रसाननुगुणं च वृत्तं यत्र तत् हतवृत्तम् । क्रमेणोदाहरणम्—

अमृतममृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा

मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम् ।

सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो

वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात् ।। २१६ ।।

अत्र 'यदिहान्यत्स्वादु स्यात्' इत्यश्रव्यम् ।

कष्टताजन्य विसन्धि-दोष—

[सन्धिके कारण उत्पन्न कष्टताका उदाहरण देते हैं]।—यहाँ मरु देशके मध्यमें [अन्ते] यह विस्तीर्णा [उर्वी] एवं सुन्दर स्थितिवाली वृक्षोंकी पंक्ति है। यहाँ सीधे [खड़े होकर] चला नहीं जा सकता है इसलिए तनिक सिर झुका लो ॥२१५॥

इसमें उर्वी+असौ, तरु + आली, मरु + अन्ते, चारु + अवस्थितिः, अत्र+ऋजु इन पदोंमें सन्धि होकर जो श्लोकका जो प्रकृत पाठ बन गया है, वह सुनने और अर्थज्ञान दोनोंमें ही कष्टदायक है। अतः यहाँ सन्धिके कारण कष्टता दोष हो जानेसे कष्टसन्धिका यह उदाहरण है।

५ हतवृत्तता—

त्रिविध अश्लीलताका निरूपण करनेके बाद पञ्चम वाक्यदोष 'हतवृत्त'का निरूपण करते हैं। यह 'हतवृत्त' दोष भी तीन प्रकारका होता है। एक लक्षणानुसार होनेपर भी अश्रव्य, दूसरा अप्राप्त गुरु भावान्त लघु और तीसरा रसके अननुरूप शब्दका प्रयोग।

५—हत अर्थात् (क) लक्षणका अनुसरण करनेपर भी सुननेमें बुरा लगनेवाला, (ख) अन्त लघु जिसमें गुरुभावको प्राप्त नहीं हो पाता है, अथवा (ग) रसके अनुरूप जिसका छन्द नहीं है वह [तीन प्रकारका] 'हतवृत्त' है। क्रमशः उदाहरण—

(क) अमृत [लोकोत्तर स्वादयुक्त] अमृत ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। शहद भी [मधुर ही है] अन्य प्रकार का [अस्वादु या फीका] नहीं है। मधुर रसवाला आमका फल भी अत्यन्त मीठा होता है। परन्तु अन्य सब [स्वादिष्ट वस्तुओंके] रसोंको जाननेवाला एक भी व्यक्ति निष्पक्ष होकर यह बतलाये कि इस संसारमें प्रियाके अधरोष्ठसे अधिक स्वादु और क्या वस्तु है ॥२१६॥

इसमें "यदिहान्यत् स्वादु स्यात्" यह अश्रव्य है।

इस श्लोकमें हरिणी छन्द है। "रसयुग हयैर्न्सौ म्लौ गो यदा हरिणी तदा" यह हरिणी छन्दका लक्षण किया गया है। इसके अनुसार 'वदतु यदिहा' हा के बाद यति होनी चाहिये, परन्तु वह यति सुननेमें अश्रव्य हो जाती है। इसलिए लक्षणका अनुसरण होनेपर भी उसमें अश्रव्यता आ गयी है, इसको बदलकर "वदतु मधुरं यत्स्यादन्यत् प्रिया दशनच्छदात्" ऐसा पाठ कर देने पर दोष नहीं रहता है।

यथा वा—

जं परिहरिउँ तीरइ मणअं पि ण सुन्दरत्तणगुणेण ।
अह णवरं जस्स दोसो पडिवक्खेहिं पि पडिवणो ॥ २१७ ॥
[यत् परिहर्तुं तीर्यते मनागपि न सुन्दरत्वगुणेन ।
अथ केवलं यस्य दोषः प्रतिपक्षैरपि प्रतिपन्नः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र द्वितीयतृतीयगणौ सकारभकारौ ।

विकसितसहकारतारहारि-परिमलगुञ्जितपुञ्जितद्विरेफः ।
नवकिसलयचारुचामरश्री-र्हरति मुनेरपि मानसं वसन्तः ॥ २१८ ॥

अत्र हारिशब्दः । 'हारिप्रमुदितसौरभ' इति पाठो युक्तः ।

अथवा [लक्षणानुसरणमें भी अश्रव्यताका दूसरा उदाहरण] जैसे—

सुन्दरता गुणके कारण जिसका तनिक भी परित्याग किसी भी दशामें नहीं किया जा सकता है, यह उसका [नायकका या कामुकका] एक दोष है, जो उसके विरोधी भी स्वीकार करते हैं ॥२१७॥

इसमें [गाथा छन्दमें लक्षणके अनुसार] द्वितीय तथा तृतीय सगण [अन्त्यगुरु] और भगण [आदि गुरु गणका प्रयोग लक्षणानुसार होनेपर भी अश्रव्य है] ।

(ख) अप्राप्त-गुरुभावान्त-लघुरूप हतवृत्त—

खिले हुए आमोंके दूर फैले हुए [तार] और मनोहर सुगंधसे [उन्मत्त होकर] गुञ्जार करते हुए भ्रमरोंके समूह जिसमें [चारणोंके समान] एकत्र हो रहे हैं और नवीन पत्र ही जिसका सुन्दर चमर है, इस प्रकारका [ऋतुराज] वसन्त मुनियोंके मनको भी मोह लेता है ॥२१८॥

[यह अप्राप्त गुरुभावान्त लघुका उदाहरण है, इसमें प्रथम चरणके अन्तका] यहाँ 'हारि' शब्द [अप्राप्त गुरु भावान्त लघु है] । 'हारि प्रमुदितसौरभो यह पाठ उचित है ।

इसका अभिप्राय यह है, कि छन्दःशास्त्रमें जहाँ लघु, गुरुके लक्षण किये गये हैं, वहाँ 'वा पादान्ते' अथवा 'पादान्तस्थं विकल्पेन' इस नियमसे पादान्तमें होनेवाले लघुवर्णको भी विकल्पसे गुरु माना जा सकता है, यह कहा गया है । प्रकृत श्लोक 'पुष्पिताग्रा' छन्दका है । "अयुजि नयुग रेफतो, यकारो, युजि च न जो जरगश्च पुष्पिताग्रा" इस लक्षणके अनुसार प्रथम चरणके अन्तमें आदि लघु यगणका प्रयोग होनेसे अन्तिम वर्ण 'रि' गुरु होना चाहिये था । वैसे 'रि' स्वरूपतः लघुवर्ण है, परन्तु 'वा पादान्ते'के नियमके अनुसार वह गुरु माना जा सकता है । परन्तु छन्दःशास्त्रके व्याख्याकारोंने इस नियमको इन्द्रवज्रा आदि कुछ परिमित छन्दोंमें ही माना है । पुष्पिताग्रा छन्दमें उस नियमको लागू नहीं माना है । इसलिए यह अन्तिम लघु गुरुवर्ण नहीं गिना जाता है । अतएव यह 'अप्राप्त गुरु भावान्त लघु'का उदाहरण है । यदि इसके बाद आये हुए 'परिमल' शब्दको बदलकर उसके स्थानपर 'प्रमुदित' पाठ कर दिया जाय, तो संयुक्ताक्षरके परे होनेपर 'रि' गुरु हो जायगा ।

यहाँ 'हारि' शब्द [अप्राप्त गुरु भावान्त लघु होनेसे यह हतवृत्तता दोषका उदाहरण बन जाता है । उसके परिहारके लिए] "हारि प्रमुदितसौरभ" यह पाठ उचित है ।

यथा वा—

अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा
सम्भाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा ।
श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात्स्त्रीणां नितम्बस्थलात्
दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च ॥ २१९ ॥

अत्र 'वस्त्राण्यपि' इति पाठे लघुरपि गुरुतां भजते ।

हा नृप ! हा बुध ! हा कविबन्धो ! विप्रसहस्रसमाश्रय ! देव ! ।
मुग्ध ! विदग्ध ! सभान्तररत्न ! कासि गतः क वयं च तवैते ॥२२०॥

हास्यरसव्यञ्जकमेतद् वृत्तम् ।

[सौन्दर्य आदि गुणोंसे युक्त] गुणरत्नोंको उत्पन्न करनेवाली रोहण [रत्नोत्पादक पर्वतकी विशेष] भूमि कुछ और ही है, और वह सौभाग्यशालिनी मिट्टी कुछ और ही तथा वे उपादान सामग्रियाँ भी कुछ और ही हैं, जिनसे विधाताने इस युवककी रचना की है; जिसको देखकर सुन्दर शोभाशाली शत्रुओंके हाथसे अस्त्र, और रूपवती सुन्दरियोंके नितम्बस्थलपरसे वस्त्र खिसक पड़ते हैं ॥२१९॥

यहाँ "वस्त्राण्यपि" ऐसा पाठ होनेपर लघु भी गुरुताको प्राप्त हो जाता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि इस श्लोकमें 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है, इस छन्दका लक्षण "सूर्याश्वैर्मसजस्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्" यह किया गया है । इस लक्षणके अनुसार प्रत्येक पादका अन्तिम अक्षर गुरु होना चाहिये । परन्तु यहाँ चतुर्थ चरणका अन्तिम वर्ण 'च' है, जो स्वरूपतः लघु है, परन्तु 'वा पादान्ते' इस नियमके अनुसार वह गुरु हो सकता है । परन्तु इस नियमका आधार तो अनुभव है । यहाँ 'च' शब्दमें स्वाभाविक शैथिल्य है, वह गुरुरूपमें अनुभवमें नहीं आता है, उसको बदलकर 'वस्त्राण्यपि' यह पाठ कर देनेपर भी यद्यपि अन्तिम अक्षर 'पि' स्वरूपतः लघु ही है, परन्तु संयुक्ताक्षरसे परे होनेसे उसके उच्चारणमें दार्ढ्य आ जाता है, इसलिए वह गुरुभावको प्राप्त हो जाता है ।

इस प्रकार 'हतवृत्त'के 'लक्षणानुसरणेऽप्य श्रव्यता' तथा 'अप्राप्त गुरुभावान्त लघु' इन दो भेदोंके उदाहरण देनेके बाद 'रसाननुगुणता' रूप तीसरे भेदका उदाहरण आगे देते हैं ।

रसाननुगुण हतवृत्तता—

हे राजन् ! हे विद्वान् ! हे कवियोंके बन्धु ! और हे सहस्रों ब्राह्मणोंके आश्रय देव ! हे सुन्दर [मुग्ध] ! हे विद्वानोंकी सभाके मध्य रत्न [रूप राजन्] ! आप कहाँ चले गये, और आपके [प्रिय या आश्रित] ये हम कहाँ [रह गये] हैं ॥२२०॥

[यह श्लोक राजाके लिए शोकसे विलाप करते हुए लोगोंका है । इसमें करुण-रसका प्राधान्य है । अतः करुण रसके अनुरूप 'मन्दाक्रान्ता' आदि छन्दका प्रयोग करना चाहिये था, यहाँ जो 'दोधक' छन्द कविने प्रयुक्त किया है, वह करुण रसका व्यञ्जक नहीं है, अपितु] यह छन्द हास्य रसका व्यञ्जक है । [अतः रसाननुगुण होनेसे यह 'हतवृत्त' दोषका उदाहरण है] ।

(६) न्यूनपदं यथा—

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥ २२१ ॥

अत्रास्माभिरिति, 'खिन्ने' इत्यस्मात्पूर्वमित्थमिति च ॥

(७) अधिकं यथा—

स्फटिकाकृतिनिर्मलः प्रकामं प्रतिसंक्रान्तनिशातशास्त्रतत्त्वः ।
अविरुद्धसमन्वितोक्तियुक्तः प्रतिमल्लास्तमयोदयः स कोऽपि ॥ २२२ ॥

अत्राकृतिशब्दः ।

यथा वा—

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां यदिह जरास्वपि मान्मथा विकाराः ।
यदपि च न कृतं नितम्बिनीनां स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा ॥२२३॥

६—न्यूनपद [दोषका उदाहरण] जैसे—

[यह श्लोक वेणीसंहार नाटकका है । काव्यप्रकाशके तृतीय उल्लासमें उदाहरण संख्या १५ पर भी उद्धृत किया जा चुका है । इसका अर्थ वहाँसे ही देख लेना चाहिये] ॥२२१॥

यहाँ [तीनों चरणोंमें कर्त्तारूपमें] 'अस्माभिः' यह [पद होना चाहिये था, उसके न होनेसे न्यूनपदता दोष हो जाता है । इसी प्रकार चतुर्थ चरणमें] 'खिन्ने— इसके पूर्व 'इत्थं' यह पद भी [कम है । उसके न होनेसे यहाँ न्यूनपदता दोष है]

७—अधिक [पदत् दोषका उदाहरण] जैसे—

[किसी विद्वान्का वर्णन करते हुए कवि कहता, है, कि—] स्फटिकके समान अत्यन्त निर्मल [स्वरूप] दुरूह [निशात] शास्त्रोंका तत्त्व जिसके हृदयमें, जिसकी बुद्धिमें आरूढ़ है, जिसकी उक्तियाँ और तर्क [वेदशास्त्रादिसे तथा परस्पर] अविरुद्ध तथा [परस्पर] समन्वित होते हैं । और अपने विरोधियोंके पराजय [अस्तमयोदयः] की उत्पत्ति जिससे होती है, इस प्रकारका वह कोई [अपूर्व पुरुष] है ॥२२२॥

यहाँ आकृति शब्द [अधिक] है । ['स्फटिक निर्मलः' पद ही पर्याप्त है] ।

अथवा [अधिकपदताका दूसरा उदाहरण] जैसे—

यह जो बुढ़ापेमें भी [लोगोंमें] काम सम्बन्धी विकार पाये जाते हैं, यह [अत्यन्त] अनुचित और शास्त्रादिके विपरीत [अक्रम] है । और यह भी [अत्यन्त अनुचित है] कि जो स्त्रियोंमें जीवन और सुरतव्यापार स्तनोंके शिथिलतापर्यन्त [पतनावधितक] नहीं किया । [अर्थात् स्तन-शैथिल्यके बाद भी उनमें जो कामेच्छा होती है वह भी अनुचित है] । ॥२२३॥

अत्र कृतमिति । 'कृतं' प्रत्युत प्रक्रमभङ्गमावहति । तथा च 'यदपि च न कुरङ्ग-लोचनानाम्' इति पाठे निराकाङ्क्षैव प्रतीतिः ॥

(८) कथितपदं यथा—

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला परिमिलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली ।
सुतनु ! कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव स्मरनरपतिलीलायौवराज्याभिषेकम्॥२२४॥

अत्र लीलेति ।

(९) पतत्प्रकर्षं यथा—

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितधुरीघोरो घुरेत्सूकरः
कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः ।
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्त्तते ॥ २२५ ॥

यहाँ [तृतीय चरणमें] 'कृतम्' यह [पद अनावश्यक होनेसे अधिक है । यह पद न केवल अनावश्यक ही है] बल्कि 'कृतम्' भग्नप्रक्रम [दोष] को भी उत्पन्न कर रहा है । [श्लोकके पूर्वार्धमें 'कृता' पदका प्रयोग 'मान्मथाः विकाराः'के साथ नहीं किया गया है इसलिए यहाँ 'जीवित रतंच'के साथ भी 'कृतम' पदका प्रयोग नहीं होना चाहिये था । उसका प्रयोग कर देनेसे यहाँ प्रक्रमभङ्ग दोष भी हो गया है । उन दोनों दोषोंके परिहारके लिए यहाँ] 'यदपिचन कुरङ्गलोचनानां' यह पाठ रखनेपर [कृतं पदकी] आकांक्षाके बिना ही प्रतीति पूर्ण हो जाती है ।

८—कथितपदरूप [वाक्य दोषका उदाहरण] जैसे—

करतलरूपी शय्यापर शयन करनेके कारण [हाथकी] रगड़से जिसकी पाण्डुता हे सुतनु ! यह बताओ दूर हो गयी है [जिसमें लालिमाका उदय हो आया है] ऐसी तुम्हारी कपोलस्थली, किस [सौभाग्यशाली] के कामरूप राजाकी लीलाओंके युवराज पदपर शीघ्र ही होनेवाले अभिषेकको सूचित करती है ॥२२४॥

यहाँ 'लीला' यह [प्रथम चरण तथा चतुर्थ चरणमें दो जगह प्रयुक्त हुआ है, [अतः कथितपद या पुनरुक्त है 'स्मर नरपति लक्ष्मी' पाठ ठीक है ।

९—पतत्प्रकर्षरूप [वाक्यदोषका उदाहरण] जैसे—

क्योंकि आज सिंहनीके स्नेहके प्रेमानन्दमें सिंह एक स्थान में बँध गया है, इसलिए [उसके अभावमें निश्शंक होकर] कौन-कौन-सा घुर्घुर शब्द करनेवाली नाकके कारण भयंकर सुअर कहाँ नहीं घुर्राता है, हाथी किस प्रकार कमलोंके तालाबको कमलोंसे रहित करनेको तैयार नहीं हो गयी है, और कौन-कौन-से जंगली भैंसे किन वनोंका उन्मूलन न कर देंगे । ॥२२४॥

यहाँ पहले तीन चरणोंमें वर्णोंकी रचनामें जैसे कठोरता पायी जाती है, उस प्रकारकी रचना चतुर्थ चरणमें नहीं पायी जाती, इसलिए यहाँ पतत्प्रकर्ष दोष हो गया है ।

(१०) समाप्तपुनरात्तं यथा—

क्रेङ्कारः स्मरकार्मुकस्य सुरतक्रीडापिकीनां रवो-
झङ्कारो रतिमञ्जरीमधुलिहां लीलाचकोरीध्वनिः ।
तन्व्याः कञ्चुलिकापसारणभुजाक्षेपस्खलत्कङ्कणः
क्वाणः प्रेम तनोतु वो नववयोलास्याय वेणुस्वनः ॥ २२६ ॥

(११) द्वितीयार्धगतैकवाचकशेषप्रथमार्थं यथा—

मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा
विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः ।
तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः
पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च ॥२२७॥

१०—समाप्तपुनरात्तत्व [दोषका उदाहरण] जैसे—

[अपने घरोंको जाते हुए पथिकोंके प्रति किसी कविका वचन है, कि घर पहुँच कर नायिकासे मिलनेके समय] कृशांगीकी चोली खोलनेके लिए [आपके प्रयत्न करने-पर लज्जावश उसे रोकनेके लिए नायिकाका जो भुजाक्षेप] हाथ चलानेसे हिलते हुए कंकणोंका शब्द जो कामदेवके धनुषका टंकार, या सुरत क्रीड़ारूप कोकिलोंकी कूक, या रतिरूप मंजरीके भौंरोंकी झंकार, अथवा लीलारूप चकोरीकी ध्वनि, अथवा नव-युवकोंको नचानेके लिए बाँसुरीकी ध्वनि है, वह [तुम दोनोंके] नवयौवनके [उद्दाम] नृत्यके लिए तुम लोगोंके प्रेमको [खूब] बढ़ावे ॥२२५॥

यहाँ श्लोकके प्रथम तथा द्वितीय चरणमें "क्वाणः" पदके विशेषण दिये गये हैं। चतुर्थ चरणमें "क्वाणः प्रेम तनोतु वो" इस मुख्य वाक्यके बाद समाप्त हुई विशेषणपरम्परामें "नव वयो-ल्लास्याय वेणुस्वनः" कहकर एक और विशेषणका प्रतिपादन कर दिया गया है। इसलिए यह समाप्त-पुनरात्तत्व दोषका उदाहरण है।

११—जहाँ प्रथमार्द्धका [केवल] एक पद उत्तरार्द्धमें [कथनके लिए] शेष रह जाता है, [उसको 'अर्धान्तरैकपदता' कहा जाता है। उसका उदाहरण] जैसे—

राजशेखरकृत बालरामायण नाटकमें रामचन्द्रके साथ सीताको भी वनवासके लिए छोड़ आने-पर उसका समाचार सुनाते हुए सुमन्त दशरथसे कह रहे हैं, कि—

[वन जाते समय] रास्तेमें राहगीरोंकी [साथ चलनेवाली] स्त्रियोंने आँखोंमें आँसू भरकर जनकराजपुत्री [सीता]को देखा, और समझाया, कि दर्भोंसे भरी भूमिपर हलके-हलके पैर रखकर चलो, धूप तेज हो रही है [इसलिए] साड़ीका पल्ला सिरपर डाल लो ॥२२७॥

यहाँ तृतीय चरणके आदिमें आया हुआ 'तत्' शब्द पूर्वार्द्धका भाग है। धूप तेज है, इसलिए सिरपर पल्ला डाल लो, इस प्रकार हेतुरूप इस 'तत्' पदका पूर्वार्द्धमें प्रयोग होना चाहिये था। परन्तु केवल इस एक पदका उत्तरार्द्धमें प्रयोग किया गया है, इसलिए यह 'अर्द्धान्तरैकपदता' रूप वाक्य-दोषका उदाहरण है।

अभवन्मत [इष्टः] योगः [सम्बन्धः] यत्र तत् । यथा–

येषां तास्त्रिदशेभदानसरितः पीताः प्रतापोष्मभि–
र्लीलापानभुवश्च नन्दनवनच्छायासु यैः कल्पिताः ।
येषां हुंकृतयः कृतामरपतिक्षोभाः क्षपाचारिणां
किन्तैस्त्वत्परितोषकारि विहितं किञ्चित्प्रवादोचितम् ॥ २२८ ॥

अत्र 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात्' इत्युक्तनयेन यच्छब्दनिर्देश्यानामर्थानां परस्परमसमन्वयेन यैरित्यत्र विशेष्यस्याप्रतीतिरिति । 'क्षपाचारिभिः' इति पाठे युज्यते समन्वयः ।

यथा वा—

त्वमेवंसौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः ।
अपि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वां
अतः शेषं यत्स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया ॥ २२९ ॥

१२— [वाक्य] में अभिमत अर्थात् इष्ट सम्बन्ध विद्यमान न हो [उसको अभवन्मत योग दोष कहा जाता है । उसका उदाहरण] जैसे—

जिन [राक्षसों] के प्रतापानलोंने देवताओंके हाथी [ऐरावत] की वे प्रसिद्ध मदकी धाराएँ सुखा डालीं, जिन्होंने नन्दनवनकी छायामें [जगह-जगह अपने] मद्यपानकी भूमियोंकी रचना कर डाली, और जिन राक्षसोंकी हुङ्कारें देवराजको भी कम्पित कर देती थीं, क्या उन [राक्षसों] ने अपनी प्रसिद्धि [प्रवाद]के अनुरूप तुम्हारे लिए सन्तोषदायक कुछ [कार्य] किया ॥२२८॥

यहाँ [अप्रधान विशेषणरूप] 'गौण [पदों] के परार्थ [प्रधान या विशेष्य] के लिए होनेके कारण, और [परस्पर] समानरूप होनेसे [दो गौण पदोंका परस्पर] सम्बन्ध नहीं होता है' इस [पूर्व मीमांसाके तृतीयाध्यायके प्रथमपादके २२ वें सूत्रमें प्रतिपादित] सिद्धान्तके अनुसार [श्लोकमें] 'यत्' शब्द ['येषां' और 'यैः' पदों]से निर्दिष्ट अर्थोंका परस्पर समन्वय न होनेसे 'यैः' इस पदमें विशेष्यकी प्रतीति नहीं होती है । [इसलिए अभिमत विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्धके न बननेसे यहाँ 'अभवन्मत—सम्बन्ध नामक वाक्यदोष माना जाता है । 'क्षपाचारिणां'के स्थानपर] 'क्षपाचारिभिः' ऐसा पाठ कर देनेपर [विशेष्य भागके आ जानेसे] समन्वय बन जाता है ।

अथवा [अभवन्मत सम्बन्ध दोषका दूसरा उदाहरण] जैसे—

तुम इतनी सौन्दर्य-शालिनी हो, और वह सुन्दरताके लिए प्रसिद्ध है, तुम दोनों ही कलाओंकी चरम सीमाको पहुँचे हुए हो । तुम दोनोंकी जोड़ी भी सौभाग्यसे मिल रही है, इसलिए आगे [समागम आदि] जो [कुछ कार्य] शेष रह गया है, यदि वह भी [पूरा] हो जाय तो यह गुणवत्ताकी [बड़ी] विजय हो ॥२२९॥

अत्र यदित्यत्र तदिति, तदानीमित्यत्र यदेति वचनं नास्ति। चेत्स्यादिति युक्तः पाठः। यथा वा—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥ २३० ॥

अत्राकर्णनक्रियाकर्मत्वे कोदण्डं शरानित्यादि, वाक्यार्थस्य कर्मत्वे कोदण्डः शरा इति प्राप्तम्। न च यच्छब्दार्थस्तद्विशेषणं वा कोदण्डादि। न च केन केनेत्यादि प्रश्नः।

यहाँ [चतुर्थ चरणमें 'यत्' तथा 'तदानीं' पदोंका प्रयोग किया गया है, परन्तु उनमेंसे] 'यत्' इसके साथ 'तत्' इसका और 'तदानीं' इसके साथ 'यदा'का कथन नहीं किया गया है। [इसलिए उनका उद्देश-विधेय भाव रूप सम्बन्ध नहीं बना है, अतः अभवन्मत-सम्बन्धरूप दोष है। इसलिए 'यत्' के स्थानपर] 'चेत्स्यात्' यह पाठ उचित है।

अथवा [अभवन्मत-सम्बन्धका तीसरा उदाहण] जैसे—

हे राजन्! युद्धभूमिमें आनेपर और आपके धनुष चढ़ानेपर जिस-जिसने सहसा जो-जो प्राप्त किया, सो सुनिये। धनुषने बाणोंको, बाणोंने शत्रुओंके सिरको, उस [शत्रु] के सिरने भूमण्डलको उस [भूमण्डल] ने [राजारूपमें] आपको, आपने [शत्रुओंके विजय द्वारा] अतुल कीर्त्तिको और कीर्तिने [सारे लोकोंमें व्याप्त होकर] तीनों लोकोंको [प्राप्त किया] ॥२२९॥

यहाँ 'आकर्णय' क्रिया [के साथ कर्मरूपसे अभिमत सम्बन्ध किसी प्रकार नहीं बनता है। क्योंकि कोदण्ड, शर आदि पदोंको उस] का कर्म माननेपर [उनमें द्वितीया विभक्तिका प्रयोग होकर] 'कोदण्डं', 'शरान्' इत्यादि [प्रयोग होना चाहिये]। और वाक्यार्थको कर्म माननेपर [यो यो वीरः समायातस्तंत शृणु, भीष्मो, द्रोणो, कृपः, कर्ण, सोमदत्तिः, धनञ्जय, इत्यादिके अनुसार परस्पर अनन्वित शुद्ध प्रातिपदिकार्थमात्रमें प्रथमा होनेसे] 'कोदण्डः'—'शराः' यह प्राप्त होता है। [यदि यह कहा जाय कि 'यत्' शब्द बुद्धिस्थका परामर्शक होता है और बुद्धिस्थ कोदण्ड आदि पदार्थ ही है। इसलिए "यत्समासादितं तदाकर्णय" इस रूपमें यत्-पदार्थका क्रियाके साथ अन्वय होनेसे और यत् शब्दसे बुद्धिस्थ कोदण्डादि पदार्थोंके ग्रहण किये जानेसे उत्तरार्ध वाक्यका पूर्वार्द्धके साथ अभिमत सम्बन्ध बन सकता है। तो इसके निराकरणके लिए कहते हैं कि] और कोदण्ड आदि न 'यत्' शब्दके अर्थ हैं, न विशेषण [इसलिए इस रूपमें भी पूर्वार्ध तथा उत्तरार्धका सम्बन्ध नहीं बन सकता है, इन दोनों भागोंके अभिमत सम्बन्धके बननेका एक मार्ग यह हो सकता था, कि पूर्वार्धमें 'केन-केन किं-किं' ऐसा प्रश्न होता तो 'कोदण्डेन शराः' आदि उत्तरवाक्यका सम्बन्ध हो सकता था] परन्तु केन-केन किस-किसने [क्या-क्या प्राप्त किया] इत्यादि प्रश्न नहीं है [इसलिए पूर्वार्ध और उत्तरार्धके सम्बन्ध होनेका कोई मार्ग नहीं निकलता है। अतः यहाँ अभवन्मत-सम्बन्ध नामक वाक्यदोष है]।

यथा वा—चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी ॥ २३१ ॥

इत्यादौ भार्गवस्य निन्दायां तात्पर्यम् । 'कृतवता' इति परशौ सा प्रतीयते । 'कृतवतः' इति तु पाठे मतयोगो भवति । यथा वा—

चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान् कर्मोपदेष्टा हरिः
संग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता ।
कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलं
राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं हतो दुन्दुभिः ॥ २३२ ॥

अत्राध्वरशब्दः समासे गुणीभूत इति न तदर्थः सर्वैः संयुज्यते । यथा वा—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः ।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥२३३॥

अथवा [इसी अभवन्मत-दोषका चौथा उदाहरण] जैसे—'चापाचार्यस्त्रिपुर-विजयी' इत्यादि । [श्लोकका अर्थ उदाहरण-सं० २०२ में दिया जा चुका है] ॥२३१॥

इत्यादिमें परशुरामकी निन्दामें तात्पर्य है । [परन्तु 'परशुना' इस पदके विशेषण-रूप] 'कृतवता' इस [तृतीयान्त] पदसे वह [निन्दा] परशुमें प्रतीत होती है [इसलिए अभिमत सम्बन्ध नहीं बन रहा है । हाँ, यदि 'कृतवता' इस तृतीयान्त पदके स्थानपर 'तव'के साथ अन्वित होनेवाले षष्ठ्यन्त] 'कृतवतः' इस प्रकारका पाठ होनेपर [निन्दा-का परशुरामके साथ] अभिमत सम्बन्ध बन जाता है ।

अथवा [इसी अभवन्मतका पाँचवाँ उदाहरण] जैसे—

[वेणीसंहार नाटकके प्रथम अंकमें रणदुन्दुभिकी आवाजको सुनकर 'प्रिये रण यज्ञः प्रवर्तते' यह कहकर उस यज्ञका उपपादन करनेके लिए भीम कह रहे हैं, कि इस रणयज्ञमें] हम चारों [भाई] ऋत्विक् हैं, कर्तव्यका उपदेश करनेवाले वे श्रीकृष्ण भगवान् [ब्रह्मा] हैं । संग्राम यज्ञकी दीक्षा लिये हुए राजा [युधिष्ठिर] यजमान हैं । और [उनकी] पत्नी [द्रौपदी] व्रतधारिणी [यजमान-पत्नी] है । कुरुवंशके [दुर्योधन आदि उस यज्ञमें मारे जानेवाले] पशु हैं । प्रिया [द्रौपदी] के अपमानजन्य क्लेशकी शान्ति [उस यज्ञका] फल है, [और उस यज्ञमें] राज-समुदायके निमंत्रित करनेके लिए बजाया गया यह दुन्दुभि जोरका शब्द कर रहा है ॥२३२॥

यहाँ 'अध्वर' शब्द [संग्रामाध्वरदीक्षिताः इस] समासमें गुणीभूत [हो गया] है, इसलिए उसका अर्थ [ऋत्विज आदि] सबके साथ अन्वित नहीं हो सकता है । [इसलिए यहाँ अभवन्मत-सम्बन्ध दोष है ।]

अथवा इसी [अभवन्मत-सम्बन्धका छठा उदाहरण] जैसे—'जंघाकाण्डोरुनालो' इत्यादि श्लोक उदाहरण-संख्या १५०,पर भी उद्धृत हो चुका है, वहाँसे इसका अर्थ देखें ।

अत्र दण्डपादगता निजतनुः प्रतीयते भवान्याः सम्बन्धिनी तु विवक्षिता ॥

(१३) अवश्यवक्तव्यमनुक्तं यत्र, यथा—

अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टैरत्यद्भुतैरपहृतस्य तथापि नास्था ।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेयसौन्दर्यसारसमुदायमयः पदार्थः ॥२३३॥

अत्र 'अपहृतोऽस्मि' इत्यपहृतत्वस्य विधिर्वाच्यः । 'तथापि'इत्यस्य द्वितीयवाक्यगतत्वेनैवोपपत्तेः

इस [श्लोक]में 'निजतनुः' [पद] दण्डपादसे अन्वित प्रतीत होता है। परन्तु भवानीके साथ उसका सम्बन्ध विवक्षित है। [इसलिए यहाँ भी अभवन्मत-सम्बन्धरूप दोष विद्यमान है]।

१३. वाच्यस्यानभिधानं दोष—

१३—अवश्य कहने योग्य शब्दको जहाँ न कहा जाय [वह वाच्यस्यानभिधान नामक वाक्यदोष होता है] जैसे—

अनन्य सामान्य [रामचन्द्र अथवा मुग्ध विदग्ध] के देखे हुए [और चकारसे सुने हुएका भी ग्रहण करना चाहिये] अद्भुत चरित्रके उत्कर्षसे वशीभूत होनेपर भी [यह शिवका धनुष इस रामचन्द्रने ही तोड़ा है, इस बातपर] विश्वास ही नहीं होता है। वस्तुतः यह [सामने दिखलाई देनेवाला रामचन्द्र] कोई [अनिर्वचनीय] वीर बालककी आकृतिका और अपरिमेय सौन्दर्यसारसे बना हुआ पदार्थ है। ॥२३४॥

यहाँ 'तथापि' इस पदके द्वितीय वाक्यगत रूपसे ही उपपन्न होनेसे [प्रथम वाक्यको अलग करनेके लिए] 'अपहृतोऽस्मि' इस रूपमें अपहृतत्वके विधिका कथन करना चाहिए।

इसका अभिप्राय यह है, कि यहाँ वाक्यकी रचना इस प्रकार होनी चाहिये थी कि 'यद्यपि चरितातिशयैरपहृतोऽस्मि तथाऽपि नास्था' लोकोत्तर चरित्रको देखकर मैं मोहित हो गया हूँ, तथापि यह विश्वास नहीं होता है कि यह धनुष रामचन्द्रने ही तोड़ा है। उत्तरवाक्यमें 'तथापि' शब्दका प्रयोग होनेसे पूर्ववाक्यमें 'यद्यपि' पदका प्रयोग तो अनिवार्य नहीं है, परन्तु तथापि शब्दका प्रयोग द्वितीय वाक्यमें ही किया जा सकता है, इसलिए प्रथम वाक्यकी स्थिति तो अलग होनी ही चाहिये। उसको अलग करनेके लिए 'अपहृतस्य' इस षष्ठ्यन्त पदके स्थानपर 'अपहृतोऽस्मि' इस प्रकारका प्रयोग करना उचित था। इस अवश्य वाच्य प्रथमा विभक्तिके प्रयोगके अभावमें यहाँ वाक्यमें 'वाच्यस्यानभिधानं' नामक वाक्यदोष हो गया है।

इसके पूर्व 'न्यूनपदता' दोष कह आये हैं, उसमें और 'अवश्य वक्तव्यके अनभिधान' रूप इस दोषमें यह अन्तर है, कि वाचक पदके प्रयोग न होनेपर 'न्यूनपदता' दोष हो जाता है, और वाचक पदसे भिन्न 'द्योतक' 'अपि' आदि अथवा विभक्ति आदिके प्रयोग न होनेपर यह दोष होता है। यह भी दो प्रकारका होता है, एक द्योतक विभक्ति आदिके अन्यथा अभिधानके कारण, और दूसरा द्योतक अपि आदिके कथित न होनेके कारण। उनमेंसे यह प्रथमा विभक्तिके स्थानपर षष्ठी विभक्ति कर दिये जानेसे अन्यथाभिधानका उदाहरण है। महावीरचरित नाटकके द्वितीय अंकमें रामके द्वारा किये गये धनुर्भंगको देखकर परशुरामकी यह स्वगत उक्ति है।

यथा वा—

एषोऽहमद्रितनयामुखपद्मजन्मा प्राप्तः सुरासुरमनोरथदूरवर्त्ती ।
स्वप्नेऽनिरुद्धघटनाधिगताभिरूपलक्ष्मीफलामसुरराजसुतां विधाय ॥२३५॥

अत्र 'मनोरथानामपि दूरवर्त्ती' इत्यप्यर्थो वाच्यः

यथा वा—

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः ।
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि ! दासजनं यतः ॥२३६ ॥

अत्र 'अपराधस्य लवमपि' इति वाच्यम् ॥

(१४) अस्थानस्थपदं यथा—

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने ।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु ॥ २३७ ॥

अथवा [इसी अवश्य वक्तव्यके अनभिधानका दूसरा उदाहरण] जैसे—

अवश्यवाच्य विभक्तिके अन्यथा-प्रयोगका उदाहरण ऊपरके श्लोकके रूपमें दिया था। आगे इसी दोषके दो उदाहरण और देते हैं। इनमेंसे एक समासगत, दूसरा असमासगत है। इनमेंसे पहला उदाहरण उषा-हरण नाटकसे लिया गया है। भागवतपुराणके अन्तर्गत हरिवंशमें आयी हुई कथा-के आधारपर उषाहरण नाटककी रचना हुई है। एक बार समस्त कलाओंमें निपुण सुर, असुर, राक्षस, गन्धर्व आदिकी कन्याएँ शिव-पार्वतीके समीप नृत्य आदि कर रहीं थीं। उस समय बाणासुरकी उषा नाम्नी कन्याकी प्रवीणतासे सन्तुष्ट होकर पार्वतीने उसको वरदान दिया कि इतने समयके बाद रातमें तुम्हारे योग्य पति तुम्हारे पास आवेगा। इस वरदानके प्रभावसे उचित समय आनेपर उषाका श्रीकृष्णके पुत्र अनिरुद्धके साथ रात्रिमें समागम हुआ। समागमके बाद वरदान शरीर धारण कर उषाकी सखी चित्रलेखासे कह रहा है कि—

देवताओं और राक्षसोंके मनोरथोंसे दूर रहनेवाला और पार्वतीके मुखकमलसे उत्पन्न हुआ यह मैं असुरराज [बाणासुर] की कन्या [उषा] को स्वप्नमें [श्रीकृष्णके पुत्र] अनिरुद्धके साथ समागम द्वारा उसके अपूर्व सौन्दर्यका फल प्राप्त कराकर [उसके व्यभिचार आदि शंका निवारण करनेके लिए तुम्हारे पास] आया हूँ ॥२३५॥

यहाँ मनोरथोंके भी दूरवर्ती यह 'अपि' अर्थ अवश्य कहना चाहिए था।

अथवा [इसी 'वाच्यस्यानभिधानं'का तीसरा उदाहरण] जैसे—

हे मानिनि ! तुम्हारे प्रति अनुराग स्थिर रखनेवाले, प्रियवादी, और प्रेमके भङ्ग होनेसे डरनेवाले, मेरे किस तुच्छसे [भी] अपराधको तुम देख रही हो, जिससे [नाराज होकर तुम अपने दयनीय] इस सेवकको छोड़ रही हो ? ॥२३६॥

यहाँ ['कमपराधलवं'के स्थानपर] 'अपराधस्य लवमपि' अपराधका लवलेश भी यह कहना चाहिये था। [उसके अभावमें दोष हो गया है]।

१४. अस्थानपदता दोष—

१४—अस्थानस्थ [पद] का उदाहरण जैसे—

अत्र 'काचिन्न विजहौ' इति वाच्यम् ।

यथा वा—

लग्नः केलिकचग्रहश्लथजटालम्बेन निद्रान्तरे
मुद्राङ्कः शितिकन्धरेन्दुशकलेनान्तः कपोलस्थलम् ।
पार्वत्या नखलक्ष्मशङ्कितसखीनर्मस्मितह्रीतया
प्रोन्मृष्टः करपल्लवेन कुटिलाताम्रच्छविः पातु वः ॥२३८॥

अत्र 'नखलक्ष्म' इत्यत पूर्वः 'कुटिलाताम्र' इति वाच्यम् ।

(१५) अस्थानस्थसमासं यथा—

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लत्कैरवकोशनिःसरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ॥२३९॥

[विपक्ष अर्थात्] सपत्नीके सामने प्रियतमके [स्वयं] गूँथकर स्थूल स्तनवाले वक्षःस्थलपर पहिनायी गयी मालाको जलसे [भीग जानेके कारण] खराब हो जानेपर भी किसी स्त्रीने नहीं उतारा । क्योंकि गुण तो प्रेममें रहते हैं, वस्तुमें नहीं ॥२३७॥

यहाँ 'काचिन्न विजहौ' इस प्रकार [काचित्के बाद न का प्रयोग करके] कहना चाहिये । [काचित्के पूर्व न का प्रयोग कर देनेसे अस्थानपदता दोष हो गया है ।

अथवा [इसी अस्थानपदताका दूसरा उदाहरण] जैसे—

सुरत-क्रीड़ाके समय कचग्रहणके कारण खुल जानेवाली जटाओंके सहारे लटके हुए नीलकण्ठ [शिवजी]के चन्द्रमाके टुकड़ेसे [पार्वतीजीके, उसके ऊपर मुख रखकर सो जानेके कारण] उत्पन्न, सोते समय गालके बीचमें टेढ़ा और लाल रङ्ग [कुटिलाताम्रच्छविः] का बना हुआ [चिह्न जिसको देखकर] नखक्षत समझनेवाली सखीके मुस्कराने [नर्म-स्मित] से लजायी हुई पार्वतीके द्वारा अपने करपल्लवसे मिटाया हुआ, चिह्न तुम्हारी रक्षा करे ॥२३८॥

यहाँ 'कुटिलाताम्रच्छविः' को 'नखलक्ष्म' इस [विशेष्य पद]के पहिले कहना चाहिये । [इसके भिन्न स्थानपर रखनेसे अस्थानपदता दोष हो गया है] ।

१५. अस्थानसमासता दोष—

१५—अस्थानसमास [दोष]का उदाहरण । जैसे—

[मेरे उदय हो जानेके बाद भी] स्तनरूप पर्वतोंके कारण दुर्गम, स्त्रियोंके हृदय [रूप सुरक्षित स्थानमें छिपकर] यह मान बैठना चाहता है, यह बड़ी बुरी बात है । इससे मानो क्रोधके कारण लाल-लाल, चन्द्रमा दूरतक हाथ [किरणों]को फैलाकर तुरन्त ही खिले हुए कैरवोंके भीतरसे निकलती हुई भ्रमरपंक्तिरूप कृपाण-को [कोश] म्यानसे खींच रहा है ॥ २३९ ॥

अत्र क्रुद्धस्योक्तौ समासो न कृतः । कवेरुक्तौ तु कृतः ।

संकीर्णम् यत्र वाक्यान्तरस्य पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविशन्ति । यथा—

किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुणं गृहाणेमम् ।
ननु मुञ्च हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तमोरूपम् ॥२४०॥

अत्र 'पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि इमं कण्ठे गृहाण मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्च' इति । एकवाक्यतायां तु क्लिष्टमिति भेदः ।

(१७) गर्भितं यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति यथा—

परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह सङ्गतिः ।
वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ॥२४१॥

अत्र तृतीयपादो वाक्यान्तरमध्ये प्रविष्टः ।

यहाँ क्रुद्ध [चन्द्रमा] की उक्तिमें [प्रथम दो चरणोंमें] समास नहीं किया है। और [अन्तिम चरण] कविकी उक्तिमें किया है। [अतः अस्थानसमासका उदाहरण है]।

१६. सङ्कीर्णतादोष—

१६—जहाँ एक वाक्यके पद दूसरे वाक्यमें घुस जाते हैं। जैसे—

[किसी मानिनी स्त्रीसे उसकी सखी कह रही है कि] पैरोंपर पड़े हुए 'अत्यन्त गुणवान्' अपने इस प्राणनाथको तुम क्यों नहीं देखती हो। मनके तमोरूप मानको छोड़ो और इनको उठाओ ॥२४०॥

यहाँ (१) पैरोंपर पड़े हुए अत्यन्त गुणवान् प्राणनाथको क्यों नहीं देखती हो [यह प्रथम वाक्य है]; (२) इनको गले लगाओ [यह दूसरा वाक्य है] और (३) मनके अन्धकाररूप मानको छोड़ो [यह तीसरा वाक्य है]। परन्तु उन तीनोंके पदोंको एक-दूसरे वाक्यके भीतर घुसेड़ [देनेसे सङ्कीर्णत्व दोष है] एक वाक्य होनेपर क्लिष्टत्व [दोष] होता है। यह सङ्कीर्णत्व तथा क्लिष्टत्व दोषोंका] भेद है।

इसमें 'पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि' यह पहिला वाक्य है किन्तु उसका 'हृदयनाथं' पद तीसरे वाक्यमें चला गया है और तीसरे वाक्यका 'कोपं' पद प्रथम वाक्यमें आ गया है। इसी प्रकार 'इमं कण्ठे गृहाण' यह दूसरा वाक्य है। इसका 'कण्ठे' पद तीसरे वाक्यमें चला गया है। 'मनस्तमोरूपं कोपं मुञ्च' यह तीसरा वाक्य है। प्रथम वाक्यका 'हृदयनाथं' पद तथा द्वितीय वाक्यका 'कण्ठे' पद इसमें आ गये हैं।

१७. गर्भितता दोष—

१७—गर्भितता [दोष उसको कहते हैं] जहाँ एक वाक्यके भीतर दूसरा वाक्य प्रविष्ट हो जाता है। जैसे—

मैं तुमसे तत्त्वकी यथार्थ बात कहता हूँ कि दूसरेके अपकार [करने]में लगे हुए दुष्ट पुरुषोंके साथ कभी संगति नहीं करनी चाहिये ॥२४१॥

यहाँ तीसरा चरण [जो कि अलग वाक्य है] दूसरे वाक्यमें प्रविष्ट हो गया है। [इसलिए यह गर्भितत्व दोष है]।

यथा वा—

लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥२४२॥

अत्र 'विदितं तेऽस्तु' इत्येतत्कृतम् । प्रत्युत लक्ष्मीस्ततोऽपसरतीति विरुद्धमतिकृत् ।

अथवा [इसी गर्भितत्वका दूसरा उदाहरण] जैसे—

किसी राजाकी स्तुति करते हुए उसकी कीर्त्ति समुद्रतक फैल गयी है, इस बातमें उत्प्रेक्षा अलंकारका प्रयोगकर कवि उसे इस रूपसे कह रहा है कि उस राजाकी युद्धप्रियता और उदारता आदिको देखकर राजाकी पत्नी लक्ष्मीने अपने पिता समुद्रके पास राजाकी शिकायत करनेके लिए कीर्त्तिको दूती बनाकर भेजा है और उससे यह सन्देश अपने पिताके पास भिजवाया है, कि यह तो मेरी सौत [असियष्टि] तलवार पर रीझ रहा है, मुझको तो पूछता ही नहीं बल्कि मुझे [अर्थात् लक्ष्मीको] तो भोग करनेके लिए अपने भृत्योंको दे दिया है। इस शिकायतके साथ उसने अपनी सौत तलवारकी दुश्चरित्रताका भी सुन्दर चित्र इस प्रकार खींचा है कि—

जो [मेरी सौत] असियष्टि [तलवार] अनुरागसे परिपूर्ण [दूसरे पक्षमें शत्रुओंके रक्तसे रंगी हुई] शत्रुओंके गलेमें चिपट [लग] जाती है। जिसको अन्य लोगोंने [किसी भले आदमीके साथ नहीं, अपितु मातंग अर्थात्] चाण्डालों [दूसरे पक्षमें मातंगका अर्थ हाथियों] के ऊपर गिरते हुए [विपरीत रतिके लिए उद्यत] देखा है। उस [दुराचारिणी सौत] तलवारपर रीझा हुआ यह [आपका जामाता और मेरा पति] कुछ नहीं सोचता-समझता है और उसने [उदारतावश] मुझ [लक्ष्मी]को अपने सेवकोंको [उसका यथेष्ट भोग करनेके लिए] सौंप दिया है। यह भी आप [मेरे पिता]को विदित हो। [राजाकी पत्नी] लक्ष्मीकी आज्ञासे मानो यह कहनेके लिए जिसकी कीर्त्ति [उसकी पत्नी लक्ष्मीके पिता] समुद्रके पास गयी है ॥२४२॥

यहाँ 'विदितं तेऽस्तु' यह [वाक्य दूसरे वाक्यके अन्तर्गत] कर दिया है। [अतः गर्भितत्व दोष होता है। इसके अतिरिक्त] लक्ष्मी उसको छोड़ [तलाक दे] रही है इस विरुद्ध बुद्धिकी भी प्रतीति [होने]से विरुद्ध-मतिकृत [नामक दूसरा दोष भी [इसमें पाया जाता] है।

१८. प्रसिद्धि-विरुद्धता दोष—

इस प्रकार गर्भितत्व दोपका निरूपण करनेके बाद 'प्रसिद्धि-विरुद्धता' दोषका निरूपण करते हैं। कवियोंके यहाँ कुछ विशेष शब्दों तथा अर्थोंका विशेष रूपमें ही वर्णन करनेका नियम या परम्परा चली आ रही है। उसको 'कवि-समय' या 'कविप्रसिद्धि' कहा जाता है। इस कविसमय या कविप्रसिद्धिका उल्लघन होनेपर 'प्रसिद्धि-विरुद्धता' दोष होता है। उसको दिखलानेके लिए कविसमयगत कुछ शब्दोंके विशेष प्रयोगका विधान पहिले दिखलाकर फिर उनके अन्यथा-प्रयोगके कारण प्रसिद्धि-विरुद्धता दोषका उदाहरण देंगे।

(१८) मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति ।
स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम् ॥ २ ॥

इति प्रसिद्धिमतिक्रान्तम् यथा—

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्त्तक-
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरुतानुकारी मुहुः ।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः ॥२४३॥

अत्र रवो मण्डूकादिषु प्रसिद्धो न तूक्तविशेषे सिंहनादे ।

(१९) भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र । यथा—

नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तङ्गते हन्त निशाऽपि याता ।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति ॥२४ ॥

अत्र 'गता' इति प्रकान्ते 'याता' इति प्रक्रन्तेः । 'गता निशाऽपि' इति इति तु युक्तम् ।

१८—मञ्जीर आदि [के शब्दके कथन करने]में रणित आदि जैसे [शब्दोंका], पक्षियों [के शब्द]में कूजित आदि सुरतमें स्तनित, मणित आदि तथा मेघ आदि [के शब्द]में गर्जित आदि [का प्रयोग करना चाहिये] ।

इस प्रकारकी प्रसिद्धिका अतिक्रमण करने वाला [प्रसिद्धि-विरुद्धता दोष होता है] जैसे—

महाप्रलयकी वायुसे क्षुभित [चतुर्दश प्रकारके] पुष्करावर्तक [आदि नामोंसे प्रसिद्ध] भयंकर मेघोंके गर्जनकी प्रतिध्वनिके सदृश सुननेमें भयंकर लगनेवाला [अथवा कानोंको भय प्रद] आकाश और पृथिवीको भर देनेवाला यह समर-सागरसे उत्पन्न अपूर्वशब्द सामनेसे क्यों [या कहाँसे] आ रहा है ॥२४३॥

यहाँ 'रव' शब्द मेढ़क आदि [के शब्द]में प्रसिद्ध है, न कि उक्त प्रकारके विशिष्ट सिंहनाद [के अर्थ]में । [इसलिए यहाँ प्रसिद्धि-विरुद्धता दोष है] ।

१९. भग्नप्रक्रमता दोष—

१९—जहाँ प्रकरण [प्रस्ताव]का भंग हो जाता है [उसको भग्नप्रक्रमता दोष कहा जाता है] जैसे—

दैववश रात्रिके पति [चन्द्रमा]के अस्त हो जानेपर रात्रि भी चली [विनष्ट हो] गयी, रूप दुःखकी बात है । [किन्तु] कुलाङ्गनाओंके लिए [पतिकी मृत्यु रूप इस] दशाके योग्य इससे अधिक अच्छी और कोई बात सम्भव नहीं है ॥२४४॥

यहाँ 'गता' इस [गम धातुके प्रयोगके] प्रकरणमें [या धातुसे बने] 'याता' [का प्रयोग] प्रकृति [मूलधातु]की [भग्नप्रक्रमतारूप दोष है]। [उसके स्थानपर रूप] 'गता निशापि' [यह] कहना उचित है ।

ननु 'नैकं पदं द्विःप्रयोज्यं प्रायेण' इत्यन्यन्त्र, 'कथितपदं दुष्टम्'इति चेहैवोक्तं, तत्कथमेकस्य पदस्य द्विःप्रयोगः ? उच्यते उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्यव्यतिरिक्तो विषय एकपदप्रयोगनिषेधस्य। तद्वति विषये प्रत्युत तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नोवा प्रयोगं विना दोषः । तथा हि—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥२४५॥

अत्र 'रक्त एवास्तमेति'इति यदि क्रियते तदा पदान्तरप्रतिपादितः स एवार्थोऽर्थान्तरतयेव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयति ।

यथा वा—

इस प्रकार भग्नप्रक्रमता दोषको बचानेके लिए ग्रन्थकारने दोनों जगह 'गता' इस एक ही पदके प्रयोग किये जानेका सुझाव दिया है। इस विषयमें यह शंका उत्पन्न होती है, कि यदि दोनों जगह एक ही पदका प्रयोग किया जायगा, तो फिर पुनरुक्ति दोष हो जायगा, जिसे यहाँ ग्रन्थकारने भी वर्जित किया है, और अन्योंने भी उसको निषिद्ध माना है। तब यहाँ उसी पदके दो बारके प्रयोगका सुझाव कैसे दे रहे हैं ? इस प्रश्नका उत्तर ग्रन्थकारने यह दिया है, कि एक पदके दो बार प्रयोगका निषेध उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्य-भावसे भिन्न स्थलमें ही लागू होता है। जहाँ उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्यभाव होता है, वहाँ तो नियमतः उसी शब्दका प्रयोग होना चाहिये। अन्यथा प्रतिनिर्देश्य अर्थको अन्य पर्यायवाचक शब्दसे कहनेपर अर्थकी प्रतीति उतने सुन्दर रूपसे नहीं होती है। इस बातको ग्रन्थकार उदाहरणों द्वारा आगे स्पष्ट करेंगे।

प्रश्न—'एक पदका प्रायः दो बार प्रयोग नहीं करना चाहिये'। यह अन्यत्र [वामनने अपने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ग्रन्थके प्रथमाध्यायके पंचमाधिकरणमें], और 'कथितपद [पुनरुक्त] दोष होता है', यह यहाँ [काव्यप्रकाशमें आपने स्वयं ही] कहा है। तब ['गता' इस] एक ही पदका दो बार प्रयोग कैसे हो सकता है ?

उत्तर—कहते हैं—एक पदके दो बार प्रयोगके निषेधका विषय उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्य-भावसे भिन्न स्थल ही होता है। [तद्वति] उस [उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्यभाव]से युक्त स्थलमें तो बल्कि उसी पद या उसी सर्वनामके प्रयोगके न करनेपर दोष हो जाता है। जैसे कि—

सूर्य लाल ही उदय होता है, और अस्त होते समय भी लाल ही अस्त होता है। महापुरुषोंका सम्पत्ति तथा विपत्ति दोनोंमें एक-सा रूप रहता है ॥२४५॥

यहाँ [उद्देश्यस्थलमें और प्रतिनिर्देश्यस्थलमें दोनों जगह एक ही 'ताम्र' इस विशेषणका प्रयोग किया है। यदि इस एक पदके प्रयोगके स्थानपर प्रतिनिर्देश्यस्थलमें 'ताम्र' पदके पर्यायवाचक 'रक्त' शब्दका प्रयोग करके] 'रक्त एवास्तमेति च' ऐसा कर दिया जाय तो ['एव' रूप] अन्य पदसे प्रतिपादित वही [ताम्रत्वरूप] अर्थ भिन्न अर्थके समान प्रतीत होता है, और [सम्पत्ति-विपत्ति दोनोंमें एकरूपताकी] प्रतीतिमें बाधा उत्पन्न करता है। [इसलिए दोष हो जाता है]।

अथवा [भग्नप्रक्रमताका प्रत्ययगत दूसरा उदाहरण] जैसे—[किरातार्जुनीयके तृतीय सर्गमें अर्जुनके प्रति द्रौपदीकी उक्ति है कि—]

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसङ्ख्यामतिवर्त्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥ २४६ ॥

अत्र प्रत्ययस्य । 'सुखमीहितुं वा' इति युक्तः पाठः ।

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥ २४७ ॥

अत्र सर्वनाम्नः । 'अनेन विसृष्टा' इति वाच्यम् ।

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥ २४८ ॥

अत्र पर्यायस्य । 'महीभृतोऽपत्यवतोऽपि' इति युक्तम् । अत्र सत्यपि पुत्रे कन्यारूपेऽप्यपत्ये स्नेहोऽभूदिति केचित्समर्थयन्ते ।

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः ।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥ २४९ ॥

यश प्राप्त करनेके लिए, अथवा सुखको पानेके लिए, अथवा साधारण जनोंकी गणनाका उल्लंघन करनेके लिए, प्रयत्नशील पुरुषोंकी [लक्ष्मी प्राप्त करनेकी] इच्छा न होनेपर भी [स्वयं] ही उत्सुक हुई-सी लक्ष्मी उनकी गोदमें आ जाती है ॥२४६॥

यहाँ प्रत्यय [की भग्नप्रक्रमता है । 'सुख लिप्सया'के स्थानपर] 'सुखमीहितुं वा' यह [अधिगन्तुंके समान तुमुन् प्रत्ययान्त] पाठ उचित है ।

इस प्रकार प्रकृतिगत और प्रत्ययगत भग्नप्रक्रमताको दिखलाकर आगे ३. सर्वनाम, ४. पर्याय, ५. उपसर्ग, ६. वचन, ७. कारक तथा ८ क्रमकी भग्नप्रक्रमताके भी उदाहरण क्रमशः देते हैं—

वे [मरीचि आदि सप्तर्षिगण] हिमालयसे विदा माँग और शिवसे फिर मिलकर तथा उनको कार्यसिद्धि [पार्वतीके विवाहकी स्वीकृति] की सूचना देकर उन [शिवजी] की आज्ञा प्राप्तकर आकाशको चले गये ॥२४७॥

यहाँ ['तद्विसृष्टाः'में तत् इस] सर्वनामकी [भग्नप्रक्रमता है, उसके स्थानपर] 'अनेन विसृष्टाः' यह कहना चाहिये ।

मैनाक नामक पुत्रके पूर्व विद्यमान होनेके कारण] पुत्रवान् होनेपर भी पर्वतराज हिमालयकी दृष्टि [स्नेहातिशयके कारण] उस [पार्वती] सन्तानको देखकर तृप्तिको प्राप्त नहीं करती थी [स्नेहातिशयके कारण अतृप्त ही बनी रही] । जैसे वसन्तके अनेक पुष्पोंके होनेपर भी भ्रमरश्रेणी आम्र-मंजरीमें ही विशेषरूपसे आसक्त रहती है ॥२४८॥

यहाँ पर्यायकी [भग्नप्रक्रमता है] । ['महीभृतः पुत्रवतः'के स्थानपर] 'महीभृतोऽपत्यवतोऽपि' यह पाठ युक्त है । [अर्थात् दोनों जगह अपत्य पाठ होनेसे भग्नप्रक्रमता नहीं रहती है] कुछ लोग पुत्रके होनेपर भी कन्यारूप सन्तानमें हिमालयका विशेष स्नेह था, ऐसा विवक्षित अर्थ मानकर [पुत्रवतः इसी प्रयोगका] समर्थन करते हैं ।

पराक्रमहीन पुरुषको विपत्तियाँ घेर लेती हैं । विपत्तिग्रस्त पुरुषका भविष्य उसका साथ छोड़ देता है [अन्धकारमय हो जाता है] । जिसका भविष्य अन्धकारमय

अत्रोपसर्गस्य पर्यायस्य च । 'तदभिभवः कुरुते निरायतिं, लघुतां भजते निरायतिर्लघुतावान्न पदं नृपश्रियः' इति युक्तम् ।

काचित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधौ मन्दवक्रेन्दुलक्ष्मी-
रश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः ।
भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत्कम्पमानाः
प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरो भावि नार्यः शशंसुः ॥ २५० ॥

अत्र वचनस्य । 'काश्चित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्दवक्रेन्दुशोभा, निःश्रीकाः' 'इति 'कम्पमानाः' इत्यत्र 'कम्पमापुः'इति च पठनीयम् ।

है, उसकी [वर्तमान कालमें भी] लघुता [हीनत्वभावना] निश्चित है, और गौरवसे हीन व्यक्ति [कभी] राजश्रीका अधिकारी नहीं हो सकता है ॥२४९॥

यहाँ [विपद् तथा आपद् शब्दोंमें जुड़े हुए] उपसर्गकी और [अगरीयान् इस] पर्यायकी [भग्नप्रक्रमता है] । यहाँ 'तदभिभवः कुरुते निरायतिं' [ऐसा पाठ कर देनेसे 'आपदुपेतं' शब्दके कारण होनेवाला भग्नप्रक्रम दोष नहीं रहता है । इसी प्रकार उत्तरार्ध लघुता तथा 'अगरीयान्'के प्रयोगसे जो भग्नप्रक्रमता दोष होता है, वह] 'लघुतां भजते निरायतिः लघुतावान्न पदं नृपश्रियः' [ऐसा कर देनेपर नहीं रहता है । अतः यह युक्त पाठ है ।

अगला श्लोक माघ काव्यके पंचदश सर्गसे लिया है । शिशुपाल-पक्षीय राजाओंके युद्धके लिए तैयार होकर घरसे निकलते समय उनकी स्त्रियोंकी भावी अमंगलसूचक चेष्टाओंका इसमें वर्णन है । श्लोकके प्रारम्भमें 'काचित्' इस एक वचनका बादमें 'काश्चित् दधिरे,' 'काश्चित् भ्रेमुः' आदि बहुवचनोंका प्रयोग हुआ है । इसीलिए यह वचनकृत भग्नप्रक्रमता दोषका उदाहरण है । अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

कोई [स्त्री रजोभिः अर्थात् आर्तव या] मासिक धर्मसे व्याप्त अर्थात् रजस्वला होनेके कारण मन्दकान्तिवाले मुखचन्द्रके द्वारा [धूलिसे आच्छादित अतः मन्दकान्तिवाले चन्द्रमासे युक्त] आकाशका अनुकरण कर रही थी । [कुछ टीकाकारोंने कीर्णा रजोभिःकी नायिका-पक्षमें यह व्याख्या की है, कि भूमिपर लोटनेके कारण धूलिसे व्याप्त । परन्तु भूमिपर लोटनेका अभी कोई अवसर न होनेसे यह व्याख्या संगत नहीं है] शोभाविहीन और घबड़ाये हुए चित्तवाली कोई [नायिकाएँ दिग्दाहके समय घबड़ाये हुए सत्त्वों अर्थात् प्राणियोंसे युक्त] दिशाओंके समान अन्तः अर्थात् हृदयमें सन्तापको धारण कर रहीं थीं । अन्य नायिकाएँ वायुचक्रके समान चक्कर काट रहीं थीं । और दूसरी [अन्य कुछ नायिकाएँ] पग-पगपर [भूकम्पके समय] भूमिके समान काँप रही थीं । इस प्रकार [शिशुपाल-पक्षीय] राजाओंके [युद्धके निमित्त सजकर] चलते समय आगे होनेवाले अनिष्टको स्त्रियोंने पहिले ही सूचित कर दिया ॥२५०॥

यह वचनकी [भग्नप्रक्रमता] है । [उसको दूर करनेके लिए प्रथम चरणमें भी बहुवचनका प्रयोग करके] 'काश्चित्कीर्णारजोभिः' 'दिवमनुविदधुर्मन्दवक्त्रेन्दु शोभाः', 'निःश्रीका' इस प्रकार, और 'कम्पमानाः'के स्थानपर 'कम्पमापुः' यह पाठ होना चाहिये ।

कारककृत भग्नप्रक्रमताके उदाहरणरूपमें अगला श्लोक कालिदासके शकुन्तला नाटकके द्वितीय

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृंगैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यताम् ।
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥ २५१ ॥

अत्र कारकस्य । 'विश्रब्धा रचयन्तु शूकरवरा मुस्ताक्षतिम्' इत्यदुष्टम् ।

अकलिततपस्तेजोवीर्यप्रथिम्न यशोनिधा–
ववितथमदाध्माते रोषान्मुनावभिगच्छति ।
अभिनवधनुर्विद्यादर्पक्षमाय च कर्मणे
स्फुरति रभसात्पाणिः पादोपसङ्ग्रहणाय च ॥ २५२ ॥

अत्र क्रमस्य । 'पादोपसङ्ग्रहणाय' इति पूर्वं वाच्यम् । एवमन्यदप्यनुसर्त्तव्यम् ।

अंकसे उद्धृत किया गया है। शकुन्तलाको देखकर मृगया आदि अन्य किसी कार्यमें मन न लगनेसे राजा दुष्यन्त आज मृगयाका कार्यक्रम शिथिल करनेकी सूचना देते हुए सेनापतिसे यह श्लोक कह रहे हैं। इसके प्रथम और द्वितीय चरणमें 'महिषाः' और 'मृगकुलं' ये कर्तृवाचक पद प्रथमा विभक्तिमें प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु तीसरे चरणमें 'वराहपतिभिः' यह कर्त्तामें तृतीया विभक्तिका प्रयोग किया गया है, इसलिए यह कारककृत् भग्नप्रक्रमताका उदाहरण है।

[आज शिकारका भय न होनेसे निश्चिन्त होकर] भैंसे [मक्खियाँ उड़ानेके लिए] सींगोंसे बार-बार ताड़ित किये जाते हुए तालाबोंके जलमें अवगाहन करें। और [वन-वृक्षोंकी] छायामें झुण्ड बनाकर [बैठा हुआ] मृगोंका समूह जुगाली [रोमन्थ] करे। वराहपति निश्चिन्त होकर पोखरमें [पोखरके किनारे होनेवाले] नागरमोथाको खोदकर खायें, और शिथिल प्रत्यञ्चावाला हमारा यह धनुष भी आज विश्राम करे ॥२५१॥

यहाँ कारककी [भग्नप्रक्रमता है। उसे दूर करनेके लिए] 'विश्रब्धा रचयन्तु शूकरवराः मुस्ताक्षतिं' यह निर्दोष [पाठ] है।

ग्रन्थकारने 'विश्रब्धाः रचयन्तु शूकरवराः' इस निर्दुष्ट पाठका सुझाव दिया है। इस पाठसे कर्त्ता-कारकमें प्रथमा विभक्ति आ जानेसे पूर्व दोषका तो निवारण हो जाता है, परन्तु 'गाहन्तां अभ्यस्यतां' आदि पूर्व क्रियाओंको देखते हुए 'रचयन्तु' क्रियाके भेदके कारण दूसरी भग्नप्रक्रमता आ जाती है।

महावीर नाटकके द्वितीय अंकमें धनुष तोड़नेके बाद क्रुद्ध हुए परशुरामको आता हुआ देखकर रामचन्द्रजी कह रहे हैं कि—

अपरिमित तप और तेजके प्रभावसे महिमान्वित यशोनिधि और यथार्थ [वस्तुतः शोभा देखनेवाले] दर्पसे भरे हुए मुनि [परशुराम] के क्रोधपूर्वक आनेपर अभिनव [अभी सीखी हुई या अलौकिक] धनुर्विद्याके योग्य [युद्ध अथवा बाणके आकर्षक रूप] कर्मके लिए, और साथ ही [श्रद्धावश] पैरोंको पकड़ने [पैर छूने] के लिए हाथ जल्दीसे फड़क रहा है ॥२५२॥

यहाँ क्रमकी [भग्नप्रक्रमता] है। पैरोंके छूनेकी बात पहिले कहनी चाहिए। इसी प्रकार [भग्नप्रक्रमता] के अन्य उदाहरण भी समझ लेने चाहिये।

(२०) अविद्यमानः क्रमो यत्र । यथा—

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।

कला च सा कान्तिमती कलावतः, त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥२५३॥

अत्र त्वं-शब्दानन्तरं चकारो युक्तः ।

यथा वा—

शक्तिर्निस्त्रिंशजेयं तव भुजयुगले नाथ ! दोषाकरश्री–

र्वक्त्रे पार्श्वे तथैषा प्रतिवसति महाकुट्टनी खड्गयष्टिः ।

आज्ञेयं सर्वगा ते विलसति च पुरः किं मया वृद्धया ते

प्रोच्येवेत्थं प्रकोपाच्छशिकरसितया यस्य कीर्त्या प्रयातम् ॥ २५४ ॥

अत्र 'इत्थं प्रोच्येव' इति वाच्यम् । तथा—

'लग्नं रागावृताङ्ग्या' [२४२] इत्यादौ 'इति श्रीनियोगात्'इति वाच्यम् ।

यहाँतक भग्नप्रक्रमता दोषके ९ उदाहरण दिये गये हैं; अब इसके बाद 'अक्रमता' नामक बीसवें वाक्यदोषका निरूपण करते हैं । प्रारम्भमें जिस क्रमसे या जिस शैलीसे रचना प्रारम्भ की गयी है उस क्रमको छोड़कर बीचमें शैलीको बदल देनेपर 'भग्नप्रक्रमता' दोष होता है, जिसके बाद जिस पदको रखना चाहिये उस पदको न रखनेपर 'अक्रमता' दोष होता है ।

२०—जहाँ क्रम विद्यमान न हो [उसको अक्रमता दोष कहा जाता है] जैसे—

'द्वयं गतं' आदि [श्लोकका अर्थ उदाहरण सं० २२६—पर दिया जा चुका है । वहाँसे ही देखना चाहिए] ॥२५३॥

इसमें 'त्वं' शब्दके बाद चकार [का प्रयोग] उचित है । अथवा जैसे—

हे नाथ ! आपकी बाहुओंमें तलवारसे उत्पन्न हुई शक्ति [पक्षान्तरमें निस्त्रिंश तीससे भी अधिक आदमियोंसे सम्बन्ध रखनेवाली व्यभिचारिणी स्त्रीसे उत्पन्न यह शक्ति नामक वेश्या-पुत्री तुम्हारी बाहुओंमें जकड़ी हुई तुम्हारा आलिङ्गन कर रही] है दोषोंकी खान ये लक्ष्मी आपके मुखमें [चुम्बन प्राप्त कर रही है । पक्षान्तरमें दोषाकर चन्द्रमाका सौन्दर्य आपके मुखमण्डलपर विराज रहा है] और यह महाकुट्टिनी [अत्यन्त दुश्चरित्रा, पक्षान्तरमें बड़ा आघात पहुँचानेवाली] खड्ग-यष्टि आपके पासमें रहती है । आपकी यह आज्ञा [नामक प्रेमिका] सबके पास पहुँचनेवाली [व्यभिचारिणी होनेपर भी] तुम्हारे सामने विलास करती है । ऐसी दशामें इस बूढ़ी [पक्षान्तरमें वृद्धिको प्राप्त, दूर-दूरतक फैली हुई] मुझ [कीर्ति] से आपको क्या प्रयोजन है । मानों यह कहकर चन्द्रकिरणोंके समान उज्ज्वल जिस राजाकी कीर्ति क्रोधसे चल दी [पक्षान्तरमें सब जगह फैल गयी] ॥२५४॥

इसमें ['प्रोच्येवेत्थं'के स्थानपर] 'इत्थं प्रोच्येव' यह [पाठ] होना उचित है । और [उदाहरण सं० २४२ 'लग्नं रागावृत्ताङ्ग्या' इत्यादिमें 'इति श्रीनियोगात्' यह कहना चाहिये था, [इतिका प्रयोग कविने नहीं किया है] ।

(२१) अमतः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र । यथा—

रामसन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥ २५५ ॥

अत्र प्रकृते रसे विरुद्धस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽपरोऽर्थः ॥

अर्थदोषानाह—

(७६) अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहत-पुनरुक्त-दुष्क्रम-ग्राम्याः ॥ ५५ ॥
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धि-विद्याविरुद्धश्च ॥
अनवीकृतः सनियमानियम-विशेषाविशेषपरिवृत्ताः ॥ ५६ ॥
साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः ।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनःस्वीकृतोऽश्लीलः ॥ ५७ ॥

दुष्ट इति सम्बध्यते । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) अतिविततगगनसरणिप्रसरणपरिमुक्तविश्रमानन्दः ।
मरुदुल्लासितसौरभकमलाकरहासकृद्रविर्जयति ॥ २५६ ॥

२१—जहाँ दूसरा अर्थ अमत अर्थात् प्रकृत अर्थके विपरीत हो [उसको अमत-परार्थता दोष कहते हैं] जैसे—

वह [ताड़का नामक] राक्षसी कामदेवके सदृश सुन्दर रामचन्द्र [दूसरे पक्षमें रामरूप कामदेव] के बाणसे हृदयस्थलमें आहत होकर दुर्गन्धयुक्त [दूसरे पक्षमें सुगन्धयुक्त लालचन्दन] रक्त रूप चन्दनसे लिप्त होकर यमपुरी [जीवितेश यम । दूसरे पक्षमें अभिसारिकाके रूपमें प्राणनाथकी पुरी] को चली गयी ॥२५५॥

यहाँ प्रकृत [वीभत्स] रसमें विपरीत शृंगाररसका व्यञ्जक दूसरा [अभिसारिका-परक] अर्थ है । [अतः अमतपरार्थता दोष है] ।

इस प्रकार सबसे पहिले पद, पदांश तथा वाक्य तीनोंमें रहनेवाले १६ दोषोंका और वाक्यमें रहनेवाले २१ दोषोंके निरूपणके बाद २३ अर्थदोषोंका निरूपण आरम्भ करते हैं ।

३—अर्थदोषोंको कहते हैं—

१. अपुष्ट [अर्थ], २. कष्ट, ३. व्याहत, ४. पुनरुक्त, ५. दुष्क्रम, ६. ग्राम्य, ७. सन्दिग्ध, ८. निर्हेतु, ९. प्रसिद्धिविरुद्ध, १०. विद्याविरुद्ध, ११. अनवीकृत, १२. नियममें अनियम, १३. अनियममें नियम, १४. विशेषमें अविशेष, और अविशेष में विशेषरूप, १५. विशेष परिवृत्त, १६. साकांक्षता, १७. अपदयुक्तता, १८. सहचर-भिन्नता,१९. प्रकाशित-विरुद्धता, २०. विध्ययुक्तत्व, २१. अनुवादायुक्तत्व, २२. त्यक्त पुनः स्वीकृत, और २३. अश्लील [अर्थ दुष्ट होता है ॥ ५५-५७ ॥

[यह २३ प्रकारका अर्थ] दुष्ट होता है यह [पीछेसे अनुवृत्ति द्वारा या आक्षेप द्वारा] सम्बद्ध होता है । क्रमशः [उन सबके उदाहरण] आगे देते हैं, जैसे—

अत्यन्त विस्तीर्ण मार्गमें [प्रतिक्षण] चलते रहनेके कारण विश्रामसुखका परि-

अत्रातिविततत्वादयोऽनुपादानेऽपि प्रतिपाद्यमानार्थं न बाधन्त इत्यपुष्टाः, न त्वसङ्गताः पुनरुक्ता वा ।

(२) सदा मध्ये यासामियममृतनिस्यन्दसुरसा
सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम् ।
प्रसादं ता एता घनपरिचिताः केन महतां
महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः ।। २५७ ।।

त्याग कर देनेवाले और वायुके द्वारा जिसका सौरभ प्रसारित किया जा रहा है, इस प्रकारके कमल-समुदायको विकसित करनेवाला सूर्य सर्वोत्कर्ष-शाली है ॥२५६॥

यहाँ अतिवितत आदि [आकाशके विशेषणों] का ग्रहण यदि न किया जाय तो भी प्रतीत होनेवाले अर्थमें कोई बाधा नहीं होती है। इसलिए [अतिविततत्वादि विशेषणोंका उपयोग न होनेसे वे] अपुष्टार्थ हैं। असंगत अथवा पुनरुक्त नहीं हैं।

२—[कष्टार्थदोषका उदाहरण देते हैं]—

आकाशके समान [विस्तीर्ण] महाकाव्यमें अत्यन्त परिचित [सदैव महाकाव्योंका अनुशीलन करनेवाले] महानुभावोंको काव्यरसका आस्वादन करानेवाली [स्फुरित मधुरा] जिन रुचियोंमें अमृत [सदृश काव्यरस] के प्रवाहसे सुरस और [वक्रोक्ति-जीवितके अनुसार विचित्र, मध्यम तथा सुकुमाररूप तीन] अनेक मार्गोंसे प्रवाहित होनेवाली यह उद्दाम सरस्वती [नदीके समान कवि—भारती] काव्य-सौरभका अनुभव कराती रहती है [काव्य-मर्मज्ञ सहृदय महानुभावोंकी] वे रुचियाँ [काव्यके अतिरिक्त अन्य] किस [साधन] से आनन्द-लाभ कर सकती हैं? [अर्थात् काव्यमर्मज्ञ और निरन्तर काव्योंका अनुशीलन करनेवाले सहृदयोंको काव्यानुशीलनसे अधिक आनन्द कहीं प्राप्त नहीं हो सकता है]।

[श्लोकका दूसरा अर्थ इस प्रकार है] महाकाव्यके सदृश [अनन्त वैचित्र्यपूर्ण तथा अह्लाददायक] आकाशमें [बहुत ऊँचे उड़नेवाले] मेघोंके समीप रहनेवाली [घन परिचिताः] मधुर कोमल प्रकाश देनेवाली नक्षत्रमण्डलकी [महतां] वे [प्रसिद्ध मनोरम] कान्तियाँ जिनके बीच अमृतके प्रवाहसे आह्लाददायिनी और अप्रतिहत गति-वाली [उद्दामा] बहुमार्गा, अनेक मार्गोंसे प्रवाहित होनेवाली यह [त्रिपथगा सरस्वती] आकाशगंगा सुन्दर प्रकाशधारा [परिमल] को प्रवाहित करती है वे [रात्रिकालीन नक्षत्रमण्डलकी कान्तियाँ] अन्य किस साधनसे अधिक सौन्दर्य [प्रसाद] को प्राप्त कर सकती हैं। [अर्थात् रात्रिके समय आकाशमें खिले हुए तारोंके बीच निकली हुई आकाशगंगाकी धारासे उस नक्षत्रमण्डलकी जो अपूर्व शोभा हो जाती है, वह सौन्दर्य उसको अन्य किसी प्रकारसे प्राप्त नहीं हो सकता है। इसी प्रकार काव्यानुशीलन-परायण सहृदय महानुभावोंको काव्यामृत-रसको प्रवाहित करनेवाली महाकवियोंकी बहुमार्गा सरस्वतीसे जो आनन्द प्राप्त होता है, वैसा आनन्द किसी साधनसे प्राप्त नहीं हो सकता है] ॥२५७॥

अत्र यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारविचित्रमध्यमात्मकत्रिमार्गा भारती चमत्कारं वहति ताः गम्भीरकाव्यपरिचिताः कथमितरकाव्यवत्प्रसन्ना भवन्तु । यासामादित्यप्रभाणां मध्ये त्रिपथगा वहति ताः मेघपरिचिताः कथं प्रसन्ना भवन्तीति संक्षेपार्थः । इति कष्टम् ॥

(३) जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥ २५८ ॥

ग्रन्थकारने कष्टार्थदोषके उदाहरणके रूपमें इस श्लोकको उद्धृत किया है, सो सचमुच ही यह श्लोक बड़ा ही क्लिष्ट है। इसका अर्थ बड़ी कठिनतासे समझमें आता है, प्राचीन टीकाकारोंने 'घन-परिचिताः' मेघोंसे आच्छादित 'महतां' द्वादश आदित्योंकी 'रुचयः' प्रभा किस प्रकार स्वच्छ हो सकती है, इस प्रकारकी दूसरी व्याख्या की है। परन्तु यह व्याख्या नितान्त असंगत है। प्रतीयमान अर्थका प्रस्तुत अर्थके साथ सामान्यतः उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध होता है। मेघाच्छन्न सूर्यकी कान्तिवाले अर्थका प्रकृत अर्थके साथ उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता है। अतः यह अर्थ संगत नहीं हो सकता है। उसकी अपेक्षा रात्रिमें खिली हुई नक्षत्रमालावाला अर्थ अधिक सुन्दर है। उसके बीच त्रिपथगा आकाशगंगा प्रवाहित हो रही है। वही उस नक्षत्रमालाको सौन्दर्य प्रदान करती है। 'घनपरिचिता'का अर्थ मेघोंसे आच्छादित नहीं, अपितु यत्र-तत्र ऊँचे शरत्कालीन श्वेत बादलोंसे युक्त अथवा अत्यन्त परि-चित प्रतिदिन दिखलाई देनेवाली, बहुशः अनुभूत आदि अर्थ हो सकते हैं। इस अर्थका प्रस्तुत अर्थके साथ उपमानोपमेय-भाव-सम्बन्ध भी बन सकता है। अतः यही इसका दूसरे पक्षमें सुसंगत अर्थ है।

जिन कविरुचियोंके मध्यमें [वक्रोक्तिजीवितके निर्माता कुन्तक द्वारा प्रतिपादित] सुकुमार, विचित्र तथा मध्यमरूप तीनों मार्गोंमें चलनेवाली भारती चमत्कारको उत्पन्न करती है। गम्भीर काव्योंसे परिचित वे साधारण काव्यके समान सुबोध [प्रसन्न] कैसे हो सकती है। [यह प्रकृत पक्षमें अर्थ है। दूसरे पक्षमें] जिन आदित्य प्रभाओंके मध्यमें त्रिपथगा आकाशगंगा बहती है वे मेघोंसे आच्छादित होनेपर कैसे स्वच्छ हो सकती है। यह संक्षेपसे [इस श्लोकका] अर्थ है।

इन दोनों ही पक्षोंमें की गयी यह व्याख्या कम रुचिकर प्रतीत होती है। श्लोक, कष्टत्व-दोषका उदाहरण है, इसलिए वृत्तिकारने उसका पूरा अर्थ न देकर संक्षेपार्थसे ही काम चलाया है। टीकाकारोंने जो इस वृत्तिभागकी व्याख्या की है, वह और भी अधिक क्लिष्ट हो गयी।

कष्टत्वदोषका उदाहरण देनेके बाद तीसरे अर्थदोष व्याहतत्वका उदाहरण आगे देते हैं—

३—[यह श्लोक मालतीमाधवके प्रथम अंकसे लिया गया है। माधव कह रहा है कि—] नवीन चन्द्रमाकी कला आदि वे [प्रसिद्ध] पदार्थ संसारमें [अन्य लोगोंके लिए बहुत सुन्दर] सर्वोत्कर्षयुक्त [भले ही हों। और जो अन्य पदार्थ भी [साधारण लोगोंके] मनको आह्लादित करते हैं वे भी स्वभावतः सुन्दर हैं ही [नहीं तो वे लोगों-को मोहित कैसे कर लेते। परन्तु मेरे लिए उनमें कोई आकर्षण नहीं है] मेरे लिए तो संसारमें जो यह [मालतीरूप] नेत्रोंकी चाँदनी [चाँदनीके समान नेत्रोंको आनन्द-दायक] दिखलाई पड़ी है वही इस जीवनमें एकमात्र सबसे बड़ा आनन्द है ॥२५८॥

अत्रेन्दुकलादयो यं प्रति पस्पशप्रायाः स एव चन्द्रिकात्वमुत्कर्षार्थमारोपयतीति व्याहतत्वम् ।

(४ क) कृतमनुमतमित्यादि ।। २५९ ।।

अत्र अर्जुन अर्जुनेति, भवद्भिरिति चोक्ते सभीमकिरीटिनामिति किरीटिपदार्थः पुनरुक्तः । यथा वा—

(४ ख) अस्त्रज्वालावलीढप्रतिबलजलधेरन्तरौर्वायमाणे
सेनानाथे स्थितेऽस्मिन्मम पितरि गुरौ सर्वधन्वीश्वराणाम् ।
कर्णाऽलं सम्भ्रमेण व्रज कृप ! समरं मुञ्च हार्दिक्य शङ्कां
ताते चापद्वितीये वहति रणधुरं को भयस्यावकाशः ।। २६० ।।

अत्र चतुर्थपादवाक्यार्थः पुनरुक्तः ।

(५) भूपालरत्न ! निर्दैन्यप्रदानप्रथितोत्सव !
विश्राणय तुरङ्गं मे मातङ्गं वा मदालसम् । २६१ ।

अत्र मातङ्गस्य प्राङ्निर्देशो युक्तः ।

यहाँ जिस [माधव] के प्रति [पूर्वार्द्धमें] चन्द्रकला आदिकी व्यर्थता [वर्णित की गयी] है वह ही [अपनी प्रियतमा मालतीमें] उत्कर्ष [दिखलाने] के लिए चन्द्रिकात्वका आरोप कर रहा है, यह बात परस्पर विरुद्ध है,[अतः इसमें व्याहतार्थत्व दोष है] ।

४. पुनरुक्तत्व [अर्थदोष]—

(४ क) 'कृतमनुमतं' इत्यादि [उदाहरण सं. ३९ पर पहिले आ चुका है] । २५९।

यहाँ [श्लोककी अवतरणिकामें उसके पहिले] अर्जुन ! अर्जुन ! और 'भवद्भिः' इसके कह चुकनेके बाद 'सभीमकिरीटिनां' में [अर्जुन के वाचक] 'किरीटि' पदका अर्थ पुनरुक्त [हो गया] है। [अतः यह पुनरुक्तरूप अर्थदोषका उदाहरण है]

अथवा जैसे—

(४ ख) अस्त्रोंकी ज्वालाओंसे व्याप्त शत्रुसेनाके लिए वड़वानलके समान [विशोषक या विनाशक] सारे धनुर्धारियोंके गुरु, मेरे पिता [द्रोणाचार्य] के सेनापति रहते हुए हे कर्ण ! डरनेकी आवश्यकता नहीं है, हे कृपाचार्य [आप निर्भय होकर] युद्धमें जाओ, और हे कृतवर्मन् [हार्दिक्य अर्थात् कृतवर्मा] शङ्का [भय] का त्याग कर दो पिताजी [अर्थात् द्रोणाचार्य] के धनुष हाथमें लेकर युद्धका सञ्चालन करनेपर भयका कौन सा अवसर है ? ।।२६०।।

इसमें चतुर्थ पादका अर्थ पुनरुक्त है ।

५. दुष्क्रमत्व [पञ्चम अर्थदोष]—

(५) दैन्याभावको प्रदान करनेके लिए प्रसिद्ध [प्रथितोत्सव] हे नृप शिरोमणे ! मुझे घोड़ा अथवा मदमाता हाथी प्रदान कीजिये ॥२६१॥

यहाँ हाथीका निर्देश पहिले करना चाहिये था ।

(६) स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते ।
तदयि ! साम्प्रतमाहर कूर्परं त्वरितमूरुमुदञ्चय कुञ्चितम् । २६२ ॥

एषोऽविदग्धः ।

(७) 'मात्सर्यमुत्सार्य' इत्यादि ॥ २६३ ॥

अत्र प्रकरणाद्यभावे सन्देहः शान्तशृङ्गार्यन्यतराभिधाने निश्चयः ।

(८) गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ॥
परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयात्
विमोक्ष्ये शस्त्र ! त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥ २६४ ॥

६. ग्राम्यत्व [अर्थदोष]—

इस प्रकार दुष्क्रमत्व दोषका निरूपण करनेके बाद छठे अर्थदोष ग्राम्यत्वका उदाहरण देते हैं—

६—जबतक समीपमें लेटा हुआ यह आदमी सो जाये तबतक [इसको दिखलानेके लिए सोनेका झूठा प्रदर्शन करनेके लिए] सो जाती हूँ, क्या हानि है, [तबतक तुम भी सो जानेका बहाना करनेके लिए सिरके नीचे] कोहनी लगा लो और जल्दी ही इन सिकुड़ी हुई टाँगोंको फैला दो । [इस प्रकार जबतक यह पासका आदमी जग रहा है, तबतक हम दोनोंको सो जाना चाहिये] । ॥२६१॥

यह ग्राम्य [अविदग्ध—अर्थका उदाहरण] है ।

७. सन्दिग्धत्व [अर्थदोष]—

इस प्रकार ग्राम्यत्वका उदाहरण देनेके बाद सप्तम अर्थ दोष सन्दिग्धत्वका उदाहरण देते हैं—

(७) 'मात्सर्यमुत्सार्य' इत्यादि [अर्थ उदाहरण सं० १३३ पर देखो] ॥२६३॥

यहाँ प्रकरणादिके अभावमें [क्या पर्वतकी उपत्यकाओंका सेवनीयत्व विवक्षित है, अथवा स्त्रियोंके नितम्बोंका] यह सन्देह है । शान्त अथवा शृंगारीमें किसी एकके [वक्तारूपमें] कथन कर देनेपर तो [एक पक्षमें] निश्चय हो सकता है ।

८. निर्हेतुत्व [अर्थदोष]—

इस प्रकार सन्दिग्धत्व दोषका निरूपण करनेके बाद निर्हेतु नामक अष्टम अर्थदोषका उदाहरण देते हैं । वेणीसंहार नाटकमें द्रोणाचार्यके मारे जानेके बाद अश्वत्थामा कह रहा है कि—

हे शस्त्र ! [ब्राह्मणके लिए तुम्हारा धारण करना] उचित न होनेपर भी [दूसरोंसे] तिरस्कृत होनेके भयसे [अपनेको बचानेके लिए] जिन [पिताजी] ने तुमको ग्रहण किया था, और जिन [द्रोणाचार्य] के प्रभावसे [संसारमें] कोई भी तुम्हारा अविषय नहीं था [कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था, जिसपर तुम्हारा प्रहार न हो सकता हो] उन्होंने भयसे नहीं अपितु [अश्वत्थामाकी मृत्युका झूठा समाचार सत्यवादी युधिष्ठिरके मुखसे सुनकर] पुत्रके शोकके कारण तुम्हारा परित्याग कर दिया । इसलिए [हे शस्त्र] मैं भी तुमको छोड़ रहा हूँ, [जाओ] तुम्हारा कल्याण हो ॥२६४॥

अत्र द्वितीय शस्त्रविमोचने हेतुर्नोपात्तः ।

(९ क) इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने !
यदेतस्मिन् हेम्नः कटकमिति धत्से खलु धियम् ।
इदं तद्दुःसाध्याक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा
तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम् ॥ २६५ ॥

अत्र कामस्य चक्रं लोकेऽप्रसिद्धम् ॥

यथा वा—

(९ ख) उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः !
सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवद्भिरवेक्ष्यताम् ॥
इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः ॥ २६६ ॥

अत्र पादाघातेनाशोकस्य पुष्पोद्गमः कविषु प्रसिद्धो न पुनरङ्कुरोद्गमः ।

यहाँ द्वितीय [अर्थात् अपने] शस्त्र त्यागका हेतु नहीं कहा, [अतः निर्हेतुत्व दोष है] ।

९. प्रसिद्धिविरुद्धता [अर्थदोष]—

(९ क) [कमलोंको जिससे आतंक अर्थात् भय हो वह चन्द्रमा कमलातंक हुआ उसके समान वदनवाली] हे चन्द्रवदने, तुमसे यह किसने कहा था, कि [हाथमें पहिने हुए इस कंगनको] तुम सोनेका कंगनमात्र समझो [मेरी दृष्टिमें तो वह कंगन नहीं अपितु कामदेवको जिनपर विजय प्राप्त करना या आक्रमण करना कठिन है, उन] दुःसाध्याक्रमण, [तरुण जितेन्द्रिय पुरुषोंको जीतने] के लिए महास्त्र [के रूपमें] कामदेवने बड़े प्रेमसे तुम्हारे करकमलके मूलमें यह चक्र स्थापित किया है [तुम्हारे हाथमें दिया है । अर्थात् यह कंगन नहीं, अपितु जितेन्द्रिय तरुणोंके लिए दिया हुआ कामदेवका चक्ररूप महास्त्र है] ॥२६५॥

यहाँ [चक्ररूप अस्त्रका वर्णन है, परन्तु] कामका चक्र [रूप अस्त्र] लोकमें प्रसिद्ध नहीं है [पुष्पबाण प्रसिद्ध हैं, अतः यह प्रसिद्धिविरुद्धता-दोष है] ।

(९ ख) अथवा [इसी प्रसिद्धिविरुद्धताका दूसरा उदाहरण] जैसे—

हे पथिको ! गोदावरीके किनारेके रास्तेको छोड़ दो, और [अपने चलनेके लिए] आप लोग कोई दूसरा रास्ता निकाल लो । क्योंकि पहिले मार्गमें किसी अभागिनीने अपने चरणकमलोंके आघात या आधानसे रक्ताशोकके वृक्षको निकलते हुए नवीन अंकुरोंसे आच्छादित कर दिया है ॥२६६॥

यहाँ [सुन्दरियोंके] पैरोंके प्रहारसे अशोकमें फूलोंका निकलना कवियोंमें [कविसमयगत] प्रसिद्ध है, अंकुरोंका निकलना [कविसमयगत] नहीं है [अतः अंकुरोद्गमका यह वर्णन प्रसिद्धिविरुद्ध है] ।

(९ ग) सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी-
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः ।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ताशंका क नासि शुभप्रदः ।। २६७ ।।

अत्रामूर्तापि कीर्तिः ज्योत्स्नावत्प्रकाशरूपा कथितेति लोकविरुद्धमपि कविप्रसिद्धेर्न दुष्टम् ।।

(१० क) सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः ।
नानाविधानि शास्त्राणि व्याचष्टे च शृणोति च ।। २६८ ।

अत्र ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ स्नानं धर्मशास्त्रेण विरुद्धम् ।

(१० ख) अनन्यसदृशं यस्य बलं बाह्वोः समीक्ष्यते ।
षाड्गुण्यानुसृतिस्तस्य सत्यं सा निष्प्रयोजना ।। २६९ ।।

एतद् अर्थशास्त्रेण ।।

[इसी प्रसिद्धिविरुद्धताका प्रत्युदाहरण देते हैं]—

(९ ग) कभी चाँदनीके प्रकाशमें अत्यन्त शुभ्र वस्त्र तथा अलंकारोंसे सुसज्जित सुन्दरीके अभिसार करते समय [प्रियतमके घर जाते समय] चन्द्रमा छिप गया। [तब अन्धकार हो जानेसे उसमें सफेद वस्त्रोंके चमकनेसे वह भयभीत हुई] उसके बाद किसीने आपकी कीर्त्तिका गान किया और [उसका शुभ्र प्रकाश चारों ओर फैल जानेसे] वह निःशंक होकर प्रियतमके घरको चली गयी। आप कहाँ कल्याणकारी नहीं हैं ॥२६७

यहाँ अमूर्त कीर्त्तिको ज्योत्स्नाके प्रकाशके समान [शुभ्र] कहा है, यह लोकविरुद्ध होनेपर भी [कवि-समयगत] कवियोंमें प्रसिद्ध होनेसे दोष नहीं है।

१०. विद्याविरुद्धता [अर्थदोष]—

इस प्रकार प्रसिद्धिविरुद्धताके दो उदाहरण और एक प्रत्युदाहरण देनेके बाद भिन्न-भिन्न शास्त्रोंके विरोधको दिखलानेके लिए पहिले धर्मशास्त्रके विपरीत, फिर अर्थशास्त्र, फिर कामशास्त्र, और उसके बाद मोक्षशास्त्रके विपरीत, इस शैलीसे विद्याविरुद्धके चार उदाहरण देते हैं—

(१० क) वह विद्वान् सदा [मध्य] रात्रिमें स्नान करके सारे दिन नाना प्रकारके शास्त्रोंकी व्याख्या करता है, और [दूसरोंकी नयी की गयी व्याख्याको अथवा मूल शास्त्रको] सुनता है ॥२६८॥

यहाँ ग्रहण [ग्रहणोपरागादि] विशेष कारणोंके विना रात्रिमें स्नान करना धर्मशास्त्रके विरुद्ध है [रात्रौ स्नानं न कुर्वन्ति राहोरन्यत्र दर्शनात्]।

(१० ख) जिस [राजा अथवा पुरुष] के बाहुओंमें अतुल बल प्रतीत होता है [या पाया जाता है] उसके लिए [नीतिशास्त्रमें प्रसिद्ध सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव रूप] षाड्गुण्यका प्रयोग सचमुच ही व्यर्थ है ॥२६९॥

यह अर्थ शास्त्रसे [राजनीतिशास्त्रसे विपरीत होनेसे विद्याविरुद्धदोष] है।

(१० ग) विधाय दूरे केयूरमनङ्गाङ्गणमङ्गना ।
बभार कान्तेन कृतां करजोल्लेखमालिकाम् ॥२७०॥
अत्र केयूरपदे नखक्षतं न विहितमिति, एतत्कामशास्त्रेण ।

(१० घ) अष्टांगयोगपरिशीलनकीलनेन दुःसाध्यसिद्धिसविधं विदधद्विदूरे ।
आसादयन्नभिमतामधुना विवेकख्यातिं समाधिधनमौलिमणिर्विमुक्तः ॥ २७१ ।

अत्र विवेकख्यातिस्ततः सम्प्रज्ञातसमाधिः, पश्चादसंप्रज्ञातस्ततो मुक्तिर्न तु विवेकख्यातौ, एतत् योगशास्त्रेण । एवं विद्यान्तरैरपि विरुद्धमुदाहार्यम् ।

(११) प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥ २७२ ॥

अत्र ततः किमिति न नवीकृतम् ॥

(१० ग) कामदेवकी क्रीड़ाभूमि [रूप] उस स्त्रीने बाजूबन्दोंको दूर करके [उनके स्थानपर] पतिके द्वारा उत्पादित नख-क्षतोंकी मालाको धारण किया ॥२७०॥

['नखक्षतस्य स्थानानि कक्षौ वक्षस्तथा गलः । पार्श्वौ जघनमूरुश्च स्तन-गण्ड-ललाटिकाः' इस कामशास्त्रके वचनके अनुसार] बाजूबन्दके स्थानपर नखक्षतका विधान नहीं किया गया है, इसलिए यह कामशास्त्रके विरुद्ध [होनेसे विद्याविरुद्ध] है ।

(१० घ) समाधि ही जिनका धन है, ऐसे योगियोंका शिरोमणि यह योगी अष्टांग योगके परिशीलन तथा अभ्यास [कीलन] से दुष्प्राप्य सिद्धि [अर्थात् मुक्ति] के समीपवर्ती [असम्प्रज्ञात समाधि] को दूर करके [अर्थात् उसके बिना ही] अभिमत विवेक ख्याति [प्रकृति पुरुषके भेदज्ञान] को प्राप्त करते हुए अब मुक्त हो गया ॥२७१॥

यहाँ पहले [प्रकृति पुरुषके भेदके ज्ञानरूप] विवेक ख्याति [होती है] उसके बाद सम्प्रज्ञात समाधि, उसके बाद असम्प्रज्ञात समाधि, उसके बाद मुक्ति होती है । [यह योगशास्त्रका क्रम है] न कि विवेकख्याति होनेपर ही [मोक्ष हो जाता है । अतः] यह योगशास्त्रसे [विपरीत होनेसे विद्याविरुद्ध है] ।

इसी प्रकार अन्य शास्त्रोंके विपरीत उदाहरण भी दिये जा सकते हैं ।

११. अनवीकृतत्व [अर्थदोष]--

विद्याविरुद्ध दोषके बाद अनवीकृत रूप ग्यारहवें अर्थदोषका निरूपण करते हैं ।

समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली सम्पत्ति प्राप्त कर ली तो क्या हुआ, शत्रुओंके सिरपर पैर रख लिया तो उससे क्या हुआ, सम्पत्तिसे अपने मित्रोंको तृप्त कर दिया तो उससे क्या हुआ, और शरीरधारियोंके शरीर कल्पपर्यन्त स्थिर बने रहे तो उससे भी क्या लाभ [आत्मज्ञानके बिना यह सब व्यर्थ है] ॥२७२॥

इसमें [चारों चरणोंमें] 'ततः किं' [यह आया है] उसमें कोई नवीनता नहीं है।

तत्तु यथा—

यदि दहत्यनिलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः ।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥ २७३॥

(१२) यत्रानुल्लिखितार्थमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा ।
याताः प्राणभृतां मनोरथगतीरुल्लंघ्य यत्संपद-
स्तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥२७४॥

वह [नवीनकृतत्व] तो [इस प्रकार होता है] जैसे—

यदि अग्नि जलाता है, तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है ? यदि पहाड़ोंमें गुरुता [भारीपन] है तो क्या हुआ ? समुद्रका पानी सदा खारी होता है, और कभी दुःखी न होना यह सज्जनोंका स्वभाव ही है ॥२७३॥

इसमें सब जगह नये-नये पदोंका प्रयोग किया है। अतः इसमें अनवीकृतत्व नहीं अपितु नवीकृतत्व ही है। अतः यह 'अनवीकृतत्व'का प्रत्युदाहरण है।

चार प्रकारके परिवृत्ति दोष—

इस अनवीकृतत्व दोषके बाद अर्थदोषोंका परिगणन करनेवाली कारिकामें 'सनियमानियम-सविशेषाविशेषपरिवृत्ताः' यह एक लम्बा समस्तपद दिया है। इसमें चार अर्थदोषोंकी गणना एक साथ की गयी है। सनियम-अनियम-विशेष और अविशेष इन चारोंके साथमें पठित 'परिवृत्ताः' पद 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते' इस नियमके अनुसार इन चारोंके साथ जुड़ता है। इसलिए सनियम-परिवृत्त, अनियम-परिवृत्त, विशेष-परिवृत्त और अविशेष-परिवृत्त ये चार प्रकारके अर्थ-दोष इस पदके द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं। इसमें सबसे पहिला दोष 'सनियम-परिवृत्त' है। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ नियम या अवधारण सहित बात कहनी चाहिये वहाँ बिना नियम या बिना अवधारणके वर्णन किया जाय। वह 'सनियम-परिवृत्त' दोष होता है। और जहाँ अनियमसे अर्थात् बिना अवधारणके बात कहनी उचित है, वहाँ नियम या अवधारण करते हुए वर्णन किया जाय तो तो वह 'अनियम-परिवृत्त' दोष होगा। 'परिवृत्त' शब्दका अर्थ वैपरीत्य है। सनियम-वैपरीत्य और 'अनियम-वैपरीत्य' ये दो दोष एक-दूसरेके विरुद्ध हैं।

१२. सनियम-परिवृत्ति [अर्थदोष]—

सनियम-परिवृत्तका जो उदाहरण ग्रन्थकारने दिया है, वह एक कठिन, दुर्ज्ञेय, अन्योक्तिरूप है। इसमें कवि यह कहना चाहता है,, कि किसी अलौकिक योग्यताशाली महापुरुषकी साधारण पुरुषोंके साथ गणना करना, या उन क्षुद्र पुरुषोंसे उसकी तुलना करके उसकी किसी विशेषताका प्रदर्शन करना उसका अपमान करना ही है। अपने इस अभिप्रायको प्रकट करनेके लिए कौस्तुभ मणिको प्रस्तुत विषय बनाकर उसकी प्रशंसा करते हुए कवि लिख रहा है कि—

(१२) जिस [अद्वितीय कौस्तुभ मणि] के सामने विधाताकी यह सारी रचना [अनुल्लिखित अर्थ] निष्प्रयोजन-सी प्रतीत होती है, जिसमें उत्कर्षके प्रतियोगी [अर्थात् यह कौस्तुभ मणि इस पदार्थसे अच्छा है, इस प्रकारकी तुलना करके

अत्र ''छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचिता'' इति सनियमत्वं वाच्यम् ॥

(१३) वक्त्राम्भोजे सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ॥
वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन् कथमवनिपते ! तेऽम्बुपानाभिलाषः ॥२७५॥

अत्र शोण एव इति नियमो न वाच्यः ॥

जिसकी अपेक्षा अच्छा है, उस प्रतियोगी] की कल्पना करना भी जिसका परम अपमान है, जिसकी सामर्थ्य [सम्पत्ति] प्राणियोंके मनोरथोंकी गतिको भी पार कर गयी है [अर्थात् न केवल मनुष्य अपितु देवता आदितक कोई भी जिस वस्तुकी मनमें सर्वोत्कृष्ट रूपसे या प्राप्तव्यरूपसे कल्पना कर सकते हैं, कौस्तुभ मणिकी सामर्थ्य उससे भी अधिक दे सकनेकी है], जिसकी छायामात्रसे मणि बन जानेवाले पत्थरोंके [साथ तुलना आदि करनेकी अपेक्षा उनके] बीच उस [कौस्तुभ] मणिका पत्थर [रूपमें परिगणित] होना ही उचित है ॥२७४॥

यहाँ [जिसकी] छायामात्रसे मणि बने हुए पत्थरोंमें उस मणिकी पत्थर-रूपता [से गणना] ही उचित है। इस प्रकार [नियमसूचक 'मात्र' पदको जोड़कर 'छायाभास'-के स्थानपर 'छायामात्र' इस प्रकारसे] सनियमत्व कहना चाहिये। [उस मात्र शब्दका प्रयोग न करनेसे यह 'सनियम-परिवृत्ति' रूप अर्थदोषका उदाहरण बन गया है]।

१३. अनियम-परिवृत्ति [अर्थदोष]—

आगे 'अनियम-परिवृत्ति' अर्थात् जहाँ नियम नहीं कहना चाहिये वहाँ नियम या अवधारण-के प्रयोगका उदाहरण देते हैं। यह श्लोक बल्लाल-विरचित भोजप्रबन्धसे लिया गया है। शिकारके समय प्यास लगनेपर राजा विक्रमादित्यके इलायची, खस, चन्दन, कपूर आदिसे सुगन्धित जल माँगनेपर राजाके प्रति मागधकी उक्ति है। इसका आशय यह है, कि हे राजन् ! आपके मुखमें और समीप ही सब नदियोंकी स्थिति है, तब आपको जलपानकी इच्छा क्यों हो रही है ? इसी बातका उपपादन करते हुए मागध कह रहा है कि—

(१३) हे राजन् ! आपके मुखकमलमें सदा सरस्वती [नदी तथा देवी] बसती है, आपका अधरोष्ठ सदा शोण [सोन नदी तथा लालरंगका] ही रहता है, रामचन्द्र-जी [काकुत्स्थ]के पराक्रमका स्मरण दिलानेमें समर्थ आपका दक्षिण बाहु, दक्षिण समुद्र [राजचिह्नरूप मुद्रासे अंकित] ही है, ये वाहिनियाँ [एक पक्षमें नदियाँ और दूसरे पक्षमें सेनाएँ] तनिक देरके लिए भी कभी आपका साथ नहीं छोड़ती हैं, और आपके भीतर स्वच्छ मानस [मानसरोवर और दूसरे पक्षमें मन] के रहते हुए आपको जल पीनेकी इच्छा कैसे होती है ॥२७५॥

यहाँ 'शोण एवाधरस्ते' आपका अधर शोण ही है, यह नियम नहीं कहना चाहिये। [उसके कह देनेसे यह 'अनियम-परिवृत्ति' दोषका उदाहरण बन गया है]।

१४. विशेष-परिवृत्ति [अर्थदोष]—

आगे 'विशेष-परिवृत्ति' अर्थात् जहाँ विशेषको न कहकर सामान्यवाचक शब्दका प्रयोग करना

(१४) श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः ! सान्द्रैर्मषीकूर्चकैः
मन्त्रं तन्त्रमथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां श्रियम् ।।
चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके
येन द्रष्टुमहं क्षमे दश दिशस्तद्वक्त्रमुद्रांकिताः ।। २७६ ।।

अत्र 'ज्यौत्स्नीम्' इति श्यामाविशेषो वाच्यः ।।

(१५) कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारै रत्नान्यमूनि मकरालय ! मावमंस्थाः ।
किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम याञ्चाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ।।२७७।।

अत्र 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' इति सामान्यं वाच्यम् ।।

चाहिए, वहाँ सामान्यके बजाय विशेषवाचक शब्दका प्रयोग कर दिया जाय । उस विशेष-परिवृत्ति-का उदाहरण देते हैं । राजशेखर-कृत विद्धशालभञ्जिकाके तृतीय अंकमें नायिका मृगाङ्कावलीके वियोगमें आतुर राजा विद्याधर मल्लदेव आकाशभाषितके रूपमें सेवकोंको भोः, शब्दसे सम्बोधन करके कह रहे हैं कि—

हे सेवको ! गहरी काली स्याहीकी कूँचियोंसे [चाँदनी] रात्रिको काला कर दो । मन्त्र या तन्त्रका प्रयोग करके सफेद कमलोंकी शोभाको नष्ट कर दो । और चन्द्रमाको पत्थरकी शिलापर रख [या पटक] करके कण-कणमें पीस डालो, जिससे कि मैं दशों दिशाओंको उसकी मुख-मुद्रासे अंकित देख सकूँ ॥२७६॥

यहाँ 'ज्यौत्स्नीं' चाँदनी रात इस प्रकार रात्रि-विशेषका कथन करना चाहिये । [उसका कथन न करके रात्रिवाचक साधारण 'श्यामा' शब्दका प्रयोग किया गया है, अतः यह 'विशेष-परिवृत्ति' दोषका उदाहरण है] ।

१५. अविशेष-परिवृत्ति [अर्थदोष]—

जहाँ अविशेष अर्थात् सामान्यवाचक पदका प्रयोग करना चाहिये वहाँ उसका प्रयोग न करके विशेषवाचक पदका प्रयोग किया जाय तो वह 'अविशेष-परिवृत्ति' का उदाहरण हो जाता है, जैसे—

हे मकरालय [समुद्र] ! लहरों द्वारा फेंके गये या चलाये गये इन कठोर पत्थरोंके प्रहारसे इन रत्नोंको अपमानित मत करो । क्या [इन्हीं रत्नोंमेंसे केवल] अकेले कौस्तुभने पुरुषोत्तम [विष्णु भगवान्] को भी आपके सामने याचनाके लिए हाथ फैलानेवाला नहीं बना दिया ? ॥२७७॥

यहाँ [विशेषरूपसे कौस्तुभ मणिका नाम न लेकर सामान्य रूपसे] 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' क्या एकने उस पुरुषोत्तमको आपका याचक नहीं बना दिया, यह कहना चाहिये [सामान्यवाचकके स्थानपर विशेष कौस्तुभका नाम ले देनेसे यह 'अविशेष-परिवृत्ति' दोषका उदाहरण बन गया है] ।

१६. सांकाक्षता [अर्थदोष]—

इस प्रकार चार प्रकारकी परिवृत्तिके उदाहरण देनेके बाद साकांक्षतारूप सोलहवें अर्थदोषका निरूपण करते हैं—महावीरचरित नाटकमें सीताकी प्राप्तिसे निराश हुए रावणके अमात्य माल्यवान् रावणसे कह रहे हैं कि—

(१६) अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभो ! प्रत्युत-
द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।
उत्कर्षश्च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः
स्त्रीरत्नञ्च जगत्पतिर्दशमुखो देवः कथं मृष्यते ॥ २७८ ॥

अत्र स्त्रीरत्नं "उपेक्षितुं" इत्याकांक्षति ॥ नहि परस्येत्यनेन सम्बन्धो योग्यः ॥

(१७) आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी ।
उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः, क नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥२७९॥

अत्र "स्याच्चेदेष न रावणः" इत्यन्तमेव समाप्यम् ।

हे प्रभो ! [सीताकी प्राप्तिके लिए जनकके सामने] याचकता प्रकट करनेपर भी [सीतारूप] फलकी प्राप्ति नहीं हुई [यह ही बड़ा अपमान हुआ । पर उससे बढ़कर अपमान यह हुआ कि सीताको आपको न देकर] उलटे आपका विरोध करनेवाले शत्रु रामचन्द्रको वह कन्या दे दी । [इस व्यापारसे उत्पन्न होनेवाले] [१] शत्रु [रामचन्द्र] के उत्कर्षको [२] अपने मान तथा यशके विनाशको और [३] स्त्रीरत्न [की उपेक्षा करने] को संसारके स्वामी दशमुख देव [रावण] कैसे सहन कर सकते हैं ? ॥२७८॥

यहाँ 'स्त्रीरत्नं'के बाद 'उपेक्षितुं' इसकी आकांक्षा [वाक्यको] रहती है । और 'परस्य' दूसरेकी इसके साथ [स्त्रीरत्न पदका] सम्बन्ध करना भी उचित नहीं है । [क्योंकि उस 'परस्य'पदका उत्कर्षके साथ पहले ही सम्बन्ध किया जा चुका है ।]

१७. अपदयुक्तता—

इसके बाद अपदयुक्तता नामक १७वें अर्थदोषका उदाहरण देते हैं । अपदयुक्तताका अभिप्राय यह है कि जहाँ अपद अर्थात् अस्थान या अनुचित स्थानमें अनावश्यक पदोंको जोड़ दिया जाय वह अपदयुक्तता दोष होता है । राजशेखर-कृत बालरामायण नाटकके प्रथम अंकमें सीताके वरके रूपमें रावणके प्रस्तावकी विवेचना करते हुए जनकके पुरोहित शतानन्द कह रहे हैं कि—

[रावणके दूतसे शतानन्द कहते हैं कि रावणकी] आज्ञा इन्द्रके लिए शिरोधार्य [शिखामणिप्रणयिनी] है । शास्त्र जिसकी नवीन [प्रसिद्ध आँखोंसे भिन्न] आँखें हैं । भूतपति महादेवमें [जिसकी] अपार भक्ति है, और लंका इस नामसे विख्यात दिव्य नगरी उसका वासस्थान है । ब्रह्मा [द्रुहिण] के वंशमें जन्म हुआ है । इसलिए इस प्रकारका [इतने गुणोंसे युक्त] दूसरा वर नहीं मिल सकता है, यदि यह [दुराचारी] रावण न होता तो निःसन्देह ऐसा [उत्तम] और नहीं मिल सकता है । [अथवा] सबमें सब गुण कहाँ मिल सकते हैं ॥२७९॥

यहाँ 'स्याच्चेदेष न रावणः' यहाँतक ही समाप्त कर देना चाहिये । [क्योंकि

(१८) श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा ।
निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना नयेन चालंक्रियते नरेन्द्रता ॥२८०॥
अत्र श्रुतादिभिरुत्कृष्टैः सहचरितैर्व्यसनमूर्खतयोर्निकृष्टयोर्भिन्नत्वम् ॥

(१९) लग्नं रागावृताङ्गया ॥२८१॥

इत्यत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन श्रीस्तस्मादपसरतीति विरुद्धं प्रकाश्यते ।

(२०) प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशा-
मकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम् ।
इयं परिसमाप्यते रणकथाऽद्य दोःशालिना-
मपैतु रिपुकाननातिगुरुरद्य भारो भुवः ॥२८२॥

क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः' कह देनेपर तो रावणको सीताके देनेमें जो बाधा है, वह हलकी हो जाती है । और उसीको सीताके देनेके औचित्यकी प्रतीति होती है ।]

१८. सहचरभिन्नता—

अपदयुक्तताके बाद सहचर-भिन्नता नामक १८ वें अर्थदोषका निरूपण करते हैं—

शास्त्र-श्रवणसे बुद्धि, दुर्व्यसनसे मूर्खता, [यौवनके] मदसे स्त्री, पानीसे नदी, चन्द्रमासे रात्रि, समाधिसे धैर्य और नीतिसे नरेन्द्रता [राज-पद] शोभित होती है ॥२८०॥

यहाँ श्रुति आदि उत्कृष्ट [पदार्थों] के साथ व्यसन और मूर्खता इन दो निकृष्ट अर्थोंके सहचारसे सहचर-भिन्नता [अर्थदोष हो जाता] है ।

१९. प्रकाशितविरुद्धता—

सहचर-भिन्नताके बाद प्रकाशितविरुद्धता नामक १९ वें अर्थदोपका उदाहरण देते हैं ।

१९—"लग्नं रागावृताङ्गया" [इत्यादिका अर्थ उदाहरण सं० २४१ पर दिया जा चुका है । वहींसे देखना चाहिये] ॥२८१॥

इसमें 'आपको मालूम होना चाहिये' इससे 'लक्ष्मी उसको छोड़ रही है ।' यह विरुद्ध अर्थ प्रकाशित हो रहा है [अतः यहाँ प्रकाशितविरुद्धता नामक अर्थदोष है] ।

२०. विध्ययुक्तता—

प्रकाशितविरुद्धताके बाद 'विधिकी अयुक्तता' रूप २० वें अर्थदोपका उदाहरण देते हैं । यह श्लोक भी वेणीसंहारके तृतीय अंकसे लिया गया है । जान पड़ता है कि मम्मटने वेणीसंहारको विशेष रूपसे दोषदर्शनके लिए चुन लिया है । इसीलिए इतने अधिक संख्यामें बार-बार वेणीसंहारसे ही दोषोंके उदाहरण देते हैं । निम्नलिखित उदाहरणमें द्रोण-वधसे कुपित और शत्रुओंसे इसका बदला लेनेके लिए उत्सुक अश्वत्थामा दुर्योधनको आश्वासन देता हुआ कह रहा है कि—

[शत्रुओंका विनाश करके बिलकुल निश्चिन्त हो] आज सारी रात ऐसे सोओगे कि सबेरे [चारणों द्वारा उच्च स्वरसे निरन्तर की जानेवाली] स्तुतियोंसे प्रयत्नपूर्वक जगाये जा सकोगे । आज संसार श्रीकृष्ण, पाण्डवों और [द्रोणका वध करनेवाले

अत्र "शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे"—इति विधेयम् । यथा वा—

> वाताहारतया जगद्विषधरैराश्वास्य निःशेषितं
> ते ग्रस्ताः पुनरभ्रतोयकणिकातीव्रव्रतैर्बर्हिभिः ।
> तेऽपि क्रूरचमूरुचर्मवसनैर्नीताः क्षयं लुब्धकै-
> र्दम्भस्य स्फुरितं विदन्नपि जनो जाल्मो गुणानीहते ॥२८३॥

अत्र वाताहारादित्रयं व्युत्क्रमेण वाच्यम् ॥

धृतद्युम्नके सोमवंशसे रहित हो जायगा । [और इन तीनका ही नाम क्यों लिया जाय, सत्य बात तो यह है कि—] आजसे बाहुबलका दर्प करनेवाले इन क्षत्रियोंकी यह युद्ध-कथा ही समाप्त हो जायगी [क्योंकि परशुरामकी तरह आज मैं समस्त क्षत्रियोंका नाश किये देता हूँ, फिर जब कोई क्षत्रिय ही नहीं रहेगा, तो युद्धकी कथा स्वयं समाप्त हो जायगी] आज रिपु-समुदाय-रूप पृथिवीका महान् भार दूर हो जायगा ॥२८२॥

यहाँ "शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे" ऐसा [प्रयत्नसे जगाये जा सकोगे] विधेय है [उसे समासमें नहीं रखना चाहिये था] ।

अथवा विधि-अयुक्तताका दूसरा उदाहरण जैसे—

[यह उदाहरण भल्लट कवि-विरचित भल्लट-शतकसे लिया गया है । इसमें धार्मिक तपस्वी बननेका ढोंग रचनेवालोंकी पोल खोलकर कवि यह कह रहा है कि इनके ढोंगको जानते हुए भी लोग इस बातपर कैसे विश्वास करते हैं] विषधर सर्पोंने वायु-भक्षणके व्रतके द्वारा [कि हम तो केवल वायुका भक्षण करते हैं । हम किसीको हानि नहीं पहुँचा सकते हैं, इस प्रकारका] जगत्को विश्वास दिलाकर उसे समाप्त कर दिया [अर्थात् संसारको ठगनेके लिए उन्होंने वाताहारका ढोंग रचा था । परन्तु मोर उनके भी गुरु निकले] वर्षाजलकी बूँदोंके ही [पानका] कठिन व्रत धारण करनेवाले मयूरोंने उन [धूर्त ढोंगी सर्पों] को खा डाला [अर्थात् उन्होंने सर्पोंको ठगनेके लिए ही केवल वर्षाकी बूँदोंके पीनेका व्रत लिया था । पर उनके भी गुरु संसारमें निकल ही आये और ऋषियोंके समान] कठोर मृगचर्मके वस्त्रोंको धारण करनेवाले व्याधोंने [मृगचर्मके वस्त्रोंका ढोंग रचकर] उन [ढोंगी] मयूरोंका नाश कर दिया । इस प्रकार [धर्मका ढोंग रचनेवाले इन धूर्तोंके] ढोंगके व्यवहारको जानते हुए भी यह मूर्ख संसार इन गुणोंको चाहता है ॥२८३॥

यहाँ वाताहार आदि तीनोंको उलटे क्रमसे कहना चाहिये [उस प्रकारसे न कहनेके कारण विधि-अयुक्तता दोष हो गया है] ।

वृत्तिकारने जो दोष यहाँ दिखलाया है, उसका अभिप्राय यह है कि वाताहारका व्रत सबसे कठिन है, उससे अभ्रतोयकणिका-पानका व्रत सरल है, और मृगचर्मके धारणमात्रका व्रत बहुत सरल है । अतः सरलताके क्रमसे सबसे पहले मृगचर्म धारण करनेके व्रतका, उसके बाद अभ्रतोयकणिकाके व्रतका और सबसे अन्तमें वाताहार व्रतका वर्णन करना चाहिये था । यहाँ उसका क्रम उलटकर वर्णन किया है । अतः यहाँ दोष हो गया है । परन्तु वृत्तिकारकी इस व्याख्याने तो कविके सारे अभि-प्रायको ही समाप्त कर दिया है । कवि तो यह कहना चाहता है कि साँपोंने ढोंग रचकर संसारको

(२१) अरे रामाहस्ताभरण ! भसलश्रेणिशरण !
स्मरक्रीडाव्रीडाशमन ! विरहिप्राणदमन !
सरोहंसोत्तंस ! प्रचलदलनीलोत्पलसखे !
सखेदोऽहं मोहं श्लथय कथय क्वेन्दुवदना ॥२८४॥

अत्र "विरहिप्राणदमन" इति नानुवाद्यम् ।

लग्नं रागावृताङ्ग्येत्यादि ॥२८५॥

अत्र "विदितं तेऽस्तु" इत्युपसंहृतोऽपि तेनेत्यादिना पुनरुपात्तः ॥

धोखा दिया, तो उनको ठगनेवाले उनके भी गुरु मयूर उन्हें मिल गये । मयूरोंने जो सर्पोंको धोखा दिया तो उनके भी गुरु व्याधोंने उनको भी इस ढोंगका मजा चखा दिया । इस प्रकार इन धार्मिकताका दम्भ करनेवाले लोगोंमें एकसे एक बढ़कर ढोंगी होते हैं । इस प्रकार कवि व्रतके कठिनाईके तारतम्यको नहीं अपितु ढोंगियोंके पारस्परिक तारतम्यको दिखला रहा है । वृत्तिकारने उसको न समझकर अपनी नयी व्याख्या करके उसमें दोषकी कल्पना कर डाली है । यह युक्तिसंगत नहीं हुआ है । इसी प्रकार अन्य अनेक स्थलोंपर भी उनके सुझाव इसी प्रकारके हो गये हैं ।

२१. अनुवादायुक्तता—

इस विधिकी अयुक्तताके दो उदाहरण देनेके बाद ग्रन्थकार २१ वें अर्थदोष अनुवादायुक्तताके उदाहरण आगे देते हैं । कुछ टीकाकारोंने इसे नीलोत्पलके प्रति विरही पुरूरवाकी उक्ति बतलाया है, परन्तु विक्रमोर्वशीय नाटकमें यह श्लोक नहीं आता है । श्लोकमें कोई विरही नील कमलसे अपनी प्रियतमाका पता पूछ रहा है कि वह कहाँ गयी है । उसमें नील कमलके जो विशेषण दिये हैं उनसे यह सूचित होता है कि वह तुम्हारे पास अवश्य आयी होगी । इसलिए तुम उसका पता कुछ अवश्य दे सकते हो ।

हे [सुन्दरी] स्त्रियोंके हाथके आभूषण ! [इससे यह निकलता है, कि अपने हस्ताभरण बनानेके लिए वह यहाँ आयी होगी] हे भ्रमरसमुदायके शरणदाता [भसलश्च मिलिन्दश्च, शिलीमुखः] कामकेलिमें होनेवाली लज्जाका [उद्दीपन द्वारा] शमन करनेवाले, विरहियोंके प्राणोंका दमन [नाश] करनेवाले [सरोहंस] उत्तम तालाबोंके शोभाजनक ! चंचल पत्रोंवाले हे मित्र नील कमल ! मैं [प्रियतमाके वियोगमें] अत्यन्त दुःखी हूँ । मेरे मोहको दूर करो और बतलाओ कि वह चन्द्रवदनी कहाँ है ॥२८४॥

इसमें "विरहिप्राणदमन" यह अनुवादरूपसे नहीं कहना चाहिये ।

२२. समाप्तपुनरात्तत्व—

इस प्रकार विध्ययुक्तता तथा अनुवादायुक्तता निरूपण कर चुकनेके बाद ग्रन्थकार २२ वें अर्थदोषत्यक्तपुनःस्वीकृतत्व या समाप्तपुनरात्तत्वका उदाहरण देते हैं—

२२—"लग्नं रागावृत्ताङ्ग्या" [उदाहरण सं० २४१ पर देखिये] ॥२८५॥

इसमें 'विदितं तेऽस्तु' इस प्रकार उपसंहार हो जानेपर भी 'तेनास्मि दत्ता' इत्यादिसे फिर उठा लिया गया है । [इसलिए समाप्तपुनरात्तत्व या 'त्यक्त-पुनःस्वीकृतत्व' दोष हो गया है] ।

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः ।
यथास्य जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥२८६॥

अत्र पुंव्यञ्जनस्यापि प्रतीतिः ॥

यत्रैको दोषः प्रदर्शितस्तत्र दोषान्तराण्यपि सन्ति तथापि तेषां तत्राप्रकृतत्वात्प्रकाशनं न कृतम् ।

[सू० ७७]–कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः ।
सन्निधानादिबोधनार्थम् ।

---

२३. अश्लीलता—

२३वें अर्थदोष अश्लीलताका उदाहरण देते हैं—

[दूसरेका] नाश करने [मारने] के लिए तैयार, उद्धत अभिमानी [खड़े हुए] और दोषों [दूसरे पक्षमें योनिरूप छिद्र] को खोजनेवाले इस [दुष्ट व्यक्तिका लिङ्ग] का जितनी जल्दी पतन होता है उतनी जल्दी पुनः उत्थान नहीं होता ॥२८६॥

यहाँ पुरुषके लिङ्गकी भी प्रतीति होती है [इसलिए यह व्रीड़ाजनक अश्लीलताका उदाहरण हो जाता है] ।

अब इस दोष-निरूपण-प्रसंगका उपसंहार करते हुए लिखते हैं कि—

[उक्त समस्त उदाहरणोंमें] जहाँ एक दोष दिखलाया है, वहाँ और दोष भी [हो सकते] हैं, किन्तु यहाँ प्रसंग न होनेसे उनको दिखलाया नहीं है ।

दोषोंकी अनित्यताके उदाहरण—

इस प्रकार दोषोंका निरूपण कर चुकनेके बाद अब उनके अपवादस्थलोंका निरूपण प्रारम्भ करते हैं । अपवादस्थलका अभिप्राय यह है कि जो दोष ऊपर बतलाये गये हैं, उनमें कुछ दोष ऐसे भी हैं, जो सब जगह दोष ही नहीं रहते हैं अपितु कहीं गुण भी बन जाते हैं । ऐसे दोषोंको अनित्य दोष कहा जाता है । 'च्युतसंस्कार' आदि कुछ दोष ऐसे हैं, जो सदा दोष ही रहते हैं, उनको नित्य दोष कहा जाता है । यह नित्य और अनित्य दोषकी व्यवस्था रसापकर्षत्वके आधारपर होती है । च्युतसंस्कारादि नित्य दोष सदा रसके अपकर्षक होते हैं, अतः वे सदा दोष ही माने जाते हैं । श्रुतिकटुत्व आदि केवल शृंगार आदि कोमल रसोंके अपकर्षक होनेसे वहाँ दोष माने जाते हैं । रौद्र, वीर, आदि कठोर रसोंमें उनसे रसका अपकर्ष नहीं होता, इसलिए उनको दोष नहीं माना जाता है । और वे अनित्य दोष कहलाते हैं । इन अनित्य दोषोंका निरूपण आगे करते हैं ।

[सूत्र—७७] कर्णावतंस आदि पदोंमें [केवल अवतंस पदसे ही कानके आभूषरूप अर्थका ग्रहण हो जानेसे] कर्ण आदि पदोंका प्रयोग [ध्वनिनिर्मितिः, ध्वनि अर्थात् पदकी निर्मिति अर्थात् प्रयोग उनके कर्ण आदिमें] सन्निधान आदिके बोधनके लिए होता है [अतः उसको दोष नहीं समझना चाहिए] ।

यह ७७ वाँ तथा अगला ७८ वाँ, दोनों सूत्र मिलकर एक श्लोक बन जाते हैं । वामन के काव्यालङ्कारसूत्रके 'तदिदं प्रथक्तेषु' २-२-१९ की वृत्तिसे यह श्लोक दिया है । काव्यप्रकाशकारने इसको वहींसे ले लिया है ।

अवतंसादीनि कर्णाद्याभरणान्येवोच्यन्ते, तत्र कर्णादिशब्दाः कर्णादिस्थितिप्रतिपत्तये ॥
यथा—

अस्याः कर्णावतंसेन जितं सर्वं विभूषणम् ।
तथैव शोभतेऽत्यर्थमस्याः श्रवणकुण्डलम् ॥२८७॥

अपूर्वमधुरामोदप्रमोदितदिशस्ततः ।
आययुर्भृङ्गमुखराः शिरःशेखरशालिनः ॥२८८॥

अत्र कर्ण-श्रवण-शिरःशब्दाः सन्निधानप्रतीत्यर्थाः ।

विदीर्णाभिमुखारातिकराले सङ्गरान्तरे ।
धनुर्ज्याकणचिह्नेन दोष्णा विस्फुरितं तव ॥२८९॥

अत्र धनुःशब्द आरूढत्वावगतये ।

अवतंस आदि [नामसे] कानके आभूषण आदि ही कहे जाते हैं [परन्तु] वहाँ [उन आभूषण आदिकी] कान आदिमें स्थितिके बोध करानेके लिए कर्ण आदि शब्द [प्रयुक्त किये जाते] हैं। [उनका प्रयोग दोष नहीं है] जैसे—

इस [नायिका]के [कानमें पहने हुए] कर्णावतंसने सब आभूषणोंको जीत लिया, और उसी प्रकार इसका श्रवण-कुण्डल अत्यन्त शोभित हो रहा है ॥२८७॥

इसके बाद अपूर्व मीठी-मीठी सुगन्धसे दिशाओंको सुगन्धित करते हुए भौरोंके गुञ्जारसे युक्त शिरःशेखरधारी पुरुष आ पहुँचे ॥२८८॥

यहाँ [पहिले श्लोकमें] 'कर्ण' तथा 'श्रवण' शब्द और [दूसरे श्लोकमें] 'शिरः' शब्द [उन उन आभूषणोंके उन उन स्थानोंपर] सन्निधानका बोध करानेके लिए [प्रयुक्त किये गये] हैं। [अतः यहाँ पुनरुक्ति या अपुष्टार्थत्व दोष नहीं समझने चाहिये]।

सामना करनेवाले शत्रुओंके विनाशसे भयंकर, संग्रामके बीचमें [या दूसरे युद्धमें] धनुषकी प्रत्यञ्चाके [बार-बार लगनेके कारण उत्पन्न हुए] घावके [अच्छे हो जानेके बाद भी हाथपर बने हुए] चिह्नसे अङ्कित तुम्हारा बाहु फड़क उठा ॥२८९॥

यहाँ 'धनु' शब्द [प्रत्यञ्चाके धनुषपर] चढ़े हुए होनेके बोध करानेके लिए [प्रयुक्त किया गया] है।

अगला श्लोक रघुवंशके षष्ठसर्गसे लिया गया है। इस सर्गमें इन्दुमतीके स्वयंवरका वर्णन है। स्वयंवरके समय आये हुए राजाओंके परिचय करानेके प्रसंगमें सुनन्दा कार्तवीर्यके वंशधरका परिचय करा रही है। उसमें कार्तवीर्यके प्रभावका वर्णन रामायणके उत्तरकाण्डके ३१-३२ सर्गमें दी हुई कथाके आधारपर कर रही है। उस कथाका सारांश यह है कि एक बार माहिष्मतीके राजा कार्तवीर्य अपनी रानियोंके साथ जलक्रीड़ा कर रहे थे। उस समय उन्होंने अपनी बाहुओंसे रेवा नदीके जलको रोक लिया। जिसके कारण बाँध लग जानेसे नदीका पानी ऊपर बहुत स्थानमें फैल गया। रेवाके किनारे ही ऊपर कहीं रावण शिवजीकी पूजा कर रहा था। शिवलिंगकी अर्चनाके लिए उसने जो फूल लाकर रखे थे, इस बढ़े हुए पानीके प्रवाहमें सब बह गये। रावण इसको कैसे सह सकता था। वह कार्तवीर्यसे लड़नेके लिए तैयार हो गया। निदान युद्ध छिड़ जानेपर कार्तवीर्यने उसको पकड़कर

अन्यत्र तु—

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात् ॥२९०॥

इत्यत्र केवलो ज्याशब्दः ।

प्राणेश्वरपरिष्वङ्गविभ्रमप्रतिपत्तिभिः ।
मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तनद्वयम् ॥२९१॥

अत्र मुक्तानामन्यरत्नामिश्रितत्वबोधनाय मुक्ताशब्दः ।

सौन्दर्यसम्पत्तारुण्यं यस्यास्ते ते च विभ्रमाः ।
षट्पदान् पुष्पमालेव कान् नाकर्षति सा सखे ! ॥२९२॥

अत्रोत्कृष्टपुष्पविषये पुष्पशब्दः । निरुपपदो हि मालाशब्दः पुष्पस्रजमेवाभिधत्ते ।

अपने धनुषकी प्रत्यंचासे बाँधकर माहिष्मती नगरीके कारावासमें ले जाकर बन्द कर दिया । उसके सामने रावणकी एक न चली । और जबतक कार्तवीर्यने स्वयं ही उसके अपराधको क्षमा करके न छोड़ दिया, तबतक उसको कारावासमें ही रहना पड़ा । इसी घटनाका वर्णन इस श्लोकमें भिन्न प्रकारसे किया है—

जिस [कार्तवीर्य] की [धनुषसे उतारी हुई] प्रत्यञ्चाके द्वारा बाँध देनेसे निश्चेष्ट भुजावाले तथा हाँफते हुए मुखोंकी परम्परासे युक्त, इन्द्रको भी जीत लेनेवाला लङ्केश्वर [रावण] जिसकी कृपादृष्टि होनेपर्यन्त [माहिष्मती नगरीके] कारावासमें पड़ा रहा [ऐसा शक्तिशाली था कार्तवीर्य, उसका यह वंशधर है] ॥२९१॥

यहाँ [उतारी हुई प्रत्यञ्चाके बोधनमें] केवल 'ज्या' शब्द [का प्रयोग] है ।

इसी प्रकारका दूसरा उदाहरण और देते हैं । इसमें मुक्ताहार शब्द प्रयुक्त हुआ है । 'हारो मुक्तावली' इस विश्वकोष तथा 'मुक्ताग्रैवेयकं हारः' इत्यादि अन्य कोशोंके अनुसार मुक्तासे बना हुआ हार ही 'हार' पदका मुख्यार्थ है । अतः 'हार' शब्दके साथ 'मुक्ता' पदके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है । फिर भी इस श्लोकमें जो 'हार' शब्दके साथ 'मुक्ता' शब्दका प्रयोग किया गया है वह अन्य किसीके साथ मिश्रणसे रहित केवल मुक्ताओंसे बने हारके बोधनके लिए किया गया है ।

प्राणेश्वरके आलिंगनके [विविध] हाव-भाव [या प्रकारों] से सम्मानित [प्रतिपत्तिका अर्थ सम्मान भी होता है] होनेके कारण शोभायमान [प्रसन्न] मुक्ताहार [के सम्पर्क] से दोनों स्तन हँस-से रहे हैं । [हार मानों स्तनोंका हास्य हो] ॥२९२॥

यहाँ अन्य रत्नोंसे अमिश्रित मुक्ताओंके बोधनके लिए 'मुक्ता' शब्दका [प्रयोग] है ।

हे मित्र ! जिस [नायिका] के पास [अपूर्व] सौन्दर्यकी सम्पत्ति, यौवन और वे [अपूर्व अनुभवैकगोचर] हाव-भाव हैं, जिस प्रकार पुष्पमाला भौंरोंको आकर्षित करती है, इस प्रकार वह किनको आकर्षित नहीं करती है ॥२९३॥

यहाँ [उत्कृष्ट पुष्पोंके बोधनके लिए 'पुष्प' शब्द [का प्रयोग किया गया] है । [क्योंकि अन्य] विशेषणोंसे रहित केवल माला शब्द फूलोंकी मालाका ही वाचक होता है ।

ऊपर जिन कर्णावतंस, श्रवण-कुण्डल, धनुर्ज्या, मुक्ताहार, पुष्पमाला आदि शब्दोंके उदाहरण

[सू० ७८]–**स्थितेष्वेतत्समर्थनम् ॥५८॥**

न खलु कर्णावतंसादिवज्जघनकाञ्चीत्यादि क्रियते ।

जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम् ॥२९३॥

इत्यादौ क्रियाविशेषणत्वेऽपि विवक्षितार्थप्रतीतिसिद्धौ "गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणदानार्थं क्वचित्प्रयोगः कार्यः"–इति न युक्तम् । युक्तत्वे वा,

चरणत्रपरित्राणरहिताभ्यामपि द्रुतम् ।
पादाभ्यां दूरमध्वानं व्रजन्नेष व खिद्यते ॥२९४॥

इत्युदाहार्यम्

दिये गये हैं । उनके प्रयोग उस रूपमें प्राचीन महाकवियोंके ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं । अतः उनके समर्थन करनेका यह मार्ग निकाला गया है । परन्तु इस शैलीपर अन्य इस प्रकारके नवीन प्रयोगोंका समर्थन नहीं किया जा सकता है । इस बातको आगे कहते हैं—

[सूत्र ७८] [केवल प्राचीन काव्योंमें] स्थित [इन प्रयोगों] में ही यह समर्थन [लागू होता] है ॥५८॥

कर्णावतंस आदि [प्राचीन प्रयोगों] के समान जघन-काञ्ची आदि [नवीन प्रयोग] नहीं करने चाहिये ।

यह सब विषय ग्रन्थकारने वामनके काव्यालंकार सूत्रवृत्तिके आधारपर लिखा है । परन्तु वामनने २,२,२२ 'विशेषणस्य' च इस सूत्रमें गतार्थ विशेष्यका भी उसके विशेषण देनेके लिए प्रयोगका समर्थन किया है, और उसका उदाहरण 'जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम्' यह पद्यांश दिया है । इसमें 'जगाद' यह पद 'गद व्यक्तायां वाचि' इस धातुसे सिद्ध होता है । इसलिए 'जगाद'के भीतर ही 'वाचं' अर्थका समावेश हो जाता है । 'बोला' कहनेमें ही वाणी अर्थ आ जाता है, इसलिए 'वाणी बोला', 'वाचं जगाद' यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है । परन्तु उस वाणीके साथ 'मधुरां' विशेषण जोड़नेके लिए गतार्थ 'वाचं' पदका भी कभी-कभी प्रयोग किया जा सकता है । यह वामनका अभिप्राय है । परन्तु मम्मट इस बातका खण्डन करते हुए यह कहते हैं कि यहाँ 'मधुरां'को 'वाचं'का विशेषण न बनाकर 'मधुरं जगाद' इस रूपमें 'मधुरं' पदका क्रियाविशेषणके रूपमें प्रयोग करनेसे भी उस प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है । इसलिए 'जगाद मधुरां वाचं' जैसे प्रयोग नहीं करना चाहिये । इसी बातको अगली पंक्तिमें लिखते हैं—

स्पष्ट अक्षरोंसे युक्त मधुर वाणी बोला ॥२९३॥

इत्यादिमें [मधुर पदके 'मधुरं जगाद' इस रूपमें] क्रिया-विशेषण होनेपर भी अभीष्ट [विवक्षित] अर्थकी प्रतीति सिद्ध हो सकती है । इसलिए [वामनका यह कहना कि] 'विशेषण जोड़नेके लिए कहीं कहीं गतार्थ विशेष्यका भी प्रयोग किया जा सकता है' उचित नहीं है । अथवा यदि [इस सिद्धान्तको] ठीक ही माना जाए तो—

जूतोंके द्वारा होनेवाली रक्षासे रहित [अर्थात् बिना जूतोंके पहिने नंगे] पैरोंसे भी तेजीसे और दूर तक चलनेमें भी वह नहीं थकता है ॥२९४॥

इत्यादि उदाहरण देना चाहिए । ['जगाद मधुरां वाचं' यह ठीक नहीं है] ।

[सू० ७९]-ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टता ।

यथा—

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥२९५॥

अत्र रात्रौ पद्मस्य सङ्कोचः, दिवा चन्द्रमसश्च निष्प्रभत्वं लोकप्रसिद्धमिति 'न भुंक्ते' इति हेतुं नापेक्षते ।

[सू० ८०]-अनुकरणे तु सर्वेषाम् ।

सर्वेषां श्रुतिकटुप्रभृतीनां दोषाणाम् । यथा—

मृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादिकथयत्ययम् ।
पश्यैष च गवित्याह सुत्रामाणं यजेति च ॥२९६॥

यहाँ ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है, कि 'जगाद मधुरां वाचं'में 'मधुरां' इस विशेषणके बजाय 'मधुरं' पदको क्रिया-विशेषण बना दिया जाए, तो गतार्थ हुए 'वाचं' इस विशेष्य पदको अलग ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती है। परन्तु यहाँ 'पादाभ्यां व्रजन्' इसमें चलनेकी क्रिया पैरोंसे ही होती है, अतः 'पादाभ्यां' इस पदके प्रयोगके बिना भी उस अर्थकी प्रतीति हो सकती है। परन्तु यहाँ 'व्रजन्'के साथ जो 'पादाभ्यां' पद दिया गया है, उसका क्रिया-विशेषणके रूपमें प्रयोग नहीं किया जा सकता है। अतः यहाँ गतार्थ होनेपर भी 'पादाभ्यां' पदका प्रयोग उचित है।

[सूत्र ७९] प्रसिद्ध अर्थमें निर्हेतुता [हेतु न होना] दोष नहीं है। जैसे—

चंचल लक्ष्मी, चन्द्रके पास पहुँचकर कमलोंके [सुगन्ध आदि] गुणोंका भोग नहीं कर पाती है, और कमलमें स्थित होनेपर चन्द्रमाके सौन्दर्यका भोग करनेमें असमर्थ रहती है। परन्तु पार्वतीका मुख प्राप्त करके उसने [चन्द्रमें रहनेवाले सौन्दर्य तथा कमलमें रहनेवाले सौरभ आदि रूप] दोनोंमें रहनेवाले आनन्दको प्राप्त किया ॥२९५॥

यहाँ रात्रिमें कमल बन्द हो जाते हैं। और दिनमें चन्द्रमा कान्तिहीन हो जाता है। [इसलिए क्रमशः कमलों का सौरभ और चन्द्रमाकी कान्ति उसको प्राप्त नहीं होती है। पार्वतीका मुख सदा ही चन्द्रमाके समान सुन्दर तथा कमलके समान सौरभयुक्त रहता है। इसलिए इसके पास पहुँचकर दोनोंके गुणोंको प्राप्त कर लक्ष्मी आनन्दका अनुभव करती है]। यह बात लोकप्रसिद्ध है, इसलिए, 'न भुङ्क्ते' इसके लिए हेतुकी आवश्यकता नहीं रहती है। [अतः यहाँ अर्थके प्रसिद्ध होनेके कारण 'निर्हेतुता' दोष नहीं है]

[सूत्र ८०] अनुकरणमें सब दोषों की अदोषता है। [अर्थात् दूसरोंके दूषित पदोंके प्रयोगका अनुसरण करके बतलाते समय वक्ता जो उन दोषयुक्त पदोंका उच्चारण करता है, उनसे वक्ता दोषभाक् नहीं होता है]।

[अनुकरणमें 'सर्वेषां' अर्थात्] श्रुतिकटु आदि सब ही दोषोंकी [अदोषता है] जैसे—

यह [व्यक्ति] 'मैंने मृगनयनीको देखा' इत्यादि कहता है, और यह 'गौ देख' यह कहता है, और सुत्रामा [इन्द्र] की पूजा [कर यह कहता है] ॥२९६॥

[सू० ८१]–वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित् ।
क्वचिन्नोभौ ॥५९॥

वक्तृ-प्रतिपाद्य-व्यङ्ग्य-वाच्य-प्रकरणादीनां महिम्ना दोषोऽपि क्वचिद्गुणः, क्वचिन्न दोषो न गुणः । तत्र वैयाकरणादौ वक्तरि प्रतिपाद्ये च, रौद्रादौ च रसे व्यङ्ग्ये कष्टत्वं गुणः क्रमेणोदाहरणम् ।

दीधीङ्-वेवीङ्समः कश्चिद्गुणवृद्ध्योरभाजनम् ।
क्विप्प्रत्ययनिभः कश्चिद्यत्र सन्निहिते न ते ॥२९७॥

यहाँ पूर्वार्द्धमें शृंगार रसमें 'अद्राक्षम' यह श्रुतिकटु वर्णोंका प्रयोग किया गया है । अतः दोष होना चाहिये । तीसरे चरणमें 'गवित्याह' इसमें बिना विभक्तिके केवल प्रातिपदिक रूप 'गो' शब्दका प्रयोग किया है । जो "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलप्रत्ययः" इस वैयाकरण-सिद्धान्तके विपरीत होनेसे च्युतसंस्कार-दोषग्रस्त है । चतुर्थ चरणमें "सुत्रामा गोत्रभिद्वज्री" इत्यादि कोशके अनुसार 'सुत्रामा' शब्द इन्द्रके अर्थमें पठित होनेपर भी कवियों द्वारा उस अर्थमें प्रयुक्त न किये जानेसे 'अप्रयुक्तत्व'-दोषग्रस्त है । परन्तु यहाँ वक्ता इनको अपनी ओरसे मूल रूपमें प्रयुक्त नहीं कर रहा है । अपितु दूसरेके द्वारा प्रयुक्त किए हुये इन शब्दोंका अनुकरण करके यह निर्देश कर रहा है कि अमुक व्यक्ति इस प्रकार कहता है । इसलिए अनुकरणमें इनमेंसे कोई भी दोष नहीं माना जाता है ।

[सूत्र ८१] वक्ता आदिके औचित्यके कारण कहीं दोष भी गुण हो जाता है और कहीं [गुण या दोष] दोनों ही नहीं होता है ।५९।

वक्ता, बोद्धा, [प्रतिपाद्य] व्यङ्ग्य, वाच्य और प्रकरण आदिके वैशिष्ट्य [महिम्ना] से कहीं दोष भी गुण हो जाता है, और कहीं न दोष, न गुण होता है । उनमेंसे वैयाकरण आदिके वक्ता और बोद्धा होनेपर और रौद्र आदि रसके व्यङ्ग्य होनेपर कष्टार्थत्व [दोष] गुण [हो जाता] है । क्रमशः उनके उदाहरण [आगे देते हैं]—

सबसे पहिले वैयाकरणके वक्ता होनेपर कष्टत्व दोषके गुण हो जानेका उदाहरण देते हैं—

कोई [पुरुष] तो दीधीङ्; वेवीङ् [धातु] के समान हैं, जो गुण [पाण्डित्य, दान, शौर्यादि] और वृद्धि [धन-धान्यकी समृद्धि] के पात्र नहीं हैं [यहींतक नहीं अपितु] कोई क्विप् प्रत्ययके समान है, जिसके पास आ जानेपर वे [गुण-वृद्धि जिसको प्राप्त है, उससे भी दूर भाग जाती है । उसके] पास [आ जा नेपर गुणवान् तथा समृद्ध पुरुषोंकी गुण-वृद्धि भी] नहीं रहने पाती है ॥२९७॥

गुण और वृद्धि शब्द व्याकरणशास्त्रके पारिभाषिक शब्द हैं । पाणिनि मुनिने "अदेङ् गुणः" १. १. २. इस सूत्रसे अकार, एकार और ओकार की गुण संज्ञा की है, तथा "वृद्धिरादैच्" १. १. १. इस सूत्रसे आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा की है । इन शब्दोंसे इस पारिभाषिक अर्थका ज्ञान वैयाकरणके अतिरिक्त अन्य लोगोंको सरलतासे नहीं हो सकता है । दीधीङ् और वेवीङ् ये दो धातुएँ धातुपाठमें पड़ी हुई हैं । इन दोनों धातुओंमें "दीधीवेवीटाम्" १. १. ६. इस सूत्रसे गुण तथा वृद्धिका निषेध किया गया है । इसलिए आदीध्ययनम्, आदीध्यकः, आवेव्ययनम्, आवेव्यकः आदि प्रयोगोंमें

यदा त्वामहमद्राक्षं पदविद्याविशारदम् ।
उपाध्यायं तदाऽस्मार्षं समस्प्राक्षं च सम्मदम् ॥२९८॥

अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कंकण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।
पीतच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लस-
द्व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥२९९॥

इन धातुओंके इकारके स्थानपर एकार रूप गुण 'नहीं होता है।' क्विप् प्रत्ययका 'वेरपृक्तस्य', ६. १. ६७ इस सूत्रसे सर्वापहारी लोप हो जाता है। उसका कोई भाग शेष नहीं रहता है। परन्तु उसके परे होनेपर 'क्ङिति च', १. १. ५ सूत्रसे गुण और वृद्धिका निषेध हो जाता है। जैसे 'लिट्भित्' "आदि प्रयोगोंमें 'पुगन्तलघूपधस्य च'" ७. ३. ८६ सूत्रसे प्राप्त होनेवाला गुण तथा 'मृट्' आदि प्रयोगोंमें "मृजेर्वृद्धिः" ७. २. ११४ इस सूत्रसे प्राप्त होनेवाली वृद्धिका निषेध होता जाता है।

ग्रन्थकारने इसको वैयाकरण वक्ता होनेपर कष्टत्व-दोषके गुण हो जानेके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। परन्तु उसको कष्टत्वके बजाय अप्रतीत्व-दोषके गुण हो जानेके रूपमें प्रयुक्त करना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि किसी शास्त्रविशेषमें प्रसिद्ध शब्दोंके काव्यमें प्रयुक्त किये जानेपर अप्रतीत्व दोष माना गया है। यहाँ व्याकरणशास्त्रके पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग होनेसे अप्रतीत्व-दोष हो सकता था। परन्तु वैयाकरणके वक्ता होनेके कारण वह दोष नहीं अपितु गुण हो गया है।

वैयाकरणके प्रतिपाद्य अर्थात् बोद्धा होनेपर कष्टत्व-दोषके गुण हो जानेका उदाहरण देते हैं—

जब मैंने व्याकरण [पदविद्या] के [अपूर्व] विद्वान् आपको देखा तो [आपकी विद्वत्ताको देखकर] मुझे अपने गुरुजी [उपाध्याय] का स्मरण हो आया। और मेरा अभिमान [संमद] दूर हो गया [समस्प्राक्षम्] ॥२९८॥

यहाँ अद्राक्षं, अस्मार्षं, समस्प्राक्षं पद ये वस्तुतः श्रुतिकटु हैं। परन्तु वैयाकरणके बोद्धा होनेपर वह दोष नहीं अपितु गुण हो गया है। ग्रन्थकारने इसको कष्टत्व-दोषके गुण हो जानेके उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया है। आगे बीभत्स रसके व्यङ्ग्य होनेपर रसके अनुरोधसे श्रुतिकटु-दोषके गुण हो जानेका उदाहरण देते हैं। यह श्लोक महावीरचरितके प्रथम अङ्कसे लिया गया है। बीभत्स रूपसे सामने भागती हुई ताड़काको देखकर लक्ष्मण विश्वामित्रके सामने उसके बीभत्स रूपका वर्णन करते हुए उनसे पूछते हैं कि यह कौन दौड़ रही है। प्रश्नभाग इस श्लोकमें नहीं है। अपितु इसके पूर्व गद्य-भागमें "का पुनरियम्" करके दिया गया है। श्लोकमें तो केवल लक्ष्मण उसके बीभत्स रूपका वर्णन करते हैं कि—

अँतड़ियोंमें पिरोये हुए बड़े-बड़े कपाल और [नलक अर्थात्] जंघाकी हड्डियोंके ही भयानक रूपसे [परस्पर टकराते] बजते हुए कंकण जिसमें प्रधान हैं इस प्रकारके [अस्थियों आदि से ही बने हुए] नाना प्रकारके आभूषणोंके शब्दोंसे आकाशको आघोषित [कोलाहलमय] करती हुई, और पहिले [बहुत अधिक मात्रामें] पी जानेके बाद वमन किये हुए रक्तकी कीचड़से सने हुए [प्राग्भार अर्थात् छाती आदि] ऊपरी भागके बीचमें भयंकर रूपसे उठे हुए [भारी-भारी] हिलते हुए स्तनोंके भारसे भयंकर शरीरवाली अभिमानसे उद्धत होकर [यह कौन] दौड़ रही है ॥२९९॥

वाच्यवशाद्यथा—

मातङ्गाः ! किमु वल्गितैः किमफलैराडम्बरैर्जम्बुकाः !
सारङ्गा ! महिषा ! मदं व्रजथ किं शून्येषु शूरा न के ॥
कोपाटोपसमुद्भटोत्कटसटाकोटेरिभारे पुरः
सिन्धुध्वानिनि हुङ्कृते स्फुरति यत् तद्गर्जितं गर्जितम् ॥३००॥

अत्र सिंहे वाच्ये परुषाः शब्दाः ।

प्रकरणवशाद्यथा—

रक्ताशोक ! कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं
नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वातावधूतं शिरः ।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासङ्घट्टदष्टच्छद-
स्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः ॥३०१॥

अत्र शिरोधूननेन कुपितस्य वचसि ।

यहाँ बीभत्स रसके व्यङ्ग्य होनेके कारण, श्रुतिकटु वर्ण तथा दीर्घसमाससे युक्त कठोर रचना गुण हो गयी है।

वाच्यके कारण कष्टत्व-दोषके गुण हो जानेका उदाहरण । जैसे—अरे हाथियो ![सिंहकी अनुपस्थितिमें] चिंघाड़ने [या झूमने] से क्या होता है ? अरे शृगालो ! व्यर्थ [अपनी चंचलताके और वीरताके मिथ्या] ढोंग करनेसे क्या लाभ है ? अरे मृगो ! और भैंसो ! तुम क्यों मतवाले हो रहे हो [क्यों अभिमान कर रहे हो] [किसी वीरके न होनेपर] खाली मैदानमें कौन शूर नहीं हो जाता है। परन्तु क्रोधके आवेशमें खड़े हुए भयंकर सटाओंके अग्रभागोंसे युक्त और समुद्रके समान दहाड़ते हुए शेरके हुंकार होनेपर भी जो गर्जन हो वही गर्जन [कहलाने योग्य] है ॥३००॥

यहाँ सिंहके वाच्य होनेपर कठोर शब्दोंका प्रयोग गुण हो गया है।

प्रकरण [के अनुरोध] से [कष्टत्व-दोष गुण हो जानेका उदाहरण] जैसे—हे रक्ताशोक ! इस अनुरक्त सेवकको छोड़कर कृशोदरी [उर्वशी] कहाँ चली गयी है [यह पुरुरवाका रक्ताशोकके वृक्षसे प्रश्न है। वृक्षको हिलता हुआ देखकर स्वयं उसके उत्तरकी कल्पना करके कहता है कि—] मैंने नहीं देखी है [इस बातको सूचित करनेके लिए] वायुसे कम्पित शिरको क्यों हिला रहा है। [तेरे ऐसे सिर हिला देनेसे यह थोड़े ही मान लिया जायगा कि तूने उसको देखा नहीं है क्योंकि] उसके पादप्रहारके बिना [तेरे फूलोंके पास] उत्कण्ठावश इकट्ठे हुए भौंरोंके समूहसे जिनकी पंखुड़ियाँ टूटी जा रही हैं, इस प्रकारका तेरा यह फूलोंका उद्गम कहाँसे आया ? ॥३०१॥

यहाँ [अशोकके] सिर हिलानेसे कुपित हुए [पुरुरवा] की उक्तिमें [समासबहुल परुष वर्णोंका प्रयोग गुण हो गया है]।

इन सब श्लोकोंके प्रारम्भमें ग्रन्थकारने केवल कष्टत्व-दोषके गुण हो जानेका उल्लेख किया है, और उसी दृष्टिसे ये सब उदाहरण दिये हैं। परन्तु इन उदाहरणोंमें कष्टत्वदोष नहीं अपितु श्रुति-

क्वचिन्नीरसे न गुणो न दोषः । यथा—

शीर्णघ्राणांघ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्
दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः ।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
र्दत्तार्घाः सिद्धसङ्घैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम् ॥३०२॥

अप्रयुक्त-निहितार्थौ श्लेषादावदुष्टौ । यथा—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥३०३॥

कटु-दोष, अप्रतीतत्व-दोष आदि पाये जाते हैं उन्हींको कष्टप्रद होनेके कारण लक्षणासे कष्टपदसे कह दिया है। इस प्रकारकी व्याख्या करनेसे ही इस प्रकरणकी ठीक संगति लग सकती है। अतः कष्टत्व-पदको श्रुतिकटु आदि अन्य दोषोंका भी ग्राहक समझना चाहिये।

कहीं नीरस [काव्य]में [क्लिष्ट रचना] न दोष होती है, न गुण। जैसे—

यह श्लोक मयूरकविके रचित सूर्यशतकमें लिया गया है। मयूरकविने अपने कुष्ठरोगके निवारणके लिए सूर्यकी स्तुतिमें सूर्यशतककी रचना की थी। इसलिए इस श्लोकमें सूर्यकी रश्मियोंकी कुष्ठ-निवारिणी शक्तिकी स्तुति करते हुए मयूरकवि लिखते हैं कि—

[अपने पाप-समूहोंके कारण] जिनके नाक, पैर और हाथ [कुष्ठ रोगसे] गल गये हैं [इसलिए] चौड़ी हुई नाकवाले और घर्घर अस्पष्ट रूपसे बोलनेवाले, घावोंसे भरे हुए शरीरसे उपलक्षित [अपघनोऽङ्गम्] कुष्ठियों को जो नीरोग [उल्लाघो निर्गतो गदात्] करते हुए फिर [उन गलित अंगोंसे] पूर्ण बनाता है [स्तुतिके द्वारा प्रसन्न होने के कारण] द्विगुणित घनीभूत दयाके अधीन [होनेसे] निर्विघ्न [रूपसे पाप रोगके विनाश करनेवाले] व्यापारसे युक्त उस अद्वितीय सूर्यदेवकी, सिद्धदेव गणोंके द्वारा जिनको अर्घ्य प्रदान किया गया है, वे रश्मियाँ शीघ्र ही तुम्हारे पाप [जन्य रोगों तथा कुष्ठों] का विनाश करें ॥३०२॥

श्लेष आदिमें 'अप्रयुक्तत्व' तथा 'निहतार्थत्व' दोष नहीं होते हैं। जैसे—इसमें शिव तथा विष्णु दोनोंकी एक साथ श्लेष द्वारा स्तुति की गयी है। सारे विशेषण दोनों पक्षोंमें लगते हैं, विष्णु-पक्षमें श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है]—

[येन अभवेन] जिस अजन्मा विष्णुने [अनो ध्वस्तं] बालकपनमें [अनः शकटम्] बच्चोंकी गाड़ी अथवा शकटासुरका नाश किया। पुरा पहिले [अर्थात् अमृत-हरणके समय] "बलिजित्" राजा बलिको [अथवा बलवान् दैत्योंको] जीतनेवाले अपने शरीरको [मोहिनी-रूप] स्त्री बना दिया। जो "उद्वृत्त" मर्यादाका अतिक्रमण करने-वाले भुजंग अर्थात् कालिया नागको मारनेवाले हैं, और जिसमें रव अर्थात् श्रुतिरूप वेदका लय होता है, अथवा "अकारो विष्णु" अकार-रूप शब्दमें जिसका लय होता है,

अत्र माधवपक्षे शशिमद्-अन्धकक्षयक्षब्दौ, अप्रयुक्त-निहतार्थौ।

अश्लीलं कचिद्गुणः। यथा सुरतारम्भगोष्ठ्याम्,

"द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु"

इति कामशास्त्रस्थितौ—

करिहस्तेन सम्बाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते।
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ॥३०४॥

जिन्होंने 'अगं' अर्थात् गोवर्धन पर्वतको और 'गां' अर्थात् वाराहावतारके समय पृथिवी-को धारण किया। ['शशिनं मथ्नाति इति शशिमत् राहुः' उसका सिर काटनेवाले होनेसे] देवता लोग जिनका 'शशिमच्छिरोहर' यह प्रशंसनीय नाम कहते हैं। अन्धक अर्थात् यादवोंका भी [महाभारतके मौसल पर्वकी कथाके अनुसार] विनाश करनेवाले अथवा द्वारिका पुरीमें उनके 'क्षय' अर्थाद् वासगृहके बनानेवाले सब मनोकामनाओंको देनेवाले हैं वे विष्णु तुम्हारी रक्षा करें।

[शिवपक्षमें इस श्लोक अर्थ इस प्रकार होगा—ध्वस्तो मनोभवः कामो येन सः 'ध्वस्त मनोभवः'] कामदेवका नाश करनेवाले जिन शंकरने "पुरा" त्रिपुरदाहके समय "बलिजित्कायः" विष्णुके शरीरको "अस्त्रीकृतः" बाण बनाया, जो महा भयानक [उद्वृत्त] सर्पोंको हार और वलयके रूपमें धारण करते हैं, गंगाको जिन्होंने धारण किया, जिनका शिर चन्द्रमासे युक्त है, और देवता लोग जिनका "हर" यह प्रशंसनीय नाम बतलाते हैं, अन्धकासुरका नाश करनेवाले वे उमाधव गौरीपति [शंकर] सदैव तुम्हारी रक्षा करें ॥३०३॥

यहाँ विष्णुपक्षमें, 'शशिमथ्', तथा 'अन्धकक्षय' शब्द अप्रयुक्त तथा निहतार्थ है।

अश्लीलता [भी] कहीं गुण होती है—जैसे सुरतके आरम्भकालकी बातों [गोष्ठी] में। 'गुप्त वस्तुको द्व्यर्थक पदोंसे सूचित करे', इस प्रकारके कामशास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार—[निम्नलिखित श्लोककी अश्लीलता गुण है]—

प्रागेव पुंसः सुरते न यावन्नारी द्रवेद् भोगफलं न तावत्।
अतो बुधैः कामकलाप्रवीणैः कार्यः प्रयत्नो वनिताद्रवत्वे ॥

कामशास्त्रके इस प्रमुख सिद्धान्तके अनुसार वनिताद्रवत्वके सम्पादनके लिए इस उदाहरणमें 'करिहस्त'का प्रयोग करना बतलाया है। 'करिहस्त'का लक्षण निम्नलिखित प्रकार किया गया है—

तर्जन्यनामिके युक्ते, मध्यमा स्याद्बहिष्कृता।
करिहस्तः समुद्दिष्टः, कामशास्त्रविशारदैः ॥

'सम्बाधे' संकुचित योनिमें ['करिहस्त'को अर्थात् तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका-तीनों अँगुलियोंको मिलाकर] प्रविष्टकर, अन्दर विलोडन [द्रवीभाव सम्पादन] करके पुरुषका [ध्वजः] लिङ्ग, उपसर्पन गच्छन् गतागतं कुर्वन् वा साधनस्य योनेः अन्तर्विराजते ॥३०४॥

इस प्रकार कामशास्त्रकी रहस्यवस्तुको सुरतारम्भ गोष्ठीके समय व्यक्त किया गया है। श्लोक-का दूसरा अर्थ इस प्रकार है—

शमकथासु—

उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसन्निभे ।
क्लेदिनि स्त्रीव्रणे सक्तिरकृमेः कस्य जायते ॥३०५॥

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥ ३०६॥

अत्र भाव्यमङ्गलसूचकम् ।

सन्दिग्धमपि वाच्यमहिम्ना क्वचिन्नियतार्थप्रतीतिकृत्त्वेन व्याजस्तुतिपर्यवसायित्वे गुणः यथा—

हाथीकी सूँडोंके द्वारा सेनाके भीतर प्रविष्ट होकर और भीतरसे विलोडितकर देनेपर योद्धा पुरुषकी ध्वजा उसके पीछे-पीछे चलकर शत्रु सेनाके बीचमें जाकर विराजित हो जाती है ॥३०४॥

इस उदाहरणमें सुरतारम्भ गोष्ठीके समय व्रीडाव्यञ्जक अश्लीलता गुण हो गयी है । इस प्रकार वैराग्यविषयक चर्चाके समयजुगुप्सा व्यञ्जक अश्लीलता गुण हो जाती है, इसका उदाहरण आगे देते हैं—

[उत्तान अर्थात्] ऊपरको पेट करके पड़े हुए और फूले हुए [या किसी रोगके कारण सूजे हुए] मेढकके फाड़े हुए पेटके समान, मवाद बहते हुए [मदन-जलसे युक्त] स्त्रीकी योनिमें कीड़ोंके अतिरिक्त और किसकी आसक्ति हो सकती है ॥३०५॥

आगे अमङ्गलव्यञ्जक अश्लीलताके गुणत्वका उदाहरण देते हैं । यह श्लोक वेणीसंहार नाटकके प्रथम अंकमें सूत्रधारकी उक्तिके रूपमें आया है । उसमें पाण्डवोंकी विजय तथा कौरवोंके भावी अमंगलकी सूचना मिलती है । श्लोकके उत्तरार्द्धमें कौरवोंकी मंगलकामनापरक अर्थ भी निकलता है, परन्तु उन्हीं पदोंसे श्लेष द्वारा अमंगलकी सूचना भी मिलती है । अर्थ इस प्रकार है—

शत्रुओंके नष्ट हो जानेसे जिनका वैराग्नि शान्त हो गया है, इस प्रकारके पाण्डव कृष्णके सहित आनन्द मनावें । अपने अनुरक्त मित्रों आदिको भूमिदान करनेवाले [रक्तेभ्यः प्रसाधिता भूः यैस्ते रक्तप्रसाधितभुवः] और युद्धका नाश कर देनेवाले कौरव लोग भृत्योंके सहित स्वस्थ हों । [यह दोनों पक्षोंकी शुभकामनापरक अर्थ है । परन्तु उत्तरार्द्धका दूसरा अर्थ, 'रक्तेन प्रसाधिता भू यैस्ते' अपने रक्तसे जमीनको रंग देनेवाले और जिनके शरीर घायल हो गये हैं [क्षतविग्रहाः] वे कौरवगण अपने भृत्योंके साथ स्वः स्वर्गे स्थिता भवन्तु स्वर्गको चले जावें अर्थात् मर जावें । इस अमंगलको सूचित करनेवाला है । परन्तु यह अमंगलव्यंजक अश्लीलता यहाँ दोष नहीं अपितु गुण है] ॥३०६॥

यहाँ भावी अमंगलकी सूचक [अश्लीलता गुण हो गयी है] ।

सन्दिग्धत्व भी कहीं वाच्यके प्रभावसे नियत अर्थका प्रतीतिजनक होनेसे व्याजस्तुति पर्यवसायी होकर गुण हो जाता है । जैसे—

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव !
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥३०७॥

प्रतिपाद्य-प्रतिपादकयोर्ज्ञत्वे सत्यप्रतीतत्वं गुणः । यथा—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्
तं मोहान्धः कथमयमुं वेत्ति देवं पुराणम् ॥३०८॥

[निर्धन कवि राजासे कह रहा है कि] हे राजन् ! इस समय हम दोनोंका [अर्थात् मेरा और आपका] घर एक ही समान है । [वह समानता क्या है, इसके श्लिष्ट पदों द्वारा बतलाता है । 'पृथुकार्त्तस्वरपात्रं पृथूनि महन्ति कार्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्राणि यस्मिंस्तथा, पृथुकानां बालानां आर्तस्वरस्य बुभुक्षादि वशाद् रोदनस्य पात्रं] बड़े-बड़े सोनेके पात्रोंसे युक्त [आपका घर है, और मेरा घर भूखे] बालकोंके रोनेका स्थान है । [दूसरी समानता है, 'भूषित निःशेषपरिजनं' भूषिता अलंकृताः सर्वे परिजनाः सेवका यस्मिंस्तथा, भुवि पृथिव्यां उषिताः पतिताः सर्वे परिवारजनाः यस्मिन्] जिसमें सारे सेवक आभूषणोंसे अलंकृत हैं [ऐसा आपका घर है, और मेरा घर] जिसमें परिवारके सारे सदस्य पृथिवीपर पड़े हैं । [तीसरी समानता यह है कि हम दोनोंके घर 'विलसत्करेणुसदनं हैं ।' विलसन्तीनां करेणूनां सदनं स्थानं तथा विले सीदन्तीति विलसत्काः मूषकाः तेषां रेणुः, विलान्निर्गता धूलिः तस्याः स्थानं] झूमती हुई । हथिनियोंका स्थान [आपका घर है और मेरा घर] चूहोंके विलोंकी [निकली हुई] धूलसे भरा हुआ है ।

यहाँ "पृथुकार्त्तस्वरपात्र" इत्यादि विशेषणोंका कौन-सा अर्थ लिया जाय यह सन्दिग्ध है, परन्तु दोनों अर्थ दो भिन्न स्थितियोंके बोधक होकर व्याजस्तुति द्वारा राजाकी निन्दाको सूचित करते हैं, इसलिए यह सन्दिग्धत्व भी गुण हो गया है ।

बोद्धा तथा वक्ताके [उस शास्त्रके] ज्ञाता होनेपर अप्रतीतत्व-दोष भी गुण हो जाता है । जैसे—

वेणीसंहार नाटकके प्रथम अंकमें दूत रूपमें अपनी सभामें आये हुए कृष्णको पकड़नेका दुर्योधनने प्रयत्न किया था । इस समाचारको सुनकर भीम सहदेवसे कह रहे हैं कि जिन कृष्णके स्वरूपको उनके भगवान् होनेके कारण ज्ञानी लोग भी समाधिस्थ होकर कठिनाईसे समझ पाते हैं । उनको ये मोहान्ध दुर्योधन क्या समझ सकता है ।

निर्विकल्पक समाधिमें स्थित होकर आत्मस्वरूपमें रमण करनेवाले ज्ञानके उद्रेकसे जिनकी तमोगुणकी ग्रंथियाँ नष्ट हो गयी हैं, इस प्रकारके सत्त्वप्रधान योगी, तमसे और ज्योतिसे दोनोंसे परे किसी अनिर्वचनीय स्वरूप जिस [परमात्मारूप कृष्ण] को बड़ी कठिनाईसे देख पाते हैं । यह मोहान्ध [अज्ञानी दुर्योधन] उन पुरातन [सनातन] देव [विष्णुस्वरूप कृष्ण] को कैसे पहचान सकता है ॥३०८।

यहाँ निर्विकल्पक समाधि, आत्मरमण आदि शब्द योगशास्त्रके प्रसिद्ध शब्द हैं । योगशास्त्रमात्रमें प्रसिद्ध उन शब्दोंके प्रयोगसे यहाँ अप्रतीतत्व-दोष हो सकता है । परन्तु वक्ता भीम और बोद्धा, सहदेव दोनों उस विषयके ज्ञाता हैं, अतः यह अप्रतीतत्व दोष यहाँ गुण हो गया है ।

स्वयं वा परामर्शे यथा—

षडधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा हृदि विनिहितरूपः सिद्धिदस्तद्विदां यः ।
अविचलितमनोभिः साधकैर्मृग्यमाणः स जयति परिणद्धः शक्तिभिः शक्तिनाथः।। ३०९।।

अधम प्रकृत्युक्तिषु ग्राम्यत्वं गुणः । यथा—

फुल्लुक्करं कलमकूरणिहं वहन्ति जे सिन्धुवारविडवा मह वल्लहा दे ।
जे गालिदस्स महिसीदहिणो सरिच्छा दे किं च मुद्धविअइल्लपसूणपुञ्जा ।।३१०।।
[पुष्पोत्करं कलमभक्तनिभं वहन्ति ये सिन्धुवारविटपा मम वल्लभास्ते ।
ये गालितस्य महिषीदध्नः सदृक्षा स्ते च मुग्ध विचकिल्लप्रसूनपुञ्जाः।। इति संस्कृतम्]

अत्र कलम-भक्त-महिषी-दधिशब्दा ग्राम्या अपि विदूषकोक्तौ ।

[इसी प्रकार] स्वयं चिन्तन [करने] में [अप्रतीतत्व-दोष गुण हो जाता है] जैसे—

[मालतीमाधव नाटकके पञ्चम अंकमें स्वयं विचार करती हुई कपालकुण्डला कह रही है—] सोलह नाड़ियोंके [हृदयस्थित मणिपूर] चक्रके मध्यमें जिसका स्वरूप [आकार] स्थित है, जो उसको जाननेवालोंको [अणिमा आदि रूप] सिद्धियोंका प्रदान करनेवाला है, और स्थिरचित्त साधकोंके द्वारा जिसका अनुसन्धान किया जाता है। शक्तियोंसे युक्तके शिव सर्वोत्कर्षशाली हैं ।।३०९।।

यहाँ नाड़ी, चक्र, शक्ति, शक्तिनाथ आदि शब्द हठयोग शास्त्रके शब्द हैं, अतः उनका काव्यमें प्रयोग अप्रतीतत्व-दोषका जनक होना चाहिये । परन्तु कपालकुण्डला स्वयं चिन्तनके अवसर-पर उनका प्रयोग कर रही है । अतः यह दोष नहीं अपितु गुण हो गया है । इसमें दिखलायी हुई सोलह नाड़ियाँ निम्नलिखित प्रकार हैं—

इड़ा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना चापराजिता ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव तथापरा।।
अलम्बुसा कुहुश्चैव, शंखिनी दशमी स्मृता ।
तालुजिह्वेभजिह्वा च विजया कामदा परा
अमृता बहुला नाम नाड्यो वायुसमीरिताः ।।

नीच प्रकृति [के पात्रों]की उक्तियोंमें ग्राम्यत्व [दोष] गुण हो जाता है । जैसे—

राजशेखर-विरचित कर्पूरमंजरी नामक नाटकमें प्रथम जवनिकाके बाद विदूषककी यह उक्ति है—

चावलोंके भातके समान पुष्पोंके समूहको जो धारण करते हैं, वे सिन्धुवार [निर्गुण्डी] के वृक्ष मुझे प्यारे लगते हैं । [इसी प्रकार] निचोड़े हुए [निर्जल किये हुए] भैंसके [दूधसे जमाये हुए] दहीके समान सुन्दर मल्लिकापुष्पोंके पुञ्ज भी मेरे प्रिय हैं ।।३१०।।

यहाँ अधमपात्र विदूषककी उक्तिमें भातके समान या दहीके समान फूलोंका कथन ग्राम्यता—पूर्ण वर्णन भी गुण हो गया है । उसके द्वारा विदग्धोंको भी रसास्वाद होता है ।

यहाँ कलम, भक्त, और महिषी, दधि आदि शब्द ग्राम्य होनेपर भी विदूषककी उक्तिमें [गुण हो गये हैं] ।

न्यूनपदं क्वचिद् गुणः यथा—

> गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भूतरोमोद्गमा
> सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा ।
> मा मा मानद माऽतिमामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
> सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥३११॥

क्वचिन्न गुणो न दोषः । यथा—

> तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
> स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
> तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
> सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥३१२॥

अत्र "पिहिता" इत्यतोऽनन्तरं "नैतद्यतः" इत्येतैर्न्यूनैः पदैर्विशेषबुद्धेरकरणान्न गुणः । उत्तरा प्रतिपत्तिः पूर्वां प्रतिपत्तिं बाधते इति न दोषः ।

न्यूनपदत्व [भी] कहीं गुण हो जाता है। जैसे [यह श्लोक अमरुकशतकसे लिया गया है] गाढ़ आलिंगन [अधिक दबने] से जिसके स्तन नीचे हो गये हैं। जिसके [शरीरमें आनन्दातिरेकसे] रोमांच हो आया है और अत्यन्त स्नेहके आनन्दातिरेकके कारण जिसके सुन्दर नितम्बोंपरसे वस्त्र खिसका पड़ रहा है। मानको खण्डन करनेवाले या सम्मानको देनेवाले [प्रियतम] बस करो, बस करो, अब मुझे और न पीड़ित करो, इस प्रकार धीरे-धीरे कहती हुई [आनन्दकी चरमभूमिमें पहुँचकर एकदम चुप हो गयी, तो उस समय वह] क्या सो गयी ? अथवा मर गयी, अथवा मेरे मनमें समा गयी, अथवा [नीरक्षीरन्यायसे] विलीन हो गयी, [अथवा जलमें लवणके समान विलीन हो गयी] ॥३११॥

इसमें 'मा मा' इसके बाद 'आयासय' और 'माति' इसके बाद 'पीडय' यह पद न्यून हैं। परन्तु उसकी अध्याहार द्वारा झटिति प्रतीति हो जानेसे वह दोष नहीं है, अपितु हर्ष एवं सम्मोहके अतिशयसूचक होनेसे गुण हो गया है।

कहीं [न्यूनपदता] न गुण होता है, न दोष, जैसे—

वह [उर्वशी] क्रोधके कारण अपने [देवाङ्गनात्वके दिव्य] प्रभावसे छिपकर बैठ सकती है [यह शंका होती है, परन्तु उसी समय उसका समाधान हो जाता है कि] किन्तु वह बहुत देरतक नाराज नहीं रहती है [फिर दूसरी शंका होती है कि] शायद [मुझको छोड़कर] स्वर्गको चली गयी हो [पर साथ ही उसका निवारण भी हो जाता है कि] लेकिन उसका मन मेरे विषय स्नेहसे आर्द्र है। [इसलिए वह मुझे छोड़कर स्वर्गको नहीं जा सकती है। तब फिर क्या कोई हरण कर ले गया यह शंका होती है, उसके साथ ही उसका समाधान हो जाता है कि मेरे सामनेसे असुर भी उसका अपहरण नहीं कर सकते। [औरोंकी तो बात ही क्या है। इसलिए कोई अपहरण करके ले गया हो यह भी सम्भव नहीं] फिर भी यह आँखोंके सामनेसे बिलकुल ओझल हो गयी है, यह क्या बात है [कुछ समझमें नहीं आता है] ॥३१२॥

अधिकपदं क्वचिद्गुणः । यथा—

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहु चाटुगर्भं कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति ।
तत्साधवो न न विदन्ति, विदन्ति किंतु कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति ॥३१३॥

अत्र "विदन्ति"—इति द्वितीयमन्ययोगव्यवच्छेदपरम् ।

यथा वा—

वद वद जितः स शत्रुर्न हतो जल्पंश्च तव तवास्मीति ।
चित्रं चित्रमरोदीद्धा-हेति परं मृते पुत्रे ॥३१४॥

इत्येवमादौ हर्षभयादियुक्ते वक्तरि ।

कथितपदं क्वचिद्गुणोः लाटानुप्रासे, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये, विहितस्यानुवाद्यत्वे च । क्रमेणोदाहरणानि ।

यहाँ "पिहिता" इसके बाद "नैतद्यतः" इन [न, एतत् और यतः तीन] न्यून पदोंसे [जो आवश्यक होनेपर भी पढ़े नहीं गये हैं] कोई विशिष्ट बुद्धि [अर्थात् उक्त वितर्कमें कोई चमत्कार] न करनेसे गुण नहीं है। और उसके बाद होनेवाली प्रतीति, पूर्व-प्रतीतिको बाधा ही देती है [जो कि कविको यहाँ अभिप्रेत हैं] इसलिए [उन पदोंकी न्यूनता कोई] दोष [भी] नहीं है।

अधिकपदत्व कहीं गुण हो जाता है। जैसे—

[दूसरे सज्जन व्यक्तिको] धोखा देनेके लिए तत्पर दुष्ट पुरुष अपना कार्य सिद्ध करनेके लिए [सज्जन पुरुषके सामने] जो बनावटी खुशामद-भरी बातें बनाता है, उसको सज्जन पुरुष न समझ पाते हों सो बात [नहीं [सब समझ जाते हैं] परन्तु फिर भी [अपनी सज्जनतावश] उसकी प्रार्थना अस्वीकार करनेमें असमर्थ हो जाते हैं ॥३१३॥

यहाँ दूसरी बार आया हुआ "विदन्ति" खूब समझते हैं, यह अन्य [व्यक्तियों] के साथ [उस ज्ञानके] सम्बन्धके निषेधका सूचक है। [अर्थात् वे सज्जन पुरुष सब समझ तो जाते हैं, परन्तु किसी दूसरेपर इस बातको प्रगट नहीं होने देते हैं।

अथवा [अधिकपदत्वके गुण हो जानेका दूसरा उदाहरण] जैसे—

[युद्धसे लौटे हुए सैनिकसे स्वामी राजा पूछता है कि-] बताओ बताओ, वह शत्रु जीता गया [या नहीं। इसके उत्तरमें सेवक कहता है कि जीतनेकी क्या बात है, वह तो आपकी शरणमें आकर] मैं आपका दास हूँ यह कहने लगा इसलिए मारा नहीं गया, परन्तु [उसका पुत्र तो युद्धमें मारा ही गया] पुत्रके मरनेपर हाय हाय करके फूट-फूट करके [नाना प्रकारसे] रो रहा था ॥३१४॥

इत्यादि उदाहरणोंमें हर्ष-भय आदिसे युक्त [वक्ताके होनेसे अधिकपदत्व-दोष] गुण हो जाता है]

कथितपदत्व [अर्थात् पुनरुक्तत्व] कहीं [अर्थात्] १. लाटानुप्रास, २. अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य [ध्वनि] तथा ३. विहितके अनुवाद करनेमें [तीन स्थानोंपर] गुण हो जाता है। क्रमशः [उन तीनोंके] उदाहरण [देते हैं]—

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार ! धरणिधर ! कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥३१५॥

ताला जाअंति गुणा जाला दे सहिअएहिँ घेप्पन्ति ।
रइकिरणणुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ ॥३१६॥

[तदा जायन्ते गुणाः यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥ इति संस्कृतम्]

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥३१७॥

पतत्प्रकर्षमपि क्वचिद् गुणः । यथा उदाहृते—

"प्रागप्राप्तेत्यादौ" ॥३१८॥

हे सूर्यके समान प्रतापशाली [विभाकराकार] राजन् ! [सितकर] चन्द्रमाकी किरणोंके समान [शुभ्र] १ कीर्त्ति और २ पराक्रम-लक्ष्मी [पौरुष-कमला] तथा ३ वह [प्रसिद्ध] लक्ष्मी [ये तीनों लक्ष्मियाँ] भी आपकी ही हैं, अन्य किसीकी नहीं ॥३१५॥

[यहाँ कर-कर, विभा-विभा तथा कमला-कमला इन तीनों स्थलोंपर तात्पर्यका भेद होनेपर शब्द तथा अर्थ दोनोंकी आवृत्ति होनेसे लाटानुप्रास है। लाटानुप्रासका लक्षण इस प्रकार किया है—"शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः"]

लाटानुप्रास होनेसे यहाँ इन पदोंकी पुनरुक्ति दोष नहीं है। आगे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनिमें कथितपदत्वके दोष न होनेका उदाहरण देते हैं—

जब सहृदय लोग उनको ग्रहण करते [कुछ मानते] हैं, तभी वे गुण होते हैं। सूर्यकी किरणोंसे अनुगृहीत कमल ही कमल होते हैं ॥३१६॥

[यहाँ भवन्ति कमलानि कमलानि'में दूसरा 'कमल' पद सौरभसौन्दर्यादि, विशिष्ट कमल इस विशिष्ट अर्थका वाचक होनेसे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है, इसलिए उसकी पुनरुक्ति दोष नहीं है। यह श्लोक आनन्दवर्धनाचार्यकी विषमबाणलीलामें आया है यह बात स्वयं आनन्दवर्धनाचार्यने अपने ध्वन्यालोकमें द्वितीय उद्योतमें इसको उद्धृत करते हुए कही है]।

आगे विहितके अनुवाद्य होनेपर कथितपदत्वके गुण हो जानेका उदाहरण देते हैं। यहाँ पहले वाक्यमें जितेन्द्रियत्वसे विनयका विधान किया गया है। दूसरे वाक्यमें विनय अनुवाद्य या उद्देश्य बन जाता है, और गुणप्रकर्ष विधेय हो जाता है ! इससे पहिले वाक्यमें विहित अर्थात् विधेयरूपसे प्रयुक्त 'विनय' पद जब दूसरे वाक्यमें अनुवाद्य या उद्देश्यरूपमें प्रयुक्त होता है, तब वह दोष नहीं रहता है। अपितु गुण हो जाता है। इसी प्रकार गुणप्रकर्ष तथा जनानुराग पदोंकी आवृत्ति भी गुण हो गयी है।

जितेन्द्रियता विनयका कारण है [उससे विनय उत्पन्न होता है] और विनयसे गुणप्रकर्षकी प्राप्ति होती है। गुणोंके प्रकर्षसे [उस गुणी व्यक्तिके प्रति] लोग अनुरक्त होते हैं। और लोगोंके अनुरागसे ही सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है ॥३१७॥

पतत्प्रकर्ष भी कहीं गुण हो जाता है, जैसे—

पूर्व उदाहृत [उदाहरण सं० २०९ पृष्ठ २५६] 'प्रागप्राप्त' इत्यादि श्लोकमें ॥३१८॥

समाप्तपुनरात्तं क्वचिन्न गुणो न दोषो यत्र न विशेषणमात्रदानार्थं पुनर्ग्रहणं, अपि तु वाक्यान्तरमेव क्रियते यथा अत्रैव "प्रागप्राप्तेत्यादौ" ॥३१९॥

अपदस्थसमासं क्वचिद्गुणः यथा उदाहृते "रक्ताशोक" इत्यादौ ॥३२०॥

गर्भितं तथैव यथा—

हुमि अवहत्थिअरेहो णिरंकुसो अह विवेअरहिओ वि ।
सिविणे वि तुमम्मि मध्ये पत्तिहि भत्तिं ण पसुमरासि ॥३२१॥
[भवाम्यपहस्तितरेखो निरंकुशोऽथ विवेकरहितोऽपि ।
स्वप्नेऽपि त्वयि पुनः प्रतीहि भक्तिं न प्रस्मरामि ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र प्रतीहीति मध्ये दृढप्रत्ययोत्पादनाय । एवमन्यदपि लक्ष्यालक्ष्यम् ।

[सूत्र ८२] **व्यभिचारि-रस-स्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभाव-विभावयोः ॥६०॥
प्रतिकूलविभादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ॥६१॥**

समाप्तपुनरात्तत्व कहीं न दोष होता है, न गुण । जहाँ केवल विशेषणमात्र देनेके लिए [ही समाप्तका] दुबारा ग्रहण नहीं अपितु नया वाक्य ही बनाया जाता है [वहाँ समाप्तपुनरात्तत्व न दोष होता है, और न गुण] जैसे इसी 'प्रागप्राप्त' इत्यादि [श्लोक सं० २०९ पृष्ठ २५६] में [येनानेन आदि चतुर्थ चरणमें समाप्त अर्थका पुनरुपादान होनेपर भी विशेषणमात्र देनेके लिए नहीं अपितु वाक्यके रूपमें पुनरुपात होनेसे दोष नहीं है ॥३१९॥

अपदस्थ समास [अर्थात् अस्थानमें समास कर देना भी] कहीं-कहीं गुण हो जाता है, जैसे पूर्वोदाहृत 'रक्ताशोक' [उदाहरण सं० ३००] में [यहाँ शृंगाररसमें दीर्घ समासमयी रचना रक्ताशोकके प्रति कोपकी अभिव्यञ्जना कर रही है। इसलिए विप्रलम्भकी पोषिका होकर गुण हो गयी है] ॥३२०॥

गर्भितत्व [दोष भी कहीं गुण हो जाता है] जैसे—[हे स्वामिन्] मैं चाहे मर्यादा का अतिक्रमण करनेवाला [अपहस्तितरेखः] निरंकुश अथवा विवेकरहित भले ही हो जाऊँ, परन्तु आप विश्वास रखें कि स्वप्नमें भी आपकी भक्तिको नहीं भूलूँगा ॥३२१॥

[यहाँ वाक्यके बीचमें आया हुआ] 'प्रतीहि' पद [दूसरे वाक्यके] बीचमें दृढ़ विश्वासके उत्पादनके लिए [प्रयुक्त हुआ है, अतः दोष न रहकर गुण हो गया] है ।

इस प्रकार उदाहरणोंसे और [दोषोंकी अदोषता] समझनी चाहिये ।

रसदोष-निरूपण—

[सूत्र ८२]—१. व्यभिचारिभावों, २. रसों अथवा ३. स्थायिभावोंका अपने वाचक शब्द द्वारा कहना, [स्वशब्दवाच्यता], ४. अनुभाव और ५. विभावकी कष्टकल्पनासे अभिव्यक्ति, ६. [रसके] प्रतिकूल विभाव आदिका ग्रहण करना, ७. तथा

अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥६२॥

(१) स्वशब्दोपादानं व्यभिचारिणो यथा—

सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसंगमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायाऽस्तु वः ॥३२२॥

अत्र व्रीडादीनाम् ।

व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे
सोत्कम्पा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
मीलद्भ्रूः सुरसिन्धुदर्शनविधौ म्लाना कपालोदरे ।

इत्यादि तु युक्तम् ।

[रसकी] बार-बार दीप्ति, ८. [रसका] अनवसरमें विस्तार कर देना, ९. अनवसरमें विच्छेद कर देना, १०. अप्रधान [अंग रस] का भी अत्यधिक विस्तार कर देना, ११. [अंगी] प्रधान रसको त्याग देना [भूल जाना], १२. प्रकृतियों [पात्रों] का विपर्यय कर देना और १३. अनंग [अर्थात् जो प्रकृत रसका उपकारक नहीं है, उस] का कथन इस प्रकारके रसमें रहनेवाले [१३] दोष होते हैं ॥६२॥

(१) व्यभिचारिभावोंका वाचक शब्दसे कथन [का उदाहरण] देते हैं । जैसे—

[दयितो] प्रियतम [शिवजी] के मुखके सामने होनेपर सलज्ज, [उनके ओढ़े हुए] हाथीके चर्मके [बने हुए वस्त्रको] देखनेपर सकरुण, [शिवजीके द्वारा आभूषण रूपमें धारण किये हुए] साँपोंको देखनेपर त्रासयुक्त, अमृतको प्रवाहित करनेवाले चन्द्रमाको देखनेपर विस्मय रससे युक्त, [शिवजीके मस्तकपर स्थित जह्नु-कन्या] गंगाको देखनेपर ईर्ष्याभावसे युक्त, [शिवजी द्वारा धारण किये हुए] कपालके भीतर देखनेपर दीनतायुक्त इस प्रकार नवसंगमके लिए उत्सुक पार्वतीकी दृष्टि तुम्हारे लिए कल्याणकारिणी होवे ॥३२२॥

यहाँ व्रीड़ा आदि [व्यभिचारि] का [अपने वाचक शब्दों द्वारा कथन होनेसे व्यभिचारिभावोंकी स्वशब्दवाच्यता दोष है] ।

'व्यानम्रा दयितानने' इत्यादि पाठ युक्त [हो सकता] है । [क्योंकि उसमें व्यभिचारिभावोंके वाचक शब्दोंको हटाकर उसको अन्य प्रकारसे प्रकट किया गया है । सव्रीड़ाके स्थानपर 'व्यानम्रा' सकरुणाके स्थानपर 'मुकुलिता', 'सत्रासा'के स्थानपर 'सोत्कम्पा', 'सविस्मयरसा'के स्थानपर 'निमिषरहिता', 'सेर्ष्या'के स्थानपर 'मीलद्भ्रूः' और 'दीना'के स्थानपर 'म्लाना' पाठ कर देनेसे उन व्यभिचारिभावोंकी स्वशब्दवाच्यता नहीं रहती है । अतः दोषका निवारण हो जाता है] ।

(२) रसस्य स्वशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वा वाच्यत्वम् । क्रमेणोदाहरणम्—

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम् ।

नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः ॥३२३॥

आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्तव्यक्तानुरागसुभगामभिराममूर्तिम् ।

पश्यैष बाल्यमतिवृत्त्य विवर्तमानः शृङ्गारसीमनि तरङ्गितमातनोति ॥३२४॥

(३) स्थायिनो यथा—

सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम् ।

ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥३२५॥

अत्रोत्साहस्य ।

(४) कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौतदिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः ।

लीलाशिरोंऽशुकनिवेशविशेषक्लृप्ति-व्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनौ सा ॥३२६

अत्रोद्दीपनालम्बनरूपाः शृङ्गारयोग्या, विभावा अनुभावपर्यवसायिनः स्थिता इति कष्टकल्पना ।

(२) रसकी स्वशब्द १ रस शब्दसे अथवा २ शृङ्गारादि शब्दसे वाच्यता [दोनों रसदोष] हैं । क्रमशः उनके उदाहरण [देते हैं]—

कामदेवके विजयकी मंगललक्ष्मी और तनिक ऊपर उठी हुई भुजाकी स्थितिमें देखी गयी उस [नायिका]को देखकर इसके [नायकके भीतर] किसी अनिर्वचनीय और अविच्छिन्न [निरन्तर] रस [का उदय] हुआ ॥३२३॥

[यहाँ रसका सामान्यवाचक रस शब्दसे ही निर्देश होनेके कारण दोष है] ।

[नायिकाके] कोमल कपोलतलपर स्थित व्यक्त अनुराग [अर्थात् रिरंसा] के कारण [और भी अधिक] सुन्दर उस मनोहर रूपवाली [नायिका] को देखकर बाल्यावस्थाका अतिक्रमण करके नवयौवनमें प्रविष्ट होता हुआ यह [नायक] शृंगार [रस] की सीमामें तरंगित हो रहा है । इसको देखो ॥३२४॥

(३) स्थायिभावकी [स्वशब्दवाच्यता होनेपर दोषका उदाहरण] जैसे—

युद्ध [भूमि] शस्त्रोंके परस्पर टकरानेसे उत्पन्न शब्दोंको सुनकर उस [वीर] में कोई अपूर्व [अनिर्वचनीय] उत्साह [उत्पन्न] हुआ ॥३२५॥

यहाँ [वीर रसके स्थायिभाव] उत्साहकी [स्वशब्दवाच्यता होनेसे दोष है] ।

(४) इसके बाद विभाव तथा अनुभावोंकी कष्टकल्पनाका उदाहरण देते हैं ।—

कर्पूर परागके समान शुभ्र, ज्योत्स्नासे दिङ्मण्डलको परिपूर्ण करनेवाले चन्द्रमाके [उदय] होनेपर, सिरपर पल्ला डालनेके विशेष प्रकारसे अपने स्तनोंकी उन्नतिको व्यक्त करनेवाली यह उस नवयुवकके नयन गोचर हुई ॥३२६॥

यहाँ उद्दीपन [रूप विभाव अर्थात् चन्द्रमा] और आलम्बनरूप [नायिका] शृंगार योग्य विभाव, अनुभावमें पर्यवसित रूपमें स्थित है । [नायकके भीतर उत्पन्न होनेवाले

(५) परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः ।
इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥३२७॥

अत्र रतिपरिहारादीनानुभावानां करुणादावपि सम्भवात्कामिनीरूपो विभावो यत्नतः प्रतिपाद्यः ।

(६) प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषं
प्रिये ! शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः ।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे ! प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः ॥३२८॥

अत्र शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यताप्रकाशनरूपो विभावस्तत्प्रकाशितो निर्वेदश्च व्यभिचारी उपात्तः ।

अनुभावोंका वर्णन नहीं है। किन्तु ऐसी उद्दीपक स्थितिमें नायिका को देखकर स्वेद, रोमांच इत्यादि अनुभावोंकी उत्पत्ति होती है] यह बात क्लिष्टकल्पना [से प्रतीत होती] है। [अतः अनुभावकी कष्टकल्पना दोष है]।

५. [यह नायक कामिनीके वियोगमें] बेचैन हो रहा है, [इसका] विवेक नष्ट हो गया है [कर्तव्याकर्तव्यका इस समय इसको कोई ध्यान नहीं है], यह [चलते हुए या उठ-उठकर] गिर पड़ता है, और [जमीनपर] बार-बार लोटता-पोटता है। इस प्रकार इसके शरीरकी बड़ी भयंकर दशा हो रही है। यह बड़े खेदकी बात है। [परन्तु] हम इस [दशा] में क्या [सहायता] करें [यह समझ में नहीं, आता] ॥३२७॥

यहाँ [वर्णित किये हुए] बेचैनी आदि अनुभाव [न केवल शृंगार रसमें ही अपितु] करुण [आदि पदसे भयानक तथा वीभत्स रस] आदिमें भी हो सकते हैं। इसलिए कामिनीरूप [आलम्बन] विभाव [यहाँ अभिप्रेत है यह] कठिनाईसे प्रतीत होता है [अतः यहाँ विभावकी कष्टकल्पना-रूप दोष है]।

(६) इस प्रकार यहाँतक पाँच रसदोषोंका निरूपण करनेके बाद अब प्रतिकूल विभावादिके वर्णन-रूप छठे रसदोषका निरूपण करते हैं—

[कोई नायक रूठी हुई नायिकाको प्रयत्न करता हुआ कह रहा है कि] मान जाओ, तनिक मुस्करा दो [प्रकटय मुख] यह गुस्सा छोड़ दो, हे प्रिये [तुम्हारी इस नाराजगीके कारण मेरे] अंग सूखे जा रहे हैं, उनपर अपनी [प्रसन्नता-भरी प्रिय] वाणीरूप अमृतका सिंचन करो। [मेरे] सारे सुखोंके [एकमात्र] आधार अपने इस सुन्दर मुखको जरा मेरे सामने करो। हे मुग्धे! गया हुआ यह समयरूप मृग फिर लौटकर नहीं आ सकता है ॥३२८॥

यहाँ [गया हुआ यह समय फिर लौटकर नहीं आ सकता है, इससे] शृंगार रसके प्रतिकूल [यौवनकी] अनित्यताप्रकाशन-रूप शान्त रसके विभाव और उससे प्रकाशित [शान्त रसके] निर्वेदरूप व्यभिचारिभावका प्रतिपादन किया गया है। [अतः प्रकृत शृंगार रसके प्रतिकूल विभाव तथा व्यभिचारिभावका ग्रहण-दोष है]।

णिहुअरमणम्मि लोअणपहम्मि पडिए गुरुअण मज्झम्मि ।
सअलपरिहारहिअआ वणगमणं एव्व मह्इ वहू ॥३२९॥
[निभृतरमणे लोचनपथे पतिते गुरुजनमध्ये ।
सकलापरिहारहृदया वनगमनमेवेच्छति वधूः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र सकलपरिहार–वनगमने शान्तानुभावौ । इन्धनाद्यानयनव्याजेनोपभोगार्थं वनगमनं चेत्, न दोषः ॥

(७) दीप्तिः पुनः पुनर्यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे ॥

(८) अकाण्डे प्रथनं यथा–वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णनम् ॥

इसी प्रकार प्रतिकूल अनुभावोंका ग्रहण होनेपर भी यह दोष हो सकता है, इसका उदाहरण आगे देते हैं—

[सास-ससुर आदि] गुरुजनोंके बीचमें [उनकी उपस्थितिमें] गुप्तपति [जार-पुरुष]के दिखलाई देनेपर बहू सब-कुछ [कार्य] छोड़कर [उस जारसे मिलनेके लिए इन्धन आदि बीनकर लाने व्याजसे] वनको ही जाना चाहती है ॥३२९॥

यहाँ सब-कुछ छोड़ देना तथा वनको जाना, ये दोनों [शृंगार रसके विरोधी] शान्त रसके अनुभाव हैं। [इसलिए यहाँ वे जिस रूपमें पठित हैं, उस रूपमें प्रकृत विप्रलम्भ शृंगारकी प्रतीतिमें बाधक होनेसे दोष है] परन्तु यदि इन्धन आदि लानेके बहानेसे उपभोग करनेके लिए वनको जाना चाहती है तो दोष नहीं होगा।

७. [सप्तम रसदोष, रसकी] बार-बार दीप्ति है, जैसे कुमारसंभवमें रतिके विलापके प्रसंगमें—

कुमारसम्भवके चतुर्थ सर्गमें कामदेवके भस्म कर दिये जानेके बाद रतिके विलापका वर्णन किया गया है। उसमें "अथ मोहपरायणा सती" [४.१] से करुण रसको प्रारम्भ किया गया है। उसके प्राम्भमें 'अथ' शब्द दिया है, जो रसकी प्रारम्भिक दीप्तिको सूचित करता है, उसके बाद "अथ सा पुनरेव विह्वला" [४.४.] इत्यादिमें 'अथ' तथा 'पुनः' शब्दसे फिर उस रसकी दीप्ति करके "तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशम्" [४.२६] इत्यादिसे करुण रसको फिर उद्दीप्त किया गया है। इस प्रकार एक ही उपभुक्त रसका बार-बार वर्णन उपभुक्त कुसुमपरिमलके समान सहृदयोंके लिए वैरस्यतोत्पादक हो जाता है, अतः दोष है। इसलिए ध्वन्यालोककारने भी लिखा है कि—

परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ।
रसस्य स्याद्विरोधाय, वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥ ध्वन्यालोक, ३, १९

आगे अकाण्डमें प्रथन अर्थात् अवसर न होनेपर भी अवसरके प्रतिकूल रसका प्रसार कर देने रूप अष्टम रसदोषका निरूपण करते हैं—

८. अनवसरमें प्रतिपादन [का उदाहरण], जैसे, वेणीसंहारमें द्वितीय अंकमें [भीष्म आदि] अनेक वीरोंके मरण प्रारम्भ होनेपर भानुमतीके साथ दुर्योधनके [सम्भोगरूप] शृंगार रसका वर्णन [अनुचित होनेसे दोष है]।

(९) अकाण्डे छेदो यथा वीरचरिते द्वितीयऽङ्के राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे कङ्कणमोचनाय गच्छामि इति राघवस्योक्तौ ॥

(१०) अङ्गस्याप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनं यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य ॥

(११) अङ्गिनोऽननुसंधानम् यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः ॥

(१२) प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च, वीररौद्रशृङ्गारशान्तरसप्रधाना धीरोदात्त-धीरोद्धत-धीरललित-धीरप्रशान्ताः, उत्तमाधममध्यमाश्च ।

---

९. अनुचित स्थानपर रसको भंग कर देना [अकाण्डच्छेद भी दोष है, उसका उदाहरण] जैसे महावीरचरितके द्वितीय अंकमें राम तथा परशुरामके [संवादमें] वीर रसके चरमोत्कर्षपर पहुँचनेपर 'कंकण खोलनेके लिए जा रहा हूँ', यह रामचन्द्रका कथन सहृदयोंकी सहानुभूतिमें बाधक होनेसे दोष हो जाता है] ।

१०. अंग अर्थात् अप्रधान [पात्र या रस] का अत्यन्त विस्तारके साथ वर्णन [भी रसदोष होता है] जैसे, [काश्मीरके भर्तृमेण्ठकवि-विरचित नाटक] 'हयग्रीव-वध'में [विष्णु, प्रधान नायक है । उनको छोड़कर प्रतिनायक दैत्य] हयग्रीवका [जल-केलि, वन-विहार, रतोत्सव आदिका नायककी अपेक्षा अधिक विस्तारसे वर्णन हय-ग्रीवके महत्त्वको बढ़ाता है, अतः दोष है] ।

कविने पहिले हयग्रीवका महत्त्व तथा प्रभाव विस्तारके साथ दिखलाकर फिर विष्णु द्वारा उसके वध किये जानेका वर्णन करके विष्णुके प्रतापातिशयको द्योतन करनेके अभिप्रायसे हयग्रीवका इतना विस्तारके साथ वर्णन किया है । इसीलिए "वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि" शत्रुके, वंश, वीर्य और श्रुत आदिका वर्णन करके भी नायकका उत्कर्ष दिखलानेकी व्यवस्था आचार्योंने की है । परन्तु उनका वर्णन उतना ही होना चाहिये, जिससे नायकके प्रतापातिशयके द्योतनमें सहायता मिले । शत्रुकी जलकेलि, वनविहार, रतोत्सव आदिके वर्णन और वह भी इतने अधिक विस्तारसे किये हुए वर्णनसे नायकके प्रतापातिशयकी वृद्धि नहीं होती है । अतः ग्रंथकारने इसे दोष ही माना है ।

११. अंगी [अर्थात् प्रधान नायक या नायिका] का विस्मरण [भी रसदोष है] जैसे, रत्नावली नाटिकामें चतुर्थ अंकमें [सिंहलेश्वरके कंचुकी] बाभ्रव्यके आ जाने-पर [विजयवर्माके वृत्तान्तके सुननेमें लगकर नायक उदयन, रत्नावली नामक मुख्य नायिका जिसको सागरमें डूबनेसे बचकर आनेके कारण 'सागरिका' भी कहा जाता था उस] सागरिकाकी विस्मृतिसे [शृंगार रसकी प्रतीतिमें विच्छेद-सा आ जाता है । अतः दोष हो जाता है] ।

१२ "प्रकृतीनां विपर्ययः" यह १२ वाँ रसदोष कहा गया है । उसके उपपादनके लिए पहिले प्रकृतियोंको समझाना आवश्यक है । इसलिए पहिले प्रकृतियों अर्थात् पात्रोंका भेद दिखलाते हैं ।

[सबसे पहिले] दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य [तीन प्रकार] की प्रकृति [नायक] होते हैं । [दिव्य नायक इन्द्र आदि, अदिव्य नायक वत्सराज, उदयन आदि मनुष्य, और दिव्यादिव्य नायक अवतारधारी राम, कृष्ण आदि होते हैं । फिर ये नायक धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त भेदसे चार प्रकारके होते

रतिहासशोकाद्भुतानि अदिव्योत्तमप्रकृतिवत् दिव्येष्वपि । किन्तु रतिः सम्भोगशृङ्गाररूपा उत्तमदेवता विषया न वर्णनीया । तद्वर्णनं हि पित्रोः सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम् ।

क्रोधं प्रभो ! संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥३३०॥

इत्युक्तवद् भ्रुकुट्यादिविकारवर्जितः क्रोधः सद्यः फलदः स्वर्गपातालगगनसमुद्रोल्लङ्घनाद्युत्साहश्च दिव्येष्वेव ।

हैं] । और वे [क्रमशः] वीर, रौद्र, शृङ्गार तथा शान्तरसप्रधान, [क्रमशः १ वीररसप्रधान] धीरोदात्त, [२ रौद्ररसप्रधान] धीरोद्धत, [३ शृंगाररसप्रधान] धीर ललित और [४ शान्तरसप्रधान] धीरप्रशान्त [चार प्रकारके] होते हैं । [इस प्रकार नायकोंके पहिले तीन, फिर उनमेंसे प्रत्येकके चार भेद करनेसे १२ भेद हो जाते हैं । अब इन बारहके फिर] उत्तम, मध्यम तथा अधम [तीन भेद] होते हैं । [इस प्रकार नायक अथवा प्रकृतियोंके ३६ भेद होते हैं] ।

इस प्रकार प्रकृति अर्थात् नायकके भेदोंको दिखलानेके बाद 'प्रकृतिविपर्यय'के उपपादनके लिए पहिले प्रकृतिके औचित्यका प्रतिपादन करते हैं । इस प्रदर्शित औचित्यका परित्याग कर विपरीत वर्णन करनेसे 'प्रकृति-विपर्यय' दोष हो जाता है । पहिले प्रकृतिके औचित्यका प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं—

उनमेंसे रति, हास, शोक, अद्भुत [रूप स्थायिभावों अर्थात् शृङ्गार, हास्य, करुण तथा अद्भुत रसों] का अदिव्य उत्तम नायकोंके समान दिव्य [उत्तम नायकों] में भी [वर्णन करना चाहिये] । किन्तु [इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि] सम्भोगशृंगाररूप रतिका [परस्परावलोकनको छोड़कर] उत्तम देवताविषयक वर्णन नहीं करना चाहिये । क्योंकि उसका वर्णन माता-पिताके सम्भोगवर्णनके समान अत्यन्त अनुचित है । [अतएव, कुमारसम्भवमें जो शिव-पार्वतीके सम्भोगका वर्णन है, वह अनुचित है] ।

इस प्रकार शृंगार, हास्य, करुण तथा अद्भुत इन चार रसोंके दिव्य तथा अदिव्य-प्रकृति नायकोंके वर्णन करनेके विषयमें जो औचित्य है उसका प्रतिपादन कर दिया । इसके बाद भृकुटिरहित क्रोध तथा स्वर्ग, पाताल-गमन या समुद्रलंघन आदिके उत्साहका वर्णन केवल दिव्यप्रकृतियोंमें ही करना चाहिये । अदिव्य-प्रकृतिमें अधिक नहीं करना चाहिये । इस बातका प्रतिपादन आगे करते हैं—

हे भगवन् [महादेव] ! क्रोधको शान्त कीजिये, शान्त कीजिये, जबतक आकाशमें देवताओंकी इस प्रकारकी आवाज सुनाई पड़े, तबतक महादेवके [तृतीय] नेत्रसे उत्पन्न [क्रोधकी] अग्निने कामदेवको भस्मावशेष कर दिया ।३३०।

इस प्रकार कहे हुए [क्रोध]के समान भृकुटी आदि [शारीरिक विकारों]से रहित, तथा तुरन्त फल देनेवाले क्रोध तथा स्वर्ग, पाताल आदि जाने एवं समुद्रके उल्लंघनके उत्साह आदिका वर्णन दिव्य [प्रकृतियों]में ही करना चाहिये ।

अदिव्येषु तु यावदवदाने प्रसिद्धमुचितं वा तावदेवोपनिबद्धव्यम् । अधिकं तु निबध्यमानमसत्यप्रतिभासे 'नायकवद्वर्तितव्यम् न प्रतिनायकवद्' इत्युपदेशे न पर्यवस्येत् ।

दिव्यादिव्येषु उभयथाऽपि ।

एवमुक्तस्यौचित्यस्य दिव्यादीनामिव धीरोदात्तादीनामप्यन्यथावर्णनं विपर्ययः ।

१. तत्रभवन् भगवन्नित्युत्तमेन न अधमेन मुनिप्रभृतौ न राजादौ, २. भट्टारकेति नोत्तमेन राजादौ प्रकृतिविपर्ययापत्तेर्वाच्यम् । एवं देश-काल-वयो-जात्यादीनां वेष-व्यवहारादिकमुचितमेवोपनिबद्धव्यम् ॥

अदिव्य [अर्थात् मनुष्य आदि]में जो जितना ['अवदानं कर्म वृत्तं' इतिहास-प्रसिद्ध] पूर्वचरित्र आदिमें प्रसिद्ध है, अथवा [मनुष्यके लिए] उचित [हो सकता] है उतना ही वर्णन करना चाहिये । क्योंकि अधिक [उत्साहादिका] वर्णन कर देनेसे [उसके] असत्य प्रतीत होने [लगने]से [काव्यके प्रमुख प्रयोजन] 'नायक [राम आदि] के समान व्यवहार करना चाहिये, प्रतिनायक [रावण आदि]के समान नहीं,' इस प्रकारके उपदेशमें परिणत नहीं हो सकता है इसलिए मनुष्योंके लिए साध्य उत्साह आदिसे अधिक उत्साहादिका वर्णन अदिव्य प्रकृतिमें नहीं करना चाहिये] ।

दिव्यादिव्य [प्रकृति या नायकों]में [दिव्य तथा अदिव्य] दोनों [के योग्य कार्यों का वर्णन किया जा सकता है] ।

इस प्रकार कहे हुए औचित्यके विपरीत दिव्य [अदिव्य या दिव्यादिव्य नायकों]के समान धीरोदात्त आदिका वर्णन भी [प्रकृति] विपर्यय [दोष] कहलाता है । [अर्थात् जिस प्रकार दिव्य आदि नायकोंके औचित्यके विपरीत वर्णन करना दोष है, उसी प्रकार धीरोदात्त आदि जो नायकोंके भेद किये गये हैं, उनके औचित्यके विपरीत वर्णन करना भी इस प्रकृति-विपर्यय दोषके अन्तर्गत आता है]।

इस प्रकृति-विपर्ययके अन्तर्गत सम्बोधन-पदोंके औचित्यका विपर्यय भी सम्मिलित होता है । किन-किन स्थितिके लोगोंके लिए किन-किन सम्बोधन-पदोंको प्रयोग करना चाहिये, इसके लिए आवश्यक नियम बने हुए हैं, उन नियमोंका उल्लंघन करके अन्यके लिए प्रयुक्त होनेवाले सम्बोधन-पदोंका अन्यथा प्रयोग करना भी प्रकृति-विपर्यय-दोष है । अतः उसका निर्देश आगे करते हैं—

(१) तत्रभवन्, भगवन् यह उत्तम [पात्र]के द्वारा, अधम [पात्र]के द्वारा नहीं, मुनि प्रभृतिके लिए [प्रयुक्त किया जाना चाहिये] राजा आदिके लिए नहीं । [अर्थात् तत्र भवान् तथा भगवन् यह सम्बोधन-पद केवल मुनियोंके लिए और वह भी उत्तम पात्र द्वारा प्रयुक्त किये जाने चाहिये । अधम पात्रके द्वारा उनका प्रयोग नहीं होना चाहिये और न राजा आदिके लिए उनका प्रयोग होना चाहिये] (२) और राजा आदिके लिए अधम [पात्र] द्वारा भट्टारक [इस सम्बोधनका प्रयोग होना चाहिए] उत्तम [पात्र]के द्वारा [राजा आदिके लिए भी भट्टारक आदि सम्बोधन पदोंका प्रयोग] नहीं होना चाहिये । क्योंकि उससे प्रकृति-विपर्यय-दोष हो जाता है । इसी प्रकार देश, काल, अवस्था जाति आदि तथा वेष, व्यवहार आदिका उचित रूपसे ही वर्णन करना चाहिये । [इनमेंसे किसीका भी अन्यथा वर्णन करनेसे प्रकृति-विपर्यय-दोष हो जाता है]।

(१३) अनङ्गस्य रसानुपकारकस्य वर्णनम् यथा—कर्पूरमञ्जर्यां नायिकया, स्वात्मना च कृतं वसन्तवर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य राज्ञा प्रशंसनम् ।। **ईदृशा इति** । नायिका-पादप्रहारादिना नायककोपादिवर्णनम् । उक्तं हि ध्वनिकृता—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।। इति ।।

इदानीं क्वचिद्दोषा अप्येते—इत्युच्यन्ते ।

[सूत्र ८३] न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः क्वचित् ।

यथा—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ।।३३१।।

---

१३. अनङ्गका अर्थात् [प्रकृत] रसके अनुपकारकका वर्णन [भी १३वाँ रसदोष होता है] जैसे—कर्पूरमंजरी [नाटक] में [प्रथम यवनिकाके बाद] नायिका [अर्थात् देवी विभ्रमलेखा]के किये हुए और स्वयं अपने किये हुए वसन्तवर्णनकी उपेक्षा करके बन्दियों द्वारा किये गये वसन्तवर्णनकी राजा द्वारा प्रशंसा की गयी है ।

[रसदोषोंका परिगणन करनेवाली अन्तिम ६२वीं कारिकाके अन्तमें 'रसे दोषाः स्युरीदृशाः' यह चतुर्थ चरण है । इसके अन्त में 'ईदृशाः' पद आया है उस] "ईदृशा" इससे नायिकाके पादप्रहार आदिसे नायकके कोपादिका वर्णन [भी रसदोषमें परिगणित होता है, यह समझना चाहिये] ।

इस प्रकार यहाँतक रसदोषोंका निरूपण समाप्त हो गया । अन्तमें रसदोषका कारण अनौचित्यका वर्णन करना ही है । इस विषयमें वचन प्रमाण उद्धृत करते हैं—

जैसा कि ध्वनिकार [आनन्दवर्धनाचार्य] ने कहा है—

अनौचित्य [के वर्णन] के अतिरिक्त रसभंग [रसविच्छेद रसदोष] का और कोई कारण नहीं है । और औचित्यका वर्णन ही रस [परिपोषण] का परम रहस्य है ।

रसदोषोंके अपवाद—

रसदोषोंके निरूपणके बाद आगे उनके अपवाद दिखलाते हैं । अर्थात् किन्हीं विशेष परिस्थितियोंमें उक्त दोष, दोष नहीं माने जाते हैं । वे परिस्थितियाँ निम्नलिखित प्रकार हो सकती हैं—

अब यह कहते हैं कि कहीं ये [व्यभिचारिभावकी स्वशब्दवाच्यता आदि रसदोष] दोष नहीं रहते हैं ।

[सूत्र ८३] कहीं संचारिभावका स्वशब्दसे कथन होनेपर भी दोष नहीं होता है । जैसे—

प्रथम बारके समागमके अवसरपर [अपने पति शिवजीसे] मिलनेकी उत्सुकताके कारण जल्दी करती हुई किन्तु [नवोढ़ा वधूकी] स्वाभाविक लज्जाके कारण लौटती हुई

अत्रौत्सुक्यशब्द इव तदनुभावो न तथा प्रतीतिकृत् । अत एव 'दूरादुत्सुकम्' इत्यादौ व्रीडाप्रेमाद्यनुभावानां विवलितत्वादीनामिवोत्सुकत्वानुभावस्य सहसा प्रसरणादिरूपस्य तथाप्रतिपत्तिकारित्वाभावादुत्सुकमिति कृतम् ॥

[पीछे हटती हुई-सी] फिर बन्धुजनोंकी स्त्रियोंके तत्कालोचित [तैस्तैः] वचनोंसे दुबारा [शिवजीके सम्मुख] पहुँचायी गयी [एकान्त स्थलमें पहुँचनेपर] सामने वर [श्रेष्ठ या पति शिव] को देखकर भीतिग्रस्त, [अतएव] रोमांचित और [इस दशाको देखकर] हँसते हुए शिवके द्वारा चिपटा ली गयी [आलिंगित] पार्वती आप सबसे लिए कल्याणदायिनी हों ॥३३१॥

यहाँ औत्सुक्य तथा लज्जा व्यभिचारिभावोंको स्वशब्दसे कहा गया है। परन्तु यह दोष नहीं है, इस बातको दिखलानेके लिए यह उदाहरण दिया गया है। यह श्लोक रत्नावली नाटिकाके मंगलाचरणका श्लोक है। इसमें औत्सुक्य तथा लज्जा इन दो व्यभिचारिभावोंको स्वशब्द अर्थात् उनके वाचक शब्द द्वारा ही कहा गया है, परन्तु वह दोष नहीं है। इसका कारण यह है, कि यदि यहाँ उनको स्वशब्दसे न कहा जाय तो उनके 'त्वरा' तथा 'व्यावर्त्तन' रूप अनुभावों द्वारा निश्चित रूपसे औत्सुक्य तथा लज्जाका ज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि 'त्वरा' और 'व्यावर्त्तन' रूप अनुभाव रोष तथा भय आदिके कारण भी हो सकते हैं। परन्तु यहाँ भय या रोषादिके कारण त्वरा एवं व्यावर्त्तन विवक्षित नहीं है। अपितु औत्सुक्य तथा लज्जाके कारण त्वरा, तथा लज्जानिमित्तक व्यावर्त्तन विवक्षित हैं। यह बात व्यभिचारिभावका स्वशब्दसे कथन किये बिना केवल अनुभाव द्वारा बोधित नहीं हो सकती है। इसलिए कविने यहाँ उनको स्वशब्दसे कथन किया है।

केवल रत्नावलीकारने इस प्रकारका प्रयोग किया हो, यह बात नहीं है। ऐसी परिस्थितियोंमें अन्य कवियोंको भी इसी मार्गका अवलम्बन करना पड़ा है। उदाहरणके लिए अमरुकशतकका "दूरादुत्सुकमागते विवलितं" इत्यादि श्लोक-संख्या ३०, पृष्ठ ११४ पर दिया गया है, उसमें भी 'उत्सुक' शब्दसे ही औत्सुक्यरूप व्यभिचारिभावका कथन किया गया है। अन्य व्रीड़ा प्रेम आदि व्यभिचारिभावोंको स्वशब्दसे न कहकर 'विवलितत्वादि' अनुभावोंके द्वारा ही कथन किया है। परन्तु औत्सुक्य-कथन अनुभावों द्वारा निश्चित रूपसे नहीं किया जा सकता है। क्योंकि जो त्वरा आदि औत्सुक्यके अनुभाव हैं, वे ही भय आदिके भी अनुभाव हैं, इसलिए केवल अनुभावोंके द्वारा औत्सुक्यका निश्चित रूपसे बोध सम्भव न होनेके कारण अमरुक कविको भी औत्सुक्यरूप व्यभिचारिभावको स्वशब्दसे ही कहना पड़ा है। यही बात ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें लिखते हैं।

यहाँ 'औत्सुक्य' शब्द [जैसे असन्दिग्ध रूपसे औत्सुक्यरूप व्यभिचारिभावको बोध कराता है, उस] के समान उसका [त्वरारूप] अनुभाव [औत्सुक्यके अतिरिक्त भयादिका भी समान अनुभाव होनेके कारण] उस प्रकार [असन्दिग्ध रूपसे] प्रतीति नहीं करा सकता है। [इसलिए यहाँ औत्सुक्य तथा ह्री रूपका व्यभिचारिभावोंको स्वशब्दसे कहना आवश्यक हो गया है]। इसीलिए [अमरुक कविने भी ११४ पृष्ठपर पूर्व उद्धृत किये हुए] "दूरादुत्सुकम्" इत्यादि [श्लोक] में व्रीड़ा आदि [व्यभिचारिभावोंके] अनुभाव विवलितत्वादिके समान औत्सुक्यके सहसा गमन [त्वरा] रूप अनुभावके उस प्रकार [असन्दिग्ध रूप] से प्रतीति करानेवाला न होनेसे "उत्सुकम्" यह [शब्दसे ही औत्सुक्यरूप व्यभिचारिभावका कथन] किया है।

[सूत्र ८४] **सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ॥६३॥**

बाध्यत्वेनोक्तिर्न परमदोषः, यावत्प्रकृतरसपरिपोषकृत् । यथा—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्—इत्यादौ ॥३३२॥

अत्र वितर्कादिषु उद्गतेष्वपि चिन्तायामेव विश्रान्तिरिति प्रकृतरसपरिपोषः ॥

इस प्रकार व्यभिचारिभावको जहाँ अनुभावों द्वारा निश्चित रूपसे प्रतिपादन करना सम्भव न हो, वहाँ उसका स्वशब्दसे कथन करना दोष नहीं है, यह सिद्धान्त स्थिर हुआ । परन्तु स्थायिभाव तथा रसकी स्वशब्दवाच्यता सदा दोष ही मानी जाती है । उसका कोई अपवाद ग्रन्थकारने नहीं दिखलाया है ।

इसके बाद प्रतिकूल विभावादिके परिग्रहरूप छठे रसदोषका अपवाद दिखलाते हैं—

[सूत्र ८४]—[प्रकृत रसके] विपरीत संचारिभाव [अनुभाव तथा विभाव] आदिका बाध्यत्वेन कथन करना [दोष नहीं अपितु] गुणधायक होता है ॥६३॥

[प्रकृत रसके प्रतिकूल विभाव, अनुभाव तथा संचारिभावका] बाध्यत्वेन कथन करना न केवल अदोष है, अपितु प्रकृत रसका परिपोषक [होनेसे गुण] हो जाता है, जैसे—

'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम् ।' इत्यादिमें । [यह श्लोक उदाहरण-सं० ५३, पृष्ठ १४५ पर उद्धृत किया जा चुका है । इसका अर्थ वहीं देखना चाहिये] ॥३३२॥

इस श्लोकमें शान्त रसके, १. वितर्क, २. मति, ३. शंका तथा ४. धृति इन चार व्यभिचारिभावोंका और शृंगार रसके १. स्मरण, २. दैन्य, ३. औत्सुक्य एवं ४. चिन्ता इन चार व्यभिचारिभावोंका इकट्ठा वर्णन किया गया है । शान्त तथा शृङ्गार रसका आलम्बन-ऐक्य तथा नैरन्तर्य, दोनों प्रकारसे परस्पर विरोध है । यह श्लोक मुख्य रूपसे शृंगार रसका है । क्योंकि उर्वशीके वियोगमें पुरूरवाकी उक्ति है । इसलिए उसके अन्दर शान्त रसके वितर्क आदि चार व्यभिचारिभावोंका कथन करना साधारणतः उचित नहीं था । परन्तु यहाँ यह दोष नहीं अपितु गुण हो गया है, क्योंकि 'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्वच कुलं' इस वितर्क [यहाँ शान्त रसके व्यभिचारिभाव] से श्लोकका प्रारम्भ होता है । परन्तु उसके बाद 'भूयोऽपि दृश्यते सा' यह शृंगार रसका व्यभिचारिभाव 'औत्सुक्य' आकर उस 'वितर्क'का बाधक होता है । इसके बाद "दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो" यह शान्त रसका 'मति'-रूप व्यभिचारिभाव उदित होता है । परन्तु उसके साथ ही "कोपेऽपि कान्तं मुखं" यह शृङ्गार रसका व्यभिचारिभाव उसे बाधा देता है । इसके बाद तीसरी बार "किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः" यह 'शंका' रूप शान्त रसका व्यभिचारिभाव सामने आता है, परन्तु "स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा" यह शृङ्गार-रसका 'दैन्य' रूप अनुभाव उसका बाधक होता है । अन्त में "चेतः स्वास्थ्यमुपैहि" यह शान्त रसकी 'धृति' सिर उठाती है । परन्तु "कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति" यह शृङ्गार रसका 'चिन्तारूप' व्यभिचारिभाव उसको कुचल देता है । इस प्रकार अन्तको शृङ्गार रसके व्यभिचारिभाव चिन्तामें श्लोककी विश्रान्ति होती है । अतएव इस विरोधी रसके साथ संघर्षमें विरोधी रसके व्यभिचारिभावोंका बाध होकर प्रकृतरसकी विजय होती है । अतः बाध्यरूपसे विरोधी रसके व्यभिचारिभावोंका यह वर्णन दोष नहीं, अपितु प्रकृत शृङ्गार रसका परिपोषक होनेसे गुण ही है । यही बात ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें कह रहे हैं—

इस ['क्वाकार्य' इत्यादि श्लोक] में [प्रारम्भमें विरोधी शान्त रसके व्यभिचारि-

पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ॥३३३॥

इत्यादौ साधारणत्वं पाण्डुतादीनामिति न विरुद्धम् ॥

भाव] वितर्क आदिका उदय होनेपर भी [उनकी शृङ्गार रसके व्यभिचारिभाव] चिन्तामें ही विश्रान्ति होनेसे [विरोधी रसके व्यभिचारिभावोंका यह वर्णन] प्रकृत [शृङ्गार] रसका परिपोषक होता है [अतः यह दोष नहीं अपितु गुण है] ।

विरोधी रसके विभावादि अंगोंके बाध्यरूपसे कथन होनेपर दोष नहीं होता है। इस सिद्धान्तका निरूपण ध्वन्यालोककारने भी विस्तारपूर्वक किया है। उसी प्रसंगमें ध्वन्यालोककारने एक पंक्ति यह भी लिखी है कि—"समारोपितायामप्यविरोधो यथा "पाण्डुक्षामम् इत्यादौ ।" इसका अभिप्राय यह है कि इस श्लोकमें करुणरसोचित 'व्याधि' का मुख्यतः वर्णन है। परन्तु श्लेष आदि द्वारा विप्रलम्भ शृङ्गारमें भी नायिकामें करुणरसोचित 'व्याधि' धर्म पाण्डुत्वादिका आरोप कर लिया गया है। इस प्रकार विरोधी करुण रसके पाण्डुक्षामवदनत्वादि अंगोंकी विप्रलम्भ शृङ्गारमें समारोपित अंगता होनेसे उस प्रकारका वर्णन दोष नहीं है। यह ध्वन्यालोककारने "पाण्डुक्षामं वदनं" इत्यादि श्लोककी विवेचना करते हुए लिखा है। परन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट उससे सहमत नहीं है। वे उसे समारोपित अङ्गता मानकर विरोधका परिहार करनेकी आवश्यकता नहीं मानते। उनका कहना यह है कि यह पाण्डुत्व आदि धर्म करुणरसोचित राजयक्ष्मारूप व्याधिके धर्म तो होते ही हैं, परन्तु उसके साथ शृङ्गार रसके अनुभावोंमें भी हो सकते हैं। अतएव इनके दोनों रसोंमें सम्भव होनेके कारण शृङ्गाररसप्रधान इस श्लोकमें उनका वर्णन करना दोष नहीं है। उनमें वस्तुतः विरोध न होनेसे ध्वन्यालोककारने उनके विरोधपरिहारका जो प्रयत्न किया है वह व्यर्थ है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें कहते हैं—

हे सखि ! तेरा पीला और मुरझाया हुआ चेहरा, सरस [अनुराग सहित तथा अन्नरसयुक्त] हृदय, और अलसाई देह, तेरे हृदयमें स्थित [राजयक्ष्मारूप और दुर्लभके साथ प्रणयरूप] असाध्य रोगकी सूचना देते हैं ॥३३३॥

यहाँ पाण्डुता आदि [राजयक्ष्मा रूप करुणरसोचित व्याधिमें तथा शृङ्गार रस] दोनोंमें समान [रूपसे सम्भव हो सकते] हैं। अतः [शृङ्गार रसके योग्य राजयक्ष्मा-व्याधिके अंगरूपमें प्रतीति होनेवाला पाण्डुता आदिका वर्णन] शृङ्गार रसके विपरीत नहीं है। [अतः उसके परिहारके लिए ध्वन्यालोककारका प्रयत्न अनावश्यक है] ।

इसी रस-दोषोंकी अदोषताके निरूपणके प्रसंगमें ध्वन्यालोककारने एक कारिका इस प्रकार लिखी है—

विनेयानुन्मुखीकर्त्तुं काव्यशोभार्थमेव वा ।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदंगानां न दुष्यति ॥ ध्वन्यालोक—२३०॥

इस कारिकाकी व्याख्या करते हुए उन्होंने इसकी वृत्ति दिया है—

शृंगार-विरुद्ध-रस-स्पर्शः शृंगाराङ्गाणां यः स न केवलमविरोधलक्षणे सति न दुष्यति, यावत् विनेयानुन्मुखीकर्त्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणोऽपि न दुष्यति। शृङ्गाररसाङ्गैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति। सदाचारोपदेशरूपा हि नाट्यगोष्ठी, विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता ।

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ।।३३४।।

किंच शृङ्गारस्य सकलजनमनोहाराभिरामत्वात् तदंगतया काव्ये शोभातिशयं पुष्यतीत्यनेनाऽपि प्रकारेण विरोधिनि रसे शृंगारांगसमावेशो न विरोधी । ततश्च—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्याः विभूतयः ।
किन्तु मत्तांगनापांगभंगलोलं हि जीवितम् ।।

इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः ।

इसका अभिप्राय यह है कि शृङ्गार रसका अनुभव संसारमें प्रत्येक व्यक्तिको अत्यन्त आकर्षक रूपमें होता है । इसलिए वह सब रसोंमें मुख्य या रसराज कहलाता है, इसलिए उसके विरोधी शान्त आदि रसोंमें भी उसके विभावादि अंगोंका प्रयोग किया जा सकता है । इस प्रयोगके दो प्रयोजन हैं, एक तो शिष्योंको उस शान्त आदि विरोधी रसके प्रति उन्मुख करना और दूसरा काव्यकी शोभा । शान्त आदि रसोंके वर्णनमें शृङ्गार रसका हलका-सा पुट दे देनेसे शक्कर-चढ़ी कुनैनकी कड़वी गोलियोंके समान शान्त रसके उपदेशको भी शिष्य लोग सरलतासे ग्रहण कर लेते हैं । इसलिए, और उसके सम्पर्कसे काव्यमें कुछ अपूर्व चमत्कार या सौन्दर्य आ जाता है इसलिए, १. 'विनेयानुन्मुखी कर्त्तुं' और २. 'काव्यशोभार्थमेव वा' उस शृङ्गारके विभावादिरूप अंगोंका 'तद्विरुद्धरसस्पर्शः' उसके विरोधी शान्त आदि रसोंके साथ सम्पर्क दोषाधायक नहीं होता है । इसीके उदाहरणरूपमें ध्वनिकारने "सत्यंमनोरमा रामाः" आदि श्लोक उद्धृत किया है । अर्थ यह है—

यह ठीक है कि स्त्रियाँ बड़ी मनोरम होती हैं, और यह भी ठीक है कि सम्पत्ति बड़ी रमणीय होती है, परन्तु [उन सबके भोग करनेका साधनभूत] यह जीवन तो मतवाली स्त्रीके कटाक्षके समान क्षण-भंगुर है ।

इसमें शान्त रस मुख्य है, परन्तु मनोरमा रामाओंकी चर्चा करके कविने शृंगार रसके आलम्बन विभावरूप अंगका उसमें समावेश कर दिया है । फिर भी इन मनोरमाओंकी चर्चासे पाठकके हृदयमें शृंगार रसकी अनुभूति नहीं होती है । 'मत्ताङ्गनापांग' रूप शृंगार रसका अनुभाव भी शृंगाररसकी अभिव्यक्तिमें समर्थ नहीं है । हाँ, उससे जीवनकी क्षणभंगुरताका प्रतिपादन बड़े सुन्दर ढंगसे हो रहा है । इसलिए विषयोंसे विमुख होनेकी शिक्षा इस श्लोकसे सरलतासे पाठकके हृदयमें प्रविष्ट हो जाती है । साथ ही कोरी शान्त रसकी चर्चाकी अपेक्षा शृंगार रसका तनिक-सा पुट लग जानेसे काव्यमें सौन्दर्य भी आ गया है । इसलिए यहाँ दोष नहीं है । यह ध्वनिकारका सिद्धान्त है ।

परन्तु काव्यप्रकाशकार इससे सहमत नहीं हैं । ध्वनिकारने यहाँ विनेयोंके उन्मुखीकरण तथा काव्यशोभारूप जिन दो हेतुओं द्वारा शान्त रसमें शृंगार रसके पुटका समर्थन किया है, उन दोनोंको काव्यप्रकाशकारने अस्वीकार कर दिया है । और स्वयं उसके तीन प्रकारके समाधान प्रदर्शित किये हैं ।

काव्यप्रकाशकारका पहिला समाधान तो यह है कि विरोधी रसांगके बाध्यत्वेन कथनमें दोष नहीं होता है । यह जो सिद्धान्त पहिले स्थिर किया जा चुका है, उसीसे यहाँ भी काम चल सकता है । इसलिए यहाँ दूसरे सिद्धान्त या नियमके प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं है । दूसरे समाधानका आशय यह है कि 'मत्तागंनापांग'को उपमान और जीवनकी अस्थिरताको यहाँ उपमेयरूपमें प्रस्तुत किया है । इससे उपमानभूत मत्तांगनापांगकी अस्थिरता उपमेयभूत जीवनकी अस्थिरतासे अधिक होनी चाहिये, इसलिए शृंगार रसका 'मत्तांगनापांग' रूप अनुभाव जीवनकी अपेक्षा

इत्यत्राद्यमर्धं बाध्यत्वेनैवोक्तम् । जीवितादपि अधिकमपाङ्गभङ्गस्यास्थिरत्वमिति प्रसिद्धभङ्गुरोपमानतयोपात्तं शान्तमेव पुष्णाति न पुनः शृङ्गारस्यात्र प्रतीतिस्तदङ्गाप्रतिपत्तेः ।

भी अधिक क्षणभंगुर है, इस रूपमें वह शान्त रसका ही पोषक है, शृंगार रसका नहीं । इसके अतिरिक्त तीसरा समाधान यह है कि यहाँ शृङ्गार रसके आलम्बन तथा उद्दीपन विभावादिरूप अंगोंका वर्णन न होनेसे भी शृंगार रस है ही नहीं । इसलिए उसके विरोध-परिहारके लिए किसी नवीन नियमके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है ।

इस प्रकार काव्यप्रकाशकारके समाधानके कथनका सारांश यह है कि पहिले तो यहाँ शृंगार रसकी प्रतीति ही नहीं होती है कि उसके समाधानके लिए अलग नया नियम बनानेकी आवश्यकता पड़े और यदि शृंगार रसकी प्रतीति मानी भी जाये तो उसका पूर्वार्द्धमें बाध्यत्वेन ही कथन किया गया है । इसलिए इस विरोधका परिहार पूर्व नियमसे ही हो जाता है । इसलिए नवीन नियमके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है ।

अपने इस मतका प्रतिपादन ग्रंथकारने निम्नलिखित प्रकार किया है—

इसमें [शृङ्गार रसके द्योतक] पूर्वार्द्धको [शान्त रसके प्रतिपादक उत्तरार्द्धके द्वारा] बाध्यरूपसे ही कहा गया है [इसलिए पूर्व नियमसे ही शान्त तथा शृङ्गारके विरोधका परिहार यहाँ हो जाता है । उसके लिए नवीन नियमके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है । दूसरी बात यह है, कि यहाँ शृङ्गार रसका अनुभाव जो 'मत्तांगनापांग' है वह उपमानके रूपमें प्रयुक्त किया गया है, इसलिए भी] प्रसिद्ध उपमानरूपमें गृहीत अपांगभंगकी अस्थिरता [उपमेयभूत] जीवन [की अस्थिरता]से भी अधिक है यह [कथन] शान्त रसको ही पुष्ट करता है । [तीसरी बात यह है कि] उस [शृङ्गार]के अंगोंकी प्रतीति न होनेके कारण यहाँ शृङ्गार रसकी प्रतीति भी नहीं होती है [इसलिए भी इन दोनों रसोंके विरोध-परिहारके लिए नवीन नियमप्रयोगकी आवश्यकता नहीं है । अतः ध्वनिकारका नवीन नियमके प्रयोगका प्रयास व्यर्थ है] ।

इस प्रकार अपनी दृष्टिसे किसी नवीन नियमके प्रयोगके बिना भी यहाँ रसोंके विरोधका कोई अवसर नहीं है । इस बातका उपपादन करके ग्रंथकार आगे ध्वनिकारके द्वारा प्रदर्शित दोनों समाधानोंकी व्यर्थताको प्रदर्शित करते हुए ध्वनिकारके प्रतिपादित सिद्धान्तका खण्डन करते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि रसोंका परस्पर विरोध तीन प्रकारका होता है, १. किन्हींका आलम्बनऐक्य होनेसे, जैसे वीर और शृंगारका आलम्बनके ऐक्यमें विरोध होता है, २. किन्हींका आश्रयके ऐक्य होनेपर विरोध होता है, जैसे, वीर और भयानक रसोंका एक आश्रयमें रहना सम्भव न होनेसे उनका आश्रय ऐक्यमें विरोध होता है और ३. किन्हींका नैरन्तर्यसे वर्णन होनेपर विरोध होता है, जैसे शान्त और शृंगारका नैरन्तर्येण वर्णन होनेसे विरोध होता है । यहाँ शान्त और शृंगार रसके विरोधका प्रसंग है । इन दोनोंका विरोध तभी हो सकता है, जब इन दोनोंका नैरन्तर्यसे वर्णन किया जाय । परन्तु यहाँ इन दोनोंका नैरन्तर्यसे वर्णन नहीं है । इसलिए यहाँ विरोध ही नहीं है, जिसके परिहारके लिए विनेयोन्मुखीकरणरूप युक्तिका अवलम्बन किया जाय । दूसरी बात जो ध्वनिकारने कही है, वह यह कि 'काव्यशोभार्थ' भी विरोधी रसका ग्रहण किया जा सकता है, सो वह बात भी यहाँ लागू नहीं होती है ।

न तु विनेयोन्मुखीकरणमत्र परिहारः, शान्त-शृङ्गारयोर्नैरन्तर्यस्याभावात् । नापि काव्यशोभाकरणम्, रसान्तरादनुप्रासमात्राद्वा तथाभावात् ॥

दूसरे रसके सम्पर्कमात्रसे काव्यकी शोभा हो भी नहीं सकती है। इसलिए ध्वनि-कारने इस श्लोकके शान्त तथा शृङ्गार रसके विरोधके परिहारके लिए जो यत्न किया है, वह सब बिल्कुल व्यर्थ है, यह काव्यप्रकाशकारका अभिप्राय है। अपने इस अभिप्रायको ग्रन्थकारने इस प्रकार व्यक्त किया है—

शान्त और शृङ्गारके [विरोधापादक हेतु] नैरन्तर्यका अभाव होनेसे [यहाँ उनका परस्पर विरोध ही नहीं है। अतः] 'विनेयोन्मुखीकरण' यहाँ परिहार [का हेतु है, इसको माननेकी आवश्यकता] नहीं है। और न काव्यशोभाका उत्पादन [रूप ध्वनि-कारका दूसरा मार्ग उपयुक्त हो सकता है। क्योंकि] दूसरे रस, अथवा ['मत्तांगनापांग भंग' पदके] अनुप्रासले इस प्रकारकी शोभा हो सकती है।

इस प्रकार पिछली कारिकामें विरोधी रस, विभाव, अनुभाव तथा संचारिभावरूप अंगोंका किसी रसके साथ वर्णन किये जा सकनेके विषयमें यह नियम स्थिर किया था कि विरोधी रसके अंगोंका बाध्यतया वर्णन दोषबाधक नहीं, अपितु गुणावह हो जाता है। अब रसोंके विरोध-परिहारका दूसरा प्रकार अगली कारिकामें दिखलाते हैं। ऊपर रसोंका तीन प्रकारका विरोध दिखलाया था, परन्तु उन तीन भेदोंके करनेसे पूर्व रसविरोधके दो भेद किये जाते हैं। एक, दैशिक रसविरोध, दूसरा, कालिक रस-विरोध। दैशिक रसविरोधके फिर दो भेद हो जाते हैं, एक आलम्बन-ऐक्यमें विरोध, दूसरा आश्रय-ऐक्यमें विरोध। आलम्बनका अभिप्राय आलम्बन-विभाव है। जिसको देखकर रसकी उत्पत्ति होती है, वह आलम्बन और जिसमें रसकी उत्पत्ति होती है, वह रसका आश्रय है। जैसे वीर और शृङ्गारका आल-म्बन-ऐक्यमें विरोध होता है। वीर तथा भयानकका परस्पर आश्रय-ऐक्यमें विरोध है, अर्थात् जिस व्यक्तिसे भयानक रसकी उत्पत्ति हो रही है, उससे उसी समय वीर रसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार जिस आश्रयमें वीर रसकी उत्पत्ति हो रही है उसी आश्रयमें भयकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार आलम्बन-ऐक्य तथा आश्रय-ऐक्यसे रसोंमें दो प्रकारका विरोध होता है, वह दैशिक विरोध होता है और नैरन्तर्येण जो विरोध होता है वह कालिक विरोध होता है। जैसे शान्त और शृङ्गारका नैरन्तर्येण तथा आलम्बन-ऐक्य दोनों प्रकारका विरोध होता है, शान्त और शृङ्गारका अव्यवधानसे एक साथ वर्णन नहीं करना चाहिये। इस प्रकार रसोंके विरोधके पहिले दैशिक तथा कालिक रूप दो भेद होते हैं, और फिर उनमेंसे दैशिक विरोधके दो भेद होकर १ आलम्बन-ऐक्यमें विरोध, २. आश्रय-ऐक्यमें विरोध तथा ३. नैरन्तर्यमें विरोध। इस प्रकार विरोधके तीन भेद हो जाते हैं। इन तीनों प्रकारके विरोधके परिहारका मार्ग ग्रन्थकार अगली कारिकामें बतलाते हैं। उसका सारांश यह है कि जहाँ आलम्बन या आश्रयरूप देशकी एकताके कारण विरोध होता है, वहाँ उन विरोधी रसोंका देशभेदसे अर्थात् आलम्बन-भेद एवं आश्रय-भेदसे वर्णन करना चाहिये। और जिन रसोंमें कालिक विरोध अर्थात् नैरन्तर्यसे वर्णन करनेमें विरोध आता है, उनका व्यवधानसे वर्णन करना चाहिये। इस प्रकार उनके विरोधका परिहार किया जा सकता है। कारिकामें आये आश्रयैक्य शब्दसे दैशिक विरोधके आश्रयैक्य तथा आलम्बनैक्यरूप दोनों भेदोंका ग्रहण करना चाहिये। उसमें आए रस शब्दका अभिप्राय स्थायिभाव है, यह बात ग्रन्थकार इस उल्लासके अन्तमें स्वयं कहेंगे कारिकाका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है —

[सूत्र ८५] **आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः ।**
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ॥६४॥

वीरभयानकयोरेकाश्रयत्वेन विरोध इति प्रतिपक्षगतत्वेन भयानको निवेशयितव्यः । शान्तश्रृङ्गारयोस्तु नैरन्तर्येण विरोध इति रसान्तरमन्तरे कार्यम् । यथा—नागानन्दे शान्तस्य **जीमूतवाहनस्य** "अहो गीतम् अहो वादित्रम्"—इत्यद्भुतमन्तर्निवेश्य मलयवतीं प्रति श्रृङ्गारो निबद्धः ।

न परं प्रबन्धे यावदेकस्मिन्नपि वाक्ये रसान्तर-व्यवधिना विरोधो निवर्तते । यथा—

[सूत्र ८५] जो रस आश्रयके ऐक्यमें विरोधी है उसको भिन्न आश्रयमें [वर्णित] करना चाहिये । और जो नैरन्तर्यसे विरोधी [रस] है उसको दूसरे [अविरोधी] रससे व्यवहित कर देना चाहिये ॥६४॥

वीर तथा भयानक रसका एकाश्रयमें विरोध है इसलिए भयानक रसको प्रतिपक्ष [प्रतिनायक] गत रूपसे वर्णन करना चाहिये । [इस प्रकार उनके विरोधका परिहार हो जायगा । इसी प्रकार] शान्त तथा श्रृङ्गारका नैरन्तर्येण विरोध है, इसलिए उन दोनोंके बीचमें कोई दूसरा रस [वर्णन] कर देना चाहिये । जैसे नागानन्द [नाटक]में शान्तरसप्रधान जीमूतवाहनका मलयवतीके प्रति अनुरागका वर्णन "अहो गीतं अहो वादित्रम्" इत्यादि [से व्यङ्ग्य] अद्भुत रसको बीचमें [शान्त तथा श्रृङ्गारके व्यवधायकके रूपमें] डालकर किया है ।

केवल प्रबन्ध [अर्थात् लम्बे काव्य या नाटक]में ही नहीं अपितु एक ही वाक्य में [एक ही प्रकरणरूप छोटे भागमें] भी रसान्तरका व्यवधान कर देनेसे विरोध समाप्त हो जाता है ।

यही बात ध्वनिकारकी निम्नलिखित कारिकामें कही गयी है—

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि ।
निवर्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता ॥ध्वन्यालोक ३।२७॥

रसान्तरव्यवहितयोरेकप्रबन्धस्थयोर्विरोधिता निवर्तते इत्यत्र न काचिद् भ्रान्तिः । यस्मादेकवाक्यस्थयोरपि रसयोरुक्तया नीत्या विरुद्धता निवर्तते । यथा 'भूरेणुदिग्धान्' इत्यादौ ।

ध्वन्यालोककी इसी कारिकाके आधारपर यहाँ ग्रन्थकारने प्रकृत विषयका प्रतिपादन किया है, और उसके उदाहरणरूपमें भी वे ही श्लोक उद्धृत किये हैं । तीन श्लोकोंमें वाक्यार्थके समाप्त होनेसे यह 'विशेषक' कहलाता है । इन तीन श्लोकोंसे बने हुए "विशेषक" का मुख्य वाक्य अन्तिम श्लोक है । शेष दोनों श्लोकों में 'वीराः' तथा 'स्वदेहान्'के विशेषणमात्र दिये हैं । इनमेंसे मुख्य वाक्यमें श्रृङ्गार रस है । उन्होंने युद्धभूमिमें पड़े हुए अपने मृत शरीरोंको देखा । इस रूपमें मृत शरीरके जो विशेषण दिये गये हैं वे बीभत्स रसके अभिव्यंजक हैं । इस प्रकार इस एक वाक्यमें नैरन्तर्यसे विरोधी श्रृङ्गार तथा बीभत्स रसका एक साथ समावेश किया गया है । परन्तु उसके साथ 'वीराः'के जो विशेषण हैं, वे वीर रसके अभिव्यंजक हैं । इसलिए नैरन्तर्यसे विरोधी श्रृङ्गार तथा बीभत्स रसके श्लोकोंके बीचमें वीर रसका यह व्यवधान हो जानेसे, एक वाक्यमें भी उनका समावेश हो जानेपर, विरोध नहीं रहता है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । श्लोकोंका अर्थ निम्नलिखित है ।

यथा—

भूरेणुदिग्धान् नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः ।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ।।३३५।।
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् ।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ।।३३६।।
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम् ।
निर्दिश्यमानान् ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ।।३३७।।

अत्र बीभत्सशृङ्गारयोरन्तर्वीररसो निवेशितः ।।

**[सूत्र ८६] स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः ।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ।।६५।।**

जैसे—नव-पारिजातकी नवीन मालाके परागसे सुगन्धित वक्षःस्थलवाले [वीरोंने] पृथिवीकी धूलिमें सने हुए; अप्सराओंको अपनी भुजाके बीच आलिंगन किये हुए वीरोंने शृगालियोंके द्वारा [खानेके लिए] जोरसे दबाये हुए [अपने मृत शरीरोंको देखा] ३३५।।

चन्दन-जलसे सिक्त अतएव सुगंधित कल्पलताके दुपट्टोंसे [सुरांगनाओं द्वारा] पंखा किये जाते हुए वीरोंने मांसभक्षी पक्षियोंके रक्तसे सने हुए पंखोंके द्वारा जिनपर हवाकी जा रही है, इस प्रकारके युद्धभूमि में पड़े हुए शरीरोंको देखा ।।३३६।।

[युद्धमें मारे जानेके बाद स्वर्गमें पहुँचकर तत्काल ही] विमानोंके पलंगोंपर बैठे हुए वीरोंने [अपने साथ बैठी हुई] अप्सराओंके द्वारा अंगुलियों [के संकेत]से दिखलाये जानेवाले [युद्धभूमिमें] पड़े हुए अपने शरीरोंको आश्चर्यसे देखा ।।३३५।।

यहाँ [नैरन्तर्यसे विरोधी] बीभत्स तथा शृङ्गारके बीचमें वीर रसका सन्निवेश किया गया है । [अतः एक वाक्यमें भी विरोधी रसोंके विरोधका परिहार हो जाता है]

रसविरोधके परिहारार्थ तीन और मार्ग—

विरोधी रसोंके विरोध-परिहारके तीन और मार्ग अगली कारिकामें बतलाये गये हैं । इनमेंसे पहिला मार्ग यह है कि यदि विरोधी रसका स्मर्यमाणरूपमें वर्णन किया जाये तो उसमें दोष नहीं होता है । दूसरा मार्ग दोनोंकी साम्यसे विवक्षा है । साम्यसे दो विरोधी रसोंके वर्णनमें दोष नहीं होता है । और तीसरा मार्ग यह है कि यदि दोनों विरोधी रस किसी तीसरे प्रधान रसके अंगरूपमें एकत्र वर्णित हों, तो उनमें भी परस्पर विरोध नहीं रहता है । इन तीनोंको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करेंगे ।

[सूत्र ८६] विरोधी रस भी यदि (१) स्मर्यमाण रूपमें अथवा (२) साम्यसे विवक्षित हो [तो दोष नहीं होता है । इसी प्रकार] जो दो विरोधी रस (३)किसी तीसरे प्रधान रसमें अंगताको प्राप्त हों, वे परस्पर विरोधी [दुष्ट] नहीं रहते हैं ।।६५।।

१. स्मर्यमाण विरोधी रसका अविरोध—

[जैसे—[युद्धभूमि में अपने पति भूरिश्रवाके कटे पड़े हाथको देखकर उसकी पत्नी विलाप करती हुई कह रही है कि—]

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥३३८॥

एतद् **भूरिश्रवसः** समरभुवि पतितं हस्तमालोक्य तद्वधूरभिदधौ । अत्र पूर्वावस्थास्मरणं शृङ्गाराङ्गमपि करुणं परिपोषयति ॥

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे ।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥३३९॥

अत्र कामुकस्य दन्तक्षतादीनि यथा चमत्कारकारीणि तथा **जिनस्य** । यथा वा परः शृङ्गारी तदवलोकनात्सस्पृहस्तद्वद् एतद्दृशो मुनय इति साम्यविवक्षा ॥

[अपने जीवनकालमें सम्भोगके समय] तगड़ीको हटानेवाला मेरे बड़े-बड़े [पीन] स्तनोंका मर्दन करनेवाला, नाभि, ऊरू तथा जघनस्थलका स्पर्श करनेवाला तथा नाड़े [नीवी]को खोलनेवाला यह वही [पूर्वानुभूत मेरे पतिका प्रिय] हाथ है ॥३३८॥

युद्ध भूमिमें भूरिश्रवाके पड़े हुए हाथको देखकर उसकी स्त्री यह कह रही है, इसमें पूर्वावस्थाके स्मर्यमाण शृङ्गारके अंग भी [प्रकृत] करुण रसके पोषक [ही] होते हैं [अतः उनका करुण रसके साथ समावेश दोष नहीं है] ।

२. साम्यविवक्षामें विरोधी रसोंका अविरोध—

आपके सघन रोमांचयुक्त [एक पक्षमें करुणवश और अन्य पक्षमें शृङ्गारवश] शरीरपर रक्तपानकी इच्छा करनेवाली [दूसरे शृङ्गारपक्षमें अनुरागयुक्त] मृगराजवधू [सिंहिनी, अन्यपक्षमें किसी राजाकी पत्नी] ने जो दन्तक्षत तथा नखक्षत [अंकित] किये उनको [बड़ी तपस्या करनेवाले] मुनियोंने भी [दूसरेके प्राणोंकी रक्षामें अपनेको समर्पित कर देनेका यह सौभाग्य हमको प्राप्त न हुआ, और दूसरे शृङ्गारपक्षमें अनुरक्त राजवधूके द्वारा सम्भोग कालमें किये हुए दन्तक्षत तथा नखक्षत हमको प्राप्त न हुए इस प्रकार] सस्पृह सतृष्ण होकर देखा ॥ ३३९॥

यहाँ [कामुकीसे उपभुक्त] कामुकके दन्तक्षत जैसे [उसके लिए] आनन्ददायक, चमत्कारयुक्त प्रतीत होते हैं उसी प्रकार 'जिन' [भगवान्]के [शरीरपर सिंहिनी द्वारा किये दन्तक्षत तथा नखक्षत उनके लिए आनन्ददायक और चमत्कारयुक्त हैं इसलिए शान्त तथा शृंगारकी साम्यसे विवक्षा है] अथवा जैसे दूसरा शृङ्गारी [कामुक दूसरेके] दन्तक्षतादिको देखकर [स्वयं भी उनके प्राप्त करनेके लिए] सस्पृह हो उठता है, इसी प्रकार 'जिन' [भगवान्]के इन [दन्तक्षतादि]को देखनेवाले मुनि उनको प्राप्त करनेके लिए सस्पृह हो उठे हैं । इस प्रकारकी साम्यकी विवक्षा है [अतः यहाँ शान्त तथा शृंगार रसका विरोध नहीं है] ।

यह श्लोक कहाँका है, यह पता नहीं चलता है । इसमें अपने ही बच्चेको खानेके लिए प्रवृत्त सिंहिनीके बच्चोंको बचानेके लिए अपना शरीर सिंहिनीके भेंट कर देनेवाले बुद्ध अथवा जिनकी स्तुति है, ऐसा भिन्न-भिन्न व्याख्याकारोंने लिखा है । परन्तु अपने बच्चेको खानेवाली सिंहिनीके स्थानपर किसी अन्यको खानेके लिए उद्यत सिंहिनीकी कल्पना अधिक उचित होती है । और उस दशामें बुद्ध या जिनका ही इस श्लोकके साथ सम्बन्ध जोड़नेके स्थानपर किसी भी वीर पुरुषका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है ।

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव गलद्बाष्पाम्बुधौताननाः ।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वच्छत्रुनार्योऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव ॥३४०॥

अत्र चाटुके राजविषया रतिः प्रतीयते । तत्र करुण इव शृङ्गारोऽप्यङ्गमिति तयोर्न विरोधः ।

ध्वन्यालोककारने यहाँ दयावीर तथा शृङ्गार रसके अविरोधका प्रतिपादन किया है । माणिक्यचन्द्र आदि टीकाकारोंने इसमें शान्त तथा शृंगारके अविरोधका तथा सारबोधिनी तथा सुधासागरकारने बीभत्स तथा शृङ्गारके अविरोधका प्रतिपादन किया है । 'जिन' भगवान्के शरीरपर सिंहिनीके द्वारा किये हुए दन्तक्षतादि बीभत्स रसके व्यंजक होनेपर भी कान्त-दत्त दन्तक्षतादिके समानरूपसे वर्णित होनेसे उसीके उत्कर्षाधायक होते हैं, अतः साम्यविवक्षाके कारण शान्त या बीभत्सके साथ शृङ्गारके अनुभवोंका यह वर्णन दोषाधायक नहीं है ।

३. प्रधानभूत तृतीय रसके अङ्गभूत रसोंमें अविरोध—

इस प्रकार विरोधी रसके (१) स्मर्यमाणरूपमें वर्णनका तथा (२) साम्यसे विवक्षितरूपमें वर्णनका उदाहरणों द्वारा स्पष्टीकरण कर दिया गया । अब रसोंके विरोध-परिहारका इस कारिकामें प्रदर्शित तीसरा-मार्ग शेष रह जाता है । इन तृतीय प्रकारमें विरोधी रसोंमेंसे कोई प्रधान रस नहीं होता है । वे दोनों प्रधानभूत किसी तीसरे रसके अङ्गरूपमें स्थित होते हैं । इसका उदाहरण आगे देते हैं । ध्वन्यालोकमें भी तृतीय उद्योतमें पृष्ठ ३११ पर यह पद्य दिया गया है । किसी राजाकी स्तुति करते हुए कवि राजासे कह रहा है कि आपके शत्रुओंकी स्त्रियाँ दुबारा विवाहके लिए उद्यत-सी दावाग्निके चारों ओर घूम रही हैं । जो अवस्था विवाहके समय होती है उसी प्रकारकी अवस्था इस समय आपके शत्रुओंकी स्त्रियोंकी हो रही है । उसीको कवि कहता है कि—

तुम्हारे शत्रुकी स्त्रियाँ घायल हुई कोमल अंगुलियोंसे रक्त टपकती हुई, अतएव मानों महावर लगाये हुए पैरोंसे कुशांकुरयुक्त भूमिपर चलती हुई, गिरते हुए आँसुओंसे मुखको धोये हुए, भयभीत होनेके कारण पतियोंके हाथमें हाथ पकड़ाये हुए दावाग्निके चारों ओर परिक्रमा कर रही हैं ॥३४०॥

यहाँ खुशामदी [कवि]में राजविषयक रति [प्रधानतया] प्रतीत हो रही है । उसमें करुणके समान शृंगार भी अंग है । इसीलिए उनका [परस्पर] विरोध नहीं है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि इस श्लोकमें शत्रु-पत्नियोंकी दुर्दशाका वर्णन होनेसे करुणरस है । उसके साथ विवाह आदिका वर्णन होनेसे शृंगार रस आ जाता है । इन दोनोंका आलम्बन शत्रुपत्नियाँ हैं । करुण तथा विप्रलम्भ शृंगारका आलम्बन-ऐक्यमें विरोध होता है । परन्तु यहाँपर इन दोनोंमेंसे कोई भी काव्यका प्रधान रस नहीं है । कविनिष्ठ राजविषयक रति ही प्रधान है और ये दोनों उसके अंग हैं । अतः उन दोनोंमें परस्पर विरोध नहीं है ।

एक प्रधान रसके अन्तर्गत दो विरोधी रसोंका अंगरूपसे समावेश दो प्रकारसे होता है । एक वह, जिसमें अंगभूत दोनों रस समकक्ष हों । दूसरा वह, जिसमें उन अंगभूत दोनों रसोंमें भी गुण-

यथा—

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर ।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥३४१॥

इत्यत्र एहीति क्रीडन्ति, गच्छेति क्रीडन्तीति क्रीडनापेक्षयोरागमनगमनयोर्न विरोधः ।

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥३४२॥

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य करुणोऽङ्गम् , तस्य तु शृङ्गारः, तथापि न करुणे विश्रान्तिरिति तस्याङ्गतैव ।

प्रधानभाव या अंगांगिभाव हो । दो समकक्ष रसोंकी अंगताको सेनापति-द्वयवत् अंगता और असमकक्ष रसोंकी अंगताको सेनापति-तद्भृत्यवत् अंगता कहा जाता है । जैसे दो समकक्ष सेनापति राजाके अंग होते हैं उसी प्रकार करुण तथा शृंगाररूप दो समकक्ष रसोंकी राजविषयक रतिमें अंगता पिछले उदाहरणमें दिखलायी गयी थी । इसके दूसरे भेद अर्थात् सेनापति तथा उसके भृत्यके समान परस्पर अंगांगिभावको प्राप्त दो रसोंकी प्रधानभूत तृतीय रसके प्रति अंगताका उदाहरण आगे 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' आदि ३४२वाँ श्लोक है । बीचमें 'एहि गच्छ' आदि उदाहरण इस प्रकारका दिया है, जिसमें प्रधानके साक्षात् अंगभूत व्यापारोंमें [रसोंमें नहीं] विरोध प्रतीत होनेपर भी अविरोध होता है ।

आशारूप ग्रहके चक्करमें पड़े हुए याचकोंके साथ धनी लोग 'आओ-जाओ', 'पड़ जाओ', 'खड़े हो जाओ', 'बोलो', 'चुप रहो', इस प्रकार [कहकर] खेल करते हैं । [अर्थात् वे जो चाहते हैं, याचकोंको करना पड़ता है ।] ॥३४१॥

यहाँ आओ यह कहकर क्रीड़ा करते हैं, और जाओ यह कहकर क्रीड़ा करते हैं, इस प्रकार क्रीड़ाके अंगभूत आगमन और गमनमें विरोध नहीं होता है ।

त्रिपुरदाहके समय [महादेवके बाणसे उत्पन्न], आर्द्रापराध [तत्कालकृत परांगनोपभोग] कामीके समान हाथ छूनेपर झटक दिया गया, जोरसे ताड़ित होनेपर भी वस्त्रके छोरको पकड़ता हुआ, केशोंके पकड़ते समय हटाया गया, पैरोंमें पड़ा होनेपर भी सम्भ्रम [भय अथवा घबराहट]के कारण न देखा गया, और आलिंगन करनेका प्रयत्न करनेपर आँसूभरे हुए नेत्रोंवाली [रोती हुई] त्रिपुर-युवतियों द्वारा तिरस्कृत महादेवके बाणसे उत्पन्न अग्नि तुम्हारे दुःखोंका नाश करे ॥३४२॥

इसमें त्रिपुरारि [शिव]के प्रतापातिशयका अंग [त्रिपुर-युवतियोंकी दुर्दशासे अभिव्यक्त होनेवाला] करुण रस है । और ['कामीवार्द्रापराधः'से अभिव्यक्त] शृङ्गार रस उस [करुण रस]का अंग है । फिर भी [अर्थात् शृंगारकी अपेक्षा करुणके प्रधान या अंगी होनेपर भी] करुणमें विश्रान्ति नहीं होती है । इसलिए वह भी [त्रिपुरारि शिवके प्रतापातिशयके प्रति] अंग ही रहता है ।

अथवा प्राक् यथा कामुक आचरति स्म तथा शराग्निरिति शृङ्गारपोषितेन करुणेन मुख्य एवार्थ उपोद्बल्यते । उक्तं हि—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते ।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते ॥ इति ।

प्राक् प्रतिपादितस्य रसस्य रसान्तरेण न विरोधो नाप्यङ्गाङ्गिभावो भवति इति रसशब्देनात्र स्थायिभाव उपलक्ष्यते ॥

इति काव्यप्रकाशे दोषदर्शनो नाम सप्तम उल्लासः समाप्तः ॥ ७ ॥

अथवा पहिले जैसे कामुक आचरण करता था, इसी प्रकार शराग्नि [भी कर रहा है] इस प्रकार शृङ्गारसे पोषित करुण रसके द्वारा [त्रिपुरारिका प्रभावातिशयरूप] मुख्य अर्थ ही परिपुष्ट होता है। जैसा कि कहा भी—

गुण अर्थात् अप्रधान या अंग, अपना [परिपोषणरूप] संस्कारके हो जानेपर [परिपुष्ट होकर] प्रधान [त्रिपुरारिप्रतापातिशयरूप मुख्य]को [अंगरूपसे] प्राप्त होता है। और इस प्रकार प्रधान [रस] के संस्कारमें अत्यन्त उपयोगी होता है।

ग्रन्थकारने यहाँतक रसोंके अविरोध और अङ्गाङ्गिभाव आदिके सम्पादनके विषयमें कुछ नियमोंका प्रतिपादन किया है। परन्तु इस विषयमें एक विचारणीय प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है, कि चतुर्थ उल्लासमें रसको वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य माना गया है। अर्थात् किसी भी रसके अनुभवकालमें उसके अतिरिक्त अन्य किसीका भान नहीं होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार एक साथ दो रसोंकी अनुभूति ही नहीं हो सकती है। तब दो रसोंके विरोध या अविरोध अथवा अंगांगिभाव आदिका कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता है। तब क्या यह सारा विवेचन व्यर्थ ही किया गया है ? इस प्रश्नका उत्तर ग्रन्थकारने यह दिया है कि यद्यपि यह ठीक है कि रसोंमें विरोध आदिका उपपादन नहीं किया जा सकता है, परन्तु यहाँ रस शब्दसे मुख्य रसोंका ग्रहण न करके केवल स्थायिभावोंका ग्रहण करना चाहिये। "रस्यते इति रसः" इस व्युत्पत्तिके अनुसार इस प्रसंगमें रसशब्दको स्थायिभावका वाचक समझना चाहिये। इसी बातको अगली पंक्तिमें कहकर ग्रन्थकार इस प्रसंगकी, और साथ ही दोषदर्शन नामक इस सप्तम उल्लासकी समाप्ति करते हैं—

पहिले [चतुर्थ उल्लासमें] प्रतिपादित [मुख्य] रसका दूसरे रसके साथ न विरोध [ही] हो सकता है, और न अंगांगिभाव [ही] होता है, इसलिए रस शब्दसे यहाँ स्थायिभावका ग्रहण किया जाता है।

काव्यप्रकाशमें दोषदर्शन नामक सप्तम उल्लास समाप्त हुआ

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
काव्यप्रकाश-दीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
दोषदर्शनो नाम सप्तम उल्लासः
समाप्तः

अथाष्टम उल्लासः

काव्यप्रकाशदीपिकायां अष्टम उल्लासः

उल्लाससङ्गति—

प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकारने "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलङ्कृती पुनः क्वापि" यह जो काव्यका लक्षण किया था, उसमें 'सगुणौ' यह भी 'शब्दार्थौ'का एक विशेषण दिया था। पिछले सप्तम उल्लासमें 'अदोषौ' विशेषणके स्पष्टीकरणके लिए दोषोंका विवेचन किया गया था। अब इस अष्टम उल्लासमें 'सगुणौ' इस विशेषणके स्पष्टीकरणके लिए गुणोंका विवेचन करते हैं। इसमें भी गुणोंके लक्षण आदि करनेके पूर्व ग्रन्थकार गुण तथा अलंकारोंके परस्पर भेदका उपपादन करते हैं। इसका कारण यह है कि गुण तथा अलंकारोंका परस्पर क्या भेद है, इस विषयमें पूर्ववर्त्ती आचार्योंमें मतभेद पाया जाता है, इसलिए मम्मटने गुणोंके लक्षण आदि करनेके साथ उनका अलंकारोंसे भेदका प्रदर्शन आवश्यक समझकर उसी दृष्टिसे इस अष्टम उल्लासका प्रारम्भ किया है।

गुण तथा अलंकारोंका भेद—

गुण तथा अलंकारोंके भेदके विषयमें पूर्ववर्त्ती आचार्योंके दो प्रकारके मत पाये जाते हैं। भामहके 'काव्यालंकार'पर लिखे हुए अपने 'भामहविवरण'में उसके लेखक भट्टोद्भटने भेदको मिथ्या-कल्पना माना है। उनके मतमें गुण तथा अलंकारोंमें कोई भेद नहीं है। लौकिक गुण तथा अलंकारोंमें तो यह भेद किया जा सकता है कि हारादि अलंकारोंका शरीरादिके साथ संयोग सम्बन्ध होता है, और शौर्यादि गुणोंका आत्माके साथ संयोग-सम्बन्ध नहीं अपितु समवाय-सम्बन्ध होता है, इसलिए लौकिक गुण तथा अलंकारमें भेद माना जा सकता है। परन्तु काव्यमें तो ओज आदि गुण तथा अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार दोनोंकी ही समवाय-सम्बन्धसे स्थिति होती है, इसलिए काव्यमें उनके भेदका उपपादन नहीं किया जा सकता है। अपने इस मतको भट्टोद्भटने इस प्रकार लिखा है—

"समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजः प्रभृतीनां अनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवेषां भेदः।" गड्डलिकाका अर्थ भेड़ होता है, इसलिए गड्डलिका-प्रवाहका अर्थ भेड़चाल है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भट्टोद्भटके मतानुसार गुण तथा अलंकारमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है, उसमें जो लोग भेद मानते हैं, वह केवल भेड़चालमात्र है। इस प्रकार भट्टोद्भटका मत अभेदवादी है।

(१) वामनका मत—

दूसरा मत 'काव्यालंकारसूत्र'के निर्माता वामनका है। वह भेदवादी मत है। वामन गुण तथा अलंकार दोनोंमें भेद मानते हैं। उन्होंने अपने 'काव्यालङ्कारसूत्र'के तृतीय अधिकरणके प्रथमाध्यायमें इन दोनोंके भेदका निरूपण करते हुए लिखा है कि—

"काव्याशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।३।१।१-२।

ये खलु शब्दार्थयोः धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते च ओजःप्रसादादयः। न यमकोपमादयः। कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात्। ओजः प्रसादादीनान्तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति।१।

तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।३।१।२।

तस्याः काव्यशोभायाः अतिशयस्तदतिशयः, तस्य हेतवः। तु शब्दो व्यतिरेके। अलंकाराश्च यमको-पमादयः। अत्र श्लोकौ—

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकरणविकल्पकल्पनाभिः ॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ॥
पूर्वे नित्याः ।३।१।३।
पूर्वे गुणाः नित्याः । तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः ।"

इसका अभिप्राय यह हुआ कि—

काव्यशोभाके करनेवाले उत्पादक-धर्म गुण कहलाते हैं। शब्द अथवा अर्थके जो धर्म काव्यकी शोभाको उत्पन्न करते हैं, वे गुण कहलाते हैं और वे गुण ओज, प्रसादादि ही होते हैं। यमक आदि शब्दालंकार और उपमा आदि अर्थालंकार उस काव्यशोभाके उत्पादक न होनेसे गुण नहीं कहे जा सकते हैं। क्योंकि ओज, प्रसादादि गुणोंके अभावमें केवल यमक अथवा उपमा आदि अलंकार काव्यके शोभाधायक नहीं हो सकते हैं, और ओज, प्रसादादि गुण तो यमक, उपमा आदिके बिना भी काव्यके शोभाधायक हो सकते हैं, इसलिए वे ही गुण कहे जा सकते हैं।

उस काव्यशोभाके बढ़ानेवाले धर्म अलंकार होते हैं। जैसे युवतीके भीतर सौन्दर्यादि गुणोंके होनेपर ही अलंकार उसकी शोभाकी वृद्धि कर सकते हैं, वास्तविक शरीर-सौन्दर्यके न होनेपर धारण किये हुए सुन्दर अलंकार भी व्यर्थ हो जाते हैं, वे उसके सौन्दर्यकी वृद्धि नहीं कर सकते हैं, इसी प्रकार काव्यमें ओज, प्रसादादि गुणोंके न होनेपर यमक और उपमा आदि अलंकार उसके शोभावर्धक नहीं हो सकते हैं।

गुण तथा अलंकारका दूसरा भेद यह भी है कि गुण नित्य या अपरिहार्य हैं, पर अलंकार अपरिहार्य नहीं हैं। अर्थात् काव्यमें अलंकारके बिना तो काम चल सकता है, परन्तु गुणोंके अभावमें उसमें काव्य-व्यवहार ही नहीं हो सकता है। यह वामनका मत है। वामनके इसी मतके आधारपर काव्यप्रकाशकारने भी अपने काव्यलक्षणमें 'सगुणौ' कहकर काव्यमें गुणोंकी अपरिहार्यताका तथा 'अनलंकृती पुनः क्वापि' लिखकर अलंकारोंकी अपरिहार्यताके अभावका बोधन किया है। इस प्रकार वामनके मतमें गुण तथा अलंकारके बीच दो प्रकारका अन्तर होता है—

१. काव्यशोभाके उत्पादक धर्म गुण कहलाते हैं, और गुणों द्वारा उत्पादित उस काव्य-शोभाकी वृद्धि करनेवाले धर्म अलंकार कहलाते हैं। अर्थात् गुण काव्यके स्वरूपाधायक धर्म हैं और अलंकार उसके उत्कर्षाधायक अथवा उसकी उपादेयताके तारतम्यके प्रयोजक धर्म हैं।

२. काव्यमें गुणोंकी स्थिति अपरिहार्य है, परन्तु अलंकारोंकी स्थिति अपरिहार्य नहीं है।

(२) आनन्दवर्धनका मत—

गुण तथा अलंकारके भेदके विषयमें उद्भट तथा वामनके पूर्वोक्त दो मतोंके अतिरिक्त ध्वन्या-लोककार आनन्दवर्धनाचार्यका भी एक मत है। उन्होंने इन दोनोंके भेदका प्रदर्शन करते हुए लिखा है, कि—

तमर्थमवलम्बते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत् ॥

इसका अभिप्राय यह हुआ कि काव्यके आत्मभूत रसादिरूपध्वनिके आश्रित रहनेवाले धर्म गुण होते हैं, और अलंकार काव्यके अङ्गभूत शब्द तथा अर्थके धर्म होते हैं। इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्यने

[सूत्र ८७]–**ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ ६६ ॥**

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य, तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम् । क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात्, 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादेर्व्यवहारात्, अन्यत्राशूरेऽपि विततकृतित्वमात्रेण 'शूरः' इति, क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूरः' इति अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्यवहरन्ति तद्वन्मधुरादिव्यञ्जकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादिव्यवहारप्रवृत्तेः, अमधुरादिरसाङ्गानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादि, मधुरादिरसोपकरणानां तेषामसौकुमार्यादेरमाधुर्यादि, रसपर्यन्तप्रतीतिवन्ध्या व्यवहरन्ति । अत एव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः । यथैषां व्यञ्जकत्वं तथोदाहरिष्यते ॥

गुणोंको रसाश्रित तथा अलंकारोंको शब्द तथा अर्थके आश्रित धर्म मानकर उनके भेदका उपपादन किया है।

(३) मम्मटाचार्यका मत—

उपर्युक्त तीन मतोंमेंसे अन्तिम दो मतोंको मिलाकर मम्मटने अपने मतकी स्थापना की है। भट्टोद्भटके अभेदवादी पक्षका तो मम्मटने बिलकुल खण्डन कर दिया है। वामनके मतमेंसे गुणोंके शोभाजनकत्व और अलंकारोंके शोभावर्धकत्व मतको बिलकुल छोड़ दिया है। उन्होंने गुणोंको शोभाजनक नहीं अपितु उत्कर्ष-हेतु ही माना है। हाँ, वामनके मतसे गुणोंकी अपरिहार्यताका ग्रहण और आनन्दवर्धनके मतसे गुणोंकी रसधर्मता तथा अलंकारोंकी शब्दार्थ-धर्मताका ग्रहण कर इन दोनोंके सम्मिश्रणके द्वारा गुण तथा अलंकारके भेदका प्रतिपादन किया है। गुण तथा अलंकारके भेदका प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार इस अष्टम उल्लासका प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं—

इस प्रकार [सप्तम उल्लासमें] दोषोंका वर्णन करनेके बाद [अब इस अष्टम उल्लासमें सबसे पहिले] गुण तथा अलङ्कारका भेद बतलाते हैं—

[सूत्र ८७]–आत्माके शौर्यादि धर्मोंके समान [काव्यके आत्मभूत] प्रधान रसके जो अपरिहार्य और उत्कर्षाधायक धर्म हैं वे गुण [कहलाते] हैं ॥ ६६ ॥

जैसे शौर्य आदि [धर्म] आत्माके ही होते हैं, शरीर [आकार] के नहीं, इसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रसके ही [धर्म] होते हैं, वर्णोंके नहीं। [परन्तु] कहीं-कहीं शौर्य आदि [आत्मगुणों] के योग्य शरीरकी लम्बाई-चौड़ाईको देखकर 'इसका आकार ही शूरवीर है' इस प्रकारका व्यवहार होनेसे, और दूसरी जगह अशूर [काया]में भी केवल लम्बी-चौड़ी आकृतिको देखकर 'शूर' है' यह, तथा कहीं शूरमें भी केवल शरीरके छोटे होनेके कारण [विश्रान्तप्रतीतयः तत्त्वज्ञानिनः, तद्भिन्नाः भ्रान्ताः अविश्रान्तप्रतीतयः] भ्रान्त लोग जैसे व्यवहार करने लगते हैं, इसी प्रकार (१) मधुर आदि [गुणों]के व्यञ्जक सुकुमार आदि वर्णोंमें मधुर आदि व्यवहारके होनेसे (२) अमधुर आदि रसके अङ्गभूत वर्णोंकी सुकुमारता आदि मात्रसे माधुर्य आदिका तथा (३) मधुर आदि रसोंके अङ्गभूत उन [वर्णों] के असुकुमार [कठोर] होनेसे

[सूत्र ८८]-उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ ६७ ॥

ये वाचक-वाच्य-लक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यं रसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालङ्काराः ।

यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः ।

क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति ।

यथाक्रममुदाहरणानि—

रसकी मर्यादाको न समझनेवाले [भ्रान्त व्यक्ति] उनके अमाधुर्य आदिका व्यवहार करते हैं । इसलिए [यह समझना चाहिये कि] माधुर्य आदि [गुण वस्तुतः] रसके धर्म हैं वे [माधुर्य आदि], योग्य वर्णोंसे अभिव्यक्त होते हैं, केवल वर्णोंके आश्रित रहनेवाले नहीं हैं । ये [वर्ण] जिस प्रकार [उन माधुर्यादि गुणोंके] व्यञ्जक होते हैं, उसके उदाहरण आगे देंगे ।

इस प्रकार ग्रन्थकारने गुणोंका लक्षण किया है, इसके अनुसार गुणके लक्षणमें रसोत्कर्षकत्व तथा रसनिष्ठत्व ये दो धर्म समाविष्ट हो जाते हैं । इसलिए (१) "रसोत्कर्षकत्वे सति रसाव्यभिचारित्वम् और (२) अव्यभिचारेण रसोपकारकत्वं गुणत्वम्" ये दोनों गुणके लक्षण बनते हैं । अलंकारोंमें ये दोनों बातें नहीं पायी जाती हैं । रसके अभावमें भी शब्दालंकारोंकी स्थिति होनेसे इनमें रसाव्यभिचारित्व नहीं है, और न वे अव्यभिचारेण रसोपकारक ही होते हैं । इसलिए अलङ्कारमें गुणके उक्त लक्षणोंकी अतिव्याप्ति नहीं होती है । इसी बातको दिखलानेके लिए आगे ग्रन्थकार अलंकारोंमें उक्त धर्मोंके अभावका प्रतिपादन करते हुए अलंकारका स्वरूप प्रदर्शित करते हैं—

[सूत्र ८८]-और जो [काव्यमें] विद्यमान उस [अङ्गी रस] को [शब्द तथा अर्थरूप] अङ्गोंके द्वारा [नियमेन अथवा सर्वथा नहीं । अपितु] कभी कभी उपकृत [उत्कर्षयुक्त] करते हैं, वे अनुप्रास और उपमा आदि [शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार शरीरके शोभाधान द्वारा परम्परया शरीरी आत्माके उत्कर्ष-जनक] हार आदि [दैहिक अलंकारों] के समान [काव्यके] अलंकार होते हैं ॥ ६७ ॥

१—शब्द तथा अर्थरूप अङ्गोंके उत्कर्ष द्वारा जो [काव्यमें यदि सम्भव हो तो उस] विद्यमान मुख्य रसको उपकृत करते हैं [उसके उत्कर्षाधायक होते हैं । वे कण्ठ आदि अंगोंके उत्कर्षाधान द्वारा शरीरी [आत्मा] के भी [परम्परया] उत्कर्षाधायक हारादिके समान [अलंकार] कहलाते हैं ।

२—जहाँ रस नहीं होता है वहाँ [कुरूप स्त्री द्वारा धारण किये गये अलंकारोंके समान उत्कर्षाधायक या सौन्दर्यवर्धक न होकर केवल दृष्टिवैचित्र्यमात्रके प्रयोजक होनेके समान] उक्तिवैचित्र्यमात्र प्रतीत होते हैं ।

३—और कहीं तो [काव्यमें रसके] होनेपर भी [लोकोत्तर सौन्दर्यशालिनी किसी नायिकाके शरीरमें धारण कराये गये ग्रामीण अलंकार जैसे उसके सौन्दर्यके वर्धक नहीं होते हैं, इस प्रकार] उसके उत्कर्षाधायक नहीं होते हैं ।

[अलंकारोंकी इन तीन प्रकारकी स्थितियोंके] यथाक्रम उदाहरण—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालिमृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥ ३४३ ॥

इत्यादौ वाचकमुखेन ।

मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतं
प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विधुतः पावक इव ।
हिनस्ति प्रत्यङ्गं ज्वर इव गरीयानित इतो
न मां त्रातुं तातः प्रभवति न चाम्बा न भवती ॥ ३४४ ॥

इत्यादौ वाच्यमुखेनालङ्कारौ रसमुपकुरुतः ।

[दामोदर गुप्त-कृत 'कुट्टनीमतम्', नामक काव्यमें किसी विरहिणीके वर्णनमें यह पद्य आया है। विरहिणीके संताप-हरणके लिए विविध उपचार करनेवाली सखीके प्रति नायिका कह रही है, कि—] हे सखि ! इस कपूरको हटा दो [इससे मेरा सन्ताप दूर नहीं हो सकता है] । हारको भी दूर ही रखो । कमलोंसे क्या लाभ ? मृणालोंको भी रहने दो [इनमेंसे किसीमें भी मेरे सन्तापको हरण करनेकी सामर्थ्य नहीं है] । वह [वियोगिनी] बाला हर समय यही कहती रहती है ॥ ३४३ ॥

यहाँ [वाचक] शब्दके द्वारा [रेफकी आवृत्तिके कारण अनुप्रासरूप शब्दालंकार, काव्यके विद्यमान विप्रलम्भ शृंगार रूप अङ्गी रसका उत्कर्षाधायक होता है । इसलिए यह 'सम्भाविनं उपकुर्वन्ति' का उदाहरण हुआ] ।

आगे अर्थ द्वारा अर्थात् अर्थालंकार द्वारा रसके उत्कर्षाधानका उदाहरण देते हैं। यह उदाहरण महाकवि भवभूतिकृत मालतीमाधव नाटकके द्वितीय अङ्कसे लिया गया है । माधवके प्रति अनुरक्त मालती अपनी सखि लवंगिकासे कह रही है कि—

हे सखि ! [आज माधवके प्रति] मेरा अनुराग तीव्र विषके समान निरन्तर बढ़ता जा रहा है । अत्यन्त सन्ताप-कारक वह [अनुराग] हवा किये हुए अग्निके समान विना धुएँके [बहुत जोरसे] जल रहा है और तेज ज्वरके समान सारे अंगोंको पीडित कर रहा है, इसलिए न पिताजी मुझे इससे बचा सकते हैं, न माताजी, और न आप ही [इससे मेरी रक्षा कर सकती हो] ॥ ३४४ ॥

इत्यादिमें [अर्थात् ३४३ तथा ३४४ दोनों उदाहरणोंमेंसे प्रथममें वाचक अर्थात् अनुप्रासरूप शब्दालङ्कार तथा दूसरेमें] वाच्य [अर्थ]के द्वारा [अर्थात् मालोपमारूप अर्थालंकार] दोनों अलंकार [काव्यमें विद्यमान विप्रलम्भ शृंगार] रसके उपकारक [उत्कर्षाधायक] होते हैं ।

रसके अभावमें भी अलंकार हो सकते हैं, इसके दो उदाहरण चित्रकाव्यके निरूपणके अवसरपर दिये जा चुके हैं । 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छ०' आदि उदाहरणोंमें रसके न होनेपर भी अलंकार पाये जाते हैं । इसलिए वे कुरूप स्त्री द्वारा धारण किये हुए अलंकारोंके समान उत्कर्षाधायक न होकर केवल उक्तिवैचित्र्यमात्रके प्रयोजक होते हैं । इसी प्रकार 'शीर्णघ्राणांघ्रिपाणीन्' आदि उदाहरण सं० २०१ भी रसविहीन अलंकारका उदाहरण पहिले आ चुका है । इसलिए यहाँ ग्रन्थकारने इस प्रकारके उदाहरण फिर नहीं दिये हैं ।

चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि सा गुणेसुं सज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिन्मुहेसु ।
बोलम्भि बट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे झाण ण टुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी ॥३४५॥

चित्ते विघटते त्रुट्यति सा गुणेषु
शय्यासु लुठति विकसति दिङ्मुखेषु ।
वचने वर्तते प्रवर्तते काव्यबन्धे
ध्याने न त्रुट्यति चिरं तरुणी प्रगल्भा ॥ [इति संस्कृतम्]

इत्यादौ वाचकमेव,

मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासन्नं पुरः सारसम् ।
चक्राह्वेन वियोगिना बिसलता नास्वादिता नोज्झिता
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ॥ ३४६ ॥

जहाँ रस होनेपर भी शब्दालंकार उसका उपकारक या उत्कर्षाधायक नहीं होता है, इस प्रकारका उदाहरण आगे देते हैं। यह श्लोक राजशेखरकृत कर्पूरमञ्जरी 'सट्टक'की द्वितीय जवनिकाके बाद "दंसणक्खणादौ कुरंच्छी" [दर्शनक्षणात् प्रभृति] से लेकर देवी कर्पूरमञ्जरीके विषयमें राजा चण्डपालकी यह उक्ति है। सुधासागरकारने इसे प्रवासी नायकके प्रति विरहिणी नायिकाका वर्णन बतलाया है, और उद्योतकारने इसे दूतीकी उक्ति कहा है। ये दोनों बातें ठीक नहीं हैं।

वह प्रगल्भा [प्रतिभासमन्वित] तरुणी [देवी कर्पूरमञ्जरी] चित्तमें बैठी हुई है, वह गुणोंमें कम नहीं है [कभी वह मुझे अपनी] शय्यापर लोटती [हुई दिखलाई देती] है और [कभी] सब दिशाओंमें [वही] दिखलाई देती है [कभी] बात करती है [कभी मेरे साथ] काव्य-रचनामें प्रवृत्त होती है, और कभी भी बहुत देरतक ध्यानसे बाहर नहीं रहती है। [अर्थात् बहुत देरके लिए उसको भूल जाऊँ ऐसा कभी नहीं होता है] ॥ ३४५ ॥

[यहाँ वर्णोंकी आवृत्ति होनेसे अनुप्रासरूप शब्दालंकार है। परन्तु विप्रलम्भ शृंगारमें टवर्गका प्रयोग रसका उत्कर्षाधायक न होकर अपकर्षक होता है, इसलिए यहाँ रस तथा अलङ्कार दोनोंके होनेपर भी अलङ्कार उस रसका उत्कर्षाधायक नहीं है। इसलिए] यहाँ [अलंकार वाचक] शब्दका ही [उपकारक होता है रसका नहीं, यह आगेकी पंक्तिके साथ अन्वय होगा]।

[मित्र अर्थात् कमलोंके आह्लादकारक] सूर्यके कहीं चले जाने [अस्त हो जाने] पर, कमलोंके वनके मुख बन्द कर लेनेपर, सन्तप्त होनेवाले भ्रमरोंके रोने [शब्द करने] और सामने [अपनी] प्रियतमाके पास खड़े हुए सारसको देखकर, वियोगी चकवाकने [खानेके लिए मुखमें पकड़ी हुई] बिसलता [मृणाल-दण्ड] न तो खाई और न छोड़ ही दी, किन्तु [वियोग दुःखके कारण शरीरको छोड़कर] निकलते हुए जीवके [रोकनेके] लिए कण्ठ [-रूप द्वार]में अर्गलाके समान लगा दी [जिससे जीवात्मा शरीर छोड़कर बाहर न निकल सके] ॥ ३४६ ॥

इत्यादौ वाच्यमेव, न तु रसम् । अत्र विसलता न जीवं रोद्धुं क्षमेति प्रकृताननुगुणोपमा ।

एष एव च गुणालङ्कारप्रविभागः । एवं च "समवायवृत्त्या शौर्य्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः" इत्याभिधानमसत् ।

यहाँ 'अर्गलेव' यह उपमारूप अर्थालंकार है, और विप्रलम्भ शृंगाररस है। परन्तु वह उपमा विप्रलम्भ-शृंगाररूप रसकी उत्कर्षाधायिका नहीं, अपितु अपकर्षकारिणी है। क्योंकि विप्रलम्भ अवस्थामें प्राण रोकनेकी नहीं अपितु प्राणपरित्यागकी ही इच्छा स्वाभाविक रूपसे होती है। इसलिए यह उपमा अलंकार रसका उपकारक नहीं है, इसी बातको आगे कहते हैं—

इत्यादिमें [उपमालङ्कार] केवल अर्थको ही [पुष्ट करता है] रसको नहीं। [क्योंकि] यहाँ विसलता जीवनको [प्राणोंको निकलनेसे] रोकनेके लिए [प्रयुक्त करने] योग्य नहीं है। [अर्थात् बिसलताको अर्गला बनाकर उसके द्वारा जो प्राणोंको निकलनेसे रोका गया है, वह उचित नहीं है] इसलिए यह प्रकृतके अननुरूप [अयोग्य] उपमा है। [अतः वह विद्यमान शृंगार रसकी उपकारक नहीं होती है]।

यहाँ वाक्यकी रचना कुछ अटपटी-सी हो गयी है। 'बिसलता न जीवं रोद्धुं क्षमा' इस पंक्तिसे यह अर्थ प्रतीत होता है कि बिसलता जीवको रोक नहीं सकती है। परन्तु यह ग्रन्थकारका यह अभिप्राय नहीं है। ग्रन्थकारका आशय है यह कि बिसलताकी जो अर्गलासे उपमा दी गयी है, उससे निकलते हुए प्राणोंके मार्गमें रुकावट डाली गयी है, विप्रलम्भ शृङ्गारमें वह उचित नहीं है। इसलिए प्रकृत रसके अनुरूप होनेसे यह उपमा रसकी परिपोषिका नहीं है।

(४) भट्टोद्भटके मतका खण्डन—

इस प्रकार यहाँतक ग्रन्थकारने अपने मतके अनुसार गुण तथा अलंकारका भेद प्रतिपादन किया। उनके मतानुसार गुण रसके उत्कर्षाधायक, रसके अव्यभिचारी, और रसमात्रनिष्ठ धर्म हैं। अलंकार उनसे भिन्न है। वे रसके बिना भी रह सकते हैं। रस होनेपर कभी उसके पोषक भी हो सकते हैं, और कभी उसके पोषक न हों यह भी हो सकता है। इसलिए गुण तथा अलंकार दोनों भिन्न हैं। अब भट्टोद्भटने भामहके काव्यालंकारके विवरणमें जो गुण तथा अलंकारोंके अभेदका प्रतिपादन किया है, उसका खण्डन करनेके लिए ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदका प्रारम्भ करते हैं—

और यही गुण तथा अलंकारका भेद [भेदक] है। इस प्रकार [भट्टोद्भट ने जो गुण तथा अलंकारके अभेदके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए लिखा है, कि लोकमें] "शौर्य आदि [गुण आत्मारूप गुणीमें] समवाय-सम्बन्धसे और हारादि [-रूप अलंकार शरीरमें] संयोग-सम्बन्धसे सम्बद्ध रहते हैं, इसलिए [सम्बन्धभेदके आधारपर लौकिक] गुण तथा अलंकारोंका भेद भले ही मान लिया जाय, परन्तु [काव्यमें तो] ओज इत्यादि [गुणों] तथा अनुप्रास, उपमा आदि [शब्दालंकार तथा अर्थालंकार] दोनोंकी समवाय-सम्बन्धसे स्थिति होती है इसलिए इनका भेद मानना भेड़चाल [अन्ध-परम्परा]के कारण ही है, [वास्तवमें गुण तथा अलंकारमें कोई भेद नहीं है]"। [भट्टोद्भटका] यह कहना असङ्गत है।

यदप्युक्तम् "काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः" इति तदपि न युक्तम् । यतः किं समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहारः, उत कतिपयैः ? यदि समस्तैः तत्कथमसमस्तगुणा गौडी पाञ्चाली च रीतिः काव्यस्यात्मा ?

अथ कतिपयैः, ततः—

अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः ॥ ३४७ ॥

इत्यादावोजःप्रभृतिषु गुणेषु सत्सु काव्यव्यवहारप्राप्तिः ।

---

२. और जो [गुण तथा अलंकारका भेद माननेवाले वामनने अपने काव्यालंकारसूत्रके तृतीयाधिकरणके प्रथमाध्यायमें] यह कहा है कि—"काव्यसौन्दर्यके उत्पादक धर्म गुण, और इस [काव्यसौन्दर्य]के अभिवर्धक धर्म अलंकार [कहलाते] हैं । यह [गुण तथा अलंकारका भेद है]" । वह [वामनका कथन] भी असङ्गत है । क्योंकि [उसमें दो विकल्प हो सकते हैं] १. क्या समस्त [अर्थात् वामनाभिमत दश] गुणों [के होने] से काव्य-व्यवहार [हो सकता है] २. अथवा कुछ [गुणों]से ? यदि [प्रथमपक्षके अनुसार] समस्त [गुणोंके होने] से [ही काव्य-व्यवहार होता है] तो समस्त गुणोंसे रहित गौडी अथवा पाञ्चाली रीति काव्यका आत्मा कैसे [मानी जा सकती] है ?

और यदि [द्वितीय विकल्पके अनुसार] कतिपय [गुणोंके होने] से [भी काव्यका व्यवहार हो सकता है] तो—

'इस पर्वतपर बड़े जोरसे आग जल रही है, और यह प्रचुर धुआँ उठता हुआ दिखलाई देता है ॥ ३४७ ॥

इत्यादि [रसविहीन काव्य-लक्षणरहित वाक्य] में ओज आदि [कतिपय] गुणोंके होनेसे काव्य-व्यवहार प्राप्त होने लगेगा । [जो कि अभीष्ट नहीं है] ।

इसका अभिप्राय यह है कि वामनने रीतिको काव्यका आत्मा माना है । "रीतिरात्मा-काव्यस्य" १।२।६। । यह वामनका सिद्धान्त है । वामनके मतानुसार वे रीतियाँ तीन प्रकार की हैं—

सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पांचाली चेति ।१।२।९।

इन तीनों रीतियोंमेंसे वैदर्भी रीति तो समस्त गुणोंसे युक्त होती है, परन्तु गौडीया रीतिमें केवल ओज और कान्ति ये दो ही गुण रहते हैं और पांचालीमें केवल माधुर्य तथा सौकुमार्य ये दो गुण ही रहते हैं । वामनने इन तीनों रीतियोंके लक्षण निम्नलिखित प्रकार किये हैं—

समग्रगुणावैदर्भी ।१,२,११।

समग्रैः—ओजः प्रसादप्रमुखैर्गुणैरुपेता वैदर्भी नाम रीतिः । अत्र श्लोकौ—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः, समग्रगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या, वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥

तामेतां कवयः स्तुवन्ति—

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥

अर्थात् ओज-प्रसादादि समस्त गुणोंसे युक्त और दोषकी मात्रासे रहित वीणाके शब्दके समान मनोहारिणी वैदर्भी रीति होती है ।

सिद्धहस्त कवि, सुन्दर चमत्कारपूर्ण अर्थ, और कविका शब्दशास्त्रपर पूर्ण अधिकार होनेपर भी यदि कवि इस वैदर्भी रीतिका अवलम्बन नहीं करता है तो उसकी वाणी सुधास्यन्दिनी नहीं हो सकती है।

इस प्रकार वामनने वैदर्भी रीतिकी प्रशंसा करते हुए उसका लक्षण किया है। वैदर्भी रीतिका निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृंगैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विस्रब्धं कुरुतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रांतिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥

दूसरी गौडीया रीतिका लक्षण करते हुए वामनने लिखा है—

ओजः कान्तिमती गौडीया।१।२।१२

समस्तात्युद्भटपदां ओजःकान्तिगुणान्विताम्।
गौडीयामिति गायन्ति, रीतिं रीतिविचक्षणाः॥

उदाहरणम्—

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभंगोद्यत—
टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद् ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति॥

तीसरी पांचाली रीतिके लक्षण और उदाहरण वामनने निम्नलिखित प्रकार दिये हैं—

माधुर्य-सौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली।१।२।१३।

अश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छाययान्विताम्।
मधुरां सुकुमाराञ्च पाञ्चालीं कवयो विदुः॥

यथा—

ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय नैव वसतिः पान्थाधुना दीयते
रात्रावत्र विहारमण्डपतले पान्थः प्रसुप्तो युवा।
तेनोत्थाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत्कृतं
येनाद्यापि करण्डदण्डपतनाशंकी जनस्तिष्ठति॥

इस प्रकार वामनके लेखसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन तीनों रीतियोंमेंसे वैदर्भी रीति तो समस्त गुणोंसे युक्त होती है, परन्तु शेष दोनों रीतियोंमें दस गुणोंमेंसे केवल दो-दो गुण ही रहते हैं। यदि समस्त गुणोंकी समष्टिको काव्य-व्यवहारका प्रयोजक माना जाय तो केवल वैदर्भी रीतिको काव्यका आत्मा माना जा सकता है, क्योंकि उसमें सब दसों गुण रहते हैं। परन्तु समस्त गुणोंसे रहित केवल दो-दो गुणोंवाली गौड़ी तथा पांचाली रीतियोंको काव्यका आत्मा नहीं माना जा सकता है। यह काव्यप्रकाशकारका अभिप्राय है।

और यदि दूसरा पक्ष लिया जाय अर्थात् कतिपय गुणोंकी स्थितिमें भी काव्य-व्यवहार माना जाय तो 'अद्रावत्र' उदाहरण-संख्या ३४७ में भी काव्य-व्यवहार होने लगेगा, जो कि इष्ट नहीं है। इसलिए वामनने जो काव्यशोभाके उत्पादक धर्मोंको गुण और काव्यशोभाके अभिवर्धक धर्मोंको अलंकार कहा है, यह उनका कथन उचित नहीं है।

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी ।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम् ॥ ३४८ ॥
इत्यादौ विशेषोक्ति-व्यतिरेकौ गुणनिरपेक्षौ काव्यव्यवहारस्य प्रवर्त्तकौ ।

पिछले [श्लोक सं० ३४७] उदाहरणमें गुणोंके होनेपर भी काव्यव्यवहारका अभाव पाया जाता है, इसके विपरीत अगले उदाहरणमें गुणोंके अभावमें भी काव्यव्यवहार होता है । इसलिए अन्वय-व्यतिरेक दोनोंका व्यभिचार होनेसे गुणोंको काव्यव्यवहारका प्रयोजक नहीं माना जा सकता है । इस आशयसे ग्रन्थकार अगला उदाहरण देते हैं । इस उदाहरणमें वरवर्णिनी नारीकी प्राप्तिको सदेह स्वर्गप्राप्तिरूप बतलाया गया है । वरवर्णिनी नारीका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी, ग्रीष्मे च सुखशीतला ।
भर्तृभक्ता च या नारी, विज्ञेया वरवर्णिनी ॥

[इस प्रकारकी] वरवर्णिनी [नारीकी प्राप्ति] इसी [मानुष] देहसे स्वर्गकी प्राप्ति [के सदृश] है । इस [वरवर्णिनी-नारी] के अधरपानका रस, अमृत [के आस्वादनके आनन्द]को [भी] तिरस्कृत करता है ॥ ३४८ ॥

इत्यादि [उदाहरण] में गुणोंके बिना ही विशेषोक्ति तथा व्यतिरेक [अलंकार] काव्य-व्यवहारके प्रवर्त्तक हैं ।

वामनने विशेषोक्ति तथा व्यतिरेक अलंकारोंके लक्षण इस प्रकार किये हैं—

एकगुणहानिकल्पनया शेषगुणदार्ढ्यकल्पना विशेषोक्तिः ।४।३।-।
उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः ।४।३।-।

प्रकृत उदाहरणमें दिव्यदेहरूप एक गुणकी हानिकी कल्पनासे सुखदायकत्व आदि रूप शेष गुणोंके दार्ढ्यकी कल्पनाके होनेसे विशेषोक्ति अलंकार है । और उपमेयरूप अधरके द्वारा उपमानभूत सुधारसका तिरस्कार वर्णित होनेसे उपमेयके आधिक्यके कारण व्यतिरेकालंकार है । इस प्रकार इस श्लोकमें दो अलंकार पाये जाते हैं, परन्तु वामनके मतानुसार अलङ्कार केवल गुणों द्वारा उत्पन्न किये हुए काव्यसौन्दर्यके बढ़ानेवाले होते हैं, स्वयं काव्य-सौन्दर्यके उत्पादक नहीं होते हैं । यहाँ प्रकृत श्लोकमें माधुर्य-व्यञ्जक वर्णोंका अभाव होनेसे माधुर्यगुणका अभाव है । ओजके प्रकृत रसके विरोधी होनेसे वह भी काव्यशोभाका आधान नहीं कर सकता है और प्रसाद गुण भी नहीं है । गुणोंके अभावमें वामनके मतानुसार काव्यशोभाकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है । तब विशेषोक्ति तथा व्यतिरेकालङ्कार किस शोभाके अतिशयके हेतु होते हैं ? इसलिए वामन काव्यशोभाके अतिशयजनक धर्मोंको अलङ्कार मानकर जो गुण तथा अलङ्कारका भेद करना चाहते हैं, वह उचित नहीं यह काव्यप्रकाशकारका अभिप्राय है ।

इस प्रकार यहाँतक ग्रंथकारने गुण तथा अलङ्कारका अभेद माननेवाले भट्टोद्भट और उनका भेद माननेवाले वामनके मतोंका खण्डन कर मुख्यतः ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्यके अनुयायी अपने मतके अनुसार गुण तथा अलङ्कारका भेदनिरूपण किया है । इस प्रकार इस उल्लासके प्रतिपाद्य विषयका एक भाग समाप्त हुआ ।

गुणोंके भेद—

अब आगे ग्रन्थकार गुणोंके भेदोंका निरूपण प्रारम्भ करते हैं । गुणोंके भेदोंके विषयमें भी ग्रन्थकारका प्राचीन आचार्य वामनसे मतभेद है । वामनने दस प्रकारके शब्द गुण तथा दस प्रकारके

इदानीं गुणानां भेदमाह—

[सूत्र ८९]-माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।

एषां क्रमेण लक्षणमाह—

[सूत्र ९०]-आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥ ६८ ॥

अर्थगुण माने हैं । इन शब्दगुण तथा अर्थगुणोंके नाम तो दोनों जगह एक ही हैं, परन्तु उनके लक्षणोंमें भेद है । इसलिए वामनके मतानुसार गुणोंकी संख्या दस है । परन्तु मम्मट उन दस गुणोंको न मानकर उनके स्थानपर केवल तीन ही गुण मानते हैं । अपने इसी मतभेदका प्रदर्शन अगले सूत्रमें "त्रयस्ते न पुनर्दश" लिखकर ग्रन्थकार स्पष्ट रूपसे दस गुण माननेवाले वामनके मतका खण्डन कर रहे हैं ।

अब गुणोंके भेदोंको कहते हैं—

[सूत्र ८९]-और वे [गुण] १. माधुर्य, २. ओज तथा ३. प्रसाद [नामक] तीन [ही गुण] होते हैं, [वामनके अभिप्रेत] दस [गुण] नहीं [होते] हैं ।

वामनने गुणोंका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

ओजः—प्रसाद-श्लेष-समता-समाधि-माधुर्य-सौकुमार्य-उदारता-अर्थव्यक्ति-कान्तयो बन्धगुणाः ।३।१।४।

ओज, प्रसाद आदि दस बन्धके अर्थात् पद-रचना या शब्दके गुण हैं ।

त एवार्थगुणाः ।३।२।१

और वे ही ओज, प्रसाद आदि दस अर्थगुण भी होते हैं । अर्थात् शब्दगुण तथा अर्थगुण दोनोंके नाम तो एक ही है, परन्तु उनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं । वे लक्षण निम्नोक्त हैं—

[शब्दगुणोंके लक्षण]	[अर्थगुणोंके लक्षण]
१. गाढबन्धत्वमोजः ।३।१।५।	१. अर्थस्य प्रौढिरोजः ३।२।२।
२. शैथिल्यं प्रसादः ।	२. अर्थवैमल्यं प्रसादः ।
३. मसृणत्वं श्लेषः ।	३. घटना श्लेषः ।
४. मार्गाभेदः समता ।	४. अवैषम्यं समता ।
५. आरोहावरोहक्रमः समाधिः ।	५. अर्थदृष्टिः समाधिः ।
६. पृथक्पदत्वं माधुर्यम् ।	६. उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् ।
७. अजरठत्वं सौकुमार्यम् ।	७. अपारुष्यं सौकुमार्यम् ।
८. विकटत्वमुदारता ।	८. अग्राम्यत्वमुदारता ।
९. अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः ।	९. वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः ।
१०. औज्ज्वल्यं कान्तिः ।	१०. दीप्तरसत्वं कान्तिः ।

वामनने शब्दगुण तथा अर्थ-गुणोंका जो विभाग किया है, वह मम्मटको मान्य नहीं है । वे गुणोंको शब्द या अर्थका धर्म न मानकर रसका धर्म मानते हैं । इसलिए उनके मतमें शब्द-गुण अथवा अर्थ-गुणका विभाग बन ही नहीं सकता है । इसके अतिरिक्त वामनने ये जो दस प्रकारके गुण माने हैं उनके स्थानपर मम्मटने केवल तीन गुण ही माने हैं । अब आगे ग्रन्थकार पहले अपने अभिमत तीन गुणोंके लक्षण करके उसके बाद वामनके अभिमत शेष गुणोंका खण्डन करेंगे ।

[अब आगे] क्रमसे इन [तीन गुणों] के लक्षण कहते हैं—

[सूत्र ९०]—[चित्तके] द्रवीभावका कारण, और शृंगारमें रहनेवाला जो आह्लादस्वरूपत्व है वह माधुर्य [नामक गुण कहलाता] है ॥ ६८ ॥

शृङ्गारे अर्थात् सम्भोगे । द्रुतिर्गलितत्वमिव । श्रव्यत्वं पुनरोजःप्रसादयोरपि ।

[सूत्र ९१]—**करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।**

अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वात् ।

[सूत्र ९२]—**दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥ ६९ ॥**

चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तत्वजनकमोजः ।

[सूत्र ९३]—**बीभत्स-रौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ।**

यहाँ आह्लादकत्वका अर्थ आह्लादजनकत्व नहीं अपितु आह्लादस्वरूपत्व है। क्योंकि शृङ्गार आदि रस आह्लादजनक नहीं अपितु आह्लादस्वरूप होते हैं। यहाँ शृङ्गारमें जो आह्लाकत्व है वह माधुर्यगुण कहलाता है, यह कहा है। शृङ्गारके आह्लादस्वरूप होनेसे आह्लादकत्वका अर्थ आह्लाद-जनकत्व न करके आह्लाद-स्वरूपत्व ही करना चाहिये। इसके लिए भावमें घञ् प्रत्यय करके 'आह्लादनं आह्लादः' शब्द बनाकर उससे स्वार्थमें 'क' प्रत्यय करके आह्लादक बनाना चाहिये। 'आह्लादयतीति आह्लादकः' इस प्रकार उसकी व्युत्पत्ति नहीं करनी चाहिये।

शृंगारमें अर्थात् सम्भोग [शृंगार] में। द्रुति अर्थात् [चित्तका] विगलितत्व सा [द्रवीभाव]।

[भामहका अभिमत माधुर्यका लक्षण] 'श्रव्यत्व' तो ओज और प्रसाद [गुणों] में भी होता है। [इसलिए अतिव्याप्ति दोषसे ग्रस्त होनेके कारण भामहका उक्त लक्षण उचित नहीं है। यह ग्रन्थकारके इस वाक्यका अभिप्राय है]

वामनके दस गुणोंके विपरीत भामहने भी तीन ही गुण माने हैं। माधुर्य, ओज और प्रसाद। इनमेंसे माधुर्यका लक्षण भामहने इस प्रकार किया है—

श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते। भामह काव्यलंकार २।३।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिसमें अधिक समस्त पद न हों इस प्रकारका कानोंको प्रिय लगनेवाला श्रव्य काव्य माधुर्ययुक्त कहलाता है। इसके अनुसार भामहके मतसे श्रव्यत्व माधुर्य-गुणका लक्षण हुआ। परन्तु मम्मट इस लक्षणको उचित नहीं समझते हैं। इसलिए इसका खण्डन करनेके लिए उन्होंने 'श्रव्यत्वं पुनरोजः-प्रसादयोरपि' यह वाक्य लिखा है।

[सूत्र ९१]—[यह माधुर्य गुण सामान्यतः सम्भोग-शृंगारमें रहता है परन्तु] करुण, विप्रलम्भ, [शृंगार] तथा शान्त [रस] में वह [उत्तरोत्तर] अधिक चमत्कार-जनक [अतिशयान्वित] होता है।

[उत्तरोत्तर चमत्कारातिशययुक्त होनेका हेतु अगले वाक्यमें बतलाते हैं] अत्यन्त द्रवीभावका कारण होनेसे।

[सूत्र ९२]—[चित्तके द्रवीभावका कारणभूत आह्लादकत्व जिस प्रकार माधुर्य-गुण कहलाता है, इसी प्रकार] वीर रसमें रहनेवाली [आत्मा अर्थात्] चित्तके विस्तारकी हेतुभूत दीप्ति ओज [कहलाती] है। ६९।

चित्तके विस्ताररूप दीप्तत्वका जनक ओज [गुण कहलाता] है।

[सूत्र-९३]—[यह ओज सामान्यतः वीर रसमें रहता है। परन्तु] बीभत्स और रौद्र रसोंमें क्रमशः इसका आधिक्य [विशेष चमत्कारजनकत्व] रहता है।

वीराद्वीभत्से, ततो रौद्रे सातिशयमोजः ।

[सूत्र ९४]-**शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ॥ ७० ॥**

व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।

अन्यदिति व्याप्यमिह चित्तम् । सर्वत्रेति सर्वेषु रसेषु, सर्वासु रचनासु च ।

[सूत्र ९५]-**गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥ ७१ ॥**

गुणवृत्त्या उपचारेण । तेषां गुणानाम् । आकारे शौर्यस्येव ।

कुतस्त्रय एव न दश इत्याह—

[सूत्र ९६]-**केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ।**

अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥ ७२ ॥

[अर्थात्] वीरकी अपेक्षा बीभत्समें और उससे भी अधिक रौद्र रसमें ओजका चमत्कारातिशय होता है ।

[सूत्र ९४]—सूखे इन्धनमें अग्निके समान अथवा स्वच्छ [धुले हुए वस्त्रमें] जलके समान जो चित्तमें सहसा व्याप्त हो जाता है, वह सर्वत्र [सब रसोंमें] रहने वाला प्रसाद [गुण कहलाता] है । ७० ।

'अन्यत्' इस पदसे यहाँ व्याप्य चित्तका ग्रहण करना चाहिये । 'सर्वत्र' पदका अर्थ सब रसों और सब रचनाओंमें यह करना चाहिए ।

यहाँ ग्रन्थकारने यह कहा है कि जैसे सूखे इन्धनमें अग्नि सहसा व्याप्त हो जाता है, अथवा स्वच्छ धुले हुए वस्त्रमें जल सहसा व्याप्त हो जाता है, इसी प्रकार जो चित्तमें सहसा अनायास व्याप्त हो जाता है, वह प्रसाद नामक गुण कहलाता है, और वह सारे रसोंमें और सारी रचनाओंमें रहता है । यहाँ अग्नि और जलके दो उदाहरण देनेका अभिप्राय यह है, कि जब वीर, रौद्र आदि उग्र रसोंमें प्रसाद-गुण होता है, तब वह शुष्क इन्धनमें अग्निके समान चित्तमें व्याप्त होता है, और जब शृङ्गार करुण आदि कोमल रसोंमें होता है, तब स्वच्छ वस्त्रमें जलके समान चित्तमें व्याप्त होता है ।

गुणोंका शब्दार्थधर्मत्व औपचारिक—

[सूत्र ९५]—[यद्यपि मुख्य रूपसे गुण रसके धर्म हैं, परन्तु] गौणी वृत्तिसे शब्द और अर्थमें भी उनकी स्थिति मानी जाती है ।

गुण वृत्ति अर्थात् उपचारसे । उनकी अर्थात् गुणोंकी । जैसे शरीर [आकार] में [आत्माके धर्म] शौर्य आदि [गुणों] की [स्थिति उपचारसे मानी जाती है उसी प्रकार उपचारसे रसके धर्म माधुर्य आदि गुणोंकी शब्द और अर्थमें भी स्थिति मानी जाती है] ।

वामनोक्त दस शब्दगुणोंका खण्डन—

तीन ही [गुण] क्यों होते हैं, दस क्यों नहीं, यह कहते हैं—

[सूत्र ९६]—इन [वामनके दस गुणों] में से (१) कुछ तो इन [माधुर्य, ओज, और प्रसादरूप तीन गुणों] में अन्तर्भूत हो जाते हैं और (२) कुछ दोषाभावरूप होते हैं, तथा (३) कुछ दोषरूप हो जाते हैं इसलिए दस [गुण] नहीं [माने जा सकते] हैं ॥ ७२ ॥

बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानात्मा यः श्लेषः, यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः, या च विकटत्वलक्षणा उदारता, यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः, तेषामोजस्यन्तर्भावः। पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यं, भङ्ग्या साक्षादुपात्तम्। प्रसादेनार्थव्यक्तिर्गृहीता। मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोषः। तथा हि 'मातङ्गाः किमु वल्गितैः' इत्यादौ सिंहाभिधाने मसृणमार्गत्यागो गुणः। कष्टत्व-ग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात् तन्निराकरणेन अपारुष्यरूपं सौकुमार्यं, औज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। एवं न दश शब्दगुणाः।

पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च॥

वामनके दस शब्दगुणोंमेंसे १. श्लेष, २. समाधि, ३. उदारता, और ४. प्रसाद ये चार गुण मम्मटने ५. ओजगुणके अन्तर्गत कर लिये हैं। ६. माधुर्यगुण मम्मटने भी उसी नामसे माना है। ७. अर्थव्यक्तिरूप गुण मम्मटने अपने प्रसादगुणके अन्तर्गत मान लिया है। ८. समता गुण कहीं दोषरूप हो जाता है, इसलिए गुण नहीं है। ९. सौकुमार्य तथा १०. कान्तिगुणको कष्टत्व तथा ग्राम्यत्वदोषके परिहाररूप होनेसे गुण नहीं माना जा सकता है। यही बात ग्रन्थकार आगे लिखते हैं—

['मसृणत्वं श्लेषः' श्लेषके इस लक्षणमें मसृणत्वका अर्थ 'मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहून्यपि पदान्येकपदवत् भासन्ते' किया है, तदनुसार] अनेक पदोंकी एक पदके समान प्रतीतिरूप जो (१) श्लेष, और उतार-चढ़ाव [आरोह अवरोह] के क्रमरूप जो (२) समाधि और विकटत्वरूप (३) उदारता, तथा ओजो-मिश्रित शैथिल्य-रूप जो (४) प्रसाद [रूप चार शब्दगुण हैं] उनका (५) ओज [नामक वामन तथा मम्मट दोनोंके सम्मत गुण] में अन्तर्भाव होता है। पृथक्पदत्वरूप (६) माधुर्य [गुण] हमने भी ['अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा' इत्यादि ९९ वें सूत्रमें 'अवृत्ति' अर्थात् समासरहित रचनाकी माधुर्यव्यंजकताके प्रतिपादन द्वारा] प्रकारान्तरसे साक्षात् स्वीकार कर लिया है। (७) अर्थव्यक्ति प्रसाद [गुण] के द्वारा आ ही गयी है। (८) मार्गाभेदस्वरूपिणी समता कहीं दोष हो जाती है। जैसे "मातङ्गाः किमु वल्गितैः" [उदाहरण सं २९९] इत्यादिमें सिंहका वर्णन करनेमें [तृतीय चरण] कोमल मार्गका परित्याग गुण हो गया है। [यदि उसका त्याग न करके 'मार्गाभेद' दे रखा जाता तो वह यहाँ दोष हो जाता। इसलिए समताको गुण नहीं माना जा सकता है]। कष्टत्व तथा ग्राम्यत्वके दोष कहे जानेसे उनके परित्याग द्वारा [क्रमशः] अपारुष्यरूप (९) सौकुमार्य, तथा औज्ज्वल्यरूप (१०) कान्ति [गुण भी दोषाभावरूपसे] स्वीकृत कर लिये गये हैं। इसलिए दस शब्दगुण [मानना उचित] नहीं है।

वामनोक्त दस अर्थगुणोंका खण्डन—

इस प्रकार दस शब्दगुणोंकी अनुपपत्ति दिखलानेके बाद आगे अर्थगुणोंकी अनुपपत्तिका प्रदर्शन करते हैं।—

(१) पदके प्रतिपाद्य अर्थ [के बोधन] में वाक्यकी रचना (२) वाक्यके प्रतिपाद्य अर्थमें पदका कथन करना, (३) विस्तार या (४) संक्षेप करना, और (५) अर्थका [विशेष रूपसे] साभिप्रायत्व [यह पाँच प्रकार की] प्रौढि होती है।

इति या प्रौढिः ओज इत्युक्तं तद्वैचित्र्यमात्रं न गुणः । तदभावेऽपि काव्यव्यवहारप्रवृत्तेः । अपुष्टार्थत्व-अधिकपदत्व-अनवीकृतत्व-अमङ्गलरूपाश्लील-ग्राम्याणां निराकरणेन च साभिप्रायत्वरूपमोजः, अर्थवैमल्यात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यरूपं माधुर्यं, अपारुष्यरूपं सौकुमार्यं, अग्राम्यत्वरूपा उदारता च स्वीकृतानि । अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलङ्कारेण रसध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः, दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृते । क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा श्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम् । अवैषम्यस्वरूपा समता दोषाभावमात्रं न पुनर्गुणः । कः खल्वनुन्मत्तोऽन्यस्य प्रस्तावेऽन्यदभिदध्यात् । अर्थस्यायोनेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत् कथं काव्यं, इत्यर्थदृष्टिरूपः समाधिरपि न गुणः ।

[सूत्र ९७] **तेन नार्थगुणा वाच्याः प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ।**

वाच्या वक्तव्याः ।

(१) इस प्रकार जो प्रौढि ओज कही गयी है, वह केवल विचित्रतामात्र है, गुण नहीं । क्योंकि उसके बिना भी काव्य-व्यवहार हो सकता है । अपुष्टार्थत्व, अधिकपदत्व, अनवीकृतत्व, अमंगलरूप अश्लील, और ग्राम्यत्वके निराकरण द्वारा साभिप्रायत्वरूप ओज [अर्थात् ओजोगुणका दूसरा स्वरूप], अर्थवैमल्यरूप (२) प्रसाद, उक्तिवैचित्र्यरूप (३) माधुर्य, अपारुष्यरूप (४) सौकुमार्य और अग्राम्यत्वरूप (५) उदारता [गुण, दोषाभावके अन्तर्गत] स्वीकृत हुए हैं । आगे कहे जानेवाले स्वभावोक्ति अलंकारसे और रसध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्यके द्वारा वस्तुके स्वभावकी स्पष्टतारूप (६) अर्थव्यक्ति तथा दीप्तरसत्वरूप (७) कान्ति स्वीकृत हो गयी । क्रम-कौटिल्य अनुल्वणत्व-उपपत्तियोगरूप रचना स्वरूप (८) श्लेष भी विचित्रतामात्र है । अवैषम्यरूप (९) समताका अभाव दोष होगा, इसलिए समता दोषमात्र है, गुण नहीं । क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् [अनुन्मत्त व्यक्ति] होगा, जो अन्य प्रकरणमें अन्यको कहे । और यदि अयोनि अथवा अन्यच्छायायोनि अर्थका दर्शन न हो, तो काव्य ही कैसे बने, इसलिए (१०) अर्थदृष्टिरूप समाधि भी गुण नहीं है ।

वामनने "अर्थदृष्टिः समाधिः" ३।२।७। यह समाधिगुणका लक्षण किया है, और उसके दो भेद करते हुए लिखा है, अर्थो द्विविधो अयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा ।३।२।८। अर्थात् अर्थके दर्शनका नाम 'समाधि' है । यह अर्थ दो प्रकारका होता है, एक अयोनि अर्थात् अकारण अर्थात् कविकी कल्पनामात्रसे उद्भूत होनेवाला अर्थ, और दूसरा अन्यच्छायाको लेकर वर्णित हुआ अर्थ । इस द्विविध अर्थके दर्शनको वामनने समाधि नामक गुण माना है । उसके विषयमें ग्रन्थकारका यह कहना है, कि इस दो प्रकारके अर्थके बिना तो कवि काव्यकी रचना ही नहीं कर सकता है, इसलिए वह तो काव्यके कारणोंमें आ सकता है, काव्यका गुण नहीं कहा जा सकता है ।

[सूत्र ९७]—इसलिए [वामनोक्त] अर्थगुण और जो [दस] शब्दगुण कहे गये हैं उनको [अलग] नहीं मानना चाहिये ।

'वाच्याः'का अर्थ, [यहाँ] 'वक्तव्याः' कहना चाहिये यह है ।

[सूत्र ९८]—**वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः ॥ ७३ ॥**

के कस्य इत्याह ।—

[सूत्र ९९]—**मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।**
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥ ७४ ॥

ट—ठ—ड—ढ—वर्जिताः कादयो मान्ताः शिरसि निजवर्गान्त्ययुक्ताः तथा रेफ-लकारौ ह्रस्वान्तरिताविति वर्णाः, समासाभावो मध्यमः समासो वेति । समासः तथा माधुर्यवती पदान्तरयोगेन रचना माधुर्यस्य व्यञ्जिका । उदाहरणम्—

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः ।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि ॥ ३४९ ॥

तीन गुण और उनके व्यञ्जक—

यहाँतक मम्मटने वामनोक्त दस शब्द-गुणों तथा दस अर्थ-गुणोंका खण्डन करके अपने 'त्रिगुणवाद'की स्थापना कर दी है। अब आगे वे उन माधुर्यादि तीनों गुणोंके व्यञ्जकोंका वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

[सूत्र ९८] वर्ण, समास तथा रचना उन [तीनों गुणों] के व्यंजक होते हैं ॥७३॥

कौन [वर्ण आदि] किस [गुण] के [व्यञ्जक होते हैं] यह कहते हैं—

[सूत्र ९९] अपने शिरपर स्थित अपने-अपने वर्गके अन्तिम वर्णसे युक्त, टवर्गको छोड़कर शेष स्पर्शवर्ण ['कादयो मावसानाः स्पर्शाः' क से लेकर म पर्यन्त सारे वर्ण ['स्पर्श' कहलाते हैं] ह्रस्व रकार तथा णकार, और [अवृत्ति] समासरहित अथवा स्वल्प समासवाली [मध्यवृत्ति] रचना माधुर्यमें [व्यञ्जक होती है] ॥ ७४ ॥

['अटवर्गाः' अर्थात्] ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर [स्पर्शाः अर्थात्] क से लेकर म पर्यन्त [कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग इन चारों वर्गोंके समस्त अक्षर] शिरपर अपने वर्गके अन्तिम वर्णसे युक्त, और ह्रस्व [स्वर] से व्यवहित रेफ तथा णकार ये (१) वर्ण, समासका अभाव [समासरहित अथवा मध्य-समास [स्वल्प समास] यह (२) समास तथा अन्य पदोंके साथ योग [अर्थात् सन्धिसे] माधुर्ययुक्त (३) रचना [ये तीनों] माधुर्य [नामक गुण] के व्यञ्जक होते हैं। जैसे—

[स्तनोंके भारसे] सन्नताङ्गी उस [नायिका] के, कामदेवकी रंगशालाके समान उस [अलौकिक] शरीरको हावभावमयी चेष्टाओंने इस प्रकार अपने अधीन कर लिया है, जिससे ये [भंगियाँ] युवकोंके चित्तोंको सहसा ही अन्य विषयोंकी चिन्तासे रहित [केवल उसीके चिन्तनमें तत्पर] कर देती हैं ॥ ३४९ ॥

यहाँ गकार तथा तकार अपने वर्गके अन्तिम वर्णसे युक्त है। अनङ्ग, तदङ्ग, भङ्गीकृतं आदिमें गकार, तथा स्वान्त, शान्त चिन्तन आदि पदोंमें तकार अपने-अपने वर्गोंके अन्तिम अक्षरसे युक्त है, और रंग आदि पदोंके ह्रस्वसे व्यवहित रेफ है। ये सब वर्ण माधुर्यके व्यञ्जक हैं। 'अनङ्गरङ्ग-प्रतिमं' यह मध्यमवृत्ति अर्थात् स्वल्प-समासवाली रचना भी माधुर्यकी व्यञ्जक है। इस प्रकार ये तीनों विप्रलम्भ-शृंगारमें माधुर्यके व्यंजक हैं।

[सूत्र १००]-**योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययोः, रेण तुल्ययोः ।**
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥ ७५ ॥

वर्गप्रथमतृतीयाभ्यामन्त्ययोः द्वितीय–चतुर्थयोः रेफेण अध उपरि उभयत्र वा यस्य कस्यचित्, तुल्ययोस्तेन तस्यैव सम्बन्धः, टवर्गोऽर्थात् णकारवर्जः, शकार-षकारौ, दीर्घसमासः विकटा सङ्घटना ओजसः । उदाहरणं—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्तेत्यादि ॥ ३५० ॥

[सूत्र १०१]-**श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।**
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥ ७६ ॥

समग्राणां रसानां सङ्घटनानां च । उदाहरणम्—

माधुर्यगुणके अभिव्यञ्जक वर्ण, समास, तथा रचनाका निरूपण करनेके बाद ओजके व्यंजक वर्णादिका प्रतिपादन अगली कारिकामें करते हैं ।—

[सूत्र १००]—[उक्त कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग चारों वर्गोंके आद्य अर्थात्] (१) प्रथम [क–च–त–प–रूप] और तृतीय [ग–ज–द–ब–रूप] वर्णोंके साथ उनके बादके [अन्त्ययोः अर्थात् ख–छ–थ–फ आदि द्वितीय, तथा तृतीयके बादके चतुर्थ घ–झ–ध–भ–] वर्णोंका योग [अर्थात् नैरन्तर्य या अव्यवधानसे प्रयोग] तथा (२) रेफके साथ योग [अर्थात् ऊपर या नीचे किसी भी रूपमें रकारका किसी भी वर्णके साथ योग जैसे, वक्त्र, वज्र, निर्ह्राद आदिमें] और (३) तुल्यवर्णोंका योग [जैसे, वित्त, उच्च, उद्दाम आदिमें] (४) टादि [अर्थात् ट–ठ–ड–ढ वर्ण] तथा (५) श ष [ये सब वर्ण तथा] (६) दीर्घ समास एवं (७) उद्धत रचना [गुम्फ], ओज [गुण] में [व्यंजक होते हैं । इसका ७३ वीं कारिकाके 'व्यंजकतामिताः'के साथ अन्वय होता है] ।

(१) वर्गके प्रथम तथा तृतीय वर्णके साथ उनके बादके अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ वर्णोंका (२) ऊपर, नीचे, अथवा दोनों जगह विद्यमान रेफके साथ जिस किसी वर्णका (३) दो तुल्य वर्णोंका अर्थात् [वित्त उद्दाम आदिके समान] उसका उसी वर्णके साथ योग (४) टवर्ग अर्थात् णकारको छोड़कर [ट–ठ–ड–ढ का प्रयोग] (५) शकार तथा षकारका प्रयोग (६) दीर्घ समास और (७) विकट रचना ओज [गुण] के व्यंजक होते हैं । जैसेः—

मूर्ध्नामुद्'वृत' इत्यादि [अर्थ उदाहरण संख्या १५९ देखिये] ॥ ३५० ॥

इस प्रकार माधुर्य तथा ओज गुणके व्यंजक वर्णादिका प्रतिपादन करनेके बाद आगे प्रसाद गुणके व्यंजक वर्णादिका निरूपण अगली ७६ वीं कारिकामें करते हैं—

[सूत्र १०१]—जिस [शब्द, समास या रचना] के श्रवणमात्रसे शब्दसे अर्थकी प्रतीति हो जाय, वह सब [वर्णों, समासों तथा रचनाओं] में रहनेवाला प्रसाद गुण माना जाता है ॥७६॥

[समग्राणां अर्थात्] समस्त रसों और रचनाओंका [साधारण धर्म प्रसाद गुण होता है] । उदाहरण [जैसे]—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥ ३५१ ॥

यह उदाहरण हर्षदेवकृत रत्नावली नाटिकाके द्वितीय अंकसे लिया गया है। वत्सराज उदयन सागरिकाको उद्देश्य करके अर्थात् सागरिकाके विषयमें कह रहे हैं कि कमलपत्रोंकी शय्या उस कृशाङ्गी सागरिकाके सन्तापको स्पष्ट रूपसे अभिव्यक्त कर रही है।

ऊँचे स्तनों और नितम्बोंके सम्पर्कसे दोनों ओर [दोनों स्थानोंपर] मुरझाये हुए और शरीरके मध्यभाग [अर्थात् कमरके कृश होनेसे उस] के मिलनको प्राप्त न होनेके कारण बीचमें हरी और शिथिल भुजाओंके [इधर-उधर] पटकने तथा करवटें बदलने [वलनैः] से जिसकी बनावट बिगड़ गयी है इस प्रकारकी कमलिनीके पत्तोंकी यह शय्या कृशाङ्गी [सागरिका] के [विरहजन्य] सन्तापको बतला रही है ॥ ३५१ ॥

गुणानुसारिणी रचनादिके अपवाद—

वामनने गुणोंके साथ वैदर्भी, गौडी, तथा पांचाली तीन प्रकारकी रीतियोंका भी प्रतिपादन किया है। और रीतिको ही काव्यका आत्मा माना है। वामनने जिसे रीति शब्दसे कहा है दण्डी, तथा कुन्तकने उसीके लिए 'मार्ग' शब्दका तथा आनन्दवर्धनाचार्यने 'संघटना' शब्दका प्रयोग किया है। वामनकी त्रिविध रीतियोंके समान आनन्दवर्धनने तीन प्रकारकी 'संघटना'का निरूपण करते हुए लिखा है—

असमासा, समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ॥ ध्वन्यालोक ३।५।
गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा ।
रसान्, तन्नियमने हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥३।६।

इसका अभिप्राय यह है, कि वामन आदिने (१) असमासा वैदर्भी रीति, (२) मध्यम समाससे भूषित पांचाली रीति तथा (३) दीर्घसमास युक्त गौडी रीति इस प्रकार तीन तरहकी संघटना या रीतियोंका प्रतिपादन किया है। यह संघटना या रीति गुणोंसे भिन्न है या अभिन्न इस बातको लेकर तीन विकल्प ध्वन्यालोकमें दिखलाये गये हैं। एक पक्ष गुण तथा संघटना अथवा रीतियोंका अभेद मानता है। दूसरा पक्ष उन दोनोंका भेद मानता है। उस भेदवादी सिद्धान्तमें भी दो विकल्प हो जाते हैं, जिनमेंसे एक पक्ष संघटनाको गुणोंके आश्रित मानता है और दूसरा पक्ष गुणोंको संघटनाके आश्रित मानता है। ध्वन्यालोककार गुणोंको संघटनाके आश्रित नहीं अपितु रसके आश्रित मानते हैं। इसलिए वे संघटना या रीतिको गुणोंके आश्रित मानते हैं। यही बात उन्होंने 'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा। रसान्' इस कारिका भागमें स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित की है। गुणोंके अतिरिक्त वक्ता आदिका औचित्य भी संघटना या रीतिका नियामक होता है। यह ध्वन्यालोककारने 'तन्नियमने हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः' इस कारिका भागमें प्रतिपादित किया है। ध्वन्यालोककी इन्हीं कारिकाओंके आधारपर ग्रन्थकार अगली कारिकामें इसी विषयका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि—

यद्यपि गुणपरतन्त्राः सङ्घटनादयस्तथापि,

[सूत्र १०२]–**वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित्क्वचित् ।**
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥ ७७ ॥

क्वचिद्वाच्य-प्रबन्धानपेक्षया वक्त्रौचित्यादेव रचनादयः । यथा—

मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्डः ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽसौ ॥ ३५२ ॥

अत्र हि न वाच्यं क्रोधादिव्यञ्जकम् । अभिनेयार्थं च काव्यमिति तत्प्रतिकूला उद्धता रचनादयः । वक्ता चात्र भीमसेनः ॥

यद्यपि संघटना आदि गुणोंके आश्रित होती है, फिर भी—

[सूत्र १०२]—कहीं-कहीं (१) वक्ता, (२) वाच्य [विषय], तथा (३) प्रबन्धके औचित्यसे रचना, समास तथा वर्णोंका अन्य प्रकारका प्रयोग भी उचित माना जाता है ॥ ७७ ॥

कहीं वाच्य तथा प्रबन्धकी [भी] उपेक्षा करके केवल वक्ताके औचित्यसे ही रचना आदि होती है । जैसे—

मन्थन दण्ड [रई रूप मन्दराचल] से क्षुब्ध समुद्रके जलसे व्याप्त गुफाओंवाले मन्दराचलके शब्दके समान गम्भीर ["भेरीशतसहस्राणि ढक्काशतशतानि च । एकदा यत्र हन्यन्ते कोणाघातः स उच्यते" इत्यादि रूप परिभाषाके अनुसार] कोणाघातके अवसरपर [उसके साथ] गर्जन करते हुए प्रलयकालीन मेघोंके समूहके परस्पर संघर्षण [जन्य शब्द]के समान भयंकर, द्रौपदी [कृष्णा] के क्रोधका [सूचक] अग्रदूत, कौरव वंशके नाशके लिए निर्घात वायु ["मेघवातयोः संघट्टजो ध्वनिरशुभसूचको निर्घात उच्यते"] रूप और हमारे [भीमसेनके] सिंहनादके प्रतिध्वनिके सदृश यह दुन्दुभि किसने बजाया है ॥ ३५२ ॥

यहाँ वाच्य [अर्थ प्रश्नरूप होनेसे] क्रोधादिका व्यंजक नहीं है । और काव्य [जिससे यह श्लोक लिया गया है, वह वेणीसंहार नाटक रूप प्रबन्ध] अभिनेयार्थ है [अभिनेय काव्यमें दीर्घ समास आदिकी रचनाका प्रयोग नहीं करना चाहिये, क्योंकि उससे शीघ्र अर्थकी प्रतीति नहीं होती है । इसलिए यहाँ वाच्य तथा प्रबन्ध दोनोंकी दृष्टिसे दीर्घसमासवाली उद्धत रचना नहीं होनी चाहिये थी, परन्तु उन दोनोंकी उपेक्षा करके केवल भीमसेन जैसे उद्धत वक्ताके मुखसे शोभा देनेके कारण वक्ताके औचित्यसे दीर्घसमासमयी यह उद्धत रचना की गयी है] इसलिए उद्धत रचना [दीर्घसमास] आदि उन [वाच्य तथा प्रबन्ध] दोनोंके प्रतिकूल है । परन्तु यहाँ [उद्धत स्वभावका] भीमसेन वक्ता है [उसके मुखसे उद्धत दीर्घसमासमयी रचना ही शोभा देती है इसलिए वाच्य तथा प्रबन्धकी उपेक्षा करके इस प्रकारकी रचना की गयी है] ।

क्वचिद्वक्तृप्रबन्धानपेक्षया वाच्यौचित्यादेव रचनादयः । यथा—

प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलनरयभवत्सैंहिकेयोपघात-
त्रासाकृष्टाश्वतिर्यग्वलितरविरथेनारुणेनेक्ष्यमाणम् ।
कुर्वत्काकुत्स्थवीर्यस्तुतिमिव मरुतां कन्धरारन्ध्रभाजां
भाङ्कारैर्भीममेतन्निपतति वियतः कुम्भकर्णोत्तमाङ्गम् ।। ३५३ ।।

क्वचिद्वक्तृवाच्यानपेक्षाः प्रबन्धोचिता एव ते । तथा हि-आख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः, कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः, नाटकादौ रौद्रेऽपि न दीर्घ-समासादयः ।

एवमन्यदप्यौचित्यमनुसर्तव्यम् ।

और कहीं वक्ता तथा प्रबन्ध [दोनों] की उपेक्षा करके [केवल] वाच्यके औचित्यसे ही रचना आदि [प्रयुक्त] होती है । जैसे—

'चन्द्रिका' आदिमें इसको महावीरचरितका श्लोक बतलाया है। परन्तु महावीरचरितमें यह श्लोक नहीं पाया जाता है, कुछ लोग इसे 'छलितराम' नाटकका पद्य बतलाते हैं। कुम्भकर्णके कटे हुए शिरके ऊपरसे गिरनेका वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

प्रौढ अर्थात् बलवान्के द्वारा प्रयुक्त हुआ जो 'खड्ग [छेद्यते अनेनेति छेदः इस प्रकारकी करण-व्युत्पत्तिसे छेद शब्द खड्गका वाचक होता है] का प्रहार उसके अनुरूप जो [कटे हुए सिरका] ऊर्ध्वगमनका वेग उस [वेग] से उत्पन्न जो राहु [सैंहिकेय] के पतनके भयसे घोड़ों [की रासों] को खींचकर सूर्यके रथको तिरछा मोड़ देनेवाले [सूर्यके सारथी] अरुणके द्वारा [भय तथा आश्चर्यपूर्वक] देखा जाता हुआ, और गर्दनके [कटे हुए] छिद्रोंके भीतर भरी हुई वायुके भाँय-भाँय [इस प्रकार के शब्दों] से [काकुत्स्थ अर्थात् ककुत्स्थ वंशमें उत्पन्न हुए] रामचन्द्रके पराक्रमकी स्तुति-सा करता हुआ कुम्भकर्णका यह भयानक शिर आकाशसे गिर रहा है ॥ ३५३ ॥

[यहाँ वक्ता वैतालिक है। उसके वचनमें दीर्घसमासमयी उद्धत रचना उचित नहीं हो सकती है और काव्य अभिनयात्मक नाटकरूप है इसलिए उसमें भी दीर्घसमासमयी रचना उचित नहीं है। तथापि कुम्भकर्णके सिरके पतनका विषय ऐसा है कि उसमें दीर्घसमासमयी उद्धत रचना ही शोभा देती है। इसलिए वक्ता तथा प्रबन्ध दोनोंकी उपेक्षा करके केवल वाच्यके औचित्यके कारण ही यहाँ दीर्घ-समासमयी और उद्धत रचनाका प्रयोग किया गया है] ।

कहीं-कहीं वक्ता और वाच्यकी उपेक्षा करके प्रबन्धके औचित्यके अनुसार [रचना आदि] की जाती है। जैसे कि आख्यायिकामें शृंगार-रस [के वर्णन] में भी कोमल वर्णादि [प्रयुक्त] नहीं होते हैं। कथामें रौद्ररसमें भी अत्यन्त उद्धत [वर्ण-रचनादि प्रयुक्त] नहीं होते हैं। और नाटकादिमें रौद्ररसमें भी दीर्घसमास आदि नहीं [प्रयुक्त] होते हैं।

इसी प्रकार अन्य औचित्योंका भी अनुसरण करना चाहिये।

इति काव्यप्रकाशे गुणालङ्कारभेदनियतगुणनिर्णयो नाम अष्टमोल्लासः ॥८॥

यहाँ ग्रन्थकारने 'आख्यायिका' तथा 'कथा'का उल्लेख किया है। वैसे ये दोनों शब्द समानार्थक-से लगते हैं, किन्तु साहित्यमें वे दोनों भिन्न रचनाशैलीके द्योतक हैं। ये दोनों गद्यकाव्यके भेद हैं। आख्यायिकाकी रचना उच्छ्वास आदि भागोंमें विभक्त होती है। कथामें इस प्रकारका विभाग नहीं होता है। 'आख्यायिका'का उदाहरण 'हर्षचरित' है, और 'कथा'का उदाहरण 'कादम्बरी' है। विश्वनाथने 'कथा' तथा 'आख्यायिका'के भेदका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद् वक्त्रापवक्त्रके ॥
आदौपद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्। यथा कादम्बर्यादिः।
आख्यायिका कथावत् स्यात् कविवंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्-क्वचित्।
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति कथ्यते।
आर्या-वक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ॥
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यार्थसूचनम्। यथा हर्षचरितादिः।

मम्मटने यह सारा प्रकरण ध्वन्यालोकके निम्नलिखित लेखके आधारपर लिखा है—

"विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥३-७॥

वक्तृ-वाच्यगतौचित्ये सत्यपि, विषयाश्रयमन्यदौचित्यं संघटनां नियच्छति। यतः काव्यस्य प्रभेदाः (१) मुक्तकं, संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशनिबद्धं, (२) सन्दानितक-विशेष-कलापक-कुलकानि, (३) पर्यायबन्धः, (४) परिकथा, (५) खण्डकथा-सकलकथे (६) सर्गबन्धो, (७) अभिनेयार्थं, (८) आख्यायिकाकथे, इत्येवमादयः तदाश्रयेणापि संघटना विशेषवती भवति।

तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्। तच्च दर्शितमेव। अन्यत्र कामचारः। मुक्तकेषु प्रबन्धेष्वपि रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकवेः मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धाः एव। सन्दानितकादिषु तु विकटनिबन्धनौचित्यान्मध्यमसमासदीर्घसमासे एव संघटने। प्रबन्धाश्रयेषु यथोक्तं प्रबन्धौचित्यमेवानुसर्त्तव्यम्।

पर्यायबन्धे पुनरसमासमध्यमसमासे एव संघटने। कदाचिदर्थौचित्याश्रयेण दीर्घसमासायामपि संघटनायां परुषा ग्राम्या च वृत्तिः परिहर्त्तव्या। परिकथायां कामचारः। तत्र इतिवृत्तमात्रोपन्यासेन नात्यन्तं रससम्बन्धाभिनिवेशात्। खण्डकथासकलकथयोस्तु प्राकृतप्रसिद्धयोः कुलकादिनिबन्धनभूयस्त्वात् दीर्घसमासायामपि न विरोधः। वृत्त्यौचित्यन्तु यथारसमनुसर्त्तव्यम्। सर्गबन्धे तु रसतात्पर्ये यथारसमौचित्यम्। अन्यथा तु कामचारः। द्वयोरपि मार्गयोः सर्गबन्ध विधायिनां दर्शनात् रसतात्पर्यं साधीयः। अभिनेयार्थे तु सर्वथा रसबन्धेऽभिनिवेशः कार्यः। आख्यायिकाकथयोस्तु गद्यनिबन्धनबाहुल्यात् गद्ये च छन्दोबन्धभिन्नप्रस्थानत्वादिह नियमहेतुरकृतपूर्वोऽपि मनाक् क्रियते।"

काव्यप्रकाशमें गुण और अलङ्कारोंके निश्चित भेदका निर्णय करनेवाला
अष्टम उल्लास समाप्त हुआ।

इति श्रीमदाचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि विरचितायां काव्यप्रकाशदीपिकायां
हिन्दी व्याख्यायां गुणालंकारनियतगुणनिर्णयो नाम अष्टम उल्लासः समाप्तः।

अथ नवम उल्लासः

अथ काव्यप्रकाश दीपिकायां नवम उल्लासः

उल्लाससङ्गति—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" इस काव्यलक्षणमें "शब्दार्थौ" का अन्तिम विशेषण "अनलंकृती" दिया है। उसका अभिप्राय यह है, साधारणतः सालङ्कार शब्दार्थ काव्यमें प्रयुक्त होने चाहिये, परन्तु जहाँ रसादिकी स्पष्ट प्रतीति हो, वहाँ कभी-कभी अलङ्कार-रहित शब्द और अर्थके होनेपर भी काव्यत्वकी हानि नहीं होती है। इसलिए इस लक्षणकी व्याख्याके लिए अलङ्कारोंका निरूपण करना आवश्यक है। उस लक्षणमें अलङ्कारका सम्बन्ध शब्द तथा अर्थ दोनोंके साथ दिखलाया गया है। अतएव शब्दालङ्कार तथा अर्थालंकार रूपमें अलङ्कारोंके दो विभाग करके उनका निरूपण करनेके लिए यहाँ ग्रन्थकारने नवम तथा दशम दो उल्लासोंकी रचना की है। नवम उल्लासमें केवल शब्दालङ्कारोंका तथा दशम उल्लासमें अर्थालङ्कारोंका वर्णन किया है। अलङ्कारोंका सामान्य लक्षण "उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्" इत्यादि अष्टम उल्लासकी ६७ वीं कारिकामें कर चुके हैं। इसलिए यहाँ फिर सामान्य लक्षण किये विना ही अलङ्कारोंका निरूपण प्रारम्भ कर दिया है।

अलङ्कारका लक्षण—

'अलङ्करोति इति अलङ्कारः' यह अलङ्कार शब्दकी व्युत्पत्ति है। इसके अनुसार शरीरको विभूषित करनेवाले अर्थ या तत्त्वका नाम 'अलङ्कार' है। जिस प्रकार कटक-कुण्डल आभूषण शरीरको विभूषित करते हैं, इसलिए अलङ्कार कहलाते हैं उसी प्रकार काव्यमें अनुप्रास, उपमा आदि काव्यके शरीरभूत शब्द और अर्थको अलंकृत करते हैं इसलिए अलङ्कार कहलाते हैं। अलङ्कार, अलङ्कार्यका केवल उत्कर्षाधायक तत्त्व होता है, स्वरूपाधायक या जीवनाधायक तत्त्व नहीं। जो स्त्री या पुरुष अलङ्कार-विहीन है, वह भी मनुष्य है। पर जो अलङ्कारयुक्त है, वह अधिक उत्कृष्ट समझा जाता है। इसी प्रकार काव्यमें अलङ्कारोंकी स्थिति अपरिहार्य नहीं है। वे यदि हैं, तो काव्यके उत्कर्षाधायक होंगे, यदि नहीं हैं, तो भी काव्यकी कोई हानि नहीं है। इसलिए अलङ्कारोंको काव्यका अस्थिर धर्म माना गया है। यही गुण तथा अलङ्कारोंका भेदक तत्त्व है। गुण काव्यके स्थिर धर्म हैं, काव्यमें गुणोंकी स्थिति अपरिहार्य है। परन्तु अलङ्कार स्थिर या अपरिहार्य धर्म नहीं हैं, केवल उत्कर्षाधायक हैं। उनके बिना भी काव्यमें काम चल सकता है। इसीलिए काव्यके लक्षणमें मम्मटने "अनलंकृती पुनः क्वापि" लिखकर अलंकाररहितको भी काव्य माना है। इसी दृष्टिसे उन्होंने अष्टम उल्लासमें अलङ्कारोंका लक्षण करते हुए लिखा है—

[सूत्र ८८] उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

अर्थात् अलङ्कार "जातुचित्" कभी-कभी ही उस रसको अलंकृत करते हैं, सदा नहीं। इसलिए वे काव्यके अस्थिर धर्म हैं। साहित्यदर्पणमें भी अलङ्कारका लक्षण इसी आशयसे निम्नलिखित प्रकार किया गया है—

शब्दार्थयोरस्थिराः ये धर्माश्शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥सा० द० १०।१।

किन्तु अलङ्कारोंको काव्यके अस्थिर धर्म माननेका सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। यह केवल ध्वनिवादी सम्प्रदायका दृष्टिकोण है। अलङ्कार-सम्प्रदाय अलङ्कारोंको काव्यका अपरिहार्य स्थिर तत्त्व

मानता है। उसके मतमें अलङ्काररहित काव्यकी कल्पना, उष्णतारहित अग्निकी कल्पनाके समान ही उपहासयोग्य है। इसी भावको व्यक्त करते हुए जयदेवने अपने चन्द्रालोकमें लिखा है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृती॥

जो आदमी [मम्मट] अलङ्कारविहीन शब्द और अर्थको काव्य मानता है, वह उष्णता-विहीन अग्निको क्यों नहीं मानता है?

अलङ्कारोंके विभाजक तत्त्व—

प्रायः सभी आचार्योंने शब्द और अर्थको काव्यका शरीर माना है। अलङ्कार शरीरके शोभाधायक होते हैं। इसलिए काव्यमें शब्द और अर्थके उत्कर्षाधायक तत्त्वका ही नाम अलङ्कार है। अर्थात् अलङ्कारका आधार शब्द और अर्थ है। इसी आधारपर शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उन दोनोंके मिश्रणसे बने हुए उभयालङ्कार इन तीन प्रकारके अलङ्कारोंकी कल्पना की गयी है।

शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारका भेद, शब्दके परिवर्तन-सहत्व या परिवर्तनासहत्वके ऊपर निर्भर है। जहाँ शब्दका परिवर्तन करके उसका पर्यायवाचक दूसरा शब्द रख देनेपर अलङ्कार नहीं रहता है, वहाँ यह समझना चाहिये कि उस अलङ्कारकी स्थिति विशेष रूपसे उस शब्दके कारण ही थी। इसलिए उसे 'शब्दालङ्कार' कहा जाता है। जहाँ शब्दका परिवर्तन करके दूसरा पर्यायवाचक शब्द रख देनेपर भी उस अलङ्कारकी सत्ता बनी रहती है, वहाँ अलङ्कार शब्दके आश्रित नहीं, अपितु अर्थके आश्रित होता है, इसलिए उसको 'अर्थालङ्कार' कहा जाता है। इस प्रकार जो अलङ्कार शब्द परिवृत्तिको सहन नहीं करता है वह शब्दालङ्कार, और जो शब्द परिवृत्तिको सहन करता है, वह अर्थालङ्कार होता है। यह शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारका भेद है।

अलङ्कारोंकी संख्या—

अलङ्कारोंकी संख्याके विषयमें बड़ा मतभेद है। शब्दालङ्कारोंकी संख्यामें तथा अर्थालङ्कारोंकी संख्यामें भी। अर्थालङ्कारोंकी संख्याके विषयमें हम आगे दशम उल्लासमें लिखेंगे। मम्मटने ६१ अर्थालङ्कार माने हैं। शब्दालङ्कारोंमें वामन आदिने केवल 'अनुप्रास' और 'यमक' दो ही की गणना की है, परन्तु मम्मटने उनके साथ, वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभासको भी शब्दालङ्कार माना है। इस प्रकार मम्मटके मतमें शब्दालङ्कारोंकी संख्या ६ हो जाती है।

इनमेंसे श्लेष तथा पुनरुक्तवदाभासकी स्थितिमें भी मतभेद पाया जाता है। अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक पुनरुक्तवदाभासको अर्थालङ्कार मानते हैं। मम्मट, विश्वनाथ, शोभाकर मिश्र इसको शब्दालङ्कार मानते हैं।

श्लेष अलङ्कारके विषयमें भी इसी प्रकारका मतभेद पाया जाता है। श्लेषके दो भेद होते हैं। एक सभङ्गश्लेष दूसरा अभङ्गश्लेष, इनके विषयमें तीन प्रकारके मत पाये जाते हैं।

क—अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक आदि कुछ आलङ्कारिक सभङ्गश्लेषको शब्दालङ्कार तथा अभङ्गश्लेषको अर्थालङ्कार मानते हैं।

ख—कुवलयानन्दकार अप्पय दीक्षित आदि कुछ आलङ्कारिक दोनों प्रकारके श्लेषोंको अर्थालङ्कार ही मानते हैं।

ग—इसके विपरीत मम्मट आदि कुछ आलङ्कारिक सभङ्ग और अभङ्ग दोनों प्रकारके श्लेषोंको शब्दालङ्कार ही मानते हैं। परन्तु मम्मटने अर्थालङ्कारोंमें भी श्लेषकी गणना की है। पर वह

गुणविवेचने कृतेऽलङ्काराः प्राप्तावसरा इति सम्प्रति शब्दालङ्कारानाह :—

[सूत्र १०३]–यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥७८॥

तथेति **श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च ।** तत्र पदभङ्गश्लेषेण यथा—

इन दोनों भेदोंसे भिन्न है, जहाँ शब्दोंका परिवर्तन कर देनेपर भी द्वितीय अर्थकी प्रतीति होती है, वह अर्थ-श्लेष इन दोनों प्रकारके शब्द-श्लेषोंसे भिन्न है। शब्दालङ्काररूप श्लेषमें जतु-काष्ठ न्यायसे दो शब्दोंका श्लेष होता है। परन्तु अर्थ-श्लेषमें एक वृन्तगत-फलद्वय-न्यायसे एक शब्दमें दो अर्थोंका श्लेष होता है। यही शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेषका भेद है।

इस प्रकार मम्मटके मतमें छ शब्दालङ्कार, इकसठ अर्थालङ्कार और एक उभयालङ्कार है। शब्दालङ्कारोंमें मम्मटने १. वक्रोक्ति, २. अनुप्रास, ३. यमक, ४. श्लेष, ५. चित्र, ६. पुनरुक्तवदाभास ये छ अलङ्कार माने हैं। इन्हींका निरूपण इस नवम उल्लासमें किया गया है। काव्यप्रकाशके टीकाकार सोमेश्वरने इन्हीं छः शब्दालङ्कारोंको एक श्लोकमें इस प्रकार गिनाया है—

वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकं श्लेष-चित्रके ।
पुनरुक्तवदाभासः शब्दालंकृतयस्तु षट् ॥

सरस्वतीकण्ठाभरणमें ऐसे २४ अलङ्कारोंकी नामावली दी है जिनको अन्य लोग शब्दालङ्कार मानते हैं। परन्तु उनमें वस्तुतः शब्दपरिवृत्यसहिष्णुत्वरूप शब्दालङ्कारका लक्षण न पाये जानेसे उन्हें शब्दालङ्कार नहीं कहा जा सकता है। यही बात निम्नलिखित श्लोकमें कही गयी है—

पठन्ति शब्दालङ्कारान् बहूनन्यान् मनीषिणः ।
परिवृत्तिसहिष्णुत्वात् न ते शब्दैकभागिनः ॥

बुद्धिमान् अन्य बहुतसे अलङ्कारोंको शब्दालङ्कार कहते हैं, पर वे परिवर्तनसहिष्णु होनेके कारण शब्दालङ्कार नहीं हैं। आगे इन शब्दालङ्कारोंका विवेचन करते हैं—

गुणोंका विवेचन [अष्टम उल्लासमें] कर चुकनेपर अलंकारों [के निरूपण]का अवसर आता है। इसलिए अब [पहिले] शब्दालंकारोंको कहते हैं—

१. वक्रोक्ति अलङ्कार—

[सूत्र १०३] जो [वक्ता द्वारा] अन्य प्रकारसे [अन्य अर्थमें] कहा हुआ वाक्य दूसरे [अर्थात् बोद्धा या श्रोता] के द्वारा श्लेष [अर्थात् शब्दके दो अर्थवाला होनेसे] अथवा [भिन्न कण्ठध्वनि धीरैः काकुरित्यभिधीयते] काकु अर्थात् बोलनेके लहजेसे, अन्य प्रकारसे [अर्थात् वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थमें] लगा लिया जाता है, वह वक्रोक्ति नामक [शब्दालङ्कार] होता है, और वह उस प्रकारसे [श्लेषवक्रोक्ति और काकुवक्रोक्ति] दो तरहका होता है। जैसे—

यह श्लेषवक्रोक्ति दो व्यक्तियोंके संवादरूपमें है। वक्ता शृंगारपरक भावसे बात कर रहा है, और दूसरा व्यक्ति उसका वीरपरक अर्थ लगा लेता है। इस प्रकार अन्यार्थपरक वाक्यका अन्य अर्थ लगाकर यह संवाद हो रहा है। इसलिए यह वक्रोक्तिका उदाहरण बनता है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो
वामानां प्रियमादधाति हितकृन्नैवाबलानां भवान् ।
युक्तं किं हितकर्तनं ननु बलाभावप्रसिद्धात्मनः
सामर्थ्यं भवतः पुरन्दरमतच्छेदं विधातुं कुतः ॥ ३५२ ॥

१. यदि तुम [नारीणां] स्त्रियोंके अनुकूल आचरण करते हो, तो [जानासि अर्थात्] समझदार [बुद्धिमान्] हो।

२. [यहाँ वक्ताने 'नारीणां' पद, स्त्री अर्थमें प्रयुक्त किया था। पर दूसरा व्यक्ति इस एक पदको 'न अरीणां' इस प्रकार दो पदोंमें विभक्त करके, यदि तुम शत्रुओंके अनुकूल आचरण नहीं करते हो तो बुद्धिमान् हो, यह अर्थ लगा लेता है, और वक्ताके वचन का यह अर्थ मान कर उत्तर देता है कि—] कौन बुद्धिमान् [चेतनः समझदार व्यक्ति, वामानां] शत्रुओंका प्रिय [अनुकूल कार्य] करता है। [अर्थात् कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति शत्रुओंके अनुकूल आचरण नहीं कर सकता है, तब मैं ही क्यों करने लगा]।

१. [यहाँ द्वितीय वक्ताने 'वामानां' पदका प्रयोग विरोधी या शत्रुके अर्थमें किया था, परन्तु प्रथम वक्ता उसका अर्थ 'स्त्री' लगा लेता है। और उसके कथनका यह अर्थ मान लेता है, कि कोई बुद्धिमान् स्त्रियोंका प्रिय कार्य अर्थात् स्त्रियोंके शासनमें रहना नहीं चाहता है ऐसा अभिप्राय मानकर उससे फिर पूछता है, कि तो क्या] आप अबलाओंके प्रिय करनेवाले [हितकृत्] नहीं हैं ?

२. [यहाँ 'अबलानां हितकृत्' का प्रयोग वक्ताने हित करनेवाले इस अर्थमें किया था। परन्तु दूसरा व्यक्ति उसका अर्थ यह लगाता है, कि अबलानां अर्थात् दुर्बलोंके 'हितं कृन्तति विनाशयति इति हितकृत्' अर्थात् आप दुर्बलोंके हितोंका नाश करनेवाले नहीं हो। इस प्रश्नका उत्तर देते हुए यह कहता है कि—] बलके अभावके लिए प्रसिद्ध स्वरूपवाले [अर्थात् दुर्बल व्यक्ति]के हितका विनाश करना क्या उचित है [अर्थात् उचित नहीं है]।

१. [पूर्ववक्ताने 'बलाभावप्रसिद्धात्मनः' पदका प्रयोग 'दुर्बल' इस अर्थमें किया था। परन्तु दूसरा व्यक्ति उसका अर्थ बल नामक असुरविशेषके अभाव अर्थात् मारनेके कारण प्रसिद्ध अर्थात् इन्द्र ले लेता है। और उस दशामें पूर्ववक्ताके वाक्यका अर्थ क्या इन्द्रके हितका नाश करना उचित है, यह हो जाता है। अर्थात् इन्द्रके हितका नाश करना उचित नहीं है, इसलिए मैं उसे नहीं करता हूँ। यह वक्ताका अभिप्राय मानकर पहिला वक्ता फिर पूछता है, कि] आपमें इन्द्रके अभिमत अर्थका विनाश करने [पुरन्दर मतच्छेदं विधातुं] की सामर्थ्य [ही] कहाँ है [जो आप उसके हितका कर्त्तन कर सकते] ॥ ३५२ ॥

यहाँ अन्य वक्ताके अन्यार्थक शब्दोंका अन्य अर्थ लगाकर दूसरा व्यक्ति प्रश्नोत्तर आदि कर रहा है। इसलिए यह वक्रोक्तिका उदाहरण है। इसमें नारीणां, वामानां, हितकृत्, बलाभाव-प्रसिद्धात्मनः ये पद श्लिष्ट हैं, अतः यह श्लेष वक्रोक्तिका उदाहरण है। उसमें भी नारीणां, अबलानां, इन पदोंमें एक पक्षमें 'नारीणां तथा 'अबलानां' पद स्त्री अर्थमें रूढ लिए जाते हैं, दूसरे पक्षमें 'न अरीणां'

अभङ्गश्लेषेण यथा—

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित् ॥३५३॥

काक्वा यथा—

गुरुजनपरतन्त्रतया दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।
अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ ॥३५४॥

'न बलं यस्यां सा अबला' इस प्रकारका समास करके बने हुए अबला पदका 'अबलानां' रूप बनाया जाता है, इसलिए इन दोनों पदोंमें सभङ्गश्लेष है । यद्यपि वामानां आदि पदोंमें सभङ्गश्लेष नहीं है, परन्तु इस संवादका प्रारम्भ 'नारीणां' इस सभङ्गश्लेषसे ही हुआ है, इसलिए आगेके सारे संवादके सभङ्गश्लेषपर आश्रित होनेके कारण इसे सभङ्गश्लेषका उदाहरण माना गया है ।

हिन्दीमें सभङ्गश्लेषमूलक वक्रोक्तिके उदाहरणके रूपमें निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया जा सकता है—

गौरवशालिनी प्यारी हमारी, सदा तुम्हीं इक इष्ट अहो ।
हौं न गऊ, नहि हौं अवशा, अलिनी हूँ नहीं अस काहे कहो ॥

इस पद्यमें शिव-पार्वतीका संवाद है, पद्यका पूर्वार्द्ध शिवका वचन है, उसमें जो 'गौरव-शालिनी' पद आया है उसको पार्वतीने गौ+अवशा+अलिनी इन तीन टुकड़ोंमें विभक्त कर दिया है, शिवजीने पार्वतीको अपनी 'गौरवशालिनी' प्रिया कहा है, पर पार्वती उसका दूसरा अर्थ लेकर कह रही हैं, कि न तो मैं गऊ हूँ, न अवशा हूँ, और न अलिनी—भ्रमरी हूँ, फिर आप ऐसा क्यों कह रहे हैं ।

अभङ्गश्लेषसे [वक्रोक्ति] का उदाहरण । जैसे—

आश्चर्य है, कि किस [दारुण-निर्दय ब्रह्मा] ने इस प्रकारकी [निर्दय कठोर] बुद्धि बनायी है । [यहाँ वक्ताने 'दारुणा' पदका प्रयोग कठोर अर्थमें किया है, परन्तु दूसरा व्यक्ति दारु अर्थात् काष्ठसे यह अर्थ लेकर कहता है, कि सांख्य दर्शन आदिमें तो सत्त्व, रज, तमरूप] तीन गुणोंसे बनी हुई बुद्धि बतलायी गयी है, काष्ठसे बनी हुई तो कहीं नहीं कही गयी है ॥ ३५३ ॥

यहाँ वक्ता द्वारा कठोर अर्थमें प्रयुक्त 'दारुणा' पदका वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न 'काष्ठेन' यह अर्थ लगा लिया है, और इस पदका भङ्ग भी नहीं हुआ है । इसलिए यह अभङ्गश्लेषमूलक वक्रोक्तिका उदाहरण है ।

[आगे काकु-वक्रोक्ति का उदाहरण लेते हैं] काकु से [वक्रोक्ति] जैसे—

गुरुजनों [माता-पिता] के अधीन होनेसे [उनकी आज्ञासे] वे विदेशको जानेको उद्यत हुए थे, [अपनी इच्छासे नहीं] इसलिए भ्रमरसमूह एवं कोकिलों [की मधुर ध्वनि]से मधुर इस [वसन्त] समयमें नहीं लौटेंगे ? ॥ ३५४ ॥

यह नायिका और उसके सखीके बीचकी बातचीत है । नायिकाने निराशापूर्ण भावसे कहा है, कि वे गुरुजनोंके आज्ञाकारी हैं, उन्हें मेरी चिन्ता नहीं है, इसलिए वे इस समय लौटकर आयेंगे, यह आशा नहीं है । उसकी सखी इसी वाक्यको फिर भिन्न-कण्ठध्वनि या लहजेसे बोलती है । तब क्या नहीं आयेंगेका अर्थ अवश्य आवेंगे, यह हो जाता है । इसलिए यह काकु-वक्रोक्तिका उदाहरण दिया है ।

[सूत्र १०४]–**वर्णसाम्यमनुप्रासः ।**

स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम् । रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः ।

[सूत्र १०५]–**छेकवृत्तिगतो द्विधा ।**

छेका विदग्धाः । वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः । गत इति **छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासश्च ।**

किन्तयोः स्वरूपमित्याह—

[सूत्र १०६]–**सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः ।**

अनेकस्य अर्थाद् व्यञ्जनस्य सकृदेकवारं सादृश्यं **छेकानुप्रासः** । उदाहरणम्—

---

२. अनुप्रास अलङ्कार—

इस प्रकार वक्रोक्तिरूप प्रथम शब्दालङ्कारके तीनों भेदोंका निरूपण करनेके बाद ग्रन्थकार अनुप्रास नामक दूसरे शब्दालङ्कारका निरूपण प्रारम्भ करते हैं । वह अनुप्रास पहले वर्णानुप्रास और पदानुप्रासरूपसे दो प्रकारका होता है । उसमें वर्णानुप्रासके छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास ये दो भेद होते हैं । पदानुप्रासका दूसरा नाम 'लाटानुप्रास' भी है, यह (१) अनेक पदोंकी आवृत्तिरूप (२) एक पदकी आवृत्तिरूप (३) एक समासमें आवृत्तिरूप (४) भिन्न समासमें आवृत्तिरूप और (५) समास तथा असमास दोनोंमें आवृत्तिरूप इस तरहसे पाँच प्रकारका होता है । इसीका निरूपण आगे करते हैं—

[सूत्र १०४] वर्णोंकी समानता [आवृत्तिका नाम] अनुप्रास है ।

स्वरोंका भेद होनेपर भी [केवल] व्यञ्जनोंकी समानता [ही यहाँ] वर्णोंकी समानता [से अभिप्रेत] है । रसादिके अनुकूल [वर्णोंका] प्रकृष्ट सन्निवेश [ही अनुगतः प्रकृष्टश्च न्यासः इस व्युत्पत्तिके अनुसार] अनुप्रास [कहलाता] है ।

[सूत्र १०५]—छेक-गत और वृत्ति-गत [इस प्रकार वह अनुप्रास] दो प्रकार का है ।

'छेक' शब्दका अर्थ 'चतुर व्यक्ति' है, और 'वृत्ति' [का अर्थ] नियत वर्णोंमें रहनेवाला रसविषयक [व्यञ्जना] व्यापार है । 'गत' [यह पद "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते" इस नियमके अनुसार छेक तथा वृत्ति दोनों पदोंके साथ जुड़ता है । इसलिए] इससे छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास [यह दो प्रकारका वर्णसाम्य-रूप वर्णानुप्रास होता है] ।

उन दोनोंका क्या लक्षण [स्वरूप] है यह कहते हैं—

(क) छेकानुप्रास—

[सूत्र १०६]—अनेक [वर्णों] का एक बार [आवृत्तिरूप साम्य] प्रथम [छेका-नुप्रास] है ।

अनेक व्यञ्जनोंका सकृत् [अर्थात्] एक बार सादृश्य छेकानुप्रास [कहलाता] है । उसका उदाहरण [जैसे]—

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी ।

दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥३५५॥

[सूत्र १०७]- **एकस्याप्यसकृत्परः ॥७९॥**

एकस्य अपिशब्दादनेकस्य व्यञ्जनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं **वृत्त्यनुप्रासः** ।

तब [प्रातःकालके समय सूर्यके सारथि] अरुणके गतिशील होनेसे मलिन स्वरूपवाला चन्द्रमा काम [के उपभोग] से दुर्बल कामिनीके कपोलस्थलके समान सफेद हो गया ॥ ३५५ ॥

कमलाकरभट्ट तथा चक्रवर्त्ती आदिने इसे महाभारतके द्रोणपर्वमें रात्रियुद्धके बाद प्रभात-वर्णनके प्रसङ्गका पद्य बतलाया है, परन्तु महाभारतमें उस प्रसङ्गमें नहीं पाया जाता है ।

(ख) वृत्त्यनुप्रास—

[सूत्र १०७] एक [वर्ण] का भी [और अनेक वर्णोंका भी] अनेक बार [का आवृत्तिसाम्य होनेपर] दूसरा [अर्थात् वृत्त्यनुप्रास] होता है ।

एक वर्णको और 'अपि' शब्द [के प्रयोग] से अनेक व्यञ्जनोंका एक बार या बहुत बारका सादृश्य [अर्थात् आवृत्ति] 'वृत्त्यनुप्रास' [होता] है ।

वृत्त्यनुप्रासमें गुण, वृत्ति, रीति आदिका समन्वय—

वृत्त्यनुप्रासका उदाहरण देनेके पूर्व 'वृत्ति' शब्दकी व्याख्या करना आवश्यक है, ऐसा समझकर ग्रन्थकार वृत्तियोंका वर्णन आगे दे रहे हैं । वृत्ति, रीति, मार्ग संघटना तथा शैली शब्द प्रायः समानार्थक हैं । एक ही पदार्थको भिन्न-भिन्न आचार्योंने इन भिन्न नामोंसे व्यवहृत किया है । 'वृत्ति' शब्दका प्रयोग उद्भटने किया है । उन्होंने अपने 'काव्यालङ्कारसार-संग्रह' नामक ग्रन्थमें उपनागरिका, परुषा तथा कोमला नामसे तीन प्रकारकी वृत्तियोंका वर्णन करते हुए उनके लक्षण आदि निम्नलिखित प्रकार दिये हैं—

शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता ।

परुषा नाम वृत्तिः स्याद्ध्ह्याद्यैश्च संयुता ॥६॥

स्वरूपसंयोगयुतां, मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः ।

स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते, उपनागरिकां बुधाः ॥८॥

शेषैर्वर्णैर्यथायोगं, ग्रथितां कोमलाख्यया ।

ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः ॥१०॥

इन्हीं तीन प्रकारकी 'वृत्तियों'को वामनने तीन प्रकारकी 'रीतियों'के रूपमें, कुन्तक तथा दण्डीने तीन प्रकारके 'मार्गों'के रूपमें और आनन्दवर्धनाचार्यने तीन प्रकारकी 'संघटना'के रूपमें माना है । सब जगह उनके लक्षण भी लगभग इसी प्रकारके दिये गये हैं । इसलिए उद्भटकी 'वृत्तियाँ', वामनकी 'रीतियाँ', दण्डीके और कुन्तकके 'मार्ग' तथा आनन्दवर्धनकी 'संघटना' एक ही भावको व्यक्त करती हैं । उद्भटने इन तीनों वृत्तियोंमें वर्णके साम्यको वृत्त्यनुप्रास कहा है—

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।

पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥१२॥ [उद्भट]

इसी रूपमें उद्भटकी अभिमत वृत्तियोंका निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

तत्र—

[सूत्र १०८]–**माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।**

[सूत्र १०९]–**ओजःप्रकाशकैस्तैस्तु परुषा**

उभयत्रापि प्रागुदाहृतम् । 'अनङ्गरङ्ग' इत्यादि, 'मूर्ध्नामुद्वृत्त' इत्यादि च ।

[सूत्र ११०]– **–कोमला परैः ॥८०॥**

परैः शेषैः । तामेव केचिद् ग्राम्येति वदन्ति । उदाहरणम्—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालि ! मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥३५६॥

[सूत्र १११]–**केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः ।**

एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी गौडी पाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः ।

उनमेंसे—

[सूत्र १०८]—माधुर्यव्यञ्जक वर्णोंसे युक्त [वृत्ति उद्भटके मतमें] उपनागरिका [और वामनके मतमें वैदर्भी रीति] कहलाती है ।

[सूत्र १०९]—ओजके प्रकाशक वर्णोंसे युक्त [वृत्ति उद्भटके मतमें] परुषावृत्ति [और वामनके मतमें गौडी रीति कहलाती] है ।

इन दोनोंके उदाहरण [अष्टम उल्लासमें माधुर्य तथा ओज गुणोंके प्रसङ्गमें 'अनङ्गरङ्गप्रतिमं' आदि उदाहरण सं० ३४९ तथा 'मूर्ध्नामुद्वृत्त' इत्यादि उदाहरण संख्या ३५०] पहिले दिये जा चुके हैं ।

[सूत्र ११०]—शेष [वर्णों] से [युक्त तीसरी वृत्ति उद्भटके मतमें] कोमला [वृत्ति और वामनके मतमें पांचाली रीति] होती है । [कारिकामें आये हुए] 'परैः' [पदका अर्थ उपनागरिका और परुषा वृत्ति अथवा माधुर्य और ओजके व्यंजक वर्णोंको छोड़कर] शेषसे [युक्त समझना चाहिये] । उसी [कोमला वृत्ति] को कोई ग्राम्या [वृत्ति] भी कहते हैं । उदाहरण जैसे—

कपूरको हटा दो, हारको दूर ही रखो, कमलोंसे क्या लाभ, और हे सखि ! मृणालोंको रहने दो [वियोगिनी] बाला, रात दिन यह कहती रहती है ॥३५६॥

[सूत्र १११]—[उद्भटकी अभिमत] ये तीनों वृत्तियाँ ही [वामन आदि] किन्हीं [आचार्यों] के मतमें वैदर्भी [गौडी और पांचाली] आदि रीतियाँ मानी गयी हैं ।

ये तीनों वृत्तियाँ वामन आदिके मतमें [क्रमशः] वैदर्भी, गौडी और पांचाली नामक रीतियाँ मानी जाती हैं [उन वृत्तियोंमें होनेसे यह 'वृत्त्यनुप्रास' कहलाता है] ।

(ग) लाटानुप्रास—

ऊपर वर्णसाम्यरूप 'वर्णानुप्रास' का, और छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास नामक उसके दो भेदोंका वर्णन किया गया था । अनुप्रासका दूसरा भेद 'पदानुप्रास' होता है, उसको ही 'लाटानुप्रास' कहा जाता है । लाटानुप्रासमें वर्णोंकी नहीं अपितु पदोंकी आवृत्ति होनेपर पुनरुक्ति दोष तथा पुनरुक्तवदाभास अलंकार भी हो सकते हैं । इसलिए लाटानुप्रासको उनसे भिन्न करनेके लिए

[सूत्र ११२]–**शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥८१॥**

शब्दगतोऽनुप्रासः शब्दार्थयोरभेदेऽप्यन्वयमात्रभेदात् । लाटजनवल्लभत्वाच्च **लाटानुप्रासः** । एष **पदानुप्रास** इत्यन्ये ।

[सूत्र ११३]–**पदानां सः ।**

स इति **लाटानुप्रासः** । उदाहरणम्—

> यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।
> यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥३५७॥

[सूत्र ११४]– **–पदस्यापि ।**

अपिशब्देन स इति समुच्चीयते । उदाहरणम्—

लाटानुप्रास स्थलमें आवृत्त-पदमें तात्पर्यमात्रका भेद होना आवश्यक माना गया है । पदोंके उद्देश्य-विधेय भावमें अन्तर आ जानेपर भी तात्पर्यमात्रका भेद माना जाता है ।

इस लाटानुप्रासके पाँच भेद होते हैं । पहले भेदमें अनेक पदोंकी आवृत्ति होती है । दूसरे पदमें केवल एक ही पदकी आवृत्ति होती है । एक ही समासमें पदकी आवृत्ति होनेपर तीसरा भेद होता है । दो अलग-अलग समासोंमें एक ही पदकी आवृत्ति होनेपर लाटानुप्रासका चौथा भेद होता है और आवृत्त होनेवाला पद यदि एक ओर समासमें और दूसरी ओर असमासमें हो तो वह लाटानुप्रासका पाँचवाँ भेद होगा । ग्रन्थकार लाटानुप्रासके इन पाँचों भेदोंको उदाहरण सहित आगे दिखलाते हैं ।

[सूत्र ११२]—[आवृत्त पदमें] तात्पर्यमात्रसे भेद होनेपर शब्दानुप्रास [अर्थात् पदानुप्रास वर्णानुप्रास या वर्णसाम्य नहीं] लाटानुप्रास [कहलाता] है ॥८१॥

शब्दगत अनुप्रास [लाटानुप्रास कहलाता है] । शब्द और अर्थ [दोनों] का अभेद होनेपर भी अन्वय [उद्देश-विधेयभाव या तात्पर्य] मात्रके भेदसे और लाटदेशके [विदग्ध] लोगोंका प्रिय होनेसे [यह] लाटानुप्रास कहलाता है । दूसरे लोग इसको पदानुप्रास कहते हैं । [क्योंकि]—

[सूत्र ११३]—वह [लाटानुप्रास वर्णोंका नहीं] पदोंका [साम्य] होता है ।

वह [अर्थात् लाटानुप्रास] पदोंका होता है, उदाहरण [जैसे]—

जिसके समीपमें [उसकी] प्रियतमा नहीं है, उसके लिए [तुहिनदीधिति अर्थात्] चन्द्रमा दावानल [के समान सन्ताप-दायक] है । और जिसके समीपमें [उसकी] प्रियतमा विद्यमान है, उसके लिए दावानल भी चन्द्रमा [के समान शीतल और आनन्ददायक हो जाता] है ॥३५७॥

यहाँ अनेक पदोंकी आवृत्ति है । पूर्वार्द्धमें 'तुहिनदीधिति'में 'दवदहनत्व' विधेय है, और उत्तरार्द्धमें 'दवदहन'में 'तुहिनदीधितत्व' विधेय है । इसलिए उद्देश-विधेयभावमें भेद होनेसे तात्पर्य-मात्रका भेद हो जाता है । अतः यह लाटानुप्रासका उदाहरण है ।

[सूत्र ११४]—वह [लाटानुप्रास बहुत पदोंकी आवृत्ति होनेपर ही ऐसा नहीं है । अपितु] एक पदका भी होता है ।

'अपि शब्दसे [पूर्व सूत्रके आये हुए] 'सः'का संग्रह होता है ।

जैसे—

वदनं वरवर्णिन्यास्तस्याः सत्यं सुधाकरः ।
सुधाकरः क्व नु पुनः कलङ्कविकलो भवेत् ॥ ३५८॥

[सूत्र ११५] **-वृत्तावन्यत्र तत्र वा ।**

नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च ।

एकस्मिन् समासे, भिन्ने वा समासे, समासासमासयोर्वा, नाम्नः प्रातिपदिकस्य न तु पदस्य सारूप्यम् । उदाहरणम्—

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार ! धरणिधर ! कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला साऽपि तवैवास्ति नान्यस्य ॥३५९॥

उस वरवर्णिनीका [वरवर्णिनीका लक्षण पृ० ३८७ पर किया जा चुका है] मुख सचमुच चन्द्रमा है। अथवा [वह चन्द्रमा नहीं, अपितु चन्द्रमासे भी अधिक सुन्दर है क्योंकि सुधाकर] चन्द्रमा कलंकसे रहित कहाँ हो सकता है ?

यहाँ केवल एक 'सुधाकर' पदकी आवृत्ति होनेपर भी लाटानुप्रास है। प्रथम सुधाकर पद विधेय है, और द्वितीय सुधाकर पद उद्देश-पद है, इसलिए तात्पर्य-भेद माना जाता है।

[सूत्र ११५]—अन्य समासमें [अन्यत्र वृत्तौ] अथवा उसी समासमें, अथवा [एकके] समास और [दूसरेके] असमासमें 'नाम' अर्थात् प्रातिपदिकके [आवृत्त] होनेपर भी वह [लाटानुप्रास] होता है।

इसके पूर्व दो सूत्रोंमें अनेक पदोंकी आवृत्ति होनेपर, और एक पदकी आवृत्ति होनेपर दो प्रकारका लाटानुप्रास दिखलाया था। सुबन्त या तिङन्तकी पदसंज्ञा होनेसे सुबादि विभक्तियोंसे युक्त प्रातिपदिक पद कहलाता है। केवल पदोंकी आवृत्ति होनेपर ही नहीं अपितु प्रातिपदिककी आवृत्ति होनेपर भी लाटानुप्रास हो सकता है यह दिखलानेके लिए यह सूत्र लिखा है। साधारणतः केवल प्रातिपदिकका प्रयोग नहीं होता है। इसलिए प्रातिपदिककी आवृत्तिमें लाटानुप्रास कैसे हो सकता है ? इस शंकाके समाधानके लिए कहा है, कि इस प्रकारकी स्थिति समासमें हो सकती है। समासमें विभक्तिका लोप हो जानेसे प्रातिपदिकमात्रकी आवृत्ति हो सकती है। यह भी तीन रूपमें हो सकती है। एक तो उसी समस्त-पदमें आवृत्ति हो। दूसरी स्थितिमें एक पद एक समासमें आया हो और आवृत्त प्रातिपदिक दूसरे समासमें आया हो। और तीसरी दशामें एक प्रातिपदिक समासगत हो, और दूसरा प्रातिपदिक समासगत न हो। इन्हीं तीनों प्रकारोंको वृत्तिग्रन्थमें स्पष्ट करते हैं—

(१) एक समासमें, अथवा (२) भिन्न समासोंमें, अथवा (३) समास और असमासमें 'नाम' अर्थात् प्रातिपदिककी, [सुबन्त] पदकी ही नहीं, आवृत्ति [होनेपर भी 'लाटानुप्रास होता' है] जैसे—

इस उदाहरणका अर्थ सप्तम उल्लासमें उदाहरण संख्या ३१५ पर दिया जा चुका है। वहीं देखें ॥३५९॥

यहाँ 'कर' इस प्रातिपदिककी (१) एक ही समासमें 'कर'-'कर' रूपमें, (२)'विभा' इस प्रातिपदिककी विभा-विभा रूपमें दो भिन्न समासोंमें और (३) 'कमला' इस प्रातिपदिककी पहिली बार समास तथा दूसरी बार असमास अर्थात् स्वतंत्रपदके रूपमें आवृत्ति हुई है। अतः यही श्लोक तीनों भेदोंका उदाहरण है।

[सूत्र ११६]- **तदेवं पञ्चधा मतः ॥८२॥**

[सूत्र ११७]-**अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ॥**

यमकम्

'समरसम-रसोऽयम्'इत्यादावेकेषामर्थवत्त्वेऽन्येषामनर्थकत्वे भिन्नार्थानामिति न युज्यते वक्तुम्, इति 'अर्थे सति'इत्युक्तम् । सेति 'सरो रस' इत्यादिवैलक्षण्येन । तेनैव क्रमेण स्थिता ।

[सूत्र ११८]-**पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ॥८३॥**

[सूत्र ११६]—इस प्रकार [लाटानुप्रास] पाँच प्रकारका माना जाता है ।८२।

यहाँतक वक्रोक्ति तथा अनुप्रास इन दो शब्दालंकारोंका निरूपण किया गया । अब आगे तीसरे शब्दालंकार यमकका निरूपण करते हैं ।

३ यमक—

लाटानुप्रासमें पदोंकी आवृत्ति होती है और उन आवृत्त पदोंमें पद या प्रातिपदिकका अर्थ-भेद नहीं, केवल तात्पर्यमात्रमें भेद होता है । यमकमें वर्णोंकी आवृत्ति होती है । वे आवृत्त वर्ण यदि सार्थक हों तो उनके अर्थका भेद होना आवश्यक है । अन्यथा कहीं एक सार्थक दूसरा अनर्थक भी हो सकता है । परन्तु जहाँ दोनों भाग सार्थक हों वहाँ उनका भिन्नार्थकत्व अनिवार्य है । यही लाटानुप्राससे यमकका भेद है । इसी बातको यमकके लक्षणमें दिखलाते हैं—

[सूत्र ११७]-अर्थ होनेपर [नियमेन] भिन्नार्थक वर्णोंकी उसी क्रमसे [सा] पुनः श्रवण [पुनरावृत्ति] यमक [नामक शब्दालङ्कार कहलाता] है ।

यहाँ लक्षणमें 'अर्थे सति अर्थभिन्नानां' यह कहा गया है । केवल 'भिन्नार्थानां' यह नहीं कहा गया है । इसका कारण यह है, कि यदि 'भिन्नार्थानां' यह कहा जाता, तो आवृत्त पदका दोनों स्थलों-पर सार्थक होना आवश्यक हो जाता । क्योंकि दोनोंके सार्थक होनेपर ही एकार्थकता या भिन्नार्थकता हो सकती है । यमक-स्थलमें यह आवश्यक नहीं कि आवृत्त वर्ण दोनों स्थलोंपर सार्थक ही हों । इसलिए लक्षणमें केवल 'भिन्नार्थानां' न लिखकर "अर्थे सति अर्थभिन्नानां" यह रखा गया है । यही बात वृत्तिभागमें स्पष्ट करते हैं—

यह [राजा] समर-समरस [युद्धमें एकरस] है, इत्यादिमें पहिले बारके [समर इन वर्णोंके] सार्थक और दूसरे बारके [सम-रसको मिलाकर बने सम-रके] अनर्थक होनेसे 'भिन्नार्थानां' यह नहीं कहा जा सकता है, इसलिए [यमकके लक्षणमें] "अर्थे सति" यह कहा गया है । [सा अर्थात्] उसी रूपमें [उसी क्रमसे आवृत्ति] इससे 'सरो रसः' इस [भिन्न क्रमसे की गयी आवृत्तिमें यमक नहीं होता है । इसलिए इस]से भिन्नरूपसे, अर्थात् उसी क्रमसे स्थित [वर्णोंकी आवृत्ति यमकमें होनी चाहिये] ।

[सूत्र ११८]-पद और उसके एकदेश [भाग] आदिमें रहनेसे वह [यमक] अनेक प्रकारका हो जाता है [अर्थात् यमकके अनेक भेद बन जाते हैं] ।८३।

पादका अर्थ श्लोकका चतुर्थ भाग या चरण होता है । उसकी आवृत्तिके नौ भेद तथा श्लोकार्धकी आवृत्ति एवं सम्पूर्ण श्लोककी आवृत्ति ये दो भेद मिलाकर पादावृत्तिरूप यमकके ११ भेद हो जाते हैं । 'यमक'के इन ग्यारहों भेदोंको निम्नलिखित प्रकार प्रदर्शित करते हैं ।

प्रथमो द्वितीयादौ, द्वितीयस्तृतीयादौ, तृतीयश्चतुर्थे, प्रथमस्त्रिष्वपीति सप्त। प्रथमो द्वितीये तृतीयश्चतुर्थे, प्रथमश्चतुर्थे द्वितीयस्तृतीये इति द्वे। तदेवं पादजं नवभेदम्। अर्धावृत्तिः श्लोकावृत्तिश्चेति द्वे।

प्रथम पाद द्वितीय आदि अर्थात् द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ चरणमें आवृत्त हो सकता है। इस प्रकार तीन भेद हो जाते हैं। प्रथम पाद द्वितीयपादके स्थानपर आवृत्त होनेपर, (१) 'मुख' नामक यमक होता है। उसीके तृतीय पादके स्थानपर आवृत्त होनेपर (२) 'सन्दंश' नामक यमक होता है और उसी प्रथमपादके चतुर्थ पादके स्थानपर आवृत्त होनेपर (३) 'आवृत्ति' नामक यमक-भेद होता है।

द्वितीय पाद तृतीय आदि, अर्थात् तृतीय तथा चतुर्थ पादके स्थानमें आवृत्त हो सकता है। उससे दो भेद बनते हैं। द्वितीय पाद यदि तृतीयके स्थानमें आवृत्त होता है, तो (४) 'गर्भ' नामक यमक होता है। और वही द्वितीय पाद जब चतुर्थ पादके स्थानपर आवृत्त होता है तब (५) 'सन्दष्ट' नामक यमक होता है।

तृतीय पाद चतुर्थ पादके स्थानमें आवृत्त होनेपर (६) 'पुच्छ' नामक यमकका छठा भेद बनता है।

प्रथम पाद द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ तीनों स्थानोंमें आवृत्त होता है, तो (७) 'पंक्ति' नामक सप्तम यमक-भेद बनता है।

प्रथम पाद द्वितीयके स्थानमें और तृतीय पाद चतुर्थके स्थानमें आवृत्त होनेपर (८) 'युग्मक' नामक अष्टम यमक-भेद बनता है।

प्रथम पाद चतुर्थ स्थानमें और द्वितीय पाद तृतीय स्थानमें आवृत्त होनेपर (९) 'परिवृत्ति' नामक-नवम यमक-भेद बनता है। ये दो-दो-पादोंकी आवृत्ति मिलाकर एक-एक भेद बनता है।

इस प्रकार पादकी आवृत्तिसे होनेवाले नौ भेद होते हैं। और श्लोकार्धकी आवृत्ति तथा सम्पूर्ण श्लोककी आवृत्ति ये दो भेद और मिलाकर पादगत या पादावृत्तिरूप यमकके ११ भेद हो जाते हैं। इन्हीं को ग्रन्थकार आगे दिखलाते हैं—

प्रथम पाद द्वितीयादि [अर्थात् द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ पादों] के स्थानपर, द्वितीय [पाद] तृतीयादि [अर्थात् तृतीय तथा चतुर्थ पादों]के स्थानपर, और तृतीय [पाद] चतुर्थ स्थानपर [आवृत्त हो सकता है] इस प्रकार सात भेद बनते हैं। प्रथम [पाद] द्वितीयके स्थानपर तथा तृतीय [पाद] चतुर्थके स्थानपर या प्रथम [पाद] चतुर्थके स्थानपर और द्वितीय [पाद] तृतीय स्थानपर [आवृत्त] होनेपर इस प्रकार दो [भेद बनते हैं]। इस प्रकार पाद [की आवृत्ति] से उत्पन्न नौ भेद होते हैं। अर्धावृत्ति तथा [सम्पूर्ण] श्लोककी आवृत्ति ये दो भेद [कुल मिलाकर ११ भेद] हो जाते हैं।

पादकी आवृत्तिके समान पादके भागोंकी आवृत्ति होनेपर भी यमक होता है। पादावृत्तिगत यमकके ११ भेद बतलाये हैं। इनमेंसे श्लोकावृत्तिरूप ग्यारहवें भेद को पादभागवृत्तिमें नहीं माना जाता है। इसलिए उसमें ११के स्थानपर १० भेद ही रह जाते हैं। अब यदि पादको दो भागोंमें बाँटा जाय, तो 'पादभागावृत्ति'के २० भेद बन जायँगे। यदि पादको तीन भागोंमें बाँटा जाय तो पादभागावृत्तिके ३० भेद बन जायँगे और उसको चार भागोंमें विभक्त किया जाय तो पादभागावृत्तिरूप यमकके ४० भेद हो जायँगे। इसी बातको आगे कहते हैं।

द्विधा विभक्ते पादे प्रथमादिपादादिभागः पूर्ववत् द्वितीयादिपादादिभागेषु, अन्तभागो ऽन्तभागेष्विति विंशतिर्भेदाः । श्लोकान्तरे हि नासौ भागावृत्तिः । त्रिखण्डे त्रिंशत् । चतुःखण्डे चत्वारिंशत् ।

प्रथमपादादिगतान्त्यार्धादिभागो द्वितीयपादादिगते आद्यार्धादिभागे यम्यते इत्याद्यन्वर्थतानुसरणेनानेकभेदम् । अन्तादिकम् आद्यन्तिकम् तत्समुच्चयः, मध्यादिकं, आदिमध्यं, अन्तमध्यं मध्यान्तिकं तेषां समुच्चयः । तथा तस्मिन्नेव पादे आद्यादिभागानां मध्यादिभागेषु, अनियते च स्थाने आवृत्तिरिति प्रभूततमभेदम् । तदेतत्काव्यान्तर्गडुभूतम् इति नास्य भेदलक्षणं कृतम् । दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

पादके दो भाग करनेपर प्रथम आदि पादभाग पहिलेके समान द्वितीय पादादि भागों [के स्थान] में और [प्रथम आदि पादोंके उन दो-दो विभागोंमेंसे] अन्तिम भाग, अन्तिम भागों [के स्थान] में [आवृत्त हो सकते हैं] इस प्रकार [पादके दो भागोंमें विभक्त करनेपर पादभागात्मक यमकके] बीस भेद होते हैं। [क्योंकि श्लोकावृत्तिरूप] दूसरे श्लोकमें, भागावृत्ति [रूप भेद] नहीं होता है। [इसलिए पादावृत्तिके ११ भेदोंके स्थानपर पादभागावृत्तिमें १० ही भेद रह जाते हैं। अतः पादके दो भागोंमें विभक्त होनेपर पादभागावृत्तिरूप यमकके बीस ही भेद होते हैं। इसी प्रकार पादके] तीन खण्ड करनेपर तीस, और चार खण्ड करनेपर चालीस भेद [पादभागावृत्तिरूप यमकके होते हैं]।

इस प्रकार पादवृत्ति या पादाभागावृत्तिके जो भेद यहाँतक दिखलाये गये हैं, उनमें प्रथम पादके आदि भागकी द्वितीय पादके आदि भागके स्थानपर और अन्तिम भागकी अन्तिम भागके स्थानपर आवृत्ति दिखलायी है। इसलिए वे सजातीय भागावृत्तिके उदाहरण हुए। आगे विजातीय भागावृत्तिको दिखलाते हैं।

प्रथम पादादिगत अन्तिम अर्धादि भाग, द्वितीय पदादिगत आद्यार्धभाग [के स्थान] में आवृत्त [नियमित] हो सकता है, इसलिए [उस दशामें] सार्थकताके अनुसार अन्तादि [नामक यमक या प्रथम पादका आदि अर्ध भाग यदि द्वितीयपादके अन्तिम अर्ध भागके स्थानपर आवृत्त होता है तो] आद्यान्तिक और [प्रथम पादके आदि और अन्तार्ध भाग यदि द्वितीय पादके अन्त और आदि अर्ध भागके स्थानपर आवृत्त होते हैं तो] उन दोनोंका समुच्चय आदि [पादभागावृत्तिरूप यमकके] अनेक भेद हो सकते हैं। और उसी पादमें [भी] प्रारम्भिकादि भाग, मध्यादि भागोंके स्थानोंमें अथवा अनियत स्थानोंमें आवृत्त हो सकते हैं, इसलिए [पादभागावृत्तिरूप यमकके] प्रचुर भेद हो सकते हैं। किन्तु वे सब काव्यके रसास्वादमें बाधक हैं। [गडु ग्रन्थि। जैसे गन्ने की गाँठ आ जानेपर उसके रसास्वादमें बाधा पड़ती है, इसी प्रकार यमकके पादभागावृत्तिरूप ये सब भेद काव्यके अन्तर्गत गडु या ग्रन्थिके समान रसप्रतीतिके व्यवधायक हैं] इसलिए उन भेदोंके लक्षण नहीं किये हैं। दिङ्मात्र [कुछ थोड़ेसे] उदाहरण देते हैं—

(१) सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम् ।
सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ॥३६०॥

(२) विनायमेनो नयताऽसुखादिना विना यमेनोनयता सुखादिना ॥
महाजनोऽदीयत मानसादरं महाजनोदी यतमानसादरम् ॥३६१॥

---

१. सन्दंशयमक—

सबसे पहिले पादावृत्तिमें प्रथमपादकी तृतीयपादके स्थानपर आवृत्ति होनेपर 'सन्दंश' नामक यमकका उदाहरण देते हैं। यह श्लोक रुद्रटके काव्यालंकारमें आया है। इसमें 'सन्नारी भरणोमाय' यह प्रथम चरण तृतीयपादके स्थानपर आवृत्त हुआ है। श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

सती नारियोंका भरण करनेवाली [अथवा आभरणरूपिणी] जो उमा अर्थात् पार्वती उसको प्राप्त करनेवाले [उमां याति अयते वा इति उमायः] विधुशेखर शिवकी आराधना करके [सन्नाः विनाशिताः अरीणां इभा गजाः यत्र तादृशः रणो युद्धं यस्य सः सन्नारीभरणः] शत्रुओंके हाथियोंका विनाश करनेवाले युद्धके प्रवर्त्तक होकर उस [शिवकी आराधना] से [अमायः] छल-कपटरहित आप पृथिवीका विजय करें ॥३६०॥

२. युग्मयमक—

दो पादोंकी आवृत्तिमें प्रथमपादके द्वितीय पादके स्थानपर तथा तृतीयपादके चतुर्थ पादके स्थानमें आवृत्तिरूप 'युग्म' नामक यमकका दूसरा उदाहरण देते हैं। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

[अयं] यह [विश्वासौ ना इति विना अर्थात् पक्षीरूप पुरुष अर्थात्] हंस नामक जीवात्मा [किस प्रकारका आत्मा उसके विशेषण देते हैं] 'महाजनः' अर्थात् महात्मा और ['महाजनोदी' (१) महान् उत्सवान् अजन्ति गच्छतीति महाजाः सज्जनाः तान् नोदयति प्रेरयतीति महाजनोदी, अथवा (२) महान् उत्सवान् अजन्ति क्षिपन्ति विनाशयन्तीति महाजाः 'दुर्जनाः'। तान् नोदितु दूरीकर्त्तुं शीलमस्य इति महाजनोदी] (१) उत्तम अवसरोंपर शुभ कर्मोंमें सम्मिलित होनेवाले धर्मात्मा लोगोंको प्रेरणा देनेवाले, अथवा (२) शुभ कर्मोंमें विघ्न डालनेवाले दुष्टोंका विनाश करनेवाले [हंस नामक जीवात्मा] को [एना विना] बिना अपराधके [नयता] अपने स्थान यमलोकको ले जानेवाले [असु-खादिना] प्राणोंका भक्षण [नाश] करनेवाले और [सुखादिना ऊनयता] सुखादिसे रहित करनेवाले यमराजने मानस [अर्थात् चित्तरूप या हृदयरूप मानसरोवर] से प्राणरक्षणके लिए [यतमान] यत्न करनेवालोंको [साद अर्थात् अवसाद दुःखको राति ददाति तत् यथा स्यात्तथा] दुःख देकर [अरं अर्थात् शीघ्रं अदीयत अखण्डयत्] अलग कर दिया [यमराजने जीवात्माको शरीर या हृदयसे पृथक् कर दिया। "अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमोबलात्"] ॥३६१॥

३. महायमक—

श्लोकाभ्यासरूप 'महायमक'का उदाहरण देते हैं। ३६२ वाँ श्लोक, ३६३ वें श्लोकके रूपमें ज्योंका त्यों आवृत्त हुआ है। इसलिए यह श्लोकावृत्तिरूप 'महायमक'का उदाहरण है। ये दोनों श्लोक इसी रूपमें रुद्रटके काव्यालङ्कारमें दिये हैं। इन दोनों श्लोकोंका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

(३) स त्वारम्भरतोऽवश्यमबलं विततारवम् ।
सर्वदा रणमानैषीदवानलसमस्थितः ॥३६२॥
सत्त्वारम्भरतोऽवश्यमवलम्बिततारवम् ।
सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः ॥३६३॥

(४) अनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा न वेद याम् ।
या च मातेव भजते प्रणते मानवे दयाम् ॥३६४॥

[ए विष्णौ स्थितः = अ-स्थितः] विष्णुभक्त [सः] वह [प्रकरणगत] राजा [अबलं] शक्तिहीन और [विततारवं] हा-हाकार करनेवाले [अरीणां समूहं आरं] शत्रुसमूहको [अलसं अ-वान्] आलस्यपूर्वक धीरे-धीरे न चलता हुआ अर्थात् वेगसे गति करता हुआ सर्वदा [भरतः बलात् रणं अवश्यं अनैषीत्] युद्धक्षेत्रोंमें हटात् अवश्य खींच ले जाता था—शत्रुओंको युद्धके लिए बाधित कर देता था ॥३६२॥

[दूसरे श्लोकमें उसी बातका वर्णन है] सात्त्विक व्यापारोंमें रत [१ सत्त्वारम्भरतः] सब [शत्रुओं] के दारण [विदारण-विनाश] में जो मान-सम्मान उसको चाहनेवाला [२ सर्वदारण+मान+एषी] और [शत्रुओंके लिए] ३ दावानलके समान स्थित [सः] वह राजा [४ अवलम्बित तारवम् अर्थात्] तरुओंका सहारा लेनेवाले वनोंमें भटकनेवाले अथवा तारवं—तरुत्वचा अर्थात् वल्कल वस्त्रोंको धारण करनेवाले—अथवा तरुओंके समान नम्रभावको धारण करनेवाले [आरं] अरिसमूहको युद्धमें जाने, [युद्ध करने अथवा अपने सामने सिर झुकाने]के लिए [अ-वश्यं] विवश कर देता था ॥३६३॥

इन दोनों श्लोकोंमें राजाका वर्णन है, उन दोनोंका स्वरूप अर्थात् शब्दविन्यास एक-सा ही है, परन्तु अर्थका भेद है। अतः यह श्लोकावृत्तिरूप 'महायमक'का उदाहरण है।

४. पादभागावृत्ति 'सन्दष्टक' यमक—

यहाँतक पादावृत्ति और श्लोकावृत्तिके उदाहरण दिये थे। अब आगे पादभागकी आवृत्तिके उदाहरण देते हैं। उनमें पहिले पादके दो खण्ड करके द्वितीय पादके अन्तिम अर्ध भागकी चतुर्थ पादके अन्तिम अर्ध भागके स्थानपर आवृत्तिरूप 'सन्दष्टक' नामक यमकका उदाहरण देते हैं। यह श्लोक आनन्दवर्धनाचार्य प्रणीत 'देवीशतक'का प्रथम पद्य है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

अपनी अनन्त महिमासे समस्त विश्वको व्याप्त करनेवाली जिस [देवी-दुर्गा] को ब्रह्मा भी [पूर्णतः] नहीं जानते हैं और जो [प्रणते मानवे] भक्तजनोंपर माताके समान दया करती है [उस माताकी चरण-रज हमारी इष्टसिद्धि करानेवाली हो, यह वहींके पंचम श्लोकके 'तस्याः सिद्ध्यै धियां मातुः कल्पन्तां पदरेणवः' इस अंशके साथ अन्वय होता है ॥३६४॥

५. आद्यान्तिक यमक—

अगला उदाहरण एक ही पादकी भागावृत्तिमें आदिभागके अन्तभागके स्थानपर आवृत्तिरूप 'आद्यान्तिक' नामक यमकका उदाहरण है। यह श्लोक भी आनन्दवर्धनप्रणीत उक्त 'देवीशतक'से ही लिया गया है। यह 'देवीशतक'का ४९ वाँ श्लोक है। इसका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

(५) यदानतोऽयदानतो नयात्ययं न यात्ययम् ।
शिवेहितां शिवे हितां स्मरामितां स्मरामि ताम् ॥३६५॥

(६) सरस्वति ! प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति !
सर स्वति ! कुरु क्षेत्र–कुरुक्षेत्र–सरस्वति ! ॥३६६॥

(७) ससार साकं दर्पेण कन्दर्पेण ससारसा ।
शरन्नवाना बिभ्राणा नाविभ्राणा शरन्नवा ॥३६७॥

['यदानतः'] जिस [पार्वती] का [आनतः अयं जनः] यह भक्तजन, सदाचार-मार्गका उल्लङ्घन [नयस्य नीतिमार्गस्य अत्ययं उल्लंघनं न याति] नहीं करता है, [शिवके प्रति] अमित स्नेहसे पूर्ण [स्मरेण कामेन स्नेहेन अमितां], कल्याण-कारिणी [शिवे कल्याणे हितां अनुकूलां] और [अयस्य शुभावहविधेर्दानतः 'अयदानतः' अर्थात्] विवाहविधिके द्वारा [शिवेन ईहितां] शिवकी प्रियतमा बनायी गयी हुई उस [पार्वती]को मैं स्मरण करता हूँ [पार्वतीका ध्यान करता हूँ] ॥३६५॥

६. केवल उत्तरार्धमें समुच्चय—

अगला उदाहरण भी आनन्दवर्धनाचार्यके 'देवीशतक'से लिया गया है। यह 'देवीशतक'का ५० वाँ श्लोक है। इसके पूर्वार्द्धमें प्रथम पादका आदि-भाग 'सरस्वति' शब्द द्वितीय पादके अन्तमें आवृत्त हुआ है। इसलिए यह 'आद्यान्तिक' यमकका उदाहरण है। श्लोकके उत्तरार्द्धमें तृतीय चरणका आदि भाग 'सरस्वति' चतुर्थ चरणके अन्तमें आवृत्त हुआ है और तृतीय चरणका अन्तिम भाग 'कुरु-क्षेत्र' चतुर्थ चरणके आरम्भमें आवृत्त हुआ है। इसलिए इसमें आद्यान्तिक-यमक तथा अन्तादिक-यमक दोनोंका सन्निवेश है। अतः यह केवल उत्तरार्ध भागमें आद्यान्तिक+अन्तादिक दोनोंके समुच्चयका उदाहरण है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

[हे क्षेत्र-कुरुक्षेत्र-सरस्वति] हे शरीररूप [कुरुक्षेत्र] पुण्यभूमिकी सरस्वति ! [क्षेत्रं शरीरं एवं कुरुक्षेत्रं पुण्यक्षेत्रविशेषः तत्र सरस्वति सरस्वत्याख्या नदीरूपे हे सरस्वति] कृपा करो—प्रसन्न होओ [प्रसादं सर] और मेरे चित्तरूप [सरस्वान्] सागरमें ['चित्तसरस्वति' यह सरस्वान् शब्दका सप्तमीके एकवचनका रूप है] अत्यन्त भले प्रकारसे [सुष्ठु अतिशयेन स्वति स्थितिं कुरु] स्थित होओ ॥३६६॥

७. पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध, दोनोंमें समुच्चय—

अगला उदाहरण रुद्रटके काव्यालंकारसे लिया गया है। यह भी पादभागावृत्तिका उदाहरण है। इसमें पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्ध, दोनोंमें आद्यान्तिक और अन्तादिकयमकका समुच्चय है। पूर्वार्धमें प्रथम पादके आद्यार्ध भाग 'ससारसा'की द्वितीय पादके अन्तमें आवृत्ति होनेसे 'आद्यन्तिक' यमक है। और प्रथम पादके अन्तिम अर्धभाग 'कन्दर्पेण'की द्वितीय पादके आदिमें आवृत्ति होनेसे 'अन्तादिक' यमक है। इसी प्रकार उत्तरार्द्धमें तृतीय चरणके आद्यार्ध भाग 'शरन्नवा'की चतुर्थ पादके अन्तमें आवृत्ति होनेसे 'अन्तादिक' यमक है। इस प्रकार श्लोकके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध, दोनोंमें आद्यान्तिक-यमक तथा अन्तादिकयमकका समुच्चय है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

[वीनां पक्षिणां भ्राणं शब्दः यस्यां सा 'विभ्राणा' पक्षिशब्दयुक्ता, न विभ्राणा अविभ्राणा पक्षिशब्दरहिता, न अविभ्राणा नाविभ्राणा पक्षिकोलाहलयुक्ता] पक्षियोंके

मधुपराजिपराजित—मानिनीजनमनःसुमनःसुरभि श्रियम् ।
अभृत वारितवारिजविप्लवं स्फुटितताम्रतताम्रवणं जगत् ॥३६८॥

एवं वैचित्र्यसहस्रैः स्थितमन्यदुन्नेयम् ।

[सूत्र ११९]—वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः, श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥८४॥

कोलाहलसे युक्त [नवं अनं शकटं शकटमार्गो वा यस्यां सा नवाना] शकटादिके [यातायातके लिए] नवीन [वर्षाके बाद पुनः व्यवहारयोग्य हुए] मार्गोंसे युक्त, काश पुष्पोंको धारण करती हुई [शरं काशं बिभ्राणा], सारसों अथवा कमलोंसे युक्त, [सारसं पक्षीभेदोन्दोः क्लीवन्तु सरसीरुहे] नवीन शरद्तु [कं ब्रह्माणमपि दर्पयति तत्रापि कामवेगमुत्पादयति इति कन्दर्पः कामः 'कन्दर्पेण साकं ससार'] कामदेवके साथ सगर्व अवतीर्ण हुई ॥३६७॥

८. अनियतपादभागावृत्तियमक—

अगला श्लोक रत्नाकर-कवि-विरचित 'हरविजय' नामक काव्यके तृतीय सर्गमें किये वसन्त-वर्णनके प्रसङ्गसे लिया गया है। यहाँ अनियत स्थानमें होनेवाली पादभागावृत्तिसे जन्य यमक पाया जाता है। प्रदीपकारने इसे चार खण्डवाले पादके द्वितीय भागके स्थानपर आवृत्तिका उदाहरण माना है। अनियत-स्थान वृत्तियमकका नहीं, परन्तु उनका यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि यह श्लोक बारह अक्षरोंके पादवाले द्रुतविलम्बित छन्दमें बना है। इसके पादके यदि चार भाग किये जायँ तो प्रत्येक भाग तीन-तीन वर्णोंका होता है। श्लोकमें यद्यपि पराजि-पराजि, मनःसु-मनःसु, आदि तीन-तीन वर्णोंकी आवृत्ति है, परन्तु वह प्रथम चतुर्थ भागकी द्वितीय चतुर्थ भागके स्थानपर आवृत्ति नहीं है। क्योंकि प्रथम चतुर्थ भाग 'मधुप' होता है 'पराजि' नहीं। इसलिए प्रदीपकारका कथन ठीक नहीं है। इसे अनियतस्थानवृत्तियमकका उदाहरण ही मानना चाहिये। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

भ्रमरपंक्तियों द्वारा मानिनी स्त्रियोंके धैर्यको च्युत करनेवाले पुष्पोंकी सुगन्धसे युक्त, [हिमपातके समाप्त हो जानेके कारण] कमलोंके विनाशसे रहित, खिले हुए लाल-लाल [पत्तोंवाले] और विस्तीर्ण आमके वनोंसे युक्त जगत्ने [वसन्तकालमें अभिनव मनोहारिणी] सुन्दरताको धारण किया ॥३६८॥

इस प्रकार सहस्रों प्रकारके वैचित्र्यसे युक्त [यमकके] अन्य उदाहरण स्वयं समझ लेने चाहिये।

४. श्लेष—

इस प्रकार यमकका निरूपण करनेके बाद श्लेषरूप शब्दालङ्कारका निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

[सूत्र ११९]—अर्थका भेद होनेसे ['प्रत्यर्थं शब्दाः भिद्यन्ते' इस सिद्धान्तके अनुसार अथवा 'सकृत्प्रयुक्तः शब्दः सकृदेव अर्थं गमयति' इस सिद्धान्तके अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थोंके बोधक समानाकार] भिन्न-भिन्न शब्द [समानानुपूर्वीक-समानाकार होनेसे] एक साथ उच्चारण [रूप दोष घटित सामग्री] के कारण [जतुकाष्ठन्यायसे] जब [परस्पर] मिल [कर एक हो] जाते हैं, तब वह श्लेष [रूप शब्दालङ्कार] होता है और वह अक्षर आदि [के श्लेष] के भेदसे आठ प्रकारका होता है ॥८५॥

'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति दर्शने 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति च नये वाच्य-भेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः। स च वर्ण–पद–लिङ्ग–भाषा–प्रकृति–प्रत्यय-विभक्ति–वचनानां भेदादष्टधा।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१) अलङ्कारः शङ्काकरनरकपालं परिजनो
विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको बहुवयाः।
अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो-
र्विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी ॥३६९॥

इसका अभिप्राय यह है कि साधारणतः 'सकृत्प्रयुक्तः शब्दः सकृदेव अर्थं गमयति' अर्थात् एक बार प्रयुक्त किया हुआ शब्द एक ही अर्थका बोधन कराता है, इसलिए किसी भी एक शब्दसे दो अर्थोंका बोध नहीं हो सकता है। जहाँ दो अर्थोंका बोध कराना अभीष्ट हो, वहाँ 'प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते' इस सिद्धान्तके अनुसार अलग-अलग शब्दोंका प्रयोग अनिवार्य होता है। परन्तु कहीं-कहीं दो भिन्न अर्थोंका बोध करानेवाले शब्द समानाकार एक-से वर्णविन्यासवाले या समानानुपूर्वीक पड़ जाते हैं। ऐसी दशामें उन समानाकार दो पदोंको वक्ता दो बार उच्चारण नहीं करता है। इसलिए वहाँ एक ही शब्दका प्रयोग प्रतीत होता है, परन्तु अर्थविचारकी दृष्टिसे वहाँ दो भिन्न अर्थोंके बोधक दोनों शब्द जतु-काष्ठ-न्यायसे मिलकर या चिपक कर एक हो गये हैं। जैसे, लाख और लकड़ी दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं, परन्तु कभी-कभी लाख लकड़ीके साथ चिपक कर एक हो जाती है। इसी प्रकार दो समानाकार शब्द एक बार उच्चारण किये जानेके कारण जहाँ एक शब्दके रूपमें प्रतीत होते हैं, वहाँ शब्दोंका श्लेष होनेसे उसको श्लेष नामक शब्दालङ्कार कहा जाता है। इसी बातको कहते हैं—

अर्थके भेदके कारण शब्दोंका भेद होता है [अर्थात् 'प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते', प्रत्येक अर्थके बोधके लिए अलग-अलग शब्दका प्रयोग किया जाता है] इस सिद्धान्तके अनुसार और 'काव्यमार्गमें स्वरका विचार नहीं किया जाता है' [अर्थात् उदात्त अनुदात्त आदि स्वरोंके भेदके आधारपर शब्दोंके भेद माननेका विचार केवल वैदिक प्रयोगोंमें ही किया जाता है, काव्यमें नहीं] इस नियमके अनुसार अर्थ-भेदके कारण भिन्न होनेपर भी [समानानुपूर्वीक, समानाकार] शब्द जब एक साथ उच्चारणके कारण [परस्पर] जुड़ जाते हैं, अर्थात् अपने भिन्न-भिन्न स्वरूपको छोड़ देते हैं, तब वह श्लेष [नामक शब्दालङ्कार] कहलाता है। और वह (१) वर्णश्लेष, (२) पदश्लेष, (३) लिङ्ग-श्लेष, (४) भाषाश्लेष, (५) प्रकृतिश्लेष, (६) प्रत्ययश्लेष, (७) विभक्तिश्लेष और (८) वचनश्लेष भेदसे आठ प्रकारका होता है। क्रमशः उदाहरण [निम्नलिखित प्रकार हैं]

(१) वर्णश्लेष—

[देखनेवालेके हृदयमें] भयका संचार करनेवाली, मनुष्योंकी खोपड़ी [की हड्डी] उनका अलङ्कार है। गलित अङ्गोंवाला भृङ्गी [नामक शिवजीका एक विशेष गण] उनका सेवक है और एक अत्यन्त बूढ़ा बैल उनकी सम्पत्ति है। समस्त देवताओंके मान्य गुरु शिवजीकी भी टेढ़े चन्द्रमा [या भाग्य]के मस्तकपर स्थित होनेपर जब यह दुरवस्था है, तब [क्षुद्र कीटसदृश अत्यन्त तुच्छ] हमारी तो गिनती ही क्या है।३७०।

(२) पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ! ।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥३७०॥

यह श्लोक वर्णश्लेषका उदाहरण है। इसमें 'विधौ' पदमें वर्ण-श्लेष है। 'विधि' और 'विधु' दो अलग-अलग शब्द हैं, विधिका अर्थ भाग्य और विधुका अर्थ चन्द्रमा है। इन दोनों शब्दोंका सप्तमीके एक वचनमें 'विधौ' यह समानाकार एक ही रूप बनता है। केवल इकार और उकार वर्णोंके भेदसे अर्थ भेद होता है, इसलिए यह वर्णश्लेषका उदाहरण है। भाग्यके विपरीत होने-पर बड़ेसे बड़े व्यक्तिकी दुरवस्था हो जाती है, साधारण पुरुषोंकी बात ही क्या, इस बातको कवि शिवजीके उदाहरण द्वारा प्रतिपादन कर रहा है। शिवजीके मस्तकपर चन्द्रकी टेढ़ी कला स्थित है, इसलिए वक्र-विधु अर्थात् वक्र-विधिके मस्तकपर स्थित होनेके कारण उनकी यह दुरवस्था है।

(२) पदश्लेष—

कोई याचक किसी राजाके सामने कह रहा है कि इस समय मेरा और आपका घर एक-समान अवस्थामें है। दोनोंके घरकी समता वह तीन श्लिष्ट पदों द्वारा दिखला रहा है। इसमें 'पृथुकार्त्तस्वरपात्रं' 'भूषितनिःशेषपरिजनं', तथा 'विलसत्करेणुगहनं' इन तीन पदोंमें श्लेष है। इनमेंसे पहिला पद 'पृथुकार्त्तस्वरपात्रं' है। इसके दोनों पक्षोंमें भिन्न-भिन्न अर्थ इस प्रकार होते हैं। 'पृथुकानां बालानां आर्त्तस्वरस्य पात्रं' अर्थात् मेरा याचकका, घर बालकोंके रोनेका स्थान है, मेरे घरमें भूखे बालक रो रहे हैं, और आप राजाका घर 'पृथुनि महान्ति कार्त्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्राणि यस्मिन्स्तत् पृथुकार्त्तस्वरपात्रं' सोनेके बड़े-बड़े बर्त्तनोंसे युक्त है।

दूसरा पद 'भूषितनिःशेषपरिजनं' है। इसका राजाके पक्षमें 'भूषित' अर्थात् सारे परिजन, सेवक आदिसे अलंकृत है यह अर्थ होता है, और याचकके पक्षमें 'भुवि पृथिव्यां उषिताः सर्व परिजना यस्मिन्' जिसमें परिवारके सारे लोग जमीनपर पड़े हुए हैं यह अर्थ होता है। इसमें "भूषित" इस एक पदको अथवा 'भूषितनिश्शेष परिजनं' इस समस्त पदको श्लिष्ट मानकर पदश्लेष कहा गया है। इसी प्रकार 'विलसत्करेणुगहनं' यह तीसरा श्लिष्ट पद है। राजाके पक्षमें 'विलसन्तीभिः करेणुभिर्गहनं व्याप्तं' अर्थात् झूमती हुई हथिनियोंसे युक्त यह अर्थ होता है और याचकके पक्षमें 'बिले सीदन्ति इति बिलसत्काः मूषकाः, तेषां रेणुः धूलिः तस्याः सदनं' अर्थात् चूहोंके खोदे हुए बिलोंकी धूलसे भरा हुआ मेरा घर है यह अर्थ होता है। अतः यह पदश्लेषका उदाहरण है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

हे राजन्! इस समय हम दोनोंका घर १ पृथुकार्तस्वरपात्र [अ—बच्चोंके रोनेका स्थान तथा, आ—बड़े-बड़े सोनेके पात्रसे युक्त], २ "भूषितनिःशेषपरिजन' [अ—पृथिवीपर लोटते हुए परिजनोंवाला तथा, आ—अलंकृत परिजनोंवाला], और ३ 'विलसत्करेणुगहन' [अ—चूहोंकी मिट्टीसे भरा हुआ, तथा आ—झूमती हुई हथिनियोंसे भरा हुआ] होनेसे एक समान हो रहा है ॥३७०॥

(३) लिङ्गश्लेष तथा वचनश्लेष—

अगला उदाहरण 'लिङ्गश्लेष'का दिया गया है। इस श्लोकका मुख्य वाक्य "हरेः नेत्रे तनुर्वा युष्माकं भवार्तिशमनं कुरुतां" विष्णुजीके नेत्र अथवा शरीर तुम्हारे संसारके दुःखोंका नाश करें यह चतुर्थ चरण है। शेष तीन चरणोंमें उन 'नेत्रे' तथा 'तनुः'के विशेषण हैं। इनमेंसे 'नेत्रे' यह नपुंसक-लिङ्ग 'नेत्र' शब्दके प्रथमा विभक्तिके द्विवचनका रूप है और 'तनुः' यह स्त्रीलिङ्ग 'तनु' शब्दका प्रथमा विभक्तिका एक वचन है। ये दोनों ही वाक्यके 'कर्ता' पद हैं। शेष तीनों चरणोंमें जो विशेषण दिये

(३) भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये ।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं, नेत्रे तनुर्वा हरेः ॥३७१॥

एष वचनश्लेषोऽपि ।

गये हैं वे एक बार नपुंसकलिङ्गके प्रथमाके द्विवचनके रूपमें और दूसरी बार स्त्रीलिङ्गके प्रथमाके एकवचनके रूपमें अन्वित होते हैं। इसलिए यह 'लिङ्गश्लेष'का उदाहरण तो है ही, परन्तु साथ ही इसको वचनश्लेषका उदाहरण भी कहा जा सकता है। 'कुरुतां' इस पदमें आत्मनेपद तथा परस्मैपदका भी श्लेष है। 'नेत्रे' इस द्विवचनान्त कर्ताके साथ अन्वित होनेपर 'कुरुतां' यह परस्मैपदमें प्रथम पुरुषका द्विवचनका रूप होता है और 'तनुः' इस एक वचनान्त कर्ताके साथ अन्वित होनेपर यह आत्मनेपदके प्रथम पुरुषके एकवचनका रूप होता है। इस प्रकार इस एक उदाहरणमें अनेक प्रकारके श्लेष पाये जाते हैं। ग्रन्थकारने उसे यहाँ लिङ्गश्लेष तथा वचनश्लेष, दोनोंके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

[शाण्डिल्य मुनिने भक्तिसूत्र नामक ग्रन्थमें 'अथातो भक्तिजिज्ञासा सा परानुरक्तिरीश्वरे' ।१।१।१। इस प्रकार ईश्वरके विषयमें परानुरक्तिको भक्ति नामसे कहा है उस] भक्तिसे नम्र हुए [भक्तजनों] को [कृपापूर्वक] देखनेके लिए अनुरागयुक्त, नील कमलोंके सदृश [सुन्दर], हित [रूप मोक्ष] की प्राप्तिके लिए समाधिस्थ योगियों द्वारा [अपने] ध्यानका विषय बनाये हुए, अपरिमित सौन्दर्यके आधार, और [अपनी पत्नी] लक्ष्मीके नेत्रोंमें रसिकताको उत्पन्न करनेवाले, हरि [विष्णु] के दोनों नेत्र तुम्हारी भवबाधाको दूर करें।

अथवा [तनुपक्षमें भक्ति प्रह्वानां दर्शनानुरागो यस्यां सा भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी] भक्तजन जिसको अनुरागपूर्वक देखते हैं, [रंग तथा सौन्दर्य दोनोंमें] नील कमलोंके साथ स्पर्धा करनेवाली [नील कमलोंके सदृश], [ईहित प्राप्तये] अभीष्ट-सिद्धिके लिए समाधिस्थ योगियों द्वारा चिन्तन की जानेवाली [ध्यानका विषय बनायी हुई], सौन्दर्यकी महानिधि [तनुपक्षमें 'महानिधिः रसिकतां' इन दो पदोंके बीचके विसर्गोंको रोरि ८।३।११० सूत्रसे लोप होकर ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६।३।१११ सूत्रसे दीर्घ होकर 'महानिधी' पद बनता है। नेत्रपक्षमें निधिशब्दको जहल्लिंग मानकर 'महानिधी' यह प्रथमाके द्विवचनका प्रयोग है] लक्ष्मीके नेत्रोंमें रसिकताको उत्पन्न करनेवाली विष्णुकी देह तुम्हारी भवपीड़ाका नाश करे ॥३७१॥

यह ['तनु'पक्षमें एकवचन तथा 'नेत्रे'पक्षमें द्विवचन होनेसे] वचनश्लेष [का उदाहरण] भी है। [इसलिए श्लेषके आठवें भेद वचनश्लेषका उदाहरण आगे नहीं देंगे]।

(४) भाषाश्लेष—

आगे भाषाश्लेषका उदाहरण देते हैं। आनन्दवर्धनप्रणीत 'देवीशतक'में यह ७६ वाँ पद्य है। संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओंमें उसका अर्थ होता है, अतः यह 'भाषाश्लेष'का उदाहरण है। संस्कृत भाषामें उसको निम्नलिखित प्रकार पढ़ा जाएगा—

(४) महदेसुरसन्धम्मे तमवसमाङ्गमागमाहरणे ।
हरबहुसरणं तं चित्तमोहमवसरउमे सहसा ॥३७२॥

(५) अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेपु च वक्ष्यति ।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः ॥३७३॥

(६) रजनिरमणमौलेः पादपद्मावलोक-
क्षणसमयपराप्तापूर्वसम्पत्सहस्रम् ।
प्रमथनिवहमध्ये जातुचित् त्वत्प्रसा-
दहमुचितरुचिः स्यान्नन्दिता सा तथा मे ॥३७४॥

महदे सुरसन्धं मे, तम् अव समासङ्गम् आगमाहरणे ।
हर बहुसरणम् तम् चित्तमोहम् अवसरे उमे सहसा ॥

और उसका अर्थ निम्नलिखित प्रकार होगा—

हे आनन्ददायिनि [महदे] गौरि ! [आगमाहरणे] वेद-विद्याके उपार्जनमें मेरे उस अनुराग [समासङ्गम्] को बनाये रखो, और अवसरपर [कभी उत्पन्न होनेवाले] उस प्रसिद्ध चित्तके अज्ञान या मोहको तुरन्त मिटा दो।

प्राकृत भाषाके पक्षमें इस श्लोककी संस्कृत छाया और अर्थ निम्नलिखित प्रकार होगा—

मम देहि रसं धर्मे तमोवशाम् गमागमात् हर नः ।
हरवधु शरणं त्वं चित्तमोहोऽपसरतु मे सहसा ॥

हे [हरवधु] पार्वति ! आप मेरी [एकमात्र] शरण हो, आप [सदा] धर्ममें मेरा प्रेम बनाये रहो, और [गमो, गमनं मरणं, आगमः आगमनं पुनर्जन्म यस्मिन् तस्मात् गमागमात् संसारात्] संसार [की ओर] से हमारी अज्ञानमयी [तमोवशां सुखप्राप्ति की] आशाको मिटा दो, [जिससे] मेरा चित्तका अज्ञान तुरन्त दूर हो जाय ॥३७२॥

(५) प्रकृतिश्लेष—

आगे प्रकृतिश्लेषका उदाहरण देते हैं। इसमें 'वक्ष्यति' यह रूप 'वह' धातु तथा 'वच' धातु दोनोंका लृट् लकारमें एक-सा ही बनता है। इसलिए 'धारण करेगा', और 'कहेगा', ये दोनों अर्थ इसके होते हैं। इसी प्रकार 'सामर्थ्यकृत्' इस पदमें सामर्थ्यके उपपद रहते 'डुकृञ् करणे' और 'कृती छेदने' दोनों धातुओंसे 'सामर्थ्यं करोति इति सामर्थ्यकृत्' तथा 'सामर्थ्यं कृन्तति छिनत्ति विनाशयति इति सामर्थ्यकृत्' यह एक-सा ही रूप बनता है। दोनों जगह लट्लकारके प्रथम पुरुषके एक वचनके तिप्-प्रत्ययके समान होनेपर भी केवल धातुओंका भेद होनेसे यह प्रकृतिश्लेषका उदाहरण है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

यह राजाका पुत्र समस्त शास्त्रोंको [अपने] हृदयमें [वक्ष्यति] धारण करेगा, और [ज्ञेषु] विद्वानोंमें [वक्ष्यति] कहेगा, तथा शत्रुओं [अमित्राणां] की शक्तिका नाश करनेवाला एवं मित्रोंकी शक्तिकी वृद्धि करनेवाला होगा ॥३७३॥

(६) प्रत्ययश्लेष—

अगला श्लोक प्रत्ययश्लेषके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है। कोई शिवका उपासक शिवजीकी उपासना करते हुए अपने भविष्यके विषयमें यह कामना कर रहा है कि—

(७) सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः ।
नयोपकारसाम्मुख्यमायासि तनुवर्तनम् ॥३७५॥

आपकी कृपासे कभी मैं [रजनीरमणमौलि, चन्द्रमौलि] शिवजीके चरणकमलोंके [अवलोकन] दर्शनके साथ ही अपरिमित अपूर्व आनन्दको प्राप्तकर [उनके] गणों [सेवक-समुदाय] के मध्यमें उचित अनुराग-युक्त और [नन्दिता नन्दकः स्याम्] आनन्द प्राप्त करानेवाला होऊँ, तथा वही [अर्थात् शिवजीके गणोंके भीतर गणना ही] मेरे लिए [नन्दिनो भाव 'नन्दिता' अर्थात् उनके प्रमुख अनुचर 'नन्दी' नामक गण]के नन्दी-पदकी प्राप्तिके समान् [स्यात्] हो ॥३७४॥

यहाँ 'स्यान्नन्दिता' पदोंमें प्रत्ययश्लेष है। यह सन्धि किया हुआ रूप है। सन्धिका विच्छेद करनेपर दो प्रकारके पदच्छेद निकलते हैं, एक 'स्यात्-नन्दिता', और दूसरा 'स्याम् नन्दिता'। 'अहं नन्दिता स्याम्' और 'सा मे नन्दिता स्यात्' ये दो प्रकारके उसके अन्वय होते हैं। अर्थात् 'स्याम्' और स्यात् पदोंमें उत्तम पुरुष तथा प्रथम पुरुषके प्रत्यय-भागमात्रका भेद होनेसे प्रत्ययश्लेष है। इसी प्रकार 'नन्दिता' पदमें 'नन्दिनो भावः नन्दिता' इस विग्रहमें तद्धित्का तल् प्रत्यय होता है, और 'नन्दकः स्याम्' इस अर्थवाले पक्षमें कृत् संज्ञक तृच्-प्रत्यय होता है इसलिए इन दोनों पदोंमें प्रत्यय-मात्रका भेद होनेसे यह प्रत्ययश्लेषका उदाहरण है।

(७) विभक्तिश्लेष—

सुप् तथा तिङ् रूप विभक्तियों के श्लेषका अगला उदाहरण देते हैं। शिवका भक्त कोई डाकू अन्य लोगोंके सामने शिवजीकी प्रार्थना करते हुए, समीपमें ही उपस्थित अपने पुत्रको दस्यु-कर्मका उपदेश इस शिवोपासनापरक श्लोकसे ही देते हुए कह रहा है कि—

हे हर [शिवजी महाराज] ! आप सबके सर्वस्व हैं और भव [बन्धन] का नाश करनेवाले हैं। नीति [सदाचार या धर्मसंस्थापन] और [साधुओंके परित्राणरूप] उपकारके अनुकूल [परित्राणाय साधूनां, धर्मसंस्थापनार्थाय च] शरीर व्यवहार [अवतारधारणरूप व्यापार] को प्राप्त होते हैं।

[यह इस श्लोकका शिवस्तुतिपरक अर्थ है। दूसरे पक्षमें] हे पुत्र ! [त्वं सर्वस्य सर्वस्वं हर] तू [किसीको छोड़ मत] सबका सब कुछ छीन ले, और [केवल माल छीनकर ही सन्तोष न कर, अपितु उन सबको जानसे मारकर साफ कर देनेके लिए उनके गलोंको] काटनेमें तत्पर हो जा। [उपकारसाम्मुख्यं नय] किसीके साथ उपकार [अथवा अनुकूलता या कृपा] मत कर [बल्कि सदा ही सबके प्रति आयासि वर्त्तनं तनु] पीड़ा देनेवाला व्यवहार कर ॥३७५॥

यहाँ 'हर' तथा 'भव'पदोंमें विभक्तिश्लेष है। ये दोनों पद शिवके पर्यायवाचक हैं। इसलिए शिवपक्षमें ये दोनों सम्बोधन विभक्तिमें सुबन्त पद हैं। दूसरे दस्युव्यापारकी शिक्षा देनेवाले पक्षमें ये दोनों तिङन्त क्रिया पद हैं। इसलिए इन दोनोंमें विभक्तिश्लेष है। यद्यपि विभक्तिश्लेष भी प्रत्यय-श्लेषके अन्तर्गत हो सकता है, फिर भी उसके विशेष चमत्कारजनक होनेसे उसको अलग कहा गया है।

इस प्रकार यहाँतक श्लेषके सात उदाहरण दिये हैं। आठवाँ 'वचनश्लेष' है। ऊपर जो लिङ्गश्लेषका उदाहरण दिया है वही वचनश्लेषका भी उदाहरण हो सकता है यह बात पहले कह चुके हैं। इसलिए इसका अलग उदाहरण नहीं दिया है।

[सूत्र १२०]-भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् ।

नवमोऽपीति 'अपिःभिन्नक्रमः ।

उदाहरणम्—

योऽसकृत्परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः ॥
शतकोटिदतां बिभ्रद्विबुधेन्द्रः स राजते ॥ ३७३ ॥

अत्र प्रकरणादिनियमाभावात् द्वावप्यर्थौ वाच्यौ ।

(९) अभङ्गश्लेष—

श्लेषके ये जो आठ भेद ऊपर दिखलाये गये हैं इनका प्रतिपादन मुख्य रूपसे रुद्रटने अपने काव्यालङ्कारमें किया है। अन्य आचार्योंने उसीके आधारपर शब्दश्लेषके आठ भेदोंका वर्णन किया है। इन सबमें प्रकृति-प्रत्यय आदिका भेद होनेसे इस प्रकारके श्लेषको सभङ्ग श्लेष कहते हैं। इन सबके उदाहरणोंमें दोनों पक्षोंमें अर्थ करते समय पदोंका भिन्न-भिन्न विश्लेषण करना होता है इसलिए भी इसको सभङ्ग श्लेष कहा जाता है। परन्तु इनके अतिरिक्त इस प्रकारका भी श्लेष हो सकता है, जिसमें प्रकृति-प्रत्ययादिके भेदके बिना ही स्वरभेदके कारण भिन्न प्रयत्नोच्चार्य अथवा उस स्वर-भेदादिका भी अभाव होनेपर अभिन्न प्रयत्नोच्चार्य अनेक पदोंका श्लेष हो। उस श्लेषको अभङ्ग श्लेष कहते हैं। यह श्लेषके पूर्वोक्त आठ भेदोंसे भिन्न नवम भेद है। इसीका प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार आगे कहते हैं कि—

[सूत्र १२०]--प्रकृति [प्रत्यय] आदिका भेद न होनेसे [पूर्वोक्त आठ प्रकारके सभङ्गश्लेषोंसे भिन्न अभङ्ग श्लेषरूप] नवम भेद भी हो सकता है।

[कारिकामें] 'अपि' शब्द भिन्नक्रम है [अर्थात् जहाँ वह पढ़ा हुआ है, वहाँ उसका अन्वय न होकर 'नवमः' शब्दके बाद ,उसका अन्वय होता है, 'नवमोऽपि भेदोभवेत्' अर्थात् आठ भेदोंके अतिरिक्त] नवम भेद भी है। उदाहरण [जैसे]—

इस श्लोकमें अभङ्गश्लेष द्वारा देवराज इन्द्रके साथ साम्य दिखलाकर राजापर इन्द्रत्वका आरोप करते हुए कवि राजाका वर्णन कर रहा है—

जो [राजा] अनेक बार [परगोत्राणां] शत्रुवंशोंके ['पक्षच्छेद क्षणक्षमः' अर्थात्] सहायकोंके तनिक-सी देरमें नाश कर देनेमें समर्थ है [शतकोटी कोटिशतं ददातीति शतकोटिदः तस्य भावः शतकोटिदता तां बिभ्रत्] शतकोटि अपरिमित धनको देनेवाला [विबुधेन्द्र] वह विद्वच्छिरोमणि देवराजके समान शोभित होता है ॥३७६॥

[दूसरे इन्द्रपक्षमें शतकोटिः वज्रं तेन द्यति खण्डयति इति शतकोटिदः। तस्य भावः शतकोटिदता] वज्रसे नाश करनेकी सामर्थ्यवाला, असकृत अनेकों वार [परगोत्राणां] उत्तम पर्वतोंके [पक्षच्छेद अर्थात्] पंखोंके काटने क्षणमें समर्थ है, वह देवराज इन्द्र शोभित होता है।

यहाँ प्रकरणादिके द्वारा [अनेकार्थक परगोत्रादि शब्दोंके एकार्थमें] नियमनके न होनेसे [राजापरक और इन्द्रपरक] दोनों ही अर्थ वाच्य हैं [इसलिए यहाँ श्लेष अलङ्कार है। और यह अभङ्गश्लेषका उदाहरण है]।

नन्नु स्वरितादिगुणभेदात् भिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां, तदभावादभिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां च शब्दानां बन्धेऽलङ्कारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुः शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्यर्थालङ्कारमध्ये परिगणितोऽन्यैरिति कथमयं शब्दालङ्कारः ?

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ प्रकरणादिवश अनेकार्थक शब्दका एकार्थमें नियन्त्रण हो जानेपर भी अन्य अर्थकी प्रतीति होती है, वहाँ द्वितीय अर्थ वाच्य नहीं अपितु व्यङ्ग्य होता है, जैसा कि द्वितीय उल्लासमें 'भद्रात्मनो दुरधिरोहतनो' इत्यादि उदाहरण संख्या १२ में दिखलाया गया है। और जहाँ प्रकरणादि नियामक न हों, वहाँ दोनों अर्थ वाच्य रूपसे उपस्थित होते हैं। उसी स्थलमें श्लेषालङ्कार होता है। इस 'योऽसकृत् परगोत्राणां' इत्यादि श्लोकमें यदि 'भद्रात्मनः' इत्यादि उदाहरण संख्या १२ के समान प्रकरणादिको नियामक मान लिया जाय तो यहाँ श्लेष न होकर दूसरे अर्थकी प्रतीति व्यञ्जनासे होगी, और उस दशामें यह ध्वनिका उदाहरण होगा। इसीलिए ग्रन्थकारने यहाँ स्पष्ट रूपसे यह लिखा है, कि इसमें प्रकरणादिके द्वारा एकार्थमें नियन्त्रण न होनेसे दोनों अर्थ वाच्य ही हैं। अतः यह ध्वनिका नहीं अपितु श्लेषका ही उदाहरण है।

शब्दश्लेष और अर्थश्लेषका भेद—

शब्दालङ्काररूपमें ऊपर रुद्रट प्रतिपादित शब्दश्लेषके आठ प्रकार दिखलाये हैं। इन सबमें प्रकृति-प्रत्ययादिका भेद रहता है इसलिए ये सब सभङ्गश्लेषके उदाहरण हैं। इसके बाद ग्रन्थकारने अभङ्गश्लेषको भी श्लेषरूप शब्दालङ्कारका नवम भेद मानकर उसका यह उदाहरण दिया है। अलङ्कार-सर्वस्वकारने अभङ्गश्लेषको अर्थालङ्कार माना है, शब्दालङ्कार नहीं। शब्दालङ्कारमें उन्होंने केवल सभङ्ग-श्लेषकी गणना की है। इसलिए इस प्रसङ्गमें उनके मतकी समीक्षा करना आवश्यक समझकर उनकी ओरसे अभङ्गश्लेष शब्दालङ्कार कैसे हो सकता है इसी पूर्वपक्षको उठाते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

[प्रश्न]—(१) स्वरित आदि स्वररूप गुणके भेदके कारण [स्वरितादि स्वरके लिए गुण शब्दका प्रयोग अपने सजातीय समानाकार दूसरे शब्दसे भेदक होनेसे विशेषाधान होनेके कारण किया गया है] भिन्न प्रयत्नसे उच्चारण किये जानेवाले, (२) और [जहाँ स्वरका भेद नहीं है वहाँ] उस [स्वरभेद] के अभाव होनेसे अभिन्न [एक ही] प्रयत्नसे उच्चारण करने योग्य [दोनों प्रकारके] शब्दोंकी रचनामें [रूपक, उपमा आदि] अन्य अलङ्कारोंके प्रतिभासमात्रका हेतु [भिन्नप्रयत्नोच्चार्य शब्दोंका जतुकाष्ठन्यायसे होनेवाला] 'शब्दश्लेष' तथा [स्वरभेदके अभावमें अभिन्न प्रयत्नोच्चार्य समानाकार शब्दोंमें दो अर्थोंका एकवृन्तगत-फलद्वय-न्यायसे होनेवाला] 'अर्थश्लेष' ये दोनों [प्रकारके अभङ्गश्लेष अलङ्कारसर्वस्वकार आदि] अन्योंने अर्थालङ्कारमें गिनाये हैं, तब [ये दोनों अभङ्गश्लेष] शब्दालङ्कार कैसे हो सकते हैं ?

इस प्रश्नका उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि गुण, दोष, अलंकार आदिकी शब्दनिष्ठता या अर्थ-निष्ठताकी कसौटी केवल अन्वय-व्यतिरेक ही है। अन्वय-व्यतिरेकका अर्थ है, "तत्सत्त्वे तत्सत्ता अन्वयः" और "तदभावे तदभावो व्यतिरेकः।" अर्थात् यदि किसी शब्दविशेषके होनेपर ही किसी गुण, दोष तथा अलङ्कारकी सत्ता रहती हो और उस शब्दको बदलकर उसके स्थानमें उसीके समानार्थक दूसरे शब्दको रख देनेसे उस गुण, दोष अलङ्कारकी सत्ता न रहे, तो यह मानना होगा कि वह गुण, दोष या अलङ्कार केवल उस शब्दके आश्रित है। इसलिए उसको शब्दनिष्ठ गुण, दोष या अलङ्कार माना जायगा। और जहाँ किसी शब्दविशेषको हटाकर उसके समानार्थक अन्य शब्दका प्रयोग करनेपर भी

उच्यते—इह दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सः अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते । तथाहि कष्टत्वादि-गाढत्वादि-अनुप्रासादयः, व्यर्थत्वादि-प्रौढ्यादि-उपमादयः, तद्भाव-तदभावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते ।

उस गुण, दोष या अलङ्कारकी स्थितिमें अन्तर नहीं आता है, अर्थात् अलङ्कार आदि पूर्ववत् बना रहता है वहाँ यह समझना चाहिये कि वह अलङ्कार आदि शब्दपर नहीं अपितु अर्थपर आश्रित है, इसलिए उस अलंकार आदिको अर्थनिष्ठ या अर्थालङ्कार आदि कहते हैं ।

इस अन्वय-व्यतिरेककी कसौटीपर कसनेसे यह प्रतीत होता है कि अभङ्गश्लेषके 'जतुकाष्ठ-न्याय'से अथवा 'एकवृन्तगत-फलद्वयन्याय'से संश्लिष्ट दोनों भेदोंमें शब्दोंका परिवर्तन कर देनेपर श्लेषकी स्थिति नहीं रहती है । इसलिए 'शब्दपरिवृत्त्यसह' होनेसे अभङ्गश्लेषके वे दोनों ही स्वरूप शब्दालङ्कारके अन्तर्गत ही आते हैं । अलङ्कारसर्वस्वकारने अभङ्गश्लेषको अर्थापेक्षी मानकर जो अर्थालङ्कारोंमें परिगणित किया है, वह उचित नहीं है ।

अलङ्कारसर्वस्वकार 'पृथुकार्त्तस्वरपात्रं' इत्यादि सभङ्गश्लेषके उदाहरणोंमें 'पृथुक-आर्त्तस्वरपात्रं' तथा 'पृथु-कार्तस्वरपात्रं' आदि विजातीय भिन्न-भिन्न शब्दोंका श्लेष होनेसे सभङ्गश्लेषको शब्दश्लेष कहते हैं और 'सकृत्परगोत्राणां' इत्यादि अभङ्गश्लेषके उदाहरणोंमें विजातीय भिन्नाकार शब्दोंका नहीं अपितु 'एकवृन्तगत फलद्वयन्याय'से दो अर्थोंका श्लेष होनेसे अभङ्गश्लेषको अर्थश्लेष मानते हैं । अलङ्कारसर्वस्वकारका यह 'एकवृन्तगत फलद्वय-न्याय' यहाँ श्लेषस्थलमें तो कथंचित् लागू हो जाता है, इसलिए उसके आधारपर अभङ्गश्लेषको एक बार यदि अर्थालङ्कार मान भी लिया जाय तो भी गुण-दोष तथा अन्य अलङ्कारोंमें तो इस न्यायके लागू होनेका कोई अवसर ही नहीं है, परन्तु गुण-दोष तथा अन्य अलङ्कारोंमें भी उनकी शब्दनिष्ठता अथवा अर्थनिष्ठताकी विवेचना करनी ही होती है । वहाँ इस युक्तिसे निर्णय नहीं हो सकता है । वहाँ तो अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर ही किसी गुण, दोष या अलङ्कारके शब्दनिष्ठ अथवा अर्थनिष्ठ होनेका निर्णय किया जाता है । यह अन्वय-व्यतिरेक ही सर्वत्र प्रयोज्य-प्रयोजकभाव आदिका निर्णायक होता है । इसलिए श्लेषकी शब्दनिष्ठता तथा अर्थनिष्ठताका निर्णय भी उसीके द्वारा करना उचित है । इस दृष्टिसे यदि अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर अभङ्गश्लेषकी परीक्षा की जाय तो वह शब्दालङ्कार ही ठहरता है । हाँ, उन स्थलोंमें जहाँ शब्दका परिवर्तन कर देनेपर भी श्लेष बना रहता है, अर्थात् दो अर्थोंकी प्रतीति होती रहती है, वहाँ अर्थालङ्कार कहा जा सकता है । इस प्रकारके अर्थश्लेषका उदाहरण भी आगे देंगे । परन्तु 'योऽसकृत् परगोत्राणां' इत्यादि अभङ्गश्लेषके उदाहरणोंमें शब्दपरिवृत्तिकी क्षमता न होनेसे उनमें रहनेवाला अभङ्गश्लेष अर्थालङ्कार नहीं अपितु शब्दालङ्कार ही है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । इसी बातको आगे वृत्तिग्रन्थमें कहते हैं—

[उत्तर]—कहते हैं । यहाँ [काव्यमें] गुण, दोष, अलङ्कारोंका शब्दगत और अर्थगतरूपसे जो विभाग किया जाता है वह अन्वय-व्यतिरेकसे ही ठीक बैठता है । [अर्थात् जहाँ शब्दपरिवृत्तिसहत्व नहीं है वहाँ शब्दगतत्व, और शब्दपरिवृत्तिसहत्व होनेपर अर्थगतत्व माना जाता है] क्योंकि (१) श्रुतिकटुत्व [कष्टत्व] आदि [शब्ददोष] गाढबन्धत्व आदि [रूप वामनोक्त दशशब्दगुण] तथा अनुप्रासादि [शब्दालङ्कार शब्द-परिवर्त्तनको सहन नहीं करते हैं, इसलिए वे शब्दनिष्ठ गुण, दोष तथा अलङ्कार माने

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता ।

इत्यभङ्गः,

प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥३७७॥

इति सभङ्गः,

जाते हैं। और व्यर्थत्व [अपुष्टार्थत्व आदि अर्थदोष], प्रौढि आदि [अर्थस्य प्रौढ़िरोजः इत्यादि वामनाभिमत दश अर्थगुण] तथा उपमा आदि [अर्थालङ्कार], शब्द और अर्थकी सत्ता [तद्भाव] तथा शब्द अर्थके अभाव [तदभाव] का अनुगमन करनेवाले होनेसे ही [अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर ही] शब्दगत तथा अर्थगत माने जाते हैं।

अर्थात् श्रुतिकटुत्व आदि शब्ददोष, वामनाभिमत दश शब्दगुण तथा अनुप्रासादि शब्दालङ्कार उन उन शब्दोंके होनेपर ही रहते हैं, उन शब्दोंका परिवर्तन करके उनके पर्यायवाचक अन्य शब्दोंके रख देनेपर नहीं रहते हैं, इसलिए वे शब्ददोष, शब्दगुण तथा शब्दालङ्कार कहे जाते हैं। इसके विपरीत अपुष्टार्थत्वादि अर्थदोष, अर्थप्रौढि आदिरूप वामनाभिमत दश अर्थगुण, तथा उपमादि अर्थालङ्कारोंमें शब्दोंका परिवर्तन करके उनके पर्यायवाचक दूसरे शब्द रख देनेपर भी वे दोष, गुण तथा अलङ्कार बने रहते हैं, इसलिए वे अर्थनिष्ठ दोष, गुण तथा अलङ्कार माने जाते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि दोष, गुण तथा अलङ्कारोंकी शब्दनिष्ठता या अर्थनिष्ठताका निर्णय अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर ही करना आवश्यक है। और उस आधारपर केवल सभङ्गश्लेष ही नहीं अपितु 'योऽसकृत' इत्यादि उदाहरणोंमें अभङ्गश्लेषके दोनों भेद भी शब्दपरिवृत्तिको सहन नहीं कर सकते हैं, इसलिए शब्दालङ्कार ही माने जा सकते हैं, अर्थालङ्कार नहीं। सभङ्ग तथा अभङ्ग दोनों प्रकारके श्लेषमें शब्दपरिवृत्तिकी असहनीयताको दिखलानेके लिए अगला उदाहरण देते हैं—

प्रतीहारेन्दुराज-विरचित 'उद्भटालङ्कारसारसंग्रह-लघुवृत्ति'के चतुर्थ-वर्गमें पार्वती-वर्णन-परक यह पद्य उद्धृत हुआ है। उसके पूर्वार्द्धमें 'भास्वत्करविराजिता' इस अंशमें अभङ्गश्लेष है, और उत्तरार्द्धके 'अस्वापफललुब्धेहितप्रदा' इस अंशमें सभङ्गश्लेष है। पार्वतीका माहात्म्य केवल उनके स्वामी शिवजीके प्रभावके कारण ही नहीं है, अपितु वे स्वयं भी प्रभातसन्ध्याके समान महत्त्वशालिनी हैं, यह इस श्लोकका भाव है। प्रभातसन्ध्याके साथ पार्वतीकी असमानता दिखलाते हुए कवि कह रहा है कि—

[पार्वती देवी] स्वयं भी पल्लवोंके सदृश रक्तवर्ण, भास्वत्=भास्वान् अर्थात् सूर्यकी किरणोंसे शोभायमान, प्रातःकालीन सन्ध्याके समान, किसलय जैसे [आताम्र] रक्तवर्णके और [भास्वत्] चमकते हुए हाथोंसे शोभायमान हैं।

इस [पूर्वार्ध भाग]में अभङ्गश्लेष, [तथा]–

[और वे पार्वती, प्रभातसन्ध्यापक्षमें] अस्वाप अर्थात् निद्राका अभाव, उसका फल अर्थात् प्रातःकालीन स्नान-सन्ध्या-वन्दनादि, उसके इच्छुकोंके लिए, हित प्रदान करनेवाली प्रभातसन्ध्याके समान [पार्वतीपक्षमें सुखेन आप्यते इति स्वापं, न स्वापं अस्वापं दुर्लभं इति यावत् मोक्ष आदि रूप] दुर्लभ फलके इच्छुकोंके [ईहित] अभीष्टकी प्रदान करनेवाली हैं ॥३७७॥

इस [उत्तरार्ध भागमें] सभङ्गश्लेष [अगली पंक्तिसे मिलाकर अर्थ होगा]–

इति द्वावपि शब्दैकसमाश्रयाविति द्वयोरपि शब्दश्लेषत्वमुपत्वमुपपन्नम् । न त्वाद्यस्यार्थश्लेषत्वम् ।

अर्थश्लेषस्य तु स विषयः यत्र शब्दपरिवर्त्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना यथा—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ॥
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥ ३७८ ॥

ये दोनों ही [शब्द परिवर्त्तनको सहन न करनेके कारण] केवल शब्दके आश्रित हैं। अतः दोनों ही शब्दश्लेष हैं। प्रथम [अर्थात् पूर्वार्द्धका अभङ्गश्लेष] अर्थश्लेष नहीं है।

अर्थश्लेषका उदाहरण—

अर्थश्लेषका तो वही उदाहरण हो सकता है, जिसमें शब्दका परिवर्त्तन कर देनेपर भी श्लेषका खण्डन नहीं होता है। जैसे—

आश्चर्य है कि तराजूकी दण्डी और दुष्ट पुरुषकी वृत्ति बिलकुल एक-सी है, जो तनिकमें ऊपर चढ़ जाती है और तनिकमें ही अधोगतिको प्राप्त हो जाती है। ॥३७८॥

इसमें 'स्तोकेन उन्नतिं आयाति' आदि पदोंका परिवर्त्तन करके यदि उसके समानार्थक अन्य शब्द रख दिये जायँ तो भी श्लेषमें बाधा नहीं पड़ती है। इसलिए यह श्लेष, शब्दपर नहीं, अर्थपर आश्रित होनेसे अर्थालङ्कार है।

श्लेषके साथ अन्य अलङ्कारोंकी प्रधानता—

ऊपर अलङ्कारसर्वस्वकारका जो पूर्वपक्ष दिया गया है उसका यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो उसमें तीन विचारणीय अंश निकलते हैं। १. अभङ्गश्लेष अर्थालङ्कार है। २. श्लेष, उपमादि अर्थालङ्कारोंका बाधक है। और ३. भिन्न प्रयत्नोच्चार्य या अभिन्न प्रयत्नोच्चार्य, दोनों प्रकारका श्लेष अर्थालङ्कार है। इनमेंसे पहले अंशकी विवेचना यहाँतक की गयी। तीसरे मतकी आलोचना आगे पृष्ठ ४३२ पर करेंगे। मम्मट के अनुसार श्लेषको केवल वहीं अर्थालङ्कार कहा जा सकता है, जहाँ शब्दोंके परिवर्त्तन कर देनेपर भी श्लेषकी हानि नहीं होती है। शेष स्थलोंमें अभङ्गश्लेष भी शब्दालङ्कार ही होता है।

अलङ्कारसर्वस्वकारके मतका दूसरा विचारणीय अंश यह है, कि श्लेषके साथ जहाँ उपमा आदि अन्य अलङ्कारोंकी प्रतीति होती है, वहाँ वे श्लेषको अन्य अलङ्कारोंका प्रतिबन्धक मानते हैं। उनके अनुसार ऐसे स्थलोंपर अन्य अलङ्कारोंका अस्फुट आभासमात्र होता है, पूर्णता या विश्रान्ति नहीं होती है। मुख्य अलङ्कार श्लेष होता है और वह अलङ्कारान्तरके प्रतिभासमात्रका हेतु होता है। उदाहरणार्थ अभी दिये हुए "स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता" इत्यादि उदाहरणमें अलङ्कार-सर्वस्वकार श्लेषको मुख्य अलङ्कार मानते हैं, और उपमाका केवल आभासमात्र मानते हैं। उनकी युक्ति यह है कि श्लेषके साथ कोई दूसरा अलङ्कार रहता ही है, यदि सब जगह उस अन्य अलङ्कारकी ही प्रधानता मान ली जाय, तो श्लेषके लिए कहीं अवसर ही नहीं मिलेगा। इसके विपरीत अन्य उपमा आदि अलङ्कार तो श्लेषके बिना भी रह सकते हैं। इसलिए जहाँ श्लेषके साथ अन्य अलङ्कार होते हैं, वहाँ श्लेषको ही प्रधान अलङ्कार मानना चाहिये।

इसके विपरीत मम्मटका मत यह है, कि 'पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता' आदि उदाहरणोंमें श्लेष नहीं, अपितु उपमा ही प्रधान अलंकार है। श्लेषका तो केवल आभासमात्र होता है। वह प्रधान

न चायमुपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः, अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरुपमा ।

नहीं है । अलंकारसर्वस्वकारने श्लेषके साथ अन्य अलंकारोंके होनेपर श्लेषको उनका बाधक माननेका यह हेतु दिया है, कि अन्य अलंकारोंसे रहित श्लेषकी स्वतन्त्र स्थिति कहीं भी सम्भव नहीं है तथा अन्य अलंकार श्लेषसे रहित स्वतंत्र रूपसे भी रह सकते हैं, अतः जहाँ श्लेषके साथ अन्य अलंकारोंकी स्थिति हो, वहाँ अन्य अलंकार न मानकर श्लेषकी ही प्रधानता माननी चाहिये, अन्यथा श्लेषालंकारके लिए कहीं अवसर ही नहीं रहेगा । मम्मटाचार्य अलंकार सर्वस्वकारकी इस युक्तिसे सहमत नहीं हैं । उनके मतमें श्लेष भी अन्य अलंकारोंसे रहित स्वतन्त्र रूपसे रह सकता है । उन्होंने 'त्वमेव पातालं' आदि अगला श्लोक [संख्या ३७९] इसी प्रकारके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है, जिसमें अन्य अलंकारोंसे रहित श्लेषकी स्वतन्त्र स्थिति मानी जा सकती है । इसलिए अन्य अलंकारोंके साथ होनेपर श्लेषको अन्य अलंकारोंका बाधक नहीं माना जा सकता है । अतएव "पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता' आदि विवादास्पद स्थलमें भी श्लेषको उपमाका बाधक नहीं माना जा सकता है । फलतः इस उदाहरणमें उपमा ही प्रधान अलंकार है, श्लेषका केवल आभासमात्र होता है । यह मम्मटाचार्यका मत है । इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें कहते हैं—

और यह [पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता आदि उदाहरणमें अलङ्कारसर्वस्वकार जो यह मानते हैं कि] श्लेष प्रधान अलङ्कार है और [वह] उपमा [रूप गौण अलङ्कार] के प्रतिभासमात्रका हेतु है, यह बात ठीक नहीं है, अपितु [वस्तुतः] उपमा ही [प्रधान अलङ्कार है और वह] श्लेष [रूप गौण अलङ्कार] के प्रतिभासमात्रका हेतु होती है ।

शब्दमात्रका साम्य भी उपमाका प्रयोजक होता है—

"पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता" आदि उदाहरणमें ग्रन्थकारने जो उपमाको ही प्रधान अलंकार माना है । इसके सम्बन्ध एक यह शंका उपस्थित होती है कि इसमें पार्वतीका प्रभात-सन्ध्याके साथ "भास्वत्करविराजितत्व" यह साधर्म्य दिखलाया है । परन्तु यह तो वास्तविक साम्य नहीं है । श्लिष्ट 'भास्वत्-कर'के प्रयोगके कारण शब्दमात्रका साम्य प्रतीत होता है । वस्तुतः उन दोनोंमें कोई यथार्थ साम्य नहीं है । ऐसी अवस्थामें केवल शब्द-साम्यके आधारपर उपमा अलंकार नहीं माना जा सकता है ।

इस शंकाका समाधान ग्रन्थकारने यह किया है कि जैसे "कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत् कचतितराम्" इत्यादि उदाहरणमें कमल तथा मुखके मनोज्ञत्वरूप गुणसाम्य और 'कचति' अर्थात् 'दीप्यते' रूप क्रियाके साम्यमें उपमा होती है, इसी प्रकार "सकलकलं पुरमेतजातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव" इत्यादि उदाहरणोंमें चन्द्रमा तथा पुरका 'सकलकलत्व'रूप शब्दमात्रका साम्य होनेपर भी उपमा हो सकती है । 'सकलकलत्व'का चन्द्रमा पक्षमें सम्पूर्णकलासे युक्त अर्थ होता है, और पुर या नगरके पक्षमें 'कलकल शब्द सहित' अर्थ होता है । इस प्रकार चन्द्रमा तथा नगरमें किसी प्रकारका वास्तविक साम्य न होनेपर भी केवल 'सकलकलत्व'रूप शब्द साम्यके आधारपर भी उपमा हो सकती है । क्योंकि उपमाके लक्षणमें साधारण रूपसे साम्यका ही निर्देश किया गया है । शब्दसाम्य या वास्तवसाम्यकी चर्चा नहीं की गयी है । इसलिए शब्दमात्रके साम्यमें जैसे 'सकलकलं' इत्यादि उदाहरणमें उपमा अलंकार होता है । उसी प्रकार प्रकृत उदाहरणमें 'भास्वत्करविराजितत्व' रूप शब्दसाम्यके होनेपर भी उपमालंकार हो सकता है । फलतः ग्रन्थकारके मतमें "पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता" आदि उदाहरणमें उपमा ही प्रधान अलंकार है । श्लेष नहीं । अलंकारसर्वस्वकारके मतका खण्डन करनेके लिए ग्रन्थकार अगले प्रसङ्गकी अवतारणा करते हुए इस सब विषयको निम्नलिखित प्रकार लिखते हैं—

तथा हि—यथा 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत् कचतितराम्'। इत्यादौ, गुणसाम्ये क्रियासाम्ये उभयसाम्ये वा उपमा । तथा—

'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव'

इत्यादौ शब्दमात्रसाम्येऽपि सा युक्तैव । तथा ह्युक्तं **रुद्रटेन**—

"स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु ।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवतः" ॥ इति ।

क्योंकि—जैसे यह "मुख कमलके समान सुन्दर और अत्यन्त शोभित हो रहा है" इत्यादि [उदाहरण] में (१) गुणसाम्य तथा (२) क्रियासाम्य, अथवा (३) उभयसाम्य होनेपर उपमा होती है। उसी प्रकार "कलकल [शब्द] सहित यह नगर [सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त सकलकल] चन्द्रमाके समान हो रहा है", इत्यादि उदाहरणमें [सकलकल] शब्दमात्रके साम्यमें भी वह [उपमा] युक्त हो ही सकती है [क्योंकि उपमाके लक्षणमें साधारणरूपसे साम्यमात्रका निर्देश किया गया है। ऐसा कोई उल्लेख नहीं है, जिससे शब्दसाम्यमें उपमा न हो सके। अतः 'सकलकलं' इत्यादि उदाहरणके समान "पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता" आदि उदाहरणमें भी उपमा ही मुख्य अलङ्कार है, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। शब्दमात्रके साम्यमें भी उपमा हो सकती है, अपने इस मतके समर्थनके लिए ग्रन्थकार मम्मट, अपने पूर्ववर्ती आचार्य श्री रुद्रटका मत प्रमाण-रूपमें उद्धृत करते हैं]। जैसा रुद्रटने [अपने काव्यालङ्कारमें] कहा है—

"[यद्यपि] उपमा तथा समुच्चय ये दोनों निश्चित [स्पष्ट] रूपसे अर्थालङ्कार हैं। किन्तु केवल शब्दमात्र [साधारण धर्म] साम्यके द्वारा यहाँ शब्दालङ्कारोंमें भी हो सकते हैं।"

इहापि अर्थात् 'सकलकलं' इत्यादि उदाहरणोंमें अथवा शब्दालङ्कारोंमें जहाँ मनोज्ञत्वादि साधारण धर्मोंका उपपादन रहता है, वहाँ उपमान कमल तथा उपमेय मुखमें रहनेवाला 'मनोज्ञत्व' रूप साधारणधर्म भी वस्तुतः पृथक्-पृथक् होता है, परन्तु समान शब्दसे अभिहित होनेके कारण अर्थात् शब्दमात्रके साम्यके द्वारा ही उपमाका प्रयोजक होता है। इसलिए 'सकलकलं पुरमेतज्जातं' अथवा 'पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता' आदि उदाहरणोंमें भी शब्दमात्रके साम्यमें उपमा माननेमें कोई बाधा नहीं हो सकती है।

साधारणधर्मशून्य उपमा नहीं—

इस प्रकार शब्दमात्रके साम्यमें भी रुद्रट तथा मम्मट आदि आचार्य उपमा अलङ्कार मानते ही हैं। परन्तु अलङ्कारसर्वस्वकार शब्दमात्रके साम्यमें उपमा नहीं मानते हैं, इसलिए वे साधारण-धर्मसे रहित अर्थात् धर्मलुप्ताके उदाहरणोंको ही उपमाका विषय मानते हैं। परन्तु उनका यह मत भी उचित नहीं है। क्योंकि यदि साधारणधर्मसे रहित धर्मलुप्ताके स्थलोंको ही उपमाका उदाहरण माना जाय तो पूर्णोपमा तो सर्वथा निर्विषय हो जायगी। पूर्णोपमाको कोई दूसरा उदाहरण ही नहीं मिल सकेगा। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें कहते हैं—

न च 'कमलमिव मुखम्' इत्यादिः साधारणधर्मप्रयोगशून्य उपमाविषय इति वक्तुं युक्तं, पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः ।

देव ! त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः ।। ३७९ ।।

इत्यादिः श्लेषस्य चोपमाद्यलङ्कारविविक्तोऽस्ति विषयः इति द्वयोर्योगे सङ्कर एव ।

और 'मुख कमलके समान है', इत्यादि साधारणधर्मके प्रयोगसे रहित ही उपमाका विषय होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता है [क्योंकि उस दशामें] पूर्णोपमाके निर्विषय हो जानेसे ।

इसलिए "पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता" आदिमें शब्दमात्रका साम्य होनेपर भी उपमा अलङ्कार हो सकता है । अतः वहाँ श्लेषको मुख्य अलङ्कार न मानकर उपमाको ही मुख्य अलङ्कार मानना चाहिये । उपमाके कारण श्लेषका क्षणिक प्रतिभासमात्र होता है, अन्तिम विश्रान्ति उपमाकी होती है । श्लेषकी नहीं, अतः उपमा ही वहाँ मुख्य अलङ्कार है । यह मम्मटका सिद्धान्त हुआ ।

श्लेषकी स्वतन्त्र स्थितिका उदाहरण—

अलङ्कारसर्वस्वकार ऐसे स्थलोंपर श्लेषको अन्य अलङ्कारोंका बाधक प्रधान अलङ्कार मानते हैं । उसका हेतु वे यह देते हैं कि श्लेष, अन्य अलङ्कारोंके बिना नहीं रह सकता है और अन्य अलङ्कार श्लेषके बिना भी रह सकते हैं । इसलिए जहाँ श्लेषके साथ अन्य अलङ्कारोंकी उपस्थिति हो, वहाँ अन्य अलङ्कारोंकी उपेक्षा कर श्लेषको ही प्रधान अलङ्कार मानना चाहिये । अन्यथा यदि उन स्थलोंपर भी अन्य अलङ्कार ही माने जायँ तो श्लेषके लिए कोई अवसर ही नहीं रहेगा । इसलिए इस प्रकारके स्थलोंमें श्लेष अन्य अलङ्कारोंका बाधक बन जाता है ।

अलङ्कारसर्वस्वकारके इस मतके खण्डनके लिए मम्मट आगे ऐसा उदाहरण देते हैं, जिसमें किसी अन्य अलङ्कारके साहचर्यके बिना केवल श्लेष अलङ्कार स्वतन्त्र रूपसे रहता है । श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

हे [विष्णु] देव ! आप ही पाताल [लोक और दूसरे पक्षमें 'पाता अलं' संसारके सदा रक्षक] हैं । आपही संसारकी आशाओंके केन्द्र [दूसरे पक्षमें आशा अर्थात् दिशाओंके व्यवहारके केन्द्र अर्थात् भूलोक] हैं, और आप ही [ऊपर] देवताओं तथा मरुद्गणों [देवयोनिविशेष]के निवासस्थान [स्वर्गलोक, दूसरे पक्षमें चामर अर्थात् राजचिह्नरूप चामरके डुलानेसे उत्पन्न मरुत् अर्थात् वायुका भोग करनेवाले] हो । [इस प्रकार आप] अकेले ही तीनों लोकस्वरूप हैं ॥३७९॥

इत्यादि उपमा आदि [अन्य अलङ्कारों]से रहित [शुद्ध] श्लेषका [स्वतन्त्र] उदाहरण है । [इसलिए "पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता" इत्यादि विवादास्पद उदाहरणमें श्लेषको उपमाका बाधक माननेका कोई आधार नहीं है । अतः वहाँ श्लेष, प्रधान अलङ्कार तो हो ही नहीं सकता है । प्रधान अलङ्कार तो उपमा ही है । अधिकसे अधिक यह कहा जा सकता है, कि वहाँ अप्रधान रूपसे ही सही, श्लेषका भी प्रतिभासमात्र होता है, इसलिए] दोनोंका योग होनेपर सङ्कर [अलङ्कार] ही [हो सकता] है ।

उपपत्तिपर्यालोचने तु उपमाया एवायं युक्तो विषयः । अन्यथा विषयापहार एव पूर्णोपमायाः स्यात् ।

न च

"अबिन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यबिन्दुका" ।

इत्यादौ विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुर्विरोधः । न ह्यत्रार्थद्वयप्रतिपादकः शब्दश्लेषः द्वितीयार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य प्ररोहाभावात् ।

तर्क [युक्ति, उपपत्ति]की दृष्टि से विचार करें, तब तो यह उपमाका ही उदाहरण मानना उचित है। अन्यथा पूर्णोपमाका विषय ही समाप्त हो जायगा। [क्योंकि श्लेष तो केवल 'भास्वत्करविराजितत्व' रूप साधारणधर्मकी प्रतीतिको उद्भावित करता है। उसका अन्य कोई उपयोग नहीं है। उस साधारणधर्मकी प्रतीति करानेके कारण यदि श्लेषकी मुख्य स्थिति मानी जाय, तब तो पूर्णोपमाके सभी उदाहरणोंमें उपमानगत तथा उपमेयगत साधारणधर्मके स्वरूपतः भिन्न होनेपर भी एक शब्दसे अभिहित होनेके कारण श्लेषसे ही सर्वत्र साधारणधर्मका बोध होता है, इसलिए सर्वत्र श्लेषकी मुख्य स्थिति हो जायगी। फलतः पूर्णोपमाका विषय ही कहीं नहीं रहेगा। इसलिए यहाँ श्लेष नहीं, अपितु उपमा अलङ्कार ही मानना चाहिये, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है]।

विरोधाभास भी श्लेषका बाधक—

"पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता" इत्यादि उदाहरणोंमें श्लेषको उपमा अलङ्कारका बाधक न मानकर उपमाको ही श्लेषालङ्कारका बाधक मानना चाहिये, यह बात ग्रन्थकारने यहाँतक प्रतिपादित की है। इसी नीतिका प्रयोग अन्य अलंकारोंके साथ श्लेषकी स्थिति होनेपर भी करना चाहिये, इस बातको दिखलानेके लिए ग्रन्थकार आगे ऐसा उदाहरण देते हैं, जिसमें विरोधाभास अलंकारके साथ श्लेषकी स्थिति पायी जाती है। अलंकारसर्वस्वकारके अनुसार उसमें श्लेषालङ्कार विरोधाभासका बाधक होना चाहिये, ग्रन्थकार मम्मट उसमें भी विरोधाभासको ही प्रधान अलङ्कार मानते हैं और श्लेषका केवल आभासमात्र मानते हैं। इसी बातको ग्रन्थकार आगे निम्नलिखित प्रकार लिखते हैं—

"[अप्सु प्रतिबिम्बितः इन्दुः अबिन्दुः, तद्वत् सुन्दरी] जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके समान सुन्दरी इस [तरुणी]के मुखसे निरन्तर लावण्यकी बूँदें गिरती रहती हैं।"

इत्यादि उदाहरणमें ['अबिन्दु सुन्दरी' अर्थात् बिन्दुरहित और 'गलल्लावण्यबिन्दुका' अर्थात् लावण्य सहित इत्यादि रूप] विरोधके प्रतिभोत्पत्ति [गौण-प्रतिभास मात्र]का हेतु [मुख्य] श्लेष [अलङ्कार] नहीं है, अपितु [गौण रूपसे प्रतिभातमात्र होनेवाले] श्लेषके प्रतिभासमात्रकी उत्पत्तिका हेतु विरोध [अलङ्कार] है। [क्योंकि यहाँ बिन्दुरहित और बिन्दुसहित रूप] द्वितीय अर्थका प्रतिपादक शब्दका श्लेष नहीं है अपितु द्वितीयार्थका प्रतिभासमात्र होता है, उसका प्ररोह नहीं होता है। [अर्थात् अन्तिम चरमरूपसे अन्वयमें सम्बद्ध न होनेसे श्लेष यहाँ वास्तविक नहीं, केवल कुछ देरके लिए क्षणिक रूपसे प्रतिभातमात्र होता है]।

न च विरोधाभास इव विरोधः, श्लेषाभासः श्लेषः ।
तदेवमादिषु वाक्येषु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरलङ्कारान्तरमेव । तथा च—

(१) सद्वंशमुक्तामणिः ॥ ३८० ॥

इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि श्लेषका पर्यवसान अन्तिम अन्वयमें होता, तब तो यहाँ श्लेषालङ्कार माना जा सकता था। परन्तु इस वाक्यका अन्तिम अर्थ तो यह होता है कि 'जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके समान उस सुन्दरीसे निरन्तर लावण्य-बिन्दु प्रवाहित होते रहते हैं'। 'अबिन्दु' अर्थात् बिन्दुरहितसे बिन्दुओंका प्रवाह कैसे हो सकता है, यह विरोधसूचक अर्थ अबिन्दुपदके श्लेषसे एक बार प्रतीत होता है, परन्तु अबिन्दुका अर्थ, 'जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा' है यह बात प्रतीत हो जानेपर वह श्लेष समाप्त हो जाता है, अन्तिम अन्वयके समयतक श्लेषकी स्थिति नहीं रहती है। बीचमें उसका प्रतिभासमात्र होता है, इसलिए श्लेषका प्ररोह न होनेसे यहाँ श्लेषालङ्कार नहीं कहा जा सकता है।

यद्यपि श्लेषके समान ही विरोध भी बीचमें तनिक देरके लिए प्रतीत होता है और जब 'अबिन्दुसुन्दरी' पदका 'जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा' रूप दूसरा अर्थ प्रतीत हो जाता है, तब विरोध भी समाप्त हो जाता है। तब वहाँ विरोधालङ्कार भी कैसे माना जा सकता है, यह शंका हो सकती है। इसका समाधान ग्रन्थकारने यह किया है कि विरोधकी अवास्तविकता ही तो विरोधालङ्कार है। यदि विरोध अवास्तविक न होकर वास्तविक हो जाय तो वह अलङ्कार नहीं रहेगा, अपितु दोष हो जायगा। इसलिए यहाँ 'अबिन्दुसुन्दरी' पदका द्वितीय अर्थ प्रतीत होनेपर विरोधका परिहार हो जानेके कारण ही विरोधालङ्कार है। श्लेषके विषयमें यह बात नहीं है। श्लेषमें तो उसकी वास्तविकता ही अलङ्कार है। अवास्तविकता अलङ्कार नहीं है। विरोधमें उसकी वास्तविकता दोष है, और अवास्तविकता या प्रतिभासमात्र ही अलङ्कार है। इसलिए इस उदाहरणमें विरोधाभास ही मुख्य अलङ्कार है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें कहते हैं—

और जैसे विरोधका आभास [मात्र] विरोध [अलङ्कार] है [वास्तविक विरोध अलङ्कार नहीं अपितु दोष है] उसी प्रकार श्लेषका आभासमात्र श्लेष अलङ्कार नहीं है, [अपितु वास्तविक श्लेष ही अलङ्कार है। 'अबिन्दुसुन्दरी' इत्यादि उदाहरणमें श्लेषका आभासमात्र है, वास्तविक श्लेष नहीं है, इसलिए इसमें भी श्लेष मुख्य अलङ्कार नहीं है, अपितु विरोधाभास ही मुख्य अलङ्कार है]।

इसी नियमका सामान्यरूपसे उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

इसलिए इस प्रकारके वाक्योंमें [जहाँ अन्य अलङ्कारोंके साथ श्लेषकी स्थिति होती है, वहाँ] अन्य अलङ्कार ही [मुख्य होते हैं, और वे] श्लेषके गौण रूपसे प्रतीतिमात्रके हेतु होते हैं। [इसी नियमको अन्य चार अलङ्कारों पर घटाते हैं]। इसलिए, जैसे कि—

[१] [यह राजा सद्वंश] अर्थात् सत्कुल [रूप जो सुन्दर वंश अर्थात् बाँस उस] का [मध्यस्थ] मुक्तामणि है ॥३८०॥

इसमें वंश शब्द श्लिष्ट है। इसके दो अर्थ हैं, एक तो कुल और दूसरा बाँस। यहाँ 'वंश' शब्दके श्लेषके कारण कुलपर बाँसका आरोप होनेके बाद राजापर मुक्तामणिका आरोप होता है, इसलिए श्लेषके साथ परम्परित रूपक अलङ्कार है। परन्तु इसमें श्लेष केवल प्रतिभातमात्र ही होता है, वास्तविक प्रधान अलंकार 'परम्परित रूपक' ही है।

(२) नाल्पः कविरिव स्वल्पश्लोको देव ! महान् भवान् ॥ ३८१ ॥

(३) अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथाऽपि न समागमः ॥ ३८२ ॥

(४) आदाय चापमचलं कृत्वाऽहीनं गुणं विषमदृष्टिः ।
यश्चित्रमच्युतशरो लक्ष्यमभाङ्क्षीन्नमस्तस्मै ॥ ३८३ ॥

---

[२] हे राजन् ! आप छोटे कविके समान थोड़े [श्लोक पद्यरचना तथा] यशवाले नहीं हैं, किन्तु महान् हैं ॥३८१॥

यहाँ 'श्लोक'पद श्लिष्ट है, उसके दो अर्थ हैं, एक कीर्त्ति, दूसरा पद्यरचनारूप श्लोक। इसके द्वारा 'आप कविके समान स्वल्पश्लोक नहीं अपितु महान् कीर्त्तिवाले हैं', यह व्यतिरेकालङ्कार पर्यवसित रूपमें प्रधानतया प्रतीत होता है। श्लेष केवल प्रतिभातमात्र होता है, पर्यवसित मुख्य अलङ्कार नहीं है।

[३] सन्ध्या [काल और सन्ध्यारूप नायिका] अनुराग [अर्थात् लालिमा एवं स्नेह]से युक्त है, और [नायकरूप] दिन उसके सामने [या आगे-आगे] चल रहा [बढ़ रहा] है। परन्तु फिर भी उनका समागम [मिलन या स्त्री-पुरुषका संयोग] नहीं होता है, यह दैवगति कितनी विचित्र है ॥३८२॥

इसमें 'अनुराग', 'पुरःसर' तथा 'समागम' पद श्लिष्ट हैं। इनके दो-दो अर्थ होते हैं, एक सन्ध्यापरक अर्थ, दूसरा नायक-नायिकापरक अर्थ। इसके आधारपर श्लोकमें समासोक्ति अलङ्कार है। परन्तु यहाँ भी श्लेष प्रतिभातमात्र होता है, परम विश्रान्ति श्लेषमें नहीं, अपितु समासोक्ति अलङ्कारमें है। इसलिए श्लोकका प्रधान अलङ्कार श्लेष नहीं, अपितु समासोक्ति ही है।

[४] विषमदृष्टि अर्थात् वक्रदृष्टि त्रिलोचन शिवने [दूसरे पक्षमें दूषित दृष्टिवाले धानुष्कने] अचल अर्थात् मन्दराचल [दूसरे पक्षमें गतिरहित] चापको लेकर और [अहीनां सर्पाणां इनं प्रभुं वासुकिं] नागराज वासुकीको प्रत्यञ्चा बनाकर [दूसरे पक्षमें हीनं निकृष्टं अथवा अहीनं धनुर्दण्डादन्यूनं अर्थात् धनुर्दण्डसे भी बड़ी अथवा निकृष्ट प्रत्यञ्चा बनाकर] अच्युत विष्णुरूप बाण द्वारा [दूसरे पक्षमें बाणको छोड़े बिना ही लक्ष्य अर्थात् त्रिपुरासुररूप] निशानेको [दूसरे पक्षमें सौ सहस्त्ररूप लाख निशानोंको] भेद दिया उन [अपूर्व धनुर्धर शिव]को नमस्कार है ॥३८२॥

इस श्लोकमें 'अचलं', 'अहीनं', 'विषमदृष्टिः', 'अच्युतशरः' तथा 'लक्ष्यं' पद श्लिष्ट हैं। 'अचलं' पदका मन्दराचल तथा निष्क्रिय दो अर्थ होते हैं। 'अहीनं'का अर्थ सर्पराज वासुकी होता है। दूसरे पक्षमें संधिविच्छेदसे 'अहीनं'के बजाय 'हीनं' पद निकलता है, उसका अर्थ निकृष्ट होता है। 'अहीनं' पदच्छेद मानकर धनुषके दण्डसे जो कम न हो यह अर्थ होता है। साधारणतः प्रत्यञ्चाकी लम्बाई धनुषके दण्डकी लम्बाईसे कम ही होनी चाहिये। अन्यथा 'अहीन' प्रत्यञ्चावाले धनुषसे लक्ष्यवेध सम्भव नहीं हो सकता है। 'अच्युतशरः'का एक अर्थ बाणको छोड़े बिना होता है और दूसरे पक्षमें 'अच्युत' अर्थात् विष्णु जिसके बाण हैं, ऐसा होता है। इनमें एक अर्थ विरोधका सूचक और दूसरा उसके परिहारका सूचक होता है। इस प्रकार श्लेषके रहते हुए भी श्लोककी चरम विश्रान्ति विरोधाभासकी

इत्यादौ एकदेशविवर्तिरूपक—श्लेष—व्यतिरेक—समासोक्ति—विरोधत्वमुचितम् न तु श्लेषत्वम् ।

शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालङ्कारमध्ये च लक्ष्यते इति कोऽयं नयः ?

किञ्च 'वैचित्र्यमलङ्कारः' इति य एव कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता इति सैवाऽलङ्कारभूमिः ।

प्रतीतिमें ही होती है । श्लेष केवल प्रतिभातमात्र होकर समाप्त हो जाता है। इसलिए चरम विश्रान्ति-धाम होनेसे विरोधाभास ही मुख्य अलंकार ठहरता है । यद्यपि यह विरोध भी वास्तविक विरोध नहीं है, अपितु केवल आभासमात्र है, परन्तु वास्तविक विरोध न होनेपर भी विरोधका आभास ही तो विरोधाभास अलंकार है । वास्तविक विरोध तो अलंकार नहीं, अपितु दोष हो जाता है, इसलिए यहाँ विरोधाभासको ही विरोध नामसे कहा जाता है । वही मुख्य अलङ्कार है । श्लेष नहीं ।

[इस प्रकार 'सद्वंशमुक्तामणिः'] इत्यादि [पूर्वोक्त चारों उदाहरणों] में [क्रमशः] (१) एकदेशविवर्तिरूपक, २. व्यतिरेक, ३. समासोक्ति तथा ४. विरोध [अलङ्कार मानना] ही उचित है, न कि श्लेष ।

इस प्रकरणमें, पृष्ठ सं० ४२५ पर जो अलंकारसर्वस्वकारका मत पूर्वपक्षके रूपमें दिया था उसके तीन अंश किये जा सकते हैं, यह बात पहले लिखी जा चुकी है । उसमेंसे एक अभङ्गश्लेषके अर्थालंकार माननेवाले अंशका, तथा दूसरे अंश अर्थात् श्लेष अलंकारको उपमा आदि अलंकारोंका बाधक मानने परक अंशका निराकरण ग्रन्थकारने यहाँतक कर दिया । अब उस पूर्वपक्षका तीसरा अंश शेष रह जाता है। उस पूर्वपक्षका अभिप्राय यह है कि स्वरभेदादिके कारण भिन्नप्रयत्नोच्चार्य शब्दोंका जतुकाष्ठन्यायसे होनेवाला शब्दश्लेष, तथा स्वरभेदादिके अभावमें अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य शब्दोंमें एकवृन्तगत-फलद्वयन्यायसे दो अर्थोंका होनेवाला अर्थ-श्लेष, दोनों ही "शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्च द्विविधोऽपि अर्थालंकारमध्ये परिगणितोऽन्यैः" दोनोंको ही अलंकारसर्वस्वकारने अर्थश्लेषमें गिना है । इन दोनोंके अर्थालंकारमें गिने जानेका खण्डन करनेके लिए ग्रन्थकार अगली पंक्ति लिखते हैं, कि—

(१) [शब्दश्लेषको आप नामसे तो] शब्दश्लेष कहते हैं, और अर्थालङ्कारोंमें गिनते हैं, यह कौन-सा सिद्धान्त हुआ ? [अर्थात् जब स्पष्ट रूपसे आप श्लेषके एक भेदको शब्द-श्लेष नामसे कहते हैं, तब उनकी गणना शब्दालङ्कारोंमें करनी चाहिये । अर्थालङ्कारोंमें उसको सम्मिलित करना उचित नहीं हैं] ।

(२) [और दूसरी बात यह भी है, कि वैचित्र्य अर्थात्] चमत्कार ही अलङ्कार है । इसलिए [शब्द तथा अर्थमेंसे] जो कोई कविकी प्रतिभा और प्रयत्न [संरम्भ शक्ति तथा व्युत्पत्ति] का विषय होता है, उसीमें चमत्कार होता है, और वही अलङ्कार होता है । [इसलिए जहाँ शब्दपर कविका विशेष बल होता है, वहाँ शब्दका ही चमत्कार होता है, उस शब्दको बदल देनेपर वह चमत्कार नहीं रहता है । इसलिए उस स्थलपर शब्दालङ्कार मानना उचित है । और जहाँ शब्दके परिवर्त्तन कर देनेपर भी अलङ्कारकी हानि नहीं होती है, वहाँ यह समझना चाहिये कि कविका मुख्य बल शब्दपर नहीं अपितु अर्थपर है । इसलिए वहाँ अर्थालङ्कार मानना चाहिये] ।

अर्थमुखप्रेक्षित्वमेतेषां शब्दानामिति चेत्, अनुप्रासादीनामपि तथैवेति तेऽप्यर्थालङ्काराः किं नोच्यन्ते ? रसादिव्यञ्जकस्वरूपवाच्यविशेषसव्यपेक्षत्वेऽपि ह्यनुप्रासादीनामलङ्कारता । शब्दगुणदोषाणामप्यर्थापेक्षयैव गुणदोषता । अर्थगुणदोषालङ्काराणां शब्दापेक्षयैव व्यवस्थितिरिति तेऽपि शब्दगतत्वेनोच्यन्ताम् ।

'विधौ वक्रे मूर्ध्नि' इत्यादौ च वर्णादिश्लेषे एकप्रयत्नोच्चार्यत्वेऽर्थश्लेषत्वं शब्दभेदेऽपि प्रसज्यतामित्येवमादि स्वयं विचार्यम् ॥

अर्थापेक्षितासे अर्थालङ्कारत्व नहीं—

श्लेषके दोनों भेदोंको अर्थालङ्कार माननेके पक्षमें अलङ्कारसर्वस्वकारकी ओरसे यह युक्ति दी जा सकती है कि श्लेष सदा अर्थमुखापेक्षी होता है। क्योंकि दो अर्थोंकी प्रतीतिके बिना न श्लेष हो ही सकता है और न उसमें चमत्कार ही आ सकता है, इसलिए अर्थमुखापेक्षी होनेसे श्लेषके दोनों भेदोंकी अर्थालंकारोंमें ही गणना करनी उचित है। इसका खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

(३) इन [श्लेषपरक] शब्दोंका अर्थमुखापेक्षित्व है [अर्थात् बिना दो अर्थोंकी प्रतीतिके श्लेष हो ही नहीं सकता है। इसलिए श्लेषके दोनों भेदोंको अर्थालङ्कार माना जाता है] यह कहा जाय तो, अनुप्रास आदि [प्रसिद्ध शब्दालङ्कारों] का भी उसी प्रकार [अर्थमुखापेक्षित्व] है, इसलिए उनको भी अर्थालङ्कार क्यों नहीं मानते हो ? (४) रसादिके व्यंजकरूप वाच्य अर्थकी अपेक्षासे ही अनुप्रास आदिकी अलङ्कारता होती है [अर्थात् जहाँ रसानुसारी वर्णसाम्य होता है, वहीं अनुप्रास अलङ्कार होता है। रसविरोधी वर्णोंका साम्य होनेपर अनुप्रासालङ्कार नहीं होता है। इसलिए अनुप्रास आदि शब्दालङ्कारोंमें भी इस प्रकार अर्थमुखापेक्षिता आ जाती है, तब उनको भी अर्थालङ्कार मानना चाहिये। परन्तु अनुप्रासादिको अलङ्कारसर्वस्वकार भी शब्दालङ्कार ही मानते हैं, अर्थालङ्कार नहीं। इसी प्रकार शब्दश्लेषमें भी अर्थापेक्षिता होनेपर भी उसको अर्थालङ्कार न मानकर शब्दालङ्कार मानना ही उचित है, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है]। और शब्दगुण तथा शब्ददोषोंकी गुण-दोषता अर्थमुखापेक्षिणी ही होती है। इसी प्रकार अर्थगत गुणदोष तथा अलङ्कारोंकी स्थितिमें भी शब्दकी अपेक्षा रहती है [आपके मतसे] उनको भी शब्दगत मानना चाहिये [इसलिए आप जो अर्थापेक्षी कहकर शब्दश्लेषकी गणना अर्थालङ्कारोंमें करना चाहते हैं, वह उचित नहीं है]।

एक बात अलंकार सर्वस्वकारने यह कही थी, कि अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य पदोंमें एकवृन्तगत फलद्वय-न्यायसे होनेवाला श्लेष, अर्थश्लेष ही कहलाता है। उसका भी खण्डन करते हुए ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें लिखते हैं कि—

(५) [उदाहरण सं० ३६९ में] 'विधौ वक्रे मूर्ध्नि' इत्यादिमें [विधि तथा विधुरूप पदोंमें इकार-उकाररूप] वर्णादिका श्लेष होनेपर [भी] अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य होनेसे ['विधि' तथा 'विधु' रूप] शब्दोंका भेद होनेपर भी अर्थश्लेष होने लगेगा। इत्यादि [अनेक दोष अलङ्कारसर्वस्वकारके मतमें आ जाते हैं अतः उनका श्लेषविषयक सारा सिद्धान्त ही दूषित है] यह उनको स्वयं विचार करना चाहिये।

[सूत्र १२१]–तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ॥ ८५ ॥

सन्निवेशविशेषेण यत्र न्यस्ता वर्णाः खड्ग–मुरज–पद्माद्याकारमुल्लासयन्ति तच्चित्रं काव्यम् । कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते । उदाहरणम्—

(१) मारारिशक्ररामेभमुखैरासाररंहसा ।
सारारब्धस्तवा नित्यं तदार्तिहरणक्षमा ॥ ३८४ ॥

माता नतानां सङ्घट्टः श्रियां बाधितसम्भ्रमा ।
मान्याऽथ सीमा रामाणां शं मे दिश्यादुमादिमा ॥ ३८५ ॥ (खड्गबन्धः)

५. चित्र अलङ्कार—

[सूत्र १२१]—जहाँ [जिस बन्धमें] वर्णोंकी [रचना] खड्ग आदिकी आकृतिका हेतु हो जाती है, वह 'चित्र' [नामक शब्दालङ्कार कहलाता] है ॥८५॥

जहाँ विशेष प्रकारके विन्याससे लिपिबद्ध किये गये वर्ण खड्ग, मुरज, कमल आदिके आकारको प्रकट करते हैं, वह 'चित्र' [अर्थात् चित्र अलंकारयुक्त] काव्य कहलाता है। यह क्लिष्ट काव्य होता है इसलिए उसका दिग्दर्शनमात्र कराते हैं।

(क) खड्गबन्ध—

उदाहरण, जैसे—

[मार कामदेवके अरि] शिव, इन्द्र, राम तथा [इभमुखैः गजानन] गणेशके द्वारा [आसार-रंहसा], धाराप्रवाहसे जिसकी उत्कृष्ट स्तुति प्रारम्भ की गयी है, इस प्रकारकी और उन [शिव, आदि] की पीड़ाका सदा निवारण करनेवाली—

विनयावनत भक्तोंकी माता [सब प्रकारकी] लक्ष्मियोंकी सम्मेलनभूमि, भक्तोंके भयका निवारण करनेवाली [बाधित सम्भ्रमा] स्त्रियोंकी मर्यादारूप, परम माननीया और अनादि [आदिमा] उमा पार्वती [मे शं दिश्यात्] मेरा कल्याण करे ॥३८५॥

यह खड्गबन्ध है। (इन दो श्लोकोंसे) खड्गका आकार बन जाता है।
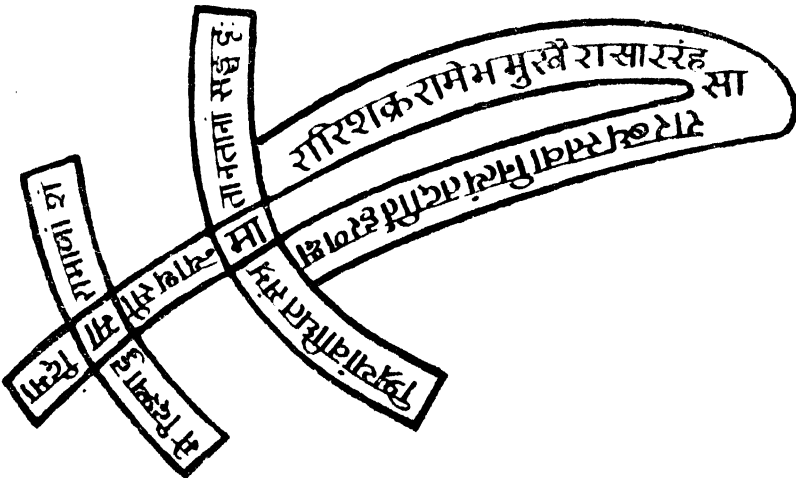
सरला बहुलारम्भतरलालिबलारवा ।
वारलाबहुलामन्दकरलाबहुलामला ॥ ३८६ ॥ (मुरजबन्धः)

पहले उपरिलिखित प्रकारका एक दो खड्गका चित्र बनाओ। उसकी मूठके निचले हिस्सेके बीचमें श्लोकका प्रथम अक्षर 'मा' लिख दो। तलवारकी सबसे निचली नोकके बीचमें प्रथम श्लोकके पूर्वार्द्धका अन्तिम अक्षर 'सा' लिख दो। अब प्रथम श्लोकके शेष अक्षरोंको 'मा'के बादसे आरम्भ करके खड्गके एक ओर लिखते हुए चले जाओ तो तलवारकी निचली नोकपर पूर्वार्द्ध 'सा' अक्षरपर समाप्त हो जायगा। वहाँसे ही उत्तरार्द्धको तलवारके दूसरे भागपर लिखना आरम्भ कर दो और तलवारके एक ओर लिखते चले जाओ तो मूठके निचले भागके बीचमें पूर्वलिखित 'मा' अक्षर पर आकर वह समाप्त हो जायगा। इस 'मा'को केन्द्र मानकर मूठके निचले दोनों फलकोंमें दूसरे श्लोकका प्रथम चरण एक ओर, तथा दूसरा चरण दूसरी ओर आ जायगा। इसी प्रकार द्वितीय श्लोकके तृतीय तथा चतुर्थ दोनों चरण मूठके ऊपरवाले भागके दोनों ओर लिखे जा सकते हैं। इस प्रकार ये दोनों श्लोक तलवारके आकारमें आ जाते हैं।

(ख) मुरजबन्ध—

खड्गबन्धके ये दोनों श्लोक रुद्रटके काव्यालंकारसे लिये गये हैं। रुद्रटके आधारपर ही आगे मुरजबन्धका उदाहरण देते हैं। इस श्लोकमें कवि शरद्‌का वर्णन कर रहा है। अर्थ इस प्रकार है—

सरला अर्थात् मेघादिके कौटिल्यसे रहित, अनेक प्रकारके व्यापारोंके कारण चञ्चल भ्रमरसमूहोंके कोलाहलसे युक्त, [वरटा वरला हंसिनी वरला एव वारला] प्रचुर हंसिनियोंसे सुशोभित, [अमन्दाः करलाः करग्राहिणो राजपुरुषा यस्यां] जिसमें अनेक राजपुरुष कर उगाहनेमें लगे हुए हैं, इस प्रकारकी और [बहुले कृष्णपक्षेऽपि अमला] कृष्णपक्षमें भी उज्ज्वल [शरद्तु सर्वोत्कर्षशालिनी] है ॥३८६॥

श्लोकके चारों चरणोंके सारे वर्णोंको अलग-अलग करके चार पंक्तियोंमें लिखकर उनको निम्नलिखित प्रकारकी रेखाओंसे जोड़ देनेसे उसकी रचना मुरज नामक वाद्यके समान हो जाती है। इसलिए यह मुरजबन्धका उदाहरण होता है—
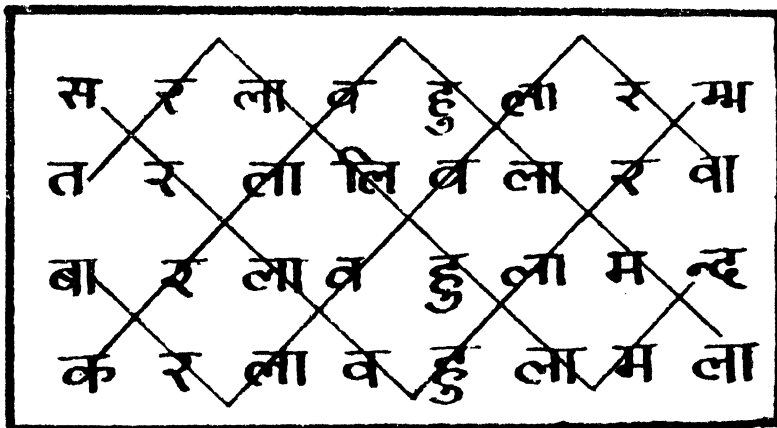
भासते प्रतिभासार ! रसाभाताहताविभा ।
भावितात्मा शुभा वादे देवाभा बत ते सभा ॥ ३८७ ॥ (पद्मबन्धः)

(ग) पद्मबन्ध—

मुरजबन्धके बाद पद्मबन्धका उदाहरण देते हैं। अष्टदल कमलका चित्र बनाकर उसके केन्द्रमें श्लोकका प्रथम अक्षर 'भा' रखकर श्लोकके दो-दो अक्षर आठों दलोंमें रख देनेसे इन सब अक्षरोंका विन्यास इस प्रकारका हो जाता है, कि उससे श्लोकके ३२ अक्षरके चारों चरण पढ़े जा सकते हैं। उनके पढ़नेका प्रकार यह है कि कमलके आठों दलोंमेंसे चार दल दिशाओंमें और चार उपदिशाओंमें पड़ते हैं। इनमेंसे चार दिग्दलोंके अक्षरोंको दो बार पढ़ा जाता है। एक बार उनको बाहरकी ओरसे पढ़ते हुए कर्णिका या केन्द्रमें प्रवेश करते हैं, और दूसरी बार केन्द्र या कर्णिकासे निकलते हुए भी उनका पाठ होता है। इस प्रकार इन चार दलोंमें लिखे हुए आठ अक्षरोंकी पढ़ते समय १६ संख्या हो जाती है। शेष उपदिशाओंके चार दलोंमें आठ अक्षर मिलकर २४ अक्षर हो गये। केन्द्र या कर्णिकामें रखा हुआ अक्षर आठों दलोंके अक्षरोंके साथ आठ बार पढ़ा जाता है। इस प्रकार लिखे हुए १७ अक्षर पढ़ते समय ३२ अक्षर हो जाते हैं। पद्मबन्धका जो उदाहरण दिया है, उसका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

हे प्रतिभासार [अत्यन्त प्रतिभावन् राजन्! 'शृंगारादि अथवा प्रीतिरूप] रसोंसे शोभित [आभाता और अहता एवं आविभा] अप्रतिहत एवं अत्यन्त दीप्तिमती' ['भावितात्मा'] जिसमें आत्माका चिन्तन किया जाता है, तथा वादमें निपुणा, आपकी सभा देवताओं [की सभा] के समान है, यह बड़े आनन्द [या आश्चर्य] की बात है ॥३८७॥

पद्मबन्धमें इस श्लोकको निम्नलिखित प्रकार लिखा जाता है—
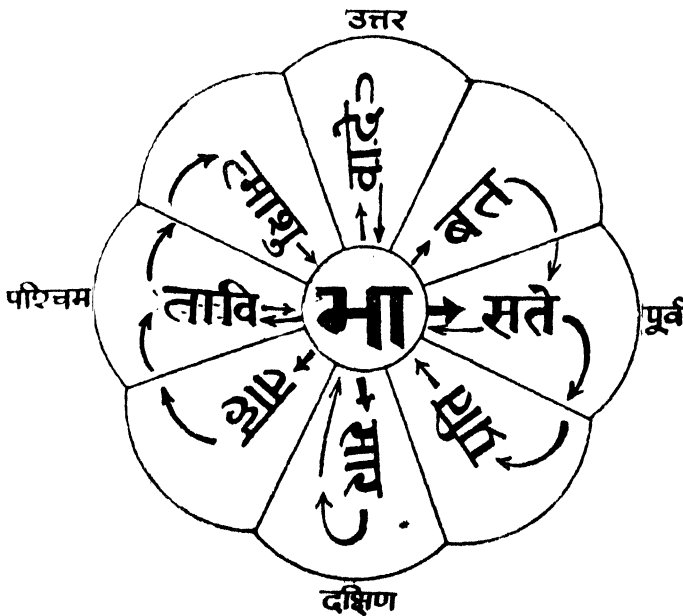
रसासार ! रसा सारसायताक्ष ! क्षतायसा।
सातावात ! तवातासा रक्षतस्त्वस्त्वतक्षर ! ॥ ३८८ ॥
(सर्वतोभद्रम्)

सर्वतोभद्र—

अगला उदाहरण 'सर्वतोभद्र' का है। यह भी रुद्रटके काव्यालंकारसे लिया गया है। अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

हे पृथिवीके सार [पृथिवीमें सर्वश्रेष्ठ राजन्] ! रक्षण करनेवाले [रक्षतः तव] आपकी [रसा] पृथिवी [क्षतायसा, क्षतः नाशितः अयः शुभावहविधिर्येषां ते क्षतायाः दुर्जनाः तान् स्यति अन्तं प्रापयति योऽन्तकर्मणि। तादृशी क्षतायसा] दुष्टोंका अन्त करनेवाली और [तु शब्द च के अर्थमें है। अतासा, तसु उपक्षये इस धातुसे अतासा पद बना है, न विद्यते तासः उपक्षयो यस्याः सा अतासा] उपद्रव तथा उपक्षयसे रहित हो। [यह मुख्य वाक्यका अर्थ है। शेष 'सारसायताक्ष', 'सातावात' तथा 'अक्षर' ये तीन सम्बोधनात्मक विशेषण हैं। इनका अर्थ 'सारसं कमलं तद्वत् आयते विशाले यक्षिणी यस्य तादृश, सातावत सातं नाशितं अवातं अज्ञानं येन तादृश, अवात शब्द, वा गतिगन्धनयोः, धातुसे बना है। 'गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तश्चेति' इस सिद्धान्तके अनुसार यहाँ 'वा' धातुका ज्ञानरूप अर्थ किया गया है। अथवा 'साते सुखे अवात अचंचल', अनासक्त यह 'सातावात'की दूसरी व्युत्पत्ति भी हो सकती है और 'अतक्षं अनल्पं राति ददाति इति अतक्षर' ये तीन सम्बोधन विशेषण राजाके हैं] ॥३८८॥

सर्वतोभद्रके उदाहरणमें उस श्लोकके चारों चरणोंके अक्षरोंको साधारण रूपसे अलग-अलग करके चार पंक्तियोंमें लिख देना ही पर्याप्त होता है। उसकी रचनामें यह विशेषता होती है कि (१) प्रत्येक चरणको सीधी ओरसे अथवा उल्टी ओरसे चाहे किसी ओरसे पढ़ा जाये, एक ही प्रकारका पाठ उपलब्ध होता है। जैसे इसी उदाहरणमें। (२) इसी प्रकार प्रत्येक पादके प्रारम्भिक चार तथा अन्तिम चार अक्षरोंको भी अनुलोम, प्रतिलोम सीधे उलटे किसी रूपसे पढ़नेपर एक ही पाठ रहता है। इसी प्रकार (३) चारों पादोंके प्रथम और अष्टम अक्षरकी पंक्तियोंको ऊपरसे नीचे या नीचेसे ऊपरकी ओर पढ़नेसे श्लोकका आठ अक्षरोंका प्रथम चरण बन जाएगा। (४) इसी प्रकार प्रत्येक पादके द्वितीय तथा सप्तम अक्षरोंको ऊपरसे नीचे या नीचेसे ऊपर किसी भी रूपमें पढ़नेपर श्लोकका दूसरा चरण बन जायगा। (५) इसी प्रकार चारों चरणोंके तीसरे, छठे अक्षर, और चौथे तथा पाँचवें अक्षरोंको ऊपर-नीचे किसी भी ओरसे पढ़नेपर श्लोकका तीसरा तथा चौथा चरण बन जाता है। इस प्रकार सर्वतो-भद्रमें अनेक प्रकारसे घुमा-फिराकर एक श्लोकको पढ़ा जा सकता है, इसलिए इसका नाम 'सर्वतोभद्र' रखा गया है। इसका लक्षण "तदिष्टं सर्वतो भद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः" इसी भावको व्यक्त करता है। सर्वतो भद्रके इस उदाहरणको निम्नलिखित प्रकारसे लिखा जायगा।

र	सा	सा	र	र	सा	सा	र
सा	य	ता	क्ष	क्ष	ता	य	सा ॥
सा	ता	वा	त	त	वा	ता	सा
र	क्ष	त	स्त्व	स्त्व	त	क्ष	र ॥

सम्भविनोऽप्यन्ये प्रभेदाः शक्तिमात्रप्रकाशका न तु काव्यरूपतां दधतीति न प्रदर्श्यन्ते ।

[सूत्र १२२]-**पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा । एकार्थतेव**

भिन्नरूपसार्थकानर्थकशब्दनिष्ठमेकार्थत्वेन मुखे भासनं **पुनरुक्तवदाभासः** । स च—

[सूत्र १२३]-**शब्दस्य**

सभङ्गाभङ्गरूपकेवलशब्दनिष्ठः । उदाहरणम्—

अरिवधदेहशरीरः सहसा रथिसूततुरगपादातः ।
भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः ॥ ३८९ ॥

[इसी प्रकार इस चित्र अलङ्कारके] और भेद भी हो सकते हैं, परन्तु वे कविकी शक्तिमात्रके प्रदर्शक होते हैं [लोकोत्तर चमत्कारके जनक न होनेसे] काव्यरूपताको धारण नहीं करते हैं, इसलिए यहाँ दिखलाये नहीं गये हैं ।

६. पुनरुक्तवदाभास—

इस प्रकार १. वक्रोक्ति २. अनुप्रास, ३. यमक, ४. श्लेष तथा ५. चित्र रूप पाँच शब्दालङ्कारोंके बाद छठे पुनरुक्तवदाभास अलङ्कारका निरूपण करते हैं । यह पुनरुक्तवदाभास, शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार, दोनोंमें गिना जाता है इसलिए शब्दालङ्कारोंके निरूपणके बाद तथा अगले दशम उल्लासमें अर्थालङ्कारोंका निरूपण प्रारम्भ करनेके पहिले दोनोंके बीचमें रखा गया है ।

[सूत्र १२२]—विभिन्न स्वरूपके शब्दोंमें रहनेवाली [समानार्थक न होनेपर भी] समानार्थता-सी जो [प्रतीत होती] है वह पुनरुक्तवदाभास [अलङ्कार कहलाता] है ।

भिन्नरूपके [कहीं-कहीं दोनों] सार्थक और [कहीं दोनों या एकके] अनर्थक शब्दोंमें आपाततः [प्रारम्भमें] समानार्थकताकी प्रतीति [जहाँ होती है, वह] पुनरुक्तवदाभास [अलङ्कार] होता है । और वह [शब्द तथा अर्थ, दोनोंमें रहनेवाला होता है । उनमें से]—

[सूत्र १२३]--शब्दका [पुनरुक्तवदाभास]—

सभङ्ग तथा अभङ्गरूप केवल शब्दमें रहता है । उदाहरण—

[अरिवधदा शत्रु विनाशिनी ईहा चेष्टा येषां तादृशाः ये शरिणः शरयुक्ता योद्धारः तान् ईरयति प्रेरयति इति अरिवधदेहशरीरः] शत्रुविनाशिनी चेष्टावाले योद्धाओंको प्रेरित करनेवाला [सहसा शीघ्रं हठेन वरथिभिः सुष्ठु ऊताः सम्बद्धाः तुरगाः अश्वाः पादाताः पदातिकाश्च यस्य सः] और जिसके अश्व [आरोही] तथा पदाति सहसा [हठात् या] शीघ्र रथियोंके साथ भली प्रकार मिल गये हैं, इस प्रकारका, तथा स्थिरतामें [अग] पर्वतके समान, और [अवनितलतिलक] भूतलका भूषणरूप [राजा] सदा विनम्रतासे [सदा नत्या, अथवाः सतां विषये आनत्या, अथवा दुष्टोंके सामने अनत्या अनम्रत्वेन, भाति] शोभित होता है ॥३८९॥

(२) चकासत्यङ्गनारामाः कौतुकानन्दहेतवः ।

तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्तिनः ॥ ३९० ॥

[सूत्र १२४]–**तथा शब्दार्थयोरयम्** ॥ ८६ ॥

उदाहरणम्—

तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखरः ।

तेजोधाम महः पृथुमनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः ॥ ३९१ ॥

अत्रैकस्मिन् पदे परिवर्तिते नालंकार इति शब्दाश्रयः, अपरस्मिंस्तु परिवर्तितेऽपि स न हीयते इत्यर्थनिष्ठः, इत्युभयालङ्कारोऽयम् ॥

इति काव्यप्रकाशे शब्दालंकारनिर्णयो नाम नवम उल्लासः समाप्तः ॥ ९ ॥

इसमें देह शरीर, सारथि सूत, और दान-त्याग, शब्दोंकी आपाततः पुनरुक्ति-सी प्रतीत होती है, परन्तु अन्तमें पुनरुक्ति नहीं रहती है। ये शब्द सभी सभङ्ग हैं। इसलिए यह शब्दनिष्ठ, सभङ्ग पुनरुक्तवदाभासका उदाहरण है। देह-शरीरमें दोनों शब्द सार्थक और सभङ्ग हैं। सारथि-सूतमें पहला शब्द अनर्थक और दूसरा सार्थक है और दोनों सभङ्ग हैं। दान-त्यागमें दोनों अनर्थक और सभङ्ग हैं। इनमेंसे किसी शब्दका परिवर्तन कर देनेपर यह अलङ्कार नहीं रह सकता है। इसलिए शब्द परिवृत्यसह होनेके कारण शब्दालङ्कार माना जाता है। आगे अभङ्ग शब्दनिष्ठ पुनरुक्तवदाभासका उदाहरण देते हैं—

उस राजाके [पार्श्ववर्त्ती], सुन्दरी स्त्रियोंके साथ रमण करनेवाले, काव्यचर्चा आदिके द्वारा आनन्द प्रदान करनेवाले, सुन्दर मनवाले [सहृदय], और विद्वान् पार्श्ववर्त्ती [मित्र] शोभित होते हैं ॥३९०॥

इसमें अङ्गनाः-रामाः, कौतुक-आनन्द और सुमनसो-विबुधाः शब्द आपततः पुनरुक्त-से प्रतीत होते हैं, परन्तु अर्थका विचार करनेपर पुनरुक्ति नहीं रहती है। ये शब्द अभङ्ग हैं। इनमें शब्द परिवृत्तिसहत्व नहीं है। इसलिए यह श्लोक शब्दनिष्ठ अभङ्ग पुनरुक्तवदाभासका उदाहरण है।

[सूत्र १२४]—इसी प्रकार यह शब्द तथा अर्थ, दोनोंमें हो सकता है ॥८६॥

[उभयनिष्ठ अलङ्काररूपमें] उदाहरण [जैसे]—

कृश-शरीर [तनुवपुः] होनेपर भी [अजघन्य] श्रेष्ठ, [अत्यन्त बलवान्] बड़े-श्रेष्ठ हाथियोंके रक्तसे रँगे हुए तीक्ष्ण नखोंवाला, तेजका धाम और [महसा तेजसा] तेजके कारण उदार मनवालोंका राजा, और सिंह विजयशील है ॥३९१॥

इसमें [तनु, कुञ्जर, रक्त इत्यादि] कुछ पदोंके परिवर्त्तन कर देनेपर यह अलङ्कार नहीं रहता है इसलिए [उस अंशमें] शब्दाश्रित है। और [वपुः, करि, रुधिर आदि] दूसरोंके परिवर्त्तन कर देनेपर भी [अलङ्कारकी] हानि नहीं होती है, इसलिए [उस अंशमें] अर्थनिष्ठ है। अतः यह उभयालङ्कार होता है।

काव्यप्रकाशमें शब्दालङ्कारनिर्णय नामक नवम उल्लास समाप्त हुआ।

श्रीमदाचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि विरचितायां

काव्यप्रकाशदीपिकायां हिन्दी-व्याख्यायां नवम उल्लासः समाप्तः।

अथ दशम उल्लासः

अथ काव्यप्रकाशदीपिकायां दशम उल्लासः ।

उल्लास-संगति—

प्रथम उल्लासमें काव्यका लक्षण करते समय 'अनलंकृती पुनः क्वापि' यह भी 'शब्दार्थों'का एक विशेषण दिया गया था। उसको स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए अलङ्कारोंका निरूपण करना आवश्यक है इसलिए इस ग्रन्थमें अलङ्कारोंका समावेश आवश्यक हुआ। इन अलङ्कारोंके शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार तथा उभयालङ्कार नामसे तीन भेद किये गये हैं। जो अलङ्कार शब्दपरिवृत्त्यसह होते हैं, अर्थात् किन्हीं विशेष शब्दोंके रहनेपर ही जो अलङ्कार रहते हैं और उन विशेष शब्दोंको बदल कर यदि उनके स्थानपर उनके पर्यायवाचक दूसरे शब्द रख दिये जायँ तो उन अलङ्कारोंकी स्थिति नहीं रहती है, वे अलङ्कार उन विशेष शब्दोंके ही आश्रित होनेसे शब्दालङ्कार कहलाते हैं। और जो अलङ्कार शब्दपरिवृत्तिसह होते हैं अर्थात् यदि उन शब्दोंका परिवर्तन करके उनके समानार्थक दूसरे शब्द प्रयुक्त कर दिये जायँ तो भी अलङ्कारकी कोई हानि नहीं होती है वे अलङ्कार शब्दाश्रित न होकर अर्थके आश्रित होते हैं। इसलिए अर्थालङ्कार कहलाते हैं। विगत नवम उल्लासमें ग्रन्थकारने १. वक्रोक्ति, २. अनुप्रास, ३. यमक, ४. श्लेष और ५. चित्र नामक पाँच शब्दालङ्कार तथा ६. पुनरुक्तवदाभास नामक उभयालङ्कार इन छ अलङ्कारोंका निरूपण किया था। अब इस दशम उल्लासमें ६१ प्रकारके अर्थालङ्कारोंका निरूपण करते हैं।

अलङ्कार-संख्याके विषयमें मतभेद—

इस प्रकार काव्यप्रकाशमें पाँच शब्दालङ्कार, ६१ अर्थालङ्कार और १ उभयालङ्कार कुल मिलाकर ६७ प्रकारके अलङ्कारोंका निरूपण किया गया है। परन्तु अलङ्कारोंकी संख्या भिन्न-भिन्न आचार्योंके मतमें अलग-अलग पायी जाती है। भरत-नाट्यशास्त्रमें उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक केवल इन चार ही अलङ्कारोंका वर्णन पाया जाता है। वामनने उनके ३३ भेद दिखलाये हैं। दण्डीने ३५ प्रकारके, भामहने ३९ प्रकारके और उद्भटने ४० प्रकारके अलङ्कारोंका वर्णन किया है। रुद्रटने अपने काव्यालङ्कारमें ५२ तथा काव्यप्रकाशकारने ६७ प्रकारके अलङ्कारोंके भेद दिखलाये हैं। जयदेवके चन्द्रालोकमें अलङ्कारोंकी संख्या १०० हो गयी है। और उनके व्याख्याकार अप्पयदीक्षितने कुवलयानन्दमें उसको बढ़ाकर १२४ तक पहुँचा दिया है। इसका संग्रह हमने निम्नलिखित प्रकार किया है—

उपमा रूपकं चैव दीपको यमकस्तथा।
चत्वार एवालङ्काराः भरतेन निरूपिताः॥ १॥
वामनेन त्रयस्त्रिंशद् भेदास्तस्य निरूपिताः।
पञ्चत्रिंशद्विधश्चायं दण्डिना प्रतिपादितः॥ २॥
नवत्रिंशद्विधश्चायं भामहेन प्रकीर्तितः।
चत्वारिंशद्विधश्चैव उद्भटेन प्रदर्शितः॥ ३॥
द्विपञ्चाशद्विधः प्रोक्तो रुद्रटेन ततः परम्।
सप्तषष्टिविधिः प्रोक्तः प्रकाशे मम्मटेन च॥ ४॥
शतधा जयदेवेन विभक्तो दीक्षितेन च।
चतुर्विंशतिभेदास्तु कृता एक शतोत्तराः॥ ५॥

काव्यप्रकाशके ६१ अर्थालङ्कार—

काव्यप्रकाशके इस दशम उल्लासमें वर्णित ६१ अर्थालङ्कारोंके नाम निम्नलिखित प्रकार हैं—

१ उपमा, २ अनन्वय, ३ उपमेयोपमा, ४ उत्प्रेक्षा, ५ ससन्देह, ६ रूपक, ७ अपह्नुति, ८ श्लेष, ९ समासोक्ति, १० निदर्शना, ११, अप्रस्तुतप्रशंसा, १२ अतिशयोक्ति, १३ प्रतिवस्तूपमा, १४ दृष्टान्त, १५ दीपक, १६ तुल्ययोगिता, १७ व्यतिरेक, १८ आक्षेप, १९ विभावना, २० विशेषोक्ति, २१ यथासंख्य, २२ अर्थान्तरन्यास, २३ विरोधाभास, २४ स्वभावोक्ति, २५ व्याजस्तुति, २६ सहोक्ति, २७ विनोक्ति, २८ परिवृत्ति, २९ भाविक, ३० काव्यलिङ्ग, ३१ पर्यायोक्ति, ३२ उदात्त, ३३ समुच्चय, ३४ पर्याय, ३५ अनुमान, ३६ परिकर, ३७ व्याजोक्ति, ३८ परिसंख्या, ३९ कारणमाला, ४० अन्योन्य, ४१ उत्तर, ४२ सूक्ष्म, ४३ सार, ४४ असङ्गति, ४५ समाधि, ४६ सम, ४७ विषम, ४८ अधिक, ४९ प्रत्यनीक, ५० मीलित, ५१ एकावली, ५२ स्मृति, ५३ भ्रान्तिमान्, ५४ प्रतीप, ५५ सामान्य, ५६ विशेष, ५७ तद्गुण, ५८ अतद्गुण, ५९ व्याघात, ६० संसृष्टि, ६१ सङ्कर।

अलङ्कारोंका वर्गीकरण—

'अलङ्कारसर्वस्व'के निर्माता 'रुय्यक' [बारहवीं शताब्दीका मध्यभाग] ने ६७ अलङ्कारोंका प्रतिपादन किया है और रचनाशैलीके आधारपर आठ मुख्य भागोंमें उन समस्त अलङ्कारोंका वर्गीकरण किया है। इनमें प्रथम वर्गके फिर चार अवान्तर विभाग किये हैं। इस प्रकार अलङ्कारोंके ४ + ७ = ११ वर्ग बन जाते हैं। उनके नाम और उनके अन्तर्गत अलङ्कारोंकी संख्या निम्नलिखित प्रकार है—

१ सादृश्यमूलक अलङ्कार
[४+६+२+१७ = २९]

अ—भेदाभेदप्रधान	४
आ—आरोपमूलक अभेदप्रधान	६
इ—अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान	२
ई—गम्य औपम्यमूलक अलङ्कार	१७
सादृश्यमूलक अलङ्कार कुल	२९

२ विरोधमूलक अलङ्कार	११
३ शृङ्खला-बन्धमूलक अलङ्कार	३
४ तर्कन्यायमूलक अलङ्कार	२
५ वाक्यन्यायमूलक अलङ्कार	८
६ लोकन्यायमूलक अलङ्कार	७
७ गूढार्थप्रतीतिमूलक अलङ्कार	७
सादृश्यातिरिक्त अलङ्कारमूलक	३८

२९ + ३८ = ६७ कुल अलङ्कार

इस प्रकार रुय्यकने ६७ अलङ्कारोंका वर्गीकरण किया है। इन वर्गोंमें अन्तर्भूत अलङ्कारोंके नाम निम्नलिखित प्रकार हैं—

अ—अभेदप्रधान सादृश्यमूलक चार अलङ्कार—१ उपमा [काव्यप्रकाश संख्या १], २ उपमेयोपमा [का० ३], ३ अनन्वय [का० २], ४ स्मरण [का० ५२]।

आ—आरोपमूलक अभेदप्रधान छ अलङ्कार—५ रूपक [का० ६], ६ परिणाम [का० अनुक्त], ७ ससन्देह [का० ५], ८ भ्रान्तिमान् [का० ५३], ९ उल्लेख [का० अनुक्त], १० अपह्नुति [का० ७]।

इ—अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान दो अलङ्कार—११ उत्प्रेक्षा [का० ४] १२ अतिशयोक्ति [का० १२]।

ई—गम्य औपम्याश्रित सादृश्यमूलक सत्रह अलङ्कार—१३ तुल्ययोगिता [का० १६], १४ (पदार्थगत) दीपक [का० १५], १५ प्रतिवस्तूपमा [का० १३], १६ दृष्टान्त [का० १४],

१७ (वाक्यार्थगत) निदर्शना [का० १०], १८ व्यतिरेक [का० १७], १९ (श्लेषप्रधान) सहोक्ति [का० २६], २० विनोक्ति [का० २७], २१ समासोक्ति [का० ९], २२ (विशेषण-विच्छित्याश्रय) परिकर [का० ३६], २३ (विशेष्य-विच्छित्याश्रय) परिकराङ्कुर [का० अनुक्त], २४ (विशेषण-विशेष्य-विच्छित्याश्रय) श्लेष [का० ८], २५ अप्रस्तुतप्रशंसा [का० १९], २६ अर्थान्तरन्यास [का० २२], २७ पर्यायोक्ति [का० ३१], २८ व्याजस्तुति [का० २५], २९ आक्षेप [का० १८]

२. विरोधमूलक ग्यारह अलङ्कार—३० विरोध [या विरोधाभास का० २३], ३१ विभावना [का० १९], ३२ विशेषोक्ति [का० २०], ३३ असङ्गति [का० ४४], ३४ विषम [का० ४७], ३५ सम [का० ४६], ३६ विचित्र [का० अनुक्त], ३७ अधिक [का० ४८], ३८ अन्योन्य [का० ४०], ३९ विशेष [का० ५६], ४० व्याघात [का० ५९]।

३. शृङ्खलाबन्धमूलक तीन अलङ्कार—४१ कारणमाला [का० ३९], ४२ एकावली [का० ५१], मालादीपक [का० १५ पदार्थगत दीपक ऊपर सं० १४ पर आ चुका है], ४३ सार [का० ४३]

४. तर्कन्यायमूलक दो अलङ्कार—४४ काव्यलिङ्ग [का० ३०], ४५ अनुमान [का० ३५]।

५. वाक्यन्यायमूलक आठ अलङ्कार—४६ यथासंख्य [का० २०] ४७ पर्याय [का० ३४], ४८ परिवृत्ति [का० २८], ४९ परिसंख्या [का० ३८], ५० अर्थापत्ति [का० अनुक्त], ५१ विकल्प [का० अनुक्त], ५२ समुच्चय [का० ३३], ५३ समाधि [का० ४५]।

६. लोकन्यायमूलक सात अलङ्कार—५४ प्रत्यनीक [का० ४९], ५५ प्रतीप [का० ५४], ५६ मीलित [का० ५०], ५७ सामान्य [का० ५५], ५८ तद्गुण [का० ५७], ५९ अतद्गुण [का० ५८], ६० उत्तर [का० ४१]।

७. गूढार्थप्रतीतिमूलक सात अलङ्कार—६१ सूक्ष्म [का० ४२], ६२ व्याजोक्ति [का० ३७], ६३ वक्रोक्ति [का० अनुक्त], ६४ स्वभावोक्ति [का० २४], ६४ भाविक [का० २९], ६६ संसृष्टि [का० ६०], ६७ सङ्कर [का० ६१]।

इस प्रकार अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यकने ६७ अलङ्कारोंका वर्गीकरण किया है। काव्य-प्रकाशमें केवल ६१ अर्थालङ्कार दिये गये हैं। अतः रुय्यकने काव्यप्रकाशकी अपेक्षा छ अधिक अर्थालङ्कारोंका वर्णन किया है। रूय्यकके वर्गीकरणमें सम्मिलित किन्तु काव्यप्रकाशमें अनुक्त उन छ अलङ्कारोंके नाम निम्नलिखित प्रकार हैं—

१ परिणाम [ऊपर वर्गीकरणमें सं० ६ पर उक्त], २ उल्लेख [सं० ९ पर कथित], ३ परि-कराङ्कुर [सं० २३], ४ विचित्र [सं० ३६], ५ अर्थापत्ति [सं० ५०] तथा ६ विकल्प [सं० ५१]

इस प्रकार काव्यप्रकाशके अलङ्कारोंका रुय्यकके वर्गीकरणके साथ समन्वय हो जाता है।

१. उपमा अलङ्कार—

काव्यप्रकाशमें प्रतिपादित ६१ अर्थालङ्कारोंमें १ उपमा, २ उपमेयोपमा, ३ अनन्वय, ४ स्मरण, ५ रूपक, ६ ससन्देह, ७ भ्रान्तिमान्, ८ अपह्नुति, ९ उत्प्रेक्षा, १० अतिशयोक्ति, ११ तुल्ययोगिता, १२ दीपक, १३ प्रतिवस्तूपमा, १४ दृष्टान्त, १५ निदर्शना, १६ व्यतिरेक, १७ सहोक्ति, १८ समासोक्ति आदि उनतीस अलङ्कार सादृश्यमूलक अलङ्कार हैं। अतः इन सब वर्गोंमें सबसे अधिक संख्या सादृश्य-मूलक अलङ्कारोंकी है। उक्त सादृश्यमूलक अलङ्कारोंका आधारभूत उपमा अलङ्कार है इसलिए सब अलङ्कारोंसे पहिले उपमाका निरूपण ग्रन्थकारने किया है।

अर्थालंकारानाह—

[सूत्र १२५]—साधर्म्यमुपमा भेदे

उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा ।

भेदग्रहणमनन्वयव्यवच्छेदाय ॥

[सूत्र १२६]—पूर्णा लुप्ता च ।

उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाप्रतिपादकानामुपादाने पूर्णा । एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे लुप्ता ।

[सूत्र १२७]—साऽग्रिमा ।

श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥८७॥

उपमा अलङ्कारमें १ उपमान, २ उपमेय, ३ साधारणधर्म या सादृश्य तथा ४ उपमावाचक शब्द इन चारका उपयोग होता है। दो सदृश पदार्थोंमें प्रायः अधिक गुणवाला पदार्थ 'उपमान' और न्यूनगुणवाला पदार्थ 'उपमेय' होता है। 'मुख चन्द्रमाके समान सुन्दर है' यहाँ अधिकगुणवत्तया सम्भावित चन्द्रमा उपमान और न्यूनगुणवत्तया सम्भावित मुख उपमेय है। सौन्दर्य या मनोज्ञत्व उन दोनोंका समानधर्म है। और यथा, इव आदि शब्द उपमाके वाचक शब्द होते हैं। इन उपमान तथा उपमेयके समानधर्मके सम्बन्धका वर्णन ही उपमा अलंकार कहलाता है। परन्तु उपमामें उन उपमान तथा उपमेयका भेद होना आवश्यक है। 'रामरावणयोर्युद्धं राम-रावणयोरिव' इत्यादि स्थलोंमें भी सादृश्यका वर्णन किया गया है परन्तु इसमें उपमान तथा उपमेय दोनों एक ही हैं, अलग-अलग नहीं, इसलिए यहाँ उपमा नहीं अपितु 'अनन्वय-अलंकार' होता है।

[इस दशम उल्लासमें] अर्थालङ्कारोंको कहते हैं—

[सूत्र १२५]—[उपमान तथा उपमेयका] भेद होनेपर [उनके] साधर्म्य [का वर्णन] उपमा [कहलाता] है।

उपमान और उपमेयका ही साधर्म्य होता है, कार्य-कारण आदिका नहीं, इसलिए उनका ही समानधर्मसे सम्बन्ध उपमा [कहलाता] है। [लक्षणमें] भेदका ग्रहण अन्वयसे पृथक् करनेके लिए है।

उपमाके पूर्णा, लुप्ता दो भेद—

[सूत्र १२६]—[वह उपमा] १ पूर्णोपमा और लुप्तोपमा [दो प्रकारकी होती] है।

१ उपमान, २ उपमेय, ३ साधारणधर्म और ४ उपमावाचक [इव आदि पद इन चारों] का ग्रहण होनेपर पूर्णा [उपमा] तथा [उन चारोंमेंसे] एक या दो या तीनका लोप होनेपर लुप्ता [उपमा होती] है।

पूर्णोपमाके छ भेद—

[सूत्र १२७]—वह [उनमेंसे] पहिली [अर्थात् पूर्णोपमा] श्रौती और आर्थी [दो प्रकारकी फिर उन दोनोंमेंसे प्रत्येक] वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत [तीन प्रकारकी, ३×२=६ कुल छ प्रकारकी] होती है।

अग्रिमा पूर्णा ।

यथा-इवादिशब्दा-यत्परास्तस्यैवोपमानताप्रतीतिरिति यद्यप्युपमानविशेषणान्येते तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् सम्बन्धं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे श्रौती उपमा । तथैव "तत्र तस्येव" इत्यनेन इवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने ।

'तेन तुल्यं मुखमि' इत्यादावुपमेये एव **'तत्तुल्यमस्य'** इत्यादौ चोपमाने

[कारिकामें आये हुए] अग्रिमा [शब्दका अर्थ] पूर्णा [है]।

श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमाका भेद—

उपमावाचक शब्दोंमें यथा, इव, वा आदि शब्दों तथा तुल्य, सदृश आदि शब्दोंके अर्थबोधनमें कुछ भेद पाया जाता है। यथा, इव, वा आदि शब्द उपमानपदके विशेषण होते हैं और सुननेके साथ ही साधारणधर्मके सम्बन्धरूप सादृश्यका बोध करा देते हैं इसलिए उनके प्रयोगमें 'श्रौती' उपमा कहलाती है। इसके विपरीत तुल्य, सदृश आदि दूसरे प्रकारके उपमावाचक शब्द कभी उपमानके साथ, कभी उपमेयके साथ, कभी दोनोंके साथ अन्वित होते हैं। इसलिए उनमें विचार करनेके बाद साधारणधर्मके सम्बन्धकी प्रतीति होती है इसलिए उनके प्रयोगमें 'आर्थी' उपमा मानी जाती है। वाक्यगत और समासगत श्रौती तथा आर्थी उपमाका भेद इन यथा, इव, वा आदि तथा तुल्य, सदृश आदि शब्दोंके प्रयोगके आधारपर ही होता है।

'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' [अष्टा० ५,१,११५] तथा 'तत्र तस्यैव' [५,१,१६] इन दो सूत्रोंसे वति-प्रत्यय होनेपर तद्धित-गत उपमा बनती है। इनमें 'तत्र तस्यैव'से इवार्थमें वति प्रत्यय होनेसे 'श्रौती' तथा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' से तुल्यार्थमें वति-प्रत्यय होनेसे 'आर्थी' उपमा होती है। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः'से जो वति-प्रत्यय होता है वह उपमान तथा उपमेयके क्रियासाम्यमें ही होता है और तृतीयान्त शब्दसे होता है। गुण और द्रव्यादिके साम्य होनेपर 'तत्र' और 'तस्य' अर्थात् सप्तम्यन्त तथा षष्ठ्यन्त शब्दसे वति-प्रत्यय 'तत्र तस्यैव' इस सूत्रसे होता है, और उस दशामें श्रौती उपमा होती है। 'मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्राकारः' यहाँ 'मथुरायाँ इव' इस सप्तम्यन्तसे वति-प्रत्यय होकर प्राकाररूप द्रव्यके सादृश्यमें 'मथुरावत्' प्रयोग बना है। 'मथुरावत् पाटलिपुत्रस्य विस्तारः' यहाँ विस्ताररूप गुणके सादृश्यमें 'मथुराया इव' इस षष्ठ्यन्तसे वति-प्रत्यय होकर 'मथुरावत्' शब्द बना है। इस प्रकार श्रौती उपमामें द्रव्य या गुणका सादृश्य विवक्षित होता है और षष्ठी या सप्तमी विभक्तिवाले पदसे वति-प्रत्यय होता है। इसके विपरीत आर्थी उपमामें क्रियामात्रका साम्य विवक्षित होता है और तृतीयान्त पदसे वाति-प्रत्यय होता है। इसी आधारपर श्रौती तथा आर्थी उपमाका भेद अगले दो अनुच्छेदोंमें दिखलाते हैं—

यथा, इव, वा इत्यादि शब्द जिसके बाद आते हैं वह ही उपमानरूपसे प्रतीत होता है इसलिए यद्यपि ये उपमानके विशेषण होते हैं फिर भी शब्दशक्तिके प्रभावसे वे षष्ठी [विभक्ति] के समान श्रवणमात्रसे [तत्काल] ही [सादृश्य] सम्बन्धका प्रतिपादन कर देते हैं इसलिए उनका प्रयोग होनेपर 'श्रौती' [उपमा] होती है। इसी प्रकार 'तत्र तस्यैव' [अष्टा० ५, १, १९६] इस [सूत्र] से इवार्थमें [षष्ठ्यन्त अथवा सप्तम्यन्त पदसे] विहित वति-प्रत्ययका ग्रहण होनेपर भी [तद्धितगत श्रौती उपमा होती है]।

[इसके विपरीत] 'तेन तुल्यं मुखम्' 'उस [कमल] के समान मुख है' यहाँ

एव **'इदं च तच्च तुल्यम्'** इत्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात् तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी। तद्वत् **"तेन-तुल्यं क्रिया चेद्वतिः"** इत्यनेन विहितस्य वतेः स्थितौ ।

"इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च"इति नित्यसमासे इवशब्दयोगे समासगा । क्रमेणोदाहरणम् ।

(१) स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्न मुञ्चति ।
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा ॥३९२॥

[उपमावाचक तुल्य पदका सम्बन्ध मुखरूप] उपमेयमें ही [प्रतीत होता है]। 'यह [कमल] इस [मुख] के तुल्य है' इत्यादि [उदाहरणों] में [उपमावाचक तुल्य पदका सम्बन्ध कमलरूप] उपमानमें ही [प्रतीत होता है]। और 'यह [कमल] तथा वह [मुख] समान है' यहाँ [मुख तथा कमल] दोनों [के साथ सम्बन्ध] में तुल्य आदि पदोंकी विश्रान्ति [पर्यवसान] होती है, इसलिए साधारणधर्मके सम्बन्धका विचार करनेपर ही [तुल्ययोर्भावः] तुल्यताकी प्रतीति होती है। इसलिए [तुल्यादि पदोंके प्रयोगमें] साधर्म्यके [इवादिके समान वाच्य न होकर] 'आर्थ' होनेसे तुल्यादि शब्दोंका प्रयोग होनेपर 'आर्थी' [उपमा] होती है। इसी प्रकार 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' [अष्टा० ५, १, ११५] इस [सूत्र] से [क्रियामात्रके साम्यमें तृतीयान्तसे विहित] वति-प्रत्ययके प्रयोगमें भी [आर्थी उपमा होती] है।

वाक्यगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा—

[सह सुपमा २, ४, ७१ इस पाणिनिसूत्रके महाभाष्यमें दिये हुए कात्यायनकृत वार्तिकके अनुसार]। 'इवके साथ [उपमान-पदका] नित्य समास [और समास होनेपर भी] विभक्तिका अलोप तथा पूर्वपदका प्रकृतिस्वरत्व होता है', इस [नियम] से नित्य समासमें इव शब्दका प्रयोग होनेपर 'समासगा' [श्रौती और तुल्य आदि पदोंके साथ समास होनेपर आर्थी समासगा उपमा होती है। शेष स्थलोंपर इव आदिके प्रयोगमें वाक्यगा श्रौती तथा तुल्य आदिका प्रयोग होनेपर वाक्यगा आर्थी उपमा होती है]।

[श्रौती तथा आर्थी उपमाके इन छ भेदोंके] क्रमशः उदाहरण [आगे देते हैं]–

(१) स्वाधीन-पतिका [नायिका] के समान विजयश्री प्रभाव [प्रभुशक्ति] के कारणभूत [प्रभव] आपको स्वप्नमें भी युद्धोंमें नहीं छोड़ती है। ३९२।

इसमें 'स्वाधीनपतिका यथा' यह वाक्यगा श्रौती उपमा मानी है। स्वाधीनपतिका उपमान है, 'विजयश्रीः' उपमेय, 'न मुञ्चति' यह अपरित्यागरूप साधारणधर्म, और 'यथा' यह उपमावाचक शब्द है। अतः यह पूर्णोपमा भी है। 'यथा' शब्दका प्रयोग होनेपर साधारणतः अव्ययं विभक्ति, इत्यादि [१,१,६] सूत्रसे नित्य अव्ययीभाव समास होता है। तदनुसार अव्ययीभाव समास होनेपर यह वाक्यगा श्रौती उपमाका उदाहरण न होकर समासगाका उदाहरण होना चाहिये। इस प्रकारकी शङ्का यहाँ हो सकती है। परन्तु वह उचित नहीं है। 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादि सूत्रमें जो 'यथा'के साथ समासका विधान किया गया है वह सादृश्यसे भिन्न अर्थ होनेपर ही होता है। सादृश्यपरक 'यथा' शब्दके प्रयोगमें यह समास नहीं होता है यह बात 'यथाऽसादृश्ये' २,१,७ इस अगले सूत्रमें स्पष्ट

(२) चकितहरिणलोललोचनायाः क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति ।
सरसिजमिदमाननं च तस्याः सममिति चेतसि सम्मदं विधत्ते ॥३९३॥

(३) अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानां दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः ।
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार ॥३९४॥

कर दी गयी है। इसलिए 'शक्तिमनतिक्रम्य इति यथाशक्ति' इत्यादि प्रयोगोंमें ही यथा शब्दके साथ अव्ययीभाव समास होता है। सादृश्यार्थमें 'यथा' शब्दका प्रयोग होनेपर समास नहीं होता है। इसलिए यह वाक्यगा श्रौती उपमाका ही उदाहरण है, समासगाका नहीं।

वाक्यगा श्रौतीके उदाहरणके बाद वाक्यगा आर्थी उपमाका उदाहरण देते हैं—

(२) चकित [भयभीत] हरिणीके समान चञ्चल नेत्रवाली उस [नायिका] का क्रोधमें प्रातःकालीन [तरुण] अरुण [सूर्यसारथि] के समान [तार] अत्यन्त सुन्दर कान्तिवाला [क्रोधसे आरक्त] मुख और यह [हाथमें लिया हुआ] कमल दोनों एक-से [सम] हो रहे हैं। इसलिए [क्रोधसे आरक्त नायिकाका मुख भी नायकके] मनमें आनन्द उत्पन्न करता है।३९३।

इसमें सरसिज उपमान है, आनन उपमेय है, अरुणके समान कान्तिमत्व साधारणधर्म और 'समम्' यह उपमावाचक शब्द है। 'सम'के साथ समास न होनेसे वाक्यगा श्रौती उपमा है।

समासगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा—

पूर्णोपमामें उपमान, उपमेय, साधारणधर्म तथा उपमावाचक शब्द इन चारोंका शब्दतः उपादान होता है। ये चारों जब अलग-अलग कहे जाते हैं तब वाक्यगा उपमा होती है और जब इनमेंसे किन्हीं दोका समास हो जाता है तब समासगा पूर्णोपमा बन जाती है। वाक्यगा श्रौती तथा आर्थी उपमाके उदाहरण देनेके बाद समासगा श्रौती उपमाका उदाहरण देते हैं—

(३) [शूरस्य तन्नामकस्य यादवविशेषस्य गोत्रापत्यं पुमान् शौरिः] श्रीकृष्ण जिस प्रकार [विष्णुरूपमें अपनी] चार भुजाओंसे संसारको धारण करते हैं इस प्रकार राजा [साम, दान, दण्ड तथा भेदरूप] चार उपायोंसे सदा संसारका पालन करता था। [यह मुख्य वाक्यार्थ है। शेष पाँच विशेषण हैं जो विष्णुकी भुजाओं तथा सामादि उपायों, दोनोंके पक्षमें लगते हैं। जैसे (१) अत्यायतैः अर्थात् बाहुपक्षमें अत्यन्त लम्बे [आजानुलम्बी] बाहुओं तथा [उपायपक्षमें] अत्यन्त शुभ परिणामवाले [आयतिः उत्तरकालः] उपायोंसे, (२) उद्धतोंका नियन्त्रण करनेवाले [बाहुओं तथा उपायोंसे यह विशेषण दोनों पक्षोंमें समान ही रहता है] (३) दिव्य अर्थात् अलौकिक [बाहुओं तथा उपायपक्षमें उत्कृष्ट उपायोंसे] (४) प्रभाभिः कान्तियों [से उपलक्षित बाहुओं] तथा प्रभावसे युक्त उपायोंसे [अथवा प्रकर्षेण भान्तीति प्रभाः तैः इस व्युत्पत्तिसे दोनों पक्षोंमें उत्तम शोभायुक्त बाहुओं तथा उपायों से] तथा (५) [अनपायमयैः अपायाभावप्रचुरैः अर्थात्] सनातन तथा सदा सफल होनेवाले एवं (६) लक्ष्मी [विष्णु-पत्नी तथा सम्पत्ति] के आधारभूत [चार] बाहुओंके समान [सामादि चार] उपायोंसे [जो राजा सदा संसारका पालन करता था]। ३९४।

इसमें 'भुजैः' उपमान है, 'उपायैः' उपमेय है। 'अत्यायतत्वादि' साधारणधर्म तथा

(४) अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः ।
सुरतरुसदृशः स भवानभिलषणीयः क्षितीश्वर ! न कस्य ॥३९५॥

(५) गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत् ।
दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत् ॥३९६॥

'इव' उपमाप्रतिपादक शब्द है। 'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इस वार्तिकके अनुसार यहाँ 'भुजः' इस उपमानपदके साथ 'इव' इस उपमावाचक पदका नित्य समास होनेसे यह समासगा श्रौती उपमाका उदाहरण होता है।

समासगा श्रौती उपमाका उदाहरण देनेके बाद समासगा आर्थी उपमाका उदाहरण देते हैं—

(४) अव्यर्थ मनोरथ-मार्गोंके विस्तारमें प्रकृष्ट गुण-गरिमाके कारण जिसकी समृद्धि प्रसिद्ध है [अर्थात् आपके पास आनेवाले याचकोंके मनोरथ कभी व्यर्थ नहीं होते। उन्हें अपने मनोरथके अनुसार धन-धान्यादि अवश्य प्राप्त होता है ऐसी आपकी लक्ष्मीकी प्रसिद्धि है]। इसलिए कल्पवृक्षके समान हे राजन् ! आप किसकी अभिलाष या कामनाके विषय नहीं हैं। [हर एक व्यक्ति आपको चाहता है]। ३९५।

इसमें 'सुरतरु' उपमान, 'क्षितीश्वर' उपमेय, 'प्रगुणगरिमगीतश्रीत्व' तथा 'अभिलषणीयत्व' साधारणधर्म एवं 'सदृश' उपमावाचक शब्द है। 'सुरतरुसदृशः' में उपमान तथा उपमावाचक पदोंका समास होनेसे यह समासगा आर्थी उपमाका उदाहरण हुआ।

तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा—

१ वाक्यगा श्रौती, २ वाक्यगा आर्थी, ३ समासगा श्रौती, ४ समासगा आर्थी इन चारों प्रकारकी पूर्णोपमाओंके उदाहरण देनेके बाद अब तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी दोनों प्रकारकी तद्धितगा पूर्णोपमाका एक ही उदाहरणमें प्रयोग दिखलाते हैं—

(५-६) उस राजाकी गाम्भीर्यकी गरिमा सचमुच [गंगाके उपपति अर्थात्] समुद्र [गंगाके वास्तविक पति शन्तनु थे इसलिए समुद्र गंगाका भुजंग उपपति हुआ] के समान है और युद्धभूमिमें यह ग्रीष्मकालके सूर्यके समान बड़ी कठिनाईसे देखा जा सकता है। ३९६।

यहाँ श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'गङ्गाभुजङ्ग' अर्थात् 'समुद्र' उपमान, 'तस्य' उपमेय, 'गाम्भीर्यगरिमा' साधारणधर्म तथा 'गङ्गाभुजङ्गस्य इव इति गङ्गाभुजङ्गवत्' इस विग्रहमें 'तत्र तस्येव' सूत्र द्वारा षष्ठ्यन्त 'गङ्गाभुजङ्गस्य' पदसे इवार्थमें वति-प्रत्यय होनेसे यह तद्धितगा श्रौती उपमाका उदाहरण होता है।

श्लोकके उत्तरार्द्धमें 'निदाघाम्बररत्न' उपमान, 'सः' उपमेय, 'दुरालोकत्व' साधारणधर्म तथा 'निदाघाम्बररत्नवत्' में 'निदाघाम्बररत्नेन तुल्यं इति निदाघाम्बररत्नवत्' इस विग्रहमें 'तृतीयान्त' 'निदाघाम्बररत्नेन' पदसे 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र द्वारा वति-प्रत्यय होनेसे यह तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमाका उदाहरण होता है।

अलङ्कारस्थलमें व्यङ्ग्यकी चारुता प्रयोजकता—

प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकारने यह लिखा था कि 'गुणालंकारयुक्तमव्यङ्ग्यं चित्रम्' अर्थात् गुण और अलंकारसे युक्त काव्य व्यङ्ग्यरहित होनेसे चित्रकाव्य कहलाता है। इसी प्रकार षष्ठ उल्लासके

स्वाधीनपतिका कान्तं भजमाना यथा लोकोत्तरचमत्कारभूः, तथा जयश्रीस्त्वदासेवनेनेत्यादिना प्रतीयमानेन विना यद्यपि नोक्ते वैचित्र्यम्, वैचित्र्यं चालङ्कारः तथापि न ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारः। न खलु व्यङ्ग्यसंस्पर्शपरामर्शादत्र चारुताप्रतीतिः अपि तु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव। रसादिस्तु व्यङ्ग्योऽर्थोऽलङ्कारान्तरं च सर्वत्राव्यभिचारीति अगणयित्वैव तदलङ्कारा उदाहृताः। तद्रहितत्वेन तु उदाह्रियमाणा विरसतामावहन्तीति पूर्वापरविरुद्धाभिधानमिति न चोदनीयम्।

अन्तमें लिखा था कि 'तत्र च [चित्रकाव्ये] शब्दार्थालंकारभेदाद् बहवो भेदाः, ते चालंकारनिर्णये निर्णेष्यन्ते।' अर्थात् शब्दालंकार अर्थालंकार आदि रूपसे चित्रकाव्यके बहुत-से भेद हो सकते हैं। उनका निरूपण अलंकारोंके निर्णयके अवसरपर करेंगे। इन दोनों स्थलोंके उल्लेखसे यह प्रतीत होता है कि (१) सभी अलंकार चित्रकाव्यके उदाहरण होते हैं और (२) वे सब व्यङ्ग्यसे रहित होते हैं। इन दोनों बातोंका यहाँ प्रकृत उदाहरणोंमें विरोध पाया जाता है। क्योंकि 'स्वाधीनपतिका यथा' इत्यादि उपमालंकारके उदाहरणमें स्वाधीनपतिका नायिका पतिके साथ रमण करती हुई जिस प्रकार लोकोत्तर आनन्दका अनुभव करती है इसी प्रकार विजयश्री तुम्हारा सेवन करनेसे अलौकिक आनन्दको प्राप्त करती है इत्यादि व्यङ्ग्य अर्थकी प्रतीति इस उदाहरणमें भी होती है। उस व्यङ्ग्य अर्थको यदि प्रधान माना जाय तो वह श्लोक ध्वनि-काव्यका उदाहरण बन जायगा और उसके अप्रधान होनेपर वह गुणीभूत व्यङ्ग्यका उदाहरण बन जायगा। इसलिए अलंकारयुक्त होनेपर भी वह चित्रकाव्यका उदाहरण नहीं हो सकता है। अपितु इसको ध्वनि-काव्य अथवा गुणीभूत व्यङ्ग्य-काव्यका ही उदाहरण मानना चाहिये। अलंकारोंको व्यङ्ग्यरहित और चित्रकाव्य जो कहा है वह उचित नहीं है यह एक प्रकारका पूर्वापर विरोध यहाँ अनुभव होता है। इस शङ्काका परिहार करनेके लिए ग्रन्थकारने अगला अनुच्छेद लिखा है। समाधानका आशय यह है कि यद्यपि इस उदाहरणमें व्यङ्ग्य अर्थका संस्पर्श अवश्य है परन्तु श्लोकका चमत्कार उस व्यङ्ग्यार्थके संस्पर्शके कारण नहीं अपितु उपमा वाचक 'यथा' आदि पदसे वाच्य वैचित्र्यके कारण ही है। इसलिए उसे ध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं कहा जा सकता है। उसे अलंकार-प्रधान होनेसे उपमा-चित्र ही कहना चाहिये। इसलिए यहाँ पूर्वापर-विरोधकी शंका करना उचित नहीं है। इसी बातको ग्रन्थकी पंक्तियोंमें इस प्रकार कहा गया है—

स्वाधीनपतिका [नायिका] पतिके साथ [रमण करती हुई] जिस प्रकार लोकोत्तर आनन्दका अनुभव करती है उसी प्रकार जयश्री आपका सेवन करनेसे [अलौकिक आनन्दको प्राप्त करती है] इत्यादि व्यङ्ग्य [प्रतीयमान अर्थ] के बिना यद्यपि उक्तिमें चमत्कार नहीं आता है, और [उक्तिका] वैचित्र्य ही अलंकार है। [इसलिए यदि व्यङ्ग्यका संस्पर्श यहाँ न हो तो अलंकार भी नहीं हो सकता है। और यदि व्यङ्ग्यका संस्पर्श है तब या तो यह ध्वनि-काव्य होगा या गुणीभूत-व्यङ्ग्य] तो भी यहाँ ध्वनि या गुणीभूत-व्यङ्ग्यका व्यवहार नहीं किया जाता है। [अर्थात् इसको ध्वनि-काव्य या गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि] यहाँ व्यङ्ग्यार्थके संस्पर्शमात्रसे चारुताकी प्रतीति नहीं होती है अपितु [यथा आदि उपमा-वाचक पदोंसे] वाच्य [उपमा अलंकार] के वैचित्र्यसे ही [चारुताप्रतीति होती है। इसलिए व्यङ्ग्यका संस्पर्श होनेपर भी उपमालंकार ही है]।

रसादिस्तु व्यङ्ग्योऽर्थोऽलङ्कारान्तरं सर्वत्राऽव्यभिचारी, इत्यगणयित्वैव तदलङ्कारा उदाहृताः । तद्रहितत्वेन तु उदाह्रियमाणा विरसतामावहन्तीति पूर्वापरविरुद्धाभिधानमिति न चोदनीयम् ।

इस प्रथम शंकाका समाधान हो जानेके बाद यहाँ दूसरी यह शंका भी हो सकती है कि शृङ्गार रसकी प्रतीति होनेसे, और रसके सदा प्रधान होनेके कारण यहाँ ध्वनि-काव्यका व्यवहार करना चाहिये । तीसरी शंका यह हो सकती है कि आप इसको उपमालंकारका उदाहरण बतलाते हैं, परन्तु इसमें उपमाके साथ 'स्वप्नेऽपि समरेषु' तथा 'प्रभावप्रभवं' इत्यादि अंशोंमें अनुप्रासालंकार भी है । इसलिए इसको उपमालंकारका उदाहरण न कहकर संकर या संसृष्टि अलंकारका उदाहरण कहना चाहिये । इन दोनों शंकाओंका समाधान ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें करते हैं—

रस आदि व्यङ्ग्य अर्थ और अन्य अलङ्कार सभी जगह [सभी अलङ्कारोंके उदाहरणोंमें] निश्चित रूपसे रहते हैं इसलिए उनकी उपेक्षा करके ही अलङ्कारोंके उदाहरण दिये गये हैं । उस [रसादि] से रहित रूपसे [अलङ्कारोंके] उदाहरण देनेपर तो वे [सब अलङ्कार और उदाहरण एकदम] नीरस हो जायँगे [वैसे नीरस उदाहरण देना उचित नहीं होता] । अतः [यहाँ दिये हुए उदाहरणोंमें रस तथा अनुप्रासादि अन्य अलङ्कारोंकी सत्ता रहनेपर भी जो उनको उपमादि विशेष अलङ्कारोंके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है उसमें] पूर्वापर विरोधकी उद्भावना नहीं करनी चाहिये ।

लुप्तोपमाके उन्नीस भेद—

यहाँतक पूर्णोपमाके छ भेदोंके दिखलानेके बाद अब आगे ग्रन्थकार 'लुप्तोपमा'के उन्नीस भेद दिखलाते हैं । पूर्णोपमामें उपमान, उपमेय, साधारणधर्म, तथा उपमावाचक पद, चारों शब्दतः उपात्त होते हैं । इस प्रकार उपमाकी सारी सामग्रीके शब्दतः उपस्थित होनेके कारण ही इसको पूर्णोपमा कहते हैं । लुप्तोपमामें ये यह सारी सामग्री शब्दतः उपात्त नहीं होती है । उपमान आदि चारोंमेंसे किसी-न-किसीका लोप अवश्य रहता है । इसीलिए उसको 'लुप्तोपमा' कहा जाता है । यह लोप उपमान आदि चारोंमेंसे कभी किसी एकका, कभी किन्हीं दोका और कभी किन्हीं तीनका भी हो सकता है । इसलिए 'लुप्तोपमा' के १९ भेद हो जाते हैं । जिसका विवरण निम्नलिखित है—

पाँच प्रकारकी धर्मलुप्ता—

१ वाक्यगत श्रौती धर्मलुप्ता
२ वाक्यगत आर्थी धर्मलुप्ता
३ समासगा श्रौती धर्मलुप्ता
४ समासगा आर्थी धर्मलुप्ता
५ तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता

छ प्रकारकी वाचकलुप्ता—

१ समासगा वाचकलुप्ता [कामिनीगण्डपाण्डुना]
२ कर्ममें क्यच्-प्रत्यय होनेपर वाचकलुप्ता [सुतमिवाचरति सुतीयति]
३ आधारमें क्यच् प्रत्यय होनेपर [अन्तःपुरे इवाचरति अन्तःपुरीयति]

[सूत्र १२८]–तद्वद्धर्मस्य लोपे स्यान्न श्रौती तद्धिते पुनः ।

धर्मः साधारणः । तद्धिते कल्पबादौ त्वार्थ्येव । तेन पञ्च । उदाहरणम्—

(१) धन्यस्यानन्यसामान्यसौजन्योत्कर्षशालिनः ।
करणीयं वचश्चेतः ! सत्यं तस्यामृतं यथा ॥३९७॥

---

४ क्यङ् प्रत्यय होनेपर वाचकलुप्ता [नारी इव आचरति नारीयते]
५ कर्ममें णमुल प्रत्यय होनेपर वाचकलुप्ता [निदाघधर्मांशुदर्शं पश्यति]
६ कर्तामें णमुल प्रत्यय होनेपर वाचकलुप्ता, [पार्थसंचारं संचरति]

दो प्रकारकी उपमानलुप्ता—
१ वाक्यगा उपमानलुप्ता
२ समासगा उपमानलुप्ता

धर्म तथा वाचक दोके लोपमें दो प्रकार—
१ क्विप्गता धर्म-वाचकलुप्ता
२ समासगा धर्म-वाचकलुप्ता

धर्म तथा उपमानके लोपमें दो प्रकार—
१ वाक्यगा धर्मोपमानलुप्ता
२ समासगा धर्मोपमानलुप्ता

वाचक तथा उपमेय दोके लोपमें एक भेद—
१ क्यच् प्रत्यय होनेपर वाचकोपमेय लुप्ता

उपमान, उपमावाचक तथा साधारणधर्म तीनोंका लोप—
१ तीनोंका लोप होने होनेपर समासगा ।

इस प्रकार लुप्तोपमाके १९ भेद होते हैं । उन्हींका वर्णन ग्रन्थकार आगे निम्नलिखित प्रकार करते हैं—

[सूत्र १२८]—उसी प्रकार [अर्थात् पूर्णोपमाके छ भेदोंके समान ही] धर्मका लोप होनेपर तद्धितगत श्रौतीको छोड़कर [धर्मलुप्ता छके स्थानपर पाँच प्रकारकी] हो सकती है ।

धर्म अर्थात् साधारणधर्म [का लोप होनेपर] । कल्पप् आदि तद्धित-प्रत्ययोंके होनेपर तो आर्थी [धर्मलुप्ता] ही होती है [श्रौती धर्मलुप्ता नहीं होती है] । इसलिए [श्रौती धर्मलुप्ता उपमाका तद्धितगत भेद न होनेसे धर्मलुप्ता उपमा छ प्रकारकी नहीं अपितु केवल] पाँच प्रकारकी होती है । [धर्मलुप्ताके पाँचों प्रकारोंके] उदाहरण [जैसे]—

पहिले वाक्यगा श्रौती धर्म-लुप्ताका उदाहरण देते हैं—

(१) असाधारण सौजन्यके उत्कर्षसे शोभायमान उस [साधु महात्मा] का अमृतके समान [परिणाम-सुरस और आनन्ददायक] वचन, हे चित्त ! सचमुच [पालन] करना ही चाहिये । ३९७ ।

इसमें 'अमृत' उपमान और 'वचन' उपमेय है । 'परिणाम-सुरसत्व' आदि उनका साधारण धर्म है परन्तु अत्यन्त प्रसिद्ध होनेके कारण यहाँ उसका ग्रहण नहीं किया गया है । इसलिए यह धर्म-लुप्ताका उदाहरण है । 'यथा' शब्द उपमावाचक है । उसके साथ समास न होनेसे यह वाक्यगाका

(२) आकृष्टकरवालोऽसौ संपराये परिभ्रमन् ।
प्रत्यर्थिसेनया दृष्टः कृतान्तेन समः प्रभुः ॥३९८॥

(३) करवाल इवाचारस्तस्य वागमृतोपमा ।
विषकल्पं मनो वेत्सि यदि जीवसि तत्सखे ! ॥३९९॥

[सूत्र १२९]-उपमानानुपादाने वाक्यगाऽथ समासगा ॥८८॥

उदाहरण हुआ। और 'यथा' शब्दके प्रयोगके कारण श्रौती उपमा हुई। इस प्रकार यह 'वाक्यगा श्रौती धर्मलुप्ता' उपमाका उदाहरण है।

आगे वाक्यगा आर्थी धर्मलुप्ताका उदाहरण देते हैं—

(२) हाथमें नंगी तलवार लिये हुए और संग्राममें घूमते हुए इस राजाको शत्रुकी सेनाने यमराजके समान देखा [समझा]। ३९८।

इसमें यमराज उपमान, और राजा उपमेय हैं। उन दोनोंका साधारणधर्म अत्यन्त क्रूरत्व, प्रसिद्ध होनेके कारण शब्दतः उपात्त नहीं हुआ है। 'आकृष्टकरवालत्व'को उन दोनोंका साधारणधर्म नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यमराजका आयुध करवाल नहीं अपितु दण्ड माना जाता है। और 'दृष्टः'को भी, यमराजके अदृष्ट होनेसे, साधारणधर्म नहीं कहा जा सकता है। 'सम' शब्द उपमावाचक है। परन्तु उसके साथ समास न होनेसे यह वाक्यगा आर्थी धर्मलुप्ताका उदाहरण है।

धर्मलुप्ताके पाँच भेदोंमेंसे दो भेदोंके अलग-अलग उदाहरण देकर शेष तीनों भेदोंके एक ही श्लोकमें प्रयोगका उदाहरण देते हैं। श्लोकके पूर्वार्द्धमें समासगा श्रौती तथा समासगा आर्थी धर्मलुप्ताका, तथा उत्तरार्द्धमें तद्धितगा धर्मलुप्ताका प्रयोग पाया जाता है। इस प्रकार यह एक ही श्लोक तीन भेदोंका उदाहरण बन जाता है।

(३-५) हे मित्र ! [उस दुष्टके चक्करमें पड़कर भी] यदि जीवित रहते हो तो तुम देखोगे कि उसका आचरण तलवारके समान, वाणी अमृतके समान, और मन विषके समान है। ३९९।

१ 'करवाल इवाचारः' इसमें करवाल उपमान, और आचार उपमेय है। 'घातुकत्व' उनका साधारणधर्म है परन्तु प्रसिद्ध होनेके कारण शब्दतः उपात्त नहीं किया गया है। 'इव' के साथ समास है। इसलिए यह समासगा श्रौती धर्मलुप्ताका उदाहरण है। (२) 'वागमृतोपमा' इसमें वाक् उपमेय, अमृत उपमान, और माधुर्य उनका साधारणधर्म है। परन्तु वह शब्दतः नहीं कहा गया है। 'उपमा' शब्द सदृशार्थक और उपमावाचक है। उसके साथ समास होनेसे यह समासगा आर्थी धर्मलुप्ताका उदाहरण है। (३) 'विषकल्पं मनः' इसमें विष उपमान, मन उपमेय और तद्धितका कल्पप्प्रत्यय उपमावाचक है। नाशकत्व साधारणधर्म शब्दतः नहीं कहा गया है। इसलिए यह तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ताका उदाहरण हुआ।

यहाँतक छ प्रकारकी पूर्णा तथा पाँच प्रकारकी धर्मलुप्ता, कुल ११ प्रकारकी उपमाका निरूपण हुआ। आगे उपमान-लुप्ताके दो भेद दिखलाते हैं—

उपमानलुप्ताके दो भेद—

[सूत्र १२९]—उपमानका ग्रहण न करनेपर (१) वाक्यगा तथा (२) समासगा [दो प्रकारकी उपमानलुप्ता उपमा] होती है। ८८।

सअलकरणपरवीसामसिरिविअरणं ण सरसकव्वस्स ।
दीसइ अह व णिसम्मइ सरिसं अंसंसमेत्तेण ॥४००॥

[सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरणं न सरस काव्यस्य ।
दृश्यतेऽथवा निशम्यते सदृशमंशाशमात्रेण ॥ इति संस्कृतम्] ।

'कव्वस्स'इत्यत्र 'कव्वसम्' इति, 'सरिसमम्' इत्यत्र च 'णूणम्' इति पाठे एषैव समासगा ॥

**[सूत्र १३०]—वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि ।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि**

वाशब्दः उपमाद्योतक इति वादेरुपमाप्रतिपादकस्य लोपे षट् । समासेन, कर्मणोऽधिकरणाच्चोत्पन्नेन क्यचा, कर्तुः क्यङा, कर्मकर्त्रोरुपपदयोर्णमुला च भवेत् ॥ उदाहरणम्—

धर्मलुप्ताके पाँच भेद दिखलाये गये थे परन्तु उपमानलुप्ताके केवल दो ही भेद रह गये । इसका कारण यह है कि उपमा-प्रतिपादक 'वति' आदि 'तद्धित-प्रत्यय' उपमानवाचक पदसे ही होते हैं । इसलिए उपमानका लोप होनेपर उपमानलुप्ताके तद्धितगत दोनों भेद नहीं बन सकते हैं । इसी प्रकार श्रौती उपमामें भी 'इव' आदि उपमावाचक पदोंका उपमानवाचक पदके साथ ही अन्वय होता है । इसलिए उपमानवाचक पदके न रहनेपर श्रौतीके भी वाक्यगत तथा समासगत दोनों भेद नहीं बन सकते हैं । इसलिए उपमानलुप्ताके केवल वाक्यगत तथा समासगत आर्थी उपमारूप दो ही भेद हो सकते है । उन्हीं दोनों भेदोंके उदाहरण आगे देते हैं—

(१) सरस काव्यके समान समस्त इन्द्रियोंकी परम-विश्रान्तिश्रीका वितरण [अन्यत्र कहीं] लेशमात्र भी न देखा और न सुना जाता है । ४०० ।

इसमें वर्णनीय होनेसे काव्य उपमेय है, उपमानका उपादान नहीं किया गया है, 'सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरण' साधारणधर्म, तथा 'सदृश' उपमावाचक पद है । उसका किसीके साथ समास न होनेसे यह वाक्यगा आर्थी उपमानलुप्ताका उदाहरण हुआ ।

['काव्यस्य'] 'काव्वस्स'के स्थानपर 'कव्वसमम्' ['काव्यसमम्']तथा 'सरिसम्' के स्थानपर 'नूनं' पाठ कर देनेसे यही समासगाका उदाहरण हो सकता है ।

वाचकलुप्ताके छ भेद—

'वाक्' आदि उपमावाचक पदोंके लोपमें न वाक्यगा वाचकलुप्ता उपमा सम्भव है, और न तद्धितगा, केवल समासगा बनती है । आगे वाचकलुप्ताके प्रकारान्तरसे भेद करते हैं ।

[सूत्र १३०]—'वा' इत्यादि [उपमावाचक] का लोप होनेपर वह [वाचकलुप्ता उपमा] (१) समासमें, (२) कर्ममें क्यच्-प्रत्यय, (३) आधारमें क्यच्-प्रत्यय, (४) क्यङ् प्रत्यय (५) कर्म उपपद रहते णमुल-प्रत्यय तथा (६) कर्ता उपपद रहते णमुल-प्रत्ययमें [होनेसे पाँच प्रकारकी] होती है ।

'वा' शब्द उपमाका द्योतक [शब्द] है इसलिए 'वा' इत्यादि' उपमाप्रतिपादक [पदों] का लोप होनेपर (१) समासमें, (२) कर्ममें विहित क्यच् तथा (३) अधिकरणमें उत्पन्न क्यच्, (४) कर्तामें क्यङ्, (५) कर्म उपपद रहते णमुल तथा (६) कर्ता उपपद रहते णमुल प्रत्ययके होनेसे छ प्रकारकी [वाचकलुप्ता उपमा] होती है ।

उदाहरणम्—

(१ अ-) ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता ॥४०१॥

तथा—

(१ ब-) असितभुजगभीषणासिपत्रो रुहरुहिकाहितचित्ततूर्णचारः ।
पुलकिततनुरुत्कपोलकान्तिः प्रतिभटविक्रमदर्शनेऽयमासीत् ॥४०२॥

उदाहरण [जैसे]—

महाभारतके द्रोणपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसंगमें चन्द्रोदय-वर्णनपरक यह पद्य आया है। इसमें 'कामिनीगण्ड' रूप उपमानवाचक पद, तथा 'पाण्डु' रूप साधारणधर्म प्रतिपादक दो पदोंके समासमें उपमावाचक पदका लोप होनेसे यह समासगा वाचकलुप्ताका उदाहरण है। श्लोकका अर्थ है—

(१ अ-) तब [रात्रिके या सायंकालके समय] कामिनीके कपोल-स्थलके सदृश पीतवर्ण, कुमुदोंके स्वामी, नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाले, चन्द्रमाने पूर्वदिशाको अलंकृत किया। ४०१।

यहाँ 'कामिनीगण्ड इव पाण्डु' अथवा 'कामिनीगण्डवत् पाण्डु' इस विग्रहमें 'उपमानानि सामान्यवचनैः' [अष्टा० २, १, ५५] इस सूत्रसे उपमान तथा साधारणधर्मवाचक दोनों पदोंका समास होनेपर यह 'समासगा वाचकलुप्ता' का उदाहरण होता है। इसमें समासविधायक सूत्रमें 'उपमानानि' इत्यादि कथनसे साधर्म्यकी प्रतीति हो जानेके कारण उपमावाचक इवादिके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं रहती है। इसलिए यह वाचकलुप्ता उपमा कहलाती है।

इस उदाहरणमें उपमान तथा साधारणधर्मवाचक दो पदोंका समास हुआ है। इसलिए यह द्विपद-समासगाका उदाहरण है। अगले उदाहरणमें उपमान, उपमेय तथा साधारणधर्म, तीनोंके वाचक पदोंका समास होनेपर बहुपदसमासगा वाचकलुप्ता प्रयोग दिखलाते हैं—

(१ ब-) काले नागके समान भीषण तलवारवाला यह [वीर योद्धा] शत्रुको [सम्मुख] देखकर उत्साह [रुहरुहिका] से चित्तके व्याप्त हो जानेसे त्वरितगति, पुलकितशरीर और गालोंपर विकसित कान्तिवाला हो गया [अर्थात् शत्रुको देखकर उत्साहातिरेकसे पुलकित हो उठा]। ४०२।

इसमें 'असितभुजग' पद उपमानवाचक, 'भीषण' पद साधारणधर्म वाचक, और 'असिपत्र' पद उपमेयवाचक है। इन तीनों पदोंका समास हो गया है इसलिए यह 'बहुपदसमासगा वाचकलुप्ता' का उदाहरण है।

अगले एक श्लोकमें (१) 'पौरं जनं सुतीयति' में कर्ममें क्यच्-प्रत्यय, (२) 'समरान्तरे अन्तःपुरीयति'में आधारमें क्यच-प्रत्यय, तथा (३) 'नारीयते'में क्यङ्-प्रत्ययके प्रयोगसे तीन प्रकारकी वाचकलुप्ताके उदाहरण इकट्ठे दिखलाये हैं। 'सुतीयति' पदमें 'सुतमिवाचरति' इस विग्रहमें उपमानवाचक 'सुत' पदसे 'उपमानादाचारे [अष्टा० ३,१,१०] इस सूत्रसे क्यच्-प्रत्यय होकर 'सुतीयति' पद बनता है। इसी प्रकार 'अन्तःपुरे इव आचरति' इस विग्रहमें अधिकरणवाचक 'अन्तःपुर' पदसे 'अधिकरणाच्च' इस वार्तिकसे क्यच्-प्रत्यय होकर 'अन्तःपुरीयति' पद बनता है। 'नारी इव आचरति' इस विग्रहमें उपमानवाचक 'नारी' पदसे 'कर्तुःक्यङ् सलोपश्च' [अष्टा० ३,१,११] इस सूत्रसे

(२-४) पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसावन्तःपुरीयति विचित्रचरित्रचुञ्चुः ।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणेरालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना॥४०३॥

(५-६) मृधे निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति तं परे ।
स पुनः पार्थसंचारं संचरत्यवनीपतिः ॥४०४॥

[सूत्र १३१]-एतद्विलोपे क्विप्समासगा ॥८९॥

क्यङ्-प्रत्यय होकर 'नारीयते' पद बनता है। इसलिए तीन प्रकारकी वाचकलुप्ताके उदाहरण इस एक ही श्लोकमें पाये जाते हैं। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

(३-४) यह [राजा अपने] नगर-निवासी [प्रजा] जनोंको पुत्रके समान समझता है। विचित्र चरित्रसे प्रसिद्ध [तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ ५, २, २६ इस सूत्रसे चुञ्चुप्-प्रत्यय होकर 'विचित्रचरित्रचुञ्चुः' पद बनता है]। यह राजा युद्धक्षेत्रमें अन्तःपुरके समान आचरण करता है [अर्थात् अन्तःपुरके समान स्वच्छन्द रूपसे विचरण करता है]। और युद्धभूमिमें तलवार हाथमें लिए हुये उसके चरित्र [व्यवहार] को देखकर शत्रुसेना [भयके मारे] स्त्रीके समान आचरण करती है। ४०३।

इस प्रकार वाचकलुप्ताके चार उदाहरण यहाँतक हो गये। अब कर्म और कर्तामें णमुल प्रत्ययके होनेपर दो प्रकारकी वाचकलुप्ताके उदाहरण अगले एक ही श्लोकमें दिखलाते हैं। इसमें 'निदाघघर्मांशु-दर्शं' पदमें 'निदाघघर्मांशुमिव पश्यन्ति' इस विग्रहमें 'उपमाने कर्मणि च' ३-४-४५ इस सूत्रसे णमुल्प्रत्यय होता है। और 'पार्थ संचारं संचरति' इसमें इसी 'उपमानादाचारे' सूत्रमें 'चकार'के ग्रहणसे कर्तामें णमुल-प्रत्यय होता है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

युद्धमें शत्रु उस [राजा] को ग्रीष्मकालके सूर्यके समान [दुःसह प्रतापवाला] देखते हैं और वह राजा [युद्धभूमिमें] अर्जुनके समान [निर्भय होकर] विचरण करता है। ४०४।

यहाँ 'निदाघघर्मांशुमिव पश्यन्ति' इस विग्रहमें 'उपमाने कर्मणि च' [अष्टा० ३, ४, ४५] इस सूत्रसे 'निदाघघर्मांशुं' इस कर्मके उपपद रहते 'दृश' धातुसे 'णमुल' प्रत्यय होकर 'निदाघघर्मांशुदर्शं' यह मान्त अव्यय पद बनता है। उसके साथ 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' [३, ४, ४६] इस सूत्रसे जिस धातुसे णमुल-प्रत्यय होता है उसीके अनुप्रयोगका विधान होनेसे 'दृश' धातुका ही अनुप्रयोग होकर 'निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति' यह प्रयोग कर्मके उपपद रहते णमुल-प्रत्यय होकर बनता है।

इसी श्लोकके उत्तरार्द्धमें 'पार्थ इव संचरणं' इस विग्रहमें 'पार्थ' रूप कर्ताके उपपद रहते 'चर' धातुसे णमुल-प्रत्यय होकर 'पार्थसंचारं' यह मान्त अव्ययपद बनता है और उसके साथ 'संचरति' का अनुप्रयोग होता है।

द्विलुप्ता उपमाके पाँच भेद—

इस प्रकार यहाँतक छ प्रकारकी पूर्णोपमाके बाद पाँच प्रकारकी धर्मलुप्ता, दो प्रकारकी उपमानलुप्ता, और छ प्रकारकी वाचकलुप्ता इन तेरह प्रकारकी एक-लुप्ताके भेदोंका प्रदर्शन कराया गया है। अब आगे पाँच प्रकारकी 'द्विलुप्ता' उपमाका प्रतिपादन करेंगे। उसमें सबसे पहिले दो प्रकारकी धर्मवाचकलुप्ताका प्रतिपादन करते हैं—

[सूत्र १३१]—इन [धर्म तथा वाचक] दोको लोप होनेपर (१) क्विप्गत तथा (२) समासगत [दो प्रकारकी द्विलुप्तोपमा होती है]। ८९।

एतयोर्द्धर्म्मवाद्योः । उदाहरणम्—

(१) सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः ।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥४०५॥

(२) परिपन्थिमनोराज्यशतैरपि दुराक्रमः ।
संपरायप्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुञ्जरः ॥४०६॥

[सूत्र १३२]–**धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते ।**

इन दोनों अर्थात् धर्म तथा वादि [उपमावाचक पदों] के [लोप होनेपर दो प्रकारकी लुप्तोपमा होती हैं] ।

उदाहरण [जैसे]—

(१) [मनुष्यके] मनके सुखाधीन [सुखसे परिपूर्ण] होनेपर [प्रचण्ड] सूर्य भी चन्द्रमाके समान [आह्लाददायक हो जाता है] और दुःखाधीन होनेपर [आह्लाददायक] चन्द्रमा भी सूर्यके समान [असह्य दुःखदायक] हो जाता है । [इसी प्रकार सुखके समय अन्धकारमयी] रात्रियाँ भी [प्रकाशमय] दिन बन जाती हैं, और [दुःखके समय प्रकाशमय] दिन भी [अन्धकारमयी] रात्रि [में परिणत] हो जाते हैं । ४०५ ।

इस श्लोकमें (१) 'विधवति', (२) 'सवितरति', (३) 'दिनन्ति', तथा (४) 'यामिनयन्ति' ये चार क्विबन्त प्रयोग पाये जाते हैं । इन चारों प्रयोगोंमें 'विधुरिव आचरति विधवति' आदि विग्रहमें 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' अष्टा० [३, १, ११] इस सूत्रके अन्तर्गत 'सर्व प्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विवा वक्तव्यः' इस वार्तिकसे आचारार्थमें क्विप् प्रत्यय होकर 'विधवति' 'सवितरति' आदि प्रयोग बनते हैं । यहाँ आचार अर्थमें क्विप् प्रत्यय होता है उसी आचारको समानधर्म कहा जा सकता है इसलिए यह धर्मलोपका उदाहरण नहीं हो सकता है, यह शंका की जा सकती है । परन्तु यहाँ उस आचारार्थके सूचक क्विप् प्रत्ययका 'वेरपृक्तस्य' [६, १, ६७] इस सूत्रसे सर्वापहारी लोप हो जाता है । उसका कोई अंश शेष नहीं रह जाता है इसलिए इसको धर्मलोपका उदाहरण माना गया है । इसीलिए उद्योतकारने लिखा है कि—

"यद्यपि क्विप्प्रकृतेः कर्तृभूतत्वात् सादृश्यप्रयोजकाचारे लक्षणेति कथं धर्मलोपः, तथापि तन्मात्रबोधकाभावात् लोपव्यवहारः ।"

धर्म तथा इवादिके लोपमें समासगा लुप्तोपमाका उदाहरण देते हैं—

(२) शत्रुगण जिसपर सैकड़ों मनोरथोंसे भी विजय नहीं प्राप्त कर सकते हैं इस प्रकारका युद्धमें लगा हुआ यह श्रेष्ठ राजा शोभित हो रहा है । ४०६ ।

यहाँ 'राजा कुञ्जर एव राजकुञ्जरः' इस प्रयोगमें 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' [२, १, ५६] इस सूत्रसे समास होकर 'राजकुञ्जरः' प्रयोग बनता है । यद्यपि यहाँ 'राजते' इसको सामान्य धर्म कहा जा सकता है परन्तु समासविधायक सूत्रमें 'सामान्याप्रयोगे' सामान्य धर्मका प्रयोग न होनेपर ही समासका विधान किया गया है इसलिए 'राजते' रूप सामान्य धर्मको अविवक्षित मानकर, धर्म तथा वादिके लोपमें यह समासगा लुप्तोपमाका उदाहरण दिया गया है ।

[सूत्र १३२]—धर्म तथा उपमानका लोप होनेपर समासगा तथा वाक्यगा [दो प्रकारकी द्विलुप्ता उपमा] पायी जाती है ।

टुण्टुण्णन्तो मरिहसि कण्टअकलिआइँ केअइवणाइं ।

मालइकुसुमसरिच्छं भमर ! भमन्तो ण पाविसिहि ॥४०७॥

[टुण्टुणायमानो मरिष्यसि कण्टककलितानि केतकीवनानि ।

मालतीकुसुमसदृशं भ्रमर ! भ्रमन् न प्राप्स्यसि ॥ इति संस्कृतम्]

'कुसुमेण समम्' ['कुसुमेन समम्'] इति पाठे वाक्यगा ।

[सूत्र १३३]-**क्यचि वाद्युपमेयासे ।**

आसे निरासे—

अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः ।

कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥४०८॥

अत्रात्मा उपमेयः ।

[सूत्र १३४]-**त्रिलोपे च समासगा ॥९०॥**

त्रयाणां वादिधर्मोपमानानाम् । उदाहरणम्—

---

(३) काँटोंसे भरे हुए केतकीके वनोंमें टुन-टुन [याचना] करते हुए घूम-घूमकर मर जाओगे, पर हे भ्रमर ! मालतीके कुसुमके सदृश [सुन्दर अन्य पुष्प] न पाओगे । ४०७ ।

यहाँ मालती-कुसुम उपमेय, तथा 'सदृश' उपमावाचक शब्द दोका ग्रहण किया गया है । धर्म तथा उपमानका प्रयोग नहीं हुआ है । इसलिए यह द्विलुप्ताका उदाहरण है । 'मालती-कुसुम सदृश' यह समस्त पद है इसलिए यह समासगाका उदाहरण है ।

(४) इसी श्लोकमें यदि 'कुसुमसदृश'के स्थानपर 'कुसुमेन समं' यह पाठ कर दिया जाय तो वाक्यगा [का उदाहरण] हो जायगा ।

[सूत्र १३३]—वादि [उपमावाचक शब्द] तथा उपमेय [इन दो] का लोप होनेपर क्यच्गत [एक प्रकारकी द्विलुप्तोपमा] होती है ।

[सूत्रमें आये हुए] 'आसे' [पदका अर्थ 'निरासे'] लोप होनेपर [यह होता है] ।

(५) शत्रुओंके पराक्रमको देखनेसे जिसकी आँखें [प्रसन्नताके कारण] चमक उठी हैं इस प्रकारका, तलवारके कारण भयंकर हाथवाला, वह [राजा] सहस्रायुध [कार्तवीर्य अर्जुन] के समान प्रतीत होता है । ४०८ ।

यहाँ 'सहस्रायुधमिव आत्मानमाचरति सहस्रायुधीयति' यह 'उपमानादाचारे' इस सूत्रसे आचारार्थमें क्यच्-प्रत्यय होकर रूप बनता है । इसमें—

आत्मा उपमेय है । [उसका तथा उपमावाचक वादिका लोप होनेसे यह भी द्विलुप्ता उपमाका उदाहरण है] ।

त्रिलुप्ताका एक भेद—

[सूत्र १३४]—तीनका लोप होनेपर समासगा [त्रि-लुप्तोपमा] होती है । ९० ।

तीन अर्थात् वादि [उपमावाचक], धर्म तथा उपमानका [लोप होनेपर त्रिलुप्ता उपमा केवल एक प्रकारकी होती है] । उदाहरण [जैसे]—

तरुणिमनि कृतावलोकना ललितविलासवितीर्णविग्रहा ।
स्मरशरविसराचितान्तरा मृगनयना हरते मुनेर्मनः ॥४०९॥
अत्र 'सप्तम्युपमान' इत्यादिना यदा समासलोपौ भवतस्तदेदमुदाहरणम् ।

नवयौवनमें झाँकती [प्रवेश करती] हुई, [इसलिए] सुन्दर हाव-भावोंको अपना शरीर प्रदान कर देनेवाली [अर्थात् सुन्दर हाव-भावोंसे युक्त], कामदेवके बाणोंसे व्याप्त मनवाली, मृगनयना मुनिके [भी] मनको लुभा लेती है । ४०९ ।

यहाँ 'मृगलोचने इव चञ्चले नयने यस्याः सा मृगनयना' इस विग्रहमें 'अनेकमन्यपदार्थे' [२,२,२४] इस सूत्रमें आये हुए 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इस वार्तिकसे समास होनेपर केवल उपमानवाचक 'मृगनयन' पदका ग्रहण होने, तथा १ उपमेय, २ चञ्चलत्व आदि सामान्यधर्म, तथा ३ वादि उपमानवाचक पद, तीनोंका लोप होनेसे यह त्रिलुप्ता उपमाका उदाहरण है ।

'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य' इत्यादि वार्तिकका यह अभिप्राय है कि सप्तम्यन्त अथवा उपमान-वाचक पूर्वपद जिसका है उसका उत्तरपदके साथ बहुव्रीहि समास होकर उत्तरपदका लोप हो जाता है । यहाँ 'मृगनयने इव नयने यस्याः' इस विग्रहमें 'मृगनयने' यह उपमानवाचक पूर्वपद है । उसका 'नयने'के साथ बहुव्रीहि समास, और उत्तरपद 'नयने' का लोप होकर 'मृगनयना' पद बनता है । कातन्त्रव्याकरणकारने ऐसे स्थलोंपर 'मृग' पदकी 'मृगनयन' अर्थमें लक्षणा मानी है । उसके अनुसार 'मृग इव नयने यस्याः सा मृगनयना' इस प्रकारका समास यहाँ होता है । उस दशामें मृगपद ही उपमानवाचक पद हो जाता है इसलिए यह उपमानलुप्ता नहीं हो सकती है । 'सप्तम्यु-पमानपूर्वपदस्य' इत्यादि वार्तिकके अनुसार समास होनेपर 'मृगनयने इव नयने यस्याः सा मृग-नयना' यह विग्रह होता है इसमें 'मृगनयने' यह उपमानवाचक पूर्वपद है उसका 'नयने'के साथ बहुव्रीहि समास होता है । उस समासके कारण उपमान वाचक पूर्वपद 'मृगनयने' का जो उत्तरपद अर्थात् 'नयने' पद है उसका लोप हो जाता है इसलिए यह उपमानलोपका भी उदाहरण हो सकता है । इसी बातको ध्यानमें रखकर अगली पंक्तिमें लक्षण-समन्वय करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

जब 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इत्यादि [वार्तिक] से समास तथा [उत्तरपदका] लोप होता है तब यह [त्रिलुप्ता उपमाका] उदाहरण होता है । [कातन्त्रव्याकरणके अनुसार मृगपदको मृगनयन अर्थमें लक्षणा मानकर समास करनेपर उपमानवाचक मृगपदके विद्यमान रहनेसे यह त्रिलुप्ता उपमाका उदाहरण नहीं हो सकता है]

ऊपर 'मृगनयना' यह त्रिलुप्ता उपमाका उदाहरण दिया गया है । इसमें केवल उपमेय-मात्रका उपादान किया गया है, शेष तीनका लोप होनेसे यह त्रिलुप्ताका उदाहरण बनता है । इसी प्रकार कुछ लोग उपमानमात्रका उपादान होनेपर भी त्रिलुप्ता उपमा मानते हैं । और उसके उदा-हरणरूपमें 'आयःशूलिकः' यह उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । 'तेनान्विच्छति' इसके अधिकारमें 'अयःशूल-दण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ ५,२,७६ इस सूत्रसे 'अयःशूल' शब्दसे ठक्-प्रत्यय करके 'आयःशूलिकः' यह प्रयोग बनता है । 'अयः शूलमिव अयःशूलम् साहसम् । 'तेनान्विच्छति व्यवहरति इति आयः-शूलिकः । यो मृदुनोपायेन अन्वेष्टव्यानर्थान् तीक्ष्णेनोपायेनान्विच्छति स आयःशूलिकः इति महा-भाष्यम्' । अर्थात् जो मृदु उपायसे साध्य अर्थके लिए साहसपूर्ण तीक्ष्ण उपायोंका प्रयोग करता है

क्रूरस्याचारस्यायःशूलतयाऽध्यवसायात् 'अयःशूलेनान्विच्छति आयःशूलिकः' इत्यतिशयोक्तिः, नतु क्रूराचारोपमेय–तैक्ष्ण्यधर्म–वादीनां लोपे त्रिलोपेयमुपमा ॥

एवमेकोनविंशतिर्लुप्ताः, पूर्णाभिः सह पञ्चविंशतिः ।

अनयेनेव राज्यश्रीर्दैन्येनेव मनस्विता ।
मम्लौ साऽथ विषादेन पद्मिनीव हिमाम्भसा ॥४१०॥

इत्यभिन्ने साधारणे धर्मे ।

ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुरेव मदकारणम् ।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ॥४११॥

उसको 'आयःशूलिकः' अर्थात् साहसिक कहा जाता है। अर्थात् 'अयःशूल' शब्द लक्षणासे 'क्रूर आचार'को बोधित करता है। 'अयःशूल'के समान क्रूर आचारका व्यवहार करनेवाला 'आयःशूलिकः' हुआ। यहाँ 'अयःशूल' पद उपमान है उसका उपादान किया गया है। क्रूर आचार उपमेय, तीक्ष्णत्वादि साधारणधर्म, तथा इवादि उपमावाचक शब्द इन तीनोंका उपादान नहीं किया गया है। इसलिए यह उपमानमात्रके उपादानमें त्रिलुप्ताका उदाहरण है यह पूर्वपक्षका आशय है।

सिद्धान्तपक्षमें मम्मट इसको उपमाका उदाहरण नहीं मानते हैं। वे इसमें अतिशयोक्ति अलंकार मानते हैं। क्रूर आचाररूप जो उपमेय है उसका निगरण करके 'अयःशूल' रूपसे उसका अध्यवसान करनेके कारण यहाँ निगीर्याध्यवसानरूपा अतिशयोक्ति है, उपमा नहीं। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें लिखते हैं—

[आयःशूलिकः इस प्रयोगमें] क्रूर आचार [रूप उपमेयका निगरण करके उस] का 'अयःशूलः' रूपमें अध्यवसान होनेसे अयःशूल [तीक्ष्ण उपाय अर्थात साहस] से [अन्विच्छति] व्यवहार करता है [इस विग्रहमें सिद्ध हुआ] 'आयःशूलिक' यह [पद] अतिशयोक्ति [का उदाहरण] है। क्रूर आचाररूप उपमेय, तैक्ष्ण्य आदि [साधारणधर्म] और वा आदि [उपमावाचक] के लोपमें त्रिलुप्ता उपमाका यह उदाहरण नहीं है।

इस प्रकार [कुल मिलाकर] उन्नीस प्रकारकी लुप्ता, [छ तरहकी] पूर्णा [उपमा] के साथ [मिलकर कुल] पचीस प्रकारकी उपमा होती है।

मालोपमा और रशनोपमाकी स्थिति—

रुद्रटने अपने काव्यालंकारमें उपमाके इन भेदोंके अतिरिक्त दो प्रकारकी मालोपमा तथा दो प्रकारकी रशनोपमा और मानी है। मम्मट इन भेदोंका उक्त भेदोंमें ही अन्तर्भाव मानते हैं इसलिए उन्होंने उसके लक्षण आदि नहीं किये हैं। इस बातका प्रतिपादन करनेके लिए आगे 'मालोपमा' तथा 'रशनोपमा' दोनोंके चारों उदाहरण देकर वे अपने मतका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

अनीतिसे राज्यश्रीके समान, दीनतासे मनस्विताके समान और पालेसे कमिलिनीके समान वह [नायिका] दुःखसे मलिन [कान्तिहीन] हो गयी। ४१०।

इसमें [म्लानतारूप] साधारणधर्म होनेपर। और—

यह नितम्बिनी चाँदनीके समान नेत्रोंको आनन्द देनेवाली, सुराके समान मदोत्पादक, और प्रभुताके समान सारे संसारको आकृष्ट करनेवाली है। ४११।

इति भिन्ने च तस्मिन् एकस्यैव बहूपमानोपादाने **मालोपमा** ।

यथोत्तरमुपमेयस्योपमानत्वे पूर्ववदभिन्नभिन्नधर्मत्वे—

अनवरतकनकवितरणजललवभृतकरतरङ्गितार्थिततेः ।
भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा चेष्टेव कीर्तिरतिविमला ॥४१२॥

मतिरिव मूर्त्तिर्मधुरा मूर्त्तिरिव सभा प्रभावचिता ।
तस्य सभेव जयश्रीः शक्या जेतुं नृपस्य न परेषाम् ॥४१३॥

इत्यादिका **रशनोपमा** च न लक्षिता एवंविधवैचित्र्यसहस्रसंभवात्, उक्तभेदानतिक्रमाच्च ।

और इसमें उस [साधारणधर्म] के भिन्न होनेपर अनेक उपमानोंके उपादानरूप 'मालोपमा' [को अलग माननेकी आवश्यकता नहीं है । इसी प्रकार]—

उत्तरोत्तर उपमेयके उपमानरूप हो जानेपर पूर्ववत् [अर्थात् मालोपमाके समान] साधारणधर्मके (१) अभिन्न तथा (२) भिन्न होनेपर [दो प्रकारकी 'रशनोपमा' जो रुद्रटने मानी है उसको भी अलग माननेकी आवश्यकता नहीं है । जैसे]—

निरन्तर सुवर्णका दान करनेके [सङ्कल्पके] जल लवसे भरे हुए जिसके हाथमें [पूर्व-पश्चाद्भावसे मिलित या प्रतिबिम्बित] याचकसमूह तरङ्गित हो रहा है ऐसे हे राजन् ! आपकी वचनोंके समान मति, मतिके समान चेष्टा और चेष्टाके समान कीर्ति अत्यन्त निर्मल है । ४१२ ।

यहाँ 'भणितिरिव मतिः' में 'मति' उपमेय है, वही 'मतिरिव चेष्टा' इस दूसरी उपमामें उपमान बन गयी है और चेष्टा उपमेय है। यही चेष्टा अगली 'चेष्टेव कीर्तिः' इस तीसरी उपमामें उपमान बन गयी है । इस प्रकार उत्तरोत्तर उपमेयके उपमान होनेपर रुद्रट रशनोपमा मानते हैं । इन तीन उपमाओंमें 'अतिविमलत्व' रूप साधारणधर्म अभिन्न है। इसलिए यह साधारणधर्मकी अभिन्नतामें 'रशनोपमा'का उदाहरण हुआ । इसी प्रकार साधारणधर्मकी भिन्नतामें—

मतिके समान [उस राजाकी] मूर्ति मधुर है । मूर्तिके समान [उसकी] सभा प्रभावसे युक्त है । और उसकी सभाके समान उसकी जयश्रीको दूसरे शत्रुओंके द्वारा विजय करना सम्भव नहीं है । ४०३ ।

यहाँ [तीनों उपमाओंमें उत्तरोत्तर उपमेयके उपमान हो जानेपर भी साधारणधर्मके भिन्न होनेपर दूसरे प्रकारकी रशनोपमा होती है । परन्तु इस प्रकारकी] रशनोपमा [तथा मालोपमा दोनों] का लक्षण [हमने] नहीं किया है । क्योंकि इस प्रकारके अनन्त वैचित्र्य हो सकते हैं [उन सबके आधारपर उपमाके यदि भेद किये जायँ तो उनकी गणना ही असम्भव हो जायगी] । और [वे सब भेद] उक्त [पचीस प्रकारके] भेदोंसे भिन्न नहीं है [इसलिए हमने दोनों प्रकारकी मालोपमा तथा दोनों प्रकारकी रशनोपमाका निरूपण नहीं किया है] ।

इस प्रकार इस दशम उल्लासमें ग्रन्थकारको जिन ६१ प्रकारके अर्थालङ्कारोंका निरूपण करना है उनमेंसे प्रथम उपमा अलङ्कारका यहाँतक सविस्तर निरूपण किया गया । अब इसके आगे सादृश्यमूलक दूसरे—अनन्वय अलङ्कारका निरूपण करते हैं ।

[सूत्र १३५]-**उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।**
अनन्वयः ।

उपमानान्तरसम्बन्धाभावोऽ**नन्वयः** उदाहरणम्—

न केवलं भाति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव ।
यावद्विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासा इव तद्विलासाः ॥४१४॥

[सूत्र १३६]-**विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥९१॥**

तयोरुपमानोपमेययोः । परिवृत्तिः अर्थाद्वाक्यद्वये, इतरोपमानव्यवच्छेदपरा उपमेयेनोपमा इति **उपमेयोपमा** । उदाहरणम्—

कमलेव मतिर्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः ।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य ॥४१५॥

[सूत्र १३७]-**सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।**

समेन उपमानेन । उदाहरणम्—

---

२. सादृश्यमूलक अनन्वय अलङ्कार—

[सूत्र १३५]—एक वाक्यमें एक ही के उपमान तथा उपमेय [दोनों] होनेपर अनन्वय [अलङ्कार] होता है ।

अर्थात् अन्य उपमानका सम्बन्ध न होना ही अनन्वय [अलङ्कार] होता है । [उसका] उदाहरण जैसे—

न केवल अत्यन्त सुन्दरी वह नितम्बिनी [नायिका] उस नितम्बिनीके समान शोभित होती है अपितु जिनमें कामदेव मानो थिरकता रहता है इस प्रकारके उसके वे [अनिर्वचनीय] हाव-भाव उन्हीं विलासोंके समान हैं । ४१४ ।

३. सादृश्यमूलक उपमेयोपमा अलङ्कार—

[सूत्र १३६]—उन दोनों [अर्थात् उपमान और उपमेय] का परिवर्तन हो जाना [अर्थात् उपमानका उपमेय, तथा उपमेयका उपमानरूपमें वर्णन] उपमेयोपमा [अलङ्कार कहलाता] है । ९१ ।

उन दोनोंका अर्थात् उपमान और उपमेयका परिवर्तन अर्थात् दो वाक्योंमें [परिवर्तन] । अन्य उपमानका निराकरण करनेके अभिप्रायसे उपमेयके साथ [उपमानका सादृश्य जिसमें दिखलाया जाय] यह उपमेयोपमा [का शब्दार्थ] है । उदाहरण, जैसे—

अहो इस [राजा] की लक्ष्मीके समान बुद्धि, और बुद्धिके समान लक्ष्मी, शरीरके समान कान्ति और कान्तिके समान शरीर, तथा धरणीके समान धैर्य एवं धैर्यके समान धरणी सदैव शोभित होती है । [ऐसा प्रभावशाली यह राजा है] । ४१५ ।

४. सादृश्यमूलक उत्प्रेक्षालङ्कार—

[सूत्र १३७]—प्रकृत [अर्थात् वर्ण्य उपमेय] की सम [अर्थात् उपमान] के साथ सम्भावना [अर्थात् उत्कटैककोटिक सन्देह] उत्प्रेक्षा [कहलाती] है ।

उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया-

मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः ।

नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-

ल्लग्ना मन्ये ललिततनु ! ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः ॥४१६॥

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥४१७॥

इत्यादौ व्यापनादिलेपनादिरूपतया सम्भावितम् ॥

जो [मुझ कमलश्रीका] जन्मका वैरी [चन्द्रमा] रात्रिमें [भी] मेरे विकासको सहन नहीं करता है, इस कमलनयनीने उस [चन्द्रका] का सौन्दर्याभिमान अपने मुखकी कान्तिसे हठात् नष्ट कर दिया है इस कारणसे [ऐसा मानकर] हे सुन्दर शरीरवाली प्रियतमे ! प्रसन्नताके कारण कमलकी लक्ष्मी मानो तुम्हारे चरणोंमें चिपट गयी है [आ पड़ी है]। ४१६।

[वर्षाकालकी रात्रिके समय] अन्धकार अङ्गोंको लीप-सा रहा है, आकाश काजलकी वृष्टि-सी कर रहा है और दुष्ट-पुरुषकी सेवाके समान दृष्टि विफल-सी हो गयी है। ४१७।

इत्यादिमें व्यापन आदि [उपमेय, उपमानभूत] लेपनादिरूपसे सम्भावित [उत्कटैककोटिक सन्देहरूप] किये गये हैं। [अतः यहाँ उत्प्रेक्षालङ्कार है]।

उपमा और उत्प्रेक्षाका भेद—

अबतक ग्रन्थकारने उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा तथा उत्प्रेक्षा इन चार अलङ्कारोंका विवेचन किया है। ये चारों अलङ्कार सादृश्यमूलक अलङ्कार हैं। फिर भी उनमें परस्पर भेद है। इसीलिए उनके अलग-अलग लक्षण किये गये हैं। इनमेंसे 'उपमा' और 'अनन्वय'का परस्पर भेद बहुत स्पष्ट है। उपमामें उपमान और उपमेय दोनों अलग-अलग होते हैं। अनन्वयमें उपमान और उपमेय एक ही होता है। यह उपमा और अनन्वयका भेद है। इसी प्रकार उपमेयोपमाका भी उपमा तथा अनन्वय दोनोंसे भेद स्पष्ट है। उनको अलग-अलग पहिचाननेमें कोई कठिनाई नहीं होती है। किन्तु उत्प्रेक्षा और उपमाका अन्तर करना कहीं-कहीं कठिन हो जाता है। इसलिए उसपर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है। इसकी दो मुख्य पहिचानें हैं।

(१) 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दाः इव शब्दोऽपि तादृशः। मन्ये, शङ्के, ध्रुवं, प्रायः, नूनं ये उत्प्रेक्षावाचक शब्द हैं। इनका प्रयोग उपमामें नहीं होता है। इसलिए जहाँ इन शब्दोंका प्रयोग होता है वहाँ स्पष्टतः 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार समझ लेना चाहिये।

(२) 'इव' शब्द ऐसा है जो उत्प्रेक्षा तथा उपमा दोनोंका वाचक है। परन्तु इसमें भेदक पहिचान यह है कि उत्प्रेक्षामें 'इव' शब्दका प्रयोग प्रायः क्रियापदके साथ होता है। 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि, वर्षतीवाञ्जनं नभः' आदिके सदृश जब क्रियापदके साथ इसका प्रयोग हो तब उसको निश्चित रूपसे उत्प्रेक्षा समझना चाहिये।

(३) जब उत्प्रेक्षावाचक 'इव' पद हो और उसका सम्बन्ध क्रियापदके साथ न होकर किसी अन्य पदके साथ हो उस स्थलपर उत्प्रेक्षाका निर्णय करना जरा कठिन होता है। ऐसे स्थलोंपर

[सूत्र १३८]-**ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ॥९२॥**

भेदोक्तौ यथा—

अयं मार्तण्डः किं ? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः,
कृशानुः किं ? सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।
कृतान्तः किं ? साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं,
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान्प्रतिभटाः ॥४१८॥

उत्प्रेक्षाका लक्षण विशेष रूपसे सहायक होता है । उपमाका प्राण सादृश्य है और उत्प्रेक्षाका प्राण सम्भावना है । सादृश्यस्थलमें उपमानरूप अर्थकी वास्तविक सत्ता होनी चाहिये । सम्भावनामें उपमान कल्पित होता है । उपमेयका वस्तुसत् उपमानके साथ सादृश्य होनेपर उपमा होती है और उपमेयकी कल्पित उपमानरूपेण सम्भावना होनेपर उत्प्रेक्षा होती है ।

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥

'बालचन्द्रमाके समान अर्धचन्द्राकार और अत्यन्त लाल वर्णके पलाश [ढाक] के फूल वसन्तके समागमसे उत्पन्न वनस्पतियोंके नखक्षतोंके समान प्रतीत होते थे ।' इसमें वनस्थलियोंके नखक्षत वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं । इसलिए 'नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्' इसमें 'इव' सादृश्यका वाचक नहीं अपितु 'सम्भावना' मात्रका बोधक है । अतः यहाँ उपमा नहीं, उत्प्रेक्षालङ्कार है ।

५. ससन्देहालङ्कार—

[सूत्र १३८]—[उपमेयमें उपमानरूपसे] संशय, सन्देह [नामक अलङ्कार] है । वह [उन दोनोंके] भेदके कथन करने, तथा न करनेसे [दो प्रकारका] होता है । ९२ ।

इस कारिकामें ससन्देह तथा संशय दोनों समानार्थक पद आये हैं । इनमेंसे 'ससन्देह' पद लक्ष्य अलङ्कारका वाचक है और संशय पद लक्षणपरक है । इसलिए उनमें पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिये । कारिकामें 'प्रकृतस्य समेन' इस अंशकी पिछली कारिकासे अनुवृत्ति आती है । इसलिए 'प्रकृत' अर्थात् उपमेयका 'सम' अर्थात् उपमानके साथ समान कोटिक संशय सन्देह नामक अलंकार कहलाता है । यह इस कारिकाका अर्थ हुआ । उसके दोनों भेदोंके उदाहरण आगे देते हैं ।

[उपमान तथा उपमेय दोनोंके] भेदका कथन करते हुए [ससन्देहका उदाहरण] जैसे—

यह [राजा] क्या [अत्यन्त तेजस्वी होनेसे] सूर्य है ? [यह संशय हुआ परन्तु उसका सूर्यसे भेद अगले वाक्यमें कहते हैं] वह तो सात घोड़ोंसे युक्त होता है [इसलिए यह सूर्य नहीं हो सकता है]। तब क्या यह अग्नि है ? [यह संशय हुआ उसका निराकरण अगले वाक्यमें आ जाता है कि] किन्तु यह [अग्नि] निश्चित रूपसे सब दिशाओंमें नहीं फैलता है । [अग्निका केवल ऊर्ध्वज्वलन स्वभाव है और इस राजा-का तेज चारों ओर फैल रहा है इसलिए यह निश्चित रूपसे अग्नि भी नहीं हो सकता है । तब] क्या यह साक्षात् यमराज है ? [यह संशय हुआ], किन्तु उसका [यमराज] का वाहन तो भैंसा है [इसलिए यमराज भी नहीं हो सकता है] इस प्रकार युद्धभूमिमें तुमको देखकर शत्रुवीर बड़ी देरतक [नाना प्रकारके विकल्प] सन्देह करता रहता है । ४१८ ।

भेदोक्तावित्यनेन न केवलमयं निश्चयगर्भो यावन्निश्चयान्तोऽपि सन्देहः स्वीकृतः । यथा—

इन्दुः किं क कलङ्कः सरसिजमेतत्किमम्बु कुत्र गतम् ।
ललितसविलासवचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि ! निश्चितं परतः ॥४१९॥

किन्तु निश्चयगर्भ इव नात्र निश्चयः प्रतीयमान इति उपेक्षितो **भट्टोद्भटेन** । तदनुक्तौ यथा—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः,
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो,
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥४२०॥

[सूत्र १३९]—**तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।**
अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोरभेदः ।

इस उदाहरणमें बीच-बीचमें सन्देहका निवारण भी किया जाता रहा है इसलिए भेदोक्तिका निश्चयगर्भ भेद कहलाता है ।

भेदोक्ति पदसे न केवल निश्चयगर्भ रूप [एक ही प्रकारका नहीं होता है] अपितु निश्चयान्त सन्देह भी स्वीकार किया गया है । जैसे—

[तुम्हारा यह मुख] क्या चन्द्रमा है [यदि चन्द्रमा है] तो फिर [इसमेंका कलङ्क कहाँ गया ? क्या यह कमल है तो फिर जल कहाँ गया ? [इस प्रकार सन्देह करके] सुन्दर विलासयुक्त वचनोंसे हे मृगनयनी, यह [तुम्हारा] मुख है यह बात बादको निश्चित कर पाया । ४१९ ।

परन्तु निश्चयगर्भ [सन्देह] के समान यहाँ [निश्चयान्त सन्देहमें] निश्चय प्रतीयमान [व्यङ्ग्य] नहीं होता है इसलिए भट्टोद्भटने [निश्चयान्त भेदकी] उपेक्षा कर दी है [अर्थात् इस निश्चयान्तको सन्देहालङ्कारका भेद नहीं माना है] ।

उस [भेद] के कथन न करनेपर [सन्देहालङ्कारका दूसरा उदाहरण] जैसे—

इस [नायिका] के निर्माणमें क्या कान्तिको देनेवाला चन्द्रमा ही प्रजापति बना था [अर्थात् क्या स्वयं चन्द्रमाने अपनी कान्तिसे इसका निर्माण किया है] अथवा केवल शृङ्गारमय कामदेव स्वयं अथवा पुष्पाकर मास [वसन्त इसका प्रजापति बना] क्योंकि वेदाभ्यासके कारण मूढ़मति और [शृङ्गारोचित] विषयोंमें कौतूहलरहित, बूढ़ा ब्रह्मा इस मनोहर रूपका निर्माण करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है । ४२० ।

६. रूपकालङ्कार—

[सूत्र १३९]—उपमान और उपमेय [जिनका भेद प्रसिद्ध है उनका सादृश्यातिशयवश] का जो अभेद [वर्णन] है वह रूपक [अलङ्कार] है ।

अत्यन्त सादृश्यके कारण, प्रसिद्ध [अनपह्नुत] भेदवाले [उपमान और उपमेय] का [अभेदवर्णन रूपकालङ्कार कहलाता है] ।

[सूत्र १४०]–समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ॥९३॥

आरोपविषया इव आरोप्यमाणा यदा शब्दोपात्तास्तदा समस्तानि वस्तूनि विषयोऽस्येति समस्तवस्तुविषयम् । आरोपिता इति बहुवचनमविवक्षितम् । यथा—

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्द्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम् ।
द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले,
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन ॥४२१॥

[सूत्र १४०]—जब आरोपित [अर्थात् आरोप्यमाण अर्थ] शब्दतः उपात्त [श्रौत] होते हैं तब [वह रूपकका] समस्तवस्तुविषय [नामक] भेद होता है । ९३ ।

आरोपविषय [उपमेय] के समान जब आरोप्यमाण [उपमान] शब्दतः उपात्त [वाच्य] होते हैं तब समस्त वस्तुएँ [आरोप्यमाण] जिसका विषय है [इस विग्रहके अनुसार वह रूपकका] समस्तवस्तुविषय [नामक भेद] होता है । 'आरोपिताः' [इस बहुवचनान्त प्रयोगमें] यह बहुवचन अविवक्षित है । [अर्थात् बहुत-से आरोप्यमाण होनेपर ही समस्तवस्तुविषय नामक रूपकका भेद होता हो यह आवश्यक नहीं है] । [समस्तवस्तुविषय नामक रूपकभेदका उदाहरण] जैसे—

चाँदनीरूप भस्ममें व्याप्त होनेके कारण धवलवर्ण, तारिकारूप अस्थियों [हड्डियों] को धारण किये हुए और अन्तर्धान [सब वस्तुओंको छिपा लेने] के व्यसनकी रसिका, यह रात्रिरूप कापालिकी, चन्द्रकलारूप कपालमें कलङ्कके बहानेसे सिद्धाञ्जन-चूर्णको रखे हुए द्वीप-द्वीपान्तरोंमें घूमती फिरती है । ४२१ ।

इस उदाहरणमें रात्रिके ऊपर कापालिकीका आरोप किया गया है । वही प्रधान रूपक है । उसके उपपादनके लिए अङ्गरूपमें ज्योत्स्नापर भस्मका, तारकोंपर अस्थिका, चन्द्रकलापर कपाल, और लाञ्छनपर सिद्धाञ्जनपरिमलका आरोप किया गया है । ये सब अङ्गभूत रूपक हैं ।

उपमा और रूपकके भेदक धर्म—

यहाँ 'रात्रिकापालिकी' पदमें 'रात्रिरेव कापालिकी रात्रिकापालिकी' तथा 'रात्रिः कापालिकी इव इति रात्रिकापालिकी' ये दो प्रकारके विग्रह हो सकते हैं । पहिली अवस्थामें 'मयूरव्यंसकादयश्च' अष्टाध्यायी २, १, ७२ इस सूत्रसे समास होगा और 'रात्रिरेव कापालिकी' इस रूपमें रात्रि तथा कापालिकीका अभेद होनेसे रूपकालङ्कार होगा । क्योंकि उसमें रात्रिके ऊपर कापालिकीका आरोप होता है । दूसरे 'रात्रिः कापालिकी इव' इस विग्रहमें दोनोंका अभेद नहीं अपितु साम्य प्रतीत होता है इसलिए उपमा अलङ्कार होगा । और उस दशामें 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' अष्टा० २, १, ५६ इस सूत्रसे उपमित समास होगा । इस प्रकार इस उदाहरणमें रूपक तथा उपमा दोनों अलङ्कार सम्भव है इसलिए उन दोनोंके सन्देहके कारण सन्देहसङ्कर अलङ्कार मानना चाहिये, रूपक नहीं, इस प्रकारकी शङ्का हो सकती है । इस शंकाके निराकरणके लिए ग्रन्थकारने अगली पंक्ति लिखी है । उसका आशय यह है कि जहाँ उपमा या रूपकमेंसे किसी एक पक्षमें निर्णय करनेका कोई हेतु सुलभ हो वहाँ सन्देहका अवसर नहीं रहता है अपितु उस विनिगमक हेतुके आधारपर एक पक्षमें निर्णय हो जाता है । जहाँ कोई ऐसा विनिगमक हेतु उपलब्ध न हो सके वहाँ सन्देहसङ्करालङ्कार माना जा सकता है । प्रकृत उदाहरणमें रूपकपक्षमें निर्णय करानेवाले अनेक विनिगमक हेतु विद्यमान हैं ।

अत्र पादत्रये अन्तर्द्धानव्यसनरसिकत्वमारोपितधर्म एवेति रूपकपरिग्रहे साधकमस्तीति तत्सङ्कराशङ्का न कार्या ।।

[सूत्र १४१]–**श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत् ।**

केचिदारोप्यमाणाः शब्दोपात्ताः, केचिदर्थसामर्थ्यादवसेयाः इत्येकदेशविवर्त्तनात् एकदेशविवर्त्ति । तथा—

जस्स रणन्तेउरए करे कुणन्तस्स मण्डलग्गलअम् ।
रससंमुही वि सहसा परंमुही होइ रिउसेणा ।।४२२।।
[यस्य रणान्तःपुरे कुर्वतो मण्डलाग्रलताम् ।
रससम्मुख्यपि सहसा पराङ्मुखीभवति रिपुसेना ।। इति संस्कृतम्] ।

अत्र रणस्यान्तःपुरत्वमारोप्यमाणं शब्दोपात्तम् । मण्डलाग्रलतायाः नायिकात्वं, रिपुसेनायाश्च प्रतिनायिकात्वं अर्थसामर्थ्यादवसीयते इत्येकदेशे विशेषेण वर्तनादेकदेशविवर्ति ।।

इसलिए यहाँ रूपकका निश्चय हो जानेसे इसमें सन्देह-सङ्करालङ्कारकी शंका नहीं करनी चाहिये । रूपकपक्षके उन विनिगमक हेतुओंमें 'अन्तर्धानव्यसनरसिका' यह विशेषण मुख्य है । यह विशेषण कापालिकीपक्षमें तो बन जाता है परन्तु रात्रिपक्षमें ठीक तरहसे नहीं बनता है, इसलिए उसके आधारपर यहाँ रूपकका ही निश्चय होता है । इसी बातको ग्रन्थकारने इस प्रकार लिखा है—

यहाँ अन्तर्धानव्यसनरसिकत्व [रात्रिमें स्वाभाविक नहीं अपितु] आरोपित धर्म ही है इसलिए तीनों चरणोंमें [अर्थात् पहिले तीन पादोंमें आये हुए ज्योत्स्ना भस्मच्छुरणधवला' आदि पदोंमें] रूपक माननेमें [साधक] विनिगमक हेतु विद्यमान है इसलिए [उसके द्वारा रूपकपक्षमें निर्णय हो जानेसे उपमा तथा रूपकके सन्देह] सङ्करकी शङ्का नहीं करनी चाहिये ।

[सूत्र १४१]—जिस [रूपक] में वे [अर्थात् आरोपित धर्म कुछ अंशमें] श्रौत [अर्थात् शब्दतः उपात्त और कुछ अंशमें] आर्थ [अर्थात् अर्थतः आक्षिप्त] हों वह एकदेशविवर्ति [रूपक] होता है ।

कुछ आरोप्यमाण शब्दसे गृहीत और कुछ अर्थके सामर्थ्यसे आक्षिप्त होते हैं इसलिए एकदेशमें [विशेषेण स्पष्टरूपेण वर्तनात्] स्पष्ट रूपसे विद्यमान होनेसे वह एकदेशविवर्ति [रूपक] होता है । जैसे—

जिसके रणरूप अन्तःपुरमें खड्गलता [तलवार] को हाथमें पकड़ते ही युद्धोत्साहसे बढ़ती हुई [रससम्मुखी] भी शत्रुसेना सहसा भाग खड़ी होती है [पराङ्मुखी भवति] । ४२२ ।

यहाँ 'रण' के ऊपर 'अन्तःपुरत्व' रूप आरोप्यमाण शब्दतः उपात्त है परन्तु 'खड्गलता' [मण्डलाग्रलता] का [आरोप्यमाण] 'नायिकात्व', तथा 'रिपुसेना' का [आरोप्यमाण] 'प्रतिनायिकात्व' अर्थतः आक्षिप्त होता है । इसलिए [रणान्तःपुररूप] एकदेशमें स्पष्ट रूपसे वर्तमान [विशेषेण वर्तनात्] यह एकदेशविवर्ति [रूपक] है ।

[सूत्र १४२]-**साङ्गमेतत्**

उक्तद्विभेदं सावयवम् ।

[सूत्र १४३]-**निरङ्गन्तु शुद्धम्**

यथा—

कुरङ्गीवाङ्गानि स्तिमियति गीतध्वनिषु यत् ,
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत् ।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्म्यभिनवां,
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम् ।।४२३।।

[सूत्र १४४]-**माला तु पूर्ववत् ।।९४।।**

मालोपमायामिवैकस्मिन् बहव आरोपिताः । यथा—

सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः,
कान्तेः कार्मणकर्म नर्मरहसामुल्लासनावासभूः ।
विद्या वक्रगिरां विधेरनवधिप्रावीण्यसाक्षात्क्रिया,
बाणाः पंचशिलीमुखस्य ललनाचूडामणिः सा प्रिया ।।४२४।।

[सूत्र १४२]—यह [समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति] साङ्ग-रूपक है ।

उक्त दोनों भेदोंवाला सावयव [रूपक कहलाता] है ।

[सूत्र १४३]—[इसके विपरीत] शुद्ध [अर्थात् अङ्गाङ्गिभावसे रहित, अन्य रूपकोंसे अमिश्रित केवल एक अद्वितीय रूपक] निरङ्ग [रूपक कहलाता] है । जैसे—

क्योंकि यह [किशोरी नायिका] गानेकी आवाज [सुनने] पर हरिणीके समान अङ्गोंको निश्चल कर लेती है, प्रियतमके [एक बार] सुने हुए समाचारको भी सखीसे बार-बार पूछती है [बार-बार सुनना चाहती है] और बिना नींदके भी भीतर [एकान्तमें जाकर] सोती [लेट रहती है] है । इससे मैं समझती हूँ कि कामदेवने इसके हृदयमें नयी प्रेमलताको सींचना प्रारम्भ कर दिया है, यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है । ४२३ ।

यहाँ प्रेमके ऊपर लतिकाका आरोप किया गया है इसलिए रूपक है । उसके अङ्गरूपमें और कोई रूपक नहीं आया है इसलिए यह निरङ्ग रूपकका उदाहरण है ।

[सूत्र १४४]—**पूर्ववत् [मालोपमाके समान] माला [रूपक] होता है । ९४ ।**

मालोपमाके समान एक [आरोपविषय] पर बहुतोंका आरोप होता है [तब माला रूपक होता है] जैसे—

स्त्रियोंकी शिरोमणि वह प्रिया, सौन्दर्यकी नदी नवयौवनके उत्कर्षकी प्रसन्नताका प्रवाह, कान्तिका [कार्मणकर्म] वशीकरण मन्त्र [कार्मणं मन्त्रतन्त्रादियोजने कर्मठेऽपि च] रतिक्रीडा उद्भावनाका आश्रयस्थान, वक्रोक्ति रूपवाणीकी [अलङ्कारशास्त्ररूप] विद्या, [अर्थात् वक्रोक्तिमें निपुण], विधाताके अनन्त निपुणताका साक्षात्कार करानेवाली और कामदेवके [समस्त] बाणरूप है । ४२४ ।

[सूत्र १४५]–**नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।**
तत्परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥९५॥

यथा—

विद्वन्मानसहंस ! वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते !
दुर्गामार्गणनीललोहित ! समित्स्वीकारवैश्वानर !
सत्यप्रीतिविधानदक्ष ! विजयप्राग्भावभीम ! प्रभो !
साम्राज्यं वरवीर ! वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥४२५॥

यहाँ एक प्रियतमा रूप उपमेय या आरोपविषयपर सात आरोप्यमाणोंका आरोप किया गया है और उन सातोंमें परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं है इसलिए यह निरङ्ग मालारूपक है ।

यहाँतक रूपकके चार भेद किये गये हैं । उसके श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट परम्परित रूप दो भेद आगे दिखलाते हैं ।

[सूत्र १४५]—श्लिष्ट अथवा अश्लिष्ट [भेदभाजि] शब्दोंके होनेपर जो अन्यका आरोप [वर्णनीय होनेसे], अवश्यापेक्षणीय [नियत अन्य] अर्थके आरोपका कारण होता है वह परम्परित रूपक [श्लेषमूलक तथा अश्लेषमूलक दो प्रकारका] होता है । ९५ ।

जैसे—

हे वीरवर [वरेषु श्रेष्ठेषु वीर] राजन् ! विद्वानोंके मन [रूप मानसरोवर] के हंस, शत्रुओंकी लक्ष्मीके संकोचरूप, कमलोंके विकास [असंकोच] के लिए सूर्य, दुर्गों अर्थात् किलोंके अमार्गण न खोजनेरूप दुर्गा अर्थात् पार्वतीके मार्गण अर्थात् अनुसन्धान [प्राप्ति]के लिए [नीललोहित अर्थात्] शिव, समित् अर्थात् युद्धोंके स्वीकार करनेरूप समिधाओं [काष्ठ या इन्धन] के स्वीकारके लिए [वैश्वानर] अग्निरूप, सत्यभाषणमें प्रीतिरूप, [और सती अर्थात् पार्वतीकी अप्रीति [नाराजी] उसके करनेमें दक्ष प्रजापतिरूप, विजय अर्थात् शत्रुका पराभव ही विजय अर्थात् अर्जुन, उसका प्राग्भाव अर्थात् अर्जुनकी अपेक्षा प्रथम उत्पत्ति, उसके लिए भीमरूप, हे वीरवर [वर अर्थात् श्रेष्ठोंमें वीर] आप ब्रह्माके सौ वर्षतक [वैरिञ्चवत्सरशतं] महान् साम्राज्यको [अर्थात् चक्रवर्ती राज्यको] करो । ४२५ ।

यह श्लिष्ट, मालारूप परम्परित रूपकका उदाहरण है । क्योंकि यहाँ विद्वानोंके मनरूप उपमेयपर मानसरोवररूप 'मानस'का आरोप होनेसे ही राजाके ऊपर हंसका आरोप हो सकता है । इसलिए यह परम्परित रूपकका लक्षण घटता है । मानस शब्द श्लिष्ट है । एक पक्षमें उसका अर्थ मन, और दूसरे पक्षमें मानसरोवर अर्थ होता है । इसलिए यह श्लिष्ट रूपकका लक्षण उसमें समन्वित होता है । इसी प्रकार शत्रुओंकी कमला अर्थात् लक्ष्मीका सङ्कोच ही कमलोंका असङ्कोच अर्थात् विकास उसके लिए दीप्तद्युति अर्थात् सूर्यरूप, इसमें शत्रुओंकी कमलाके सङ्कोचके ऊपर कमलोंके असङ्कोचका आरोप होनेसे राजाके ऊपर सूर्यका आरोप होता है इसलिए परम्परित रूपक, और कमलासङ्कोच पदके श्लिष्ट होनेसे श्लिष्ट-परम्परित रूपकका उदाहरण होता है । इसी प्रकार दुर्गका अमार्गण अर्थात् युद्धके लिए किलेकी शरण न लेनेपर, दुर्गा अर्थात् पार्वतीके मार्गण अर्थात् प्राप्तिका

अत्र मानसमेव मानसम्, कमलायाः संकोच एव कमलानामसंकोचः, दुर्गाणाममार्गणमेव दुर्गायाः मार्गणम्, समितां स्वीकार एव समिधां स्वीकारः, सत्ये प्रीतिरेव सत्यामप्रीतिः, विजयः पराभव एव विजयोऽर्जुनः, एवमारोपणनिमित्तो हंसादेरारोपः ।

यद्यपि शब्दार्थालंकारोऽयमित्युक्तं वक्ष्यते च, तथापि प्रसिद्ध्यनुरोधादत्रोक्तः । एकदेशविवर्त्ति हीदमन्यैरभिधीयते ।

आरोप होनेसे राजाके ऊपर नीललोहित अर्थात् शिवका आरोप होनेसे यह परम्परित रूपक और 'दुर्गामार्गण' पदके श्लिष्ट होनेसे श्लिष्ट परम्परित रूपक होता है । इसी प्रकार अन्य विशेषणोंमें भी श्लिष्ट परम्परित रूपक दिखलाते हुए ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें लिखते हैं कि—

इस [उदाहरण] में मन ही मानसरोवर [अर्थात् मनपर मानसरोवरका आरोप] [और वैरियोंकी] कमलाका सङ्कोच ही कमलोंका असङ्कोच [अर्थात् वैरियोंकी कमलाके सङ्कोचपर कमलोंके असङ्कोचका आरोप], दुर्गोंका अमार्गण ही दुर्गाका मार्गण [अर्थात् दुर्गोंके उपयोग न करनेके ऊपर पार्वतीके अनुसन्धान या प्राप्तिका आरोप], 'समित' अर्थात् युद्धका स्वीकार ही समिधाओंका स्वीकार [अर्थात् युद्धके स्वीकारपर समिधाओंके स्वीकारका आरोप], सत्यकी प्रीति ही सती पार्वतीकी अप्रीति [अर्थात् सत्यकी प्रीतिपर सती पार्वतीकी अप्रीतिका आरोप], विजय अर्थात् शत्रुओंका पराजय ही विजय अर्थात् अर्जुन [अर्थात् शत्रुपराभवके ऊपर अर्जुनका आरोप] इन आरोपोंके कारण [राजाके ऊपर] हंस आदिका आरोप होता है । [इसलिए यह परम्परित रूपक होता है, और उसमें मानस आदि पद श्लिष्ट हैं इसलिए यह श्लिष्ट परम्परित रूपकका उदाहरण होता है] ।

यद्यपि [पृष्ठ ४२३ पर गुण, दोष, अलङ्कार आदिके शब्दगत या अर्थगत होनेके विषयमें अन्वय-व्यतिरेकको निर्णायक हेतु बतलानेके द्वारा, और इस श्लोकमें मानस आदि पदोंके परिवृत्त्यसह होनेसे शब्दालङ्कारत्व, तथा हंसादि पदोंके परिवृत्तिसह होनेके कारण अर्थालङ्कारत्वका निर्धारण होनेसे] यह [परम्परित रूपक पुनरुक्तवदाभास अलङ्कारके समान शब्दार्थालङ्कार अर्थात्] उभयालङ्कार है यह बात [पूर्व पृष्ठ ४२३ है पर प्रायः अर्थतः] कह चुके हैं और आगे भी [सूत्र २११ की व्याख्यामें 'पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयालङ्कारौ' यह लिखकर स्पष्ट रूपसे] कहेंगे । [इसलिए इस श्लिष्ट परम्परित रूपकका निरूपण पुनरुक्तवदाभासके साथ उभयालङ्कारके प्रकरणमें ही करना उचित था] फिर भी [भामह आदि प्राचीन आचार्योंने उसका निरूपण अर्थालङ्कारोंमें ही किया है इसलिए] प्रसिद्धिके अनुरोधसे [हमने भी] यहाँ [अर्थालङ्कारोंके प्रकरणमें] कह दिया है । अन्य भामह आदि आचार्य] इसको एकदेशविवर्ति रूपक कहते हैं ।

जैसे कि 'यस्य रणान्तःपुरे' इत्यादि उदाहरणसंख्या ४२२ में रणपर अन्तःपुरका शाब्द आरोप होनेपर भी 'मण्डलाग्रलता' पर नायिकात्वके आरोपके अर्थाक्षिप्त होनेसे उसको एकदेशविवर्ति रूपक कहा जाता है इसी प्रकार 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादिमें राजापर हंसका शाब्द आरोप होनेपर भी 'विद्वन्मानस' पर मानसरोवरका आरोप अर्थाक्षिप्त होनेसे इस परम्परित रूपकको भी भामह आदि अन्य आचार्य एकदेशविवर्तिरूपक कहते हैं । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

भेदभाजि यथा—

आलानं जयकुंजरस्य दृषदां सेतुर्विपद्वारिधेः,
पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः ।
संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो,
राजन् ! राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः ॥४२६॥

अत्र जयादेर्भिन्नशब्दावाच्यस्य कुंजरत्वाद्यारोपे, भुजस्य आलानत्वाद्यारोपो युज्यते ।

अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगत्त्रयः ।
स्तूयते देव ! सद्वंशमुक्तारत्नं न कैर्भवान् ॥४२७॥

निरवधि च निराश्रयं च यस्य स्थितमनिवर्तितकौतुकप्रपञ्चम् ।
प्रथम इह भवान् स कूर्ममूर्त्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः ॥४२८॥

इति च अमालारूपकमपि परम्परितं द्रष्टव्यम् ॥

किसलयकरैर्लतानां करकमलैः कामिनां मनो जयति ।
नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः ॥४२९॥

[भेदभाजि अर्थात् वाचकके] अश्लिष्ट होनेपर [उदाहरण] जैसे—

हे राजन् ! शत्रुओंकी स्त्रियोंको वैधव्य-प्रदान करनेवाला [अर्थात् शत्रुओंका नाश करनेवाला] आपका बाहु, विजयरूप हाथीका बन्धन-स्तम्भ [आलान] है, विपत्ति-रूप सागर [को पार करने] का पत्थरोंका [पक्का] पुल है, तलवारके प्रचण्ड तेजरूप [चण्डमहसः अर्थात्] सूर्यका उदयाचल, लक्ष्मीके आराम करनेका तकिया, संग्राम-रूप अमृतके सागर मथन करनेकी क्रीडामें मन्दराचलरूप शोभित हो रहा है । ४२६ ।

यहाँ अलग-अलग शब्दोंसे वाच्य जयादिपर कुञ्जरत्वादिका आरोप होनेपर भुजापर आलान आदिका आरोप बनता है । [इसलिए यह परम्परित रूपक है । आरोप-विषय जयादि तथा आरोप्यमाण कुञ्जरत्वादि दोनों अलग-अलग शब्दोंसे वाच्य हैं, 'विद्वन्मानस' आदि शब्दोंके समान श्लिष्ट पदोंसे वाच्य नहीं हैं अतएव यह अश्लिष्ट परम्परित रूपक है । और इस प्रकारके अनेक आरोप एक ही भुजाके ऊपर किये गये हैं इसलिए यह अश्लिष्ट परम्परित माला रूपकका उदाहरण है] ।

आगे श्लिष्ट-परम्परित-अमाला-रूपकका उदाहरण देते हैं—

लोकोत्तर महादीप्तिसे [अथवा महद्यश] से तीनों लोकोंको प्रकाशित करने और उत्तम वंश [कुल तथा बाँस]के मुक्तारत्न रूप आपकी कौन प्रशंसा नहीं करता है । ४२७ ।

यहाँ आरोपविषय उत्तमकुल तथा अरोप्यमाण उत्तम बाँस दोनोंको वंशरूप एक ही श्लिष्ट शब्दसे कहा गया है । उसके द्वारा वंश अर्थात् कुलके ऊपर वंश अर्थात् बाँसका आरोप किया गया है । यह आरोप राजाके ऊपर मुक्ता-रत्नके आरोपका निमित्त होता है । इसलिए यह श्लिष्ट-परम्परित-रूपकका उदाहरण है । इसमें अनेक आरोप नहीं किये गये हैं इसलिए यश अमालारूप केवल श्लिष्ट-परम्परित रूपकका उदाहरण है ।

आगे अश्लिष्ट अमाला रूप केवल-परम्परित-रूपकका उदाहरण देते हैं—

जिन [विष्णु भगवान्] की अवधिरहित [अर्थात् देश-कालादिसे अपरिच्छिन्न] आश्रयरहित [अर्थात् कूर्मावताररूपमें सारे जगत्का धारण करनेके लिए सबसे नीचे

इत्यादिरशनारूपकं न वैचित्र्यवदिति न लक्षितम् ।

[सूत्र १४६]—**प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपन्हुतिः ।**

उपमेयमसत्यं कृत्वा उपमानं सत्यतया यत्स्थाप्यते सा त्वपन्हुतिः । उदाहरणम्—

स्थित, फिर भी उस सबके धारण करनेके लिए किसी विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता न होनेसे] असीम-आश्चर्यमय [कौतुकप्रपञ्च आश्चर्यका आधिक्य उसको निवर्तित अर्थात् समाप्त न करनेवाला अनिवर्तितकौतुकप्रपञ्च अवस्थान] स्थिति है इस संसारमें सबसे प्रथम और चौदह लोकोंरूप [लम्बी शृङ्खलात्मक] लताके मूल [कन्द] रूप आप सर्वोत्कर्षयुक्त हैं [आपकी जय हो] । ४२८ ।

यहाँ लोकपर वल्लीका आरोप विष्णुपर कन्दत्वके आरोपका कारण होता है, इसलिए यह परम्परित रूपक होता है । लोकपर जो वल्लीका आरोप है उसमें दोनोंको अलग-अलग शब्दोंसे कहा गया है इसलिए वह अश्लिष्ट है और केवल एक ही आरोप किया गया है इसलिए अमालारूप या केवल है । इस प्रकार यह अश्लिष्ट अमालारूप परम्परित रूपकका उदाहरण हुआ ।

और यह अमालारूप भी [अश्लिष्ट] परम्परित रूपक समझना चाहिये ।

रशनारूपक अनावश्यक—

यद्यपि मालारूपकके समान रशनारूपक भी हो सकता है परन्तु उसमें विशेष चमत्कार न होने और इन्हीं रूपकभेदोंमें उसका अन्तर्भाव सम्भव होनेसे उसको अलग भेद माननेकी आवश्यकता नहीं है । इसी बातको प्रतिपादन करनेके लिए रशनारूपकके सम्भावित उदाहरणको देकर ग्रन्थकार अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं—

लताओंके किसलयरूप हाथोंसे, [योषितां अर्थात्] कामिनियोंके कर-कमलोंसे, कमलिनियोंके कमलरूप मुखोंसे और [योषितां] कामिनियोंके मुखचन्द्रोंसे कामदेव [कामियोंके] मनको वशमें कर लेता है । ४२९ ।

इत्यादि रशना-रूपक चमत्कारजनक नहीं है इसलिए उसका लक्षण नहीं किया गया है ।

पूर्व उपमानके आगे चलकर उपमेय हो जानेपर 'रशनोपमा' होती है इसी प्रकार पूर्वके आरोप्यमाणके आगे चलकर आरोपविषय हो जानेपर 'रशना-रूपक' होता है । यहाँ किसलयकरैः- में किसलय आरोपविषय है, उसपर करका आरोप किया गया है इसलिए 'कर' आरोप्यमाण है । यही कर अगले कर-कमलैः इस रूपकमें आरोपविषय बन गया है । उसपर कमलका आरोप किया गया है इसलिए यह रशना-रूपकका उदाहरण है । इसी प्रकार कमल-मुखैः पदमें मुख आरोप्यमाण है, वही अगले 'मुखेन्दुभिः' इस रूपकमें आरोपविषय बन गया है । इसलिए यह भी रशनारूपकका उदाहरण हो सकता है । परन्तु उसमें कोई अतिरिक्त चमत्कार न होनेसे ग्रन्थकारने उसका अलग लक्षण करनेकी आवश्यकता नहीं समझी है ।

७. अपह्नुति अलङ्कार—

[सूत्र १४६]—प्रकृत [अर्थात् उपमेय] का निषेध करके जो अन्य [अर्थात् उपमान] की सिद्धि की जाती है वह 'अपह्नुति' [अलङ्कार कहलाता] है ।

उपमेयको असत्य सिद्ध करके उपमानको ही सत्य रूपसे जो स्थापित किया जाता है वह तो अपह्नुति होती है ।

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये !
कलंको नैवायं विलसति शशांकस्य वपुषि ।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे,
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥४३०॥

इत्थं वा—

बत सखि ! कियदेतत् पश्य वैरं स्मरस्य,
विप्रविरहकृशेऽस्मिन् रागिलोके तथा हि ।
उपवनसहकारोद्भासिभृंगच्छलेन
प्रतिविशिखमनेनोट्टंकितं कालकूटम् ॥४३१॥

अत्र हि न सभृङ्गाणि सहकाराणि, अपि तु सकालकूटाः शरा इति प्रतीतिः ।

यह अपह्नुति भी शाब्दी तथा आर्थी भेदसे दो प्रकारकी होती है। जहाँ प्रकृतका निषेध शब्दतः किया जाता है वह शाब्दी अपह्नुति कहलाती है और जहाँ शब्दतः निषेध न करके अर्थतः आक्षिप्त होता है वह आर्थी अपह्नुति कहलाती है। आर्थी अपह्नुतिमें प्रकृतका निषेध करनेके लिए कहीं कपटार्थक कहीं परिणामार्थक शब्दोंका ग्रहण किया जाता है। और कहीं अन्य उपायोंका भी अवलम्बन किया जाता है। उनमेंसे पहिले शाब्दी अपह्नुतिका उदाहरण देते हैं।

[शाब्दी अपह्नुतिका] उदाहरण [जैसे]—

हे पार्वति [शैलतनये]! परिपूर्ण [परिणतरुचः] चन्द्रमाके शरीर [अर्थात् वक्षःस्थल] में प्रगल्भताको प्राप्त [अत्यन्त प्रौढ़] यह कलङ्क नहीं दिखलाई देता है, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है [मन्ये] कि इसके अमृतके प्रवाहसे शीतल वक्षःस्थलपर रतिसे परिश्रान्त हुई रात्रिरमणी [सुरत-निद्रामें] सो रही है। ४३०।

यहाँ उपमेयभूत कलङ्कका निषेध करके उपमानभूत रात्रिकी स्थापनाकी गयी है इसलिए यह अपह्नुति अलङ्कार है। इसमें भी 'कलङ्को नैवायं' कहकर शब्दतः उपमेयका निषेध होनेसे यह शाब्दी अपह्नुति है।

जहाँ प्रकृतका निषेध शब्दतः नहीं होता अपितु अर्थतः आक्षिप्त होता है वहाँ आर्थी अपह्नुति होती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आर्थी अपह्नुतिमें कभी कपटार्थक शब्दके प्रयोग द्वारा और कभी परिणामार्थक शब्दोंके प्रयोग द्वारा प्रकृतके निषेधका बोधन किया जाता है। इन दोनों प्रकारकी आर्थी अपह्नुतिके दो उदाहरण आगे देते हैं।

अथवा [कपटार्थक शब्दके प्रयोग द्वारा आर्थी अपह्नुतिका उदाहरण] जैसे—

हाय सखि, देखो तो प्रियके विरहसे दुबले हुए रागी लोगोंके प्रति कामदेवका यह कितना वैरभाव है कि बगीचेके आमके पेड़ोंपर बैठे हुए [शोभित] भौंरोंके बहानेसे इसने [अपने] प्रत्येक बाणपर कालकूट विष लगा दिया है। ४३०।

यहाँ यह भौंरोंसे युक्त आमके वृक्ष नहीं हैं अपितु कालकूट विषसहित [कामदेवके] बाण हैं यह प्रतीति होती है। [इस प्रकार अर्थात् भ्रमरयुक्त सहकारोंका निषेध करके कालकूटयुक्त बाणोंकी स्थापना किये जानेसे यह आर्थी अपह्नुतिका उदाहरण है]।

एवं वा—

अमुष्मिँल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः,
स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः ।
यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे,
शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः ॥४३२॥

अत्र न रोमावलिः धूमशिखेयमिति प्रतिपत्तिः । एवमियं भङ्ग्यन्तरैरप्यूह्या ।

इस उदाहरणमें प्रकृतके निषेधके लिए कपटार्थक 'छल' पदका प्रयोग किया गया है। परिणामार्थक शब्दके प्रयोग द्वारा प्रकृत अर्थके निषेधका अगला उदाहरण देते हैं—

इसी प्रकार [परिणामार्थक शब्दके प्रयोग द्वारा आर्थी अपह्नुतिका उदाहरण]—

निश्चय ही इस मृगनयनीके लावण्यरूप अमृतके तालाबरूप विस्तीर्ण जघन-भाग [वरांग देश] में [सन्तापशान्तिके लिए] शिवजीके द्वारा दग्ध किया हुआ कामदेव गिर पड़ा है जिसके अंगरूप अंगारोंके बुझनेकी सूचना देनेवाली धूमकी शिखा रोमावलिके रूपमें नाभिके कुहरमें दिखलाई देती है। ४३२।

यहाँ रोमावलि नहीं है अपितु धूमशिखा है, इस प्रकारकी प्रतीति होती है [जिसमें प्रकृत रोमावलिका अर्थतः निषेध सूचित होता है इसलिए यह आर्थी अपह्नुतिका उदाहरण है]।

आर्थी-अपह्नुतिमें प्रकृतके निषेधके लिए इन दो मार्गोंके अतिरिक्त अन्य उपायोंका भी अव-लम्बन किया जा सकता है। जैसे, सप्तम उल्लासमें उदाहरण सं० २६४ में 'इदं ते केनोक्तं' कहकर प्रकृतके निषेधका प्रदर्शन किया गया है। इसी प्रकार—

अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः पङ्कं परे मेनिरे,
सारङ्गं कतिचिच्च संजगदिरे भूच्छायमैच्छन् परे ।
इन्दौ यद्गलितेन्द्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते
तत् सान्द्रं निशि पीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे ॥

इत्यादि रूपसे भी प्रकृतका निषेध करनेकी अन्य ही शैली अपनायी जा सकती है।

साहित्यदर्पणकारने अपह्नुतिका एक और भी स्वरूप माना है। उसका लक्षण यह किया है—

'गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन ।
यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत् साप्यपह्नुतिः ।

अर्थात् यदि किसी गोपनीय अर्थको कहकर फिर श्लेषके द्वारा या किसी अन्य प्रकारसे उसको छिपानेका यत्न किया जाय तो वह भी अपह्नुति अलङ्कारका उदाहरण होता है। जैसे—

काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम् ।
उत्कण्ठितासि तरले ! नहि नहि सखि ! पिच्छलः पन्थाः ॥

अर्थात् वर्षाकालमें 'अपतितया' (बिना पतिके) नहीं रहा जा सकता है ऐसा कहकर किसी नायिकाने अपनी सखीके सामने पति-मिलनकी उत्सुकताको प्रकट किया। परन्तु जब सखी उसका उपहास करके पूछने लगी कि 'अच्छा, आप पति-मिलनके लिए व्याकुल हो रही हैं ?' तब नायिकाने 'अपतितया' शब्दका श्लेषसे 'बिना गिरे' 'बिना फिसले' यह अर्थ लेकर अपने उस उत्कण्ठाव्यञ्जक मूल भावको छिपानेका प्रयत्न किया है। इसलिए यह भी अपह्नुति अलङ्कारका उदाहरण है।

[सूत्र १४७]—**श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् ॥९६॥**

एकार्थप्रतिपादकानामेव शब्दानां यत्रानेकोऽर्थः स श्लेषः । उदाहरणम्—

उदयमयते दिङ्मालिन्यं निराकुरुतेतरां,
नयति निधनं निद्रामुद्रां प्रवर्तयति क्रियाः ।
रचयतितरां स्वैराचारप्रवर्तनकर्तनं,
बत बत लसत्तेजःपुंजो विभाति विभाकरः ॥४३३॥

अत्राभिधाया अनियन्त्रणात् द्वावप्यर्कभूपौ वाच्यौ ।

---

८. [अर्थ] श्लेष अलङ्कार—

[सूत्र १४७]—जहाँ एक ही वाक्यमें अनेक अर्थ हों वह श्लेष होता है । ९६ ।

'प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते' इस नियमके अनुसार प्रत्येक शब्द एक ही अर्थका प्रतिपादक होता है । जहाँ एक ही शब्दसे दो या अनेक अर्थोंकी प्रतीति होती है वहाँ वह वस्तुतः एक शब्द नहीं होता है अपितु समानाकार अनेक शब्दोंका जतुकाष्ठ-न्यायसे श्लेष होता है । नवम उल्लासमें सूत्र ११९ में श्लेष नामक शब्दालङ्कारका निरूपण किया था । यहाँ अर्थालङ्काररूप श्लेषका निरूपण किया जा रहा है । श्लेषके इस शब्दालङ्कारत्व तथा अर्थालङ्कारत्वरूप द्विविध स्वरूपका नियामक 'शब्दपरिवृत्ति-सहत्व' तथा 'परिवृत्त्यसहत्व' ही है । जहाँ शब्दका परिवर्तन करके दूसरा समानार्थक शब्द रख देने-पर श्लेष नहीं रहता है वहाँ श्लेषको शब्दनिष्ठ होने शब्दालङ्कार माना जाता है । और जहाँ शब्दका परिवर्तन कर देनेपर भी श्लेषके चमत्कारकी हानि नहीं होती है वहाँ अलङ्कार शब्दनिष्ठ नहीं अपितु अर्थनिष्ठ होता है इसलिए उसको अर्थालङ्कार माना जाता है ।

एक ही अर्थके प्रतिपादक शब्दोंके जहाँ अनेक अर्थ होते हैं वह ['शब्दपरि-वृत्तिसह' होनेके कारण अर्थालङ्काररूप] श्लेष होता है । [उसका] उदाहरण [जैसे]—

इस उदाहरणमें विभाकर नामक राजाकी सूर्यके साथ समता दिखलाते हुए स्तुति की गयी है । विभाकर यह शब्द विभाकर नामक राजा तथा सूर्य दोनोंका वाचक है । उसका परिवर्तन कर देनेपर दोनों अर्थोंकी प्रतीति न होनेसे श्लेष नहीं रहता है इसलिए यह परिवृत्त्यसह है । अतः इस अंशमें शब्द-श्लेष है । शेष सब विशेषण विभाकर राजा तथा सूर्य दोनों पक्षोंमें घट जाते हैं और शब्दोंका परिवर्तन कर देनेपर भी श्लेषकी हानि नहीं होती है इसलिए उनमें अर्थालङ्काररूप श्लेष होता है ।

देदीप्यमान तेजःसमूहसे युक्त विभाकर [नामक राजा, विभाकर अर्थात् सूर्यके समान] शोभित हो रहा है । वह [सूर्यके समान ही] उदय [वृद्धि] को प्राप्त करता है, दिशाओंकी मलिनता [सूर्यपक्षमें अन्धकार तथा राजापक्षमें पापाचरण] को विनष्ट करता है, सोनेकी अवस्था [निरुत्साहता] का नाश करता है और [राजापक्षमें गमनागमनादिरूप तथा सूर्यपक्षमें सन्ध्योपासनादिरूप विहित] क्रियाओंको प्रवृत्त करता है । और [सूर्यपक्षमें अभिसार आदि रूप स्वैराचार तथा राजापक्षमें अन्याय, पापाचरण आदि रूप] उच्छृङ्खल आचारकी प्रवृत्तियोंका उच्छेद [कर्तन] करता है । इस प्रकार देदीप्यमान तेजःसमूहसे विभूषित विभाकर [राजा, विभाकर अर्थात् सूर्यके समान] शोभित हो रहा है यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है [बत बत] । ४३३ ।

यहाँ अभिधाका नियन्त्रण न होनेसे [विभाकर शब्दसे] सूर्य तथा राजा दोनों वाच्य हैं ।

[सूत्र १४८]-**परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः**

प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टविशेषणमाहात्म्यात्, न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि, यत् अप्रकृतस्यार्थस्याभिधानं सा समासेन संक्षेपेणार्थद्वयकथनात् **समासोक्तिः**।

उदाहरणम्—

> लहिऊण तुज्झ बाहुप्फंसं जीए स को वि उल्लासो।
> जअलच्छी तुह विरहे ण हुज्जला दुव्वला णं सा ॥४३४॥
> [लब्ध्वा तव बाहुस्पर्शं यस्याः स कोऽप्युल्लासः।
> जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्ज्वला दुर्बला ननु सा ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र जयलक्ष्मीशब्दस्य केवलं कान्तावाचकत्वं नास्ति।

[सूत्र १४९]- **निदर्शना।**

अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ॥९७॥

---

९. समासोक्ति अलङ्कार—

[सूत्र १४८]—श्लेषयुक्त [भेदक अर्थात्] विशेषणों द्वारा [पर अर्थात्] अप्रकृत [के व्यवहार] का कथन 'समासेन संक्षेपेण उक्तिः' [दो अर्थोंका संक्षेपसे कथन होनेके कारण] समासोक्ति [अलङ्कार कहलाता] है।

प्रकृत [प्रस्तुत] अर्थके प्रतिपादक वाक्यके द्वारा श्लेषयुक्त विशेषणोंके प्रभावसे, न कि विशेष्य [पद] के सामर्थ्यसे जो अप्रकृत अर्थका कथन है वह 'समाससे अर्थात् संक्षेपसे [प्रकृत तथा अप्रकृतरूप] दोनोंका कथन होनेसे' समासोक्ति [अलङ्कार कहलाता] है। [उसका] उदाहरण [जैसे]—

तुम्हारे बाहुके स्पर्शको पाकर जिसको वह कुछ अनिर्वचनीय प्रसन्नता होती है वह जयलक्ष्मी तुम्हारे वियोगमें प्रसन्न नहीं है, निश्चय ही दुर्बल हो गयी है। ४३४।

यहाँ केवल [विशेष्यवाचक] जयलक्ष्मी शब्द [अप्रकृत] कान्ता [रूप अर्थका वाचक नहीं है। [अपितु श्लेषयुक्त विशेषणोंके द्वारा जयलक्ष्मी शब्द नायिकाका बोधक भी होता है]।

रूपक और समासोक्तिका भेद—

रूपक अलंकारमें प्रकृतपर अप्रकृत विशेष्यका आरोप होता है। और समासोक्तिमें प्रकृत-व्यवहारमें अप्रकृत व्यवहारका आरोप होता है। यह रूपक तथा समासोक्तिका भेद है। इसलिए 'यस्य रणान्तःपुरे' इत्यादि उदाहरण सं० ४२२ में एकदेशविवर्ति रूपकके उदाहरणमें समासोक्ति अलङ्कार नहीं होता है। और यहाँ 'लब्ध्वा तव बाहुस्पर्शं' आदिमें विशेष्यका नहीं अपितु केवल व्यवहारमात्रका आरोप होनेसे रूपक नहीं होता है। यही रूपक तथा समासोक्तिका भेद है।

१०. निदर्शना अलङ्कार—

[सूत्र १४९]—**जहाँ वस्तुका [अभवन्] असम्भव या अनुपद्यमान सम्बन्ध [प्रकृतकी अप्रकृतके साथ] उपमाका परिकल्पक [उपमामें पर्यवसित] होता है वह निदर्शना [नामक अलङ्कार] होता है। ९७।**

निदर्शनं दृष्टान्तकरणम् । उदाहरणम्—

(१) क सूर्यप्रभवो वंशः क चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥४३५॥

अत्रोडुपेन सागरतरणमिव मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमित्युपमायां पर्यवस्यति ।

यथा वा—

(२) उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ अहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥४३६॥

अत्र कथमन्यस्य लीलामन्यो वहतीति तत्सदृशीमित्युपमायां पर्यवसानम् ।

निदर्शन अर्थात् दृष्टान्त बनानेवाला [उपमा परिकल्पक होनेसे निदर्शना यह अन्वर्थ-संज्ञा है] । उदाहरण [जैसे]—

(१) कहाँ सूर्यसे उत्पन्न वंश [सूर्यवंश] और कहाँ मेरी क्षुद्र [अल्पविषया] बुद्धि [इन दोनोंका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है । सूर्यवंशका वर्णन कर सकना मेरी बुद्धिके लिए सम्भव नहीं है । फिर भी मैं यह जो सूर्यवंशके वर्णनका प्रयास कर रहा हूँ सो] अज्ञानवश दुस्तर सागरको [चर्मावनद्ध पात्ररूप] छोटी-सी नौकासे पार करना चाहता हूँ [चर्मावनद्धमुडुपं प्लवः काष्ठकरण्डवत्] । ४३५ ।

यहाँ मेरी बुद्धिके द्वारा सूर्यवंशका वर्णन, उडुप [बाँसकी बनी हुई और चमड़ेसे मढ़ी हुई नौका या पात्र विशेष] से सागरके पार करनेके समान है इस उपमामें [इस श्लोक वाक्यका] पर्यवसान होता है ।

इस उदाहरणमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्धरूप दो वाक्यार्थोंका उपमानोपमेयभाव पर्यवसित होता है । इसलिए इसको 'वाक्यार्थ निदर्शना' कहा जाता है । इसके अतिरिक्त कहीं केवल दो पदार्थोंका उपमानोपमेयभाव पर्यवसित होनेपर 'पदार्थनिदर्शना' नामक निदर्शनाका दूसरा भेद भी हो सकता है । इस पदार्थनिदर्शनारूप द्वितीय भेदका उदाहरण आगे देते हैं—

यह श्लोक माघकाव्यके चतुर्थ सर्गसे रैवतक-पर्वतके वर्णनके प्रसंगमेंसे लिया गया है । प्रातःकालके समय रैवतक-पर्वतके एक ओर उदय होते हुए सूर्यका बिम्ब और दूसरी ओर अस्त होते हुए चन्द्रमाका बिम्ब, दोनों किसी हाथीके दोनों ओर लटकते हुए दो घण्टोंके समान प्रतीत हो रहे हैं इस बातका वर्णन करते हुए कवि कह रहा है—

(२) जिसकी किरणरूप रस्सियाँ ऊपरको फैल रही हैं इस प्रकारके [अहिम-धाम्नि] सूर्यके उदय होने और [हिमधाम्नि] चन्द्रमाके अस्त होते समय यह [पर्वत] दो लटकते हुए दो घण्टोंसे युक्त हाथीकी शोभा धारण कर रहा है । ४३६ ।

यहाँ दूसरे [हाथी] की शोभाको दूसरा [पर्वत] कैसे धारण कर सकता है [अर्थात् नहीं धारण कर सकता है इसलिए 'वारणेन्द्रलीला' रूप पदार्थका रैवतक पर्वतके साथ सम्बन्ध अनुपन्न होकर] उसके समान शोभाको [धारण करता है] इस उपमामें पर्यवसित होता है । [इसलिए यह पदार्थनिदर्शना है] ।

वाक्यार्थ-निदर्शना तथा पदार्थ-निदर्शनारूप निदर्शनाके दो भेदोंके उदाहरण ऊपर दिये गये हैं । यह निदर्शना मालारूपमें भी हो सकती है । उसका उदाहरण आगे देते हैं—

(३) दोर्भ्यां तितीर्षति तरङ्गवतीभुजङ्गमादातुमिच्छति करे हरिणाङ्कबिम्बम् ।
मेरुं लिलङ्घयिषति ध्रुवमेष देव ! यस्ते गुणान् गदितुमुद्यममादधाति ॥४३७॥

इत्यादौ मालारूपाऽप्येषा द्रष्टव्या ।

[सूत्र १५०]–**स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रियैव च साऽपरा ।**

क्रिययैव स्वस्वरूप–स्वकारणयोः सम्बन्धो यदवगम्यते साऽपरा **निदर्शना,** यथा—

(४) उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति ब्रुवन् ।
शैलशेखरगतो दृषत्कणश्चारुमारुतधुतः पतत्यधः ॥४३८॥

अत्र पातक्रियया पतनस्य लाघवे सति उन्नतपदप्राप्तिरूपस्य च सम्बन्धः ख्याप्यते ।

[सूत्र १५१]–**अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥९८॥**

अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽ**प्रस्तुतप्रशंसा ।**

[सूत्र १५२]–**कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।**
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥९९॥

---

(३) हे राजन् [देव] ! जो तुम्हारे गुणोंका वर्णन करनेका प्रयत्न करता है वह [तरङ्गवती भुजङ्ग अर्थात्] समुद्रको बाहुओंसे पार करना चाहता है, चन्द्रमाके बिम्बको हाथमें पकड़ना चाहता है और मेरु पर्वतको लाँघना चाहता है। ४३७।

इत्यादि [उदाहरणों] में यह [निदर्शना] माला रूपमें भी पायी जाती है।

[सूत्र १५०]—क्रियाके द्वारा ही अपना और अपने कारणका सम्बन्ध कथन करनेपर वह दूसरे प्रकारकी [निदर्शना] होती है।

क्रियाके द्वारा ही [कार्यके] अपने स्वरूप तथा अपने कारणके सम्बन्धकी जो प्रतीति होती है वह दूसरे प्रकारकी निदर्शना होती है। जैसे—

(४) जो क्षुद्र पुरुष होता है वह ऊँचे पदको पाकर भी अनायास ही पतित हो जाता है यह जतलाते हुए पर्वतके शिखरपर स्थित पत्थरका कण [छोटा-सा टुकड़ा] सुन्दर मन्द वायुके झोंकेसे हिलकर नीचे गिर पड़ता है। [या गिर पड़ा है]। ४३८।

यहाँ [पत्थरके कणकी] पतनक्रियाके द्वारा क्षुद्र पुरुषकी उच्च पदकी प्राप्ति और [उसके] पतनका सम्बन्ध प्रतीत होता है [इसलिए यहाँ दूसरे प्रकारकी निदर्शना है]।

११. अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार—

[सूत्र १५१]—प्रस्तुत अर्थकी प्रतीति करानेवाली जो [प्रस्तुताश्रया] अप्रस्तुत [अर्थ] की प्रशंसा [वर्णन] है वह ही अप्रस्तुतप्रशंसा [अलङ्कार] है। ९८।

अप्राकरणिक [अर्थ] के कथनसे जो प्राकरणिक अर्थका आक्षेप है वही अप्रस्तुत प्रशंसा [नामक अलङ्कार कहलाता] है।

अप्रस्तुतके द्वारा प्रस्तुतके आक्षेपके पाँच प्रकार हो सकते हैं। उन्हीं पाँचों भेदोंको अगले सूत्रमें कहते हैं—

[सूत्र १५२]—(१) कार्य, (२) कारण, (३) सामान्य, (४) विशेषके प्रस्तुत

तदन्यस्य कारणादेः । क्रमेणोदाहरणम् ।

(१) याताः किन्न मिलन्ति सुन्दरि ! पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते,
नो कार्या नितरां कृशाऽसि कथयत्येवं सबाष्पे मयि ।
लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा,
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ॥४३९॥

अत्र प्रस्थानात्किमिति निवृत्तोऽसीति कार्ये पृष्टे कारणमभिहितम् ।

(२) राजन् ! राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः,
कुब्जे ! भोजय मां कुमारसचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते ।
इत्थं नाथ ! शुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरात् ,
चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥४४०॥

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य गता इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम् ।

होनेपर उससे भिन्न [अर्थात् (१) कार्यके प्रस्तुत होनेपर कारणका, (२) कारणके प्रस्तुत होनेपर उससे भिन्न कार्यका, (३) सामान्यके प्रस्तुत होनेपर विशेषका और (४) विशेषके प्रस्तुत होनेपर सामान्यका] तथा (५) तुल्यके प्रस्तुत होनेपर [उससे भिन्न दूसरे] तुल्यका कथन करना यह पाँच प्रकारकी [अप्रस्तुतप्रशंसा] होती है । ९९।

उस [कार्यादि] से भिन्न [अर्थात्] कारण आदिका [कथन अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार होता है] । क्रमशः [पाँचों भेदोंके] उदाहरण [आगे देते हैं]—

(१) हे सुन्दरि ! क्या [कार्यवश बाहर] गये हुए [प्रियजन] फिर नहीं मिलते हैं ? [इसलिए] तुमको मेरे लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिये, तुम तो वैसे ही बहुत दुबली हो । मेरे इस प्रकार कहनेपर लज्जाके कारण स्थिर पुतलीवाले गिरते हुए आँसूको पी जानेवाले [रोक लेनेवाले] नेत्रसे मुझको देखकर [नायिकाने] होनेवाले मरणके प्रति उत्साह प्रदर्शित किया ॥ ४३९ ॥

यहाँ [किसी मित्रके द्वारा] यात्राका विचार क्यों छोड़ दिया, इस 'कार्य' [रूप अर्थ] के पूँछे जानेपर [नायकने उसके] कारणका कथन किया है ।

(२) [जो राजपुत्री मुझे रोज पढ़ाया करती थी वह] राजकन्या [आज] मुझे नहीं पढ़ा रही है [यह क्या बात है], वे रानियाँ भी चुपचाप हैं [उनके बोलनेकी आवाज भी सुनाई नहीं देती है], अरी कुब्जा [दासी] मुझे खाना दे, क्या राजकुमार और [उनके] मन्त्रियों [या मित्रों] ने अभीतक खाना नहीं खाया है [जो मेरे खानेके लिए इतना विलम्ब कर दिया है], हे राजन् ! आपके शत्रुके महलमें [उधरसे आते-जाते] राहगीरोंके द्वारा पिंजड़ेसे छोड़ा गया हुआ तोता चित्रोंमें अंकित [राजपरिवारके लोगोंको देखकर] प्रत्येकसे इस प्रकार कह रहा है । ४४० ।

इसमें आपको [आक्रमणके लिए] प्रस्थानके लिए उद्यत जानकर तुम्हारे शत्रु

(३) एतत् तस्य मुखात् कियत् कमलिनीपत्रे कणं वारिणो,
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि ।
अगुंल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः,
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा ॥४४१॥

अत्रास्थाने जडानां ममत्वसम्भावना भवतीति सामान्ये प्रस्तुते विशेषः कथितः ।

(४) सुहृद्वधूबाष्पजलप्रमार्जनं करोति वैरप्रतियातनेन यः ।
स एव पूज्यः स पुमान् स नीतिमान् सुजीवितं तस्य स भाजनं श्रियः॥४४२॥

अत्र कृष्णं निहत्य नरकासुरवधूनां यदि दुःखं प्रशमयसि तत् त्वमेव श्लाघ्य इति विशेषे प्रकृते सामान्यमभिहितम् ।

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः श्लेषः, समासोक्तिः, सादृश्यमात्रं वा तुल्यात्तुल्यस्य हि आक्षेपे हेतुः । क्रमेणोदाहरणम्—

सहसा ही भागकर चले गये इस प्रकारके कारणके प्रस्तुत होनेपर [उसके] कार्यका कथन किया गया है । [इसलिए यह अप्रस्तुतप्रशंसाके दूसरे भेदका उदाहरण है] ।

सामान्यके प्रस्तुत होनेपर उससे भिन्न विशेषके कथनरूप अप्रस्तुप्रशंसाके तीसरे भेदका उदाहरण 'मल्लक-शतक'मेंसे देते हैं । इसमें किसी मूर्खराजके वर्णनमें कवि कह रहा है—

(३) कमलिनीके पत्तेपर स्थित पानीके बूँदको वह मूर्ख मोती समझा यह तो उसके मुखसे बहुत छोटी-सी [मूर्खताकी] बात है । इससे भी बड़ी [मूर्खताकी] बात [यह] सुनो कि अंगुलीके अगले भागसे धीरेसे उठाने [लगने] पर [अंगुलीमें लगकर ही सूख जानेके कारण] उसके लुप्त होनेसे, मेरा मुक्तामणि उड़कर कहाँ चल गया इस सोचके मारे रात-दिन सो नहीं पाता है ॥४४१॥

यहाँ मूर्खोंकी अनुचित स्थानपर भी ममत्वबुद्धि हो जाती है इस सामान्य बातके [कथनके] प्रस्तुत होनेपर विशेष [व्यक्ति]का कथन किया है ।

विशेषके प्रस्तुत होनेपर समान्यके कथनरूप चतुर्थ भेदका उदाहरण आगे देते हैं—श्रीकृष्णके द्वारा नरकासुरके मार दिये जानेपर नरकासुरके मन्त्री, उसके मित्र शाल्व राजाको इसका बदला लेनेके लिए उत्साहित करते हुए कह रहे हैं—

(४) जो पुरुष वैरका बदला लेकर अपने मित्रकी स्त्रियोंके आँखोंके आँसू पोंछ सकता है वही पूज्य है, वही मर्द है, वही नीतिज्ञ और लक्ष्मीका अधिकारी है और उसीका जीवन सफल है ॥४४२॥

यहाँ यदि तुम कृष्णको मारकर नरकासुरकी स्त्रियोंके दुःखको दूर कर सकते हो तो तुम्हीं प्रशंसाके पात्र हो सकते हो इस विशेषके प्रस्तुत होनेपर [जो कोई वैरका बदला लेकर मित्रकी स्त्रियोंका दुःख दूर करता है वही श्लाघ्य होता है] यह सामान्यका कथन है [यह अप्रस्तुतप्रशंसाके चौथे भेदका उदाहरण है] ।

(५) तुल्यके प्रस्तुत होनेपर [उससे भिन्न दूसरे] तुल्य अर्थके कथनके

(५ क) पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि,
याायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात् ।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं,
केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥४४३॥

(५ ख) येनास्यभ्युदितेन चन्द्र ! गमितः क्लान्तिं रवौ तत्र ते,
युज्येत प्रतिकर्त्तुमेव न पुनस्तस्यैव पादग्रहः ।
क्षीणेनैतदनुष्ठितं यदि ततः किं लज्जसे नो मना-
गस्त्येवं जडधामता तु भवतो यद्व्योम्नि विस्फूर्जसे ॥४४४॥

तीन प्रकार हो सकते हैं। (१) श्लेष, (२) समासोक्ति तथा (३) सादृश्यमात्र [ये तीन] तुल्य अर्थसे [प्रस्तुत] तुल्यके आक्षेप करानेसे [तीन] हेतु हो सकते हैं। क्रमशः [उन तीनों प्रकारोंके] उदाहरण [आगे दिखलाते हैं]—

यह उदाहरण भी भल्लटकवि-विरचित 'भल्लटशतक' में ७९ संख्यापर आया है। शत्रुके द्वारा अपहरण किये हुए राज्यका पुनरुद्धार करनेके लिए किसी राजाको उत्तेजित करते हुए उसका मन्त्री राजासे कह रहा है कि—

(५ क)—यदि पुरुषत्वका भी परित्याग करना पड़े, यदि नीच-मार्गमें भी जाना पड़े, और याचना [प्रणयन] के कारण क्षुद्र भी बनना पड़े तो भी संसारका उद्धार करना ही चाहिये यह मार्ग किन्हीं अपूर्व पुरुषोत्तमने [विष्णु भगवान्‌ने मोहिनीरूप, कूर्मरूप, वराहरूप और वामन आदि रूप धारण करके] दिखला दिया है ॥४४३॥

यहाँ वर्णनीय रूपसे सत्पुरुषके प्रस्तुत होनेपर उसके सदृश विष्णुका कथन होनेसे और उसमें 'पुंस्त्वात्' एवं 'पुरुषोत्तमेन' पदोंके श्लिष्ट होनेसे यह श्लेष-मूलक अप्रस्तुतप्रशंसा है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि राजारूप प्रस्तुत अर्थकी ही प्रथम प्रतीति यदि मान ली जाय तो यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार नहीं हो सकता है। इस शङ्काका यह समाधान किया गया है कि यद्यपि 'पुरुषोत्तम' अलङ्कारपदसे राजा तथा विष्णु दोनों अर्थोंकी प्रतीति होती है, परन्तु पुरुषोत्तम-पद विष्णु अर्थमें रूढ है और राजाके बोधनमें उसको यौगिक पद मानना होगा। 'योगाद् रूढिर्बलीयसी' अथवा 'अवयवशक्तेः समुदायशक्तिर्बलीयसी' इन नियमोंके अनुसार अवयवशक्तिसे गम्य यौगिक राजा-रूप अर्थकी अपेक्षा समुदायशक्तिसे बोधित विष्णुरूप रूढ अर्थकी ही प्रथम उपस्थिति होनेसे राजा-रूप अर्थ आक्षेपसे ही प्रतीत होता है इसलिए यह अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कारका ही उदाहरण है। इसी-लिए दोनों अर्थोंके तुल्यरूपसे वाच्य न होनेके कारण यहाँ श्लेष-अलङ्कार मुख्य नहीं है।

आगे समासोक्तिमूलक अप्रस्तुतप्रशंसाका उदाहरण देते हैं—

(५ ख)—हे चन्द्र ! जिस [सूर्य] के उदयमात्रने तुम्हारी कान्तिको मलिन कर दिया है उस सूर्यसे [अपने इस अपमान और अपकर्षका] बदला लेना ही [तुम्हारे लिए] उचित था, न कि उसीके पैरों [पादोंका दूसरे पक्षमें किरणों] का ग्रहण करना। फिर भी क्षीण [दुर्बल और दरिद्र] होनेसे यह [अपमान करनेवालेका पादग्रहण] भी यदि किया तो क्या तुम्हें तनिक भी लज्जा नहीं आती है [तुम बड़े बेशर्म हो। और इतना

(५ ग) आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः किन्तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन ।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च ॥४४५॥

इयं च कचित् वाच्य प्रतीयमानार्थाऽनध्यारोपेणैव भवति । यथा—

अब्धेरम्भः स्थगितभुवनाभोगपातालकुक्षेः,
पोतोपाया इह हि बहवो लंघनेऽपि क्षमन्ते ।
आहो रिक्तः कथमपि भवेदेष दैवात्तदानीं,
को नाम स्यादवटकुहरालोकनेऽप्यस्य कल्पः ॥४४६॥

क्वचिदध्यारोपेणैव यथा—

अपमान सह कर भी] जो तुम आकाशमें चमक रहे हो इससे तुम्हारी [जडधामता शीतकान्तित्व, निस्तेजस्कता या] मूर्खता ही [सिद्ध] होती है ॥४४४॥

यहाँ विशेष्यवाचक 'चन्द्र' पदमें श्लेष नहीं है । केवल श्लिष्ट विशेषणोंके माहात्म्यसे इस चन्द्र और सूर्यके व्यवहारपर प्रस्तुत सधन और निर्धनके अथवा विजयी तथा पराजित राजाओंके व्यवहारका आक्षेप होनेसे यह समासोक्तिमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कारका उदाहरण होता है ।

आगे सादृश्यमात्रहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसाके तीसरे भेदका उदाहरण देते हैं—

शार्ङ्गधरपद्धतिमें इसको शुक नामक किसी कविका पद्य बतलाया गया है । परन्तु क्षेमेन्द्रकी 'औचित्यविचारचर्चा'में इसे अभिनवगुप्तके गुरु भट्टेन्दुराजका पद्य माना है ।

(५ ग)—सब ओरसे नदियोंके मुहानेसे पानी लेकर इस दुष्ट समुद्रने क्या किया [उस मीठे सुस्वादु जलको] खारी कर दिया, वड़वानलमें झोंक दिया और [जो बचा-खुचा पानी रहा उसको] पातालके पेटके गढ़में [सैंत कर] रख दिया ॥४४५॥

यहाँ निर्धन प्रजाजनोंके मुखके ग्रासको अर्थात् स्वल्प धनको उनसे अनुचित करों आदिके द्वारा लेकर उसका अपव्यय करनेवाले किसी राजा या कृपण व्यक्तिका वर्णन प्रस्तुत होनेपर उसके तुल्य समुद्रका वर्णन किया गया है ।

और यह [तुल्यके प्रस्तुत होनेपर तुल्यके कथनरूप पञ्चम प्रकारकी अप्रस्तुत-प्रशंसा] वाच्य अर्थमें प्रतीयमान [व्यङ्ग्य] अर्थके अध्यारोपके बिना भी होती है, जैसे—

(५ घ)—जलसे भूवलय और पातालकी कुक्षिको भर देने [व्याप्त कर लेने] वाले समुद्रको जहाजोंकी सहायतासे बहुत-से लोग पार करनेमें भी समर्थ हो सकते हैं, परन्तु यदि यह कहीं खाली [पानीसे रहित] हो जाय तो इसके उस भयंकर गढ़ेको [पार करनेकी क्या बात] देख सकनेका भी साधन क्या हो सकेगा ॥४४६॥

यहाँ प्रजाजनका उत्पीडन करनेवाले दुष्ट राजा आदिका भण्डार यदि धन-धान्यसे भरा रहे तभी प्रजाजनोंका कुशल है । यदि उसके कोषमें धनकी कमी हुई तो वह प्रजापर धन-प्राप्तिके लिए अत्याचार करेगा, उससे बचनेका कोई मार्ग नहीं निकलेगा । यह प्रतीयमान अर्थ है । यह वाच्य अर्थके स्वतः ही सम्भव होनेसे उसपर प्रतीयमान अर्थके अध्यारोपकी आवश्यकता नहीं होती है ।

कहीं [वाच्यार्थपर प्रतीयमान अर्थके] अध्यारोपसे ही [अप्रस्तुतप्रशंसा] होती है । जैसे—

कस्त्वं भोः ? कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं,
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते ।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते,
न च्छायाऽपि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे ॥४४७॥

क्वचिदंशेष्वध्यारोपेण यथा—

यह श्लोक आनन्दवर्धनाचार्य-प्रणीत ध्वन्यालोकके तृतीत उद्योतमें पृष्ठ ४१७ पर भी आया है। इसमें शाखोटक वृक्षके साथ किसी व्यक्तिके वार्तालापका वर्णन किया गया है। शाखोटक वृक्षका अर्थ अभिनवगुप्तपादाचार्यने लोचनमें 'श्मशानाग्निज्वालावलीढलतापल्लवादिरूपस्तरुविशेषः' अर्थात् श्मशानके अग्निकी ज्वालाओंसे जिसके पत्ते आदि जल गये हैं इस प्रकारका वृक्ष किया है। काव्यप्रकाशकी उद्योत नामक टीकामें शाखोटको भूताधिवास वृक्षविशेष बतलाया है।

(५ ङ)—[प्रश्न]—अरे तू कौन है ?

[उत्तर]—बतलाता हूँ कि मुझको अभागा शाखोटक [श्मशानकी अग्निसे जले हुए पत्ते आदिसे रहित सिहोराका वृक्ष] समझो।

[प्रश्न]—कुछ वैराग्यसे [यह बात] कह रहे हो [ऐसा प्रतीत होता है] ?

[उत्तर]—ठीक समझा।

[प्रश्न]—क्यों ऐसा क्यों [किस कारणसे] कह रहे हो ?

[उत्तर]—यहीं उल्टी ओर बड़का पेड़ है, पथिक लोग उसका ही सब प्रकारसे आश्रय लेते हैं और मैं मार्गमें खड़ा हुआ हूँ फिर भी मेरे पास परोपकार करनेके लिए [फल आदि तो दूर रहे] छाया भी नहीं है। [इसलिए मैं अपनेको अभागा कहकर अपना परिचय दे रहा हूँ] ॥४४७॥

यहाँ किसी ऐसे प्रस्तुत व्यक्तिकी प्रतीति हो रही है जो किसी-न-किसी प्रकार दूसरोंकी सहायता करनेके लिए उत्सुक है परन्तु या तो वह धनादिसे हीन हो गया है, अथवा नीच जातिका है, इसलिए वह न सहायता कर पाता है, न लोग उसकी सहायताको स्वीकार करते हैं। इस कारण वह दुःखी है। यहाँ शाखोटक वृक्षके साथ वार्तालाप सम्भव नहीं है इसलिए उस वाच्यार्थके ऊपर प्रतीयमान नीच जाति अथवा निर्धन दाता आदि रूप प्रतीयमान अर्थका अध्यारोप करके ही अर्थकी प्रतीति होती है। इसलिए यह अध्यारोपमूलक अप्रस्तुतप्रशंसाका उदाहरण है।

आगे आंशिक अध्यारोपमूलक तीसरे प्रकारके भेदका उदाहरण देते हैं।

कहीं आंशिक अध्यारोपसे [अप्रस्तुतप्रशंसा] होती है। जैसे—

भल्लटकविकृत 'भल्लटशतक'में यह १८ वाँ पद्य है। इसमें किसी मिथ्याभाषी, कानोंके कच्चे, मित्र-शत्रुका विचार न करनेवाले और तत्त्वहीन राजाकी सेवा करनेवाले पुरुषको उस ओरसे निवृत्त करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। अप्रस्तुत हाथी और भौंरेके वर्णन द्वारा प्रस्तुत सेव्य-सेवकका आक्षेप होनेसे अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। इसमें हाथीके रसनाविपर्ययका उल्लेख किया गया है। हाथीकी जिह्वा अन्य प्राणियोंकी जिह्वासे उलटी होती है। अर्थात् उसका अगला भाग होंठके पास न होकर भीतरकी ओर कण्ठमें होता है। अग्निके शापसे हाथियोंकी जीभमें इस प्रकारका परिवर्तन हो गया यह बात पुराणोंमें कही गयी है। श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत्कर्णयोश्चापलं,
दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वपरदिक् किं भूयसोक्तेन वा ।
सर्वं विस्मृतवानसि भ्रमर ! हे यद्वारणोऽद्याप्यसौ,
अन्तः शून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः ! क एष ग्रहः ॥४४८॥

अत्र रसनाविपर्यासः शून्यकरत्वं च भ्रमरस्यासेवने न हेतुः । कर्णचापलं तु हेतुः, मदः प्रत्युत सेवने निमित्तम् ।

[सू० १५३]-निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥१००॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा

(५ च)—हे भ्रमर ! [क्या तुम हाथियोंके] उस अद्भुत जिह्वाके परिवर्तन [उलटे हो जाने] को, उस [असाधारण] कानोंकी चपलताको और मदके कारण अपने और दूसरेके मार्गको ध्यान न रखनेवाली दृष्टिको, अधिक क्या कहा जाय इन सब बातोंको भूल गये हो जो अपनेको भगानेवाले [वारण करनेवाले] और भीतरसे खाली हाथ [तत्त्वहीन] इस हाथीकी सेवा कर रहे हो । अरे भाई यह तुम्हारा कैसा [अनुचित] आग्रह है [जो तुम इसको छोड़कर कहीं दूसरी जगह नहीं चले जाते हो] ॥४४८॥

यहाँ रसनाका विपर्यय तथा अन्तःशून्यकरत्व [ये दोनों अंश] भ्रमरके द्वारा हाथीकी] सेवा न करनेके हेतु नहीं हैं । केवल कानोंकी चपलता [उसके पास न जानेका] हेतु है । और मद [असेवनका तो हेतु है ही नहीं] बल्कि [उलटा] सेवन करनेका हेतु है । [इस प्रकार यहाँ कुछ अंशमें प्रतीयमान अर्थका अध्यारोप होता है और कुछ अंशमें नहीं । अतः यह आंशिक अध्यारोपका उदाहरण है] ।

अप्रस्तुतप्रशंसा तथा समासोक्तिका भेद—

अलङ्कारोंके पूर्वोक्त वर्गीकरणमें अप्रस्तुतप्रशंसा तथा समासोक्ति दोनों अलङ्कार 'गम्य औपम्याश्रित' अलंकारवर्गमें माने गये हैं । इन दोनोंमें एक अर्थ वर्णित होता है वह दूसरेका आक्षेप कराता है । यह उन दोनोंकी समानता है । उन दोनोका भेद यह है कि अप्रस्तुतप्रशंसामें अप्राकरणिक अर्थसे प्राकरणिक अर्थका आक्षेप होता है । और समासोक्ति प्राकरणिकसे अप्राकरणिक अर्थका आक्षेप होता है ।

१२. अतिशयोक्ति अलंकार—

आगे 'अतिशयोक्ति' अलंकारका लक्षण करते हैं । अलंकारोंके पूर्वोक्त वर्गीकरणमें 'अतिशयोक्ति'को अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान अलंकार माना है । इसका लक्षण आगे करते हैं ।

[सूत्र १५३]—(१) उपमान [परेण] के द्वारा [उपमेयका] निगरण [अन्तर्भाव, पृथक् कथन न करना] करके जो [आहार्य अभेद निश्चय कल्पित अभेदकथनरूप] 'अध्यवसान' करना है वह [प्रथम प्रकारकी] (२) प्रस्तुत अर्थका अन्य रूपसे वर्णन [द्वितीय प्रकारकी] (३) 'यदि' के समानार्थक शब्द लगाकर जो कल्पना करना [वह

(१) उपमानेनान्तर्निगीर्णस्योपमेयस्य यदध्यवसानं सैका, यथा—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥४४९॥

अत्र मुखादि कमलादिरूपतयाऽध्यवसितम्।

(२) यच्च तदेवान्यत्वेनाध्यवसीयते साऽपरा यथा—

अण्णं लडहत्तणअं अण्णा विअ का वि वत्तणच्छाआ।
सामा सामाण्णपआवइणो रेह ब्बिअ ण होई ॥४५०॥

तृतीय प्रकारकी] और (४) कार्य-कारणके पौर्वापर्यका जो विपर्यय है वह [चतुर्थ प्रकारकी अतिशयोक्ति समझनी चाहिये।

(१) उपमानके द्वारा भीतर निगल लिये गये [अर्थात् पृथक् न कहे हुए] उपमेयका जो अध्यवसान [अर्थात् उपमानके साथ आहार्य या कल्पित अभेदनिश्चय] होता है [वह प्रथम प्रकारकी] यह [अतिशयोक्ति] होती है। जैसे—

[अपनी प्रियतमाको देखकर उसकी सखीके प्रति नायककी यह उक्ति है] बिना जलके कमल [रूप नायिकाका मुख], [रूप मुख], कमलमें दो नील कमल [रूप नेत्र], और वे [एक कमल तथा दो कमल नायिकाके गौरवर्ण शरीररूप] सोनेकी लतामें [लगे हुए हैं] और वह [सोनेकी लतारूप शरीर भी] सुकुमार तथा सुन्दर है यह कैसी अनर्थ परम्परा है ॥४४९॥

यहाँ [उपमानरूप कमल आदिके द्वारा उपमेयभूत] मुख आदि [का निगरण करके] कमल आदि रूपसे अभिन्नतया निश्चित किये गये हैं। [इसलिए यह प्रथम प्रकारकी अतिशयोक्तिका उदाहरण है]।

इस प्रथम प्रकारकी अतिशयोक्तिमें उपमानके द्वारा उपमेयका निगरण करके उपमानके साथ उसका आहार्य अभेद निश्चय किया गया है। अर्थात् इसमें धर्मीका अभेद प्रतिपादन किया गया है। अतिशयोक्तिके दूसरे भेद धर्मीका अभेद नहीं होता है इसी बातको 'प्रस्तुतस्य यदन्यत्व' इस कारिकांशके द्वारा कहते हुए द्वितीय भेदका लक्षण करते हैं—

(२) और जो उस ही [अर्थात् प्रस्तुत] का अन्य [अपूर्व] रूपसे [आहार्य अर्थात् कल्पित] भेद निश्चय किया जाता है [अर्थात् समानजातीय वस्तुको उससे भिन्न असमानजातीय बतलाया जाता है] वह दूसरे प्रकारकी [अतिशयोक्ति] होती है। जैसे—

[उस नायिकाका] सौन्दर्य कुछ और ही [लोकोत्तर] है, और [उसकी वर्तते इति वर्तनं शरीरं] शरीरकी कान्ति [भी] कुछ और ही [अलौकिक-सी] है। [उष्णकालमें शीत देहवाली और शीतकालमें उष्णदेह वाली षोडशवर्षदेशीया नायिका रूप] 'श्यामा' साधारण [संसारके बनानेवाले] ब्रह्माकी रचना ही नहीं हो सकती है ॥४५०॥

यहाँ लोकप्रसिद्ध सौन्दर्य तथा शरीरकान्तिको ही कविने 'अन्य' अर्थात् अलौकिक लोकोत्तर रूपमें वर्णन किया है। इसलिए यह द्वितीय प्रकारकी अतिशयोक्तिका उदाहरण है। तृतीय प्रकारकी अतिशयोक्तिका आगे वर्णन करते हैं।

(३) 'यद्यर्थस्य' यदिशब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ यत्कल्पनम् (अर्थादसम्भविनोऽर्थस्य) सा तृतीया । यथा—

राकायामकलङ्कं चेदमृतांशोर्भवेद्वपुः ।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ॥४५१॥

(४) कारणस्य शीघ्रकारितां वक्तुं कार्यस्य पूर्वमुक्तौ चतुर्थी यथा—

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन ।
चरमं रमणीवल्लभ ! लोचनविषयं त्वया भजता ॥४५२॥

[सू० १५४]- **प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥१०१॥**

सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।

साधारणो धर्मः उपमेयवाक्ये उपमानवाक्ये च कथितपदस्य दुष्टतयाऽभिहितत्वात् शब्दभेदेन यदुपादीयते सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात् प्रतिवस्तूपमा । यथा—

(३)—'यद्यर्थ'के अर्थात् 'यदि' शब्दसे अथवा [उसके समानार्थक] 'चेत्' शब्दके द्वारा कथन करनेमें जो कल्पना अर्थात् असम्भव अर्थकी कल्पना है वह तीसरे प्रकारकी [अतिशयोक्ति होती है] जैसे—

पूर्णिमाकी रात्रिमें यदि चन्द्रमाका बिम्ब कलङ्करहित हो तब उस [नायिका] का मुख चन्द्रमासे सादृश्यरूप पराभवको प्राप्त कर सकता है । ४५१ ।

(४)—कारणकी शीघ्रकारिताको कहनेके लिए कार्यका [कारणकी अपेक्षा] पूर्वकथन करनेपर [कार्य-कारणके विपर्ययरूप] चौथी तरहकी [अतिशयोक्ति होती है] जैसे—

हे रमणीवल्लभ [स्त्रियोंके प्रिय नायक] ! पुष्प ही जिसका धनुष तथा बाण हैं उस कामदेवने मालती [नायिका] के हृदयपर पहिले ही अधिकार कर लिया और तुमने दृष्टिगोचर होकर बादमें [उसके हृदयपर अधिकार कर पाया] ।४५२।

यह श्लोक दामोदरगुप्त-विरचित 'कुट्टनीमत' नामक काव्यमें ९६ संख्याका पद्य है । इसलिए काव्यप्रकाशके व्याख्याकार महेश्वरने इसमें 'मालत्याः'के स्थानपर 'मालव्याः' पाठ मानकर इसे 'मालविकाग्निमित्र' नाटकमें अग्निमित्र राजाके प्रति दूतीकी उक्ति बतलाया है । यह असङ्गत है । इसी प्रकार सुधासागरकारने इसको मालतीमाधव नाटकमें माधवके प्रति कहा हुआ बतलाया है वह भी असङ्गत है क्योंकि इन दोनों नाटकोंमें यह पद्य नहीं पाया जाता है ।

१३. प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार—

अलङ्कारोंके वर्गीकरणमें तुल्ययोगिता, निदर्शना, दृष्टान्त, दीपक आदिके समान 'प्रतिवस्तूपमा'-को भी 'गम्य औपम्याश्रित' अलङ्कार माना गया है । तदनुसार उसका लक्षण करते हैं—

[सूत्र १५४]—जहाँ एक ही साधारणधर्मको दो वाक्योंमें दो बार [भिन्न शब्दोंसे] कहा जाय वह प्रतिवस्तूपमा [अलङ्कार] होती है ।१०१।

[एक ही] साधारणधर्म, उपमेयवाक्य तथा उपमानवाक्यमें [एक ही शब्दसे

(१) देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्वेषा ।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम् ॥४५३॥

(२) यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किन्ततः ।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥४५४॥

इत्यादिका मालाप्रतिवस्तूपमा द्रष्टव्या । एवमन्यत्राप्यनुसर्त्तव्यम् ॥

कहनेपर] कथितपदता [पुनरुक्ति] के दोष होनेके कारण भिन्न शब्दोंसे जब ग्रहण किया जाता है तो वह वस्तु अर्थात् वाक्यार्थके उपमान होनेसे प्रतिवस्तूपमा [अलङ्कार] कहलाता है । जैसे—

(१) देवीभावको प्राप्त [अर्थात् पटरानी-पदपर अभिषिक्त] यह [रानी] साधारण स्त्री [परिवारपद] अब कैसे समझी जा सकती है, देवताके रूपसे अङ्कित रत्न [साधारण आभूषण आदिके रूपमें] उपभोगके योग्य नहीं होता है ।४५३।

इस उदाहरणमें उत्तरार्द्धका वाक्यार्थ उपमानरूप है तथा पूर्वार्द्धका वाक्यार्थ उपमेयरूप है । इसलिए वस्तु अर्थात् वाक्यार्थके उपमान-उपमेय होनेसे तथा उनके एक ही 'अनौचित्य' रूप धर्मको पूर्वार्द्धमें 'कथं भजतु' पदसे तथा उत्तरार्द्धमें 'न खलु परिभोगयोग्यं' पदसे कहा गया है । यह प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार भी (१) केवल रूप तथा (२) मालारूप दो प्रकारका होता है । इनमेंसे केवल रूपका उदाहरण यह दिया गया था । मालारूप प्रतिवस्तूपमाका उदाहरण आगे देते हैं—

(२) यदि अग्नि जलाता है तो इसमें आश्चर्यकी बात क्या है ? यदि पहाड़ोंमें भारीपन [गौरव] है तो इससे क्या हुआ ? समुद्रका पानी सदा ही खारी होता है और दुःखी न होना [किसी बातमें दुःख न मानना] सज्जनोंका स्वभाव ही है ।४५४।

इत्यादि मालारूप प्रतिवस्तूपमा समझनी चाहिये । इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझ लेने चाहिये ।

यहाँ 'स्वाभाविक धर्मका दर्शन विस्मयजनक नहीं होता है' यह साधारण धर्म भिन्न-भिन्न शब्दोंसे निर्दिष्ट किया गया है । जिस प्रकार अग्निका स्वाभाविक दाहकत्व धर्म अथवा पर्वतोंका गौरव, अथवा समुद्रजलका क्षारत्वधर्म स्वाभाविक होनेके कारण विस्मयजनक नहीं होता है इसी प्रकार सज्जनोंका 'अविषादिता' धर्म, स्वाभाविक धर्म होनेसे विस्मयका जनक नहीं है । इस प्रकार इस उदाहरणमें 'प्रकृतिरेव सतामविषादिता' इस चतुर्थ चरणका वाक्यार्थ उपमेय है और शेष तीन चरणोंके वाक्यार्थ उपमानरूप हैं इसलिए यह मालारूप प्रतिवस्तूपमाका उदाहरण होता है ।

प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्तालङ्कारका भेद—

प्रतिवस्तूपमालंकारके बाद अगले सूत्रमें दृष्टान्तालङ्कारका लक्षण । 'प्रतिवस्तूपमा'के लक्षणमें आये हुए 'वाक्यद्वये' पदकी अनुवृत्ति यहाँ 'दृष्टान्त'के लक्षणमें भी जाती है । 'वाक्यद्वये' अर्थात् उपमान-वाक्य और उपमेयवाक्य दोनोंमें 'एतेषां' अर्थात् उपमान, उपमेय और साधारण-धर्म इन तीनोंका 'प्रतिबिम्बनं' अर्थात् बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होनेपर दृष्टान्तालङ्कार होता है । यह दृष्टान्तालङ्कारका सामान्य लक्षण है । प्रतिवस्तूपमामें एक ही सामान्य-धर्म उपमान-वाक्य तथा उपमेय-वाक्यमें भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा पुनरुक्ति भयसे भिन्न-भिन्न रूपमें कहा जाता है। परन्तु दृष्टान्तालङ्कारमें उपमान-वाक्य तथा उपमेय-वाक्यमें दो भिन्न-भिन्न धर्म सादृश्यके कारण औपम्यके प्रयोजक होते हैं । इसलिए

[सू० १५५]—दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ॥१०२॥

एतेषां साधारणधर्मादीनाम् । दृष्टोऽन्तो निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः ।

(१) त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम् ।
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः ॥४५५॥

प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्तालङ्कारका भेद प्रतिपादन करते हुए, 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' आदिमें वस्तु-प्रतिवस्तुभावमें प्रतिवस्तूपमा, तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव होनेपर दृष्टान्तालङ्कार माना है। एक ही या अभिन्न साधारणधर्मको पुनरुक्तिसे बचानेके लिए भिन्न शब्दोंसे कथन करना 'वस्तु-प्रतिवस्तुभाव' कहलाता है और वह प्रतिवस्तूपमालङ्कारका प्रयोजक होता है। **'एकस्यार्थस्य शब्दद्वयेनाभिधानं वस्तु-प्रतिवस्तुभावः**। विभिन्न दो धर्मोंके सादृश्यके कारण औपम्य-प्रयोजक रूपमें उपमान-वाक्य तथा उपमेय वाक्यमें पृथक् उपादानको 'बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव' कहते हैं और वह दृष्टान्तालङ्कारका प्रयोजक होता है। **'द्वयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः'**। यही दृष्टान्तालङ्कारका प्रतिवस्तूपमासे भेद है। इसी भेदको सूचित करनेके लिए मूल सूत्रमें 'पुनः' पदका विशेष रूपसे ग्रहण किया गया है। 'एतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनं'का अभिप्राय यह है कि उपमानका उपमेयके साथ, उपमानसे सम्बद्ध विशेषणादिका उपमेय-सम्बद्ध विशेषणादिके साथ, तथा साधारणधर्मके साथ बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होना चाहिये। दृष्टान्त-वाक्य अर्थात् उपमान वाक्य तथा दार्ष्टान्तिक-वाक्य अर्थात् उपमेयवाक्यके इस बिम्ब-प्रतिबिम्बभावसे दार्ष्टान्तिक-वाक्यकी यथार्थताका निश्चय हो जाता है। इसीलिए इसका नाम दृष्टान्तालङ्कार रखा गया है। इस नाममें आया हुआ 'अन्त' शब्द निश्चयार्थका बोधक है। 'अन्तोऽध्यवसिते मृत्यौ स्वरूपे निश्चयेऽन्तिके' इस वैजयन्ती-कोशके अनुसार 'अन्त' शब्दका 'निश्चय' अर्थ भी होता है। वही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। इसलिए जहाँ दृष्टान्तवाक्यके द्वारा दार्ष्टान्तिक-वाक्यके अर्थका निश्चय देखा जाय वहाँ दृष्टान्तालङ्कार होता है। 'दृष्टोऽन्तः निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः' यह 'दृष्टान्त' इस नामका अर्थ होता है। इन सभी बातोंका प्रतिपादन दृष्टान्तालङ्कारके लक्षण-सूत्रमें आगे बड़ी सुन्दरताके साथ किया गया है।

१४. दृष्टान्तालङ्कार—

अलङ्कारोंके पूर्वोक्त वर्गीकरणमें प्रतिवस्तूपमाके समान दृष्टान्तालङ्कार भी 'गम्य औपम्याश्रित' अलङ्कार माना गया है। उसका लक्षण निम्नलिखित प्रकार है—

[सू० १५४]—इन [उपमान, उपमेय, उनके विशेषण और साधारणधर्म आदि] सबका [भिन्न होते हुए भी औपम्यके प्रतिपादनार्थ उपमान-वाक्य तथा उपमेय-वाक्यमें पृथगुपादानरूप] 'बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव' होनेपर दृष्टान्तालङ्कार होता है।१०२।

इनका [अर्थात् उपमान, उपमेय, उनके विशेषण और] साधारणधर्मादिका [बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होनेपर दृष्टान्तालङ्कार होता है। यह दृष्टान्तका लक्षण हुआ। आगे 'दृष्टान्त' शब्दका अवयवार्थ देते हैं]। जहाँ [दृष्टान्त-वाक्य या उपमान-वाक्यके साथ बिम्ब-प्रतिबिम्बभावके द्वारा दार्ष्टान्तिक-वाक्य या उपमेय-वाक्यके अर्थका] 'अन्त' अर्थात् निश्चय देखा जाता है वह दृष्टान्त [अलङ्कार होता है यह दृष्टान्त शब्दका अर्थ है। इसलिए दृष्टान्तालङ्कारका नामकरण अन्वर्थ है। उसका उदाहरण। जैसे]—

(१) तुमको [अर्थात् नायकको] देखते ही उस [नायिका] का कामसे सन्तप्त

एष साधर्म्येण । वैधर्म्येण तु—

(२) तवाहवे साहसकर्मशर्मणः करं कृपाणान्तिकमानिनीषतः ।
भटाः परेषां विशरारुतामगुः दधत्यवाते स्थिरतां हि पांसवः ॥४५६॥

[सू० १५६]–सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥१०३॥

प्राकरणिकाप्राकरणिकानामार्थादुपमानोपमेयानां धर्मः क्रियादिः एकवारमेव यदुपादीयते तत् एकस्थस्यैव समस्तवाक्यदीपनाद्दीपकम् । यथा—

हृदय शान्त हो जाता है [इसके लिए दृष्टान्त देते हैं जैसे] चन्द्रमाको देखनेपर कुमुदिनीका फूल खिल उठता है ॥४५५॥

यहाँ नायक तथा चन्द्रमाका, नायिका तथा कुमदिनीका, और मन तथा कुसमका, मनोभवसन्तप्तत्व तथा सूर्यसन्तप्तत्वका, निर्वाण तथा विकासका बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होनेसे दृष्टान्तालंकार है ।

यह साधर्म्यसे दृष्टान्तालङ्कारका उदाहरण है। वैधर्म्यसे दृष्टान्तालङ्कारका उदाहरण तो निम्नलिखित श्लोक है—

(२) [हे राजन् !] साहसपूर्ण कामोंमें आनन्द प्राप्त करनेवाले तुम्हारे तलवारकी ओर हाथ बढ़ाते ही शत्रुओंके सैनिक तितर-बितर हो गये [भाग खड़े हुए] । वायु न चलनेपर ही धूल स्थिर रहती है [आँधी आनेपर धूल नहीं टिक सकती है] ॥४५५॥

इसमें धूल तथा शत्रु-सैनिकोंका, और पलायन एवं अस्थिरत्वका, बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। 'पांसवः अवाते स्थिरतां दधति' इसका 'वाते स्थिरतां न दधति' इस रूपमें पर्यवसान होनेसे यह वैधर्म्यसे दृष्टान्तालङ्कारका उदाहरण होता ॥१०२॥

१५. दीपकालङ्कार—

दृष्टान्तालङ्कारके बाद दीपकालङ्कारका निरूपण करते हैं। प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना आदिके समान दीपकालङ्कार भी गम्य औपम्याश्रित अलङ्कार है। यह दीपकालङ्कार दो प्रकारका होता है, एक क्रियादीपक और दूसरा कारकदीपक । दोनोंके लक्षण एक ही कारिकामें करते हैं—

[सू० १५६] (१) प्रकृत [प्राकरणिक अर्थात् उपमेय] तथा अप्रकृत [अप्राकरणिक अर्थात् उपमान] के [क्रियादिरूप] धर्मोंका एक ही बार ग्रहण [वृत्ति=ग्रहण] किया जाय [अर्थात् जहाँ एक ही क्रियादिरूप धर्मका अनेक कारकोंके साथ सम्बन्ध हो वहाँ क्रियादीपक नामक दीपकका एक भेद होता है। इसी प्रकार] (२) बहुत-सी क्रियाओंमें एक ही कारकका ग्रहण ['सैव' अर्थात् 'सकृद् वृत्ति' एक ही बार ग्रहण] यह दीपक [अलङ्कारका दूसरा भेद अर्थात् कारक-दीपक] होता है ॥१०३॥

प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थात् उपमान तथा उपमेयका क्रियादिरूप धर्म जो एक ही बार ग्रहण किया जाता है वह [जैसे दरवाजेकी देहलीपर रखा हुआ दीपक कमरेके बाहर और भीतर दोनों जगह प्रकाश करता है उसी प्रकार वाक्यमें केवल एक जगह ग्रहण किया गया क्रियादिरूप धर्म अनेक कारकोंके साथ सम्बद्ध होकर देहली-दीपकन्यायसे] एक जगह स्थित भी समस्त वाक्यके दीपक होनेसे [अनेक कारकोंका

(१) किवणाणं धनं णाआणं फणमणी केशराई सीहाणं ।
कुलबालिआणं त्थणआ कुतो छिप्पन्ति अमुँआणं ॥४५७॥

[कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम् ।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम् ॥इति संस्कृतम्]

कारकस्य च बह्वीषु क्रियासु सकृद्वृत्तिर्दीपकम् यथा—

(२) स्विद्यति कूणति वल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक् ।
अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणया वधूः शयने ॥४५८॥

साथ एक क्रियाका सम्बन्ध होनेपर प्रथम प्रकारका] दीपकालङ्कार होता है। [इस क्रिया-दीपकका उदाहरण] जैसे—

(१) कृपणोंके धन, सर्पोंके फणकी मणि,सिंहोंके केसर और कुलीन बालिकाओं-के स्तनोंको उनके जीवित रहते [बिना मरे] कैसे छुआ जा सकता है ॥४५७॥

यहाँ 'स्पृश्यन्ते' यह एक ही क्रियापद है। उसके ही साथ धन, फणमणि, केसर और स्तन आदि अनेक कारकोंका सम्बन्ध होनेसे यह श्लोक 'क्रियादीपक' का उदाहरण होता है। इसमें वर्ण-नीय होनेसे कुलबालिकाओंके स्तन प्रकृत है, और उपमेयरूप हैं। कृपणोंका धन, नागोंके फणकी मणि, सिंहोंके केसर ये सब अवर्ण्य होनेसे अप्रकृत हैं। और वे उपमानरूपमें प्रतीत होते हैं।

(२) [इसी प्रकार] बहुत-सी क्रियाओंमें एक बार कारकका ग्रहण [अर्थात् अनेक क्रियाओंके साथ एक कारकका सम्बन्ध] होनेपर [कारकदीपक नामक दूसरे प्रकारका] दीपक [अलङ्कार] होता है। जैसे—

नवोढा वधू [पतिके] पलंगपर [जाकर कभी] पसीनेसे तर हो जाती है, [पतिके आलिङ्गन करनेके लिए उद्यत होनेपर] संकुचित हो उठती है, [उसपर भी पतिके न माननेपर आलिङ्गनपाशसे बचनेके लिए] सिकुड़ जाती है या मुँह फेर लेती है, करवट बदल लेती है, आँखें बन्द कर लेती है [परन्तु उत्सुकतावश] तिरछी आँखोंसे देखती है, मनमें प्रसन्न होती है और चुम्बन करना चाहती है ॥४५८॥

यहाँ स्विद्यति, कूणति, आदि आठ क्रियाएँ इस वाक्यमें आयी हैं परन्तु उन सबके साथ कर्तारूपमें केवल 'नवपरिणया वधूः' इस एक ही कर्तृपदका प्रयोग किया गया है। इसलिए यह कारक-दीपक नामक दीपकालङ्कारके दूसरे भेदका उदाहरण है।

दीपकालङ्कारमें प्रकृत तथा अप्रकृत दो भिन्न प्रकारके पदार्थोंमें एक धर्मका सम्बन्ध होता है। परन्तु यह नियम क्रियादीपकमें ही पाया जाता है। अर्थात् जहाँ एक क्रियाके साथ अनेक कारकोंका सम्बन्ध होता है वहाँ उन कारकोंमें प्रकृत अर्थात् वर्ण्य तथा अप्रकृत अर्थात् अवर्ण्य दोनों प्रकारके कारक होने चाहिये। जैसे कि 'कृपणानां धनं' आदि श्लोकमें कृपणके धन अथवा कुलबालिकाओंके स्तन इनमेंसे किसी एकको प्रकृत या वर्ण्य तथा शेषको अप्रकृत माना जा सकता है। परन्तु अनेक क्रियाओंके साथ एक कारकके सम्बन्धरूप कारक-दीपकका जो यहाँ 'स्विद्यति कूणति' आदि श्लोक उदाहरण-रूपमें दिया गया है उसमें सभी क्रियाएँ प्रकृत हैं। अप्रकृत क्रिया कोई भी नहीं है। अतः यह प्रकृत क्रियाओंमें एक कारकके सम्बन्धसे दीपकालङ्कारका उदाहरण है। सब क्रियाओंके अप्रकृत होनेपर

[सू० १५७]–मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम् ।

पूर्वेण पूर्वेण वस्तुना उत्तरमुत्तरं चेदुपक्रियते तन्मालादीपकं, यथा—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते,
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम् ।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं,
तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥४५९॥

दीपकका उदाहरण निम्नलिखित श्लोक हो सकता है—

दूरीकरोति कुमतिं विमलीकरोति चेतश्चिरन्तनमघं चुलकीकरोति ।
भूतेषु किञ्च करुणां बहुलीकरोति सङ्गः सतां किमु न मङ्गलमातनोति ॥

यहाँ केवल सत्सङ्ग वर्ण्य या प्रकृत है। उसका जिन क्रियाओंके साथ, कर्तृपदके रूपमें सम्बन्ध होता है उन सबका वर्णन अभिप्रेत न होनेसे वे सब अप्रकृत हैं। इस प्रकार अप्रकृत क्रियाओंके सम्बन्धमें दीपकालंकारका यह उदाहरण दिया गया है।

इसी प्रकार प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों प्रकारकी क्रियाओंके साथ एक ही कारकका सम्बन्ध होनेपर दीपकालङ्कारका निम्नलिखित उदाहरण दिया जाता है—

वसु दातुं यशो धातुं विधातुमरिमर्दनम् ।
त्रातुं च मादृशान् राजन् ! अतीव निपुणो भवान् ॥

यहाँ वसुदान तथा स्वत्राणरूप दो क्रियाएँ वर्ण्य होनेसे प्रकृत हैं और यशो धातुं, अरिमर्दनं विधातुं आदि क्रियाएँ वर्ण्य न होनेसे अप्रकृत हैं। उन प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों प्रकारकी क्रियाओंके साथ 'नृप' रूप एक कर्तृपदका सम्बन्ध होनेसे यह दीपकालंकारका उदाहरण है।

ऐसी अवस्थामें दीपकके लक्षणवाली कारिकाके पूर्वार्द्धमें आये हुए 'प्रकृताप्रकृतात्मनाम्' पदका सम्बन्ध उत्तरार्द्धमें नहीं जोड़ना चाहिये। केवल पूर्वार्द्धमें ही उसका सम्बन्ध करके प्रकृत तथा अप्रकृत अर्थोंके साथ एक धर्मका सम्बन्ध होनेपर दीपक होता है यह अर्थ करना चाहिये। उत्तरार्द्ध-में अनेक क्रियाओंके साथ एक कारकका सम्बन्ध होनेपर दूसरे प्रकारका कारक-दीपक होता है यह अर्थ करना चाहिये। 'प्रकृताप्रकृतात्मनाम्' पदका उत्तरार्द्धमें भी सम्बन्ध जोड़नेपर उक्त उदाहरणोंकी सङ्गति नहीं हो सकेगी।

[सूत्र १५७]—यदि पूर्व-पूर्व [की वस्तु] उत्तर-उत्तरका उपकारक [गुणाधायक] हो तो मालादीपक [अलङ्कार] होता है।

पूर्व-पूर्वकी वस्तुके द्वारा यदि उत्तर-उत्तरकी वस्तुका उपकार [गुणाधान] किया जाय तो वह मालादीपक [अलङ्कार] होता है। जैसे—

हे राजन् ! संग्रामभूमिमें आये हुए आपके धनुष [की प्रत्यञ्चा] को चढ़ानेपर जिस-जिसने जो-जो सहसा प्राप्त किया सो सुनो। [सबसे पहिले आपके चढ़े हुए] धनुषने बाण [प्राप्त किये] बाणोंने शत्रुओंके सिर [पायेः बाणोंने धनुषसे छूटकर शत्रुओंके सिरोंको काट दिया। इसलिए] उस [शत्रुके शिर] ने पृथ्वी [पायी], उस [भूमण्डल] ने [राजा रूपमें तुमको [पाया] और आपने अतुल कीर्ति [पायी] तथा कीर्तिने तीनों लोक पाये [अर्थात् आपकी कीर्ति तीनों लोकोंमें व्याप्त हो गयी] ।४५९।

[सू० १५८]–**नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥१०४॥**

नियतानां प्राकरणिकानामेव अप्राकरणिकानामेव वा । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ॥४६०॥

(२) कुमुदकमलनीलनीरजालिर्ललितविलासजुषोर्दृशोः पुरः का ।
अमृतममृतरश्मिरम्बुजन्म प्रतिहतमेकपदे तवाननस्य ॥४६१॥

---

१६. तुल्ययोगितालङ्कार—

अलङ्कारोंके वर्गीकरणमें 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार भी निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा आदि अलङ्कारोंके समान 'गम्य औपम्याश्रित' अलङ्कार है । आगे उसका लक्षण करते हैं—

[सू० १५८]—नियत [अर्थात् या तो केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत अर्थों] का एक धर्मके साथ सम्बन्ध होनेपर वह 'तुल्ययोगिता' [अलङ्कार] होता है ।१०४।

नियतोंका अर्थात् [केवल] प्राकरणिकोंका अथवा [केवल] अप्राकरणिकोंका ही एक धर्मके साथ सम्बन्ध होनेपर । क्रमसे [दोनों] उदाहरण [निम्नलिखित प्रकार हैं]—

(१) हे सखि ! तेरा पीला पड़ा हुआ सूखा चेहरा, स्नेहसे भरा हुआ हृदय, और अलसाया हुआ शरीर तेरे हृदयके असाध्य रोगको सूचित करता है । [क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः जिस रोगकी चिकित्सा इस शरीर अर्थात् इस जन्ममें न हो सके उस असाध्य रोगको 'क्षेत्रिय रोग' कहते हैं] ।४६०।

दीपक तथा तुल्ययोगिताका भेद—

यहाँ विरहके अनुभावरूपमें मुखकी पाण्डुता तथा क्षामता, हृदयकी सरसता तथा शरीरकी अलसता आदि ये सभी वर्ण्य या प्रकृत अर्थ हैं । उनके साथ 'आवेदयति' रूप एक क्रियाका सम्बन्ध है । इसलिए यह तुल्ययोगिता अलङ्कार है । दीपकालङ्कारमें एक प्रकृत और एक अप्रकृत अर्थके साथ एक धर्मका सम्बन्ध होता है । तुल्ययोगितालङ्कारमें दोनों अर्थ या तो प्रकृत हों या फिर सभी अप्रकृत हों यह आवश्यक है । यही दीपकसे तुल्ययोगितालङ्कारका भेद है । सभी प्रकृत अर्थोंके साथ एक धर्मके सम्बन्धका यह उदाहरण दिया है । अब सभी अप्रकृत अर्थोंके साथ एक धर्मके सम्बन्धका दूसरा उदाहरण देते हैं—

(२) [नायक, नायिकासे कह रहा है कि] तुम्हारी सुन्दर और हाव-भावोंसे भरी हुई इन आँखोंके सामने कुमुद या कमल और नीलकमलोंकी पंक्ति क्या है [इनमेंसे कोई भी तुम्हारी आँखोंकी बराबरी नहीं कर सकता है] और तुम्हारे मुखके सामने अमृत, [अमृतरश्मि अर्थात्] चन्द्रमा और कमल एकदम मात खा गये हैं ।४६१।

यहाँ नायिकाकी आँखों तथा मुखके सौन्दर्यका वर्णन करना है इसलिए पूर्वार्द्धमें नेत्र तथा उत्तरार्द्धमें मुख, वर्ण्य होनेसे प्रकृत हैं । उनके उपमानरूप पूर्वार्द्धके कुमुद, कमल और नीरजालि तथा उत्तरार्द्धमें अमृत, अमृतरश्मि, अम्बुजन्म, सब अप्रकृत हैं । पूर्वार्द्ध उन सब अप्रकृत अर्थोंके साथ 'का' पदसे अभिव्यङ्ग्य अधिक्षेप या निन्दारूप एक धर्मका सम्बन्ध पाया जाता है । इसी प्रकार उत्तरार्द्धमें कुमुद, कमल, आदि सभी अप्रकृत अर्थोंके साथ 'प्रतिहतत्व' रूप एक धर्मका सम्बन्ध होनेसे ये दोनों तुल्ययोगिताके उदाहरण होते हैं ।

[सू० १५९]-**उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।**

अन्यस्योपमेयस्य । व्यतिरेक आधिक्यम् ।

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।
विरम प्रसीद सुन्दरि ! यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥४६२॥

इत्यादावुपमानस्योपमेयादाधिक्यमिति केनचिदुक्तं, तदयुक्तम् अत्र यौवनगतास्थैर्याधिक्यं हि विवक्षितम् ।

---

१७. व्यतिरेकालङ्कार—

पूर्वोक्त वर्गीकरणमें 'व्यतिरेकालङ्कारको' भी 'गम्य औपम्याश्रित' अलङ्कारवर्गमें माना गया है । उसका लक्षण आगे करते हैं—

[सू० १५९]—उपमानसे अन्य [अर्थात् उपमेय] का जो [विशेषण अतिरेकः व्यतिरेकः] आधिक्य [का वर्णन] वह ही व्यतिरेक [अलङ्कार] होता है ।

अन्यका अर्थात् उपमेयका । व्यतिरेक अर्थात् आधिक्य [उदाहरण जैसे]—

हे सुन्दरि ! मान जाओ [मानको छोड़ दो] और [मेरे ऊपर] प्रसन्न हो जाओ । चन्द्रमा बार-बार क्षीण होकर भी फिर-फिर पूर्ण हो जाता है यह सत्य है परन्तु बीता हुआ यौवन तो फिर वापस नहीं आता है । [इसलिए हे सुन्दरि ! मानको छोड़ दो और इस यौवनका उपभोग करनेके लिए] प्रसन्न हो जाओ ।४६२।

अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यकने उपमानसे उपमेयका आधिक्य होनेपर अथवा न्यूनता होनेपर दोनों अवस्थाओंमें व्यतिरेकालङ्कार माना है । इसलिए उन्होंने उसका लक्षण 'उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये [उपमेयादुपमानस्याधिक्ये] वा व्यतिरेकः' यह किया है और विषय अर्थात् उपमेयसे उपमानके आधिक्यके वर्णनमें 'क्षीणः क्षीणः शशी' इत्यादि श्लोकको उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है । उनका अभिप्राय यह है कि इस श्लोकमें उपमेयभूत यौवनकी अपेक्षा उपमानभूत चन्द्रमाके आधिक्यका वर्णन किया गया है । क्योंकि यौवन तो एक बार बीत जानेपर फिर वापस नहीं आता है परन्तु चन्द्रमा बार-बार क्षीण होकर भी फिर-फिर पूरा हो जाता है । इसलिए उपमेयरूप यौवनकी अपेक्षा उपमानरूप चन्द्रमाका आधिक्य-वर्णन होनेसे यह दूसरे प्रकारके व्यतिरेकका उदाहरण है । यह रुय्यकका मत है । परन्तु काव्यप्रकाशकार इस मतसे सहमत नहीं हैं । उनके मतमें यहाँ चन्द्रमाके आधिक्यका वर्णन इष्ट नहीं है अपितु यौवनमें अस्थैर्याधिक्यका वर्णन ही अभिप्रेत है । इसलिए यह चन्द्रमा तो इतना अस्थिर क्षणभंगुर नहीं है क्योंकि वह तो क्षीण होकर भी फिर पूरा हो जाता है । परन्तु यौवन दुबारा नहीं लौटता है । इसलिए वह चन्द्रमाकी अपेक्षा अधिक अस्थिर है । यह श्लोकका भाव है । इसलिए यहाँ उपमानसे उपमेयका आधिक्य होनेसे यह प्रथम प्रकारके व्यतिरेकका ही उदाहरण है । यह काव्यप्रकाशकारका मत है । अपने इसी मतको वे अगली पंक्तिओंमें प्रतिपादन करते हैं—

[क्षीणः क्षीणः शशी] इत्यादि [उदाहरण] में उपमान [चन्द्रमा] का उपमेय [यौवन] से आधिक्य [वर्णित] है यह किसी [अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक] ने कहा है । किन्तु वह उचित नहीं है । [क्योंकि] यहाँ [उपमेय] यौवनगत अस्थैर्यका आधिक्य ही [कविको] विवक्षित है ।

[सू० १६०]-हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ॥१०५॥
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत् त्रिरष्ट तत् ।

व्यतिरेकस्य हेतुः उपमेयगतमुत्कर्षनिमित्तम्, उपमानगतमपकर्षकारणम् । तयोर्द्वयोरुक्तिः । एकतरस्य द्वयोर्वा अनुक्तिरित्यनुक्तित्रयम् । एतद्भेदचतुष्टयम् । उपमानोपमेयभावे शब्देन प्रतिपादिते, आर्थेन च क्रमेणोक्ताश्चत्वार एव भेदाः । आक्षिप्ते चौपम्ये तावन्त एव । एवं द्वादश । एते श्लेषेऽपि भवन्तीति चतुर्विंशतिर्भेदाः । क्रमेणोदाहरणम्—

इस व्यतिरेकालङ्कारके चौबीस प्रकार हो सकते हैं । उन सबका वर्णन अगली कारिकामें करते हैं । (१) उपमानसे जो उपमेयका आधिक्यवर्णन है उसमें उपमेयके आधिक्यके हेतु तथा उपमानके अपकर्षके हेतु इन दोनोंका वर्णन होनेपर व्यतिरेकका प्रथम भेद होता है । (२) इन दोनोंमेंसे किसीके न कहने [अर्थात् दोनोंके अनुक्त होने] अथवा, (३) उत्कर्षहेतुके अनुक्त होने, (४) अथवा अपकर्षहेतुके अनुक्त होनेपर अनुक्तिके क्रमशः तीन भेद हो जाते हैं । इस प्रकार व्यतिरेकके चार भेद हो जाते हैं । इन चारों भेदोंमें साम्य कहीं शाब्द, कहीं आर्थ और कहीं आक्षिप्त होता है इसलिए प्रत्येकके तीन भेद होकर ४ × ३ = १२ भेद बन जाते हैं । ये बारह भेद श्लेषमूलक या अश्लेषमूलक होनेसे दो प्रकारके होकर व्यतिरेकके कुल १२ × २ = २४ भेद बन जाते हैं । इन्हीं चौबीस भेदोंको अगली कारिकामें इस प्रकार दिखलाते हैं—

[सूत्र १६०]—[उपमेयके उत्कर्ष हेतु तथा उपमानके अपकर्ष हेतु] दोनों हेतुओंके उक्त होनेपर [व्यतिरेकका एक भेद होता है । उपमेयके उत्कर्ष हेतुके अनुक्त होनेपर दूसरा, उपमानके अपकर्ष हेतुके अनुक्त होनेपर तीसरा, और इन दोनोंके एक साथ अनुक्त होनेपर चौथा इस प्रकार] तीन अनुक्तियोंके होनेपर [तीन भेद, कुल मिलकर चार भेद व्यतिरेकके हुए । इनमें भी इवादि शब्दके द्वारा शब्दतः अथवा तुल्यादि शब्दोंसे अर्थतः] साम्यके [इवादि] (१) शब्दके द्वारा [अथवा तुल्यादि पदोंसे] (२) अर्थके द्वारा निवेदित होनेपर और (३) [साम्यसूचक इवादि तथा तुल्यादि दोनोंके अभावमें साम्यके] आक्षिप्त होनेपर [पूर्वोक्त चारों भेदोंके तीन भेद होकर ४×३ = १२ भेद हो जाते हैं । ये सब भेद श्लेषके बिना होते हैं] इसी प्रकार श्लेष होनेपर भी बारह भेद और होकर १२+१२ = २४ कुल] वह २४ [त्रिरष्ट ८×३ = २४] प्रकारका होता है ।

व्यतिरेकका हेतु उपमेयगत उत्कर्षका कारण और उपमानगत अपकर्षका कारण [दो होते हैं] उन दोनोंकी उक्ति [होनेपर व्यतिरेकका एक भेद होता है] उन दोनोंमेंसे किसी एककी अथवा दोनोंकी अनुक्ति इस प्रकार तीन तरहकी अनुक्ति । ये [सब मिलाकर] चार भेद होते हैं । उपमान उपमेयभावके [उपमावाचक इवादि] (१) शब्दके द्वारा; [तुल्यादि शब्दों अथवा तुल्यार्थमें हुए 'वति' प्रत्ययके द्वारा साम्यके] (२) अर्थ द्वारा प्रतिपादित होनेपर क्रमशः [दोनों प्रकारसे] पूर्वोक्त चार-चार भेद ही होते हैं [अर्थात् आठ भेद हो जाते हैं । इवादि तथा तुल्यादि दोनों प्रकारके शब्दोंके अभावमें] साम्यके आक्षिप्त होनेपर उतने ही [चार ही] भेद होते हैं । इस प्रकार [मिलकर] बारह भेद हुए । ये [बारहों भेद] श्लेषमें भी होते हैं इसलिए [कुल मिलाकर १२×२=२४] चौबीस भेद हो जाते हैं । क्रमशः उनके उदाहरण [आगे देते हैं]—

(१) असिमात्रसहायस्य प्रभूतारिपराभवे ।
अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महाधृतेः ॥४६३॥

अत्रैव तुच्छेति महाधृतेरित्यनयोः पर्यायेण युगपद्वाऽनुपादानेऽन्यत् भेदत्रयम् । एवमन्येष्वपि द्रष्टव्यम् । अत्रेवशब्दस्यासद्भावाच्छाब्दमौपम्यम् ।

(२) असिमात्रसहायोऽपि प्रभूतारिपराभवे ।
नैवान्यतुच्छजनवत्सगर्वोऽयं महाधृतिः ॥४६४॥

अत्र तुल्यार्थे वतिरित्यार्थमौपम्यम् ।

---

(१) केवल तलवारकी सहायतावाला [अर्थात् सैन्यादिरहित अकेला] महाधैर्यशाली यह राजा प्रबल शत्रुओंके पराजित हो जानेपर भी अन्य तुच्छजनोंके समान अभिमानयुक्त नहीं [दिखलाई] देता है ॥४६३॥

यहाँ राजा उपमेय है। उसके उत्कर्षका कारण 'महाधृति' कथित है। इसी प्रकार अन्यतुच्छजनरूप उपमानके अपकर्षका कारण 'तुच्छत्व' उक्त है। इसलिए दोनों हेतुओंकी उक्तिमें व्यतिरेकालङ्कारके प्रथम भेदका यह उदाहरण हुआ। 'अरिपराभव' सामान्यधर्म है और श्लेषका अभाव है।

इसी [उदाहरण] में 'तुच्छ' इस [उपमानके अपकर्ष हेतु अथवा] 'महाधृतेः' इस [उपमेयके उत्कर्ष हेतु] इन दोनोंके पर्यायसे, अथवा एक साथ ग्रहण न करनेपर दूसरे [अनुक्तीनां त्रये वाले] तीन भेद होते हैं। इसी प्रकार अन्य उदाहरणोंमें भी समझना चाहिये। इसमें ['अन्यतुच्छजनस्येव'में] 'इव' शब्दका ग्रहण होनेसे उपमानोपमेयभाव शाब्द [शब्दसे कथित] है।

इसी उदाहरणमें 'अन्यतुच्छजनस्येव' पदमें 'उपमावाचक 'इव' को हटाकर 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्रसे वति-प्रत्यय करके 'नैवान्यतुच्छजनवत्सगर्वोऽयं महाधृतिः' ऐसा पाठ कर देनेपर यही आर्थसाम्यमें 'हेत्वोरुक्तौ' का उदाहरण हो सकता है। इसलिए इसी प्रकारका परिवर्तन करके यही श्लोक दुबारा दिया गया है।

(२) इसका अर्थ ४६३ के समान ही है ॥४६४॥

यहाँ ['इव'के स्थानपर 'तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः' इस सूत्रसे] तुल्यार्थमें 'वति' [प्रत्यय] है इसलिए [उपमा प्रकरणमें पृष्ठ ४४५ पर दिखलाये गये नियमके अनुसार] आर्थ सादृश्य [औपम्य] है

पूर्व श्लोकके समान यह उदाहरण भी मूलतः 'हेत्वोरुक्तौ' का है। अर्थात् इसमें उपमेयके उत्कर्ष हेतु 'महाधृति' का तथा उपमानके अपकर्ष हेतु 'तुच्छत्व' का कथन है। परन्तु पूर्व उदाहरणके समान ही यदि यहाँ भी 'तुच्छत्व' अथवा 'महाधृति' का पर्यायसे ग्रहण न किया जाय अथवा दोनोंका युगपद् ग्रहण न किया जाय तो यही 'अनुक्तीनां त्रये' के तीन उदाहरणोंके रूपमें परिवर्तित हो जायगा। इस प्रकार इस श्लोकमें 'आर्थ औपम्य'के चारों उदाहरण बन जाते हैं। पहिले श्लोकमें 'शब्द औपम्य'के चारों उदाहरण हो गये थे। इस प्रकार दो श्लोकों द्वारा अथवा एक ही श्लोकमें पाठ-परिवर्तनों द्वारा व्यतिरेकके आठ भेदोंके उदाहरण ग्रन्थकारने दिखला दिये हैं।

आगे आक्षिप्त साम्यमें व्यतिरेकका उदाहरण देते हैं—

(३) इयं सुनयना दासीकृततामरसश्रिया ।
आननेनाकलङ्केन जयतीन्दुं कलङ्किनम् ॥४६५॥

अत्रेवादितुल्यादिपदविरहेण आक्षिप्तैवोपमा ।

(४) जितेन्द्रियतया सम्यग्विद्यावृद्धनिषेविणः ।
अतिगाढगुणस्यास्य नाब्जवद्भङ्गुरा गुणाः ॥४६६॥

अत्रेवार्थे वतिः, गुणशब्दः श्लिष्टः, शब्दमौपम्यम् ।

(५) अखण्डमण्डलः श्रीमान् पश्यैष पृथिवीपतिः ।
न निशाकरवज्जातु कलावैकल्यमागतः ॥४६७॥

(३) सुन्दर नेत्रोंवाली यह [नायिका] कमल-लक्ष्मीको भी तिरस्कृत करनेवाले कलङ्क-रहित मुखसे, कलङ्की चन्द्रमाको पराजित कर रही है ॥४६५॥

यहाँ [शाब्द उपमाके प्रयोजक] इवादि तथा [आर्थ उपमाके प्रयोजक] तुल्यादि [दोनों प्रकारके] पदोंके अभाव होनेसे उपमा [सादृश्य] आक्षिप्त ही है ।

इसमें उपमेयरूप मुखके उत्कर्ष हेतु अकलङ्कित्व, तथा उपमानरूप चन्द्रमाके अपकर्ष हेतु कलङ्कित्व दोनोंका ग्रहण है इसलिए यह 'हेत्वोरुक्तौ'का उदाहरण है। यदि उसीमें अकलङ्कित्व तथा कलङ्कित्वरूप हेतुओंका अलग-अलग पर्यायसे ग्रहण न किया जाय अथवा दोनोंका युगपद् ग्रहण न किया जाय तो यहीं 'अनुक्तीनां त्रये' तीन प्रकारकी अनुक्तियोंके तीन उदाहरणोंके रूपमें परिवर्तित हो जायगा। इन चारोंमें सादृश्य आक्षिप्त रहेगा। अतः यह आक्षिप्त सादृश्यवाले व्यतिरेकके चार भेदोंका उदाहरण हो सकता है। इस प्रकार यहाँतक व्यतिरेकके श्लेषरहित बारह भेदोंके उदाहरण दिखला दिये हैं। आगे श्लेषयुक्त व्यतिरेकके उदाहरण दिखलाते हैं—

(४) जितेन्द्रिय होनेसे विद्यावृद्ध [पण्डित] जनोंकी भली प्रकार सेवा करनेवाले अत्यन्त दृढ [धैर्य आदि] गुणोंसे युक्त राजाके [उक्त धैर्यादि] गुण कमलके [गुण अर्थात् सूत्रों] समान [भंगुर अर्थात् तुरन्त] टूट जानेवाले नहीं हैं ॥४६६॥

यहाँ राजा उपमेय और अब्ज कमल उपमान है। उपमेयके उत्कर्ष हेतु 'अतिगाढगुणत्व' तथा उपमानके अपकर्ष हेतु भंगुरत्व-गुण दोनोंका उपादान किया गया है अतः यह 'हेत्वोरुक्तौ'का उदाहरण है। इन दोनों हेतुओंका पर्यायसे या युगपत् अनुपादान होनेपर यही 'अनुक्तीनां त्रये'के तीन उदाहरणोंके रूपमें परिवर्तित किया जा सकता है। 'अब्जवत्, पदमें जो वति-प्रत्यय' हुआ है वह 'तत्र तस्येव' इस सूत्रसे हुआ है इसलिए उपमाके प्रकरणमें पृ० ४४५ पर कहे हुए सिद्धान्तके अनुसार शाब्द औपम्य है। और 'गुण' शब्दमें श्लेष पाया जाता है। इस प्रकार यह श्लेषमूलक शाब्द औपम्यमें व्यतिरेकके 'हेत्वोरुक्तौ' भेदका उदाहरण है। और वह थोड़े हेर-फेरसे 'अनुक्तीनां त्रये'के तीन उदाहरणोंके रूपमें भी परिवर्तित किया जा सकता है।

यहाँ 'इव'के अर्थमें 'वति-प्रत्यय' है। 'गुण' शब्द श्लिष्ट [एक पक्षमें धैर्यादि गुणोंका और दूसरे पक्षमें सूत्रका वाचक] है। औपम्य शाब्द है।

(५) देखो, अखण्डित [चन्द्रपक्षमें सम्पूर्ण अथवा राजपक्षमें समृद्ध] मण्डल [राजपक्षमें राजसमूह अथवा चन्द्रपक्षमें चन्द्र-बिम्ब] से युक्त और श्रीसे परिपूर्ण यह राजा चन्द्रमाके समान कभी भी कलाओं [के ज्ञान] से रहित नहीं होता है ॥४६७॥

अत्र तुल्यार्थे वतिः, कलाशब्दः श्लिष्टः ।

मालाप्रतिवस्तूपमावत् मालाव्यतिरेकोऽपि सम्भवति । तस्यापि भेदा एवमूह्याः । दिङ्मात्रमुदाहियते यथा—

(६-१) हरवन्न विषमदृष्टिर्हरिवन्न विभो विधूतविततवृषः ।
रविवन्न चातिदुःसहकरतापितभूः कदाचिदसि ॥४६८॥

अत्र तुल्यार्थे वतिः, विषमादयश्च शब्दाः श्लिष्टाः ।

(७-२क) नित्योदितप्रतापेन त्रियामामीलितप्रभः ।
भास्वताऽनेन भूपेन भास्वानेष विनिर्जितः ॥४६९॥

अत्र ह्याक्षिप्तैवोपमा, भास्वतेति श्लिष्टः ।

यहाँ तुल्यार्थमें वति-प्रत्यय है [इसलिए ४४५ पृष्ठपर कहे नियमके अनुसार आर्थ औपम्यका उदाहरण है] कला शब्द [एक पक्षमें चौंसठ प्रकारकी कलाओं, और दूसरे पक्षमें चन्द्रमाकी सोलह कलाओंका वाचक होनेसे] श्लिष्ट है ।

इसमें उपमानभूत चन्द्रमाके अपकर्षका हेतु 'कलावैकल्य' तथा उपमेयगत उत्कर्षका हेतु 'कलावैकल्यका अभाव' दोनों उक्त हैं अतः यह 'हेत्वोरुक्तौ' का उदाहरण है । इन दोनों हेतुओंमेंसे एक-एकके क्रमशः अनुक्त होने अथवा दोनोंके युगपत् अनुक्त होनेपर यही उदाहरण 'अनुक्तीनां त्रये' के उदाहरणरूपमें परिवर्तित किया जा सकता है ।

माला प्रतिवस्तूपमाके समान माला-व्यतिरेक भी हो सकता है । उसके भी इसी प्रकार [२४] भेद समझ लेने चाहिये । दिग्दर्शनके लिए [तीन] उदाहरण देते हैं—

(६-१) हे राजन ! आप कभी महादेवके समान विषमनेत्र [तीन नेत्रोंवाले अथवा असमदृष्टि] नहीं रखते हैं, विष्णुके समान महान् धर्म [वृष अर्थात् धर्म, हरिपक्षमें वृषासुर] को नष्ट करनेवाले नहीं होते हैं और न कभी सूर्यके समान अत्यन्त असह्य करों [टैक्सों; सूर्यपक्षमें किरणों] से पृथिवीको सन्तप्त करनेवाले हैं ।४६८।

यहाँ तुल्यार्थमें वति-प्रत्यय है [इसलिए ४४५ पृष्ठपर वर्णित नियमके अनुसार आर्थ औपम्य है] । विषम [वृष तथा कर] आदि शब्द श्लिष्ट हैं ।

यहाँ एक साथ हर, हरि, तथा रवि इन तीनके साथ राजाका व्यतिरेक दिखलाया गया है इसलिए 'मालाव्यतिरेक' का उदाहरण है । इसमें राजा उपमेय है, हर आदि तीन उपमान हैं । उपमानगत अपकर्षहेतु 'असमदृष्टित्व' आदि कहे हैं । इसलिए उपमेयगत उत्कर्ष हेतु नहीं कहे हैं । 'अनुक्ति'का उदाहरण है । 'हेत्वोरुक्तौ' का आक्षिप्त साम्यवाला श्लेषमूलक उदाहरण आगे देते हैं—

(७-२क) जिसका प्रताप सदा विद्यमान रहता है इस प्रकारके इस तेजस्वी [या सूर्यरूपी] राजाने रात्रिके समय जिसकी कान्ति विलीन हो जाती है इस प्रकारके इस सूर्यको पराजित कर दिया है ।४६९।

यहाँ [इवादि तथा तुल्यादि दोनों प्रकारके पदोंके न होनेसे] साम्य आक्षिप्त ही है । 'भास्वता' यह पद [दोनों पक्षोंमें भिन्नार्थका बोधक होनेसे] श्लिष्ट है । सूर्यपक्षमें 'भास्वता' का अर्थ दीप्तियुक्त होता है और राजापक्षमें 'सूर्यरूप राजा' अर्थ होता है] ।

यथा वा—

(८-२ख) स्वच्छात्मतागुणसमुल्लसितेन्दुबिम्बं बिम्बप्रभाधरमकृत्रिमहृद्यगन्धम् ।
यूनामतीव पिबतां रजनीषु यत्र तृष्णां जहार मधु नाननमङ्गनानाम् ॥४७०॥

अत्रेवादीनां तुल्यादीनां च पदानामभावेऽपि श्लिष्टविशेषणैराक्षिप्तैवोपमा प्रतीयते । एवञ्जातीयकाः श्लिष्टोक्तियोग्यस्य पदस्य पृथगुपादानेऽन्येऽपि भेदाः सम्भवन्ति । तेऽप्यनयैव दिशा द्रष्टव्याः ।

इसमें 'भूप' पद उपमेय, 'भास्वान्' उपमान है । उपमेय 'भूप' का उत्कर्ष हेतु 'नित्योदित-प्रतापत्व' तथा उपमानभूत भास्वान्का अपकर्ष हेतु 'त्रियामामीलितप्रभात्व' दोनों उक्त हैं अतः यह 'हेत्वोरुक्तौ' का उदाहरण है । 'विनिर्जितः' पदसे उन दोनोंका साम्य आक्षिप्त होता है ।

अगला उदाहरण ऐसा देते हैं जिसमें साम्यका आक्षेप करानेवाले निर्जित आदि शब्दोंका भी प्रयोग नहीं हुआ है । केवल श्लिष्ट विशेषणोंके द्वारा साम्यका आक्षेप होता है । इसी भेदको दिखलाने-के लिए यह दूसरा उदाहरण दिया है । इसमें वसन्तका वर्णन है । श्लोकका भाव यह है—वसन्त ऋतुकी मनोहर रात्रियोंमें नवयुवक लोग अपनी प्रियतमाओंके साथ बैठकर मद्यका और उसके साथ ही उनके अधरोंका पान करते हैं । अत्यन्त मधुपान कर चुकनेपर मधुपानकी इच्छा तो समाप्त हो जाती है परन्तु अङ्गनाओंके अधरपानकी इच्छा फिर भी बनी ही रहती है, समाप्त नहीं होती है । 'यत्र वसन्ते रजनीषु अतीव पिबतां यूनां तृष्णां मधु जहार' मधु तो तृष्णाको दूर कर देता है अर्थात् मधुकी तृष्णा तो समाप्त हो जाती है किन्तु 'अङ्गनानां आननं तृष्णां न जहार' स्त्रियोंके आनन या अधरपानकी तृष्णा समाप्त नहीं होती है । श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'स्वच्छात्मतागुणसमुल्लसितेन्दुबिम्बं' 'बिम्ब-प्रभाधरं' और 'अकृत्रिमहृद्यगन्धं' ये तीन विशेषण-पद हैं जो 'मधु' तथा 'आननं' दोनों पक्षोंमें लगते हैं । इन्हीं श्लिष्ट विशेषणोंके द्वारा मधु तथा आननका साम्य आक्षिप्त होता है । श्लोकका अर्थ—

(८-२ख) [मद्यके] निर्मल स्वरूपतारूप गुणके कारण जिसमें चन्द्रबिम्बकी परछाईं पड़ रही है [और पुराना हो जानेके कारणसे] कुंदरूके फलके समान [रक्तवर्णकी] कान्तिको धारण करनेवाला तथा स्वाभाविक मनोहर गन्धसे युक्त मद्य जहाँ [जिस वसन्त ऋतुमें] रात्रिमें अत्यधिक [मद्यका] पान करनेवाले युवकोंकी तृष्णाको निवृत्त कर देता है, परन्तु निर्मल स्वरूप [अत्यन्त गौरवर्णके कारण] परिपूर्ण चन्द्रमण्डलके समान और कुंदरूके फलके समान [रक्तवर्ण] अधरवाले तथा स्वाभाविक हृदयाकर्षक गन्धसे युक्त स्त्रियोंके मुख, उसका अत्यधिक पान करनेवाले युवकोंकी तृष्णाको निवृत्त करनेमें समर्थ नहीं हुए । ४७० ।

यहाँ [इस उदाहरणमें, शाब्द औपम्यके प्रयोजक] इवादि तथा [आर्थ औपम्यके प्रयोजक] तुल्यादि पदोंके अभावमें भी श्लिष्ट विशेषणोंसे [मधु तथा आननकी सादृश्य-रूप] उपमा आक्षेपसे प्रतीत होती ही है । इस प्रकारके भेद श्लेष योग्यपदोंके [उपमान-के विशेषणरूपसे तथा उपमेयके विशेषण रूपसे] अलग-ग्रहण करनेपर भी बन सकते हैं [प्रकृत उदाहरणमें जो श्लिष्ट पद हैं वे उपमान तथा उपमेय दोनोंके सम्मिलित रूपसे विशेषण हैं, अलग-अलग नहीं । इसी बातको दिखलानेके लिए इस पंक्तिमें 'पृथक्' पदका ग्रहण किया गया है] । उन [भेदोंके उदाहरणों] को भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये ।

[सू० १६१]-**निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥१०६॥**
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।

विवक्षितस्य प्राकरणिकत्वादनुपसर्जनीकार्यस्य अशक्यवक्तव्यत्वमतिप्रसिद्धत्वं वा विशेषं वक्तुं निषेधो निषेध इव यः स वक्ष्यमाणविषय उक्तविषयश्चेति द्विधा आक्षेपः । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) ए एहि किंपि कीएवि कएण णिक्किव भणामि अलमह वा ।
अविआरिअकज्जारम्भआरिणी मरउ ण भणिस्सम ॥४७१॥
[ए एहि किमपि कस्या अपि कृते निष्कृप ! भणामि अलमथवा ।
अविचारित कार्यारम्भकारिणी म्रियतां न भणिष्यामि ॥इति संस्कृतम्]

(२) ज्योत्स्ना मौक्तिकदाम चन्दनरसः शीतांशुकान्तद्रवः,
कर्पूरं कदली मृणालवलयान्यम्भोजिनीपल्लवाः ।
अन्तर्मानसमास्त्वया प्रभवता तस्याः स्फुलिंगोत्कर—
व्यापाराय भवन्ति हन्त किमनेनोक्तेन न ब्रूमहे ॥४७२॥

---

१८. आक्षेपालङ्कार—

[सू० १६१]—जो बात कहना चाहते हैं उसमें विशेष उत्कर्ष प्रकट करनेके लिए जो उसका निषेध किया जाय वह (१) वक्ष्यमाणविषयक [अर्थात् जो बात आगे कहनी है उसका पहिलेसे निषेध कर देना इस तरह] और (२) उक्त विषय [अर्थात् पूर्वकथित बातका निषेधरूप] आक्षेप [अलंकार] दो प्रकारका होता है ।

विवक्षित अर्थात् प्रकृत होनेसे जिसको गौण या उपेक्षणीय नहीं किया जा सकता है ऐसे अर्थके अवर्णनीयत्व अथवा अतिप्रसिद्धत्वरूप विशेषताको बतलानेके लिए जो निषेध अर्थात् निषेध-सा [न कि वास्तविक निषेध] करना वह, (१) वक्ष्यमाण-विषयक [अर्थात् आगे कहे जानेवाली बातका कहे बिना पहिले ही निषेध-सा कर देना] और (२) उक्तविषयक [अर्थात् बातको कहकर फिर उसका निषेध कर देना] यह दो प्रकारका 'आक्षेप' [अलंकार] होता है । क्रम से [दोनोंके] उदाहरण [आगे देते हैं]—

(१) अरे निष्ठुर ! इधर तो आओ किसीके लिए कुछ कहना चाहती हूँ । अथवा बिना विचारे काम करनेवाली उसको मर जाने दो मैं कुछ नहीं कहूँगी ।४७१।

यहाँ वियोगिनी नायिकाकी सखी नायकके पास उसका सन्देश लेकर आयी है । परन्तु उसकी दशाको कहनेके पहिले ही उसका निषेध-सा कर रही है । अतः यह वक्ष्य माणविषयक निषेधरूप आक्षेपका उदाहरण है । उक्तविषयक निषेधरूप आक्षेपका दूसरा उदाहरण देते हैं—

(२) हृदयके भीतर बैठे हुए तुम्हारे कारण [अर्थात् तुम्हारे वियोगमें] चाँदनी, मुक्ताकी माला, चन्दनका रस, चन्द्रकान्तिमणिका जल, कपूर, केला, मृणालके वलय, और कमलिनीके पत्ते भी उसके लिए आग बरसानेका काम करनेवाले हो रहे हैं । अरे तुमसे यह सब कहनेसे क्या लाभ ? इसलिए हम नहीं कहेंगी ।४७२।

[सू० १६२]-**क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥१०७॥**

हेतुरूपक्रियाया निषेधेऽपि तत्फलप्रकाशनं विभावना । यथा—

कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्तरुजमलिकुलैरदष्टाऽपि ।
परिवर्त्तते स्म नलिनीलहरीभिरलोलिताऽप्यघूर्णत सा ॥४७३॥

[सू० १६३]-**विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।**

मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्तिः । अनुक्तनिमित्ता उक्तनिमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता च । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) निद्रानिवृत्तावुदिते द्युरत्ने सखीजने द्वारपदं पराप्ते ।
श्लथीकृताश्लेषरसे भुजंगे चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सा ॥४७४॥

यहाँ बातको कह देनेके बाद फिर उसका निषेध किया गया है इसलिए यह उक्तविषयक निषेधाभासमूलक आक्षेपालङ्कारका उदाहरण है ।

१९. विभावना अलङ्कार—

अलङ्कारोंके पूर्वोक्त वर्गीकरणमें दूसरा वर्ग 'विरोधमूलक अलङ्कार' का है । प्रकृत 'विभावना' अलङ्कारको इसी 'विरोधमूलक अलङ्कार' वर्गमें गिना गया है । आगे उसका लक्षण आदि करते हैं—

[सू० १६२]—['क्रियतेऽनयेति क्रिया' इस व्युत्पत्तिके अनुसार यहाँ क्रिया शब्द कारणका बोधक है । इस] कारणका [अभाव या] निषेध होनेपर भी फलकी उत्पत्ति [का वर्णन] होनेपर विभावना [अलंकार] होता है ।

हेतुरूप क्रिया [अर्थात् कारण] का निषेध [अथवा अभाव] होनेपर भी फलकी उत्पत्ति विभावना [अलंकार कहलाती] है । जैसे—

खिली हुई लताओंसे ताडित न होनेपर भी [नायिका] पीडाको प्राप्त हो रही थी, भ्रमर-कुलसे न काटे जानेपर भी तड़प रही थी, और कमलिनियोंसे युक्त लहरोंके चक्करमें पड़े विना भी वह चक्कर खा रही थी ।४७३।

यहाँ लताओंकी चोट पीडाका हेतु हो सकती थी । भ्रमरका काटना तड़पनेका और कमलिनियों-की लहरोंके चक्करमें फँस जाना चक्कर आनेका कारण हो सकता था । परन्तु उन कारणोंका निषेध करनेपर भी कार्यका प्रकाशन किया गया है । इसलिए यह विभावनालङ्कारका उदाहरण है ।

२०. विशेषोक्ति अलङ्कार—

यह विशेषोक्ति भी विरोधमूलक अलङ्कार माना गया है उसका लक्षण आगे देते हैं—

[सू० १६३]—सम्पूर्ण कारणोंके होनेपर फलका न कहना विशेषोक्ति है ।

[प्रसिद्ध] कारणोंके एकत्र होनेपर भी कार्यका कथन न करना विशेषोक्ति [अलंकार] होता है । वह (१) अनुक्तनिमित्ता, (२) उक्तनिमित्ता तथा (३) अचिन्त्यनिमित्ता [इस तरह तीन प्रकारकी] होती है । क्रमसे [तीनों] उदाहरण [जैसे]—

(१) निद्रा खुल जानेपर, सूर्यके उदय हो आनेपर, सखियोंके [शयनकक्षके] दरवाजेपर आ जानेपर और उपपति [भुजंग] के आलिंगनके रसको त्याग देनेपर भी वह आलिंगन [बाहुपाश] से विचलित नहीं हुई ॥४७४॥

(२) कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ॥४७५॥

(३) स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरताऽपि तनुं यस्य शंभुना न बलं हृतम् ॥ ४७६॥

[सू० १६४]-**यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥१०८॥**

यथा—

एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र,
देव ! द्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च ।
तापं च सम्मदरसं च रतिं च पुष्णन् ,
शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥ ४७७॥

यहाँ निद्रानिवृत्ति, सूर्यका उदय हो जाना, तथा सखियोंका घरपर आ जाना सब आलिंगन-परित्यागके कारण उपस्थित हैं परन्तु नायिका आलिंगनका परित्याग नहीं कर रही है। इसलिए कारणके होनेपर भी कार्यके न होनेसे विशेषोक्ति अलङ्कार है। और उसका निमित्त नहीं बतलाया गया है इसलिए यह अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्तिका उदाहरण है।

(१) जो [कामदेव] कपूरके समान भस्म हो जानेपर भी जन-जनमें शक्तिमान् हो गया है, उस अप्रत्याहत पराक्रमवाले कामदेवको नमस्कार है ॥४७५॥

यहाँ भस्म हो जाना शक्तिक्षयका कारण है। उसके विद्यमान होनेपर भी कामदेवकी शक्तिका क्षय नहीं हुआ है। यह कारणके होनेपर भी कार्यके न होनेसे विशेषोक्ति अलंकार है। परन्तु यहाँ उसका कारण या निमित्त 'अवार्यवीर्यत्व' कहा हुआ है। अतः यह उक्तनिमित्ता विशेषोक्तिका उदाहरण है। आगे अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्तिका उदाहरण है।

(२) फूलोंके अस्त्र धारण करनेवाला वह [कामदेव] अकेला ही तीनों लोकोंको पराजित कर देता है, जिसके शरीरका अपहरण करके भी शिव उसकी शक्तिका विनाश नहीं कर पाया ॥४७६॥

२१. यथासंख्य अलङ्कार—

[सूत्र १६४]—क्रमसे कहे हुए पदार्थोंका उसी क्रमसे समन्वय होनेपर यथासंख्य अलङ्कार होता है ॥१०८॥

जैसे—

हे देव ! आप अकेले ही शत्रुओं, विद्वानों तथा मृगनयनियोंके मनमें, [शत्रुओंके मनमें] शौर्यकी गरमीसे सन्तापको उत्पन्न करते हुए, [विद्वानोंके मनमें] विनयसे आनन्दरसको बढ़ाते हुए और सौन्दर्यसे मृगनयनियोंके मनमें रतिको उत्पन्न करते हुए तीन रूपोंमें रहते हैं यह आश्चर्यकी बात है ॥४७७॥

इसमें द्वितीय चरणमें क्रमसे कहे हुए 'तापं', 'सम्मदरसं' और 'रतिं' के साथ तथा तृतीय चरणमें कहे हुए 'शौर्योष्मणा', 'विनयेन' और 'लीलया' का उसी क्रमसे अन्वय होता है इसलिए यह यथासंख्य अलंकारका उदाहरण है।

[सू० १६५]-**सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥१०९॥**

साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण यत् समर्थ्यते, विशेषो वा सामान्येन सोऽर्थान्तरन्यासः । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम् ।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शंखमपि पीतम् ॥४७८॥

(२) सुसितवसनालंकारायां कदाचन कौमुदी-
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः ।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा,
प्रियगृहमगान्मुक्ताशंका क नासि शुभप्रदः ॥४७९॥

२२. अर्थान्तरन्यास अलंकार—

यह भी गम्य औपम्याश्रित सादृश्यमूलक अलङ्कार है ।

[सूत्र १६५]—सामान्य अथवा विशेषका उससे भिन्न [अर्थात् सामान्यका विशेषके द्वारा अथवा विशेषका सामान्य]के द्वारा जो समर्थन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास [अलङ्कार] साधर्म्य तथा वैधर्म्यसे [दो प्रकारका] होता है ॥१०९॥

साधर्म्य या वैधर्म्यसे, (१) सामान्यका जो विशेषसे समर्थन, अथवा (२) विशेषका जो सामान्यसे समर्थन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास [अलङ्कार २×२=४ प्रकारका] होता है । क्रमशः [उन चारों भेदोंके] उदाहरण [आगे देते हैं]—

(१) अपने ही दोषसे जिनका मन व्याप्त हो रहा है उनको अत्यन्त सुन्दर वस्तु भी [विपरीत] बुरी जान पड़ती है । पित्तसे पीडित [पाण्डु या कामला रोगसे ग्रस्त पुरुष] को चन्द्रमाके समान शुभ्र शंख भी पीला दिखलाई देता है ॥४७८॥

यहाँ अपने मनमें दोष होनेपर अच्छी बात भी बुरी मालूम होती है इस सामान्य सिद्धान्तका समर्थन पीलिया रोगके रोगीको शंख भी पीला दिखलाई देता है इस विशेष उदाहरणके द्वारा किया गया है । इसलिए यह साधर्म्यके द्वारा विशेषसे सामान्यके समर्थनका उदाहरण है ।

(२) सुन्दर शुभ्र वस्त्रों एवं आभूषणोंको धारण किये हुए किसी दिन चन्द्रमाकी चाँदनीमें सुनयना नायिका अभिसारके लिए [प्रियके गृहको] जा रही थी कि इतनेमें चन्द्रमा अस्त हो गया [और चाँदनीमें सफेद वस्त्र धारण करके नायिका अभिसारके लिए इस कारणसे निकली थी चाँदनीके प्रकाशमें सफेद वस्त्र दूरसे दिखलाई नहीं देंगे । परन्तु चन्द्रमाके अस्त हो जानेसे स्थिति एक दम उल्टी हो गयी । अब अँधेरा हो जानेसे उसके सफेद कपड़े और अधिक दूरसे दिखलाई देने लगे । इससे वह नायिका घबड़ा गयी] तभी किसीने आपकी [राजाकी] कीर्तिका गान किया [जिससे फिर चाँदनीसे भी अधिक शुभ्र प्रकाश हो गया क्योंकि कवियोंके यहाँ कीर्तिका वर्ण शुभ्र माना है] जिससे वह निश्शंक होकर [अर्थात् अब मुझे कोई नहीं देख सकेगा ऐसा निश्चय करके] प्रियके घर चली गयी । आप कहाँ कल्याणप्रद नहीं हो ॥४७९॥

(३) गुणानामेव दौरात्म्यात् धुरि धुर्यो नियुज्यते ।
असंजातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गलिः ॥४८०॥

(४) अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा यदप्रियं वाच्यमिदं मयेदृशम् ।
त एव धन्याः सुहृदः पराभवं जगत्यदृष्ट्वैव हि ये क्षयं गताः ॥४८१॥

[सू० १६६]–विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।

वस्तुवृत्तेनाविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव यदाभिधानं स विरोधः ।

यहाँ 'क्व नासि शुभप्रदः' इस सामान्यसे अभिसारिकाके उपकाररूप विशेषका समर्थन किया गया है । इसलिए यह साधर्म्य द्वारा सामान्यसे विशेषके समर्थनरूप अर्थान्तरन्यासका उदाहरण है ।

(३) गुणोंके ही दौरात्म्यके कारण [धुरं वहतीति धुर्यः] उत्तम बैल [अथवा कार्यकुशल पुरुष] सदा जुएमें जोता जाता है । दुष्ट बैलके कन्धेपर दाग भी नहीं लगता और वह आनन्दसे सोता रहता है ॥४८०॥

गुणवान् उत्तम पुरुष ही सदा कार्यमें पीसे जाते हैं इस सामान्य बातका दुष्ट बैलके उदाहरण द्वारा विशेषसे समर्थन किया गया है । इसलिए यह वैधर्म्यसे अर्थान्तरन्यास अलंकारका उदाहरण है । 'गलिः गौः' में गलि शब्दका अर्थ अनेकों टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है । "आमंजितं युगं बलात् पातयति स गलिरित्युद्योतः । धूः स्पर्शमात्रेण यः स्वयं पतति गौर्गलिनामा वृषभ इति सागरः । गलिः कुत्सितगल इति चन्द्रिका । कुत्सितो गलोऽस्यास्तीति गलिरिति सरस्वतीतीर्थः । गलिः कार्याकुशलो वृष इति माणिक्यचन्द्रः । समर्थोऽप्यधूर्वहो दुष्ट इति महेश्वरः ।"

(४) अरे मेरी लम्बी आयुने यह बड़ा अपराध किया है कि जिससे मुझे इस प्रकारका [सुहृद्विनाशका] अप्रिय [समाचार] कहना पड़ रहा है । वे ही वास्तवमें धन्य हैं जो संसारमें सुहृदयके पराभवको देखे बिना ही मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं ॥४८१॥

यहाँ सामान्यसे विशेषका वैधर्म्यसे समर्थन किया गया है इसलिए अर्थान्तरन्यास अलंकार है ।

२२. विरोधालङ्कार—

[सूत्र १६६]—वास्तवमें विरोध न होनेपर भी [विरोधकी प्रतीति करानेवाले] विरुद्ध रूपसे वर्णन करना विरोध [या विरोधाभास नामक अलङ्कार] होता है ।

वास्तवमें अविरोध होनेपर [या विरोध न होनेपर] भी जो दो विरुद्धोंका कथन करना है वह विरोध [या विरोधाभास अलङ्कार] होता है ।

पृष्ठ ७३ पर सूत्र १० में जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द तथा यदृच्छाशब्द [या द्रव्यशब्द] इन चार प्रकारके शब्दोंका वर्णन किया जा चुका है । इनमेंसे जातिका जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और द्रव्यशब्द चारोंके साथ विरोध हो सकता है । इसी प्रकार गुण तथा क्रियाशब्द एवं द्रव्यका चारोंके साथ विरोध हो सकता है । परन्तु जातिका गुणके साथ जो विरोध है वह पहिली बार जातिके गुणके साथ विरोधमें ही आ चुका है इसलिए गुणका विरोध गुणादि तीनके साथ गिनने योग्य रह जाता है । इसी प्रकार क्रियाका दोके साथ विरोध गिनने योग्य रह जाता है, शेष दोकी गणना पहिले भेदोंमें ही आ चुकी है । इसी प्रकार द्रव्यके विरोधके तीन भेदोंकी गणना पहिले आ चुकी है इसलिए उसका एक ही भेद रह जाता है । इस प्रकार जातिके चार, गुणके तीन, क्रियाके दो और द्रव्यका एक, कुल मिलाकर विरोधके ४+३+२+१ = १० दस भेद होते हैं । इन्हींको अगले सूत्रमें दिखलाते हैं—

**[सू० १६७]–जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः ॥११०॥
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।**

क्रमेणोदाहरणम्—

(१) अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयादिदवदहनराशिः ।
सुभग ! कुरंगदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगपविपाते ॥४८२॥

(२) गिरयोऽप्यनुन्नतियुजो मरुदप्यचलोऽब्धयोऽप्यगम्भीराः ।
विश्वम्भराऽप्यतिलघुर्नरनाथ ! तवान्तिके नियतम् ॥४८३॥

(३) येषां कण्ठपरिग्रहप्रणयितां संप्राप्य धाराधर-
स्तीक्ष्णः सोऽप्यनुरज्यते च कमपि स्नेहं पराप्नोति च ।
तेषां संगरसंगसक्तमनसां राज्ञां त्वया भूपते !
पांसूनां पटलैः प्रसाधनविधिर्निर्वर्त्यते कौतुकम् ॥४८४॥

[सूत्र १६७]—जातिका जाति आदि चार [जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य] के साथ विरोध हो सकता है, गुणका गुणादि [गुण, क्रिया तथा द्रव्य] तीनके साथ, क्रियाका क्रिया तथा द्रव्य [दो] के साथ और द्रव्यका [केवल] द्रव्यके साथ विरोध हो सकता है । इस प्रकार ये दस प्रकारके [विरोध या विरोधाभास अलंकार] होते हैं ।

जातिके गुणादिविरोधके चार उदाहरण—

क्रमशः उन [दसों भेदों] के उदाहरण [आगे देते हैं]—

(१) हे सुभग ! दैवात् तुम्हारे वियोगरूप वज्रके गिरनेपर उस [नायिका] के लिए नूतन कमलिनीके पत्ते और मृणालके वलय आदि [जो उसकी गरमीको शान्त करनेके लिए प्रयुक्त किये जाते हैं वे सब] दावाग्निका ढेर बन जाते हैं । ४८२ ।

इसमें नलिनीकिसलय, मृणालवलय आदि जातिशब्द हैं और दवदहन भी जातिवाचक शब्द है । इन दोनोंका विरोध है । नलिनीकिसलय या मृणालवलय कभी दहनरूप नहीं हो सकते हैं । इस प्रकार जातिका जातिके साथ विरोध है । परन्तु नलिनीकिसलयादिमें भी विरहोद्दीपकतया औपचारिक दहनत्व मानकर उस विरोधका परिहार किया जा सकता है । इसलिए यह विरोधाभासका उदाहरण है ।

जातिका गुणके साथ विरोध प्रदर्शन करनेवाला उदाहरण देते हैं—

(२) हे राजन् ! आपके सामने निश्चयसे पर्वत भी छोटे हो जाते हैं, वायु भी अचल, समुद्र भी गम्भीरतारहित और पृथिवी भी निश्चय हलकी हो जाती है ।४८३।

इसमें गिरि आदि जातिवाचक शब्दोंका जो अनुन्नतत्वादि वर्णित है उसमें जातिका गुणके साथ विरोध दिखलाया गया है । उसका अभिप्राय वर्णनीय राजाकी उन्नतिके वर्णनसे है । इसलिए उसका परिहार हो जानेसे विरोधाभास अलङ्कार है ।

(३) हे राजन् ! आपकी जो तीक्ष्ण [निष्ठुर] तलवार [धाराधरः खड्गः] है वह भी जिन [शत्रु राजाओं] के गलेका आलिंगन करके अनुरक्त [अनुरागयुक्त और दूसरी ओर खूनसे लाल] हो जाती है और किसी अपूर्व स्नेह [प्रेम तथा पक्षान्तरमें रक्तसे

(४) सृजति च जगदिदमवति च संहरति च हेलयैव यो नियतम् ।
अवसरवशतः शफरो जनार्दनः सोऽपि चित्रमिदम् ॥ ४८५॥

(५) सततं मुसलासक्ता बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते !
द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ॥४८६॥

(६) पेशलमपि खलवचनं दहतितरां मानसं सतत्त्वविदाम् ।
परुषमपि सुजनवाक्यं मलयजरसवत् प्रमोदयति ॥४८७॥

प्राप्त चिक्कणता] को प्राप्त हो जाती है । युद्धभूमिके लिए उत्सुक उन [राजाओं] को आप धूलमें मिलानेका काम करते हैं] यह आश्चर्यकी बात है ।४८४।

इसमें धाराधर अर्थात् खड्ग जातिवाचक शब्द है उसका अनुराग तथा स्नेह प्राप्तिरूप क्रियाके साथ विरोध दिखलाया गया है । परन्तु उनका रुधिरसम्पर्ककृत लौहित्य तथा चिक्कणतापरक अर्थ करनेपर विरोधका परिहार हो जाता है इसलिए यह विरोधाभासका तीसरा उदाहरण है ।

जातिका द्रव्यके साथ विरोध दिखलानेवाला चौथा उदाहरण देते हैं—

(४) जो इस जगत्को अनायास ही बनाते, रक्षा करते और बिगाड़ते हैं वे जनार्दन भी कालवश मछली [मत्स्यावतार] बन जाते हैं यह बड़े आश्चर्यकी बात है । ४८५ ।

जो जनार्दन हैं वे मछली कैसे हो कैसे हो सकते हैं यह शफरत्व जातिका जनार्दनरूप द्रव्यसे विरोध है । परन्तु भगवानकी लीलासे सब-कुछ हो सकता है इसलिए वे मत्स्यावतार भी धारण कर लेते हैं इस प्रकारकी व्याख्यासे उस विरोधका परिहार हो जाता है इसलिए यह जातिके द्रव्यके साथ विरोधाभासका उदाहरण है ।

गुणके गुणादिके साथ विरोधके तीन उदाहरण—

गुणका गुणके साथ विरोध दिखलानेवाला विरोधाभासका पाँचवाँ उदाहरण देते हैं—

(५) हे राजन ! सदैव मूसलमें लगे रहनेवाले और नाना प्रकारके घरके कामोंके करनेसे कठोर पड़े हुए हाथोंवाली ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंके हाथ आपके होनेपर कमलके समान कोमल हो रहे हैं । [अर्थात् आपने इतना दान दिया है कि अब उन्हें कोई काम नहीं करना पड़ता है इसलिए उनके हाथ कमलके समान कोमल हो गये हैं] । ४८६ ।

यहाँ कठिनत्व और सुकुमारत्व गुणोंका विरोध है । और आपके दिये हुए दानके कारण उनको अब काम नहीं करना पड़ता है इसलिए उनके हाथ सुकुमार हो गए हैं इस प्रकारकी व्याख्यासे उस विरोधका परिहार हो जाता है अतः यह विरोधाभासका पाँचवाँ उदाहरण है ।

गुणका क्रियाके साथ विरोध प्रदर्शित करनेवाला विरोधाभासका छठा उदाहरण देते हैं—

(६) दुष्ट पुरुषोंका मधुर वचन भी [उस मधुर भाषणके] रहस्यको समझनेवालोंके मनको अत्यन्त सन्तप्त करता है । और सज्जन पुरुषोंका कठोर वचन भी [उस कठोरताके रहस्यको जाननेवालोंको] चन्दनसे रसके समान आनन्दित करता है ।४८७।

यहाँ पेशलत्व गुणका दाहक्रियाके साथ और परुषत्व गुणका प्रमोदनक्रियाके साथ आपाततः विरोध प्रतीत होता है । और वक्ताओंके खलत्व तथा सुजनत्वके द्वारा उसका परिहार हो जाता है । इसलिए यह विरोधाभासका छठा उदाहरण है ।

(७) क्रौञ्चाद्रिरुद्दामदृषद्दृढोऽसौ यन्मार्गणानर्गलशातपाते ।
अभून्नवाम्भोजदलाभिजातः स भार्गवः सत्यमपूर्वसर्गः ॥४८८॥

(८) परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः,
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमोहगहनो,
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥४८९ ॥

(९) अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति,
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः ।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं,
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ॥४९०॥

गुणका द्रव्यके साथ विरोध-प्रदर्शक विरोधाभासका सातवाँ उदाहरण देते हैं—

बड़ी-बड़ी कठोर शिलाओंसे दुर्भेद्य यह क्रौञ्च नामक पर्वत भी जिस [परशुराम]के अप्रतिहत वज्रके समान तीक्ष्ण बाणोंकी दृष्टिसे नवीन कमलके पत्तेसे समान कोमल [सुभेद्य] हो गया वे भार्गव [परशुराम] सचमुच ही लोकोत्तर पुरुष हैं ।४८८।

यहाँ कोमलत्व गुणका क्रौञ्चाद्रि द्रव्यके साथ आपाततः विरोध प्रतीत होता है । परन्तु परशुरामके प्रतापसे वह सुभेद्य हो गया इस रूपसे उसका परिहार हो जाता है । अतः विरोधाभासका सातवाँ उदाहरण है । परशुराम द्वारा क्रौञ्चाद्रिके भेदनकी कथा पुराण-प्रसिद्ध है ।

क्रियाके क्रियादि दोके साथ विरोधके दो उदाहरण—

जातिके जात्यादि चारके साथ, और गुणादिके गुणादि तीनके साथ विरोधके प्रदर्शक विरोधाभासके ४ + ३ = ७ सात उदाहरण अबतक दे चुके हैं । अब क्रियाके क्रिया और द्रव्य दोके साथ विरोधके दो उदाहरण आगे देते हैं—

(८) पृष्ठ १८३, श्लोक सं० १०७ पर इस श्लोकका अर्थ देखो ॥४८९॥

इसमें 'जडयति च तापं च कुरुते' इन दोनों क्रियाओंका विरोध है । परन्तु विरहके वैचित्र्यसे, कालभेदसे उसका विरह कभी सन्तापदायक होता है और कभी उसकी स्मृति आनन्ददायक हो उठती है । इस प्रकार विरोधका परिहार हो जानेसे यह विरोधाभासका आठवाँ उदाहरण है ।

क्रियाका द्रव्यके साथ विरोध-प्रदर्शक नवम उदाहरण देते हैं—

(९) यह [समुद्र] जलका एक [अपूर्व या] मुख्य आगार है और रत्नोंका आकर है ऐसा समझकर तृष्णासे व्याकुलमन होकर हमने इसका आश्रय लिया था । पर यह किसको मालूम था कि अपने हाथकी अंजलिके कोनेमें समाये हुए और बड़े-बड़े मगर-मच्छ जिसमें तड़फड़ा रहे हैं ऐसे इस [समुद्र] को [अगस्त्य] मुनि तनिक देरमें ही सोख जावेंगे ।४९०।

यहाँ अगस्त्य मुनिके द्वारा समुद्रका पी जाना आपाततः असम्भव होनेसे पानक्रियाका अगस्त्य तथा समुद्ररूप दोनों द्रव्योंके साथ विरोध प्रतीत होता है । अतः यह विरोधाभासका नौवाँ उदाहरण है ।

(१०) समदमतंगजमदजलनिस्यन्दतरङ्गिणीपरिष्वङ्गात् ।
क्षितितिलक ! त्वयि तटजुषि शंकरचूडापगाऽपि कालिन्दी ॥४९१॥

[सू० १६८]-**स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥१११॥**

स्वयोस्तदेकाश्रययोः । रूपं वर्णः संस्थानं च । उदाहरणम्—

पश्चादंघ्री प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्राघयित्वाऽङ्गमुच्चै-
रासज्याभुग्नकण्ठो मुखमुरसि सटां धूलिधूम्रां विधूय ।
घासग्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोथतुण्डस्तुरङ्गो,
मन्दं शब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थितः क्ष्मां खुरेण ॥४९२॥

[सू० १६९]-**व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दास्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।**

व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुतिः ।

द्रव्यका द्रव्यके साथ विरोधका एक उदाहरण—

(१०) हे राजन् ! आपके किनारेपर उपस्थित होनेपर [अर्थात् गंगानदीके किनारे आपकी सेनाका पड़ाव होनेसे आपकी सेनाके] मदयुक्त हाथियोंके मद-जलके प्रवाहसे उत्पन्न [मदधाराकी कृष्णवर्ण] नदीके [धारामें] मिल जानेसे [शिवजीके मस्तकपर रहनेवाली] गंगा नदी भी [जलके कृष्णवर्ण हो जानेसे] यमुना बन गयी है ।४९१।

यहाँ गङ्गा और यमुना नदी-रूप द्रव्योंका परस्पर विरोध है । जो गङ्गा है वह यमुना नहीं हो सकती है । परन्तु उस विरोधका परिहार हो जाता है । विरोधाभासका दसवाँ उदाहरण है ।

२४. स्वभावोक्ति अलङ्कार—

[सू० १६८]—बालक आदिकी अपनी [स्वाभाविक] क्रिया अथवा रूप [अर्थात् वर्ण एवं अवयवसंस्थान] का वर्णन स्वभावोक्ति [अलंकार कहलाता] है ।१११।

केवल अपनेमें [अर्थात् बालक आदिमें] रहनेवाले [क्रिया या रूपका वर्णन] । रूप [शब्दसे यहाँ] रंग और संस्थान [अर्थात् अवयवोंकी बनावट दोनोंका ग्रहण करना चाहिये] । [बाणभट्टकृत हर्षचरितके तृतीय उच्छ्वासमें स्वभावोक्तिका] उदाहरण [जैसे]-

पीछेकी दोनों टाँगें फैलाकर त्रिक् [रीढ़की हड्डीके अन्तिम छोर] को झुकानेसे लम्बे शरीरको यथासम्भव ऊपरकी ओर उठाते हुए, गर्दनको झुकाये हुए मुखको छातीमें लगाकर और धूलिधूसरित अयालोंको हिलाकर घासका ग्रास लेनेकी इच्छासे जिसका होठ तथा मुख निरन्तर चल रहा है इस प्रकारका । सोकर उठा और धीरे-धीरे हिनहिनाता हुआ घोड़ा खुरोंसे भूमि खोद रहा है ।४९२।

सोकर उठे हुए घोड़ेकी स्वाभाविक क्रियादिका वर्णन होनेसे इसमें स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।

२५. व्याजस्तुति अलङ्कार—

[सू० १६९]—प्रारम्भमें [देखनेमें] निन्दा अथवा स्तुति मालूम होती हो परन्तु उससे भिन्न [अर्थात् आपाततः दीखनेवाली निन्दाका स्तुतिमें अथवा स्तुतिका निन्दा] में पर्यवसान होनेपर व्याजस्तुति [अलंकार] होता है ।

[व्याजस्तुति पदका अर्थ दो प्रकारसे हो सकता है, उसको दिखलाते हैं] व्याजरूपा

क्रमेणोदाहरणम्—

(१) हित्वा त्वामुपरोधवन्ध्यमनसां मन्ये न मौलिः परः,
लज्जावर्जनमन्तरेण न रमामन्यत्र संदृश्यते ।
यस्त्यागं तनुतेतरां मुखशतैरेत्याश्रितायाः श्रियः,
प्राप्य त्यागकृतावमानमपि त्वय्येव यस्याः स्थितिः ॥४९३॥

(२) हे हेलाजितबोधिसत्त्व ! वचसां किं विस्तरैस्तोयधे !
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः ।
तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो–
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहाय्यकं यन्मरोः ॥४९४॥

[सू० १७०]–**सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥११२॥**

एकार्थाभिधायकमपि सहार्थबलात् यत् उभयस्याप्यवगमकं सा सहोक्तिः । यथा—

स्तुति [अर्थात् जहाँ देखनेमें निन्दा प्रतीत हो पर वास्तवमें स्तुति हो वह व्याजरूपा स्तुति होनेसे व्याजस्तुति कहलाती है। और जहाँ देखनेमें स्तुति प्रतीत हो परन्तु वास्तवमें निन्दा हो वहाँ] व्याजेन स्तुति [इस अर्थसे व्याजस्तुति कहलाती है] ।

क्रमसे [दोनों प्रकारसे] उदाहरण [देते हैं]—

(१) हे राजन् ! मैं समझता हूँ कि आपसे बढ़कर आश्रित जनोंकी प्रार्थनाका अनादर करने [उपरोधः अनुरोधः आश्रित जनोंकी प्रार्थना, लक्षणासे उसकी स्वीकृतिसे वन्ध्य अर्थात् शून्य है मन जिनका, उसको स्वीकार न करने] वाला दूसरा कोई [निष्ठुर पुरुष] नहीं है और लक्ष्मीसे अधिक निर्लज्ज भी दुनियामें अन्यत्र कोई दिखलाई नहीं देता है। जो सैकड़ों मार्गोंसे आकर [तुम्हारे पास] आश्रय लेनेवाली लक्ष्मीका त्याग कर देता है। और त्याग से उत्पन्न अपमानको सहकर भी जो तुम्हारे पास ही बनी रहती है [ऐसी लक्ष्मीसे बढ़कर निर्लज्ज दूसरा कोई नहीं है] ।४९३।

इसमें प्रारम्भमें राजाकी निन्दा प्रतीत होती है परन्तु उसका पर्यवसान स्तुतिमें होता है इसलिए यह व्याजस्तुतिका उदाहरण है।

(२) अनायास ही बोधिसत्त्व [परोपकारी बुद्ध भगवान्] को भी जीत लानेवाले हे समुद्रदेव ! आपसे बढ़कर परोपकारका व्रत लेनेवाला कोई दूसरा नहीं दीखता है। जो आप प्यासे पथिक जनोंका [जलदान द्वारा होनेवाले] उपकार करनेमें विमुखताके कारण बदनाम हुए मरुदेश [रेगिस्तान] के [उस अपयशके] भारको उठानेमें हाथ बँटाते हो। [अर्थात् जैसे मरुभूमिमें प्यासे आदमीको पानी नहीं मिलता है ऐसे ही तुम्हारे पास भी प्यासेकी प्यास बुझानेकी सामर्थ्य नहीं है] ।४९४।

इसमें प्रारम्भमें समुद्रकी स्तुति जान पड़ती है परन्तु उसका पर्यवसान निन्दामें होता है। यह द्वितीय प्रकारकी व्याजस्तुतिका उदाहरण है।

२६. सहोक्ति अलङ्कार—

[सू० १७०]—जहाँ सह [शब्दके] अर्थके सामर्थ्यसे एक पद दोका वाचक [दो पदोंसे सम्बद्ध] हो वह सहोक्ति कहलाती है ॥११२॥

सह दिअहणिसाहिं दीहरा सामदण्डा सह मणिवलयेहिं बाप्पधारा गलन्ति ।
तुह सुहअ विओए तीअ उव्विग्गिरीए सह अतणुलदाए दुब्वला जीविदासा॥४९५॥
[सह दिवसनिशाभिः दीर्घाः श्वासदण्डा; सह मणिवलयैर्बाष्पधारा गलन्ति ।
तव सुभग ! वियोगे तस्या उद्विग्नायाः, सह च तनुलतया दुर्बला जीविताशा ॥
इति संस्कृतम्]

श्वासदण्डादिगतं दीर्घत्वादि शाब्दम् ।
दिवसनिशादिगतं तु सहार्थसामर्थ्यात् प्रतीयते ।

[सू० १७१]-**विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ।**

क्वचिदशोभनः क्वचिच्छोभनः । क्रमेणोदाहरणम्—

एकार्थवाचक होनेपर भी जो सहार्थके सामर्थ्यसे दोनोंका बोधक होता है वह सहोक्ति [का स्थल होता] है ।

जहाँ जिन वस्तुओंका सहभाव वर्णित होता है उनमेंसे एक प्रधान और दूसरा अप्रधान होता है । और 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार अप्रधानमें तृतीया तथा प्रधानमें प्रथमा विभक्तिका प्रयोग होता है । जैसे 'पुत्रेण सह आगतः पिता' । इसमें पिता प्रधान और पुत्र अप्रधान है । इसलिए 'पुत्रेण'में तृतीया तथा 'पिता'में प्रथमा विभक्तिका प्रयोग होता है । यह 'पिता' ही 'आगतः' क्रियाका कर्ता होता है । 'आगतः' क्रियाका 'पिता' पदके साथ ही साक्षात् अन्वय हो सकता है, 'पुत्रेण' पदके साथ नहीं । इसलिए 'आगतः' पद एकार्थसम्बद्ध एकार्थाभिधायी है । परन्तु 'सह' पदके सामर्थ्यसे पुत्र शब्दके साथ उसका गौण रूपमें सम्बन्ध होता है । इसलिए वह द्विवाचक हो जाता है । इस प्रकार 'सह' शब्दके प्रयोगसे जहाँ काव्योचित विशेष चमत्कार आ जाता है वहाँ सहोक्ति अलङ्कार होता है । सहोक्तिका उदाहरण देते हैं—

हे सुभग ! तुम्हारे वियोगमें व्याकुल हुई उस [नायिका] के रात और दिनके साथ-साथ श्वास दण्ड बढ़ते जा रहे हैं [श्वासके अतिदीर्घ और प्रचुर होनेसे 'श्वास-दण्डाः' कहा है । वियोगमें दुबली हो जानेके कारण हाथके कड़े अपने-आप निकलकर गिर पड़ते हैं और उन] मणिवलयोंके साथ आँसुओंकी धारा गिरने लगती है । और उसकी कोमल देहलताके साथ जीवनकी आशा क्षीण होती जा रही है ॥४९५॥

[इसमें 'श्वासदण्डाः' जो प्रथमान्त पद हैं उनके प्रधान होनेके कारण उनके साथ] दीर्घत्वादि [का] शाब्द [साक्षात् सम्बन्ध] हैं । दिवस-निशा आदि [जो तृतीयान्त पद हैं उनके अप्रधान होनेसे उनके] के साथ सहार्थके बलसे [अर्थतः] प्रतीत होता है ।

२७. विनोक्ति अलङ्कार—

[सू० १७१]—जहाँ दूसरेके बिना दूसरा अर्थ सुन्दर न हो [सन्न स्यात्] अथवा [नेतरः] असुन्दर न हो [किन्तु शोभन हो वह दो प्रकारकी विनोक्ति होती है] ।

[अर्थात्] कहीं अशोभन [सत् न स्यात्] और कहीं [इतरः अशोभनः न किन्तु] शोभन हो । क्रमसे [दोनों प्रकारकी विनोक्तिके] उदाहरण [देते हैं]—

(१) अरुचिर्निशया विना शशी शशिना सापि विना महत्तमः ।
उभयेन विना मनोभवस्फुरितं नैव चकास्ति कामिनोः ॥४९६॥

(२) मृगलोचनया विना विचित्रव्यवहारप्रतिभाप्रगल्भः ।
अमृतद्युतिसुन्दराशयोऽयं सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसूनुः ॥ ४९७॥

[सू० १७२]–परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात् समासमैः ॥११३॥

परिवृत्तिरलङ्कारः । उदाहरणम्—

(१) लतानामेतासामुदितकुसुमानां मरुदयं,
मतं लास्यं दत्त्वा श्रयति भृशमामोदमसमम् ।
लतास्त्वद्ध्वन्यानामहह दृशमादाय सहसा,
ददत्याधिव्याधिभ्रमिरुदितमोहव्यतिकरम् ॥४९८॥

---

(१) रात्रिके विना [दिनमें] चन्द्रमा कान्तिहीन हो जाता है और चन्द्रमाके विना वह [रात्रि] भी अत्यन्त अन्धकारमयी रहती है । [उन निशा तथा शशि] दोनोंके विना कामियोंके कामका विलास शोभित नहीं होता है ॥४९६॥

यहाँ रात्रिके विना चन्द्रमा और चन्द्रमाके विना रात्रिकी अशोभनीयताका वर्णन किया गया है यह पहिली विनोक्तिका उदाहरण है । दूसरी विनोक्तिका उदाहरण आगे देते हैं—

(२) यह राजपुत्र मृगलोचना [के चक्करमें सब भूल जाता है । परन्तु] उसके न होनेपर नाना प्रकारके व्यवहारकी प्रतिभासे युक्त हो जाता है । [इसी प्रकार किसी दुष्ट मित्रके साथ महा दुष्ट बन जाता है परन्तु] उस [दुष्ट] मित्रके न होनेपर चन्द्रमाके समय शुद्ध हृदय हो जाता है ॥४९७॥

इस श्लोकमें मृगलोचना तथा दुष्ट मित्रके न होनेपर राजपुत्रकी शोभनताका वर्णन किया है इसलिए यह दूसरे प्रकारकी विनोक्तिका उदाहरण है ।

२८. परिवृत्ति अलङ्कार—

[सूत्र १७२]—पदार्थोंका समान अथवा असमान [उत्तम अथवा हीन पदार्थों] के साथ जो परिवर्तन [का वर्णन] है वह परिवृत्ति [अलंकार कहलाता] है ॥११३॥

कारिकामें 'परिवृत्ति' तथा 'विनिमय' दोनों पर्यायवाचक शब्दोंका एक साथ प्रयोग किया गया है । इसलिए पुनरुक्ति-सी प्रतीत होती है । उसके निवारणके लिए, अथवा इन दोनोंमें कौन-सा लक्ष्यपद है और कौन-सा लक्षणपद है इस शंकाका निवारण करनेके लिए 'परिवृत्तिरलङ्कारः' यह लिखा गया है । अर्थात् यहाँ 'परिवृत्ति' यही लक्ष्य पद है शेष 'विनिमयः' पद उसका लक्षण है ।

परिवृत्ति अलंकार है । [परिवृत्ति-का] उदाहरण [जैसे]—

यह वायु फूलोंसे लदी लताओंको उनका प्रिय नर्तन [लास्य] देकर उनके अनुपम सुगन्धको जीभर कर [भृशं अत्यर्थं] ले रहा है । और लताएँ तो [विरही] पथिकोंकी दृष्टिको सहसा लेकर उनको मानसी वेदना [आधिस्तु मानसी व्यथा] शारीरिक रोग, चक्कर आना, रोदन, और मोहका सम्पर्क प्रदान करती हैं ॥४९८॥

अत्र प्रथमेऽर्धे समेन समस्य द्वितीये उत्तमेन न्यूनस्य ।

(१) नानाविधप्रहरणैर्नृप ! संप्रहारे स्वीकृत्य दारुणनिनादवतः प्रहारान् ।
दृप्तारिवीरविसरेण वसुन्धरेयं निर्विप्रलम्भपरिरम्भविधिर्वितीर्णा ॥४९९॥

अत्र न्यूनेनोत्तमस्य ॥

[सू० १६३]-प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः ।
तद्भाविकम् ।

भूताश्च भाविनश्चेति द्वन्द्वः । भावः कवेरभिप्रायोऽत्रास्तीति भाविकम् ।

उदाहरणम्—

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।
भाविभूषणसंभारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥५००॥

आद्ये भूतस्य, द्वितीये भाविनो दर्शनम् ।

यहाँ पूर्वार्द्धमें समसे समका, और उत्तरार्द्धमें उत्तमसे न्यूनका [विनिमय] है ।

पूर्वार्द्धमें लास्य लताओंको प्रिय होनेसे उपादेय है और आमोद वायुको प्रिय होनेसे उपादेय है । इसलिए समसे समका विनिमय है । उत्तरार्द्धमें दृष्टि उत्तम और प्रिय है उससे आधि-व्याधिका विनिमय किया है जो यह उत्तमसे हीनके विनिमयका उदाहरण है ।

हे राजन् ! बलगर्वित शत्रु समुदायने युद्धमें भयंकर गर्जन करनेवाले तुम्हारे नाना प्रकारके शस्त्रोंसे [किये गये] प्रहारोंको स्वीकार कर वियोगरहित चिर आलिंगन करनेवाली यह वसुन्धरा तुमको प्रदान की है ॥४९९॥

इसमें न्यून [प्रहारों] से उत्तम [वसुन्धरा] का [विनिमय किया गया है] ।

२९. भाविक अलङ्कार—

[सू० १६३]—अतीत और अनागत पदार्थ जब [भावनावश कविके द्वारा] प्रत्यक्ष-से कराये जाते हैं उसको भाविक [नामक अलंकार] कहते हैं ।

भूत और भावी यह द्वन्द्व समास है । [भूताश्च ते भाविनः इस प्रकारका कर्मधारय समास ही] । भाव अर्थात् कविका [अतीत अनागतको भी प्रत्यक्षवद् दिखलानेका] अभिप्राय यहाँ [रहता] है इसलिए भाविक [कहते हैं] । उदाहरण [जैसे]—

[हे प्रिये] इनमें अंजन लगा हुआ था इस प्रकारके तुम्हारे नेत्रोंको देख रहा हूँ । और आगे होनेवाले आभूषणोंसे अलंकृत तुम्हारी [अनागत] आकृतिको [भावनावश] साक्षात् देख रहा हूँ ॥५००॥

पूर्वार्द्धमें अतीत का और उत्तरार्द्धमें अनागतका दर्शन है ।

[सू० १७४]-**काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥११४॥**

(१) वाक्यार्थता यथा—

वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा,
पुरारे ! न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान् ।
नमन्मुक्तः सम्प्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक्,
महेश ! क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि ॥५०१॥

(२) अनेकपदार्थता यथा—

प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै-
र्ललित शिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत् ।
वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः,
पततु शिरस्यकाण्ड यम दण्ड इवैष भुजः ॥५०२॥

---

३०. काव्यलिङ्ग अलङ्कार—

[सू० १७४]—हेतुका वाक्यार्थ अथवा पदार्थ [एक पदार्थ अथवा अनेक पदार्थ] रूपमें कथन करना काव्यलिंग [अलंकार] होता है ॥११४॥

[हेतुकी] वाक्यार्थता [होनेपर काव्यलिङ्गका प्रथम उदाहरण] जैसे—

(१) हे शिवजी महाराज ! इस शरीरके उत्पन्न होनेसे, यह अनुमान होता है कि पूर्वजन्ममें मैंने आपको प्रायः कभी नमस्कार नहीं किया। अब इस जन्ममें नमस्कार करता हुआ मैं मुक्त हो जाऊँगा इसलिए शरीर न रहनेसे आगे भी आपको नमस्कार नहीं कर सकूँगा। सो मेरे इन दोनों अपराधोंको क्षमा करना ॥५०१॥

इसमें 'पुरा जन्मनि भवन्तं न प्रणतवान्' और 'अग्रेऽप्यनतिभाक्' इन वाक्योंका अर्थ अपराधद्वयका हेतु है। यद्यपि अनमन स्वयं अपराधस्वरूप है इसलिए उनमें साधारणतः हेतु-हेतुमद्भाव नहीं है परन्तु अनमनको हेतु और उससे उत्पन्न दुरित या अदृष्टको हेतुमान् कहा जा सकता है। इस प्रकार यह हेतुके वाक्यार्थ रूप होनेपर काव्यलिंग अलङ्कारका उदाहरण है।

अनेक-पदार्थरूप [हेतुके] होनेपर [काव्यलिङ्गका दूसरा उदाहरण है]—

(२) [मालतीमाधव नाटकके पञ्चमाङ्कमें मालतीके वधके लिए उद्यत अघोरघण्टके प्रति माधव कह रहा है कि]—प्रेम करनेवाली सखियोंके द्वारा परिहास रसमें पाये हुए कोमल शिरीष पुष्पकी चोटसे भी जो व्याकुल हो जाती है उस [मालती] के शरीरपर [उसके] मारनेके लिए शस्त्र उठानेवाले तेरे शिरपर यमदण्डके समान अचानक [मेरा] यह हाथ पड़ता है ॥५०२॥

यहाँ 'वपुषि शस्त्रमुपक्षिपतः' ये अनेक पद भुजपातके हेतु हैं। इनमें मुख्य क्रियाका अभाव होनेसे यह पद समुदाय वाक्य नहीं बन पाया है। और एक पद भी नहीं है। इसलिए इसको अनेक पद या खण्ड-वाक्य कहा जा सकता है। इसी खण्ड-वाक्यके लिए यहाँ 'अनेक-पदार्थ' शब्दका प्रयोग किया गया है। हेतुकी वाक्यरूपताका उदाहरण पहिले [श्लो० ५०१] दिया था। यह अनेक-पदार्थरूप हेतुका उदाहरण है। काव्यलिंगका कुल तीसरा उदाहरण आगे देते हैं।

एकपदार्थता यथा—

(३)　भस्मोद्धूलन ! भद्रमस्तु भवते, रुद्राक्षमाले ! शुभं,
हा ! सोपानपरम्परां गिरिसुताकान्तालयालङ्कृतिम् ।
अद्याराधन तोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखा-
लोकोच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे निधीयामहे ।।५०३।।

एषु अपराधद्वये पूर्वापरजन्मनोरनमनं, भुजपाते शस्त्राक्षेपः, महामोहे सुखालोकोच्छिदत्वं च यथा-क्रमयुक्तरूपो हेतुः ।

उदाहरणम्—

यं प्रेक्ष्य चिररूढाऽपि निवासप्रीतिरुज्झिता ।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः ।।५०४।।

अत्रैरावणशक्रौ मदमानमुक्तौ जाताविति व्यङ्ग्यमपि । शब्देनोच्यते तेन यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम् । यथा तु व्यङ्ग्यं न, तथोच्यते ।

[हेतुके] एक पदार्थरूप होनेपर [काव्यलिंगका तीसरा उदाहरण] जैसे—

(३) हे भस्मलेपन ! तुम्हारा कल्याण हो, हे रुद्राक्षकी माला ! तुम सुखी रहो। हाय शिवालयकी, अलङ्कारभूत सीढ़ियो ! [आज तुम भी मुझसे सदाके लिए छूटी जा रही हो क्योंकि] आराधनासे प्रसन्न हुए शिवजी आज हमको तुम्हारी सेवा सुखके प्रकाशको नष्ट कर देनेवाले मोक्ष नामक महान्धकारमें डाल रहे हैं [इसलिए हम आप सबसे विदा माँग रहे हैं । यह किसी शिवभक्तकी उक्ति है] ॥५०३॥

[काव्यलिङ्गके] इन [तीनों उदाहरणों] मेंसे [प्रथम श्लोकमें] पूर्वजन्म तथा अगले जन्ममें नमस्कार न करना, अपराधद्वयमें [हेतु है । दूसरे श्लोकमें] शस्त्र उठाना भुजपातमें [हेतु है । तीसरे श्लोकमें] उसके प्रकाशका नाशकत्व महामोहमें [हेतु है । इसलिए इन तीनों उदाहरणोंमें] क्रमानुसार उस-उसकारका [१ वाक्यार्थरूप, २ अनेक पदार्थरूप और ३ एकपदार्थरूप] हेतु हैं । [इसलिए काव्यलिंग अलंकार है] ।

३१. पर्यायोक्त अलङ्कार—

[सूत्र १७५] वाच्य-वाचकभावके बिना [व्यंजनारूप व्यापारके द्वारा प्रकारान्तर-से] जो [वाच्यार्थका] कथन करना वह पर्यायोक्त [अलंकार कहलाता] है ।

वाच्य-वाचकभावसे भिन्न [व्यंजनारूप] बोधन व्यापारके द्वारा जो [वाच्यार्थका] प्रतिपादन करना है वह 'पर्यायसे' अर्थात् प्रकारान्तरसे कथन करनेके कारण पर्यायोक्त [अलंकार कहलाता] है । उदाहरण [जैसे]—

जिस [हयग्रीव] को देखकर मदने ऐरावतके मुखपर और मानने [हरि] इन्द्रके हृदयमें निवास करनेकी चिरकालसे जमी हुई प्रीति भी छोड़ दी ।५०४।

यहाँ ऐरावत और शक्र [क्रमशः] मद तथा मानसे मुक्त हो गये [ऐरावतका मद और इन्द्रका अभिमान नष्ट हो गया] यह व्यङ्ग्य अर्थ भी [मदने ऐरावतके मुखमें और

यथा गवि शुक्ले चलति दृष्टे 'गौः शुक्लश्चलति' इति विकल्पः यदेव दृष्टं तदेव विकल्पयति न तु यथादृष्टं तथा। यतोऽभिन्नासंसृष्टत्वेन दृष्टं भेदासंसर्गाभ्यां विकल्पयति।

अभिमानने इन्द्रके हृदयमें निवासके पुराने प्रेमको छोड़ दिया है, इस प्रकार प्रकारान्तरसे] शब्दके द्वारा [वाच्य रूपसे] कहा जा रहा है। इसलिए जो [यहाँ शब्दके द्वारा वाच्य रूपसे] कहा जा रहा है वही व्यङ्ग्य है। [किन्तु अन्तर इतना है कि] जिस रूपमें व्यङ्ग्य है उस रूपमें नहीं कहा जा रहा है [अर्थात् व्यङ्ग्यसे भिन्न रूपमें कहा जा रहा है। क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि ऐरावतका मद और इन्द्रका अभिमान नष्ट हो गया, वे दोनों मद और मानसे मुक्त हो गये। परन्तु वाच्यार्थका रूप उससे भिन्न यह है कि मदने ऐरावतके मुखमें रहनेका और मानने इन्द्रके हृदयमें रहनेका पुराना प्रेम छोड़ दिया]।

यहाँ यह शंका होती है कि वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों भिन्न प्रकारके अर्थ हैं। जो वाच्य है वह व्यङ्ग्य नहीं हो सकता हैं और जो व्यङ्ग्य है वह वाच्य नहीं हो सकता है। आप एक ही श्लोकमें एक ही अर्थको वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों बतला रहे हैं यह बात युक्तिसंगत नहीं है। इस शंकाका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकार निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञानका उदाहरण देते हैं। जिस प्रकार वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ विपरीत प्रतीत होते हैं उसी प्रकार निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान भी विपरीत प्रतीत होते हैं। जो सविकल्पक है वह निर्विकल्पक नहीं और जो निर्विकल्पक है वह सविकल्पक नहीं होता। फिर एक ही विषय, सविकल्पक तथा निर्विकल्पक रूपमें प्रकारभेदसे अनुभूत होता है। दोनोंका विषय एक ही होता है परन्तु प्रकारमें भेद होता है। एक ही घटका सविकल्पक ज्ञान भी विषय होता है और निर्विकल्पक ज्ञान भी। इसलिए जो निर्विकल्पक ज्ञानसे गृहीत होता है वही सविकल्पक ज्ञानसे भी गृहीत होता है। किन्तु जिस रूपमें निर्विकल्पक ज्ञानसे गृहीत होता है उस रूपसे सविकल्पक ज्ञानमें गृहीत नहीं होता। दोनोंका विषय एक होते हुए भी प्रकारमें भेद होता है। इसी प्रकार यहाँ जो अर्थ शब्द द्वारा वाच्यरूपसे कहा जा रहा है वही प्रकारान्तरसे व्यङ्ग्य रूपसे कहा जा सकता है। इसी बातको अगली पंक्तियोंमें ग्रन्थकारने इस प्रकार लिखा है—

जैसे चलती हुई सफेद गायको देखकर [अर्थात् गायका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान होनेके बाद] 'सफेद गाय चल रही है' इस प्रकारका सविकल्पक ज्ञान होता है। जिस [वस्तु] को [निर्विकल्पक रूपमें] देखा उसीका सविकल्पक होता है। किन्तु जिस रूपमें [निर्विकल्पक ज्ञानकालमें] देखा उस रूपमें [सविकल्पक ज्ञान] नहीं होता। क्योंकि [निर्विकल्प ज्ञानकालमें बौद्धमतमें] भेद [अतद्व्यावृत्ति] रहित और अन्य दर्शनोंके मतमें विशेष्यविशेषणभाव या नामजात्यादिरूप] संसर्ग-रहित रूपमें [वस्तु निर्विकल्पक ज्ञानकालमें] देखा जाता है और [बौद्धमतमें] भेद [तद्व्यावृत्ति] तथा [अन्य मतोंमें नामजात्यादिके] संसर्गसे युक्त रूपमें सविकल्पक ज्ञानका विषय होती है [इसलिए एक ही वस्तुके वाच्य और प्रकारान्तरसे व्यङ्ग्य होनेमें कोई आपत्तिकी बात नहीं है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है]।

इस पंक्तिमें थोड़ी-सी दार्शनिक सिद्धान्तोंकी झलक आ गयी है। उन सिद्धान्तोंके ज्ञानके बिना इस पंक्तिके अभिप्रायको समझ सकना सम्भव नहीं है इसलिए उन सिद्धान्तोंका थोड़ा-सा परिचय यहाँ करा देना आवश्यक है।

न्यायादि दर्शनोंमें प्रत्यक्ष-ज्ञानके दो भेद माने गये हैं एक 'निर्विकल्पक ज्ञान' और दूसरा 'सविकल्पक ज्ञान'। चक्षुका घट आदि पदार्थोंके साथ सम्बन्ध होनेपर उनका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। प्रथम क्षणमें प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्पक होता है और बादको वह सविकल्पक ज्ञानके रूपमें परिणत हो जाता है। 'नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि ज्ञानं निर्विकल्पकम्' यह 'निर्विकल्पक-ज्ञान' का लक्षण है। अर्थात् जिस ज्ञानमें वस्तुके नाम जाति, विशेषण आदिका भान न होकर केवल वस्तुके स्वरूपमात्रकी प्रतीति होती है उसको निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। यद्यपि प्रत्येक वस्तुके ज्ञान होते ही उसके नाम-जाति आदिकी प्रतीति हो जाती है इसलिए सामान्य रूपसे हमारा प्रत्येक ज्ञान 'सवि-कल्पक-ज्ञान'के रूपमें ही अनुभवमें आता है। परन्तु वास्तवमें प्रथम क्षणमें वह नाम-जात्यादिके संसर्गसे रहित ही होता है। इस प्रकारके 'निर्विकल्पक' ज्ञानके समझानेके लिए बालकके ज्ञानको उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है। बालकके सामने एक घड़ी रख दी जाय तो बालकको उस घड़ीका ज्ञान उसी प्रकारका होगा जिस प्रकारका हमको होता है। घड़ीकी गोल आकृति, सफेद डायल-पर बने हुए अंक, उसकी सुइयाँ आदि जैसी हमको दिखलाई देती हैं उसी प्रकारकी बालकको भी दिखलाई देती हैं। हमारे और उसके ज्ञानमें जहाँतक वस्तुके स्वरूपज्ञानका सम्बन्ध है कोई अन्तर नहीं होता है। भेद केवल इतना है कि हम वस्तुके नामादिको जानते हैं इसलिए वस्तुको देखते ही हमें उसके नामजात्यादिका स्मरण हो आता है इसलिए हमारा ज्ञान अगले क्षणमें 'सविकल्पक' बन जाता है। परन्तु बालकको घड़ीके नाम-जाति आदि धर्मोंका ज्ञान नहीं है इसलिए उसका ज्ञान 'नामजात्यादियोजनाहीन' और 'वस्तुमात्रावगाही' ही रहता है। इसीको 'निर्विकल्पक' ज्ञान कहते हैं। इसलिए 'निर्विकल्पक' ज्ञानके समझानेके लिए बालकके ज्ञानको ही उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया जाता है। 'बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्'।

निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञानके इन लक्षणोंको समझ लेनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ही विषयका पहिले 'निर्विकल्पक' ज्ञान होता है और फिर उसीका सविकल्पक ज्ञान होता है। अर्थात् इन दोनों ज्ञानोंका विषय एक ही होता है परन्तु प्रकारका भेद होता है। जो घट आदि 'निर्विकल्पक'में देखते हैं वही 'सविकल्पक'का भी विषय होता है। परन्तु जिस रूपमें 'निर्विकल्पक' में देखते हैं उस रूपमें 'सविकल्पक'में नहीं देखते हैं। 'निर्विकल्पक'में नामजात्यादिके संसर्गसे रहित वस्तुका भान होता है परन्तु 'सविकल्पक'में नामजात्यादिका संसर्ग भासता है। इसी बातको ग्रन्थकारने "यदेव दृष्टं तदेव विकल्पयति न तु यथा दृष्टं तथा" इस पंक्तिसे कहा है।

'निर्विकल्पक' और 'सविकल्पक' ज्ञानके जो लक्षण ऊपर किये हैं उनके अनुसार 'निर्विकल्पक' ज्ञान 'नामजात्यादिकी योजनासे रहित' तथा 'सविकल्पक' ज्ञान 'नामजात्यादिकी योजनाके सहित' होता है। 'निर्विकल्पक' ज्ञान नामजात्यादिके संसर्गसे रहित होता है इसलिए 'असंसृष्टविषयक' होता और 'सविकल्पक' ज्ञान 'संसर्गविषयक' होता है। यह सामान्य सिद्धान्त है। परन्तु बौद्ध दार्शनिकोंका सिद्धान्त इससे भिन्न है। बौद्ध दर्शन क्षणभंगवादी दर्शन है। उसके मतमें सभी पदार्थ क्षणिक हैं। कोई भी पदार्थ दो क्षण टिकनेवाला नहीं है। इसलिए नित्य पदार्थकी कल्पना तो उनके मतमें सम्भव ही नहीं है। इसलिए बौद्ध लोग जातिको नहीं मानते हैं। नैयायिकके मतमें जाति नित्य पदार्थ है। वही 'सविकल्पक' ज्ञानका विषय होती है। परन्तु बौद्ध, नित्य पदार्थको नहीं मानता है इसलिए उसके मतमें जाति 'सविकल्पक' ज्ञानका विषय नहीं है। बौद्धोंने उसके स्थानपर 'अपोह' पदार्थको माना है। 'अपोह'का अर्थ है 'अतद्व्यावृत्ति'। 'अतद्व्यावृत्ति'का अर्थ है 'तद्भिन्न-भिन्नत्व'। नैयायिक मतमें घटके 'सविकल्पक' ज्ञानमें घटत्व जातिका ज्ञान होता है। और घटशब्दका संकेतग्रह भी जातिमें ही

[सू० १७६]-**उदात्तं वस्तुनः सम्पत् ।**

सम्पत् समृद्धियोगः यथा—

> मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः,
> प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालांघ्रिलाक्षारुणाः ।
> दूराद्दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुकाः,
> यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम् ॥५०५॥

[सू० १७७]-**महतां चोपलक्षणम् ॥११५॥**

उपलक्षणमङ्गभावः अर्थादुपलक्षणीयेऽर्थे । उदाहरणम्—

होता है । अर्थात् घटशब्दका अर्थ व्यक्ति नहीं, जाति ही होता है । परन्तु बौद्धमतमें जातिके स्थानपर सर्वत्र 'अपोह', 'अतद्व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व'से जातिका काम निकाला जाता है । अतः बौद्ध-मतमें 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्' यह प्रत्यक्षका लक्षण किया है । इसमें 'कल्पना' शब्दसे नामादि भेदोंका ही ग्रहण होता है । उन 'कल्पना' रूप भेदोंसे रहित निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । इसलिए बौद्धमतमें 'निर्विकल्पक' ज्ञान 'कल्पना'से रहित या भेद-रहित होता है और सविकल्पक ज्ञानमें 'कल्पना' या भेदकी प्रतीति होती है । इसी बातको यहाँ ग्रन्थकारने 'अभिन्नासंसृष्टत्वेन दृष्टं भेदसंसर्गाभ्यां विकल्पयति' लिखकर प्रतिपादन किया है । 'अभिन्न' पदका अर्थ 'कल्पनापोढम्' है और 'असंसृष्ट'का अर्थ संसर्ग-रहित है । बौद्धमतमें निर्विकल्पक ज्ञान 'कल्पनापोढम्' भेद-रहित होता है और अन्य मतोंमें वह संसर्गरहित अर्थात् नामजात्यादिके संसर्गसे रहित ज्ञान होता है । इसी प्रकार सविकल्पक ज्ञान बौद्धमतमें 'कल्पनायुक्त' या भेदयुक्त और अन्योंके मतमें संसर्गयुक्त अर्थात् नामजात्यादियोजना सहित है । इसलिए ग्रन्थकारने बौद्धमत तथा नैयायिकादिके मतोंका साथ-साथ उल्लेख करते हुए ही 'अभिन्नासंसृष्टत्वेन इत्यादि पंक्ति लिखी है ।

३२. उदात्त अलङ्कार—

[सू० १७६]—वस्तुकी समृद्धि [का वर्णन] उदात्त [अलंकार कहलाता] है ।

[सूत्रमें आये हुए] 'सम्पत्' [शब्दका अर्थ] समृद्धिका योग है । जैसे—

[राजा भोजकी स्तुति करते हुए कवि कहता है कि—] विद्वानोंके भवनोंमें सुरतकेलिके अवसरपर [मुक्ताहारके भीतरका डोरा टूट जानेके कारण] सूत्रहीन हारसे गिरे हुए और झाड़ुओंसे बुहारकर इकट्ठे किये हुए, धीरे-धीरे चलते हुए बच्चोंके पैरोंके महावर [की कान्ति] से लाल-लाल दीखते हुए मोतियोंको मनोरंजनके लिए पाले हुए तोते जो अनारके दाने समझकर खींच रहे हैं यह राजा भोजके दानकी महिमा है॥५०५॥

इसमें विद्वानोंके भवनोंकी उत्कृष्ट सम्पत्तिका वर्णन होनेसे उदात्त नामक अलङ्कार है ।

[सू० १७७]—और जो [किसी प्रधान वर्णनीय अर्थमें] महापुरुषोंका [उसके प्रति] अंगभाव [गौणत्वप्रदर्शन] है [वह भी दूसरे प्रकारका उदात्त अलंकार है] ।

[सूत्रमें आये हुए] उपलक्षण [शब्दका अर्थ] अंगभाव [गौणत्व] है । अर्थात् प्रधान [उपलक्षणीय] अर्थमें [रामादि सदृश महापुरुषोंके अंगभावका वर्णन होनेपर भी उदात्तालंकार होता है । उसका] उदाहरण [जैसे]—

तदिदमरण्यं यस्मिन् दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥५०६॥

न चात्र वीररसः, तस्येहाङ्गत्वात् ।

[सू० १७८]–**तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत् ।**
समुच्चयोऽसौ,

तस्य प्रस्तुतस्य कार्यस्य एकस्मिन्साधके स्थिते साधकान्तराणि यत्र सम्भवन्ति स समुच्चयः । उदाहरणम्—

(१) दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुकं,
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्म्मलम् ।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमो,
नो सख्यश्चतुराः कथन्नु विरहः सोढव्य इत्थं शठः ॥५०७॥

[लंकासे लौटते समय पुष्पक विमानमें बैठे हुए लक्ष्मण दण्डकारण्यको दिखलाते हुए अंगदसे कह रहे हैं कि—] यह वह वन है जिसमें रहते हुए दशरथकी आज्ञापालनका व्रत लिये हुए रामने अकेले ही राक्षसोंका नाश किया था ॥५०६॥

यहाँ वर्णनीय दण्डकारण्यका उत्कर्ष दिखलानेकेलिए उसके प्रति रामको अंगरूपमें उपस्थित किया है । इसलिए यह दूसरे प्रकारके उदात्तालङ्कारका उदाहरण है । यहाँ यह शंका हो सकती है कि यहाँ वीररसको व्यङ्ग्य मानकर इसे रसध्वनिका यह उदाहरण माना जा सकता है । तब इसे उदात्तालङ्कारका उदाहरण क्यों मानते हैं ? इस शंकाका उत्तर ग्रन्थकारने यह दिया है कि—

यहाँ वीर रस [अर्थात् रसध्वनि] नहीं है । उस [वीर रस] के [वर्णनीय दण्डकारण्यमें] अंग होनेसे ।

३३. समुच्चयालङ्कार—

[सू० १७८]—उस [कार्य] की सिद्धिका एक हेतु विद्यमान रहनेपर भी जहाँ अन्य [हेतु भी] उसका साधक हो जाय वह समुच्चय [अलंकार कहलाता] है ।

उस प्रस्तुत कार्यके एक साधक हेतुके होनेपर भी जहाँ अन्य साधन भी हो जाते हैं वह समुच्चय [अलंकार] होता है । उदाहरण [जैसे]—

(१) कामदेवके बाणोंसे बचना ही कठिन है [उस-पर भी] पति दूर [परदेश] गये हुए हैं, मन [सुरतव्यापारके लिए] अत्यन्त उत्सुक हो रहा है । प्रेम अत्यन्त प्रगाढ हो रहा है, नया यौवन है, प्राण बड़े कठोर हैं [निकलनेवाले नहीं], कुल निर्मल है [इसलिए किसी अन्यके समान सैर विहार भी सम्भव नहीं है । तब फिर धैर्य धारण करके बैठ जाओ । पर यह भी असम्भव है क्योंकि] स्त्रीत्व धैर्यका विरोधी है । कामदेवका परममित्र वसन्तकाल है [इसमें धैर्य धारणकी क्या कथा ? तब फिर यमराजसे ही प्रार्थना करो परन्तु नहीं] यमराज [भी इस विषयमें] कुछ कर नहीं सकते हैं परन्तु सखियाँ भी चतुर नहीं हैं ऐसी दशामें इस दुष्ट विरहको कैसे सहन किया जाय ।५०७।

अत्र विरहासहत्वं स्मरमार्गणा एव कुर्वन्ति तदुपरि प्रियतमदूरस्थित्यादि उपात्तम् । एष एव समुच्चयः सद्योगे, असद्योगे, सदसद्योगे च पर्यवस्यतीति न पृथक् लक्ष्यते। तथाहि—

(२) कुलममलिनं भद्रा मूर्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी,
भुजबलमलं स्फीता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम् ।
प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा अमीभिरयं जनो,
व्रजति सुतरां दर्पं राजन् ! त एव तवांकुशाः ॥५०८॥

अत्र सतां योगः । उक्तोदाहरणे त्वसतां योगः ॥

(३) शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी,
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो,
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥५०९॥

अत्र शशिनि धूसरे शल्ये शल्यान्तराणीति शोभना शोभनयोगः ।

यहाँ कामदेवके बाण ही विरहको असह्य बना देते हैं उसके ऊपर फिर प्रिय-वियोग आदिका भी वर्णन किया है [इसलिए यहाँ समुच्चयालंकार है] । यह समुच्चय (१) सत् पदार्थके योगमें, (२) असत् [अशोभन] के योगमें, और (३) शोभनाशोभन [दोनों] के योगमें [तीन भेदोंमें] समाप्त होता है इसलिए [उन तीनों भेदोंके] अलग लक्षण नहीं किये हैं । [सत्‌के योग आदिके] उदाहरण [जैसे]—

(२) आपका कुल उज्ज्वल है, आकृति बड़ी सुन्दर है, बुद्धि वेदानुसारिणी है, भुजाएँ अत्यन्त बलशालिनी, अपार लक्ष्मी और अखण्डित प्रभुत्व आपके पास है । ये सब पदार्थ स्वभावतः ही सुन्दर हैं । इनके कारण यह [साधारण] आदमी अभिमानमें भर जाता है परन्तु हे राजन् ! आपके लिए वे ही [अभिमानसे] निवारण करनेवाले [अंकुश] हैं [यह बड़े आश्चर्यकी बात है ।] ।५०८।

यहाँ [सब] उत्तम [पदार्थों] का योग है । और पहले [कहे हुए उदाहरण सं० ५०७] में तो अशोभन पदार्थोंका योग है ।

सदसद्योगमें भर्तृहरिके नीतिशतकका निम्नलिखित पद्य उदाहरणरूपमें देते हैं—

(३) १ दिनमें कान्तिहीन चन्द्रमा, २ यौवनसे रहित कामिनी, ३ कमलोंसे शून्य तालाब, ४ सुन्दर आकृतिवाले मनुष्यका विद्याविहीन मुख, ५ धनका लोभी राजा, ६ सदा कष्ट भोगनेवाला सज्जन और ७ राजाका कृपापात्र दुष्ट पुरुष ये सात मेरे मनमें शल्यके समान [चुभते या कष्ट देते] हैं ।५०९।

यहाँ चन्द्रमाका कान्तिहीन हो जाना ही कष्टदायक [शल्य] है, उसपर [गलित-यौवना कामिनी आदि] अन्य शल्य [कष्टदायक अन्य कारण] भी इकट्ठे हो गये हैं इसलिए समुच्चय अलंकार है] । यह शोभन और अशोभनका योग दिखलाया है । इसमें चन्द्रमा, कामिनी आदि शोभन और अशोभन खलका योग होनेसे यह सद-सद्योगका उदाहरण माना है] ।

[सू० १७९]—**स त्वन्यो युगपत् या गुणक्रिया ॥११६॥**

गुणौ च क्रिये च गुणक्रिये च गुणक्रियाः । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमभवदाशु विमलं च ।
प्रखलमुखानि नराधिप ! मलिनानि च तानि जातानि ॥५१०॥

(२) अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥ ५११॥

अत्र क्रमेणेति समुच्चयव्यावर्तनाय ।

(३) कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात् सितपङ्करुहसोदरश्रि चक्षुः ।
पतितं च महीपतीन्द्र ! तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षैः ॥५१२॥

[सू० १७९]—अथवा दो गुणों या दो क्रियाओं अथवा एक गुण और क्रिया [इस रूपमें गुण-क्रियाओं]का एक साथ वर्णन [भी दूसरा समुच्चयालंकार कहलाता है]।

[सूत्रमें आये हुए 'गुणक्रियाः' पदमें द्वन्द्व समास इस प्रकार करना चाहिये जैसा कि वृत्तिमें दिखलाया है। उसके अनुसार इस 'गुणक्रिया' पदका अर्थ यह होगा कि (१) दो गुण, (२) दो क्रिया, (३) एक गुण एक क्रिया [ये सब मिलकर] 'गुण क्रियाः' हुए [इनका इस रूपमें युगपद् वर्णन होनेपर दूसरे प्रकारका समुच्चयालंकार होता है] क्रमसे [तीनों प्रकारके] उदाहरण [आगे देते हैं। जैसे]—

(१) हे राजन् ! समस्त शत्रुओंको नाश करनेवाली तुम्हारी यह सेना जैसे ही निर्मल [कीर्तिशालिनी] हुई वैसे ही दुष्टोंके मुख मलिन [उदास] हो गये।

यहाँ विमलत्व तथा मलिनत्व रूप दो गुणोंका एक साथ होना 'चकार'के दो बार प्रयोगसे सूचित होता है। अतः यहाँ समुच्चयालङ्कार है।

[क्रियाके यौगपद्यमें विक्रमोर्वशीयके चतुर्थ अंकसे पुरूरवाकी उक्तिको उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया गया है। पुरूरवा कह रहे हैं कि]—

(२) प्रियतमा [उर्वशी] के साथ यह दुःसह वियोग जैसे ही अकस्मात् उपस्थित हुआ वैसे ही मेघोंके आ जानेसे धूपरहित दिन मनोहर होने लगे।५११।

यहाँ 'उपनतं' तथा 'भवितव्यं' दो क्रियाओंका यौगपद्य 'चकार'के दो बार प्रयोगसे व्यक्त हो रहा है इसलिए यहाँ भी समुच्चयालङ्कार है।

एक गुण तथा एक क्रियाके यौगपद्यका उदाहरण देते हैं—

(३) हे राजन् ! श्वेत कमलके समान आपकी आँख शत्रुओंके प्रति जैसे ही मलिन [क्रोधसे रक्त] हुई कि उनके शरीरपर आपत्तियोंके कटाक्ष स्पष्ट रूपसे पड़ने लगे ॥५१२॥

काव्यप्रकाशकारने समुच्चयालंकारके लक्षणमें काव्यालंकारकार रुद्रट तथा अलंकारसर्वस्वकार रुय्यकके लक्षणोंकी आलोचना की है। समुच्चयके पहिले स्वरूपमें रुद्रटने सद्योग, असद्योग और सदसद्योग ये तीन भेद किये थे। मम्मटका कहना है कि समुच्चयका पर्यवसान तो स्वयं ही इन तीनोंमेंसे किसी-न-किसी रूपमें होगा इसलिए उनका अलग लक्षण करनेकी आवश्यकता नहीं।

"धुनोति चासिं तनुते च कीर्तिम्" इत्यादेः,

"कृपाणपाणिश्च भवान् रणक्षितौ स साधुवादाश्च सुराः सुरालये ।"

इत्यादेश्च दर्शनात् 'व्यधिकरणे' इति 'एकस्मिन् देशे' इति च न वाच्यम् ।

[सू० १८०]–**एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः ।**

एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन् भवति क्रियते वा स पर्यायः । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट ! केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥५१३॥

समुच्चयके 'युगपद् या गुणक्रियाः' रूप दूसरे भेदके विषयमें रुय्यकका यह मत है कि युगपत् होनेवाले गुण-क्रिया आदि एक ही अधिकरणमें न होकर भिन्न-भिन्न अधिकरणोंमें होने चाहिये तभी समुच्चयालंकार होगा । उन्होंने समुच्चयके इस दूसरे भेदका लक्षण करते हुए स्पष्ट ही लिखा है कि—

व्यधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन् ।
उपजायेते देशे समुच्चयः स्यात् तदन्योऽसौ ॥ रुद्रट—काव्यालंकार ७, २७ ।

इसमें रुद्रटने यह कहा है कि युगपत् होनेवाले गुण-क्रियादि एकदेश, एककालमें और भिन्न अधिकरणमें होने चाहिये । परन्तु मम्मट इससे सहमत नहीं हैं । उनका कहना है कि—आगे दिये हुए उदाहरणोंमेंसे—

[राजा] तलवारको चलाता है [और उसके साथ ही अपनी] कीर्तिका विस्तार करता है ।

इत्यादि में ['धुनोति' तथा 'तनुते' दोनों क्रियाएँ एक ही अधिकरण—राजामें रहती हैं, भिन्न अधिकरणमें नहीं] । इसलिए व्याधिकरणमें युगपत् गुण या क्रिया होनेपर समुच्चयालंकार होता है यह कहना उचित नहीं है । [इसी प्रकार]

"आप जैसे ही युद्धभूमिमें तलवार हाथमें पकड़ते हैं कि वैसे ही स्वर्गमें देवता लोग साधुवाद करने लगते हैं ।"

इत्यादि में [क्रियाओंके भिन्न देशमें] देखे जानेसे 'व्याधिकरणे' भिन्न अधिकरणमें और 'एकस्मिन् देशे' एक देशमें [ये जो दो बातें रुद्रटने अपने समुच्चयालंकारके लक्षणमें कही हैं वे दोनों बातें] नहीं कहनी चाहिये ।

३४. पर्याय अलंकार—

[सू० १८०]—एक क्रमसे अनेकमें [होता है अथवा किया जाता है तब] पर्यायालंकार होता है ।

एक वस्तु क्रमसे अनेकमें हो, या की जाय वह पर्याय [अलंकार] होता है । यह पर्याय अलंकार पहिले कहे हुए पर्यायोक्त अलङ्कारसे भिन्न है] । क्रमसे [पर्याय अलंकारके 'भवति' तथा 'क्रियते' इन दोनों भेदोंके] उदाहरण [जैसे]—

(१) हे कालकूट [विष] ! तुमको उत्तरोत्तर विशिष्ट पदवाले आश्रयमें रहनेकी स्थिति किसने बतलायी है कि पहिले [तुम] समुद्रके भीतर [रहते थे] फिर शिवजीके कण्ठमें [आये] और अब दुष्टोंकी वाणीमें रहते हो ।५१३।

यथा वा—

(२) बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि ! पूर्वमदृश्यत ।
अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि ! लक्ष्यते ॥५१४॥

रागस्य वस्तुतो भेदेऽप्येकतयाऽध्यवसितत्वादेकत्वमविरुद्धम् ।

(३) तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम् ।
बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमवाणेण ॥५१५॥

[तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाभरणे हृदयमेकरसम् ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥ इति संस्कृतम्]

यहाँ एक कालकूटके अनेक स्थानोंपर रहनेका वर्णन किया गया है । इसलिए पर्याय अलंकारका उदाहरण है । परन्तु यहाँ भिन्न आश्रयोंमें जानेका कोई प्रयोजक नहीं बताया गया है इसलिए यह 'क्रियते'का नहीं अपितु 'भवति'का उदाहरण है । इसमें एक कालकूट अनेक स्थानोंमें स्वयं गया है । परन्तु यह केवल वास्तविक एकत्वमें ही नहीं, कहीं-कहीं आरोपित एकत्वमें भी यह अलंकार हो सकता है । इसके दिखलानेके लिए दूसरा उदाहरण देते हैं—

(२) हे तन्वि ! पहले तो केवल तुम्हारे कुन्दरूके सदृश [लाल] ओष्ठमें ही राग दिखलाई देता था किन्तु हे मृगशावकके समान [चंचल] नेत्रोंवाली ! अब तो यह राग तुम्हारे हृदयमें भी दिखलाई पड़ने लगा है ॥५१४॥

यहाँ [ओष्ठ और हृदयका] राग [दोनों]का वस्तुतः भेद न होनेपर भी [शब्द-सादृश्यके कारण उन दोनोंमें केवल] औपचारिक एकत्व मान लेनेसे एकत्वका विरोध नहीं होता ।

इन दोनों उदाहरणोंमें क्रमशः 'एक आश्रयमें स्थिति' तथा 'राग' स्वयं अनेकमें गये हैं उनका प्रयोजक कोई दूसरा नहीं है । अतः वे दोनों 'एकमनेकस्मिन् भवति' इस रूपमें पर्याय अलंकारके उदाहरण थे । अगला उदाहरण इस प्रकारका देते हैं जिसमें अन्य प्रयोजकके द्वारा 'एकमनेकस्मिन् क्रियते' । यह उदाहरण ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्यके 'विषमबाणलीला' नामक काव्यमें आया है । स्वयं आनन्दवर्धनाचार्यने ध्वन्यालोकके द्वितीय उद्योतमें इस श्लोकको उद्धृत किया है । और उसे अपने विषमबाणलीलासे लिया हुआ बतलाया है ।

(३) उन [राक्षसों] का वह मन [जो पहिले विष्णुजीके] कौस्तुभ मणिके अपहरणमें लगा हुआ था उसको कामदेवने [प्रियाणां पदसे यहाँ मोहिनी अर्थ अभिप्रेत है अतः] मोहिनीके अधर बिम्बमें आसक्त कर दिया है ॥५१५॥

'श्रीसहोदररत्नाहरणे'के स्थानपर कहीं 'श्रीसहोदररत्नाभरणे' पाठ भी पाया जाता है । उस पक्षमें 'श्रीसहोदररत्न' अर्थात् कौस्तुभ मणि जिनका आभूषण है ऐसे विष्णुजीमें आसक्त राक्षसोंके मनको कामदेवने मोहिनीके बिम्बाधरमें लगा दिया यह अर्थ होता है । प्राकृत भाषामें लिंग और वचनका नियम नहीं होता है इसलिए एक ही मोहिनीके लिए प्राकृतमें 'प्रियाणां' यह बहुवचनका प्रयोग किया गया है संस्कृतमें उसका एकवचनमें ही अनुवाद करनेसे संगति ठीक लग सकती है ।

[सू० १८१]–**अन्यस्ततोऽन्यथा ।**

अनेकमेकस्मिन् क्रमेण भवति क्रियते वा सोऽन्यः । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) मधुरिमरुचिरं वचः खलानाममृतमहो प्रथमं पृथु व्यनक्ति ।
अथ कथयति मोहहेतुमन्तर्गतमिव हालाहलं विषं तदेव ॥५१६॥

(२) तद्गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः,
सा धेनुर्जरती नदन्ति करिणामेता घनाभा घटाः ।
स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं संगीतकं योषिता-
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः ॥५१७॥

अत्रैकस्यैव हानोपादानयोरविवक्षितत्वान्न **परिवृत्तिः ।**

यहाँ राक्षसोंका मन पहिले कौस्तुभ मणिकी प्राप्तिके लिए उत्सुक अथवा विष्णु भगवानके स्वरूपमें तत्पर था वह मोहनीके बिम्बाधरमें आसक्त हो गया और उसका प्रवर्तक कामदेव है। इसलिए यह 'एकमनेकस्मिन् क्रियते' इस रूपके पर्यायालंकारका उदाहरण है।

[सू० १८१]—उसके विपरीत [अर्थात् 'अनेकमस्मिन् भवति क्रियते वा इस रूपमें] दूसरे प्रकारका [पर्याय अलंकार] होता है ।

[पहिले लक्षणमें 'एकमनेकस्मिन् भवति क्रियते' यह बात कही गयी थी । अब उससे विपरीत] अनेकके क्रमशः एकमें होने अथवा किये जानेपर वह दूसरे प्रकारका [पर्यायालंकार] होता है । क्रमसे [दोनों प्रकारके] उदाहरण [जैसे]—

मधुरताके द्वारा मनको हरण करनेवाला दुष्ट पुरुषोंका वचन पहिले तो अमृतकी वृष्टि-सी करता है किन्तु आश्चर्य है कि बादको [विचार करनेपर] वही मूर्च्छित कर देनेवाले [कष्टदायक] भीतर छिपे हुए हालाहल विषको प्रकट करता है ॥५१६॥

यहाँ अमृतव्यंजन और विषकथनरूप अनेक अर्थ एक खलवचनमें क्रमसे होते हैं उनका कोई प्रयोजक हेतु कथित नहीं है इसलिए यह 'अनेकमेकस्मिन् भवति'का उदाहरण है।

[कहाँ] वह टूटी-फूटी दीवारोंका घर और [कहाँ आज] यह गगनचुम्बी महल, [कहाँ इसकी] वह बुढ़िया गाय और [कहाँ आज] ये मेघोंके समान [काली-काली और ऊँची] हाथियोंकी पंक्तियाँ झूम रही हैं, कहाँ वह मूसलका क्षुद्र शब्द और कहाँ [आज सुनाई देनेवाला] सुन्दरियोंका यह मनोहर सङ्गीत । आश्चर्य है इन [थोड़ेसे] दिनोंमें ही इस [दरिद्र] ब्राह्मण [सुदामा] की इतनी अच्छी हालत हो गयी ॥५१७॥

यहाँ एक ब्राह्मणमें उस घर-मन्दिर आदि अनेकके सम्बन्धका वर्णन किया गया है और उसका प्रयोजक दिवसको बतलाया है। इसलिए 'अनेकमेकस्मिन् क्रियते' रूप पर्याय अलंकारका उदाहरण है।

यहाँ एक ही कर्ता, 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' इस सूत्रसे कर्तामें षष्ठी होनेसे एक ही कर्ता यह अर्थ करना चाहिये] के [एक वस्तुके] त्याग [और उसके बदलेमें दूसरी वस्तुके] ग्रहणकी विवक्षा न होनेसे [यहाँ] परिवृत्ति [अलंकार] नहीं है । [अर्थात् जहाँ एक कर्ता द्वारा एक वस्तुका त्याग करके उसके बदलेमें दूसरी वस्तुका ग्रहण किया जाता है वहीं परिवृत्ति अलंकार होता है । इसके साथ ही परिवृत्ति अलङ्कारमें

[सू० १८२]-अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः ॥११७॥

एकके द्वारा त्यागकी वस्तुको दूसरा ग्रहण करता है। इस 'तद्गेहं' इत्यादि श्लोकमें इस प्रकारकी बात नहीं है इसलिए यहाँ परिवृत्ति अलंकार नहीं है यही परिवृत्ति तथा पर्यायका भेद है]।

३५. अनुमान अलंकार—

[सूत्र १८२]—साध्य-साधनका कथन वह अनुमान [अलंकार] है ॥११७॥

यह अनुमान अलंकारका लक्षण नैयायिकोंके अनुमानके आधारपर किया गया है। परन्तु यहाँ नैयायिकोंके अनुमान प्रमाणसे केवल साध्य तथा साधन दो ही शब्दोंको ग्रहण किया गया है। अनुमानमें तो इनके अतिरिक्त पक्ष, सपक्ष, विपक्ष दृष्टान्त आदि अन्य अनेक वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। उनका ग्रहण न करनेसे यह लक्षण अपूर्ण रह जाता है। यह शंका की जा सकती है। उसके समाधानके लिए ग्रन्थकारने अगली पंक्ति लिखी है। उसका आशय यह है कि साध्य और साधन इन दो शब्दोंके ग्रहणसे ही यहाँ अनुमानोपयोगी समस्त शब्दोंका ग्रहण हो जाता है। इस प्रकरणमें भी कुछ दार्शनिक पुट आ गया है इसलिए न्यायके पारिभाषिक शब्दोंको ठीक तरहसे समझ लेनेपर ही इस पंक्तिका भाव स्पष्ट हो सकेगा। अतएव उनका परिचय कराना आवश्यक है।

पर्वतादिमें कहीं धूमको उठता देखकर वहाँ वह्निका अनुमान सबको ही होता है। इस अनुमानमें धूम साधन तथा वह्नि साध्य कहलाता है। धूमको देखकर जो वह्निका अनुमान होता है उसका कारण यह है कि हमने धूम और वह्निको अनेक बार साथ-साथ देखा है। इन दोनोंके भूयः सहचारदर्शनसे हमको उनके स्वाभाविक सम्बन्धका अर्थात् 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि अवश्य रहता है' इस व्याप्ति सम्बन्धका ज्ञान हो गया है। इसलिए जब हम किसी जगह केवल धूमको देखते हैं तो जहाँ न दिखलाई देनेवाले वह्निका भी अनुमान कर लेते हैं। 'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होता है इस स्वाभाविक सम्बन्धका नाम व्याप्ति है। इस व्याप्तिके बलसे जो वह्निका ग्रहण कराता है वह धूमादि 'साधन' या 'लिंग' कहा जाता है और वह्नि 'साध्य' कहलाता है। यह साधन तथा साध्यका स्वरूप हुआ।

इस साधन या लिंगकी साध्यके साथ जो 'व्याप्ति' है वह दो प्रकारकी होती है। एक 'अन्वय-व्याप्ति' और दूसरी 'व्यतिरेक-व्याप्ति'। 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होता है यह 'अन्वय-व्याप्ति' हुई। इसके विपरीत जहाँ-जहाँ वह्निका अभाव होता है वहाँ-वहाँ धूमका भी अभाव होता है 'यत्र यत्र वह्न्यभावस्तत्र तत्र धूमाभावः' यह 'व्यतिरेक-व्याप्ति' कहलाती है। धूम और वह्निमें यह दोनों प्रकारकी व्याप्ति पायी जाती है। अर्थात् इसको दोनों प्रकारकी व्याप्तिमें उदाहरण मिल जाते हैं। जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होता है इस 'अन्वय-व्याप्ति'में महानस अर्थात् पाकशाला रसोईघर उदाहरण है। क्योंकि महानसमें धूम तथा वह्निको साथ-साथ देखा जा सकता है। इसलिए 'अन्वय-व्याप्ति'में महानस उदाहरण होता है। इसके विपरीत जहाँ-जहाँ वह्निका अभाव होता है वहाँ-वहाँ धूमका भी अभाव होता है यह 'व्यतिरेक-व्याप्ति' कहलाती है। इस 'व्यतिरेक-व्याप्ति'में महाह्रद या तालाब उदाहरण है। तालाबमें वन्हिका अभाव है तो वहाँ धूमका भी अभाव है। इस प्रकार धूम हेतुकी अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेक-व्याप्ति दोनोंमें उदाहरण मिल जाते हैं इसलिए यह 'अन्वय-व्यतिरेकी' हेतु कहलाता है।

पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकित्वेन त्रिरूपो हेतुः साधनम् । धर्मिणि अयोगव्यवच्छेदो व्यापकस्य साध्यत्वम् । यथा—

[illegible] लहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवं,
यत्तत्रैव पतन्ति सन्ततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः ।

परन्तु कुछ हेतु ऐसे होते हैं जिनमें दोनों प्रकारकी व्याप्तिमें उदाहरण न मिलकर केवल किसी एक ही प्रकारकी व्याप्तिमें उदाहरण मिलते हैं । ऐसे हेतु जिनमें केवल अन्वयव्याप्तिमें उदाहरण मिलता है 'केवलान्वयी हेतु' कहलाते हैं । और जिन हेतुओंका केवल 'व्यतिरेक व्याप्ति' में उदाहरण मिलते हैं वे 'केवल-व्यतिरेकी' हेतु कहलाते हैं ।

इनमेंसे जो अन्वय-व्यतिरेकी हेतु होता है उसमें पक्षसत्त्व, सपक्ष सत्त्व विपक्षव्यावृत्तत्व, अबाधित विषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व ये पाँच रूप अवश्य पाये जाते हैं । इनमेंसे किसी भी रूपका अभाव होनेपर वह हेतु, शुद्ध हेतु न होकर 'हेत्वाभास' माना जाता है । इन पाँच रूपोंमें जो पक्ष, सपक्ष, विपक्ष शब्द आये हैं उनके विशेष अर्थ हैं । पक्षका लक्षण है 'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः' जिसमें साध्य वह्नि आदि सिद्धि होनेके पूर्व सन्दिग्ध अवस्थामें रहता है उसको 'पक्ष' कहते हैं । जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' आदि पूर्व प्रदर्शित अनुमानमें पर्वतमें वह्निका सन्देह होता है । इसलिए पर्वत 'पक्ष' है । 'सपक्ष' का लक्षण 'निश्चितसाध्यवान् सपक्षः' जिसमें साध्य वह्नि आदि निश्चित रूपसे रहते हैं, यह किया गया है । जैसे उक्त अनुमानमें महानस अर्थात् पाकशालामें वह्नि निश्चित रूपमें विद्यमान रहता है इसलिए महानस 'सपक्ष' कहलाता है । इसी प्रकार विपक्षका लक्षण 'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः' यह किया गया है । अर्थात् जिसमें साध्य वह्नि आदिका अभाव निश्चित रूपसे रहता है उसको 'विपक्ष' कहते हैं । मुख्य रूपसे पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तत्व इन तीनों धर्मोंका हेतुमें होना आवश्यक है । अन्य दो अर्थात् अबाधितविषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्वको इन्हींके भीतर समाविष्ट किया जा सकता है । इसलिए ग्रन्थकारने यहाँ 'त्रिरूपो हेतुः साधनम्' तीनों रूपोंसे युक्त हेतु ही 'साधन' कहलाता है यह कहा है । उन तीनों धर्मोंको ग्रन्थकारने 'पक्षधर्मत्व—अन्वयित्व—व्यतिरेकित्वेन' इस शब्दसे कहा है । इसका अर्थ होता है पक्षधर्मत्व अन्वयित्व तथा व्यतिरेकित्व ये तीन हेतुके स्वरूप हैं । इनको ही न्यायमें पक्षसत्त्व सपक्षसत्त्व तथा विपक्षव्यावृत्तत्व नामसे कहा गया है । तीनों रूपोंसे युक्त हेतुका ही यहाँ 'साधन' शब्दसे ग्रहण किया जाता है । तो उसके ही अन्तर्गत अनुमान प्रमाणके प्रसंगमें प्रयुक्त होनेवाले सब शब्दोंका अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिए यहाँ साध्य-साधन शब्दोंके ग्रहण द्वारा अनुमानोपयोगी समस्त शब्दोंको ग्रहण समझ लेना चाहिये यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

पक्षधर्मत्व [पक्षसत्त्व] अन्वयित्व [सपक्षसत्त्व] तथा व्यतिरेकित्व [विपक्षव्यावृत्तत्व] रूपसे तीन धर्मोंसे युक्त [त्रिरूपः] हेतु 'साधन' [कहलाता] है । और [धर्मी अर्थात्] पक्षमें व्यापक [अर्थात् वह्नि आदि] के अभावका निषेध अयोगव्यवच्छेद [अर्थात् अभावका अभाव अर्थात् अवश्य सत्ता ही उसका] साध्यत्व है । [अयोगव्यवच्छेदका अर्थ यहाँ अन्यूनातिरिक्तविषयत्व यह है] ।

[अनुमान अलंकारका उदाहरण] जैसे—

जलतरंगोंके समान अत्यन्त चंचल नेत्रोंवाली ये [प्रसिद्ध तरुणियाँ] जहाँ जिसपर अपनी आँख चला देती हैं वहीं ये [कामदेवके] मर्मवेधी बाण जो निरन्तर गिरने लगते हैं इससे विदित होता है कि धनुषको चढ़ाये हुए और बाणके ऊपर ही हाथ

तच्चक्रीकृतचापमंचितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो—

धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदाऽऽसां स्मरः ॥५१८॥

साध्य-साधनयोः पौर्वापर्यविकल्पे न किंचिद्वैचित्र्यमिति न तथा दर्शितम् ।

[सू० १८३]—**विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः ।**

अर्थाद्विशेष्यस्य । उदाहरणम्—

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः ।

न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥५१९॥

रखे हुए उनका आज्ञाकारी क्रोधयुक्त कामदेव सचमुच सदा इनके आगे-आगे ही दौड़ता रहता है ॥५१८॥

यहाँ पूर्वार्द्धमें कहा हुआ अर्थ साधनरूप है और उत्तरार्द्धमें कहा हुआ अर्थ साध्यरूपमें है। इसलिए यहाँ अनुमानालंकार है। यत् और तत् शब्दोंसे उन दोनों धर्मोंकी व्याप्ति सूचित की गयी है।

रुद्रटने अनुमानालंकारके दो भेद किये हैं। एक वह जिसमें पहिले साधनका कथन हो और बादमें साध्यका कथन हो। और दूसरा वह जिसमें पहिले साध्यका और बादमें साधनका कथन हो। जैसे यह श्लोक जो ऊपर दिया उसमें पहिले साधन कहा गया है और साध्य बादको कहा गया है इसलिए वह पहिले भेदका उदाहरण है। पहिले साध्य तथा बादको साधनका कथन जहाँ हो उस प्रकारका उदाहरण भर्तृहरिके नीतिशतकका निम्नांकित श्लोक है—

मधु तिष्ठति वाचि योषितां, हृदि हालाहलमेव केवलम् ।

अत एव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते ॥

मम्मटके मतमें इस प्रकार साध्य-साधनके पौर्वापर्यके परिवर्तनसे चमत्कारमें कोई अन्तर नहीं आता है इसलिए इस प्रकारका अलग भेद करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसी बातको वे अगली पंक्तिमें कहते हैं—

साध्य और साधनके आगे-पीछे बदलनेसे कोई विचित्रता नहीं होती है इसलिए [रुद्रटके समान] उस प्रकारको नहीं दिखलाया है।

३६. परिकर अलङ्कार—

[सू० १८३]—अभिप्राययुक्त [साकूत] विशेषणोंके द्वारा जो [किसी बातका] कथन करना है वह परिकर [अलङ्कार कहलाता] है।

अर्थात् विशेष्यका [साभिप्राय विशेषणोंसे कथन करना परिकरालङ्कार कहलाता है]। उदाहरण [जैसे]—

किरातार्जुनीय महाकाव्यके प्रथम सर्गमें दुर्योधनका समाचार देते हुए युधिष्ठिरके प्रति उनका गुप्तचर कह रहा है कि—

महाबलशाली आत्मगौरवकी भावनासे युक्त, धनसे सत्कृत, [किसी दुर्भावनासे] न मिले हुए और न परस्पर विरोधी, युद्धमें लब्धकीर्ति धनुर्धारी अपने प्राणों [के बलिदान]से भी उस [दुर्योधन] के अभीष्टको सिद्ध करना चाहते हैं ॥५१९॥

यहाँ 'महौजसः', 'मानधनाः' आदि विशेषण धनुर्धारियोंके दुर्योधनके प्रति स्वाभाविक प्रेमको

यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात् तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यलंकारमध्ये गणितः ।

[सूत्र १८४]—**व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ॥११८॥**

निगूढमपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रभिन्नं केनापि व्यपदेशेन यदपह्नूयते सा व्याजोक्तिः । न चैषाऽपह्नुतिः प्रकृताप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासम्भवात् , उदाहरणम्—

सूचित करनेके लिए दिये गये हैं । जो अपने प्राणोंकी भी बाजी लगाकर दुर्योधनका प्रिय कार्य करना चाहते हैं सो कुछ दुर्योधनके भयसे डरकर या उसकी चाटुकारीके लिए नहीं अपितु स्वाभाविक प्रेम-वश ही ऐसा कर रहे हैं । वैसे तो वे स्वयं महाबलशाली और युद्धमें ख्याति पाये हुए हैं इसलिए दुर्योधनसे डरनेका कोई प्रश्न ही उनके सामने नहीं है । और वे स्वाभिमानी हैं इसलिए चाटुकारिता उनको छू भी नहीं सकती है । अतः उनका सारा व्यापार स्वाभाविक स्नेहवश ही है यह विशेष अभिप्राय इन विशेषणोंसे निकलता है । अतः यहाँ परिकरालङ्कार है ।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि साभिप्राय विशेषणोंके होनेपर आपने परिकरालङ्कार माना है परन्तु वह तो कोई अलङ्कार नहीं केवल दोषाभावरूप है । क्योंकि यदि साभिप्राय विशेषण न होंगे तो निरर्थक होंगे । उस दशामें जैसा कि पहिले कहा जा चुका है अपुष्टार्थत्व दोष होगा । साभिप्राय विशेषणोंसे उस अपुष्टार्थत्वका परिहार हो जाता है उसको अलङ्कार मानना उचित नहीं । इसका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकारने अगली पंक्तियाँ लिखी हैं । समाधानका आशय यह है कि जहाँ इस प्रकारके अनेक विशेषण एक विशेष्यके साथ जुड़ते हैं तब कुछ विशेष चमत्कार वाक्यमें आ जाता है इसलिए इसको अलङ्कार माना है । इसी बातको कहते हैं—

यद्यपि अपुष्टार्थको दोष कहनेसे उसके निराकरणसे [दोषाभावरूप] पुष्टार्थको स्वीकार किया गया है । [उसको अलङ्कार मानना उचित नहीं है] फिर भी एक [विशेष्य] में रहनेवाले अनेक विशेषणोंको इस प्रकारसे [एक वाक्यमें] रखनेसे [वाक्यमें विशेष प्रकारका] वैचित्र्य आ जाता है इसलिए [इसको] अलङ्कारोंमें गिना गया है ।

जयदेवने अपने चन्द्रालोकमें विशेष्यांशके साभिप्राय होनेपर परिकरांकुर नामक अलङ्कार माना है । उसके विषयमें सुधासागरकारका यह मत है कि वहाँ भी विशेषणांशकी ही साभिप्रायता माननी चाहिये क्योंकि विशेषणके बिना केवल विशेष्यांश किसी प्रकारसे भी साभिप्राय नहीं हो सकता है । इसलिए परिकरांकुरको अलग अलङ्कार माननेकी आवश्यकता नहीं है ।

मम्मटकृत काव्यप्रकाश समाप्त

कुछ विद्वानोंका मत है श्री मम्मटाचार्यकृत काव्यप्रकाश यहाँपर ही समाप्त हो जाता है । इसके आगेका भाग मम्मटाचार्यका नहीं अपितु अल्लटसूरिका बनाया हुआ है । इस सम्बन्धमें "कृतः श्री मम्मटाचार्यैः परिकरावधिः । प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा" यह श्लोक हम पहिले ही उद्धृत कर चुके हैं ।

३७. व्याजोक्ति अलङ्कार—

[सू० १८४]—प्रकट हुए वस्तुके स्वरूपको किसी बहानेसे छिपाने [के प्रयत्न या वर्णन] को व्याजोक्ति [अलङ्कार] कहते हैं ॥११८॥

वस्तुका गुप्त स्वरूप भी जब किसी प्रकार प्रकट हो जाय तो किसी बहानेसे

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लसत्-
रोमाञ्चादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यासंगभंगाकुलः ।
हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं,
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः ॥५२०॥

अत्र पुलकवेपथू सात्त्विकरूपतया प्रसृतौ शैत्यकारणतया प्रकाशितत्वादपलपित-स्वरूपौ व्याजोक्तिं प्रयोजयतः ॥

उसको छिपानेका जो प्रयत्न किया जाता है वह व्याजोक्ति [अलङ्कार कहलाता] है। [अपह्नुति अलङ्कारसे व्याजोक्तिका भेद दिखलाते हैं] और यह [व्याजोक्ति] अपह्नुति [अलङ्कारके अन्तर्गत] नहीं [हो सकती] है [क्योंकि अपह्नुतिमें प्रकृत और अप्रकृत अर्थात् उपमेय और उपमानका साम्य विवक्षित होता है उस साम्यके द्वारा ही उपमेयका अपह्नव किया जाता है। परन्तु] यहाँ [व्याजोक्तिमें] प्रकृत तथा अप्रकृतका साम्य नहीं होता है [यही अपह्नुति तथा व्याजोक्तिका भेद है]। उदाहरण [जैसे]—

[शिव-पार्वतीके विवाहमें कन्यादानके अवसरपर] हिमालयके द्वारा समर्पित की जाती हुई पार्वतीके हाथके स्पर्शसे समुद्भूत रोमाञ्चादि [आदि शब्दसे कम्परूप सात्त्विक भावका भी ग्रहण होता है] के कारण [वैवाहिक विधिके] सारे क्रिया-कलापके गड़बड़ा जानेसे [मेरी रति प्रकट हो गयी है इस शङ्कासे] घबड़ाये हुए [और उसके छिपानेके लिए] हाय, हिमालयके हाथ बड़े शीतल हैं कहनेवाले [और उनके इस बहानेको समझ लेनेवाली] हिमालयके अन्तःपुरकी स्त्रियाँ, और [ब्राह्मी आदि] मातृमण्डल एवं [नन्दी आदि] गणोंके द्वारा मुस्कराते हुए देखे गये शिव तुम्हारी रक्षा करें ॥५२०॥

यहाँ [पार्वतीके हाथके स्पर्शसे उत्पन्न सात्त्विकभावरूप] रोमाञ्च तथा कम्प सात्त्विकभावरूपसे प्रकट हो गये परन्तु [हिमालयके हाथके स्पर्शसे] शैत्यके कारण हुए हैं इस प्रकार प्रकाशित करते हुए [उनकी सात्त्विकभावरूपताको] छिपाया गया है इसलिए वे व्याजोक्ति [अलङ्कार] को सूचित करते हैं।

३८. परिसंख्या अलङ्कार—

जिस प्रकार अनुमान अलङ्कार न्याय-दर्शनके प्रतिपाद्य अनुमानप्रमाणके आधारपर बनाया गया है उसी प्रकार परिसंख्या अलङ्कारका आधार मीमांसा-दर्शनके परिसंख्या-विधिको माना जा सकता है। मीमांसा-दर्शनमें विधिके तीन भेद किये गये हैं—१. सामान्य-विधि, २. नियम-विधि तथा ३. परिसंख्या-विधि। जहाँ सर्वथा अप्राप्त बातका विधान किया जाता है वह सामान्य-विधि कहलाता है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' आदि अत्यन्त अप्राप्त अर्थका विधान करते हैं इसलिए वे सामान्य-विधिरूप कहे जाते हैं। पाक्षिक प्राप्ति होनेपर नियम-विधि होता है। जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' इसमें व्रीहि अर्थात् जौका अवघात अर्थात् कूटनेका विधान किया गया है। जौके कूटनेका प्रयोजन उसके छिलकोंको दूर करना है। छिले हुए जौसे पुरोडाश तैयार किया जाता है और उसकी यज्ञमें आहुति दी जाती है। इसलिए जौके वितुषीकरण अर्थात् छिलका हटानेके लिए अवघातका विधान किया गया है। यह वितुषीकरण या छिलके हटानेका कार्य नखविदलन द्वारा भी हो सकता है। जैसे

[सूत्र १८५] –**किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते।**
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ॥११९॥

प्रमाणान्तरावगतमपि वस्तु शब्देन प्रतिपादितं प्रयोजनान्तराभावात्सदृशवस्त्वन्तर-व्यवच्छेदाय यत्पर्यवस्यति सा भवेत्परिसंख्या। अत्र च कथनं प्रश्नपूर्वकं, तदन्यथा च परिदृष्टम्। तथोभयत्र व्यपोह्यमानस्य प्रतीयमानता वाच्यत्वं चेति चत्वारो भेदाः। क्रमेणोदाहरणम्—

(१) किमासेव्यं पुंसां ? सविधमनवद्यं द्युसरितः।
किमेकान्ते ध्येयं ? चरणयुगलं कौस्तुभभृतः।

खरबूजेके बीज छीले जाते हैं इसी प्रकार जौ भी छीले जा सकते हैं। ऐसा सोचकर कोई कूटनेके बजाय नखविदलन द्वारा वितुषीकरणमें प्रवृत्त हो सकता है। उस अवस्थामें अवघातकी प्राप्ति नहीं रहेगी। अर्थात् अवघातकी एक पक्षमें प्राप्ति होती है एक पक्षमें नहीं। इसलिए यह पाक्षिक प्राप्ति है। इस पाक्षिक प्राप्तिमें जब नखविदलन पक्षमें अवघातकी प्राप्ति नहीं रहती उस समय अवघात प्रापक नियम-विधि लागू होता है। उसका अभिप्राय यह है अवघातके द्वारा ही वितुषीकरण करना चाहिये।

तीसरा भेद 'परिसंख्या-विधि' है। जहाँ दोनोंकी युगपत् प्राप्ति हो वहाँ उनमेंसे एकका निषेध करनेवाला विधि 'परिसंख्या-विधि' कहलाता है। वैसे परिसंख्याका स्वरूप तो विधिपरक होता है परन्तु उसका फलितार्थ अन्यके निषेधमें होता है। जैसे 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' यह वाक्य देखनेमें भक्ष्यताका विधान कर रहा है पर उसका आशय भक्षणके विधानमें नहीं अपितु 'पंच पंचनखव्यतिरिक्ता अभक्ष्याः' पाँच पंचनखोंसे अतिरिक्तके भक्षणका निषेध करनेमें है। इसीके आधारपर यहाँ परिसंख्या अलङ्कारका निरूपण किया गया है। इस परिसंख्या अलङ्कारमें भी कही हुई बातका फलितार्थ अन्यका निषेध करनेमें होता है। वह अन्यका निषेध कहीं प्रश्नपूर्वक और कहीं अप्रश्नपूर्वक दो प्रकारसे हो सकता है। और जिस वस्तुका निषेध किया जा रहा है वह भी कहीं वाच्यरूप और कहीं व्यङ्ग्य-रूपसे दो प्रकारका हो सकता है। इस प्रकार परिसंख्याके चार भेद हो जाते हैं।

[सू० १८५]—कोई पूछी गयी या बिना पूछी हुई कही गयी बात जो उसी प्रकारकी अन्य वस्तुके निषेधमें पर्यवसित होती है वह परिसंख्या कहलाता है ॥११९॥

अन्य प्रमाणसे ज्ञात वस्तु भी जब [अनुवादरूपमें] शब्दसे प्रतिपादित होकर, [उस प्रतिपादनका] अन्य प्रयोजन न होनेसे अपने सदृश अन्य वस्तुके निषेधमें परिणत हो जाता है वह परिसंख्या [अलंकार] होता है। यहाँ अन्यके निषेधमें पर्यवसित [होनेवाले वस्तुका] कथन [कहीं] प्रश्नपूर्वक और [कहीं उससे भिन्न अर्थात्] बिना प्रश्नके [दो प्रकारका] देखा जाता है। और दोनों जगह जिसका निषेध किया जा रहा है वह [कहीं] व्यङ्ग्य और [कहीं] वाच्य [दो प्रकारका] होता है। इस प्रकार [परिसंख्याके] चार भेद होते हैं। क्रमसे [चारों भेदोंके उदाहरण [जैसे]—

१. प्रश्नपूर्वक प्रतीयमानव्यवच्छेद्य परिसंख्याका उदाहरण देते हैं—

मनुष्योंको किसका सेवन करना चाहिये ? [यह प्रश्न है, इसका उत्तर देते हैं कि गङ्गाके उत्तम तटका [अर्थात् अन्य नदियोंके तट अथवा स्त्रीनितम्बादिका सेवन नहीं

किमाराध्यं ? पुण्यं, किमभिलषणीयं ? च करुणा ।
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥५२१॥

(२) किं भूषणं सुदृढमत्र ? यशो न रत्नं, किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः ।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ॥५२२॥

(३) कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥५२३॥

करना चाहिये] । एकान्तमें किसका ध्यान करना चाहिये ? [इस प्रश्नका उत्तर है कि कौस्तुभधारी [श्रीकृष्ण भगवान्] के चरणयुगलका [ध्यान करना चाहिये अन्य किसी देवका या स्त्री आदिका ध्यान नहीं करना चाहिये] । किसकी आराधना करनी चाहिये ? [इस प्रश्नका उत्तर है] पुण्यकी [उसका फलितार्थ है कि पापकी नहीं] । और किसकी कामना करनी चाहिये ? [इस प्रश्नका उत्तर है कि] करुणाकी [फलितार्थ है कि अन्य हिंसादिकी कामना नहीं करनी चाहिये] । जिन [द्युसरित आदि] के प्रेमसे चित्त सदाके लिए मुक्तिकी प्राप्ति कर सकता है ॥५२१॥

यहाँ गङ्गातट, विष्णुके चरण-युगल आदिका सेव्यत्व पुराणादिमें प्रसिद्ध ही है इसलिए उनके सेव्यत्वका प्रतिपादन करना इस पद्यका प्रयोजन नहीं है अपितु उनसे भिन्न स्त्रीनितम्बादि अन्य सांसारिक वस्तुओंकी सेव्यताका निषेध करनेके लिए उसकी रचना हुई है । इसलिए यह परिसंख्याका उदाहरण है और वह भी प्रश्नपूर्वक व्यङ्ग्यव्यवच्छेद्य परिसंख्याका ।

२. प्रश्नपूर्वक वाच्यव्यवच्छेद्य परिसंख्याका दूसरा उदाहरण देते हैं—

इस संसारमें चिरस्थायी रहनेवाला अलंकार कौन-सा है ? [यह प्रश्न है, इसका उत्तर देते हैं कि] यश [ही चिरस्थायी रहनेवाला अलंकार है] रत्न नहीं । [मनुष्यको] क्या करना चाहिये ? [इस प्रश्नका उत्तर है कि] सज्जनों द्वारा किया जानेवाला पुण्य कर्म [ही करने योग्य है] दोष [या पाप] नहीं । कहीं भी व्यर्थ न होनेवाला [अर्थात् अपरोक्ष अर्थोंको भी देख सकनेमें समर्थ] नेत्र कौन-सा है ? [इस प्रश्नका उत्तर है कि बुद्धि [ही अपरोक्ष अर्थोंको देख सकनेवाला नेत्र है । यह बाह्य] आँख नहीं । [उत्तर देने-वालेके उत्तरोंसे सन्तुष्ट होकर प्रश्न करनेवाला उत्तरदाताकी प्रशंसा करते हुए कह रहा है कि] तुम्हारे सिवा भले-बुरेके भेदको पहिचाननेवाला और कौन हो सकता है ॥५२२॥

यह यश आदिका चिरस्थायित्व सर्वविदित ही है इसलिए उसका प्रतिपादन इस पद्यका प्रयोजन नहीं है अपितु रत्नादिके चिरस्थायित्वका निषेध करना ही प्रयोजन है । यह निषेध, प्रश्नपूर्वक किया जा रहा है । और जिसका निषेध किया जा रहा है वह रत्नादि भी यहाँ शब्दतः उपात्त होनेसे वाच्य है । इसलिए यह प्रश्नपूर्वक वाच्यव्यच्छेद्य परिसंख्याका उदाहरण है ।

३. अप्रश्नपूर्वक प्रतीयमानव्यवच्छेद्य परिसंख्याका तीसरा उदाहरण देते हैं—

[हे प्रिये] तुम्हारे केशपाशमें वक्रता [घुंघरालापन], तुम्हारे हाथ, पैर, 'अधर'में राग [लालिमा], कुचयुगलमें कठोरता और आँखोंमें चंचलता निवास करती है ॥५२३॥

यहाँ केशपाशमें कुटिलता है इससे हृदयमें कुटिलता नहीं है । हाथ, पैर, अधरमें राग है, इससे

(४) भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे ॥

चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥५२४॥

[सूत्र १८६]–यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता ।
तदा कारणमाला स्यात् ,

उत्तरमुत्तरम्प्रति यथोत्तरम् । उदाहरणम्—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।

गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥५२५॥

अन्य पुरुषमें राग नहीं है। कुचयुगलमें कठोरता है इससे हृदयमें कठोरता नहीं है। और आँखोंमें चंचलता है इससे मनमें चंचलता नहीं है। यह अभिप्राय होनेसे यह परिसंख्याका उदाहरण है। इसमें जिसका निषेध किया जा रहा है उनका शब्दतः ग्रहण नहीं किया गया है और न प्रश्नोत्तरके रूपमें बात कही गयी है इसलिए यह अप्रश्नपूर्विका व्यङ्ग्यव्यवच्छेदिका परिसंख्याका उदाहरण है।

४. अप्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेदिका परिसंख्याका चौथा उदाहरण देते हैं—

प्रायः महापुरुषोंकी परमात्मामें भक्ति पायी जाती है सम्पत्तिमें नहीं, उनको शास्त्रमें व्यसन [रुचि] होता है कामदेवके अस्त्ररूप युवतियोंमें [व्यसन] नहीं होता। उनको यशकी चिन्ता होती है शरीरकी नहीं देखी जाती ॥५२४॥

यहाँ जिनका निषेध किया जा रहा उन विभव आदिका शब्दतः ग्रहण किया गया है। और बातका प्रतिपादन बिना प्रश्नके हुआ है इसलिए यह अप्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेदिका परिसंख्याका उदाहरण है।

३९. कारणमाला अलङ्कार—

[सूत्र १८६]—जहाँ अगले-अगले अर्थके प्रति पहिले-पहिले अर्थ हेतु [रूपमें वर्णित] हों तो वहाँ कारणमाला [नामक अलङ्कार] होता है।

[यहाँ उत्तरं-उत्तरं प्रति] अगले-अगलेके प्रति यह 'यथोत्तरं' [पदका समास तथा अर्थ है] । उदाहरण [जैसे]—

जितेन्द्रियत्व विनयका कारण है और विनयसे गुणोंका प्रकर्ष प्राप्त होता है। गुणोंके प्रकर्षसे लोगोंका अनुराग होता है और जनानुरागसे सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है ॥५२५॥

यहाँ उत्तर-उत्तरके प्रति पूर्व-पूर्वकी हेतुताको उपलक्षण मानकर पूर्व-पूर्वके प्रति उत्तर-उत्तरकी हेतुता वर्णित होनेपर भी कारणमाला अलङ्कार होता है। यहाँ यद्यपि अनेक कार्योंका वर्णन होनेसे कार्यमाला पायी जाती है फिर भी उसमें कारणके ऊपर ही कविका विशेष संरम्भ प्रतीत होता है इसलिए यह कारणमाला अलङ्कार ही माना जाता है।

उद्भट आदि आचार्योंने एक 'हेतु' अलङ्कार भी माना है। वह 'हेतु' अलङ्कार मम्मटके 'काव्यलिङ्ग' तथा 'कारणमाला' दोनों अलङ्कारोंसे भिन्न है। उसका लक्षण 'अभेदेनभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह' 'हेतु' और हेतुमान् अर्थात् कार्य और कारणका अभेद वर्णित होनेपर 'हेतु' अलङ्कार होता है यह किया है। मम्मट उस रूपमें 'हेतु' को अलग अलङ्कार नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि 'आयुर्घृतम्' आदिमें कार्यकारणका अभेद प्रदर्शित किया गया है परन्तु उसमें कोई विशेष चमत्कार नहीं है इसलिए उसको अलङ्कार मानना उचित नहीं है। इसलिए हमने उसका लक्षण नहीं किया है।

हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः इति हेत्वलंकारो न लक्षितः । आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात् ।

अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः ।
रम्योऽयमेति सम्प्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥५२६॥

इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव समाम्नासिषुर्न पुनर्हेत्वलंकारकल्पनयेति पूर्वोक्तकाव्यलिंगमेव हेतुः ॥

[सूत्र १८७]   **–क्रियया तु परस्परम् ॥१२०॥**
वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम् ।

अर्थयोरेकक्रियामुखेन परस्परं कारणत्वे सति अन्योन्यनामाऽलंकारः । उदाहरणम्—

हमारे मतमें काव्यलिङ्ग अलङ्कारका ही दूसरा नाम हेतु अलङ्कार है। इसी बातको आगे कहते हैं—

हेतुमान् [कार्य] के साथ हेतु [कारण] का अभेदसे कथन करना 'हेतु' होता है।

[इस प्रकार उद्भट आदिने जिस 'हेतु' का लक्षण किया है] वह हेतु अलङ्कार हमने प्रतिपादन नहीं किया है [यह 'हेतु' अलङ्कारका हमने लक्षण नहीं किया है]। क्योंकि 'आयुर्घृतम्' [आयुके कारणभूत घीको आयु कह देने] आदिके समान चमत्काररहित होनेके कारण वह कदापि अलंकार कहलाने योग्य नहीं है।

इसपर शङ्का यह होती है कि आगे कहे जानेवाले 'अविरलकमलविकासः' इत्यादि श्लोकको जो कि उद्भटके अनुसार 'हेतु' अलङ्कारका उदाहरण है, भामह आदि प्राचीन आचार्योंने भी काव्यरूप माना है, यदि आप 'हेतु' अलङ्कारको नहीं मानते हैं तो इस श्लोकमें काव्यरूपता न बननेसे भामह आदिके साथ आपका विरोध आता है। इस शङ्काका समाधान मम्मट यह करते हैं कि भामह आदिने जो इसमें काव्यरूपता मानी है वह तो कोमल अनुप्रासके सद्भावसे बन जाती है। इसलिए 'हेतु' को अलग अलङ्कार माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें निम्नलिखित प्रकार कहते हैं—

निरन्तर कमलोंका जिसमें विकास हो रहा है, समस्त भ्रमर-समूहको मस्त करनेवाला, कोकिलाओंका आनन्दस्वरूप, और संसारको उत्कण्ठित करनेवाला यह रमणीय [वसन्त] काल आ रहा है ॥५२६॥

इसमें [भामह आदिने] कोमल अनुप्रासके कारण ही काव्यरूपताका प्रतिपादन किया है, न कि 'हेतु' अलंकारकी कल्पना करके [उसे काव्यरूप माना है]। इसलिए पूर्वोक्त काव्यलिंग [अलंकार] ही 'हेतु' [अलंकार कहा जा सकता।] है। [उससे भिन्न उद्भटका कहा हुआ यह हेतु अलंकार मानने योग्य नहीं है]।

४०. अन्योन्य अलङ्कार—

[सू० १८७]—क्रियाके द्वारा दो पदार्थोंके एक-दूसरेके उत्पादनमें [''यत् वैचित्र्यं'' यह अध्याहार करके अर्थ होगा] अन्योन्य [अलङ्कार कहलाता] है।

एक क्रियाके द्वारा दो पदार्थोंके परस्पर कारण होनेपर अन्योन्य नामक अलङ्कार होता है। जैसे—

हंसाणं सरेहिं सिरी सारिज्जइ अह सराण हंसेहिं ।

अण्णोण्णं विअ एए अप्पाणं णवर गरुअन्ति ॥५२७॥

[हंसानां सरोभिः श्रीः सार्यते अथ सरसां हंसैः ।

अन्योऽन्यमेव एते आत्मानं केवलं गरयन्ति ॥ इति संस्कृतम्]

अत्रोभयेषामपि परस्परं जनकता मिथः श्रीसारतासम्पादनद्वारेण ।

[सूत्र १८८] —उत्तरश्रुतिमात्रतः ।

प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ॥१२१॥

असकृद्यदसम्भाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम् ॥

(१) प्रतिवचनोपलम्भादेव पूर्ववाक्यं यत्र कल्प्यते तदेकं तावदुत्तरम् । उदाहरणम्—

वाणिअअ हत्थिदन्ता कुत्तो अम्हाणं वग्घकित्ती अ ।

जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सोण्ह ॥५२८॥

[वणिजक ! हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च ।

यावत् लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा ॥ इति संस्कृतम्]

हस्तिदन्तव्याघ्रकृत्तीनामहमर्थी, ताः मूल्येन प्रयच्छेति, क्रेतुर्वचनम् अमुना वाक्येन समुन्नीयते ।

तालावोंके द्वारा हंसोंकी शोभा बढ़ती है और हंसोंके द्वारा तालावोंकी श्रीवृद्धि होती है । ये दोनों एक-दूसरेके द्वारा अपने ही गौरवको बढ़ाते हैं ॥५२७॥

यहाँ एक-दूसरेकी श्रीवृद्धिके द्वारा दोनों एक-दूसरेके कारण [जनक] हैं ।

४१. उत्तर अलङ्कार—

[सू० १८८]—उत्तरके श्रवणमात्रसे जहाँ प्रश्न की कल्पना की जाती है [वह उत्तर अलंकार होता है] अथवा प्रश्नके होनेपर अनेक बार जो असम्भाव्य उत्तर दिया जाय वह [दूसरे प्रकारका] उत्तर अलङ्कार होता है ।

उत्तरको सुनकर ही जहाँ पूर्ववाक्य [अर्थात् प्रश्न] की कल्पना कर ली जाय वह एक प्रकारका उत्तर [अलंकार] होता है । जैसे—

हे वणिक् ! जबतक चंचल अलकों [लटों] से युक्त मुखवाली यह पुत्रवधू घरमें घूमती है तबतक हाथी-दाँत और व्याघ्रचर्म हमारे यहाँ कहाँ मिल सकते हैं ? [क्योंकि पुत्र तो इसको छोड़कर बाहर जाता नहीं तब कौन इन चीजोंको लाये] ॥५२८

[यह व्याधका उत्तरवाक्य है । इससे सुननेमात्रसे प्रश्नरूप] मैं हाथी-दाँत और व्याघ्रचर्म लेना चाहता हूँ तुम मूल्य लेकर उनको दो इस क्रय करनेवालेके वाक्यकी कल्पना इस उत्तरवाक्यके द्वारा की जाती है [अतः यहाँ उत्तर अलङ्कार है]।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि प्रश्नके होनेपर उत्तर दिया जाता है इसलिए प्रश्न कारण है, उत्तर कार्य है । उत्तरके सुननेसे प्रश्नका ज्ञान करना कार्यसे कारणका ज्ञान है । इसलिए इसको या तो काव्यलिङ्ग अलङ्कार कहा जा सकता है अथवा फिर अनुमान अलङ्कारके भीतर इसका अन्तर्भाव

न चैतत् काव्यलिंगम्, उत्तरस्य ताद्रूप्यानुपपत्तेः। नहि प्रश्नस्य प्रतिवचनं जनको हेतुः। नापीदमनुमानम्, एकधर्मिनिष्ठतया साध्यसाधनयोरनिर्देशातइत्यलंकारान्तरमेवोत्तरं साधीयः।

(२) प्रश्नादनन्तरं लोकातिक्रान्तगोचरतया यदसंभाव्यरूपं प्रतिवचनं स्यात्तदपरमुत्तरम्। अनयोश्च सकृदुपादाने न चारुताप्रतीतिरित्यसकृदित्युक्तम्। उदाहरणम्—

का विसमा देव्वगई किं लद्धं जं जणो गुणग्गाही।
किं सोक्खं सुकलत्तं किं दुक्खं जं खलो लोओ ॥५२९॥

हो सकता है। इसलिए इस उत्तर अलङ्कारको अलग नहीं मानना चाहिये। इस शङ्काका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें काव्यलिङ्ग तथा अनुमान दोनों अलङ्कारोंसे इस उत्तर अलङ्कारका भेद दिखलाते हैं। काव्यलिङ्ग अलङ्कारसे तो इस उत्तर अलङ्कारका यह भेद है कि यहाँ उत्तरसे प्रश्नकी कल्पना अवश्य की जाती है परन्तु प्रश्न उत्तरका ज्ञापक हेतु है, कारक हेतु नहीं। काव्यलिङ्ग अलङ्कार कारक या उत्पादक हेतुके होनेपर ही होता है। ज्ञापक हेतु काव्यलिङ्ग अलङ्कारका विषय नहीं है। अतः यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार नहीं हो सकता है। अनुमान अलङ्कार यहाँ इसलिए नहीं हो सकता है कि अनुमान स्थलमें साध्य वह्नि, तथा साधन धूम, दोनों एकधर्मी अर्थात् पक्षमें रहते हैं। पक्षमें धूमके होनेपर पक्ष पर्वतादिमें ही वह्निकी सिद्धि होती है। परन्तु यहाँ साध्य अर्थात् प्रश्न क्रेता वणिक-निष्ठ है और साधन उत्तर व्याधनिष्ठ है। इसलिए दोनों एकधर्मिनिष्ठ न होनेसे अनुमान नहीं है। इसलिए यह उत्तरालङ्कार काव्यलिङ्ग तथा अनुमान दोनों अलङ्कारोंसे भिन्न तीसरा अलग ही अलङ्कार है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें कहते हैं—

यह काव्यलिङ्ग [अलंकार] नहीं है। क्योंकि उत्तर [अर्थात् प्रतिवचन काव्यलिङ्गका कारक] हेतु नहीं हो सकता है। [ताद्रूप्यानुपपत्तेः अर्थात् हेतुत्वानुपपत्तेः] क्योंकि [हेतु कारक और ज्ञापक भेदसे दो प्रकारका होता है। इनमेंसे काव्यलिङ्गका विषय केवल कारक हेतु होता है। ज्ञापक हेतु उसका विषय नहीं होता है। परन्तु यहाँ] उत्तर, प्रश्नका कारक हेतु नहीं है। यह काव्यलिङ्ग नहीं हो सकता है]।

और न यह अनुमान [अलंकार] हो सकता है। क्योंकि यहाँ साध्य [प्रश्न] और साधन [उत्तर] दोनोंका एकधर्मिनिष्ठ रूपमें निर्देश नहीं किया गया है। [अनुमानमें जिस पर्वतादिरूप धर्मी अर्थात् पक्षमें धूमादि साधन रहता है उसी धर्मीमें साध्य वह्नि रहता है। यहाँ साधनरूप प्रतिवचन व्याघ्रनिष्ठ है और साध्यरूप प्रश्न वणिक्-निष्ठ है अतः भिन्नाधिकरण होनेके कारण यह अनुमान अलंकार भी नहीं है] इसलिए उत्तरको अलग अलङ्कार मानना ही उचित है।

[उत्तर अलंकारका दूसरा भेद दिखलाते हैं]—अथवा प्रश्नके बाद जो अलौकिक असम्भाव्य-सा उत्तर [अनेक बार] दिया जाता है वह दूसरे प्रकारका उत्तर [अलङ्कार] है। इन दोनोंके एक बार कहनेमें चमत्कारकी प्रतीति नहीं होती है इसलिए [लक्षणमें असकृत्] 'अनेक बार' यह कहा है। उदाहरण [जैसे]—

दुर्ज्ञेय क्या है? दैव [भाग्य] की गति [दुर्ज्ञेय है]। क्या प्राप्त करने योग्य है?

[का विषमा दैवगतिः किं लब्धव्यं यत् जनो गुणग्राही ।
किं सौख्यं सुकलत्रं किं दुःखं यत् खलो लोकः ॥ इति संस्कृतम्]

प्रश्नपरिसंख्यायामन्यव्यपोहे एव तात्पर्यम् । इह तु वाच्ये एव विश्रान्तिरित्यनयोर्विवेकः ॥

[सूत्र १८९]–कुतोऽपि लक्षितःसूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ॥१२२॥
धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते ।

कुतोऽपि आकारादिङ्गिताद्वा । सूक्ष्मस्तीक्ष्णमतिसंवेद्यः । उदाहरणम्—

वक्त्रस्यंदिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुंकुमं कापि कण्ठे ।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख ॥५३०॥

अत्राकृतिमवलोक्य कयाऽपि वितर्कितं पुरुषायितं, असिलतालेखनेन वैदग्ध्यादभिव्यक्तिमुपनीतम् । पुंसामेव कृपाणपाणितायोग्यत्वात् । यथा वा—

गुणग्राहीजन सुख क्या है ? उत्तम भार्या और दुःख क्या है ? दुष्ट आदमी ॥५२९॥

इत्यादि अभी परिसंख्याके भेदोंमें प्रश्नपूर्विका परिसंख्या दिखलायी थी और उसका 'किमासेव्यं पुंसा' (श्लोक ५२१) इसी प्रकारका उदाहरण दिया था । इसलिए यह शङ्का उपस्थित होती है कि प्रश्नपूर्विका 'परिसंख्या' और 'उत्तर'के इस दूसरे प्रकारमें परस्पर क्या भेद है ? इस प्रकारका उत्तर ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें इस प्रकार देते हैं कि—

प्रश्न [पूर्विका] परिसंख्यामें अन्यका निषेध करनेमें ही तात्पर्य होता है और यहाँ [अन्यके निषेधमें तात्पर्य न होकर] वाच्यार्थमें ही विश्रान्ति हो जाती है यही इन [प्रश्नपूर्विका परिसंख्या तथा प्रश्नपूर्वक उत्तररूप] दोनों [अलंकारों] का भेद है ।

४२. सूक्ष्म अलङ्कार—

[सूत्र १८९]—दुर्ज्ञेय [सूक्ष्म] भी अर्थ किसी भी प्रकारसे जान लिया गया है यह बात [अथवा जाना हुआ सूक्ष्म अर्थ भी] जहाँ किसी [आकारादि] धर्मसे दूसरेको बतलायी जाती है उसको सूक्ष्म [अलङ्कार] कहते हैं ।

किसी भी अर्थात् आकार या चेष्टा आदिसे । सूक्ष्म अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धिवालोंके ही समझने योग्य । उदाहरण [जैसे]—

[सम्भोगके बाद निकलती हुई सखीके] मुखपरसे [नीचे गलेकी ओर] बहने वाले पसीनेकी बूँदोंकी धारासे [नायिकाके] कण्ठमें लगी हुई केसरको बिगड़ी हुई देखकर किसी [सूक्ष्म दृष्टिवाली] सखीने मुस्कराते हुए [उस सुभुक्ता] सुन्दरीके [सुरतकालीन] पुरुषायितको सूचित करती हुई [पुरुषत्वसूचक] तलवारकी तस्वीर [उसके] हाथपर बना दी ॥५३०॥

यहाँ [कृतसम्भोगा सखीकी] आकृतिको देखकर किसी [सखी] ने [सुरतकालमें किये हुए उसके] पुरुषायितको ताड़ लिया और [उसके हाथपर] तलवारका चिह्न बनानेके द्वारा चतुरतासे उसको प्रकाशित कर दिया । पुरुषोंके ही हाथमें तलवारके योग्य होनेसे अथवा [इन्द्रियसे लक्षित अर्थके प्रकाशनका उदाहरण] जैसे—

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।

हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥५३१॥

अत्र जिज्ञासितः संकेतकालः कयाचिदिङ्गितमात्रेण विदितो निशासमयशंसिना कमलनिमीलनेन लीलया प्रतिपादितः ॥

[सूत्र १९०]-**उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः ॥१२३॥**

परः पर्यन्तभागोऽवधिर्यस्य धाराधिरोहितया तत्रैवोत्कर्षस्य विश्रान्तेः । उदाहरणम्-

राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं पुरे सौधम् ।

सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम् ॥५३२॥

[सूत्र १९१]-**भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।**

युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः ॥१२४॥

इह यद्देशं कारणं तद्देशमेव कार्यमुत्पद्यमानं दृष्टं यथा धूमादि । यत्र तु हेतुफलरूपयोरपि धर्मयोः केनाप्यतिशयेन नानादेशतया युगपदवभासनम् सा तयोः स्वभावोत्पन्नपरस्परसंगतित्यागादसंगतिः । उदाहरणम्—

किसी चतुर [उपनायिका] ने हँसकर नेत्रोंमें अभिप्राय लानेवाले उपपतिको [मिलनेके] संकेत-समयको जाननेकी इच्छा इसकी है यह जानकर [हाथमेंका] लीला कमल वन्द कर दिया ॥५३१॥

यहाँ जिज्ञासित संकेतकालको किसी [विदग्धा उपनायिका] ने इशारेसे समझ लिया और रात्रि समयके सूचक कमलको वन्द करनेके द्वारा सुन्दरताके साथ उसको प्रकाशित कर दिया है । [इसलिए यह सूक्ष्म अलङ्कारका उदाहरण है] ।

४३. सार अलङ्कार—

[सूत्र १९०]—जहाँ पराकाष्ठा-पर्यन्त उत्तरोत्तर [अगले-अगले] का उत्कर्ष वर्णित हो वह सार [नामक अलङ्कार] होता है ॥१२३॥

पर अर्थात् चरम भाग [पराकाष्ठा] जिसकी अवधि है । क्योंकि क्रमशः बढ़ते हुए उसी [पराकाष्ठा] में उत्कर्षकी विश्रान्ति होती है । उदाहरण [जैसे]—

राज्यका सार पृथिवी है, पृथिवीमें नगर, नगरमें राजमहल, महलमें [सारभूत] पलंग, और पलंगका [भी सार] कामदेवका सर्वस्वभूत वराङ्गना है ॥५३२॥

४४. असङ्गति अलङ्कार—

[सू० १९१]—जहाँ कार्यकारणभूत दो धर्मोंकी भिन्नदेशतया और [युगपत्] एक साथ प्रतीति हो वह असंगति [अलंकार] होता है ॥१२४॥

लोकमें जिस स्थानपर कारण होता है उसी स्थानपर कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है । जैसे धूमादि [कार्य वहीं उत्पन्न होता है जहाँ उसका कारण वह्नि आदि रहता है] । परन्तु जहाँ कार्य कारणभूत दो धर्मोंकी किसी विशेषताके कारण भिन्न देशमें [अथवा] एक साथ प्रतीति होती है उन दोनोंकी स्वभावजन्य परस्पर संगतिके

जस्सेअ वणो तस्सेअ वेअणां भणइ तं जणो अलिअम् ।
दन्तकखअं कवोले वहूए वेअणा सवत्तीणम् ॥५३३॥
[यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति तज्जनोऽलीकम् ।
दन्तक्षतं कपोले वध्वाः वेदना सपत्नीनाम् ॥ इति संस्कृतम्]

एषा च विरोधबाधिनी न विरोधः, भिन्नाधारतयैव द्वयोरिह विरोधिताया: प्रतिभासात् । विरोधे तु विरोधित्वं एकाश्रयनिष्ठमनुक्तमपि पर्यवसितम् । अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य व्यवस्थितेः । तथा चैवं निदर्शितम् ।

[सूत्र १९२]–**समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।**

साधनान्तरोपकृतेन कर्त्रा यदक्लेशेन कार्यमारब्धं समाधीयते स समाधिर्नाम । उदाहरणम्—

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥५३४॥

त्याग देनेसे असङ्गति [अलङ्कार होता] है । [असंगतिका] उदाहरण [जैसे]—

जिसके घाव होता है उसको वेदना होती है [यह बात जो लोग कहते हैं] सो वह संसार झूठ ही कहता है । [क्योंकि पतिके द्वारा किया गया] दन्तक्षत वधूके गालमें है और [उसको देखकर] सपत्नियोंके हृदयमें वेदना होती है ।५३३।

यह [असङ्गति] विरोधकी बाधिका है । [स्वयं] विरोध [अलङ्कार] रूप नहीं है । क्योंकि यहाँ [कारणभूत दन्तक्षत तथा कार्यभूत वेदना] दोनोंका विरोध भिन्नाधारतया ही प्रतीत हो रहा है । विरोध [अलङ्कार]में बिना कहे भी एक आश्रयनिष्ट विरोधित्व ही फलित होता है क्योंकि अपवादके स्थलको छोड़ कर सामान्य नियम [उत्सर्ग] ही सर्वत्र रहता है । यही बात [विरोधाभासके निरूपणमें] दिखलायी भी है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जहाँ भिन्नाधिकरण-धर्मोंका एकाधिकरणमें आ जानेके कारण विरोध प्रतीत होता है वह विरोधाभासका विषय है और जहाँ समानाधिकरण-धर्मोंकी वैयधिकरण्येन प्रतीतिके कारण विरोधका भान हो वहाँ असङ्गति अलङ्कार ही होता है । यह इन दोनोंका भेद है ।

४५. समाधि अलङ्कार—

[सूत्र १९२]—जहाँ अन्य कारणके आ जानेसे कार्य सुकर हो जाता है वहाँ समाधि [अलङ्कार हो] होता है ।

[पूर्वसिद्ध कारणोंके अतिरिक्त] अन्य कारणकी सहायता प्राप्त हो जानेसे जहाँ कर्ता प्रारम्भ किये हुए कार्यको सरलतासे सम्पादन कर लेता है वह समाधि [नामक अलङ्कार] होता है । उदाहरण [जैसे]—

इस [नायिका]के मानको दूर करनेके निमित्त इसके पैरोंपर गिरनेके लिए उद्यत, मेरी सहायताके लिए भाग्यसे मेघोंका गर्जन होने लगा [जिससे इसका मान तत्काल ही दूर हो गया] ।५३४।

[सूत्र १९३]-**समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित् ॥१२५॥**

इदमनयोः श्लाघ्यमिति योग्यतया सम्बन्धस्य नियतविषयमध्यवसानं चेत्तदा समम्। तत्सद्योगेऽसद्योगे च। उदाहरणम्—

(१) धातुः शिल्पातिशयनिकषस्थानमेषा मृगाक्षी,
रूपे देवोऽप्ययमनुपमो दत्तपत्रः स्मरस्य।
जातं दैवात्सदृशमनयोः संगतं यत्तदेतत्,
शृंगारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रम् ॥५३५॥

(२) चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद्विचित्रम्,
जातो दैवादुचितरचनासंविधाता विधाता।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया,
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः ॥५३६॥

[सूत्र १९४]-**क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्।**
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥१२६॥

---

४६. सम अलङ्कार—

[सूत्र १९३]—यदि कहीं [दो विशेष वस्तुओंका] योग्य रूपसे सम्बन्ध वर्णित हो तो सम [नामक अलङ्कार] होता है।१२५।

यह इन दोनों [विशेष वस्तुओं]का [सम्बन्ध] श्लाघ्य है इस प्रकार योग्य होनेसे नियत [वस्तु] विषयक सम्बन्धका निश्चय [अध्यवसान] हो तो [वहाँ] 'सम' [नामक अलङ्कार] होता है। (१) उत्तम वस्तुके]योगमें और (२) असद् वस्तुओंके योगमें [इस तरहसे यह दो प्रकारका] होता है [दोनों प्रकारके] उदाहरण [जैसे]—

(१) यह मृगाक्षी [नायिका] ब्रह्माके रचना-कौशलकी परीक्षाकी कसौटी है और कामदेवका भी [साम्मुख्यके लिए] आह्वान करनेवाला यह राजा भी रूपमें अनुपम है। भाग्यसे इन दोनोंका जो यह मेल हो गया है उससे अब शृंगारका एकच्छत्र राज्य आ गया है [यह समझना चाहिये यह सद्योगमें सम अलङ्कारका उदाहरण है।] ।५३५।

(२) देखो, देखो आश्चर्य, महान् आश्चर्यकी विचित्र बात है कि भाग्यसे विधाता उचित सृष्टि-रचनाका करनेवाला हो गया। क्योंकि [उसने] नीमकी पकी हुई निबौलियोंके अपूर्व रस [स्फीति] को पान करने योग्य बनाया है और उसके खानेकी कलामें निपुण काकसमुदायको बनाया है ॥५३६॥

यहाँ काक और निबौलीके सुन्दर सम्बन्धका वर्णन किया गया है! ये दोनों ही हीन श्रेणीके असत् पदार्थ हैं इसलिए यह असद्योगमें 'सम' अलङ्कारका उदाहरण है।

४७. विषम अलंकार—

[सूत्र १९४]-(१) कहीं [सम्बन्धियोंके] अत्यन्त वैधर्म्यके कारण जो उनका सम्बन्ध न बनता प्रतीत हो [वह एक प्रकारका विषमालङ्कार होता है। और दूसरे

गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः ॥१२७॥

(१) द्वयोरत्यन्तविलक्षणतया यत् अनुपपद्यमानतयैव योगः प्रतीयते (२) यच्च किंचिदारभमाणः कर्ता क्रियायाः प्रणाशात् न केवलमभीष्टं यत्फलं न लभेत यावदप्रार्थितमप्यनर्थं विषयमासादयेत (३) तथा सत्यपि कार्यस्य कारणरूपानुकारे यत् तयोर्गुणौ (४) क्रिये च परस्परं विरुद्धतां व्रजतः स समविपर्ययात्मा चतूरूपो विषमः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१) शिरीषादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायतलोचना ।
अयं क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानलः ॥५३७॥

(२) सिंहिकासुतसन्त्रस्तः शशः शीतांशुमाश्रितः ।
जग्रसे साश्रयं तत्र तमन्यः सिंहिकासुतः ॥५३८॥

प्रकारका विषम अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ कि] (२) कर्ताको [अपनी] क्रियाके [अभीष्ट] फलकी प्राप्ति न हो और उलटा अनर्थ हो जाय [तो वह दूसरे प्रकारका विषमालङ्कार कहलाता है] और (३) कार्यके गुण तथा (४) क्रियासे जो कारणके गुण तथा क्रियाका क्रमशः वैपरीत्य हो वह [तीसरे तथा चौथे प्रकारका] विषम [अलंकार] होता है ॥१२६-१२७॥

(१) दो [सम्बन्धियों] के अत्यन्त भिन्न होनेके कारण जो उनका सम्बन्ध अनुपपद्यमान रूपसे ही प्रतीत होता है [वह प्रथम प्रकारका विषमालङ्कार होता है]। (२) जहाँ किसी [कार्य] को आरम्भ करनेवाला कर्ता क्रियाका नाश हो जानेसे न केवल अपने अभीष्ट फलसे ही वञ्चित हो जाय बल्कि अप्रार्थित अनर्थ विषयको प्राप्त हो [वह दूसरे प्रकारका विषमालङ्कार होता है]। और कार्यके कारणके अनुरूप होनेपर भी जो उनके गुण (३) और क्रिया (४) विरुद्ध हो जायँ तो वह सम [अलंकार] के विपरीत स्वरूपवाला चार प्रकारका विषम [अलंकार] होता है।

क्रमसे [चारों भेदोंके] उदाहरण [आगे देते हैं। जैसे]—

(१) सिरस [के फूल]से भी अधिक कोमल अङ्गोंवाली कहाँ यह दीर्घलोचना [नायिका] और कहाँ तुषाग्निके समान असह्य यह कामाग्नि ॥५३७॥

यहाँ मदनानल और नायिका दोनोंके अत्यन्त विलक्षण होनेसे उनका सम्बन्ध अनुपपन्न सा प्रतीत हो रहा है इसलिए यहाँ विषमालंकार है। श्लोकमें दो बार क्व-शब्दके प्रयोगसे नायिका तथा मदनानलके सम्बन्धकी अनुपपद्यमानता व्यङ्ग्य है। विषमालंकारके दूसरे भेदका उदाहरण है।

(२) शेरनीके बच्चेसे भयभीत होकर हरिण [अपनी रक्षाके लिए] चन्द्रमाकी शरणमें गया किन्तु [वहाँ भी उसकी रक्षा न हो सकी बल्कि वहाँ] उसको [दूसरे सिंहिका-पुत्र अर्थात्] राहुने आश्रय [अर्थात् चन्द्रमा]के सहित ग्रस लिया ।५३८।

यहाँ शेरसे बचनेके लिए मृगने चन्द्रमाकी शरण ली थी परन्तु उसको इष्ट फलकी प्राप्ति न हो सकी। उलटे राहुके द्वारा आश्रय सहित ग्रस लिये जानेसे अनर्थकी प्राप्ति हो गयी है।

(३) सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते ॥५३९॥

(४) आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ! ददासि त्वम् ।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥५४०॥

अत्रानन्ददानं शरीरतापेन विरुध्यते । एवं—

विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥५४१॥

इत्यादावपि विषमत्वं यथायोगमवगन्तव्यम् ।

(३) प्रत्येक युद्धमें जिसके हाथका स्पर्श प्राप्त करके तमालके समान नीलवर्णकी तलवार तुरन्त ही तीनों लोकोंके अलङ्काररूप, शरदिन्दुके समान शुभ्रवर्णके यशको उत्पन्न करती है ।५३९।

यहाँ कार्यभूत यश और कारणभूत कृपाण दोनोंके गुण एक-दूसरेसे विपरीत हैं । कृपाण तमालके समान नीलवर्ण है परन्तु उससे शरदिन्दुके समान शुभ्रवर्ण यशकी उत्पत्ति वर्णित है । इसलिए यह विषमालंकारके तीसरे भेदका उदाहरण है । यह श्लोक पद्मगुप्तके 'नवसाहसांकचरित'का है ।

(४) हे कमलदलके समान नेत्रोंवाली [प्रिये] ! तुम तो इस अमित आनन्दको प्रदान करती हो परन्तु तुमसे उत्पन्न हुआ विरह मेरे शरीरको अत्यन्त सन्तप्त करता है ।५४०।

यहाँ [कारणभूत नायिकाका] आनन्ददान, [कार्यभूत विरहके] शरीरसन्तापका विरोधी है । [इसलिए कारण तथा कार्यकी क्रियाओंके विपरीत होनेके कारण यह विषमालंकारके चौथे भेदका उदाहरण है] ।

इस विषम अलंकारका विरोधालंकारसे यह भेद है कि विरोधालंकारमें विरोधियोंका समाधिकरण्य अपेक्षित होता है, यहाँ विरोधियोंका समानाधिकरण्य नहीं है ! वे कार्य तथा कारणरूप भिन्न अधिकरणोंमें रहते हैं । इसी प्रकार यह असंगति अलंकारसे भी भिन्न है । क्योंकि असंगति अलंकारमें कार्य-कारणकी भिन्नदेशता आवश्यक होती है, यहाँ कार्य-कारण दोनों एक ही देशमें रहते हैं ।

इसी प्रकार—

जिस समुद्रशायी [विष्णु भगवान्]की विशाल कोखमें प्रलयकालमें सारे लोक विलीन हो जाते हैं उसी [श्रीकृष्ण]को मद्यके नशेके कारण पूरे रूपसे न खुलनेवाली एक ही आँखसे नगरकी एक ही स्त्रीने पी लिया [सादर अवलोकन किया] ।५४१।

इत्यादिमें भी यथायोग विषम [अलङ्कार] समझना चाहिये ।

'यथायोग विषमत्व' समझ लेना चाहिये यह जो यहाँ कहा है इसका अभिप्राय यह है कि विषमालंकारमें जिन चार प्रकारके वैषम्योंका उल्लेख किया गया है उनमेंसे कई प्रकारके वैषम्य यहाँ बन सकते हैं । और उनसे भिन्न प्रकारके वैषम्यका भी उपपादन हो सकता है । उदाहरणार्थ, यहाँ जिस शरीरके कुक्षिरूप अवयवमें सारा लोक समा जाता है उस सम्पूर्ण शरीररूप अवयवीको एक स्त्रीने एक ही अपूर्ण अधखुली दृष्टिसे पान कर लिया यह अवयव और अवयवीका योग अनु-

[सूत्र १९५]–**महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।**
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥१२८॥

आश्रितमाधेयम् आश्रयस्तदाधारः । तयोर्महतोरपि विषये तदपेक्षया तनू अप्याश्रयाश्रयिणौ प्रस्तुतवस्तुप्रकर्षविवक्षया यथाक्रमं यत् अधिकतरतां व्रजतः तदिदं द्विविधम् अधिकं नाम । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) अहो विशालं भूपाल ! भुवनत्रितयोदरम् ।
मातिमातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥५४२॥

(२) युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥५४३॥

पपद्यमान है । इसी प्रकार एक जगह विष्णुकी कुक्षि लोकोंका पान करनेवाली [कर्ता] है और दूसरी जगह शरीररूप होनेसे पानका विषय [पानका कर्म] है । यह दूसरी अनुपपद्यमानता है । जगदाधार जगदीश्वरको, नेत्रके एक भागसे पान कर जानेका अत्यन्त वैलक्षण्य होनेसे तृतीय प्रकारकी अनुपपद्यमानता है । इसलिए अनेक प्रकारका वैषम्य होनेसे यहाँ भी विषमालंकार है ।

४८. अधिक अलङ्कार—

[सूत्र १९५]—[स्वभावतः] महान् आधेय और आधारके क्रमसे आधार और आधेय छोटे होनेपर भी [वर्णनीय वस्तुके उत्कर्षबोधनके लिए] महान् दिखलाये जायँ तो वह [दो प्रकारका] अधिक [अलङ्कार] होता है ॥१२८॥

आश्रित अर्थात् आधेय, और आश्रय अर्थात् उसका आधार । उन दोनोंके [स्वरूपतः] महान् होनेपर भी उनकी अपेक्षा छोटे भी आधार तथा आधेय [अर्थात् बड़े आधेयकी अपेक्षा छोटे आधार, और बड़े आधारकी अपेक्षा छोटे आधेय] प्रस्तुत वस्तुके उत्कर्षको कहनेकी इच्छासे जो अधिक [बड़े] करके वर्णन किये जाते हैं वह दो प्रकारका अधिक [अलंकार] होता है । क्रमशः [दोनों भेदोंके] उदाहरण [जैसे]—

(१) हे राजन् ! यह तीनों लोकोंका पेट बड़ा विशाल है जिसमें आपका यश अपरिमेय होने पर भी समा गया है ॥५४२॥

यहाँ यशोराशि आधेय है, उसकी अपेक्षा उसका आधार 'भुवनत्रितयोदर' छोटा है । परन्तु उस यशोराशिके 'महत्त्वको प्रदर्शन करनेके लिए उस लघुतर आधारकी भी विशालताका वर्णन 'अहो विशालं भूपाल भुवनत्रितयोदरं, कह कर किया गया है । अतः यहाँ अधिक अलङ्कारका आश्रय-लाघवरूप प्रथम भेद है । आधेय-लाघवरूप दूसरे भेदका उदाहरण आगे देते हैं—

(२) प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंका अपने भीतर लय कर लेनेवाले विष्णु भगवान्के जिस शरीरमें सारा जगत् अपने विस्तार सहित समा जाता है उस शरीरमें तपोधन [नारद मुनि]के आनेसे उत्पन्न हुई प्रसन्नता न समा सकी ॥५४३॥

यहाँ आधेय प्रसन्नताके आधारभूत कृष्णदेह (भगवच्छरीर) की अपेक्षा अल्प होनेपर भी उसके उत्कर्ष-प्रदर्शनके लिए उसके आधिक्यका वर्णन किया गया है अतः यह अधिक अलङ्कारके आधेय-लाघवरूप दूसरे भेदका उदाहरण है ।

[सूत्र १९६]—**प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।**
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥१२९॥

न्यक्कृतिपरमपि विपक्षं साक्षान्निरसितुमशक्तेन केनापि यत् तमेव प्रतिपक्षमुत्कर्षयितुं तदाश्रितस्य तिरस्करणम् तदनीकप्रतिनिधितुल्यत्वात् प्रत्यनीकमभिधीयते । यथाऽनीकेऽभियोज्ये तत्प्रतिनिधिभूतमपरं मूढतया केनचिदभियुज्यते, तथेह प्रतियोगिनि विजेये तदीयोऽन्यो विजीयते इत्यर्थः । उदाहरणम्—

त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः सा च सुन्दर ! भवत्यनुरक्ता ।
पञ्चभिर्युगपदेव शरैस्तां तापयत्यनुशयादिव कामः ॥५४४॥

यथा वा—

यस्य किंचिदपकर्त्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः ।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनाऽपि बाधते ॥५४५॥

इन्दोरत्र तदीयता सम्बन्धिसम्बन्धात् ॥

---

४९. प्रत्यनीक अलङ्कार—

[सूत्र १९६]—**अपने प्रतिपक्षी [शत्रु]का अपकार कर सकनेमें असमर्थ [व्यक्ति]के द्वारा उस [प्रतिपक्षी]के किसी [सम्बन्धी वस्तु]का जो उसकी स्तुतिमें पर्यवसित होनेवाला तिरस्कार करना है वह प्रत्यनीक [अलङ्कार] कहलाता है ।१२९।**

अपना तिरस्कार करनेवाले प्रतिपक्षीका भी साक्षात् अपकार करनेमें असमर्थ किसी [व्यक्ति]के द्वारा [फलतः] उसी प्रतिपक्षीके उत्कर्ष सम्पादनार्थ जो उसके आश्रितका तिरस्कार करना है वह [प्रतिः प्रतिनिधि प्रतिदानयोः १, ४, ९२ इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार प्रति शब्द यहाँ प्रतिनिधिके अर्थमें है ।] अनीक [सेना]के प्रतिनिधिके तुल्य होनेसे [यह अलङ्कार] प्रत्यनीक [नामसे] कहा जाता है । जैसे सेनाके ऊपर आक्रमण करनेके अवसरपर किसीके द्वारा मूर्खतासे उसके प्रतिनिधिभूत दूसरेपर आक्रमण कर दिया जाता है इसी प्रकार यहाँ प्रतिपक्षीको विजय करनेके स्थानपर उसके सम्बन्धी दूसरेको विजय किया जाता है [इसलिए इस अलङ्कारकी प्रत्यनीक यह अन्वर्थ संज्ञा है] । उदाहरण [जैसे]—

हे सुन्दर [नायक] ! तुमने कामदेवके सौन्दर्यको जीत लिया है, कारण [कामदेव तुम्हारा तो कुछ नहीं बिगाड़ पाता है परन्तु] वह [नायिका] तुमपर अनुरक्त [तुम्हारी] है इसीलिए कामदेव पाँचों बाणोंसे एक साथ ही उसको अत्यन्त पीड़ित कर रहा है ।५४४।

अथवा जैसे—

[श्री कृष्णके द्वारा राहुके 'कायनिग्रह' अर्थात्] सिर काट डाले जानेके कारण उनसे वैर माननेवाला [गृहीतविग्रहः] राहु जिस [कृष्ण]का कुछ भी बिगाड़ सकनेमें असमर्थ होनेपर उस [कृष्णका] सुन्दर मुखके समान आकृतिवाले चन्द्रमाको आज भी पीड़ित कर रहा है [और इसीसे अपनेको कृतकृत्य मानता है] ।५४५।

[सू० १९७]–**समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते ।**
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥१३०॥

सहजमागन्तुकं वा किमपि साधारणं यत् लक्षणं, तद्द्वारेण यत्किंचित् केनचिद्वस्तुना वस्तुस्थित्यैव बलीयस्तया तिरोधीयते तन्मीलितमिति द्विधा स्मरन्ति । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) अपाङ्गतरले दृशौ मधुरवक्रवर्णा गिरो,
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम् ।
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशः स्वतो लीलया,
तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते ॥५४६॥

अत्र दृक्तरलतादिकमङ्गस्य लिङ्गं स्वाभाविकं, साधारणं च मदोदयेन, तत्राप्येतस्य दर्शनात् ।

यहाँ [कृष्णके साक्षात्] सम्बन्धी [मुख] के साथ सम्बन्ध होनेसे चन्द्रमा उन [कृष्णका] परम्परासे सम्बन्धी है ।

५०. मीलित अलङ्कार—

[सूत्र १९७]—जहाँ अपने (१) स्वाभाविक अथवा (२) आगन्तुक [तिरोधायक तथा तिरोधीयमान दोनोंमें समानरूपसे रहनेके कारण] साधारण चिह्नसे किसीके द्वारा वस्तुका आच्छादन कर दिया जाय वह मीलित [अलङ्कार कहलाता] है ॥१३०॥

(१) स्वाभाविक अथवा (२) औपाधिक [आगन्तुक] जो कोई [तिरोधीयमान एवं तिरोधायकका] साधारण चिह्न, उससे जो किसीका किसी वस्तुके द्वारा बलवान् होनेसे वास्तविक रूपमें [अन्य वस्तुका] तिरोधान कर देना है वह मीलित [अलङ्कार] कहलाता है । और वह भी [सहज तथा आगन्तुक भेदसे] दो प्रकारका होता है । क्रमसे [दोनों भेदोंके] उदाहरण [जैसे]—

(१) [नायिकाके] नेत्र, प्रान्तोंमें [कटाक्ष करनेमें] चंचल हो रहे हैं, वाणी मधुर और वक्रोक्तिपूर्ण है, गति सौन्दर्यातिशयके कारण मन्द है और मुख अत्यन्त सुन्दर हो रहा है । इस प्रकार मृगनयनीके सुन्दर शरीरमें विलासका स्वयं ही उदय हो रहा है । इसलिए इसमें [मादक द्रव्यके सेवनसे अथवा धनादिके कारण होनेवाले] मदके उदयको कोई स्थान ही नहीं मिला दीखता है ॥५४६॥

यहाँ नायिकाके शरीरमें दृक्तरलत्व आदि स्वाभाविक चिह्न पाये जाते हैं । ये चिह्न मदकी अवस्थामें भी होते हैं । इसलिए साधारण चिह्न हैं । इस प्रकार स्वाभाविकतया प्रसिद्ध होनेके कारण बलवान् होनेसे उनके द्वारा 'मदोदय' रूप वस्तुका तिरोधान कर दिया गया है अतः मीलित अलंकार है ।

यहाँ नेत्रोंकी चंचलता आदि शरीरके स्वाभाविक चिन्ह हैं और मदोदय [मदिरादिजन्य नशे] के समान [चिह्न] हैं । क्योंकि उन [नशा आदि] के होनेपर भी ये देखे जाते हैं ।

(२) ये कन्दरासु निवसन्ति सदा हिमाद्रे-
स्त्वत्पातशंकितधियो विवशा द्विषस्ते ।
अप्यङ्गमत्पुकलमुद्वहतां सकम्पं,
तेषामहो बत भियां न बुधोऽप्यभिज्ञः ॥५४७ ॥

अत्र तु सामर्थ्यादवसितस्य शैत्यस्य आगन्तुकत्वात् तत्प्रभवयोरपि कम्पपुलकयो-स्ताद्रूप्यं समानता च भयेष्वपि तयोरुपलक्षितत्वात् ।

[सू० १९८]–**स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् ।**
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥१३१॥

पूर्वं पूर्वं प्रति यथोत्तरस्य वस्तुनो वीप्सया विशेषणभावेन यत्स्थापनं निषेधो वा सम्भवति सा द्विधा बुधैरेकावली भण्यते । क्रमेणोदाहरणम्—

---

(२) हे राजन ! तुम्हारे जो शत्रु तुम्हारे आक्रमणके भयसे विवश होकर सदा हिमालयकी कन्दराओंमें रहते हैं उनके [तुम्हारे भयके कारण] काँपते हुए और रोमाञ्च-युक्त शरीर धारण करनेपर भी [यह कम्प और रोमाञ्च हिमालयके शैत्याधिक्यके कारण है ऐसा समझ कर] बुद्धिमान् व्यक्ति भी उन [शत्रुओं]के भयको [अनुमान द्वारा] नहीं जान पाता है ।५४७।

यहाँ [हिमालयकी कन्दराओंमें निवास करनेके कारण उसके] सामर्थ्यसे निश्चित किये गये शैत्यके आगन्तुक [धर्म] होनेसे उस [शैत्य]से उत्पन्न कँपकँपी और रोमाञ्च भी उसी प्रकारके [अर्थात् आगन्तुक धर्म] हैं । और उनकी [भयजन्य कम्प तथा रोमाञ्चके साथ] समानता भी है । क्योंकि भय [के अवसरों]में भी उन [कम्प तथा रोमाञ्च] दोनोंको देखा जाता है ।

इस प्रकार यहाँ हिमालयके सामीप्यके कारण प्रबल शीतरूप वस्तु, आगन्तुक एवं भय चिह्नोंके साथ मिलते हुए साधारण, कम्प तथा रोमाञ्चरूप चिह्नोंसे, भयरूप वस्तुको तिरोहित कर रहा है अतएव यह भी मीलितके दूसरे भेदका उदाहरण है ।

५१. एकावली अलंकार—

[सूत्र १९८]—**जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तुके प्रति उत्तर-उत्तर वस्तु विशेषणरूपसे (१) रखी जाय अथवा (२) हटायी जाय वह दो प्रकारका एकावली होता है ॥१३१॥**

पूर्व-पूर्व वस्तुके प्रति उत्तर-उत्तर[बादमें आयी हुई] वस्तुका अनेक बार [वीप्सया] विशेषणरूपसे (१) प्रतिपादन अथवा (२) निषेध होता है वह दो प्रकारका एकावली विद्वानोंके द्वारा कहा जाता है । क्रमसे [दोनों भेदोंके] उदाहरण [जैसे]—

यह श्लोक पद्मगुप्त-प्रणीत 'नवसाहसाङ्कचरित' के प्रथम सर्गमें राजा विक्रमादित्यकी राजधानी उज्जयिनीके वर्णनमें आया है । इसमें पुर-शब्दका प्रयोग विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है । 'पुर' का साधारणतया प्रचलित अर्थ 'नगर' है परन्तु वह यहाँ सङ्गत नहीं हो सकता है । इसलिए 'आगारे नगरे पुरम्' इस अमरकोशके अनुसार, अथवा 'गृहोपरिगृहं पुरम्' इस धरणीकोशके अनुसार 'पुर' शब्द 'घरके ऊपरके कमरे' का वाचक है । श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

(१) पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्ग्यः ।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासम् अस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥५४८॥

(२) न तज्जलं यन्न सुचारुपंकजं न पंकजं तद्यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ कलगुंजितो न यो न गुंजितं तन्न जहार यन्मनः ॥५४९॥

पूर्वत्र पुराणां वराङ्गनाः, तासामङ्गविशेषणमुखेन रूपम् , तस्य विलासाः तेषामप्यस्त्रम्, इत्यमुना क्रमेण विशेषणं विधीयते । उत्तरत्र प्रतिषेधेऽप्येवं योज्यम् ॥

[सू० १९९]–**यथाऽनुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः ।**

स्मरणम्

यः पदार्थः केनचिदाकारेण नियतः यदा कदाचिदनुभूतोऽभूत् , स कालान्तरे स्मृति-

(१) जिस [उज्जयिनी नगरी] में घर, सुन्दरियों [वराङ्गनाओं] से युक्त हैं, और उन सुन्दरियोंके शरीर, रूपसे युक्त हैं, रूपमें हाव-भाव [विलास] प्रकट हो रहे हैं, और वे विलास कामदेवके अस्त्र [का काम कर रहे] हैं ॥५४८॥

इसमें पहिले चरण में 'पुर' का विशेषण 'वराङ्गना' है । दूसरे चरणमें 'वरांगना' का विशेषण 'रूपपुरस्कृताङ्ग्यः' रखा गया है । इसी प्रकार तीसरे चरणमें 'रूप' का विशेषण 'समुन्मीलितसद्विलासं' रखा गया है और चौथे चरणमें उन विलासोंको 'कुसुमायुधका अस्त्र' बनाया गया है। इस प्रकार पूर्व-पूर्वके प्रति विशेषणरूपमें उत्तर-उत्तरके स्थापित किये जानेसे यह पहिले प्रकारके एकावली-अलंकारका उदाहरण है । दूसरे प्रकारके निषेधात्मक एकावलीका उदाहरण आगे देते हैं—

(२) जिसमें सुन्दर कमल न हों वह जल [जलाशय] ही नहीं है । जिसके भीतर भ्रमर न बैठे हों वह कमल ही नहीं है । जो मनोहर गुंजन नहीं करता है वह भ्रमर ही नहीं है । और जो मनको हरण न कर ले वह गुञ्जन ही नहीं है ॥५४९॥

हिन्दीके किसी कविने इस श्लोकका पद्यानुवाद इस प्रकार किया है—

सो नहिं सर, जित सरसिज नाहीं,
सरसिज नहिं, जेहिं अलि न लुभाहीं ।
अलि नहिं जो कल गुञ्जनहीना,
गुंजन नहिं जु मन न हरि लीना ॥

पहिले श्लोकमें 'पुर'के [विशेषणरूपमें] वराङ्गना, [फिर] उनके विशेषणरूपमें सौन्दर्य [रूप], उसके [विशेषणरूपमें] विलास, और उनके [विशेषणरूपमें] अस्त्र, इस प्रकार क्रमसे विशेषणोंकी स्थापना की गयी है [अतः वह प्रथमकी एकावलीका उदाहरण है] । दूसरे श्लोकमें इसी प्रकार निषेधके विषयमें भी सङ्गत कर लेना चाहिये ।

५२. स्मरण अलङ्कार—

[सूत्र १९९]—उस [पहिले देखी हुई वस्तु] के समान [दूसरी वस्तु] को देखकर [अथवा सुनकर, अर्थात् पूर्वदृष्ट वस्तुके सदृश वस्तुका किसी प्रकारसे ज्ञान प्राप्तकर] पूर्व अनुभवके अनुसार वस्तुकी स्मृति होना स्मरण [नामक अलंकार कहलाता] है ।

जो पदार्थ किसी आकार-विशेषसे निश्चित है [अर्थात्] कभी [उस रूपसे]

प्रतिबोधाधायिनि तत्समाने वस्तुनि दृष्टे सति यत्तथैव स्मर्यते तद्भवेत्स्मरणम्। उदाहरणम्—

निम्ननाभिकुहरेषु यदम्भः प्लवितं चलदृशां लहरीभिः ।
तद्भवैः कुहरुतैः सुरनार्यः स्मारिताः सुरतकण्ठरुतानाम् ॥५५०॥

यथा वा—

करजुअगहिअजसोआत्थणमुहविणिवेसिआहरपुडस्स ।
सम्भरिअपंचजण्णस्य णमहवराहस्य रोमाञ्चम् ॥५५१॥
[करयुगगृहीतयशोदास्तनमुखविनिवेशिताधरपुटस्य ।
संस्मृतपाञ्चजन्यस्य नमत कृष्णस्य रोमाञ्चम् ॥ इति संस्कृतम्]

[सू० २००]–**भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने ॥१३२॥**

तदिति अन्यत् अप्राकरणिकं निर्दिश्यते । तेन समानं अर्थादिह प्राकरणिकम् आश्रीयते। तस्य तथाविधस्य दृष्टौ सत्यां यत् अप्राकरणिकतया संवेदनं स भ्रान्तिमान् ।

न चैव रूपकं प्रथमातिशयोक्तिर्वा । तत्र वस्तुतो भ्रमस्याभावात् । इह च अर्थानुगमनेन संज्ञायाः प्रवृत्तेः; तस्य स्पष्टमेव प्रतिपन्नत्वात् । उदाहरणम्—

अनुभव किया गया हो, दूसरे समय [स्मृतिके कारणभूत] संस्कारोद्बोधक समान वस्तुके देखनेपर उसका जो उसी रूपमें स्मरण होता है वह स्मरण [नामक अलङ्कार] होता है। उदाहरण [जैसे]—

यह स्मृति कहीं इसी जन्ममें अनुभूत अर्थकी होती है और कहीं पूर्वजन्ममें अनुभूत अर्थकी। इस प्रकार इस अलंकारके दो भेद हो जाते हैं। उसी क्रमसे पहिले इस जन्मकी अनुभूत वस्तुकी स्मृतिका उदाहरण देते हैं। इस श्लोकमें सुरनारियों अर्थात् अप्सराओंकी जलक्रीडाका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

(१) चंचल नेत्रोंवाली अप्सराओंकी गहरी नाभिके कुहरोंमें लहरोंने जो पानी फेंका उससे उत्पन्न [कुहरुत] 'कुह' इस प्रकारकी [अनुकरणात्मक] ध्वनिसे अप्सराओंको [अपने] सुरतकालीन कण्ठध्वनिका स्मरण हो आया।५५०।

अथवा जैसे—

(२) दोनों हाथोंमें यशोदा [माता]के स्तनको पकड़ कर उसपर होठ लगाये हुए [स्तनोंके शंखसदृश होनेसे] पाञ्चजन्य [नामक अपने शंख]का स्मरण करनेवाले कृष्णके रोमाञ्चको नमस्कार करो।५५१।

५३. भ्रान्तिमान् अलङ्कार—

[सूत्र २००]—उस [अन्य अप्राकरणिक वस्तु]के समान [प्राकरणिक वस्तु] के देखनेपर जो अन्य वस्तु [अप्राकरणिक अर्थ]का भान होना है वह भ्रान्तिमान् [अलङ्कार, कहलाता] है ॥१३२॥

[कारिकामें आये हुए] 'तत्' इस पदसे 'अन्य' अर्थात् 'अप्राकरणिक'का निर्देश किया गया है। उसके समान अर्थात् प्राकरणिकका यहाँ ग्रहण किया जाता है। उस प्रकारकी उस [अप्राकरणिकके सदृश प्राकरणिक] वस्तुके देखनेपर जो [उस प्राकरणिक वस्तु] की अप्राकरणिक रूपसे प्रतीति है वह भ्रान्तिमान् [अलङ्कार] कहलाता है।

कपाले मार्जारः पय इति करान् लेढि शशिनः,
तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी संकलयति ।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति,
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति ॥५५२॥

[सू० २०१]-**आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।**
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥१३३॥

(१) अस्य धुरं सुतरामुपमेयमेव वोढुं प्रौढमिति कैमर्थ्येन यदुपमानमाक्षिप्यते (२) यदपि तस्यैवोपमानतया प्रसिद्धस्य उपमानान्तरविवक्षयाऽनादरार्थमुपमेयभावः कल्प्यते, तदुपमेयस्योपमानप्रतिकूलवर्तित्वादुभयरूपं प्रतीपम् । क्रमेणोदाहरणम्—

इस प्रकार यह रूपक, अथवा [निगर्याध्वसानरूपा] प्रथमा अतिशयोक्ति नहीं है। क्योंकि उन दोनोंमें वास्तवमें भ्रम नहीं होता है और यहाँ अन्वर्थ संज्ञा [अर्थानुकूल नाम] होनेके कारण उस [भ्रान्ति] की स्पष्ट स्वीकृति होनेसे [यह भ्रान्तिमान् अलंकार रूपक तथा प्रथम अतिशयोक्ति दोनोंसे भिन्न है । भ्रान्तिमान्‌का] उदाहरण [जैसे]—

'शार्ङ्गधरपद्धति' में इसे भासका श्लोक बतलाया गया है । इसमें चन्द्रमाकी निर्मल चाँदनीका भ्रान्तिमान् अलङ्कार द्वारा सौन्दर्य प्रदर्शित करते हुए कवि कहता है कि—

खप्परमें [पड़ी हुई] चन्द्रमाकी किरणोंको यह दूध है ऐसा समझकर बिल्ली चाट रही है। वृक्षके छिद्रों [पत्तोंके बीचमें] से निकलती हुई [किरणों] को हाथी मृणाल-दण्ड समझ लेता है। स्त्री सुरत-सम्भोगके बाद पलँगपर फैली हुई [किरणोंको] यह शुभ्र वस्त्र है यह समझकर समेटने लगती है। इस प्रकार प्रभासे मत्त चन्द्रमा इस संसारको भ्रममें डाल रहा है यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥५५२॥

५४. प्रतीप अलङ्कार—

[सूत्र २०१]—उपमान [की सत्ता] पर आक्षेप [अर्थात् उसकी व्यर्थताका प्रतिपादन] करना [प्रथम प्रकारका] प्रतीप[अलङ्कार होता] है। अथवा [उस उपमानके] अनादरके [सूचनके] लिए यदि उसी [उपमान]को उपमेय बना दिया जाय [तो वह दूसरे प्रकारका प्रतीप अलङ्कार होता है] ॥१३३॥

(१) इस [उपमान] के कार्यको उपमेय ही भली प्रकारसे सम्पादन करनेमें समर्थ है फिर इस [उपमान] की रचना किसलिए की गयी है इस प्रकार जो उपमान [की सत्ता] पर आक्षेप किया जाता है [वह प्रथम प्रकारका प्रतीप अलङ्कार होता है] और (२) जो उसी उपमानरूपसे प्रसिद्धका [उसके लिए] दूसरे उपमान बननेकी विवक्षा करके [प्रसिद्ध उपमानके] तिरस्कारके लिए उसकी जो उपमेयरूपमें कल्पना कर ली जाय वह [भी] उपमेयके [प्रसिद्ध] उपमानके प्रतिकूलवर्ती होनेसे दोनों प्रकारका प्रतीप [अलङ्कार] होता है। क्रमसे [दोनों प्रकारके] उदाहरण [जैसे]—

(१) लावण्यौकसि सप्रतापगरिमण्यग्रेसरे त्यागिनां,
देव ! त्वय्यवनीभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा ।
इन्दुः किं घटितः किमेष विहितः पूषा किमुत्पादितं,
चिन्तारत्नमहो मुधैव किममी सृष्टाः कुलक्ष्माभृतः ॥५५३॥

(२) ए एहि दाव सुन्दरि कण्णं दाऊण सुणसु वअणिज्जम् ।
तुज्झ मुहेण किसोअरि चन्दो उअमिज्जइ जणेण ॥५५४॥
[अयि एहि तावत् सुन्दरि ! कर्णं दत्त्वा शृणुष्व वचनीयम् ।
तव मुखेन कृशोदरि ! चन्द्र उपमीयते जनेन ॥ इति संस्कृतम]

अत्र मुखेनोपमीयमानस्य शशिनः स्वल्पतरगुणत्वात् उपमित्यनिष्पत्त्या 'वअणिज्जम्' इति वचनीयपदाभिव्यङ्ग्यस्तिरस्कारः ।

क्वचित्तु निष्पन्नैवोपमितिक्रियाऽनादरनिबन्धनम् । यथा—

---

(१) सौन्दर्यके सागर, तेजस्वियोंके गौरवरूप और दाताओं [त्यागिनां] के नायक हे राजन् ! पृथिवीके भारको धारण करने योग्य भुजाओंवाले आपको उत्पन्न करनेके बाद ब्रह्माने चन्द्रमाको क्यों बनाया ? [उसका कार्य तो सौन्दर्य-निधान होनेसे आप ही कर सकते थे] । इस सूर्यको भी क्यों बनाया ? [आपके तेजसे ही उसका काम पूरा हो जाता] और यह चिन्तामणि [रत्न] क्यों उत्पन्न किया ? [उसका कार्य याचकों तृप्ति तो आप ही कर रहे हैं] । और [पृथ्वीके भारको धारण करनेके लिए जब आपकी भुजाएँ विद्यमान हैं तब] इन कुलपर्वतोंकी रचना व्यर्थ ही क्यों की है ? ॥५५३॥

यहाँ लावण्यादि गुणोंसे युक्त राजाके होनेपर चन्द्रमा आदि प्रसिद्ध उपमानोंकी व्यर्थता सूचित की गयी है इसलिए यह प्रथम प्रकारके प्रतीप अलंकारका उदाहरण है ।

हिन्दीका निम्नलिखित पद्य इस प्रकारके प्रथम 'प्रतीप' अलङ्कारका सुन्दर उदाहरण है—

जहँ राधा आनन उदित निसि बासर आनन्द ।
तहाँ कहा अरविन्द हैं कहा बापुरो चन्द ॥

यहाँ उपमेयभूत राधा-आननके सामने उपमानभूत अरविन्द तथा चन्द्रकी व्यर्थता प्रदर्शित कर उनका तिरस्कार किया गया है । अतः यह प्रतीप अलङ्कारका उदाहरण है ।

प्रसिद्ध उपमानकी उपमेयरूपसे कल्पना करनेपर दूसरे प्रकारका प्रतीप अलंकार होता है, उसका उदाहरण आगे देते हैं—

(२) हे सुन्दरि ! तनिक इधर आओ और कान लगा कर [अपनी] इस निन्दाको सुनो । हे कृशोदरि ! देखो लोग तुम्हारे मुखसे चन्द्रमाकी उपमा देते हैं ।

यहाँ मुख [रूप उपमान] के साथ जिसकी उपमा दी जा रही है उस [उपमेय] चन्द्रमाके [तुम्हारे मुखकी अपेक्षा] कम गुणोंसे युक्त होनेके कारण यह उपमा बनती ही नहीं है इस प्रकार 'वचनीयं' पदसे [चन्द्रमाका] तिरस्कार व्यङ्ग्य है ।

कहीं उपमिति क्रिया उपपन्न होकर ही [प्रसिद्ध उपमानके] तिरस्कारका कारण होती है । जैसे—

(३) गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन किं वहसि मुग्धे ! ।
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि ॥५५५॥

इहोपमेयीकरणमेवोत्पलानामनादरः ।

अनयैव रीत्या यदसामान्यगुणयोगात् नोपमानभावमपि अनुभूतपूर्वि तस्य तत्कल्पनायामपि भवति प्रतीपमिति प्रत्येतव्यम् । यथा—

(४) अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल ! तात ! मास्म दृप्यः ।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम् ॥५५६॥

अत्र हालाहलस्योपमानत्वमसम्भाव्यमेवोपनिबद्धम् ।

[सू० २०२]–प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात् तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥१३४॥

अतादृशमपि तादृशतया विवक्षितुं यत् अप्रस्तुतार्थेन सम्पृक्तमपरित्यक्तनिजगुणमेव तदेकात्मतया निबध्यते तत्समानगुणनिबन्धनात्सामान्यम् । उदाहरणम्—

(३) हे मुग्धे ! इन दोनों आँखोंके ऊपर तुम इतना अपार अभिमान क्यों करती हो । ऐसे नीलकमल तो तालाबोंमें चारों ओर पाये जाते हैं ॥५५५॥

यहाँ कमलोंको उपमेय बना देना ही उनका अनादर करना है [क्योंकि वे तो सदा उपमानरूपसे ही प्रसिद्ध रहे हैं]।

इसी प्रकार [जो वस्तु] असाधारण गुणके कारण पहिले कभी उपमान नहीं बनी है [अर्थात् जो उपमानरूपसे प्रसिद्ध नहीं है] उसकी उस [उपमान] रूपमें कल्पना होनेपर भी प्रतीप [अलंकार] होता है यह समझना चाहिये । जैसे—

(४) अरे बेटा हालाहल ! मैं ही अत्यन्त भयंकर लोगोंका गुरु हूँ ऐसा समझकर अभिमान न करो, इस संसारमें ऐसे दुर्जनोंके बहुतेरे वचन पाये जाते हैं ॥५५६॥

यहाँ हालाहलका असम्भाव्य उपमानत्व दिखलाया है [जो कि प्रसिद्ध नहीं है यहाँ केवल दुर्जन-वचनोंके सामने उसकी हीनता दिखलानेके लिए उसको उपमान बनाया गया है]।

५५. सामान्य अलङ्कार—

[सूत्र २०२]—प्रस्तुत [वर्णनीय वस्तु] के [अन्य] अप्रस्तुतके साथ सम्बन्धसे [दोनोंके] गुणोंकी समानता प्रतिपादन करनेकी इच्छासे जो [उन दोनोंके ऐकात्म्य] अभेदका वर्णन है वह सामान्य [नामक अलंकार कहलाता] है ॥१३४॥

वैसा [अर्थात् अप्रस्तुत अर्थके समान] न होनेपर भी उस रूपमें कहनेकी इच्छासे जो अप्रस्तुत अर्थसे सम्बद्ध होकर अपने गुणका परित्याग किये बिना ही उस [अप्रस्तुत] के साथ अभिन्नरूपसे वर्णित किया जाता है वह [उन दोनोंके] समान गुणोंके कारण [एकात्मरूपसे वर्णित] होता है इसलिए 'सामान्य' [इस अन्वर्थ नामसे] कहा जाता है । उदाहरण [जैसे]—

(१) मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिताः,
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः ।
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः,
प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः ॥५५७॥

अत्र प्रस्तुततदन्ययोरन्यूनानतिरिक्ततया निबद्धं धवलत्वमेकात्मताहेतुः । अत एव पृथग्भावेन न तयोरुपलक्षणम् । यथा वा—

(२) वेत्रत्वचा तुल्यरुचां वधूनां कर्णाग्रतो गण्डतलागतानि ।
भृङ्गाः सहेलं यदि नापतिष्यन् कोऽवेदयिष्यन्नवचम्पकानि ॥५५८॥

अत्र निमित्तान्तरजनिताऽपि नानात्वप्रतीतिः प्रथमप्रतिपन्नमभेदं न व्युदसितुमुत्सहते । प्रतीतत्वात्तस्य । प्रतीतेश्च बाधायोगात् ।

---

(१) चन्दनके रसको शरीरमें लगाये हुए, नवीन हारसे अलंकृत, अत्यन्त शुभ्र हाथी दाँतके बने दन्तपत्र [आभूषण] से मुखको सजाये, सुन्दर एवं निर्मल वस्त्र धारण किये हुए अभिसारिकाएँ [रात्रिमें] चन्द्रमाकी चाँदनीके फैलनेसे पृथिवीके शुभ्र हो जानेपर [शुभ्र अलंकारादिसे युक्त होनेसे उस चाँदनीमें ही मिल जानेके कारण] दिखलाई न देनेसे निर्भय होकर प्रियतमके घरको जा रही हैं ॥५५७॥

यहाँ प्रस्तुत [अभिसारिका] और अप्रस्तुत [चन्द्रमा] दोनोंका एक-सा [अन्यूनानतिरिक्त] कहा गया धवलत्व, उनकी एकात्मता [अभेद] का हेतु है । इसलिए दोनोंकी अलग-अलग प्रतीति नहीं हो रही है ।

कहीं-कहीं प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनोंके भेदकी प्रतीति बादको होती है, उससे पूर्वकालिक एकाग्रताका बोध होता है । ऐसे स्थलपर भी सामान्य अलंकार होता है । इस दृष्टिसे सामान्य अलङ्कारका दूसरा उदाहरण देते हैं—

अथवा जैसे—

(२) बेतकी छालके समान कान्तिवाली [अत्यन्त गौरवर्ण] वधुओंके कानोंसे गालोंपर लटकते हुए नवीन चम्पक [के फूलों] पर यदि मँडराते हुए [सहेलं] भौंरे न आते तो [गालोंके रंगमें मिल जानेसे] उनको कौन जान सकता था [अर्थात् ये वधुएँ कानमें चम्पकके फूल धारण किये हुए हैं इसका पता चलना कठिन था] ॥५५८॥

यहाँ [भ्रमरपतनरूप] अन्य कारणसे उत्पन्न [प्रस्तुत कपोल तथा अप्रस्तुत चम्पकके] भेदकी प्रतीति भी [भ्रमरपतनसे] पहिले प्रतीत हुए अभेद ज्ञानका निषेध करनेमें समर्थ नहीं है । उस [अभेद] प्रतीतिके उत्पन्न हो चुकने और उत्पन्न प्रतीतिका बाध [अनुत्पत्ति] सम्भव न होनेसे [उत्तरवर्तिनी भेद-प्रतीति, पूर्ववर्तिनी अभेद-प्रतीतिका निवारण करनेमें समर्थ नहीं है । अतः गुणसारूप्यकी विवक्षासे प्रस्तुत-अप्रस्तुतकी अभेदप्रतीति वर्णित होनेके कारण यह सामान्य अलङ्कार है] ।

यहाँ 'प्रतीति' का अर्थ अभेदज्ञानकी उत्पत्ति है तथा 'बाध' का अर्थ अनुत्पाद है । जब एक बार प्रस्तुत वधुओंके कपोल तथा अप्रस्तुत चम्पक-पुष्पोंके अभेदकी प्रतीति भ्रमरोंके पतनके पूर्व

[सूत्र २०३]–**विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः ।**
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥१३५॥
अन्यत् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः ।
तथैव कारणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥ १३६॥

[१) प्रसिद्धाधारपरिहारेण यत् आधेयस्य विशिष्टा स्थितिरभिधीयते स प्रथमो विशेषः यथा—

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः ॥५५९॥

(२) एकमपि वस्तु यत् एकेनैव स्वभावेन युगपदनेकत्र वर्तते स द्वितीयः । यथा—

सा वसइ तुज्झ हिअए सा च्चिअ अच्छीसु साअ वअणेसु ।
अह्मारिसाण सुन्दर ओआसो कत्थ पावाणम् ॥५६०॥
[सा वसति तव हृदये सैवाक्षिषु सा च वचनेषु ।
अस्मादृशीनां सुन्दर ! अवकाशः कुत्र पापानाम् ॥ इति संस्कृतम्]

हो चुकी है तब भ्रमरपतनके बाद होनेवाली उन दोनोंको भेदप्रतीतिसे वह उत्पन्न ही नहीं हुई यह तो नहीं कहा जा सकता है। इसलिए बादमें उत्पन्न भेदप्रतीतिसे पूर्वोत्पन्न अभेदप्रतीतिका बाध नहीं होता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । इसलिए यहाँ सामान्य अलंकार है ।

५६. विशेष अलङ्कार—

[सूत्र २०३]—(१) प्रसिद्ध आधारके बिना आधेयकी स्थिति [का वर्णन होनेपर एक प्रकारका विशेष अलंकार होता है] (२) एक पदार्थकी एक ही रूपसे अनेक जगह एक साथ उपस्थिति [का वर्णन होनेपर दूसरे प्रकारका विशेष अलङ्कार होता है] (३) अन्य कार्यको करते हुए उसी प्रकारसे [अथवा अनायास] किसी अशक्य अन्य वस्तुका उत्पादन [वर्णन होनेपर तीसरे प्रकारका विशेष होता है] इस प्रकार तीन तरहका विशेष [अलंकार] माना गया है ॥१३६॥

(१) प्रसिद्ध आधारका परित्याग करके जो आधेयकी विशेष प्रकारकी स्थिति का वर्णन किया जाता है वह पहिली प्रकारका विशेष होता है । जैसे—

स्वर्गवास हो जानेपर भी प्रचुर गुणोंसे युक्त जिनकी [काव्यरूप] वाणी संसार [सहृदयजनों]को प्रलयपर्यन्त आह्लादित करती रहती है वे कवि, वन्दनायोग्य क्यों न माने जायँ ।५५९।

(२) एक वस्तु भी एक ही स्वरूपसे एक साथ अनेक जगह जो वर्णित होती है वह दूसरे प्रकारका [विशेष अलंकार] होता है । [उसका उदाहरण] जैसे—

वह [नायिका] तुम्हारे हृदयमें रहती है, वही [तुम्हारी] आँखोंमें [बसी है] और वही [तुम्हारे] वचनोंमें रहती है । तब हे सुन्दर ! हमारी जैसी अभागिनियोंके लिए [तुम्हारे पास] स्थान ही कहाँ हो सकता है ।५६०।

(३) यदपि किंचिद्रभसेन आरभमाणस्तेनैव यत्नेनाशक्यमपि कार्यान्तरमारभते सोऽपरो विशेषः । उदाहरणम्—

स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजताऽनवद्यविद्यम् ।
विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च ॥५६१॥

यथा वा—

(४) गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां बत किं न मे हृतम् ॥५६२॥

सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात् । अत एवोक्तम्—

(३) और जो [दूसरे अमुख्य कार्यको भी करूँगा इसका विचार किये बिना] जल्दीसे किसी कार्यको प्रारम्भ करनेवाला [कर्ता] उसी प्रयत्नसे किसी अवश्य दूसरे कार्यको उत्पन्न कर देता है वह तीसरे प्रकार का विशेष होता है। जैसे—

हे राजन् ! अद्भुत [लोकोत्तर] सौन्दर्यसे युक्त, अत्यन्त तेजस्वी, और उत्तम विद्यासे विभूषित आपको उत्पन्न करते हुए ब्रह्माने [उसी प्रयत्नसे अनायास] सचमुच पृथ्वीपर दूसरे नवीन कामदेव, दूसरे सूर्य और [दूसरे] बृहस्पतिकी रचना कर दी है !५६१।

यहाँ राजाके निर्माण रूप एक कार्यको करते हुए विधाताने उसी प्रयत्नसे दूसरे कामदेव, सूर्य तथा बृहस्पतिरूप अशक्य कार्यको उत्पन्न किया । इस प्रकारका वर्णन होनेसे यह तीसरे प्रकारके विशेष अलंकारका उदाहरण है ।

इसी प्रकारका एक उदाहरण और देते हैं। इस उदाहरणके देनेके प्रयोजनकी व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकारसे की गयी है। किन्हींके मतसे पिछले श्लोकमें 'उत्पन्न किया है', वह बात शब्दतः कथित है। इसलिए वह वाच्य कार्यान्तरका उदाहरण है। अगला श्लोक उससे भिन्न व्यङ्ग्य कार्यान्तरके उदाहरणरूपमें उपस्थित किया गया है। चक्रवर्ती आदिका मत है कि पहले सृष्टिरूपमें कार्यान्तरके उत्पादनका उदाहरण दिया था, अब संहाररूपमें कार्यान्तरके उत्पादनका दूसरा उदाहरण देते हैं।

[हे प्रिये इन्दुमति ! तुम मेरी] गृहिणी, मन्त्री, एकान्तकी सखी, मनोहर कलाओं [अथवा कामकला]के विषयमें प्रिय शिष्या [सब ही कुछ थी], निर्दय मृत्युने तुमको हरण करके बताओ मेरा क्या हरण नहीं कर लिया [मेरा सर्वस्व ही लूट लिया है] ।५६२।

बिना आधारके आधेयकी व्यवस्थिति, एक वस्तुकी एक ही रूपसे अनेकत्र युगपत् स्थिति और अन्य कार्यको करते हुए कार्यान्तरकी उत्पत्ति यह सब वास्तवमें सम्भव नहीं है तब इन स्थितियोंमें विशेष अलंकार कैसे माना जाय यह शंका यहाँ हो सकती है। उसके समाधानके लिए ग्रन्थकारने अगली पंक्ति लिखी है; उसका आशय यह है कि—

इस प्रकारके विषयमें सर्वत्र अतिशयोक्ति ही [उस अलंकारके] प्राणरूपमें स्थित होती है। क्योंकि उस [अतिशयोक्ति]के बिना प्रायः अलङ्कारत्व ही नहीं बनाता है। जैसा कि [भामहने अपने काव्यालङ्कारमें] कहा है—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥" इति॥

[सू० २०४]-**स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।**
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥१३७॥

वस्तु तिरस्कृतनिजरूपं केनापि समीपगतेन प्रगुणतया स्वगुणसम्पदोपरक्तं तत्प्रतिभासमेव यत्समासादयति स तद्गुणः । तस्याप्रकृतस्य गुणोऽत्रास्तीति । उदाहरणम्—

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या ।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥५६३॥

अत्र रवितुरगापेक्षया गरुडाग्रजस्य, तदपेक्षया च हरिन्मणीनां प्रगुणवर्णता ।

[जिस अतिशयोक्तिका वर्णन पहले किया जा चुका है] वह अतिशयोक्ति ही सब अलङ्कारोंमें सौन्दर्यकी आधायिका [वक्रोक्ति] होती है इस ही [अतिशयोक्ति रूप वक्रोक्ति]से अर्थ अलंकृत किया जाता है [विभाव्यते] । इस [की सिद्धि] के विषयमें कविको यत्न करना चाहिये, इसके बिना कौन सा अलङ्कार हो सकता है ?

यहाँ 'अतिशयोक्ति' तथा 'वक्रोक्ति' शब्दोंका प्रयोग हुआ है। ये दोनों दो भिन्न-भिन्न अलंकारोंके नाम भी हैं। परन्तु यहाँ उन अलंकारोंका ग्रहण इन शब्दोंसे नहीं करना चाहिये। क्योंकि उनके लक्षण सब अलंकारोंमें नहीं पाये जा सकते हैं। इसलिए अलंकारविशेषके लिए जो इन शब्दोंका प्रयोग है उसको योगरूढ़ और यहाँ प्रयुक्त हुए इन दोनों शब्दोंको यौगिक मानकर उनको भिन्नार्थक ही समझना चाहिये।

५७. तद्गुण अलंकार—

[सूत्र २०४] जब न्यून गुणवाली प्रस्तुत वस्तु अत्यन्त उत्कृष्ट गुणवाली [अप्रस्तुत वस्तु]के सम्बन्धसे अपने स्वरूप [या गुण]को छोड़कर उस [अप्रस्तुत वस्तु]के रूपको प्राप्त हो जाती है उसको तद्गुण [नामक अलङ्कार] कहते हैं ॥२३७॥

किसी समीपस्थ [अप्रस्तुत]वस्तुके द्वारा उसकी उत्कृष्ट गुण-सम्पत्तिसे उपरक्त होनेके कारण अपने स्वरूपका अभिभव करके जो [प्रस्तुत] वस्तु उस [समीपगत वस्तु]के स्वरूप [प्रतिभास]को प्राप्त हो जाती है वह उस [अप्रस्तुत]का गुण इस [प्रस्तुत वस्तु]में आ गया है इस [व्युत्पत्ति]के कारण तद्गुण [इस नामका अन्वर्थ अलङ्कार कहलाता] है। उदाहरण [जैसे]—

माघ-काव्यके चतुर्थ सर्गमें रैवतक पर्वतके वर्णनके प्रकरणमें सूर्यके अश्वोंका वर्णन करते हुए कवि कह रहा है कि—

[गरुडके अग्रज अर्थात् सूर्यके सारथि] अरुण [की रक्तवर्ण कान्तिके आधिक्य]से भिन्न रंगको प्राप्त हुए सूर्यके घोड़े जहाँ [जिस रैवतक पर्वतपर स्थित] बाँसके [अत्यन्त हरिद्वर्ण] अंकुरोंके समान हरिद्वर्ण मरकत मणियोंकी चारों ओर फैलती हुई कान्तिसे फिर अपनी [हरिद्वर्ण] कान्तिको प्राप्त कराये गये ॥५६३॥

यहाँ सूर्यके घोड़ोंकी अपेक्षा [गरुडाग्रज अर्थात् सूर्यके सारथि] अरुण[के वर्ण]का

[सूत्र २०५]–**तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत् स्यादतद्गुणः ।**

यदि तु तदीयं वर्णं सम्भवन्त्यामपि योग्यतायां इदं न्यूनगुणं न गृह्णीयात्तदा भवेदतद्गुणो नाम । उदाहरणम्—

> धवलोसि जह वि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअम् ।
> राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तोसि ॥५६४॥
>
> [धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर ! तथापि त्वया मम रंजितं हृदयम् ।
> रागभरितेऽपि हृदये सुभग ! निहितो न रक्तोऽसि ॥ इति संस्कृतम्]

अत्रातिरक्तेनापि मनसा संयुक्तो न रक्ततामुपगत इत्यतद्गुणः ।

किं च तदिति अप्रकृतम् अस्येति च प्रकृतमत्र निर्दिश्यते । तेन यत् अप्रकृतस्य रूपं प्रकृतेन कुतोऽपि निमित्तात् नानुविधीयते सोऽतद्गुण इत्यपि प्रतिपत्तव्यम् । यथा—

उत्कर्ष है [क्योंकि उसके कारण सूर्यके हरिद्वर्ण अश्वोंका रंग बदलकर लाल-सा हो गया था परन्तु] उसकी भी अपेक्षा [रैवतक पर्वतपर स्थित] हरे रंगकी [मरकत] मणियोंके वर्णकी उत्कृष्टता है [क्योंकि सूर्यके घोड़ोंका अरुणके सम्पर्कसे जो रंग बदल गया था उसको रैवतक पर्वतके पास सूर्यका रथ जानेपर वहाँकी मरकत मणियोंकी कान्तिने बदल कर फिर हरा कर दिया । अतः यहाँ तद्गुण अलंकार है] ।

हिन्दीका निम्नलिखित पद तद्गुण अलङ्कारका सुन्दर उदाहरण है—

> अधर धरत हरिके परत ओठ दीठि पट जोति ।
> हरित बाँसकी बाँसुरी इन्द्र धनुष रँग होति ॥ —बिहारी

५८. अतद्गुण अलङ्कार—

[सूत्र २०५]—[योगादत्युज्ज्वलगुणस्य इसकी पूर्व सूत्रसे अनुवृत्ति आती है उसको मिलाकर इस सूत्रका अर्थ होगा कि अत्यन्त उत्कृष्ट गुणवाली समीपस्थ वस्तुका योग होनेपर भी न्यूनगुणवाले 'अस्य' अप्रकृत] इसके द्वारा उस [प्रकार] के गुणका अनुसरण न किये जानेपर [तद्गुणके विपरीत] अतद्गुण होता है ।

यदि योग्यता [अर्थात् उसके ग्रहण करनेका उपाय सामीप्यादि] होनेपर भी यह न्यूनगुणवाला [अप्रस्तुत] उस [प्रस्तुत] के वर्णको ग्रहण नहीं करे तो अतद्गुण नामका अलंकार होता है । उदाहरण [जैसे]—

हे सुन्दर ! तुम यद्यपि धवल [गौरवर्णके] हो फिर भी तुमने मेरे हृदयको रंग दिया [अनुराग-युक्त कर दिया] है । और मैंने तुमको राग [अनुराग, पक्षान्तरमें लाल रंग] से युक्त हृदयमें रखा, फिर भी हे सुभग ! तुम अनुरक्त नहीं हुए । ५६४ ।

यहाँ अत्यन्त अनुरक्त हृदयसे संयुक्त होनेपर भी [नायक] अनुरक्त नहीं हुआ इसलिए अतद्गुण [अलंकार] है ।

और यहाँ 'तत्' शब्दसे अप्रकृतका तथा 'अस्य' पदसे प्रकृतका निर्देश किया गया है । इसलिए जो अप्रकृतके रूपको किसी भी कारणसे प्रकृत ग्रहण नहीं करता है वह अतद्गुण होता है यह भी [अतद्गुणका दूसरा रूप] समझना चाहिये । जैसे—

गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।
राजहंस ! तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥५६५॥

[सू० २०६]-**यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥१३८॥**
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः ।

येनोपायेन यत् एकेनोपकल्पितं तस्यान्येन जिगीषुतया तदुपायकमेव यदन्यथाकरणं, स साधितवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद्व्याघातः । उदाहरणम्—

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः ।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः ॥५६६॥

[सू० २०७]-**सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ॥१३९॥**

एतेषां समनन्तरमेवोक्तस्वरूपाणां यथासम्भवमन्योन्यनिरपेक्षतया यदेकत्र शब्दभागे एव, अर्थविषये एव, उभयत्रापि वा अवस्थानं सा एकार्थसमवायस्वभावा संसृष्टिः ।

गंगाका जल शुभ्र है और यमुनाका जल कज्जलकी तरह काला है। किन्तु हे राजहंस ! दोनों जगह स्नान करने [तैरने, डुबकी लगाने] पर भी तुम्हारी वैसी ही शुभ्रता रहती है [गंगाजलमें स्नान करनेसे] न तो बढ़ती है और न [यमुनाके जलसे] कम होती है। ५६५।

हिन्दीका निम्नलिखित पद्य 'अतद्गुण अलङ्कार' का सुन्दर उदाहरण है—

लाल, बाल-अनुराग सों रँगत रोज सब अंग ।
तऊ न छोड़त रावरो अंग साँवरो रंग ॥

५९. व्याघात अलङ्कार—.

[सूत्र २०६]—किसी बातको कोई जिस प्रकारसे सिद्ध करे [बनावे] उसको उसी प्रकारसे यदि दूसरा बदल दे [बिगाड़ दे] उसको व्याघात [अलंकार] कहते हैं।

जिस उपायसे एक [व्यक्ति] ने जिस [कार्य या वस्तु] को बनाया हो उसको जीतनेकी इच्छासे दूसरा उसी उपायसे जो बदल डाले वह सिद्ध की हुई वस्तुके व्याघात [बिगाड़ देने]का हेतु होनेसे 'व्याघात' [इस अन्वर्थ संज्ञावाला अलंकार] कहलाता है। उदाहरण [जैसे]—

[शिवजीके द्वारा अपने तीसरे] नेत्रसे भस्म किये हुए कामदेवको जो [अपने] नेत्र[के कटाक्ष]से ही जीवित कर देती हैं [इस प्रकार] शिवजीको भी जीत लेनेवाली उन सुन्दरियोंकी हम स्तुति करते हैं [राजशेखरकविविरचित 'विद्धशालभंजिका'से] ॥५६६॥

६०. संसृष्टि अलंकार—

[सूत्र २०७]—इन ['एतेषां' पदमें बहुवचन अविवक्षित है। इसलिए दो या अधिक अलङ्कारों] की यहाँ [काव्य या वाक्यमें] भेदसे [परस्पर निरपेक्षरूपसे] जो स्थिति है वह संसृष्टि [नामक अलङ्कार] मानी जाती है ॥१३९॥

इनकी अर्थात् अभी [नवम तथा दशम दो उल्लासोंमें] कहे हुए [शब्दालङ्कार तथा

तत्र (१) शब्दालंकारसंसृष्टिर्यथा—

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसम्भ्रमसम्भृतशोभया ।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया ॥५६७॥

(२) अर्थालङ्कारसंसृष्टिस्तु—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥५६८॥

पूर्वत्र परस्परनिरपेक्षौ यमकानुप्रासौ संसृष्टिं प्रयोजयतः । उत्तरत्र तु तथाविधे उपमोत्प्रेक्षे ।

(३) शब्दार्थालंकारयोस्तु संसृष्टिः—

अर्थालङ्कारों] की यथासम्भव [अर्थात् कहीं केवल शब्दालङ्कारोंकी, कहीं केवल अर्थालङ्कारोंकी या कहीं दोनोंकी, जैसे जहाँ बन जाय] जो एक ही शब्दभागमें अथवा अर्थभागमें अथवा दोनों जगह, परस्पर निरपेक्षरूपसे स्थिति है वह [दो या अधिक अलङ्कारोंके] एकार्थमें सम्बन्ध ही जिसका स्वरूप है इस प्रकारकी संसृष्टि होती है ।

(१) उनमेंसे शब्दालङ्कारोंकी संसृष्टि [का उदाहरण] जैसे—

[माघकाव्यके छठे सर्गसे ऋतुवर्णनके प्रसंगमेंसे यह श्लोक लिया गया है] । अपने मुखकी सुगन्धिके लोभसे [मुखके ऊपर] मँडराते हुए भ्रमरके आतंकसे [घबड़ाकर] और भी अधिक शोभाको धारण करनेवाली [और भ्रमरके भयसे इधर-उधर] भागती हुई, केशपाशके गिरनेसे [और भी अधिक] चंचल नेत्रोंवाली [के भागने] से सुन्दर मेखला [तगड़ी] का सुन्दर शब्द होने लगा ॥५६७॥

यहाँ पूर्वार्द्धमें 'मकार' के तथा तृतीय चरणमें 'लकार' के अनेक बार प्रयोगके कारण अनुप्रास अलङ्कार है । चतुर्थ चरणमें 'लकलो लकलो' की आवृत्ति होनेसे यमकालङ्कार है । ये दोनों शब्दालङ्कार इस एक श्लोकमें परस्पर निरपेक्ष रूपसे स्थित हैं । अतः यहाँ शब्दालङ्कारोंकी संसृष्टि है ।

(२) अर्थालङ्कारोंकी संसृष्टि तो [निम्नलिखित उदाहरणमें देखी जा सकती है]—

अन्धकार अंगोंका लेपन-सा कर रहा है । आकाशसे सुरमा बरस-सा रहा है और दुष्ट पुरुषकी सेवाके समान दृष्टि विफल हो गयी है ॥५६८॥

इसके पूर्वार्द्धमें लेपनविषयक तथा वर्षण-विषयक उत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्धमें 'असत्पुरुषसेवेव' में उपमालङ्कार पाया जाता है । ये दोनों अर्थालङ्कार हैं और इस श्लोकमें उन दोनोंकी परस्पर निरपेक्षरूपसे स्थिति है । इसलिए इस श्लोकमें दो अर्थालङ्कारोंकी संसृष्टि है । इसी बातको आगे कहते हैं—

पहिले श्लोक [५६७] में परस्पर निरपेक्ष [रूपसे स्थित] यमक तथा अनुप्रास [दो शब्दालङ्कार] संसृष्टिकी रचना कर रहे हैं । और दूसरे उदाहरण [५६८] में उसी प्रकारके [अर्थात् परस्पर निरपेक्ष] उपमा तथा उत्प्रेक्षा [रूप दो अर्थालङ्कार] संसृष्टिके प्रयोजक हैं । [इसलिए पहिला श्लोक शब्दालङ्कारोंकी संसृष्टिका तथा दूसरा अर्थालङ्कारोंकी संसृष्टिका उदाहरण है] ।

(३) शब्द और अर्थ दोनों प्रकारके अलङ्कारोंकी संसृष्टिका उदाहरण, जैसे—

सो णात्थि एत्थ गामे जो एअं महमहन्तलाअण्णम् ।
तरूणाण हिअअलूडिं परिसक्कन्तीं णिवारेइ ॥५६९॥
[स नास्त्यत्र ग्रामे य एनां महमहायमानलावण्याम् ।
तरुणानां हृदयलुण्ठाकीं परिष्वक्कमानां निवारयति ॥ इति संस्कृतम्]

अत्रानुप्रासो रूपकं चान्योन्यानपेक्षे । संसर्गश्च तयोरेकत्र वाक्ये छन्दसि वा समवेतत्वात् ।

[सू० २०८]–अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु संकरः ।

एते एव यत्रात्मनि अनासादितस्वतन्त्रभावाः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकतां दधति स एषां संकीर्यमाणस्वरूपत्वात्संकरः । उदाहरणम्—

(१) आत्ते सीमन्तरत्ने मरकतिनि हृते हेमताटंकपत्रे,
लुप्तायां मेखलायां झटिति मणितुलाकोटियुग्मे गृहीते ।

इस ग्राममें ऐसा कोई [युवक] नहीं है जो निखरते हुए सौन्दर्यवाली और तरुणोंके हृदयको वशमें कर लेनेवाली इस [सुन्दरी] को रोक सके ॥५६९॥

यहाँ पूर्वार्द्धमें [णात्थि एत्थ 'त्थ' का अनुप्रास [रूप शब्दालंकार] तथा उत्तरार्द्ध में ['हृदयलुण्ठाकीं' पदमें] रूपक अलङ्कार दोनों परस्पर निरपेक्ष [रूपसे स्थित] हैं। और उनके एक वाक्य अथवा [एक] छन्दमें एकत्र होनेसे संसृष्टि होती है ।

यहाँ संसर्गका अर्थ 'संसृष्टि' है, यद्यपि शब्दालङ्कारका मुख्य आश्रय शब्द तथा अर्थालङ्कारका आश्रय मुख्य रूपसे अर्थ होता है । परन्तु एक वाक्य अथवा एक छन्दरूप एक आश्रयमें उन दोनोंके स्थित होनेसे शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारकी भी एकत्र 'संसृष्टि' होती है यह आशय है ।

६१. सङ्कर अलङ्कार—

अनेक अलङ्कारोंकी एक वाक्यमें स्थिति होनेपर संसृष्टि तथा सङ्कर दो अलङ्कार माने जाते हैं । जहाँ अनेक अलङ्कार परस्पर निरपेक्ष रूपसे स्थित होते हैं वहाँ 'संसृष्टि' अलंकार होता है यह बात अभी 'संसृष्टि'के लक्षणमें कह चुके हैं । इसके विपरीत जहाँ उन अनेक अलङ्कारोंकी सापेक्ष स्थिति होती है वहाँ 'सङ्करालङ्कार' माना जाता है । यह सङ्करालङ्कार भी तीन प्रकारका होता है—(१) अङ्गाङ्गिभावसङ्कर, (२) सन्देहसङ्कर तथा (३) एकाश्रयानुपवेशसङ्कर । इन तीनोंके लक्षण तथा उदाहरण आगे देंगे । इनमेंसे पहिले 'अङ्गाङ्गिभावसङ्कर' का लक्षण करते हैं ।

(१) अङ्गाङ्गिभावसङ्कर—

[सूत्र २०८]—अपने स्वरूपमात्रमें जिनकी विश्रान्ति न हो [अर्थात् जो परस्पर निरपेक्ष स्वतन्त्र रूपसे अलंकार न बनते हों] उनका अङ्गाङ्गिभाव होनेपर [प्रथम प्रकारका] सङ्कर होता है ।

ये ही [पूर्वोक्त अलङ्कार] जहाँ अपने स्वरूपमात्रमें स्वतन्त्र रूपसे स्थित नहीं होते हैं और परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक भावको प्राप्त हो जाते हैं वहाँ इनके स्वरूपके [एक-दूसरेके साथ] सङ्कीर्ण हो जानेसे 'सङ्कर' अलङ्कार होता है । उदाहरण [जैसे]—

(१) हे राजन् ! [तुम्हारे डरके मारे] जंगलोंमें भागती हुई तुम्हारे शत्रुओंकी

शोणं विम्बोष्ठकान्त्या त्वदरिमृगदृशामित्वरीणामरण्ये,

राजन् ! गुञ्जाफलानां स्रज इति शबरा नैव हारं हरन्ति ॥५७०॥

अत्र तद्गुणमपेक्ष्य भ्रान्तिमता प्रादुर्भूतं, तदाश्रयेण च तद्गुणः सचेतसां प्रभूतचमत्कृतिनिमित्तम्, इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावः । यथा वा—

(२) जटाभाभिर्भाभिः करधृतकलंकाक्षवलयो,

वियोगिव्यापत्तेरिव कलितवैराग्यविशदः ।

स्त्रियोंके मरकतमणियोंसे युक्त शिरोभूषणको छीन लेनेपर [अर्थात् सबसे पहिले शिरोभूषणके दीखनेसे पहिले उसको जंगली भीलोंने छीन लिया। उसके बाद] सोनेके बने ताटंकपत्र [आभूषणों] के निकाल लेनेके बाद, तगड़ीको तोड़ लेनेपर, मणियोंसे जटित नूपुरोंको ले लेनेपर भी [सिरसे पैरतक सारे आभूषण तो भीलोंने छीन लिये किन्तु उन स्त्रियोंके] कुंदरूके सदृश [रक्तवर्ण] ओष्ठकी कान्तिसे लाल हो रहे [शुभ्र मोतियोंके] हारको यह घुँघुचियोंकी माला है ऐसा समझकर भील नहीं छीनते हैं ॥५७०॥

यहाँ [बिम्बोष्ठकी कान्तिसे सफेद मोतियोंका हार भी लाल मालूम देता है यह 'तद्गुण अलङ्कार' है। उस] 'तद्गुण'के कारण [मोतियोंके हारमें गुंजाफलकी मालाकी भ्रान्ति हो जानेसे] 'भ्रान्तिमान्' [अलङ्कार] उत्पन्न हो गया है। और उस [भ्रान्तिमान्] के कारण 'तद्गुण' [अलङ्कार] सहृदयोंके लिए और भी अधिक चमत्कारजनक हो उठा है। इसलिए इन दोनों [के एक-दूसरेके उपकारके होनेसे उन] का अङ्गाङ्गिभाव-सङ्कर है।

इस प्रकार यह दो अलंकारोंके सङ्करका उदाहरण दिया था। अब बहुत-से अलङ्कारोंके सङ्करका अगला उदाहरण देते हैं---

(२) अथवा [बहुत अलङ्कारोंके सङ्करका उदाहरण] जैसे—

इस श्लोकमें मुख्य रूपसे रूपकालङ्कारका आश्रय लेकर रात्रिके आकाशमें घूमनेवाले चन्द्रमाका वर्णन किया है। रूपकालङ्कारके प्रयोग द्वारा कविने चन्द्रमाको योगी या कापालिकका रूप प्रदान किया है। यह सारा वर्णन साङ्गरूपक द्वारा किया गया है। इसमें (१) चन्द्रमा कापालिक या योगी है। (२) उसकी पीतवर्णकी किरणें कापालिककी जटाएँ हैं। (३) चन्द्रमाका जो भस्मके समान शुभ्र वर्ण है सो मानों कापालिक भस्म लपेटनेके कारण शुभ्र हो गया है। (४) कापालिक श्मशानमें घूमा करता है, चन्द्रमा आकाशमें घूम रहा है इसलिए आकाश श्मशानके समान है। (५) श्मशानमें कोयला-हड्डियाँ आदि पड़ी रहती हैं। आकाशमें फैले हुए तारे अस्थिसमूहके समान हैं। (६) कापालिक रुद्राक्षकी माला धारण करता है, चन्द्रमाका कलङ्क ही रुद्राक्षका वलय है। (७) योगी किसी अप्रिय कारणके उपस्थित होनेसे विरक्त होकर योगकी शरणमें आता है, चन्द्रमाने वियोगियोंके कष्टको देखकर वैराग्य धारण कर लिया है। इस प्रकार कविने चन्द्रमाको योगी मानकर साङ्गरूपक द्वारा उसका सुन्दर वर्णन किया है। इसमें मुख्य रूपसे तो रूपक अलङ्कार है किन्तु उसके साथ साथ 'वियोगिव्यापत्तेरिव कलितवैराग्यविशदः' मानो वियोगियोंके दुखके कारण वैराग्ययुक्त है इस अंशमें 'उत्प्रेक्षा'। (२) 'पितृवन इव व्योम्नि' इस अंशमें उपमा, और (३) 'भस्मापाण्डुः', 'वैराग्य विशदः' आदि अनेक पदोंमें श्लेष अलङ्कार पाया जाता है। इसलिए इसमें चार अलङ्कारोंका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव-सङ्कर है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

परिप्रेंखत्तारापरिकरकपालाङ्किततले,

शशी भस्मापाण्डुः पितृवन इव व्योम्नि चरति ॥५७१॥

उपमा, रूपकं, उत्प्रेक्षा, श्लेषश्चेति चत्वारोऽत्र पूर्ववत् अङ्गाङ्गितया प्रतीयन्ते ।

जटाओंके समान [पीत या शुभ्रवर्णकी] किरणोंसे उपलक्षित [इत्थंभूतलक्षणे २, ३, २१ इस सूत्रसे उपलक्षणमें तृतीया है इसलिए योगियोंकी जटाओंके समान शुभ्र किरणोंसे उपलक्षित, इस अंशमें उपमालङ्कार है], हाथमें कलङ्करूप रुद्राक्ष मालाको धारण किये हुए [कलङ्करूप अक्षवलयमें रूपकालङ्कार है] वियोगियों [अर्थात् विरहिओं तथा वियुक्त होनेवाले विषयों] के नाश के कारण उत्पन्न वैराग्य [अर्थात् विषयोंके प्रति अनुरागका अभाव, और चन्द्रमाके उदय हो चुकनेके बाद उदयकालीन लौहित्यके अभाव] के कारण शुभ्र [सफेद और दूसरे पक्षमें निर्मल हृदयसे युक्त-] सा [इस अंशमें श्लेषानुप्राणित उत्प्रेक्षालङ्कार है ।] चंचल तारासमूहरूप कपालों [कपालकी हड्डियों] से जिसका तल व्याप्त हो रहा है इस प्रकारके [पितृवन इव] श्मशान-सदृश [इस अंशमें उपमा अलङ्कार] आकाशमें भस्मके समान शुभ्र [अथवा भस्म लपेटनेके कारण शुभ्र योगी-सा कापालिकरूप] चन्द्रमा घूम रहा है ॥५७१॥

यहाँ उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और श्लेष ये चारों [अलङ्कार] पूर्व [उदाहरण] के समान अङ्गाङ्गिभावसे [सङ्कीर्ण] प्रतीत होते हैं । [इसलिए इसमें बहुत-से अलङ्कारोंका सङ्कर है] ।

इसमें 'जटाभाभिर्भाभिः', 'पितृवन इव व्योम्नि' इन दोनों भागोंमें उपमालंकार है । 'कलङ्क एवं अक्षवलय', तथा 'तारापरिकर एव कपालास्थि' इन दोनों भागोंमें रूपक अलंकार है । 'वियोगिव्यापत्तेरिव' इस अंशमें उत्प्रेक्षालंकार है । और 'कलितवैराग्यविशदः' के 'विशद' पदमें श्लेषालंकार है । इन चारों अलंकारोंकी यहाँ अङ्गाङ्गिभावसे स्थिति है । क्योंकि 'वियोगिव्यापत्तेरिव' इस उत्प्रेक्षाके कारण ही वैराग्यकी उत्पत्ति सम्भव होनेसे 'विशदः' पदके श्लेषके प्रति उत्प्रेक्षाका उपकारकत्व है । श्लेष दोनों स्थलोंके रूपकों तथा उपमाओंका प्रयोजक होता है क्योंकि उसीके द्वारा 'जटाभाभिः' की उपमा और 'कलंकाक्षवलय' का रूपक संगत होता है । इस प्रकार 'तारापरिकरकपाल' रूप रूपक 'पितृवन इव व्योम्नि' इस उपमाका उपकारक होता है । क्योंकि उपमाका बीज सादृश्य है । आकाश और श्मशानका वास्तविक कोई सादृश्य नहीं है । उक्त रूपकमें ताराओंपर जो कपालका आरोप किया गया है उसी रूपित सादृश्यसे उपमाका समन्वय होता है । इस प्रकार इसमें चारों अलंकारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे यह अङ्गागिभावसङ्करका उदाहरण है ।

इस श्लोकका प्रधान अलंकार तो समासोक्ति है । क्योंकि विशेषणोंकी समानतासे यहाँ चन्द्रमामें योगिव्यवहारकी प्रतीति हो रही है । इसलिए समासोक्ति अलंकार स्पष्ट ही प्रतीत होता है । फिर भी ग्रन्थकारने यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया है इसका कारण स्पष्टता ही है, ऐसा कुछ व्याख्याकारोंका मत है । दूसरे व्याख्याकारोंका यह भी कहना है कि 'व्योम्नि' और 'भाभिः' आदि कुछ विशेषण दोनों पक्षमें संगत नहीं होते हैं इसलिए यहाँ समासोक्ति है ही नहीं ।

रूपकपक्षमें विनिगमक हेतु—

इस उदाहरणमें 'करधृतकलङ्काक्षवलयः' पदमें सिद्धान्तरूपसे रूपकालंकार माना गया है । परन्तु इसपर यह आशंका की जा सकती है कि यहाँ 'मयूरव्यंसकादयश्च' इस सूत्रसे 'कलंक एव अक्ष-

'कलंक एवाक्षवलयम्' इति रूपकपरिग्रहे करधृतत्वमेव साधकप्रमाणतां प्रतिपद्यते । अस्य हि रूपकत्वे तिरोहितकलंकरूपं अक्षवलयमेव मुख्यतयाऽवगम्यते, तस्यैव च करग्रहणयोग्यतायां सार्वत्रिकी प्रसिद्धिः । श्लेषच्छायया तु कलंकस्य करधारणं असदेव प्रत्यासत्त्या उपचर्य योज्यते । शशांकेन केवलं कलंकस्य मूर्त्यैव उद्वहनात् ।

'कलंकोऽक्षवलयमिव' इति तु उपमायां कलंकस्योत्कटतया प्रतिपत्तिः । नचास्य करधृतत्वं तत्त्वतोऽस्तीति मुख्येऽप्युपचार एव शरणं स्यात् ॥

वलयं' इस प्रकारका समास करनेपर रूपक होता है । परन्तु यहाँ 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्रके द्वारा 'कलंकोऽक्षवलयमिव इति कलंकाक्षवलयम्', इस प्रकारका उपमित समास भी किया जा सकता है । उस दशामें यहाँ उपमालंकार होगा । ऐसी स्थितिमें उपमा तथा रूपक दोनोंके होनेसे यहाँ आगे कहा जानेवाला 'सन्देहसङ्कर' माना जा सकता है । स्पष्ट रूपसे रूपक नहीं माना जा सकता है । इस शंकाके समाधानके लिए ग्रन्थकारने अगला अनुच्छेद लिखा है । उसका आशय यह है कि जहाँ किसी विशेष अलंकारके पक्षमें कोई साधक या बाधक हेतु नहीं मिलता है वहीं सन्देह-संकर अलंकार होता है । यहाँ इस प्रकारके साधक-बाधक प्रमाणोंका अभाव नहीं है अपितु रूपक पक्षमें साधक प्रमाण तथा उपमापक्षका बाधक प्रमाण विद्यमान है इसलिए उपमा या रूपक-उपमामूलक सन्देहसंकर नहीं अपितु निश्चित रूपसे रूपकालंकार मुख्य है । यही बात ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार कहते हैं—

'कलंक ही अक्षवलय' इस प्रकार रूपकके स्वीकार करनेमें 'करधृतत्व' ही साधकताको प्राप्त होता है [क्योंकि अक्षवलयको ही हाथमें धारण किया जाता है, इसलिए कलंकको जो 'करधृत' कहा है वह 'कलंक एव अक्षवलयं' इस रूपकके माननेपर ही ठीक बनता है, उपमाके माननेपर ठीक नहीं बनता है । अतः यहाँ रूपक ही मानना उचित है] । इस [कलङ्काक्षवलयं]का रूपक माननेपर [चन्द्रमाके] कलंकरूपको दबाकर अक्षवलय ही [करधृतत्वके कारण] मुख्य रूपसे प्रतीत होता है । क्योंकि उस [अक्षवलय]की ही करग्रहण [हाथ में पकड़ने] योग्य होनेकी सर्वत्र प्रसिद्धि है । [कलंकको हाथसे नहीं पकड़ा जा सकता है इसलिए] कलंकका करसे धारण करना वस्तुतः सत् न होनेपर भी [कर शब्दका दूसरा अर्थ किरण भी होनेके कारण] श्लेषकी सहायता [छाया]से [कलङ्कके आधारभूत चन्द्रमण्डलकी किरणोंके साथ सम्बन्धरूप] प्रत्यासत्ति होनेके कारण उपचार [गौणीवृत्ति]से संगत होता है । क्योंकि चन्द्रमा तो कलंकको केवल शरीरमें धारण करता है [करसे नहीं] ।

[इस प्रकार यहाँतक रूपककी साधक युक्तिका उल्लेख कर उपमाके बाधक हेतुका प्रदर्शन अगली पंक्तियोंमें करते हैं] ।

'कलंक अक्षवलयके समान' इस [उपमित समासके आधारपर] उपमा माननेपर [अक्षवलयके स्थानपर] कलंककी ही प्रधानतया प्रतीति होगी और उस [कलंक]में करधृतत्व वास्तवमें नहीं होता है इसलिए प्रधान [अर्थ कलंकके करधृतत्व]में भी उपचारका ही सहारा लेना होगा अतः उपमा नहीं मानी जा सकती है] ।

इसका आशय यह है कि 'कलंक एव अक्षवलयं' इस रूपकके माननेपर अक्षवलय प्रधान रूपसे प्रतीत होता है । कलंक उसके भीतर गौण-सा, तिरोहित-सा हो जाता है । 'अक्षवलय' प्रधान विशेष्य

एवंरूपश्च संकरः शब्दालंकारयोरपि परिदृश्यते यथा—

राजति तटीयमभिहतदानवरासाऽतिपातिसारावनदा ।
गजता च यूथमविरतदानवरा साऽतिपाति सारा वनदा ॥५७२॥

अत्र यमकमनुलोमप्रतिलोमश्च चित्रभेदः पादद्वयगते परस्परापेक्षे ।

होता है और 'करधृतत्व' उसका विशेषण होता है। अक्षवलयमें करधृतत्व साक्षात् बन जाता है। लक्षणा नहीं करनी पड़ती है। 'कलंक', जो रूपकपक्षमें अप्रधान अर्थ है, उसमें 'करधृतत्व' अर्थात् हाथमें पकड़ा जाना साक्षात् नहीं बनता है इसलिए 'कर' का 'किरण' अर्थ मानकर और उन किरणोंका कलंकके आधारभूत चन्द्रमण्डलके साथ सम्बन्ध होनेसे उस सम्बन्ध अथवा प्रत्यासत्तिके द्वारा लक्षणासे कलंकमें भी औपचारिक करधृतत्व आ जाता है। इस पक्षमें उपकारका आशय 'अक्षवलय'-रूप मुख्यार्थमें नहीं अपितु 'कलंक'रूप अमुख्यार्थमें लेना होता है। 'अक्षवलय' रूप मुख्यार्थमें 'करधृतत्व'रूप विशेषणकी संगति विना लक्षणाके ही बन जाती है। 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' इस सिद्धान्तके अनुसार अमुख्यार्थमें 'अन्याय्यकल्पना' अर्थात् लक्षणाका आश्रय लेनेमें दोष नहीं होता है। परन्तु जब मुख्यार्थमें उस लक्षणाकी कल्पना की जाती है तो यह दोषाधायक हो जाती है। उपमापक्षमें 'कलंको अक्षवलयमिव इति कलंकाक्षवलम्' ऐसा माननेपर 'कलंक' मुख्यार्थ होता है। उसमें 'करधृतत्व' साक्षात् रूपसे नहीं बनता है अपितु लक्षणाके द्वारा ही 'करधृतत्व' की संगति होती है। इसलिए अमुख्यार्थमें नहीं अपितु मुख्यार्थमें भी लक्षणारूप 'अन्याय्यकल्पना'का आश्रय लेना होता है जो कि अनुचित है। इसलिए उपमा माननेमें बाधक होनेसे यहाँ उपमा नहीं मानी जा सकती है। रूपक-पक्षमें साधक होनेसे निश्चित रूपसे रूपक ही मानना उचित है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

शब्दालङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभावसङ्कर—

अलङ्कारसर्वस्वकारका मत यह है कि शब्दालङ्कारोंमें परस्पर उपकार्योपकारकभाव नहीं बनता है इसलिए दो या अधिक शब्दालङ्कारोंमें अङ्गाङ्गिभावसङ्कर नहीं होता है। दो या अधिक शब्दालङ्कारोंके होनेपर संसृष्टि ही होती है। किन्तु काव्यप्रकाशकार दो या अधिक शब्दालङ्कारोंमें भी उपकार्योपकारकभाव मानकर अङ्गाङ्गिभावरूप सङ्कर स्वीकार करते हैं। अगली पंक्तिमें इसी बातका प्रतिपादन करते हुए वे शब्दालङ्कारोंके अङ्गाङ्गिभावसङ्करका उदाहरण देते हैं—

इस प्रकारका [अङ्गाङ्गिभावरूप] संकर दो [या अधिक] शब्दालंकारोंमें भी देखा जाता है। जैसे कि—

जिसमें दानवों अर्थात् दैत्योंका रास अर्थात् क्रीडा अथवा सिंहनाद समाप्त या नष्ट [अभिहत] हो गया है इस प्रकारकी [अभिहतदानवरासा], जिसमें ध्वनि करता हुआ नद वेगसे बह रहा है इस प्रकारकी, यह तटी [पर्वतकी प्रान्तभूमि] शोभित हो रही है। और निरन्तर मदजलसे शोभित [अविरतदानवरा] बलिष्ठ [सारा] एवं [वनानि द्यति खण्डयति इति वनदा] वनोंका विनाश करनेवाला [गजानां समूहो गजता] हाथियोंका समूह उसकी अत्यन्त रक्षा करता है [अतिपाति] ५७२।

इसमें [पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनों भागोंमें 'दानवरा सातिपाति सारा वनदा' इस भागकी आवृत्ति होनेसे] यमक [रूप शब्दालंकार] तथा [इस यमक अंशमें जो अक्षर आये हैं उनको उल्टे-सीधे दोनों तरहसे पढ़नेपर वही पाठ बन जाता है इसलिए]

[सू० २०९]-**एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ॥१४०॥**

द्वयोर्बहूनां वा अलंकाराणामेकत्र समावेशेऽपि विरोधान्न यत्र युगपदवस्थानं, नचैकतरस्य परिग्रहे साधकं तदितरस्य वा परिहारे बाधकमस्ति येनैकतर एव परिगृह्येत स निश्चयाभावरूपो द्वितीयः संकरः, समुच्चयेन संकरस्यैवाक्षेपात् । उदाहरणम्—

(१) जह गहिरो जह रअणणिब्भरो जह अ णिम्मलच्छाओ ।
तह किं विहिणा एसो सरसवाणीओ जलणिही ण किओ ॥५७३॥

अनुकूल-प्रतिकूल चित्रकाव्य [रूप शब्दालंकार]का भेद, दोनों पादोंमें परस्पर एक-दूसरेकी अपेक्षासे [अङ्गाङ्गिभावसे] विद्यमान है । [अतः, यहाँ दो शब्दालङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभावसंकर है] ।

यहाँ 'पादद्वयगते परस्परापेक्षे' यह नपुंसकलिंगके प्रथमाके द्विवचनका प्रयोग है । यमक भी द्वितीय तथा चतुर्थ चरणरूप दो पादोंमें है और चित्रभेद भी उन्हीं दोनों पादोंमें है । इसलिए दोनों 'पादद्वयगत' हुए । 'पादद्वयगतं' च [यमकं] पादद्वयगतश्च [चित्रभेदः] इस विग्रहमें 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चान्यतरस्याम्' इस सूत्रसे नपुंसकलिंग शेष रह गया है । इसलिए 'पादद्वयगते' यह नपुंसकलिंगका ही प्रयोग किया है । 'पादयमक' और अनुलोम-प्रतिलोम चित्रकाव्य दोनों ही दुष्कर हैं इसलिए वे दोनों ही विद्वानोंके लिए मनोरंजक होते हैं । और जहाँ उन दोनोंकी स्थिति मिल जाय तो उससे दोनोंका सौन्दर्य बढ़ जाता है । यह तो सोनेमें सुगन्धकी-सी बात हो जाती है । यहाँ दोनों पादोंमें दोनों अलंकार पाये जाते हैं इसलिए वे परस्पर शोभाधायक हैं । इसीलिए उन दोनोंको परस्परापेक्ष मानकर अंगांगिभावसंकरका उदाहरण इसको माना है । दूसरे लोगोंका मत यह है कि यहाँ 'अंगांगिभाव संकर' नहीं है अपितु 'एकाश्रयानुप्रवेश'रूप तीसरे प्रकारका सङ्कर है ।

(२) सन्देहसङ्कर—

[सूत्र २०९]—किसी एकके माननेमें साधकप्रमाण [न्याय] अथवा दूसरेके ग्रहण करनेमें बाधकके होनेसे [दो या अधिकसे अलंकारोंमें किसी एकका] जो निश्चय न हो सकना है वह सन्देहसंकर [रूप दूसरे प्रकारका संकर] होता है ॥१४०॥

दो अथवा अधिक अलंकारोंका एक जगह समावेश होनेपर भी विरोध होनेसे जब वहाँ एक साथ स्थिति सम्भव नहीं है, और न उन दोनोंमेंसे किसी एकके स्वीकार करनेमें साधक प्रमाण, अथवा उससे भिन्न [अलंकार]को अस्वीकार करनेके लिए [आधारभूत] बाधक प्रमाण नहीं पाया जाता है, जिससे वहाँ किसी एकको ही स्वीकार कर लिया जाय, वह निश्चयाभावरूप [सन्देहसंकर नामक] दूसरे प्रकारका संकर [अलंकार] होता है । [सूत्रमें आये हुए समुच्चयार्थक] च शब्दसे [पूर्वसूत्रमें स्थित] संकरकी ही अनुवृत्ति होनेसे ['आक्षेपात् अनिश्चयः' अर्थात् सन्देहसंकर अलंकार होता है] । उदाहरण[जैसे]—

[समुद्र] जैसा गम्भीर, जैसा रत्नोंसे भरा हुआ और जैसा निर्मल कान्तिवाला है । भगवान्‌ने इस समुद्रको वैसा स्वादिष्ठ जलयुक्त क्यों नहीं बनाया है ।५७३।

[यथा गभीरो यथा रत्ननिर्भरो यथा च निर्मलच्छायः ।
तथा किं विधिना एव सरस पानीयो जलनिधिर्न कृतः ।। इति संस्कृतम्]

अत्र (१) समुद्रे प्रस्तुते विशेषणसाम्यादप्रस्तुतार्थप्रतीतेः किमसौ समासोक्तिः, (२) किमब्धेरप्रस्तुतस्य मुखेन कस्यापि तत्समगुणतया प्रस्तुतस्य प्रतीतेः इयमप्रस्तुतप्रशंसा इति सन्देहः । यथा वा—

(२) नयनानन्ददायीन्दोर्बिम्बमेतत्प्रसीदति ।
अधुनापि निरुद्धाशमविशीर्णमिदन्तमः ।।५७४।।

अत्र (१) किं कामस्योद्दीपकः कालो वर्तते इति भंग्यन्तरेणाभिधानात्पर्यायोक्तम्, उत (२) वदनस्येन्दुबिम्बतयाऽध्यवसानादतिशयोक्तिः, किं वा (३) एतदिति वक्त्रं निर्दिश्य तद्रूपारोपवशाद्रूपकम् अथ वा (४) तयोः समुच्चयविवक्षायां दीपकम्, (५) अथ वा तुल्ययोगिता, (६) किमु प्रदोषसमये विशेषणसाम्यादाननस्यावगतौ समासोक्तिः, (७) आहोस्वित् मुखनैर्मल्यप्रस्तावादप्रस्तुतप्रशंसा, इति बहूनां सन्देहादयमेव संकरः ।।

यहाँ (१) समुद्रके प्रस्तुत होनेपर विशेषणोंकी समानतासे अप्रस्तुत [पुरुषरूप] अर्थकी प्रतीति होनेसे क्या यह समासोक्ति [अलंकार] है, अथवा (२) क्या अप्रस्तुत समुद्रके द्वारा उस [समुद्र]के समान [गाम्भीर्यादिसे युक्त] किसी प्रस्तुत [पुरुष]की प्रतीति होनेसे यह अप्रस्तुतप्रशंसा [अलंकार] है इस प्रकारका सन्देह [संकर] होता है ।

यह दो अलंकारोंके सन्देहसंकरका उदाहरण दिया था। आगे दोसे अधिक अलंकारोंके सन्देहसंकरका उदाहरण देते हैं ।

अथवा जैसे—

नेत्रोंको आनन्द देनेवाला यह चन्द्रमाका बिम्ब चमक रहा है किन्तु दिशाओंको आच्छादित करनेवाला यह अन्धकार अब भी नष्ट नहीं हुआ है । ५७४ ।

यहाँ (१) क्या यह कामका उद्दीपन करनेवाला समय है यह बात प्रकारान्तरसे कही जा रही है इसलिए पर्यायोक्त [अलंकार] है ? अथवा (२) क्या मुखके चन्द्रमारूपसे निश्चय करनेसे अतिशयोक्ति [अलंकार] है, अथवा (३) क्या यह 'एतत्' इस देश मुखका निर्देश करके उस [चन्द्रमा]के रूपका आरोप होनेसे रूपक [अलंकार] है अथवा (४) उन दोनोंके प्रकृत मुख तथा अप्रकृत चन्द्रके साथ 'प्रसीदति' रूप एक क्रियाके सम्बन्धरूप], समुच्चयकी विवक्षामें दीपक [अलंकार] है अथवा (५) [चन्द्र तथा मुख दोनोंके प्रस्तुत होनेसे दीपकके बजाय] तुल्ययोगिता [अलंकार] है अथवा (६) क्या सन्ध्याकाल [के वर्णन]में विशेषणोंकी समानतासे मुखकी प्रतीति होनेसे समासोक्ति [अलंकार] है, अथवा (७) मुखकी निर्मलताके [वर्णनके] प्रसंगमें [अप्रस्तुत चन्द्रमाका वर्णन होनेसे] अप्रस्तुतप्रशंसा है। इस प्रकार बहुतसे अलंकारोंका सन्देह होनेसे यह सन्देहसंकर [अलंकार] ही है ।

यत्र तु न्यायदोषयोरन्यतरस्यावतारः तत्रैकतरस्य निश्चयान्न संशयः। न्यायश्च साधकत्वमनुकूलता। दोषोऽपि बाधकत्वं प्रतिकूलता। तत्र—

सौभाग्यं वितनोति वक्त्रशशिनो ज्योत्स्नेव हासद्युतिः ॥५७५॥

इत्यत्र मुख्यतयाऽवगम्यमाना हासद्युतिर्वक्त्रे एवानुकूल्यं भजते इत्युपमायाः साधकम्। शशिनि तु न तथा प्रतिकूलेति रूपकं प्रति तस्या अबाधकता।

वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्यतः ॥५७६॥

किसी एक पक्षमें साधक या बाधक प्रमाणोंका अभाव होनेपर ही यह सन्देहसंकर होता है। जहाँ किसी पक्षमें साधक अथवा किसी पक्षमें बाधक प्रमाण मिल जाय वहाँ सन्देह न रहकर एक पक्षमें निर्णय हो जाता है इसलिए सन्देहसंकर नहीं होता है यह बात अगली पंक्तिमें कहते हैं—

जहाँ [किसी एक अलङ्कारके स्वीकार करनेमें न्याय अर्थात्] साधक प्रमाण अथवा [दोष अर्थात्] बाधक प्रमाण मिल जाता है वहाँ किसी एकका निश्चय हो जानेसे संशय नहीं होता है। [सूत्रमें आये हुए] 'न्याय' [शब्द]का अर्थ साधकत्व अथवा अनुकूलता है और [सूत्रमें आया हुआ] 'दोष' [पद] भी बाधकत्व अथवा प्रतिकूलताका बोधक है। उनमेंसे [साधक प्रमाणके होनेसे सन्देहके अभावका उदाहरण देते हैं]—

चाँदनी जैसे चन्द्रमाके सौन्दर्यकी जनक होती है उसी प्रकार हासकी कान्ति मुखचन्द्रकी शोभाका विस्तार कर रही है। ५७५।

यहाँ मुख्य रूप रूपसे प्रतीत होनेवाली हासकी कान्ति मुखके ही अनुकूल होती है इसलिए उपमाकी साधिका है, चन्द्रमाके प्रति उसकी वैसी प्रतिकूलता नहीं है इसलिए रूपकके प्रति बाधक नहीं है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जहाँ किसी एक पक्षमें साधक या बाधक प्रमाण मिलता है वह एक ही प्रमाण एकका साधक और दूसरेका बाधक हो सकता है। जो प्रमाण एकका बाधक है वह स्वयं ही दूसरेका साधक हो जाता है। या जो किसी एकका साधक है वह स्वयं ही दूसरेका बाधक हो जाता है। तब फिर दोनोंके अलग-अलग कहने या उदाहरण देनेकी क्या आवश्यकता है? इस शंकाका समाधान करनेकी दृष्टिसे ग्रन्थकारने यह पंक्ति लिखी है। उनका आशय यह है कि यद्यपि एकका साधक अर्थतः दूसरेका बाधक बन सकता है अथवा एकका बाधक अर्थतः दूसरेका साधक बन सकता है, फिर भी उन दोनों प्रमाणोंके स्वरूपमें भेद अवश्य होता है। साधक प्रमाणमें साधक अंशकी प्रधानता रहती है, बाधक प्रमाणमें बाधक अंशकी प्रधानता रहती है। दूसरा कार्य वे गौण रूपसे अर्थापत्ति द्वारा ही करते हैं। इसलिए उन दोनोंके उदाहरण अलग-अलग दिये जाते हैं। पूर्वोक्त श्लोकमें 'हासद्युति' का मुखके साथ समन्वय जैसा अनुकूल बैठता है वैसा चन्द्रमाके विपरीत नहीं बैठता है। इस दृष्टिसे उसको मुखका 'साधक प्रमाण' हो कहा जा सकता है, चन्द्रमाका बाधक नहीं। इसलिए 'हासद्युतिः' पद, 'वक्त्रशशिनः' पदमें 'वक्त्रं शशीव' इस उपमाका साधक है, 'वक्त्रमेव शशी' इस रूपकका बाधक नहीं है। इसलिए इसे साधक प्रमाण सम्बन्धी उदाहरण समझना चाहिये।

तुम्हारे मुखचन्द्रके विद्यमान रहते यह जो दूसरा चन्द्रमा उदय हो रहा है [वह व्यर्थ ही है]।५७६।

इत्यत्रापरत्वमिन्दोरनुगुणं न तु वक्त्रस्य प्रतिकूलमिति रूपकस्य साधकतां प्रतिपद्यते, न तूपमाया बाधकताम् ।

राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिंगति निर्भरम् ॥५७७॥

इत्यत्र पुनरालिङ्गनमुपमां निरस्यति । सदृशं प्रति परप्रेयसीप्रयुक्तस्यालिङ्गनस्यासम्भवात् ।

पादाम्बुजं भवतु नो विजयाय मञ्जु-
मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ॥५७८॥

वहाँ 'अपरः' शब्दका प्रयोग चन्द्रमाके [अर्थात् मुखको चन्द्रमा मानने अर्थात् 'वक्त्रमेवेन्दुः वक्त्रेन्दुः' इस प्रकारका—'मयूरव्यंसकादयश्च' इस सूत्रसे समास करके रूपक माननेके] अनुकूल है [वक्त्रमिन्दुरिव इस उपमित समासके द्वारा] उपमा [माननेमें उतना] प्रतिकूल नहीं है इसलिए [यह] रूपकका साधक होता है उपमाका बाधक नहीं होता है ।

इस प्रकार 'वक्त्रशशिनः' तथा 'वक्त्रेन्दौ' पदोंमें जहाँ रूपक तथा उपमाका सन्देह हो सकता था वहाँ क्रमशः पहिलेमें उपमाका साधक 'हासद्युति' रूप प्रमाण, और दूसरेमें रूपकका साधक 'अपरः' शब्दका प्रयोगरूप प्रमाण मिल जानेसे एक पक्षमें निर्णय हो गया है । इसलिए ये दोनों साधक प्रमाणके द्वारा एक पक्षमें निर्णय होनेके उदाहरण हैं ।

आगे बाधक प्रमाणोंके आधारपर संशयका निवारण होकर निश्चयके उदाहरण देते हैं ।

राजा रूपनारायण [अर्थात् विष्णुस्वरूप, न कि विष्णुसदृश] आपको लक्ष्मी अतिशय आलिंगन करती हैं ।५७७।

यहाँ 'राजा एव नारायणः राजनारायणः' इस प्रकार रूपकपरक समास भी हो सकता है और 'राजा नारायण इव राजनारायणः' इस प्रकारका उपमापरक समास भी हो सकता है । इसलिए रूपक तथा उपमामेंसे कौन सा अलङ्कार यहाँ माना जाय यह सन्देह हो सकता है । उस सन्देहका निवारण यहाँ उपमाके बाधक प्रमाणके द्वारा होता है । लक्ष्मीका आलिंगन ही यहाँ उपमाका बाधक प्रमाण है । लक्ष्मी विष्णु या नारायणकी पत्नी है । यदि यहाँ उपमालङ्कार माना जाय तो 'राजा नारायणके सदृश है' यह अर्थ निकलता है । उस दशामें यदि राजा नारायणस्वरूप नहीं अपितु नारायणके सदृश है तो लक्ष्मीके द्वारा उसका आलिंगन नहीं बन सकता है । क्योंकि कोई पतिव्रता स्त्री पतिके सदृश व्यक्तिका आलिंगन नहीं करती है । इसलिए यह उपमाका बाधक प्रमाण है । यद्यपि यही रूपकका साधक प्रमाण भी हो सकता है परन्तु ग्रन्थकारने उपमाबाधकताकी प्रधानता मानकर ही इसको उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है । यही बात अगली पंक्तिमें कहते हैं—

और वहाँ [इस उदाहरणोंमें लक्ष्मीका] आलिंगन उपमाका निराकरण करता है । [पतिके] सदृशके प्रति दूसरेकी स्त्रीका आलिंगन सम्भव नहीं है ।

इस प्रकार उपमाके बाधक प्रमाणका उदाहरण देकर अब रूपकके बाधक प्रमाणका उदाहरण देते हैं । श्लोकका केवल उत्तरार्द्ध भाग यहाँ उद्धृत किया गया है । धर्माचार्यकृत देवी पार्वतीकी स्तुतिमें लिखे गये पंचस्तवी नामक काव्यके तृतीय स्तवका यह पद्य है ।

नूपुरकी मधुर ध्वनिसे युक्त पार्वतीका चरणकमल हमारे लिए विजय प्रदान करनेवाला हो ।५७८।

इत्यत्र मञ्जीरशिंजितं अम्बुजे प्रतिकूलम्, असम्भवादिति रूपकस्य बाधकम्। न तु पादेऽनुकूलमित्युपमायाः साधकमभिधीयते। विध्युपमर्दिनो बाधकस्य तदपेक्षयोत्कटत्वेन प्रतिपत्तेः। एवमन्यत्रापि सुधीभिः परीक्ष्यम्॥

[सू० २१०]– स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम्।
व्यवस्थितं च,

अभिन्ने एव पदे स्फुटतया यदुभावपि शब्दार्थालङ्कारौ व्यवस्थां समासादयतः सोऽप्यपरः संकरः। उदाहरणम्—

नूपुरकी मधुर-ध्वनिसे युक्त पार्वतीका चरणकमल हमारे लिए विजय-प्रदान करनेवाला हो। यहाँ 'पादाम्बुजं' पदमें 'पाद एव अम्बुजं' इस प्रकारका समास करनेसे रूपकालंकार होता है; उस अवस्थामें 'अम्बुज' की प्रधानतया या विशेष्यरूपसे प्रतीति होती है। उसमें 'मंजीरशिंजित' नूपुर-ध्वनिका साक्षात् अन्वय संगत नहीं होता है। यही रूपकके माननेमें बाधक है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि नूपुर-ध्वनिको जैसे रूपककी संगतिमें बाधक माना जा रहा है उसी प्रकार 'पादोऽम्बुजमिव इति पादाम्बुजं' इस उपमाका साधक क्यों न मान लिया जाय? इसका उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि यहाँ पैरमें अम्बुजत्वका विधान करनेवाले अर्थात् पैरको अम्बुज बना देनेवाले रूपकका निराकरण करनेवाले 'मंजीरशिंजित' रूप बाधक प्रमाणका उपमासाधकत्वकी अपेक्षा रूपकबाधकत्व प्रबल रूपमें प्रतीत हो रहा है इसलिए इसे 'उपमासाधक'का उदाहरण न कहकर 'रूपक-बाधक' प्रमाणका ही उदाहरण मानना उचित है। यही बात ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें कहते हैं—

इस [उदाहरण]में 'मञ्जीरशिंजित' [अर्थात् नूपुर-ध्वनि] अम्बुजमें असम्भव होनेसे उसके प्रतिकूल और [पैर-रूप जो अम्बुज इस] रूपकका बाधक है। न कि [कमलके समान जो पैर इस प्रकारसे] पैरके अनुकूल है। इसलिए उपमाका साधक है, वह कहा जा सकता है। [पैरमें अम्बुजत्वका] विधान करनेवाले [रूपक]का निराकरण करनेवाले बाधकके उस [उपमासाधकत्व]की अपेक्षा प्रबल रूपसे प्रतीत होनेके कारण [इसको रूपकके बाधक प्रमाणके रूपमें लेना ही उचित है, उपमासाधक रूपमें नहीं]। इसी प्रकार अन्य उदाहरणोंमें भी विद्वानोंको समझना चाहिये।

३. एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर—

[सूत्र २१०]—एक [पदरूप] स्थानपर दो शब्दालंकार और अर्थालंकार [सन्दिग्ध रूपसे या अङ्गाङ्गिभावरूपसे न होकर] स्पष्ट [असन्दिग्ध] और अलग-अलग [व्यवस्थित रूपसे] रहते हैं [वह भी एकाश्रयानुप्रवेश नामसे सङ्करका तीसरा भेद होता है]।

एक ही पदमें स्पष्ट रूपसे जो शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों व्यवस्थित होते हैं वह तीसरे प्रकारका [एकाश्रयानुप्रवेश] संकर होता है। जैसे—

रत्नाकरकविकृत 'हरविजय' काव्यके उन्नीसवें सर्गमें सन्ध्या-वर्णनके प्रसंगसे यह पद्य लिया गया है। इसमें कविने दिवसको कमल बनाकर उसके संकोच अर्थात् दिवसके अवसान, सन्ध्याकालका वर्णन किया है। इसलिए उसमें रूपकालङ्कार है। उस दिवसरूप कमलमें किरणरूप केसर, और सूर्यरूप कर्णिका अर्थात् कमलके बीचका बीजकोष, आठों दिशाओंको दिवसरूप अरविन्दके आठ

स्पष्टोल्लसत्किरणकेसरसूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम् ।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतारबद्धान्धकारमधुपावलि संचुकोच ॥५७९॥

अत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ ।

[सू० २११]-तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्त्तितः ॥१४१॥

तदयं (१) अनुग्राह्यानुग्राहकतया (२) सन्देहेन (३) एकपदप्रतिपाद्यतया च व्यवस्थितत्वात्त्रिप्रकार एव संकरो व्याकृतः । प्रकारान्तरेण तु न शक्यो व्याकर्तुम् आनन्त्यात्तत्प्रभेदानामिति ।

दलरूप और सन्ध्याकालके अन्धकारको मधुपावलि मानकर साङ्ग रूपकका वर्णन किया है। इसके तीन चरणोंमें एक ही पदमें रूपक तथा अनुप्रास दोनों अलङ्कार साथ-साथ पाये जाते हैं। जैसे 'किरण-केसर' पदमें किरणोंपर केसरका आरोप होनेसे रूपक तथा ककारकी आवृत्ति होनेसे अनुप्रास दोनों अलङ्कार स्पष्ट हैं। और वे दोनों एक ही अभिन्न पदमें रहते हैं इसलिए यह 'एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर'का उदाहरण है। इसी प्रकार 'सूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिक'में सूर्यके ऊपर कर्णिका अर्थात् बीजकोषका आरोप होनेसे रूपक तथा र, ण की आवृत्ति होनेसे अनुप्रास दोनों शब्दार्थालङ्कार एकाश्रयमें अनुप्रविष्ट हो रहे हैं। इसी प्रकार तीसरे चरणमें 'श्लिष्टाष्टदिग्दलकलाप'में दिग्‌के ऊपर दलका आरोप होनेसे रूपक तथा ष्ट, दकार तथा लकारकी आवृत्ति होनेसे अनुप्रास दोनों शब्दार्थालङ्कारोंके विद्यमान होनेसे एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर पाया जाता है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

स्पष्ट रूपसे निकलती हुई किरणरूप केसरसे युक्त सूर्यबिम्बरूप विस्तीर्ण बीज-कोषवाला एवं खिली हुई आठ दिशारूप पंखुड़ियोंसे युक्त रात्रिके प्रारम्भमें फैले हुए अन्धकाररूप भ्रमरपंक्तिसे भूषित दिवसरूप कमल बन्द हो गया। ५७९।

इसमें [तीनों चरणोंमें] रूपक [अर्थालङ्कार] तथा अनुप्रास [शब्दालङ्कार] एक ही पदमें समाये हुए हैं। [इसलिए यह संकरके तीसरे भेदका उदाहरण है]।

[सूत्र २११]—इसलिए यह [सङ्करालङ्कार] तीन प्रकारका माना जाता है ॥१४१॥

इसलिए यह [संकर] (१) अनुग्राह्य-अनुग्राहकरूपसे (२) सन्देहरूपसे और (३) एकपदप्रतिपाद्यरूपसे व्यवस्थित होनेके कारण तीन प्रकारका ही संकर माना गया है। अन्य प्रकारसे [अर्थात् प्रत्येक अलंकारका नाम लेकर दूसरे अलंकारोंके साथ उसका संकर] नहीं दिखलाया जा सकता है क्योंकि [ऐसा करनेसे तो संकरके] अनन्त भेद हो जायँगे। [इसलिए तीन ही प्रकारका संकर माना जाता है]।

जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है काव्यप्रकाशमें कुल ६१ अर्थालंकारोंका वर्णन किया गया है। वे ६१ अलंकार यहाँ समाप्त हो जाते हैं। इसलिए वस्तुतः अलंकारनिरूपणका प्रकरण यहीं समाप्त हो जाता है। इसके बाद इस उल्लासका जो भाग शेष रह जाता है उसमें दो बातोंका विवेचन किया गया है। एक तो यह कि इन अलंकारोंके शब्दालंकार-अर्थालंकाररूपसे जो भेद किये गये हैं उसका क्या आधार है? अर्थात् किस नियमके द्वारा हम यह निर्णय कर सकते हैं कि अमुक अलंकार-को शब्दालंकार या अमुक अलंकारको अर्थालंकार माना जाय? और दूसरी बात यह है कि अलंकारों-में जो दोष आते हैं उन सबका अन्तर्भाव पहले कहे हुए दोषोंके ही अन्तर्गत हो जाता है। उनसे भिन्न अलंकारोंके कोई अलग दोष माननेकी आवश्यकता नहीं है। सम्प्रति अलंकारनिरूपणके प्रसंगका उपसंहार करते हुए वे शब्दालंकार तथा अर्थालंकारोंके विनियामक विषयका प्रारम्भ करते हैं—

प्रतिपादिताः शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यजुषोऽलंकाराः ।

कुतः पुनरेष नियमो यदेतेषां तुल्येऽपि काव्यशोभातिशयहेतुत्वे कश्चिदलंकारः शब्दस्य, कश्चिदर्थस्य, कश्चिच्चोभयस्येति चेन्न । उक्तमत्र यथा काव्ये दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थोभयगतत्वेन व्यवस्थायाम् अन्वयव्यतिरेकावेव प्रभवतः निमित्तान्तरस्याभावात् । ततश्च योऽलंकारो यदीयान्वयतिरेकावनुविधत्ते स तदलंकारो व्यवस्थाप्यते इति ।

एवं च यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावानुविधायितया उभयाऽलंकारौ तथा शब्दहेतुकार्थान्तरन्यासप्रभृतयोऽपि द्रष्टव्याः । अर्थस्य तु तत्र वैचित्र्यम् उत्कटतया प्रतिभासते इति वाच्यालंकारमध्ये वस्तुस्थितिमनपेक्ष्यैव लक्षिताः ।

शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारोंकी व्यवस्था—

शब्दगत, अर्थगत, उभयगत तीनों प्रकारके अलङ्कारोंका वर्णन हो गया ।

[प्रश्न]—इन अलंकारोंमें काव्यशोभाके अतिशय हेतुत्वके समान रूपसे रहनेपर भी उनमेंसे कुछ शब्दके अलंकार कोई अर्थालंकार और कोई उभयालंकार माना जाता है, यह नियम किस आधारपर बनाया गया है यह पूछो तो ? [उत्तर यह है कि] इस विषयमें पहिले कह चुके हैं कि—काव्यमें गुण-दोष तथा अलंकारोंकी शब्दनिष्ठता अर्थनिष्ठता या उभयनिष्ठताकी व्यवस्थामें अन्य कोई निमित्त न होनेसे अन्वय-व्यतिरेक ही नियामक होते हैं । इसलिए जो अलंकार [शब्द और अर्थमेंसे] जिसके अन्वय-व्यतिरेकका अनुसरण करता है वह उसका अलंकार माना जाता है ।

'तत्सत्वे तत्सत्ता अन्वयः, तदभावे च तदभावो व्यतिरेकः' यह अन्वय-व्यतिरेकका अर्थ है । किसी विशेष शब्दके रहनेपर ही जो अलङ्कार रहे, उस शब्दको हटाकर उसका पर्यायवाची शब्द रख देनेपर न रहे, वह अलङ्कार उस शब्दविशेषपर आश्रित है, उस शब्द विशेषके अन्वय-व्यतिरेकका अनुसरण करता है इसलिए शब्दालङ्कार कहलाता है । इसी प्रकार जो अलङ्कार शब्दका परिवर्तन करके उसके समानार्थक शब्दान्तरके रख देनेपर भी बना रहे वह शब्दके ऊपर नहीं, अपितु अर्थके ऊपर आश्रित है, अर्थके अन्वय-व्यतिरेकका अनुसरण करता है, इसलिए वह अर्थालङ्कार कहलाता है । और जो शब्द तथा अर्थ दोनोंके अन्वय-व्यतिरेकका अनुसरण करता है वह उभयालङ्कार होता है ।

इस प्रकार [उदाहरणसंख्या ३९१ 'तनुवपु' इत्यादिमें] पुनरुक्तवदाभास और [उदाहरणसंख्या ४२५ 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादिमें] परम्परित रूपक [शब्द तथा अर्थ] दोनोंके अन्वय-व्यतिरेक [भावाभाव]का अनुसरण करनेवाले होनेसे उभयालंकार कहलाते हैं । इसी प्रकार शब्दहेतुक अर्थान्तरन्यास आदि भी [उभयालंकार] समझने चाहिये । परन्तु उन [अर्थान्तरन्यासादि]में अर्थका चमत्कार प्रबल रूपसे प्रतीत होता है इसलिए वस्तुस्थिति [अर्थात् उनकी उभयालंकारता]की उपेक्षा करके उनको अर्थालंकार [वाच्यालंकारों]में गिनाया गया है ।

इसका आशय यह है कि 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कारके 'तनुवपु' इत्यादि उदाहरण [श्लोक-संख्या ३९१] में तनु, कुंजर रक्त, धाम, हरि, जिष्णु ये शब्द परिवर्तनको सहन नहीं करते हैं । अर्थात् उनको बदलकर उनके पर्यायवाचक अन्य शब्द रख देनेपर वह चमत्कार या अलंकार नहीं रहता है ।

इसके विपरीत उसी श्लोकमें प्रयुक्त वपु, करि, रुधिर, इन्द्र शब्द परिवृत्तिसह हैं। अर्थात् यदि उनको बदलकर उनके स्थानपर समानार्थक दूसरे शब्द रख दिये जायँ तो भी अलंकार बना ही रहता है। इसलिए यह 'पुनरुक्तवदाभास' कुछ अंशमें शब्दके और कुछ अंशमें अर्थके अन्वय-व्यतिरेकका अनुसरण करता है इसलिए यह उभयालंकार माना जाता है।

इसी प्रकार परम्परित रूपकके 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादि उदाहरण [सं० ४२५] में 'मानस' आदि कुछ पद परिवृत्त्यसह और 'हंसादि' कुछ पद परिवृत्तिसह हैं। अर्थात् मानस आदि पदोंका परिवर्तन कर देनेपर अलंकारका चमत्कार नहीं रहता है। परन्तु हंसादि पदोंको परिवर्तित कर देनेपर भी अलंकारकी कोई हानि नहीं होती है। इसलिए यह भी कुछ अंशोंमें शब्दके और कुछ अंशोंमें अर्थके अन्वय व्यतिरेका अनुसरण करता है इसलिए उभयालंकार माना जाता है।

शब्दहेतुक अर्थान्तरन्यासको भी उभयालंकार मानना चाहिये। इसका उदाहरण निम्नलिखित श्लोकमें पाया जाता है—

उत्पादयति लोकस्य प्रीतिं मलयमारुतः।
ननु दाक्षिण्यसम्पन्नः सर्वस्य भवति प्रियः॥

यहाँ दाक्षिण्यसम्पन्न सबका प्रिय होता है इस सामान्यसे मलयमारुतके प्रीतिजनकत्वका समर्थन किया गया है। इसलिए यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है। इस अलंकारका मूल यहाँ 'दाक्षिण्यसम्पन्नः' यह शब्द है। मलयमारुत दक्षिण दिशासे आता है इसलिए वह 'दाक्षिण्यसम्पन्न' है। 'अनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः' जिसका अनेक नायिकादिके प्रति समान अनुराग हो वह नायक दक्षिण-नायक कहलाता है। वह 'दाक्षिण्यसम्पन्न' नायक जैसे सबको प्रिय होता है ऐसे ही 'दाक्षिण्यसम्पन्न' मलयमारुत सबको आह्लादित करता है। इस प्रकार सामान्यसे विशेषके समर्थनरूप इस अर्थान्तर-न्यासका बीज या आधार 'दाक्षिण्यसम्पन्नः' शब्द है। यदि उसको बदलकर कोई अन्य शब्द रख दिया जाय तो यह अलंकार नहीं रहेगा। इसलिए इस अंशमें अर्थान्तरन्यास अलंकार शब्दके अन्वय-व्यतिरेकका अनुसरण कर रहा है अर्थात् शब्दालंकार है इसलिए सामान्यतः अर्थालंकारमें परिगणित होनेपर भी कहीं-कहीं शब्दके अन्वय-व्यतिरेकका अनुगामी होनेसे शब्दहेतुक अर्थान्तरन्यासको भी उभयालंकार मानना चाहिये यह ग्रन्थकारका आशय है।

अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यकका खण्डन—

अलंकारसर्वस्वकार रुय्यकने शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकारके भेदक हेतुकी विवेचना करते हुए लिखा है कि—

"योऽलंकारो यदाश्रितः स तदीयोऽलंकारः। तेनाश्रयाश्रयिभाव एव शब्दार्थोभयालंकारव्यवस्थायां बीजं, न अन्वयव्यतिरेकौ।"

इस प्रकार अलंकारसर्वस्वकार रुय्यकने अन्वय-व्यतिरेकको अलंकारोंकी शब्दनिष्ठता या अर्थनिष्ठताका नियामक न मानकर उसके स्थानपर 'आश्रयाश्रयिभाव'को उसका नियामक माना है। परन्तु काव्यप्रकाशकार उससे सहमत नहीं हैं इसलिए इस मतका खण्डन करनेके लिए उन्होंने अगली पंक्ति लिखी है। उसका आशय यह है कि आप जिस आश्रयाश्रयिभावकी कल्पना कर रहे हैं वह आश्रयाश्रयिभाव भी तो अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा ही निर्धारित होता है। क्योंकि यदि अन्वय-व्यतिरेक न माना जाय तो किन्हीं दो पदार्थोंमें आश्रयाश्रयिभावका भी निर्णय नहीं हो सकता है। इसलिए आश्रयाश्रयिभावकी अपेक्षा अन्वय-व्यतिरेकको ही शब्दनिष्ठतादिका नियामक मानना उचित है। यह

योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकार इत्यपि कल्पनायां अन्वय-व्यतिरेकावेव समाश्रयितव्यौ तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्याभावात् । इत्यलंकाराणां यथोक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्यायान् ॥

[सू० २१२]–एषां दोषा यथायोगं सम्भवन्तोऽपि केचन ।
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिताः ॥१४२॥

(१) तथाहि अनुप्रासस्य (क) प्रसिद्ध्यभावो (ख) वैफल्यं, (ग) वृत्तिविरोध

ग्रन्थकारका अभिप्राय है । इसीको वे अगले अनुच्छेदमें निम्नलिखित प्रकार कहते हैं—

"जो अलंकार [शब्द और अर्थमेंसे] जिसके आश्रित रहता है वह उसका अलंकार होता है" [यह जो अलंकारसर्वस्वकारने माना है उनकी] इस कल्पनामें भी अन्वय-व्यतिरेकका ही आश्रय लेना होगा । उसका [अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकका] आश्रय लिये बिना विशिष्ट [किन्हीं दो पदार्थों]का आश्रयाश्रयिभाव नहीं बन सकता है । इसलिए अलंकारोंका उक्त [अन्वय-व्यतिरेकरूप] हेतुके आधारपर ही [यह शब्दालंकार है, यह अर्थालंकार है और यह उभयालंकार है इस प्रकारका] परस्पर भेद मानना अधिक अच्छा है ।

वामनाभिमत अलङ्कारदोषोंका खण्डन—

इस प्रकार शब्दालंकार अर्थालंकार आदिके नियामक हेतुका निर्णय करनेके बाद अब अलंकार-दोषोंकी विवेचना प्रारम्भ करते हैं । इस प्रकरणको ग्रन्थकारने मुख्यतः वामनके मतका खण्डन करनेके लिए आरम्भ किया है । वामनने अपने 'काव्यालंकारसूत्र'में अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारोंके अनेक दोष दिखलाये हैं । काव्यप्रकाशकार अलङ्कारदोषोंको अलग माननेकी आवश्यकता नहीं समझते हैं । इसलिए इस लम्बे प्रकरणमें वामनके मतका खण्डन करेंगे । इस विषयमें ग्रन्थकार मम्मटका सिद्धान्तमत यह है कि जिन दोषोंकी गणना सप्तम उल्लासमें की जा चुकी है उनसे भिन्न अलंकारके अन्य कोई दोष नहीं होते हैं । अलंकारोंमें जो दोष हो सकते हैं उनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त दोषोंमें ही हो जाता है । इसी बातका प्रतिपादन करनेके लिए यहाँ वामन द्वारा प्रस्तुत अलंकार-दोषोंके उदाहरण लेकर, उनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त दोषोंमें दिखलानेका प्रयत्न करेंगे ।

[सूत्र २१२]—इन [अलंकारों]के यथायोग कुछ दोष सम्भव होनेहर भी उक्त दोषोंमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं इसलिए उनका अलग प्रदिपादन नहीं किया है ॥१४२॥

वामन आदि प्राचीन आचार्योंने अलंकारोंके दोषोंका भी निरूपण किया है । काव्यप्रकाशकार उन दोषोंकी सत्ता तो मानते हैं फिर भी उनका मत है कि उनका अन्तर्भाव सप्तम उल्लासमें कहे हुए दोषोंके भीतर ही हो जानेसे उनके अलग प्रतिपादन करनेकी आवश्यकता नहीं होती है । अतः इस ग्रन्थमें उनका प्रतिपादन न होनेसे ग्रन्थमें अपूर्णतादोष नहीं समझना चाहिये । यह ग्रन्थकारका आशय है । आगे कुछ उदाहरण देकर इसी बातको स्पष्ट करते हैं ।

(१) अनुप्रासदोषोंका अन्तर्भाव—

जैसे कि अनुप्रासमें प्रसिद्धिका अभाव, वैफल्य [अर्थात् चमत्काराजनकत्व] और

इति ये त्रयो दोषाः ते प्रसिद्धिविरुद्धताम्, अपुष्टार्थत्वं, प्रतिकूलवर्णतां च यथाक्रमं न व्यतिक्रामन्ति। तत्स्वभावत्वात्।

क्रमेणोदाहरणम्—

(क) चक्री चक्रारपंक्तिं हरिरपि च हरीन् धूर्जटिर्मूर्द्धजाग्रान्,
अक्षं नक्षत्रनाथोऽरुणमपि वरुणः कूबराग्रं कुबेरः।
रंहः संघः सुराणां जगदुपकृतये नित्ययुक्तस्य यस्य,
स्तौति प्रीतिप्रसन्नोऽन्वहमहिमरुचेः सोऽवतात् स्यन्दनो वः ॥५८०॥

अत्र कर्तृकर्मप्रतिनियमेन स्तुतिः अनुप्रासानुरोधेनैव कृता न पुराणेतिहासादिषु तथा प्रतीतेति प्रसिद्धिविरोधः॥

(ख) भण तरुणि ! रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि !।
यदि सल्लीलोल्लापिनि ! गच्छसि तत् किं त्वदीयम्मे ॥५८१॥
अनणुरणन्मणिमेखलमविरतशिंजानमञ्जुमञ्जीरम् !
परिसरणमरुणचरणे ! रणरणकमकारणं कुरुते ॥५८२॥

अत्र वाच्यस्य विचिन्त्यमानं न किंचिदपि चारुत्वं प्रतीयते इत्यपुष्टार्थतैवानुप्रासस्य वैफल्यम्।

[उपनागरिकादि] वृत्तियोंका विरोध ये तीन दोष [प्राचीन आचार्योंके मतमें] होते हैं। वे क्रमशः प्रसिद्धिविरुद्धता, अपुष्टार्थत्व और प्रतिकूलवर्णता [रूप पहिले कहे हुए दोषों] से अलग नहीं हैं। उसी प्रकारके स्वभाववाले होनेसे [इनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त दोषोंमें ही हो जाता है]। क्रमसे [तीनोंके] उदाहरण [जैसे]—

(१ क) सूर्यका वह रथ, जिसके पहियोंके अरोंकी स्तुति चक्री विष्णु भगवान् करते हैं, घोड़ोंकी प्रशंसा इन्द्र करते हैं, ऊपर लगी पताकादिकी स्तुति शिवजी करते हैं, चन्द्रमा जिसके धुरेकी बड़ाई करते हैं, वरुण जिसके [सारथि] अरुणकी, अक्षके अग्रभागकी कुबेर, और देवताओंका समूह जिसके वेगकी प्रशंसा करता है, जगत्‌के कल्याणके लिए सदैव लगा रहनेवाला सूर्यदेवका वह रथ तुम्हारी रक्षा करे।५८०।

यहाँ कर्ता और कर्म [अर्थात् चक्री चक्रारपंक्ति आदिके रूप]के प्रतिनियत रूपमें स्तुतिका वर्णन अनुप्रास [का सौन्दर्य बनाने]के अनुरोधसे किया गया है। किन्तु पुराण इतिहास आदिमें उस प्रकारकी प्रसिद्धि नहीं है। इसलिए [अनुप्रासका यह प्रसिद्ध्यभावरूप दोष पूर्वोक्त] प्रसिद्धिविरुद्धता [के ही अन्तर्गत] है।

(२ ख) आनन्ददायक [शरत्पूर्णिमाके] सुन्दर चन्द्रमाके समान मुखवाली, मनोहर हावभावोंके साथ बात करनेवाली, रक्तचरणोंवाली हे सुन्दरि ! तगड़ीको जोर-जोरसे बजाती और निरन्तर नूपुरकी ध्वनि करती हुई तुम यदि अपने प्रियके घरको जाती हो तो तुम्हारा वह जाना [त्वदीयं तत्परिसरणं] मुझे व्यर्थ ही क्यों सता रहा है।५८१-५८२।

यहाँ [केवल अनुप्रासका वैचित्र्य है] परन्तु विचार करनेपर भी [उससे] अर्थ

(ग) 'अकुण्ठोत्कण्ठया' इति अत्र शृङ्गारे परुषवर्णाडम्बरः पूर्वोक्तरीत्या विरुध्यत इति परुषानुप्रासोऽत्र प्रतिकूलवर्णतैव वृत्तिविरोधः ।

(२) यमकस्य पादत्रयगतत्वेन यमनमप्रयुक्तत्वं दोषः । यथा—

भुजङ्गमस्येव मणिः सदम्भा ग्राहावतीर्णेव नदी सदम्भाः ।
दुरन्ततां निर्णयतोऽपि जन्तोः कर्षन्ति चेतः प्रसभं सदम्भाः ॥५८३॥

(३) १. उपमायामुपमानस्य जातिप्रमाणगतन्यूनत्वं अधिकता वा तादृशी अनुचितार्थत्वं दोषः ।

२. धर्माश्रये तु न्यूनाधिकत्वे यथाक्रमं हीनपदत्वमधिकपदत्वं च न व्यभिचरतः । क्रमेणोदाहरणम्—

का तनिक भी चारुत्व प्रतीत नहीं होता है इसलिए अनुप्रासकी विफलता [अर्थात् अनुप्रास-वैफल्यरूप दोष, पूर्वोक्त दोषोंके अन्तर्गत] अपुष्टार्थता [दोष] ही है ।

(ग) 'अकुण्ठोत्कण्ठया' यह [सप्तमोल्लासका उदाहरणसंख्या २०७ ।]

यहाँ शृंगार रसमें कठोर वर्णोंका बाहुल्य पूर्वोक्त [अर्थात् अष्टम उल्लासमें गुण-विवेचनके प्रसंगमें कही हुई] रीतिसे विरुद्ध होता है । इसलिए परुष वर्णोंका अनुप्रास-रूप जो वृत्तिविरोध [अनुप्रासका दोष] है वह प्रतिकूलवर्णता [रूप पूर्वोक्त दोष-रूप] ही है [उससे भिन्न नहीं है] ।

(२) यमकदोषका अन्तर्भाव—

यमकका तीन चरणोंमें स्थापन अप्रयुक्तत्व दोष है । जैसे—

[दम्भी कपटी पुरुषके संसर्गका] परिणाम बुरा होगा इस बातको जाननेवाले [दुरन्ततां निर्णयतोऽपि जन्तोः] पुरुषोंके चित्तको भी, साँपकी पानीदार [आबदार] मणिके समान, और घड़ियालोंसे भरी हुई किन्तु स्वच्छजल युक्त नदीके समान, कपटी पुरुष हठात् [अपनी ओर] खींच लेते हैं ।५८३।

इस श्लोकके केवल तीन चरणों 'सदम्भा' पदकी आवृत्ति होनेसे यह पादत्रयगत यमकका उदाहरण है । यमककी इस प्रकारकी पादत्रयगत स्थितिको वामन आदि प्राचीन आचार्योंने पृथक् अलङ्कारदोष माना है । परन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मटके मतानुसार उसका अन्तर्भाव पहिले कहे हुए अप्रयुक्तत्व दोषके अन्तर्गत हो जाता है । इसलिए उसको अलग माननेकी आवश्यकता नहीं है ।

(३) उपमादोषोंका अन्तर्भाव—

१. उपमा [अलंकार]में उपमानकी जातिगत अथवा परिमाणगत न्यूनता अथवा उसी प्रकारकी [जातिगत तथा परिमाणगत] अधिकता [जिसे प्राचीन वामन आदिने उपमादोषोंमें अलग गिनाया है वस्तुतः पूर्वोक्त] अनुचितार्थत्व दोषरूप है ।

२. [साधारण] धर्ममें रहनेवाले न्यूनत्व और अधिकत्व क्रमशः हीनपदत्व तथा अधिकपदत्व [रूप पूर्वोक्त दोषों]से भिन्न नहीं हैं, क्रमशः [उन सबके] उदाहरण [जैसे]—

१. (क) चण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम् ॥५८४॥

(ख) वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति ॥५८५॥

(ग) अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते ।
युगादौ भगवान्वेधा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ॥५८६॥

(घ) पातालमिव ते नाभिः स्तनौ क्षितिधरोपमौ ।
वेणीदण्डः पुनरयं कालिन्दीपातसन्निभः ॥५८७॥

अत्र चण्डालादिभिरुपमानैः प्रस्तुतोऽर्थोऽत्यर्थमेव कदर्थित इत्यनुचितार्थता ।

२. (क) स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन् ।
व्यराजन्नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवांशुमान् ॥५८८॥

१. उपमानका न्यूनाधिक्य—

उपमानकी जातिगत न्यूनताका उदाहरण देते हैं—

(क) चाण्डालोंके समान आप लोगोंने अतिसाहस [साहसं तु दम्भे दुष्कर्मणि अविमृश्यकृते धार्ष्ट्ये इति हेमः] किया है ।५८४।

वामनकी काव्यालंकारसूत्रवृत्तिमें इसे उपमानकी जातिगत न्यूनताके उदाहरणरूपमें उद्धृत किया गया है । क्योंकि इसमें चाण्डालको उपमान बनाया गया है । काव्यप्रकाशकारके मतसे पूर्वोक्त अनुचितार्थत्वदोषमें ही इसका अन्तर्भाव हो जाता है ।

(ख) यह सूर्य आगकी चिनगारीके समान शोभित हो रहा है ॥५८५॥

इसे वामनने उपमानके परिमाणगत न्यूनत्वदोषका उदाहरण माना है क्योंकि इसमें 'भानु'का उपमान 'वह्निस्फुलिंग'को बनाया है जो परिमाणमें उपमेय सूर्यसे कहीं अधिक न्यून है । काव्यप्रकाशकार पूर्वोक्त अनुचितार्थत्वदोषमें ही इसका भी अन्तर्भाव मानते हैं ।

(ग) कमलरूप आसनपर बैठा हुआ यह चकवा ऐसा शोभित हो रहा है मानों सृष्टिके प्रारम्भमें प्रजाओंको उत्पन्न करनेकी इच्छासे पद्मासनपर ब्रह्मा बैठे हों ।५८६।

यहाँ उपमेय चक्रवाक है और ब्रह्माको उसका उपमान बनाया गया है । इसे वामनने उपमानके जातिगत आधिक्यका उदाहरण माना है । मम्मट इसे भी अनुचितार्थत्व मानते हैं ।

(घ) तुम्हारी नाभि पातालके समान [गहरी], स्तन पहाड़ोंके समान [ऊँचे] और वेणीदण्ड यमुनाप्रवाहके सदृश [कृष्णवर्ण] है ॥५८७॥

वामनने इसे उपमानके परिमाणगत आधिक्य दोषका उदाहरण माना है । काव्यप्रकाशकार इसे भी पूर्वोक्त अनुचितार्थत्वदोषके अन्तर्गत मानते हैं ।

इन [उदाहरणों] में चाण्डाल आदि उपमानोंने वर्णनीय अर्थको अत्यन्त निकृष्ट कर दिया है इसलिए [इन सब उदाहरणोंमें] अनुचितार्थता [दोष] है ।

२. साधारणधर्मका न्यूनाधिक्य—

साधारणधर्मकी न्यूनताको हीनपदत्वमें अन्तर्भाव करते हुए उदाहरण देते हैं—

(क) मूँजकी मेखला और कृष्ण मृगके चर्मको धारण किये हुए वे [नारद] मुनि नीलमेघ खण्डसे आवृत सूर्यके समान शोभित हुए ॥५८८॥

अत्रोपमानस्य मौञ्जीस्थानीयस्तडिल्लक्षणो धर्मः केनापि पदेन न प्रतिपादित इति हीनपदत्वम् ।

(ख) स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः ।
शतह्रदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः ॥५८९॥

अत्रोपमेयस्य शङ्खादेरनिर्देशे शशिनो ग्रहणमतिरिच्यते इत्यधिकपदत्वम् ।

यहाँ उपमान [सूर्य] का मौञ्जीस्थानीय विद्युत् रूप धर्म किसी पदके द्वारा प्रतिपादन नहीं किया गया है इसलिए हीनपदत्वदोष है ।

इसका आशय यह है कि उपमेय नारद मुनि हैं। उनके साथ पीतवर्णकी मूँजकी मेखला तथा कृष्णमृगचर्मरूप दो धर्मोंका सम्बन्ध है। दूसरी ओर उपमान सूर्य है। परन्तु उसके साथ कृष्ण-मृगचर्मके स्थानपर नीलजीमूतका सम्बन्ध तो है, पर पीतवर्णकी मौंजीस्थानीय किसी धर्मका सम्बन्ध नहीं है। इसलिए वामनने इसे उपमानगत धर्मन्यूनताका उदाहरण माना है। परन्तु काव्यप्रकाशकार इसे पहिले कहे हुए 'हीनपदत्व'का ही उदाहरण मानते हैं।

अगला उदाहरण उपमानगत धर्माधिक्यका देते हैं। उसमें श्रीकृष्ण उपमेय हैं और मेघ उपमान है। श्रीकृष्णके साथ 'पीतवासाः' और 'प्रगृहीतशार्ङ्गः' ये दो विशेषण लगे हुए हैं। परन्तु उपमानभूत मेघके साथ कृष्णके पीतवस्त्रोंके स्थानपर 'शतह्रदा' अर्थात् विद्युत्का और शार्ङ्ग धनुषके स्थानपर इन्द्रधनुषका सम्बन्ध तो वर्णित है, ही उसके अतिरिक्त चन्द्रमाके साथ मेघका भी सम्बन्ध दिखलाया गया है। इसकी टक्करमें कृष्णके साथ 'शङ्ख'का सम्बन्ध दिखलाना चाहिये था। उसके न होनेसे प्राचीन वामन आदिके मतसे इस श्लोकमें उपमानगत धर्माधिक्यरूप दोष आता है। पर काव्य-प्रकाशकार इसे पूर्वोक्त अधिकपदत्वके ही अन्तर्गत मानते हैं। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

(ख) पीताम्बरधारी और शृङ्गके बने हुए धनुषको लिये हुए कृष्ण, विद्युत् एवं इन्द्रधनुषसे युक्त, और रात्रिमें चन्द्रमाके साथ मिलते हुए मेघके समान सुन्दर एवं भयङ्कर [एक ही साथ दोनों प्रकारके] रूपको प्राप्त हुए ॥५८९॥

इसमें उपमेय [श्रीकृष्ण]के शंखादि [धर्म] का कथन न होनेसे [उपमानभूत मेघमें] चन्द्रमाका ग्रहण अधिक हो जाता है। इसलिए इसमें अधिकपदत्वदोष है।

३. लिङ्गभेद और वचनभेद—

वामन आदि आचार्योंने उपमान तथा उपमेयके लिंगभेद एवं वचनभेदको भी उपमालंकारका दोष माना है। काव्यप्रकाशकारका इस विषयमें यह मत है कि जहाँ उपमान-उपमेयके लिंगभेद अथवा वचनभेदके कारण साधारण धर्ममें भी लिंग या वचनभेदरूप अन्तर आजाता है वहीं वे दोषाधायक होते हैं। और उस दशामें भी उनको अलग दोष न मानकर 'भग्नप्रक्रम' दोषके अन्तर्गत ही समझना चाहिये। लिंगभेद या वचनभेदमें 'भग्नप्रक्रम' दोष इसलिए होता है कि उपमान-उपमेयमें लिंगभेद या वचनभेद होनेपर साधारणधर्मका एक जगह तो वाच्यरूपमें यथाश्रुत अन्वय हो जाता है। परन्तु दूसरेके साथ फिर लिंगविपर्ययकी कल्पना करके प्रतीयमान धर्मके रूपमें अन्वय होता है। इसलिए उन दोनोंमें वाच्य तथा प्रतीयमानताका भेद हो जानेसे भग्नप्रक्रम दोष हो जाता है और जहाँ उपमान-उपमेयमें लिंग या वचनका भेद होनेपर भी साधारणधर्ममें कोई परिवर्तन नहीं होता है, वह दोनोंके साथ यथाश्रुत रूपमें ही अन्वित हो जाता है, वहाँ किसी प्रकारका दोष ही नहीं

३. लिङ्गवचनभेदोऽपि उपमानोपमेययोः साधारणं चेत् धर्ममन्यरूपं कुर्यात्तदा एकतरस्यैव तद्धर्मसमन्वयावगतेः सविशेषणस्यैव तस्योपमानत्वमुपमेयत्वं वा प्रतीयमानेन-धर्मेण प्रतीयते । इति प्रक्रान्तस्यार्थस्य स्फुटमनिर्वाहादस्य भग्नप्रक्रमरूपत्वम् । यथा—

(क) चिन्तारत्नमिव च्युतोऽसि करतो धिङ्मन्दभाग्यस्य मे ॥५९०॥

(ख) सक्तवो भक्षिता देव ! शुद्धाः कुलवधूरिव ॥५९१॥

होता है । इसलिए लिंगभेद तथा वचनभेदको अलग उपमादोष माननेकी आवश्यकता नहीं है । इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें कहते हैं—

उपमान तथा उपमेयका लिङ्गभेद या वचनभेद यदि साधारणधर्मको परिवर्तित [अथवा किसी एक ही के साथ अन्वित होने योग्य अर्थात् असाधारणधर्म] कर दे तो [उपमान या उपमेयमेंसे] किसी एकके ही साथ उस [साधारण] धर्मके अन्वयकी प्रतीति होनेसे [उपमान-उपमेयमेंसे जिसका लिङ्ग या वचन साधारणधर्मके लिङ्ग या वचनसे मिलता हुआ है] उसका उपमानत्व या उपमेयत्व [साधारणधर्मरूप] विशेषणसे युक्तका ही होता है और दूसरी जगह [अर्थात् उपमान-उपमेयमेंसे जिसके साथ साधारण धर्मका लिङ्ग और वचन नहीं मिलता है वहाँ लिङ्गविपरिणामके द्वारा] प्रतीयमान धर्मसे [उपमानत्व अथवा उपमेयत्व] प्रतीत होता है इसलिए [एक जगह वाच्यरूपसे और दूसरी जगह प्रतीयमानरूपसे साधारणधर्मका अन्वय होनेके कारण] प्रक्रान्त [उपमालंकार]का स्पष्ट रूपसे निर्वाह [अर्थात् तुरन्त प्रतीति] न होनेसे 'भग्नप्रक्रमत्व' [दोष होता] है । जैसे—

(क) हा धिक् ! चिन्तामणिके समान [चिन्तित अर्थको देनेवाले] तुम मुझ मन्दभाग्यके हाथसे गिर गये ।५९०।

इसमें 'चिन्तारत्न' यह उपमानवाचक पद नपुंसकलिंगमें है और उपमेयभूत 'त्वं' पुल्लिगमें है । 'च्युतः' यह साधारणधर्म भी पुल्लिगमें है । इसलिए उपमेयके साथ तो 'च्युतः' इस साधारणधर्मका वाच्यरूपसे यथाश्रुत अन्वय ही हो जाता है । परन्तु 'चिन्तारत्नं' रूप उपमान पदके साथ तुरन्त अन्वय नहीं होता है । उसमें लिंगविपरिणाम आदिकी कल्पनामें विलम्ब होनेसे प्रतीयमानरूपसे ही साधारणधर्मका अन्वय होनेसे 'भग्नप्रक्रमता' दोष हो जाता है । इस प्रकार यह लिंगभेदका उदाहरण दिया ।

वचनभेदका उदाहरण आगे देते हैं—

(ख) हे राजन ! कुलवधूके समान शुद्ध, सत्तुओंको खाया ।५९१।

यहाँ 'सक्तवः' यह बहुवचनमें पठित उपमान पद है और एकवचनमें पठित 'कुलवधूः' यह उपमेयवाचक पद है । 'शुद्धाः' यह बहुवचनान्त साधारणधर्मका वाचक पद है । इस बहुवचनान्त 'शुद्धाः' पदका 'सक्तवः' के साथ तो वाच्य रूपमें यथाश्रुत अन्वय हो जाता है परन्तु एकवचनान्त उपमानवाचक 'कुलवधूः' पदके साथ वचनविपरिणामकी कल्पना द्वारा प्रतीयमानरूपमें ही उसका अन्वय होता है । इसलिए एक जगह वाच्य और दूसरी जगह प्रतीयमानरूपसे साधारणधर्मका अन्वय होनेसे 'भग्नप्रक्रमता' दोष होता है । और वचनविपरिणाममें विलम्ब होनेके कारण उपमालंकारकी सद्यः प्रतीति या स्फुट निर्वाह भी नहीं होता है । इसलिए भी 'भग्नप्रक्रमता' दोष होता है ।

यत्र तु नानात्वेऽपि लिङ्गवचनयोः सामान्याभिधायि पदं स्वरूपभेदं नापद्यते न तत्रैतद्दूषणावतारः । उभयथापि अस्यानुगमक्षमस्वभावत्वात् । यथा—

(क) गुणैरनर्घ्यैः प्रथितो रत्नैरिव महार्णवः ॥५९२॥

(ख) तद्वेषोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः ।
दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥५९३॥

लिङ्गभेदकी अदोषता—

और जहाँ [उपमान तथा उपमेयके] लिङ्ग एवं वचनमें [नानात्मक] भेद होनेपर भी साधारणधर्मके वाचक पदके स्वरूपमें परिवर्तन नहीं होता है वहाँ इस [साधारणधर्मवाचक पद]का [उपमान तथा उपमेय] दोनोंके साथ [उसी रूपसे] अन्वय हो सकता है इसलिए इस [लिंगभेद या वचनभेदरूप वामनोक्त] दोषके आनेका अवसर ही नहीं आता है। जैसे—

(क) बहुमूल्य रत्नोंसे जैसे समुद्र प्रसिद्ध है इसी प्रकार वह राजा अतिश्रेष्ठ गुणोंसे प्रसिद्ध हुआ ॥५९२॥

यहाँ उपमानवाचक 'रत्नैः' पद तथा उपमेयवाचक 'गुणैः' पदमें लिंगभेद है। 'रत्न' शब्द नपुंसकलिंग तथा गुण शब्द पुल्लिंग है। परन्तु उन दोनोंमें लिंगभेद रहते हुए भी तृतीयामें दोनोंके रूप एक समान ही बनते हैं। अतः 'अनर्घ्यैः' इस साधारणधर्मवाचक पदका दोनोंके साथ यथाश्रुत अन्वय हो जाता है, इसलिए यहाँ उपमान-उपमेयका लिंगभेद दोषाधायक नहीं माना जा सकता है।

वचनभेदकी अदोषता—

इसी प्रकार वचनभेदके दोषाधायक न होनेका उदाहरण आगे देते हैं—

(ख) उस [नायिका]का मधुरतासे भरा हुआ वेष उसके मधुरतापूर्ण हाव-भावोंके समान अन्य स्त्रियोंसे भिन्न होनेसे अत्यन्त शोभाको धारण कर रहा था ।५९३।

यहाँ 'तद्वेषः' यह उपमेयवाचक पद एकवचनान्त तथा 'विभ्रमाः' यह उपमानवाचक पद बहुवचनान्त है। 'असदृशः', 'मधुरताभृतः' और 'दधते' ये तीनों पद साधारणधर्मके वाचक हैं। साधारणधर्मवाचक तीनों पदोंके एकवचन तथा बहुवचन दोनोंमें ही रूप बनते हैं। इसलिए जब उपमानवाचक बहुवचनान्त 'विभ्रमाः'के साथ इनका अन्वय होता है तब वे बहुवचनान्त रूप माने जाते हैं और जब उपमेयवाचक एकवचनान्त 'तद्वेषः' पदके साथ इनका अन्वय होता है तब एकवचनान्त माने जाते हैं। इसलिए उपमान-उपमेयमें वचनभेद होनेपर भी उससे साधारणधर्म-वाचक पदोंके स्वरूपमें कोई परिवर्तन न होनेसे यहाँ कोई दोष नहीं आता है।

'असदृशः' पद एकवचन तथा बहुवचन दोनोंमें बन सकता है। 'समान इव पश्यति इति सदृशः' इस विग्रहमें 'त्यादादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च' (३-२-६०) इस सूत्रमें पठित 'समानान्ययोश्चेति वाच्यम्' इस वार्तिकसे 'समान' शब्द उपपद रहते 'दृश' धातुसे कर्तामें 'कञ्-प्रत्यय' और 'दृग्दृश्वतुषु' (६-३-८९) सूत्रसे 'समान'को 'स' आदेश होकर 'सदृश' बनता है और उसका प्रथमाके एकवचनमें 'सदृशः' रूप होता है। इसके विपरीत उसी 'समान इव पश्यति' इसी विग्रहमें 'क्विप् च' (३-२-७६) इस सूत्रसे क्विप्-प्रत्यय होता है तब 'सदृश्' शब्द बनता है। उससे प्रथमाके बहुवचनमें 'सदृशः' रूप बनता

४. कालपुरुषविध्यादिभेदेऽपि न तथा प्रतीतिरस्खलितरूपतया विश्रान्तिमासादयतीत्यसावपि भग्नप्रक्रमतयैव व्याप्तः । यथा—

(क) अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रमाप कुमुद्वती ।
पश्चिमाद् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना ॥५९४॥

अत्र चेतना प्रसादमाप्नोति न पुनरापेति कालभेदः ॥

है । इसी प्रकार 'मधुरताभृतः'में भृत पदको यदि क्त-प्रत्ययान्त माना जाय तो 'भृतः' यह प्रथमाके एक वचनका रूप होगा । और यदि उसको क्विप्-प्रत्ययान्त माना जाय तो 'भृतः' यह प्रथमा बहुवचनका रूप होगा । इसी प्रकार भ्वादिगणपठित 'दध् धारणे' धातुसे प्रथम पुरुषके एकवचनमें 'बदधते' यह रूप बनता है । और जुहोत्यादिगण-पठित 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातुसे प्रथम पुरुषके बहुवचनमें 'दधते' रूप बनता है ।

४. कालभेद और पुरुषभेद—

वामनादिने जिस प्रकार उपमान-उपमेयके लिंगभेद तथा वचनभेदको उपमाका दोष माना है इसी प्रकार उपमामें कालभेद, पुरुषभेद, विध्यादिके भेदको भी उन्होंने उपमाका दोष माना है । परन्तु काव्यप्रकाशकारके मतमें जैसे लिंगभेद और वचनभेदका अन्तर्भाव 'भग्नप्रक्रमता' दोषमें हो जाता है उसी प्रकार कालभेद पुरुषभेद, तथा विध्यादि भेदका भी अन्तर्भाव 'भग्नप्रक्रमता' दोषमें हो जाता है । क्योंकि वहाँ भी काल, पुरुष आदिके विपरिणामके बिना उनका उपमान-उपमेय दोनोंके साथ यथाश्रुतरूपमें अन्वय नहीं हो सकता है । इसलिए एक जगह वाच्यरूपसे और दूसरी जगह विपरिणाम आदि द्वारा प्रतीयमानरूपसे उनका अन्वय होनेसे 'भग्नप्रक्रमता' दोष आ हो जाता है । इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें कहते हैं—

[उपमामें] काल, पुरुष तथा विधि आदिका भेद होनेपर भी [जैसे कि काल, पुरुष, विधि आदिके ऐक्यस्थलमें होती थी] उसी प्रकारसे अस्खलित रूपसे [अर्थात् कालादिके विपरिणामके विना किये उपमान-उपमेयकी] प्रतीतिकी समाप्ति नहीं होती है इसलिए यह [काल, पुरुष, विधि आदिका भेद] भग्नप्रक्रमतासे ही व्याप्त है । [अर्थात् जहाँ-जहाँ कालभेद, पुरुषभेद या विध्यादि भेद रहता है वहाँ भी भग्नप्रकमता दोष होता है] । जैसे—

(क) रात्रिके अन्तिम पहरसे जैसे चेतना प्रसन्नताको प्राप्त करती है इसी प्रकार [कुमुद नामक नागराजकी बहिन] कुमुद्वतीने ककुत्स्थ-कुलमें उत्पन्न हुए [राजाकुश]से अतिथि नामक पुत्रको प्राप्त किया ॥५९४॥

यहाँ चेतना [बुद्धि प्रातःकालमें] निर्मलताको [प्रतिदिन] प्राप्त करती है [इस लिए उपमानमें वर्तमान कालका प्रयोग होना चाहिए था] न कि प्राप्त किया [इस भूतकालवाचक पदका प्रयोग किया जाना चाहिये था] इसलिए कालभेद है ।

इसको वामनने उपमादोष माना है, परन्तु काव्यप्रकाशकार उसका अन्तर्भाव 'भग्नप्रक्रमता' दोषमें ही मानते हैं ।

इसी प्रकार पुरुषभेदका उदाहरण आगे देते हैं । यह श्लोक रत्नावली नाटिकासे लिया गया है । रत्नावली नाटिकाके प्रथम अंकमें वासवदत्ताके प्रति वत्सराज उदयनकी उक्ति है कि—

(ख) प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तमूर्त्तिः कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकांता ।
विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती बालप्रवालविटपप्रभवा लतेव ॥५९५॥

अत्र लता 'विभ्राजते' न तु 'विभ्राजसे' इति सम्बोध्यमाननिष्ठस्य परभागस्य असम्बोध्यमानविषयतया व्यत्यासात् पुरुषभेदः ।

(ग) गङ्गेव प्रवहतु ते सदैव कीर्त्तिः ॥५९६॥

इत्यादौ च गङ्गा 'प्रवहति' न तु 'प्रवहतु' इति अप्रवृत्तप्रवर्त्तनात्मनो विधेः ।

(ख) तुरन्त स्नान करनेके कारण विशेष रूपसे निर्मल स्वरूपवाली, और कुसुम्भ रागसे रँगे हुए उज्ज्वल वस्त्र [साड़ी] को धारण किये हुए, कामदेवकी पूजा करती हुई तुम नवीन किसलयोंवाली शाखाकी जननी [प्रभवः] लताके समान शोभित हो रही हो ॥५९५॥

इसमें 'लता' उपमानवाचकपद तथा 'त्वं' उपमेयवाचक पद है। 'विभ्राजित होना' उन दोनोंका साधारणधर्म है। परन्तु लतापक्षमें 'विभ्राजते' इस प्रथम पुरुषके एक वचनमें ही उसका अन्वय हो सकता है और उपमेयभूत 'त्वं' के साथ 'विभ्राजसे' इस पदका यथाश्रुत अन्वय हो जाता है। इसलिए पुरुषभेदके कारण एक जगह वाच्य और दूसरी जगह प्रतीयमान अर्थरूप साधारणधर्मका अन्वय होनेसे यहाँ पुरुषभेदरूप उपमादोष है। यह वामनका मत है। परन्तु काव्यप्रकाशकारके मतसे यहाँ भी 'भग्नप्रक्रमता' दोष ही मानना उचित है। यही बात वे अगली पंक्तिमें कहते हैं—

यहाँ लता [के साथ] 'विभ्राजते' [इस प्रथम पुरुषका प्रयोग होना चाहिये] न कि 'विभ्राजसे' [इस मध्यपुरुषका]। इसलिए सम्बोध्यमान [जिसको सम्बोधन करके राजा उदयन यह श्लोक कह रहे हैं उस वासवदत्ता] विषयक [विभ्राजसे इस] पदके अन्तिम भाग [से, इस प्रत्ययांश]के [सम्बोध्यमान उपमेयवाचक पदसे भिन्न लतारूप] असम्बोध्यमानविषयक रूपसे परिवर्तन होनेसे [अर्थात् लतापक्षमें 'विभ्राजसे'के स्थानपर 'विभ्राजते' इस प्रकारका विपरिणाम करना अनिवार्य होनेसे वामनके मतमें] पुरुषभेददोष है [जो काव्यप्रकाशकारके मतमें भग्नप्रक्रमताके अन्तर्गत हो जाता है]।

विधिभेदका उदाहरण आगे देते हैं—

(ग) गङ्गाके समान तुम्हारी कीर्ति सदा प्रवाहित होती रहे ॥५९६॥

यहाँ गङ्गा 'बहती है' न कि 'बहे' यह [अर्थात् गङ्गापक्षमें 'प्रवहतु' के स्थानपर 'प्रवहति' पदका अन्वय ठीक बनता है। 'प्रवहतु' पदका प्रयोग ठीक नहीं बनता है] इसलिए अप्रवृत्तप्रवर्तनात्मक विधिका [विधिभेद रूप दोष है]।

यहाँ शंका हो सकती है कि दोनों जगह 'प्रवहतु' पदका ही प्रयोग मान लेनेमें क्या हानि है? इसके समाधानके लिए कहते हैं कि विधिके अप्रवृत्तप्रवर्तनारूप होनेसे गङ्गापक्षमें अप्रवृत्तके प्रवर्तनरूप विधिका सम्भव न होनेसे 'प्रवहतु' पदका प्रयोग नहीं हो सकता है।

इसका यह अभिप्राय है कि लिङ्, लोट, तव्यत् आदि प्रत्यय 'विधिप्रत्यय' कहलाते हैं। इन विधिप्रत्ययोंका काम अप्रवृत्तको किसी विशेष कार्यमें प्रवृत्त करना है। गंगा नदी तो स्वयं ही उधर

एवंजातीयकस्यान्यस्यार्थस्य उपमानगतस्यासम्भवाद्विध्यादिभेदः ।

बहती रहती है । उसको बहनेके लिए प्रवृत्त नहीं किया जाता है । इसलिए गङ्गापक्षमें विधिप्रत्ययकी संगति नहीं लगती है । अतः उस पक्षमें 'प्रवहतु' पदका यथाश्रुत अन्वय सम्भव न होनेसे उसका 'प्रवहति' इस वर्तमानकालके रूपमें विपरिणाम करना अनिवार्य हो जाता है । इसलिए वामनने इसे अलग 'उपमादोष' माना है । परन्तु काव्यप्रकाशकार उसको भी 'भग्नप्रक्रमता' दोषमें ही अन्तर्भुक्त मानते हैं ।

इस प्रकारके ['चिरं जीवतु सते पुत्रो मार्कण्डेयो मुनिर्यथा' इत्यादि वाक्योंमें प्रयुक्त आशीर्वादादिरूप] अन्य अर्थके भी [मार्कण्डेय मुनि जैसे] उपमानमें सम्भव न होनेसे [अर्थात् इस वाक्यके उपमानभूत माकण्डेय मुनि तो समाप्त हो चुके, उनके साथ 'जीवतु' इस 'आशीर्वचन'की यथाश्रुत संगति असम्भव है इसलिए] विधि आदिका [भेद अर्थात्] विपर्यास होता है [जो वामनके मतमें विधिभेदरूप उपमादोष होता है । और हमारे काव्यप्रकाशकारके मतमें भग्नप्रक्रमतादोषमें अन्तर्भुक्त हो जाता है] ।

उपमादोषोंके निराकरणका एक और सुझाव—

कालभेद, पुरुषभेद, विध्यादिभेदको वामनने अलगसे उपमादोष माना है । काव्यप्रकाशकारने भी उनको दोष तो माना है परन्तु अलग दोष न मानकर सप्तम उल्लासमें कहे हुए 'भग्नप्रक्रमता' दोषके भीतर ही उनका अन्तर्भाव किया है । इस विषयमें एक और सुझाव भी सामने आया है । इसके अनुसार कालभेदादि किसी भी रूपमें दोष नहीं है । ऐसे स्थलोंपर कालभेद आदिको साधारणधर्म न मानकर किसी अन्य ही धर्मको, जिसका कि उपमान तथा उपमेय दोनोंके साथ समान रूपसे अन्वय हो सके, साधारणधर्म मानना चाहिये । वह धर्मान्तर चाहे शब्दतः उपात्त अर्थात् वाक्यमें उच्चरित हो अथवा प्रतीयमान हो । कालभेदादि दोषके प्रयोजक धर्मके स्थानपर इस प्रकारके उच्चरित अथवा प्रतीयमान अन्य धर्मको साधारणधर्म मान लेनेपर इन दोषोंके अवतरणका प्रसंग ही नहीं रहता है । जैसे 'काम इव सुन्दरोऽयं राजा भाति' अथवा 'काम इवायं राजा भाति' इन उदाहरणोंमें यदि 'भाति' को साधारणधर्म माना जाय तब तो उपमानभूत 'काम'के साथ उसके वर्तमानकालमें विद्यमान न होनेसे वर्तमानकालकी 'भाति' क्रियाका यथाश्रुत अन्वय सम्भव न होनेसे कालभेद-दोष होगा । परन्तु यदि 'भाति'को छोड़कर 'सुन्दरत्व' को साधारणधर्म मान लिया जाय तो यह दोष नहीं रहता है । यह 'सुन्दरत्व' धर्म 'काम इव सुन्दरोऽयं राजा भाति' इस प्रथम वाक्यमें उच्चरित या शब्दतः उपात्त है और 'काम इवायं राजा भाति' इस दूसरे वाक्यमें उच्चरित न होकर प्रतीयमान है । इस प्रकार 'भाति' इस क्रियाका सम्बन्ध तो केवल उपमेयभूत राजाके साथ ही होता है, उपमानभूत 'काम' के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता है । सुन्दरत्वका सम्बन्ध दोनोंके साथ समानरूपसे हो सकता है । तब कालभेदको दोष क्यों माना जाय ?

इसी प्रकार पुरुषभेदका जो 'विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती' आदि उदाहरण दिया है वहाँ भी 'विभ्राजसे' को साधारण धर्म न मानकर 'विविक्तत्व' को जो श्लोकमें पठित है साधारणधर्म मान लिया जाय तो पुरुषभेदरूप दोषका भी अवसर नहीं रहता है । इसलिए इन कालपुरुष, विध्यादिमें भेदको न तो वामनके अनुसार अलगसे उपमादोष माननेकी और न काव्यप्रकाशकारकी पद्धतिसे 'भग्नप्रक्रमता' दोषमें उसका अन्तर्भाव करनेकी ही आवश्यकता है । आगे यही लिखते हैं—

ननु समानमुच्चारितं प्रतीयमानं वा धर्मान्तरमुपादाय पर्यवसितायामुपमायामुपमेयस्य प्रकृतधर्माभिसम्बन्धान्न कश्चित्कालादिभेदोऽस्ति ।

[प्रश्न] उच्चरित अथवा प्रतीयमान किसी दूसरे साधारणधर्मको लेकर उपमाका पर्यवसान माननेपर [उपमानके ही सदृश] उपमेयका भी प्रकृत [साधारण] धर्मके साथ सम्बन्ध हो जानेसे कोई कालभेद [आदि दोष] नहीं होता है ।

इस सुझावपर आपत्ति और उसका समाधान—

इस प्रकार कालभेद, पुरुषभेद आदिके पहले दिखलाये हुए उदाहरणोंमें तो पूर्व सुझाव द्वारा प्रदर्शित नियमसे कथंचित् काम चल सकता है । परन्तु 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति' इत्यादि उदाहरणोंमें 'सत्यं वदति' यह साधारणधर्म शब्दतः उपात्त है । उस दशामें 'युधिष्ठिरः सत्यमवादीत् न तु वदति' युधिष्ठिर सत्य बोलते थे न कि बोलते हैं इस प्रकार उपात्त साधारणधर्मके द्वारा जहाँ उपमान-उपमेयका सादृश्य प्रतीत होता है वहाँ तो कालभेदको दोष मानना ही होगा । यह बात पूर्वोक्त सुझावके विरोधमें काव्यप्रकाशकारकी ओरसे कही जा सकती है । इसको मनमें रखकर पूर्वपक्षी उसका समाधान पहिले ही यह कर देता है कि इस प्रकारके प्रयोगोंमें 'सत्यवादित्व' अर्थात् 'सत्यवदनशीलत्व', सत्य बोलनेकी आदतको साधारण धर्म मानेंगे । 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति'का अर्थ 'युधिष्ठिर इव सत्यवादी अयं सत्यं वदति' यह करके, सत्यवदनक्रिया नहीं, अपितु 'सत्यवदनशीलत्व' रूप स्वभावको उपमान-उपमेयका साधारणधर्म मान लेनेसे कालभेदादि दोषोंको न अलग माननेकी आवश्यकता रहती है और न उनका 'भग्नप्रक्रमता' में अन्तर्भाव माननेकी ही आवश्यकता रहती है । यह पूर्वपक्ष है ।

सुझावपर दूसरी आपत्ति और उसका समाधान—

इस पूर्वपक्षके विपरीत यह शंका की जा सकती है कि 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति'का अर्थ जब आप 'युधिष्ठिर इव सत्यवादी अयं सत्यं वदति' यह करेंगे तो 'सत्यवादी अयं सत्यं वदति' इस प्रयोगमें पुनरुक्ति दोष आ जायगा । इस दोषका निवारण पूर्वपक्षी 'रैपोषं पुष्णाति' धन देकर पुष्ट करता है इत्यादि प्रयोगोंके उदाहरणों द्वारा करता है । जैसे 'रै' शब्दके उपपद रहते 'पुष्' धातुसे 'स्वे पुषः' (३-४-४०) इस सूत्रसे णमुल-प्रत्यय और 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' इत्यादि सूत्रसे 'पुष्' धातुका अनुप्रयोग होकर 'रैपोषं पुष्णाति' आदि प्रयोग बनते हैं और उनमें पुनरुक्ति नहीं मानी जाती है उसी प्रकार 'सत्यवादी सत्यं वदति' इस प्रकारके प्रयोगोंमें भी पुनरुक्तिकी शंका नहीं करनी चाहिये । यह पूर्वपक्षीका कथन है ।

इस सुझावका सारांश—

इसका सारांश यह हुआ कि कालभेद आदिको वामनने जो उपमादोष माना है और काव्यप्रकाशकार जो उनका अन्तर्भाव 'भग्नप्रक्रमता' दोषमें करनेका यत्न कर रहे हैं ये दोनों बातें ही अनावश्यक हैं । जहाँ उपमान और उपमेयमें कालभेदादियुक्त पदोंके द्वारा साधारणधर्मकी उपस्थिति होती है वहाँ उनको छोड़कर शब्दतः उच्चरित अथवा प्रतीयमान किसी अन्य धर्मको साधारणधर्म मानकर भी सादृश्य या उपमाका समन्वय किया जा सकता है । उस दशामें इन दोषोंके आनेका प्रसंग ही नहीं आयेगा । जहाँ कहीं उपात्त धर्म ही साधारणधर्मके रूपमें प्रतीत होता है और वह भी कालभेदादिसे युक्त होता है वहाँ 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति' जैसे उदाहरणोंमें 'सत्यवादित्व स्वभाव'को साधरणधर्म मानकर उसका परिहार किया जा सकता है । उसे ऐसे प्रसंगोंमें होनेवाली पुनरुक्तिकी

यत्राप्युपात्तेनैव सामान्यधर्मेण उपमाऽवगम्यते यथा 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति' इति, तत्र युधिष्ठिर इव सत्यवाद्ययं सत्यं वदतीति प्रतिपत्स्यामहे ।

'सत्यवादी सत्यं वदति' इति च न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम् । 'रैपोषं पुष्णाति इतिवत्' युधिष्ठिरसत्यवदनेन सत्यवाद्ययमित्यर्थावगमात् ।

सत्यमेतत् किन्तु स्थितेषु प्रयोगेषु समर्थनमिदं न तु सर्वथा निरवद्यम् । प्रस्तुतवस्तुप्रतीतिव्याघातादिति सचेतस एवात्र प्रमाणम् ।

५. असादृश्यासम्भवावप्युपमायामनुचितार्थतायामेव पर्यवस्यतः । यथा—

(क) मथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ॥५९७॥

सम्भावनाके निवारणके लिए 'रैपोषं पुष्णाति' आदि प्रयोगोंमें अपनायी जानेवाली नीतिका अवलम्बन करना चाहिये । इसलिए कालभेद आदि दोषोंका कोई अस्तित्व ही नहीं है । अतः उनका अन्तर्भाव करनेका यत्न भी व्यर्थ है । इसी पूर्वपक्षको अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

और जहाँ [वाक्यमें] उपात्त साधारणधर्मके द्वारा ही उपमा [अर्थात् सादृश्य]-की प्रतीति होती है, जैसे, यह युधिष्ठिरकी तरह सत्य बोलता है, वहाँ भी 'युधिष्ठिरके समान सत्यवादी स्वभाववाला यह सत्य बोलता है' यह अर्थ लेंगे [उस दशामें 'सत्यं वदति'के बजाय 'सत्यवादित्व' अर्थात् सत्य बोलने 'क्रिया' नहीं अपितु 'स्वभाव' साधारणधर्म होगा । इससे कालभेदका दोष नहीं आयेगा] ।

सत्यवादी सत्य बोलता है इस प्रकार [का अर्थ माननेपर उसमें] पुनरुक्तिकी शंका भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि 'रैपोषं पुष्णाति' इत्यादिके समान युधिष्ठिरकी तरह सत्य बोलनेके कारण सत्यवादी यह [सत्य बोलता है] इस अर्थकी प्रतीति होती है [अतः यहाँ पुनरुक्तिकी शंका भी नहीं हो सकती है] ।

यह मार्ग प्राचीन प्रयोगोंतक ही सीमित है [सिद्धान्त]—

इस पूर्वपक्षका निराकरण ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें यह कहकर करते हैं कि—

[उत्तर—आपका कहना] ठीक है । परन्तु [महाकवियोंके काव्यमें] पाये जाने वाले प्रयोगोंके विषयमें तो वह समाधान ठीक है किन्तु वह सर्वथा निर्दोष [मार्ग] नहीं है । [कालभेद आदिके होनेपर] प्रस्तुत वस्तु [अर्थात् उपमा]की प्रतीतिमें बाधा होनेसे [कालभेद आदिको भग्नप्रक्रमताके अन्तर्गत दोष मानना ही चाहिये] इस विषयमें सहृदय लोग ही प्रमाण हैं ।

असादृश्य और असम्भवदोष—

इनके अतिरिक्त उपमामें असादृश्य तथा असम्भवको भी वामनने उपमादोष माना है । काव्यप्रकाशकार उन दोनोंका पूर्वोक्त 'अनुचितार्थता' दोषमें अन्तर्भाव करते हुए लिखते हैं कि—

५. उपमामें असादृश्य तथा असम्भवत्व भी 'अनुचितार्थता' [दोष]में ही पर्यवसित होते हैं [अर्थात् उनको भी अलग दोष न मानना उचित है] जैसे—

(क) फैली हुई अर्थरूप किरणोंसे युक्त काव्यरूप चन्द्रमाकी रचना करता हूँ ।५९७।

अत्र काव्यस्य शशिना अर्थानां च रश्मिभिः साधर्म्यं कुत्रापि न प्रतीतमित्यनुचितार्थत्वम् ।

(ख) निपेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः ।
जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्धभाजः परिवेषिणोऽर्कात् ॥५९८॥

अत्रापि ज्वलन्त्योऽम्बुधाराः सूर्यमण्डलान्निष्पतन्त्यो न सम्भवन्तीत्युपनिबध्यमानोऽर्थोऽनौचित्यमेव पुष्णाति ।

(४) १. उत्प्रेक्षायामपि सम्भावनं ध्रुवेवादय एव शब्दा वक्तुं सहन्ते न यथाशब्दोऽपि । केवलस्यास्य साधर्म्यमेव प्रतिपादयितुं पर्याप्तत्वात् । तस्य चास्यामविवक्षितत्वादिति तत्राशक्तिरस्यावाचकत्वं दोषः । यथा—

(क) उद्ययौ दीर्घिकागर्भात् मुकुलं मेचकोत्पलम् ।
नारीलोचनचातुर्यशङ्कासंकुचितं यथा ॥५९९॥

इसमें [कहा हुआ] काव्यका चन्द्रमाके साथ और अर्थोंका रश्मियोंके साथ सादृश्य [काव्यशास्त्रादिमें अन्यत्र] कहीं भी नहीं मिलता है इसलिए [यह वामनका कहा हुआ असादृश्य दोष वस्तुतः पूर्वोक्त] अनुचितार्थत्व [दोष ही] है ।

(ख) [धनुषके खींचनेपर] गोलाकार धनुषके बीचमें स्थित उस [राजा]के मुखसे दीप्त बाण ऐसे गिर रहे थे जैसे मानों मध्याह्नके समय परिवेषयुक्त [सूर्य या चन्द्रमाके चारों ओर कभी-कभी गोलाकार घेरा दिखलाई देता है उसको 'परिवेष' कहते हैं] सूर्यसे जलती हुई पानीकी धाराएँ गिर रही हों ।५९८।

यहाँ भी जलती हुई पानीकी धाराएँ सूर्यमण्डलसे गिरती हुई सम्भव नहीं हैं इसलिए [उपमानरूपमें] वर्णित यह अर्थ अनौचित्यका ही प्रदर्शक होता है ।

(४) उत्प्रेक्षाके दोषोंका विवेचन—

इस प्रकार उपमाके जो दोष वामनने अलग गिनाये हैं उन सबका अन्तर्भाव पूर्वोक्त दोषोंमें ही हो सकता है इसलिए उनको अलग दोष माननेकी आवश्यकता नहीं है इस बातका यहाँतक प्रतिपादन करके अब आगे उत्प्रेक्षाके दोषोंका भी इसी प्रकार पूर्वोक्त दोषोंमें ही अन्तर्भाव दिखलाते हैं—

१. उत्प्रेक्षा [अलंकार] में भी [उसके मुख्य लक्षणरूप] सम्भावनाको 'ध्रुवं', 'इव', 'वा' आदि शब्द ही बोधित कर सकनेमें समर्थ हैं ['मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येववादयः । उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः'] यथा शब्द [उत्प्रेक्षाके हेतुभूत सम्भावनको बोधन करनेमें समर्थ] नहीं है । अकेले इस [यथा शब्द] के साधर्म्यको ही बोधित करनेमें समर्थ होनेसे और उस [साधर्म्य] के इस [उत्प्रेक्षा] में विवक्षित न होनेसे । इसलिए उस [उत्प्रेक्षाके लक्षणभूत 'सम्भावन'के बोधन] में इस [यथा शब्द]की असामर्थ्य, अवाचकत्व दोष है । जैसे—

(क) बावड़ीके भीतरसे कलिकाकार संकुचित नीलोत्पल इस प्रकार निकला मानों नारियोंके लोचनसौन्दर्यातिशयकी शंकासे [भयभीत] संकुचित हो रहा हो ॥५९९॥

यहाँ उत्प्रेक्षालङ्कार है । उसमें उत्प्रेक्षाके वाचक शब्दके रूपमें 'यथा' शब्दका प्रयोग किया गया है । परन्तु जैसा कि अभी कह चुके हैं, अकेले 'यथा' शब्दका प्रयोग केवल सादृश्यका सूचक होता है । उत्प्रेक्षामें सादृश्य विवक्षित नहीं होता है अपितु 'सम्भावना' या 'उत्कटैककोटिक सन्देह' ही

२. उत्प्रेक्षितमपि तात्त्विकेन रूपेण परिवर्जितत्वात् निरूपाख्यप्रख्यं, तत्समर्थनाय यदर्थान्तरन्यासोपादानं तत् आलेख्यमिव गगनतलेऽत्यन्तमसमीचीनमिति, निर्विषयत्वमेतस्यानुचितार्थतैव दोषः। यथा—

(ख) दिवाकाराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसामतीव ॥६००॥

अत्राचेतनस्य तमसो दिवाकरात् त्रास एव न सम्भवतीति कुत एव तत्प्रयोजितमद्रिणा परित्राणम्? सम्भावितेन तु रूपेण प्रतिभासमानस्यास्य न काचिदनुपपत्तिरवतरतीति व्यर्थ एव तत्समर्थनायां यत्नः।

(५) साधारणविशेषणवशादेव समासोक्तिरनुक्तमपि उपमानविशेषं प्रकाशयतीति तस्यात्र पुनरुपादाने प्रयोजनाभावात् अनुपादेयत्वं यत्, तत् अपुष्टार्थत्वं पुनरुक्तं वा दोषः। यथा—

विवक्षित होता है। वह केवल 'यथा' शब्दसे बोधित नहीं होता है। इसलिए यहाँ उत्प्रेक्षावाचक शब्दके रूपमें 'यथा' शब्दका प्रयोग करनेसे अवाचकत्व दोष होता है।

२. [उत्प्रेक्षालंकारमें] उत्प्रेक्षित [अर्थ] भी वास्तविक रूपसे हीन [केवल कल्पनात्मकमात्र] होनेसे [वन्ध्यापुत्र, ख-पुष्प आदिके समान] असत् जैसा ही होता है। उसके समर्थनके लिए जो कहीं अर्थान्तरन्यास [अलंकार] का आश्रय लिया जाता है वह [समर्थनीय अर्थके असत् होनेसे] आकाशमें बनाये [निराधार] चित्रके समान अत्यन्त अनुचित है। इसलिए [उत्प्रेक्षित अर्थका] निर्विषयत्व [सर्वथा अविद्यमानत्व] [भी] अनुचितार्थत्व दोष ही होता है। जैसे—

(ख) जो [हिमालय पर्वत] दिनमें [सूर्यसे] डरकर [हिमालयकी] गुफाओंमें छिपे हुए अन्धकारको सूर्यसे मानों बचाता है। क्योंकि ऊँचे सिरवालों [अर्थात् महापुरुषों] की नीच शरणागतके प्रति भी अत्यन्त ममता हो जाती है [इसलिए उन्नत शिरवाला हिमालय क्षुद्र अन्धकारकी भी सूर्यसे रक्षा करता है सो उचित ही है]।६००।

इसमें [वर्णित] अचेतन अन्धकारमें सूर्यसे भय ही नहीं बनता है इसलिए उस [भय] से प्रयोजित हिमालयके द्वारा रक्षाकी बात ही कैसे बन सकती है? और [केवल] सम्भावित रूपसे प्रतीत होनेवाले इस [भय या परित्राणरूप वाक्यार्थ] में कोई अनुपपत्ति नहीं आती है इसलिए उसके समर्थनका [जो यत्न यहाँ अर्थान्तरन्यास द्वारा किया गया वह] यत्न व्यर्थ ही है।

(५) समासोक्तिके दोषोंका अन्तर्भाव—

इस प्रकार उपमाके दोषोंको तथा उत्प्रेक्षा एवं अर्थान्तरन्यासके दोषोंको अलग माननेकी आवश्यकता नहीं है। इस बातका उपपादन यहाँतक किया। अब आगे समासोक्तिके दोषोंकी विवेचना करते हैं—

[उपमान-उपमेय दोनों पक्षोंमें लगनेवाले] साधारण विशेषणोंके द्वारा समा-

(क) स्पृशति तिग्मरुचौ ककुभः करैर्दयितयेव विजृम्भिततापया ।
अतनुमानपरिग्रहया स्थितं रुचिरया चिरयापि दिनश्रिया ॥६०१॥

अत्र तिग्मरुचेः ककुभां च यथा सदृशविशेषणवशेन व्यक्तिविशेषपरिग्रहेण च नायकतया नायिकात्वेन च व्यक्तिः तथा ग्रीष्मदिवसश्रियोऽपि प्रतिनायिकात्वेन भविष्यतीति किं दयितयेति स्वशब्दोपादानेन ?

सोक्ति [अलंकार] भी उपमानविशेषको प्रकाशित करती है इसलिए यहाँ [समासोक्ति अलंकारमें] उस [उपमानविशेष] का फिर [अलगसे] ग्रहण करनेमें कोई प्रयोजन न होनेसे [उस उपमानको शब्दतः ग्रहण करनेपर] जो 'अनुपादेयत्व'[नामका समासोक्तिका दोष प्राचीन आचार्योंने माना] है। वह [प्रकृतमें व्यर्थ या अनुपयुक्त होनेके कारण] 'अपुष्टार्थत्व' अथवा [प्रकारान्तरसे प्रतीत अर्थका शब्दतः पुनः कथन होनेसे] 'पुनरुक्ति' दोष है। जैसे—

सूर्य [रूप नायक] के करों [हाथों और किरणों] द्वारा [नायिकारूप] दिशाओंका स्पर्श करनेपर [ग्रीष्म दिनोंकी] प्रौढ़ा दिनश्री [रूप प्रतिनायिका] अत्यन्त सन्ताप [मनःखेद तथा उष्णतातिशय] से भरी हुई और अत्यन्त मान [दिनोंकी दीर्घता और नायिकापक्षमें कोप] को धारण करके [दयितया इव] प्रेमिकाके समान देरतक सुन्दर लगती रही।६०१।

यहाँ [दोनों पक्षोंमें लग सकनेवाले] साधारण विशेषणोंके द्वारा और सूर्य तथा दिशाओंमें [क्रमशः पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंगरूप] लिंगविशेषका ग्रहण होनेसे सूर्य तथा दिशाओंमें [क्रमशः] नायक तथा नायिकारूपसे प्रतीति जैसे [स्वयं ही] हो जाती उसी प्रकार ग्रीष्मकालकी दिनश्रीमें प्रतिनायिकारूपसे [स्वयं ही] हो जायगी इसलिए [उस प्रतिनायिकात्वको] 'दयितया' इस [उपमान-वाचक] स्वशब्दसे प्रतिपादन करनेसे क्या लाभ ? [इसलिए इस उदाहरणमें जो 'दयितया' पदका ग्रहण किया गया है उसको प्राचीन आचार्योंने समासोक्तिका 'अनुपादेयत्व' नामक अलंकारदोष माना है, परन्तु काव्यप्रकाशकारके मतमें वह 'अपुष्टार्थत्व' अथवा 'पुनरुक्तत्व' मेंसे किसी भी पूर्वोक्त दोषके अन्तर्गत हो सकता है]।

श्लेषोपमा और समासोक्तिका भेद—

इस प्रकार 'स्पृशति तिग्मरुचौ' इत्यादि समासोक्ति अलंकारके उदाहरणमें साधारण विशेषणोंके द्वारा ही सूर्यमें नायकत्व, दिशाओं नायिकात्व, और ग्रीष्मदिनश्रीमें प्रतिनायिकाके व्यवहारकी प्रतीति सम्भव होनेपर भी जो उपमानवाचक 'दयितया इव' पदका प्रयोग किया गया वह प्राचीन आचार्योंके मतसे 'अनुपादेयत्व' नामक अलंकारदोषका और काव्यप्रकाशकारके मतसे 'अपुष्टार्थत्व' अथवा पुनरुक्तत्वका प्रयोजक है यह बात यहाँतक कही है।

इसपर यह शंका हो सकती है कि इस श्लोकमें समासोक्ति अलंकार माननेमें यदि दोष आता है तो उसको न माना जाय। उसके स्थानपर यहाँ 'श्लेषोपमालंकार' मान लेना अधिक अच्छा होगा। 'जैसे किसी नायकके द्वारा नायिकाका स्पर्श किये जानेपर प्रतिनायिकाको सन्ताप होता है उसी प्रकार सूर्यके द्वारा दिशाओंका स्पर्श किये जानेपर ग्रीष्मकालकी दिनश्रीको उग्र सन्ताप हुआ'।

श्लेषोपमायास्तु स विषयः यत्रोपमानस्योपादानमन्तरेण साधारणेष्वपि विशेषणेषु न तथा प्रतीतिः । यथा—

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता ।
प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥६०२॥

इस प्रकार इसमें समासोक्ति नहीं अपितु उपमा अलंकार है और उसमें 'कर', 'ताप' आदि पदोंमें श्लेष होनेसे यह 'श्लेषोपमा'का उदाहरण हो सकता है।

इस शंकाका समाधान ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें करेंगे। उनके समाधानका यह आशय है कि—'श्लेषोपमा' वहीं मानी जा सकती है जहाँ उपमानका शब्दतः ग्रहण किये बिना साधारण विशेषणोंके द्वारा स्पष्ट रूपसे उसकी प्रतीति नहीं होती है। यहाँ तो 'दयिता' इस उपमानपदके ग्रहण किये बिना भी साधारण विशेषणोंके द्वारा ही ग्रीष्मकी दिनश्रीमें प्रतिनायिकात्वकी स्पष्ट रूपसे प्रतीति हो सकती है। इसलिए इस प्रकारके उदाहरणोंमें 'श्लेषोपमा' नहीं अपितु समासोक्ति ही माननी चाहिये। अन्यथा समासोक्तिके सभी उदाहरणोंमें श्लेषोपमा सम्भव होनेसे समासोक्तिका उदाहरण मिलना ही कठिन हो जायगा। इसलिए श्लेषोपमा और समासोक्तिका विषय-विभाग करना आवश्यक है। और वह इसी आधारपर किया जा सकता है कि जहाँ उपमानका ग्रहण किये बिना साधारण विशेषणोंके द्वारा उपमानकी स्पष्ट रूपसे प्रतीति सम्भव न हो वहाँ श्लेषोपमा माननी चाहिये और उपमानपदका शब्दतः प्रतिपादन भी करना चाहिये। परन्तु 'स्पृशति तिग्मरुचौ' जैसे उदाहरणोंमें जहाँ कि साधारण विशेषणोंसे ही उपमानकी प्रतीति हो जाती है, समासोक्ति ही माननी चाहिये और उपमानपदका अलगसे प्रयोग नहीं करना चाहिये।

समासोक्ति तथा श्लेषोपमाके इसी भेदको स्पष्ट करनेके लिए ग्रन्थकार अगली पंक्ति लिखकर उसका उदाहरण देते हैं—

श्लेषोपमाका विषय वही होता है जहाँ विशेषणोंके समान होनेपर भी उपमान-विशेषका ग्रहण किये बिना उस प्रकारकी [स्पष्ट] प्रतीति नहीं हो सकती है। जैसे—

[पार्वती न केवल अपने सम्बन्धियोंके महत्त्वके कारण ही अपितु] स्वयं भी नव-किसलयोंके समान लाल-लाल और चमकते हुए हाथोंसे शोभित और [मोक्ष आदि रूप 'अस्वाप'] दुर्लभ फलके लोभी [मुमुक्षु] जनोंकी कामनाको सिद्ध करनेवाली [प्रभातसन्ध्यापक्षमें पल्लवोंके समान रक्तवर्ण सूर्यकी किरणोंसे शोभायमान और प्रातःकालके समय 'अस्वाप' जागरणके स्नानादि फलके लोभीजनोंके इष्टको सिद्ध करने वाली प्रभातसन्ध्याके समान है] ।६०२।

यह श्लोक नवम उल्लासमें श्लोकसंख्या ३७७ पर भी आ चुका है। इसमें 'प्रभातसन्ध्या' उपमानवाचक पद है। यदि उसको शब्दतः उपात्त न किया जाय तो केवल 'पल्लवाताम्रभास्वत्कर-विराजिता' और 'अस्वापफललुब्धेहितप्रदा' इन विशेषणोंके द्वारा उसकी स्पष्ट रूपसे प्रतीति नहीं हो सकती है। इसलिए यहाँ समासोक्ति अलंकार नहीं अपितु 'श्लेषोपमा' ही माननी चाहिये। परन्तु 'स्पृशति तिग्मरुचौ' इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरणमें प्रतिनायिकारूप उपमानकी प्रतीति 'दयितया' पदके ग्रहण किए बिना भी साधारण विशेषणोंके द्वारा ही हो सकती है इसलिए उसमें श्लेषोपमा माननेका अवसर नहीं है। यहाँ समासोक्ति ही माननी होगी। और समासोक्तिमें उपमानपदका पृथक् ग्रहण अनुचित है।

(६) अप्रस्तुतप्रशंसायामपि उपमेयमनयैव रीत्या प्रतीतं, न पुनः प्रयोगेण कदर्थतां नेयम् । यथा—

आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते,
मध्येवारिधि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां रुचम् ।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां,
धिक् सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥६०३॥

अत्राचेतनस्य प्रभोरप्रस्तुतविशिष्टसामान्यद्वारेणाभिव्यक्तौ न युक्तमेव पुनः कथनम् ॥

तदेतेऽलंकारदोषाः, यथासम्भविनोऽन्येऽप्येवंजातीयकाः पूर्वोक्तयैव दोषजात्या-अन्तर्भाविता न पृथक् प्रतिपादनमर्हन्तीति ।

सम्पूर्णमिदं काव्यलक्षणम् ।

---

(६) अप्रस्तुतप्रशंसाके दोष—

इसी प्रकार उद्भट आदि प्राचीन आचार्योंने अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कारमें भी साधारण विशेषणों-के द्वारा ही प्रस्तुत अर्थके प्रतीति हो जानेसे उसका शब्दतः ग्रहण होनेपर भी 'अनुपादेयत्व' नामक अलङ्कारदोष अलग माना । परन्तु काव्यप्रकाशकार उसको भी अपुष्टार्थत्व या पुनरुक्तत्व दोषके ही अन्तर्गत मानते हैं । इसी बातको स्पष्ट करते हुए आगे लिखते हैं कि—

अप्रस्तुतप्रशंसा [अलंकार]में भी उपमेय [अर्थात् प्रस्तुत अर्थ, साधारण विशेषणों द्वारा] इसी प्रकारसे [शब्दतः उपादानके बिना ही प्रतीत हो जाता है उसको दुबारा शब्दसे कथन करके दूषित नहीं करना चाहिये । जैसे—

पक्षियोंको बुलानेपर आगे बढ़कर आनेवाले मच्छरको भी [पक्षधारी होनेके कारण] नहीं रोका जा सकता है [उसी सामान्यके कारण] समुद्रके भीतर बढ़ा हुआ तुच्छ तृणमणि भी [पद्मराग आदि बहुमूल्य] मणियोंकी बराबरी करता है । और [जिस सामान्यके कारण सूर्य-चन्द्रमा आदि] तेजस्वियोंके साथ चलनेमें जुगुनूको भी भय नहीं मालूम होता है [वह भी अपनेको तेजस्वी समझता है] उस अन्य विशेषताओंका विचार करनेमें असमर्थ राजाके समान जड़, सामान्य [जातिमात्र]को धिक्कार है ॥६०३॥

इसमें [गुणों और विशेषताओंको पहिचाननेमें असमर्थ] मूर्ख राजा [जिसकी निन्दा अभीष्ट है उस प्रस्तुत अर्थ]की विशेषणोंसे युक्त [विशिष्ट] सामान्यके द्वारा अभिव्यक्ति हो जानेपर फिर उसका [प्रभोः इस] शब्दसे कहना उचित नहीं है ।

इसलिए यहाँ प्रभु शब्दका उपादान होनेसे इसमें 'अनुपादेयत्व' दोष है । काव्यप्रकाशकारके मतमें उसका अन्तर्भाव पूर्वोक्त 'अपुष्टार्थत्व' अथवा 'पुनरुक्तत्व' दोषमें हो सकता है ।

इस प्रकार [वामनादि प्राचीन आचार्योंके माने हुए] ये अलंकारदोष, और इसी प्रकारके अन्य भी जो दोष सम्भव हों, वे सब पहिले कहे हुए दोषोंके वर्ग [जाति]में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं । उनका अलग वर्णन करना उचित नहीं है । [इसलिए उनका हमने प्रतिपादन नहीं किया है] ।

[इसलिए हमारा लिखा हुआ] यह काव्य लक्षण सम्पूर्ण है ।

इत्येषमार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत् ।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता संघटनैव हेतुः ॥१॥

इति काव्यप्रकाशेऽर्थालंकारनिर्णयो नाम दशम उल्लासः ।

समाप्तश्चायं काव्यप्रकाशः ॥

अब ग्रन्थकार अपने ग्रन्थकी समन्वयात्मक प्रकृतिका संकेत करते हुए उसको समाप्त करते हैं—

इस प्रकार [भामह, वामन, उद्भट, आनन्दवर्धन आदि प्राचीन] विद्वानोंका [रससम्प्रदाय, ध्वनिसम्प्रदाय, रीतिसम्प्रादय, अलंकारसम्प्रदाय आदि रूपसे] भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाला यह काव्य [निरूपण] मार्ग भी जो [इस काव्यप्रकाश ग्रन्थमें समन्वित पद्धतिसे निरूपित होकर] अभिन्न-सा प्रतीत हो रहा है वह कोई विचित्र बात नहीं है क्योंकि भली प्रकारसे [समन्वयात्मक भावनासे]की हुई रचना ही उसका कारण है ।

इस उपसंहारात्मक श्लोकसे दो बातें प्रतीत होती हैं । एक बात तो यह है कि काव्यप्रकाश-कारके पूर्व साहित्यशास्त्रपर जिन अनेक आचार्योंने ग्रन्थोंकी रचना की थी उनमें किसीने ध्वनिपर, किसीने रीति या गुणोंपर, किसीने अलंकारोंपर, किसीने वक्रोक्तिपर विशेष रूपसे बल दिया था । और जिसने जिस विषयको लिया उसीको काव्यका आत्मा प्रतिपादन किया । ध्वनिवादियोंके मतमें 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' ध्वनि ही काव्यका आत्मा माना गया है । रीतिमार्गके प्रवर्तक आचार्य वामनके मतमें 'रीति-रात्मा काव्यस्य' काव्यका आत्मा रीति ही है । वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक वक्रोक्तिको ही काव्यका जीवन मानते हैं । इसी प्रकार कोई रसको, कोई अलंकारको काव्यका आत्मा मानते हैं । इस प्रकार पूर्वाचार्योंमें बहुत-कुछ मतभेद दिखलाई देता है । काव्यप्रकाशकारने अपने ग्रन्थमें उन सब मतोंका समन्वय करनेका प्रयत्न किया है इसलिए उनकी इस समन्वयात्मक रचनाशैलीके कारण ध्वनि, रीति, रस, अलंकार आदि सभी विषयोंका समावेश और विवेचन उनके इस ग्रन्थमें पाया जाता है और उनमें किसी प्रकारका विरोध नहीं भासता है । इसी बातका संकेत ग्रन्थकारने इस श्लोकमें किया है ।

दूसरी बात यह भी प्रतीत होती है कि यह काव्यप्रकाश ग्रन्थ, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, श्री मम्मटाचार्यकी कृति है परन्तु वे इस ग्रन्थको केवल परिकरालंकारतक ही लिख सके थे, उसके बाद उनका देहान्त हो जानेसे या किसी अन्य कारणसे अधूरे पड़े हुए ग्रन्थके शेष भागकी रचना अल्लटसूरि नामक किसी विद्वान्ने की है । इस प्रकार दो भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा लिखा जानेपर भी रचनाशैलीकी अत्यन्त समानताके कारण यह सारा ग्रन्थ एक ही व्यक्तिकी रचना-सा जान पड़ता है ।

काव्य प्रकाशमें अर्थालंकारनिर्णय नामका यह दशम उल्लास समाप्त हुआ ।

यह काव्यप्रकाश [ग्रन्थ भी] समाप्त हुआ ।

उत्तरप्रदेशस्थ 'पीलीभीत' मण्डलान्तर्गत 'मकतुल' ग्रामनिवासिनां,
श्रीशिवलालबख्शीमहोदयानां तनुजनुषा,
वृन्दावनस्थगुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्येन तत्रत्याचार्यपदमधितिष्ठता एम० ए०
इत्युपपदधारिणा 'विद्यामार्तण्डेन' श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिना
विरचिता 'काव्यप्रकाशदीपिका' हिन्दीव्याख्या समाप्ता ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

प्रथम परिशिष्ट

काव्यप्रकाशस्थ सूत्रोंकी अकारादिक्रमसे सूची

द्वितीय परिशिष्ट

काव्यप्रकाशस्थ उदाहरणोंकी वर्णानुक्रमानुसारिणी सूची